युग की की विविधमुखी काव्य-सृष्टि को दृष्टिपथ मे रखा गया गया है और समूचे रीतियुगीन काव्य को समसामयिक राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक परिवेश मे रख देखा और परखा गया है तथा अध्ययन-जात निष्कर्षों को यथासभव स्पष्टता से प्रस्तुत किया गया है। युगीन काव्य के नामकरण पर पुनर्विचार करते हुए उसके वर्गीकरण को भी अधिक व्यवस्थित रूप दिया गया है। युगीन काव्य की रीतिबद्ध शृगार धारा का अधिक से अधिक विशद एव सर्वाङ्गीण अध्ययन प्रस्तुत करना इसलिए भी मेरा उद्देश्य रहा है क्योकि रीतिमुक्त काव्य प्रवृत्ति पर मेरा विशद शोध-ग्रन्थ 'रीति स्वच्छन्द काव्यधारा' स्वतन्त्र रूप मे प्रकाशित हो ही रहा है। इस प्रकार रीतियुगीन समस्त शृगारी काव्य के समीक्षात्मक अध्ययन का विशद एव दुस्तर कार्य सपन्न हो रहा है। आज अपनी दीर्घ-कालीन अभिलाषा और सकल्प को इस रूप मे पूर्ण करते हुए मुझे पूर्ण परितोष का अनुभव हो रहा है।

इस अनुटालिन मे रीति ग्रन्थो की परपरा, उसकी आधारभूत भूमिका, उसके प्रारम्भ, उसकी निरूपण शैली तथा उनके वर्गोपवर्गों का एक ओर जहाँ आख्यान किया गया है वही रीतिबद्ध काव्य की प्रेरणा का सधान करते हुए उसकी शृगारिकता, कलापरायणता, शैलीशिल्प का भी अध्ययन किया गया है तथा रीति कवि के व्यक्तित्व की, रीति कर्ता के कवि मन की भी खोज की गई है। अध्ययन की समग्रता की दृष्टि से युगीन शृगार काव्य के रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त या स्वच्छन्द स्वरूप का भी यथासम्भव विस्तार से विवेचन-विश्लेषण किया गया है। इसी प्रकार रस-दृष्टि से शृगारतेर काव्य की वीर, नीति, सन्त, सूफी, कृष्ण-भक्ति और रामभक्ति परक रचनाओ का भी सक्षिप्त वर्णन-विवेचन किया गया है। विविध प्रकार के शृगारिक कवियो से कृतित्व का आकलन करते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक को सर्वाधिक सतोष इस बात का है कि वह इन कृती कवियों की समस्त काव्य राशि के सर्वथा स्वकीय अध्ययन के बल पर सभी कवियो की पर्याप्त विशद समीक्षा प्रस्तुत कर सका है। प्रस्तुत अध्ययन के सर्वथा मौलिक अंश वे ही है जिनमे रीतिबद्ध, सिद्ध और मुक्त काव्यकारो के कवित्व का विश्लेषण और उनके कृतित्व का उद्घाटन किया गया है। लेखक कवियों की रचनाओं मे जितना ही रमता गया है उतना ही उसे काव्य जनित आनन्द प्राप्त हुआ है और उतना ही वह उसमे निमग्नामग्न हो उसके विश्लेषण मे, उसके अन्तस्तल मे डूबकर रसोपलब्धि करने मे और यथासभव उसका निर्वचन करने मे सफल हुआ है। यही वास्तव मे मेरी उपलब्धि रही है जिसे मैं विनत भाव से हिंदी काव्य के सुधी और सहृदय पाठको और रज्ञसों की सेवा मे समर्पित करता हूँ। रीतियुगीन काव्य की आत्मा तक पहुँचकर मै समझता हूँ मुझे अब भी कुछ करना शेष है। मुझे

आशा है रीतियुगीन काव्य के और भी अधिक अतदर्शन तथा उसके सौंदर्य के उद्घाटन एव मूल्याकन का अवसर भविष्य मे भी आएगा ।

प्रस्तुत ग्रथ के सबन्ध मे अब इतना ही कहना शेष है कि इसकी रचना मुख्यत. मेरे शोधकार्य के साथ होने वाले अध्ययन के दौरान होती रही है । इसके कुछ अश अवश्य उसके बाद के आठ-दस महीनो मे लिखे गए है उदाहरण के लिए तीसरे अध्याय 'शृङ्गार काव्य रीतिबद्ध काव्य' के अन्तर्गत 'रीति काव्य की शृगारधर्मिता, रीति कवि का व्यक्तित्व और उसकी मनोवृत्ति, भाषा और रचना शैली' शीर्षको के अतर्गत लिखित सामग्री, सातवे अध्याय के अतर्गत 'मतिराम, देव, पद्माकर और ग्वाल' तथा आठवे अध्याय के अतर्गत 'बिहारी के शृगार काव्य' का अध्ययन । इस ग्रन्थ का प्रणयन जनवरी १९६१ से मई १९६४ के बीच के लगभग साढे तीन वर्षो की अवधि मे हुआ है । इस अवधि मे मै शासकीय महाविद्यालय, महू (इन्दौर) और शासकीय सस्कृत महाविद्यालय, रायपुर मे हिन्दी विभागाध्यक्ष के पद पर कार्य करता रहा हूँ अत: कहा जा सकता है—कि प्रस्तुत कृति का आरभ महू और उसके प्रणयन की परिसमाप्ति रायपुर मे हुई है । प्रस्तुत अध्ययन के कुछ अश बहुत पहले के भी है उदाहरण के लिए केशवदास सबधी अध्ययन, पद्माकर पर 'वृत्त और वृत्तियाँ' शीर्षक म दी गई सामग्री तथा बिहारी की 'भक्ति और नीतिपरक रचनाओ की आलोचना' जो सन् १९५२-५४ के आस पास खी गई थी पर इतनी पुरानी लिखी सामग्री समग्र अध्ययन को देखते हुए परिमाण मे अत्यल्प है।

प्रस्तावना के अन्त मे मुझे हार्दिक आभार प्रकट करना है सर्वप्रथम अपने अनन्य बाल सहपाठी बन्धु डा० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव (हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय के प्रति जिनकी पूरी सद्भावना और सहायता ही इस कृति के प्रकाशन के मूल मे है । मेरे अनुज तुल्य स्नेही मित्रो डा० गगाचरण त्रिपाठी (हिन्दी विभागाध्यक्ष, शासकीय सस्कृत महाविद्यालय, रायपुर) और डा० हरिशंकर शुक्ल (हिंदी विभाग, दुर्गा महाविद्यालय, रायपुर) के प्रति भी मेरी कृतज्ञता कुछ कम नही जिनका प्रस्तुत ग्रथ के प्रणयन काल मे उत्साहवर्धन मेरा बहुत बडा सहारा रहा है । ऐसे विशद ग्रंथ के प्रकाशन का भार पूरे सौजन्य के साथ और उत्साहपूर्वक अपने कधो पर उठा लेने के लिए मैं प्रस्तुत ग्रंथ के प्रकाशन-व्यवस्थापक श्री रामनाथ मेहरोत्रा को भी हार्दिक धन्यवाद देता हूँ ।

१ जुलाई, १९६५
भोपाल

कृष्णचन्द्र वर्मा

अध्ययन-क्रम

रीतियुगीन काव्य

रीतियुग के प्रमुख कवियों के कृतित्व का अध्ययन

रीतियुगीन काव्य

समसामयिक परिस्थितियाँ

रीति अथवा शृङ्गारकाल की स्थूल सीमा रेखा सं० १७०० विक्रमी से सं० १६०० तक स्वीकार कर ली गई है किन्तु सूक्ष्मतापूर्वक अवलोकन करने पर यह बात भी विदित हुए बिना नही रहती कि रीतियुग की सभी प्रवृत्तियाँ स० १७०० से वर्षो पूर्व साहित्य-क्षेत्र में लक्षित होने लगी थी और स० १६०० के बाद भी बहुत काल तक चलती रहीं। रीतियुगीन प्रधान काव्य प्रवृत्तियाँ लगभग एक शताब्दी पूर्व स० १६०० से ही मिलने लगती है और युग की तथाकथित समाप्ति की एक शताब्दी बाद स० २००० तक चली चलती है किन्तु इसमे सन्देह नही कि स० १६०० से २००० तक के बीच की ४०० वर्षों की दीर्घ अवधि के बीच हम जिसे रीति या शृङ्गार काल कहते है उस काल विशेष की प्रमुख प्रवृत्तियो—रीति के प्रति आग्रह, शृङ्गारिकता या शृङ्गार रस की प्रचुरता और काव्य के कलापक्ष की प्रधानता—के समुचित उत्कर्ष की शताब्दियाँ (स० १७०० से सं० १६००) दो ही थी जिन्हे हिन्दी साहित्य के सभी इतिहासकारो ने एकमत होकर स्वीकार किया है। समयुगीन राजनीतिक जीवन, सामाजिक अवस्था और धार्मिक चेतना के सन्दर्भ मे तत्कालीन काव्य के मूल्याकन की दृष्टि से हम यहाँ पर समसामयिक परिस्थितियो की किञ्चित् चर्चा आवश्यक समझते है।

राजनीतिक परिस्थिति

रीति या शृङ्गार काल की जो एक स्थूल सीमा-रेखा मीन ली गई है उसके अनुसार सं० १७०० मे शाहजहाँ भारतवर्ष का शासक था। यह बात सर्वविदित ही है कि शाहजहाँ के पितामह अकबर के समय मे सुशासन अपने चरम उत्कर्ष पर था क्योंकि शाह अकबर ने सहिष्णुता और उदारता के सर्वस्वीकृत आधार पर अपना शासन-कार्य सचालित किया। सं० १६६२ मे उसके निधन के अनन्तर जहाँगीर ने अपने पिता की उदार नीति का ही अनुसरण करते हुए राज्य किया किन्तु उसमे अकबर के समान दूरदर्शिता और समन्वयकारिणी शक्ति न थी जो विविध जातियो, धर्मों और वर्गों को साथ-साथ लेकर चल सकती। फिर भी बहुत-कुछ इसी कारण कि अकबरी नीति से जहाँगीर का शासन-कार्य चालित होता था उसका राज्यकाल पतन और ह्रास का काल नही कहा जा सकता; वैसे जहाँगीर मद्यप और आशिक मिजाज था। सुरा और सुन्दरियो के रूपासव का छक-छक कर भोग ही उसका जीवन था इसी कारण राज्य-विषयक गम्भीर एवं महत्वपूर्ण समस्याओ के प्रति उसका अकबर सरीखा प्रौढ, सुचिन्तित और योग्य दृष्टिकोण देखने को नही मिलता। मुगल शासन के विस्तार के लिये उसने दक्षिण भारत मे जो युद्ध किये उनमे उसे विशेष सफलता नही मिली।

शाहजहॉ का समय—सं० १६८३ मे जहॉगीर की मृत्यु हुई और उसका पुत्र शाहजहॉ सिहासनारूढ हुआ। शाहजहॉ मे अतिरिक्त शक्ति, प्रतिभा, तेज एवं अन्य गुणो का अधिवास था। उसने मुगल साम्राज्य का विस्तार भी किया-विशेष रूप से दक्षिणापथ मे। अहमदनगर की निजामशाही शाहजहॉ ने अतिम रूप से समाप्त कर दी (सं० १६९०) तथा बीजापुर और गोलकुण्डा के किने उसने जीत लिये तथा इनकी शाहियॉ अधीनता स्वीकार करने को बाध्य हुई। इसके अतिरिक्त उत्तर-पश्चिम मे कन्धार का किला भी जीता गया (सं० १६९५)। कहने का आशय यह है कि शाहजहॉ के काल मे मुगल साम्राज्य का सम्यक् विस्तार हुआ—पश्चिम मे सिन्ध से लेकर आसाम में सिलहट तक और उधर उत्तर-पश्चिम मे अफगानिस्तान के बिस्त नामक किले से लेकर दक्षिण मे औसा तक यह साम्राज्य फैला हुआ था। इस प्रकार अकबर द्वारा सुस्थापित साम्राज्य का राष्ट्रीय रूप जहॉगीर और शाहजहाँ के समय मे नष्ट न होने पाया, शाहजहॉ ने तो किसी सीमा तक उसका विकास भी किया। शाहजहाँ का समय अनेक दृष्टियो से 'मुगल शासन का स्वर्णकाल' भी कहा जाता है—शाति, व्यवस्था, समृद्धि सभी दृष्टियो से भारतवर्ष मे शाहजहाँ का शासन-काल चिरस्मरणीय है। धर्म की दृष्टि से उसमे पर्याप्त सहनशीलता न थी किन्तु कला और सौन्दर्य-चेतना की दृष्टि से शाहजहाँ एक अप्रतिम शासक था। इसी कारण शातिपूर्ण सुख-समृद्धि और कलात्मक उन्नति की दृष्टि से उसका युग चिरस्पृहणीय रहेगा। संसार मे विकास के साथ-साथ ह्रास के क्रम का भी विधान है। 'ज्यो तपि-तपि मध्याह्न लौ अस्त होत है भानु'—शनैः-शनैः अपने तेज, ओज और ऊष्मा के साथ दिवाकर अधिकाधिक तेजस्वी, ओजस्वी और प्रतप्त होकर मध्याह्न काल मे अतिशय प्रचण्ड हो उठता है किन्तु उसके बाद घडी आती है उसके तेज और ताप के ह्रास की और वह सन्ध्याकाल होते-होते अस्त होकर ही रहता है। शाहजहाँ के चरम वैभव और कला समृद्धि तथा सुख-शान्ति का प्रचण्ड युग भी क्रमशः अस्तंगत हुआ।

औरंगजेब का समय—सं० १७१५ मे शाहजहाँ भीषण रूप से रोग-ग्रस्त हो गया। इसी वर्ष अपने पिता की ऐसी दीन-हीन दशा का जैसा लाभ औरंगजेब ने उठाया, उसकी कथा इतिहास-प्रसिद्ध है। उसने अपने ही भाइयो के रक्त से होली खेलते हुए हिन्दोस्तान के सिहासन को हस्तगत किया। पिता की सख्त बीमारी का गैरवाजिब फायदा उठाते हुए पुत्र औरंगजेब ने मुल्क मे यह अफवाह फैला दी कि शाहजहाँ की मृत्यु हो गई और उसे बंदीगृह मे डाल दिया। उत्तराधिकार के स्पष्ट और निश्चित नियमो के अभाव मे शाहजहॉ के चारो पुत्रों मे राज्याधिकार के लिये युद्ध होने लगा। बूढे पिता को अपने जीवन-काल मे ही अपने बेटो की ऐसी करनी देखने का दुर्भाग्य प्राप्त हुआ। उसका ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह जो प्रजा द्वारा

अपने शील-स्वभाव के कारण अत्यत सम्मानित था द्वितीय पुत्र औरगजेब की कूट-नीति का शिकार हुआ। शाहजहाँ के अन्य दो पुत्रो—मुराद और शाहशुजा की भी यही दशा हुई। नीति और धर्म को एक साथ तिलाञ्जलि देकर असहिष्णु और कट्टर सुन्नी मुसलमान औरगजेब रक्ताभिषिक्त सिंहासन पर बैठा। दो शताब्दियो तक फैले हुए रीतियुग की यह सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक घटना थी क्योकि मनुष्यता की बलि का ऐसा जघन्य और लोमहर्षक नाटक भारतीय जन समाज के लिये अभूतपूर्व था। सर्व-साधारण की नैतिक और धार्मिक मान्यताओं को इस घटना ने झकझोर दिया। औरगजेब अपने विश्वासो की संकीर्णता, धार्मिक कट्टरता और अदूरदर्शिता के कारण लोकप्रिय न हो सका। मुगल शासन की प्रतिष्ठा को पहले ही कुछ धक्के लग चुके थे। साम्राज्य-विस्तार की दृष्टि से जो आक्रमण मुगलो ने मध्य एशिया पर किये उनमे वे बुरी तरह असफल रहे। देश के अन्दर भी एकता की ठोस भूमि निर्मित न हो सकी थी। मेवाड के सीसोदिया वंशी राणा अपनी अन्तरात्मा में मुगलो की आधीनता स्वीकार न कर सके थे। बुन्देलखण्ड के वीर बुन्देलो का भी मन पराधीनता के विरुद्ध खौल-खौल उठता था। दक्षिण मे मराठे वीर अपने पराभव और पराधीनता के प्रति हृदय मे विक्षुब्ध थे। अकबर ने इन सारी विद्रोहिनी शक्तियो को किसी प्रकार जोड-तोडकर अनुकूल कर रक्खा था; किन्तु सुशासन की वैसी योग्यता, निष्ठा और मेधाविता के अभाव मे परवर्ती काल मे वैसी ही स्थिति बहुत काल तक न रह सकी। राज्य और शासन की गम्भीर समस्याओ के प्रति जहाँगीर की उदासीनता और तबीयत की मस्ती तथा शाहजहाँ के कला-प्रेम, ऐश्वर्यपरायणता और अपव्यय के कारण मुगल शासन के वृक्ष की जडो मे घुन धीरे-धीरे लग चुका था। औरंगजेब ने स० १७१५ से स० १७६४ तक लगभग ५० वर्ष तक राज्य किया। लगभग आधी शताब्दी तक शासन करने वाले औरंगजेब ने सहिष्णुता और उदारता की नीति के बजाय अनुदार और कट्टरतावादी नीति का आश्रय लिया। इतना ही नही हिन्दुओ के देश पर शासनाधिकार करने वाले शहंशाह औरगजेब ने राज्यशक्ति का उपयोग हिन्दुओ के दमन और इस्लाम धर्म के प्रसार के लिये किया। औरगजेब का शासन हिन्दुओं के जीवन को नरक बना रहा था। हिन्दुओ पर औरंगजेब ने जजिया कर लगाया, हिन्दू मन्दिरो को तोडने का फरमान जारी किया गया जिसके परिणाम-स्वरूप अन्यान्य मन्दिरों के साथ-साथ भारत के तीन प्रसिद्ध मन्दिरो—काशी स्थित विश्वनाथ, गुजरात के सोमनाथ और मथुरा के केशवराय के मन्दिरो—को भी ध्वस्त कर दिया गया। मनुष्य के लिए उसके धर्म से अधिक पवित्र और कुछ नही होता। हिन्दुओ के धर्म पर जब इस प्रकार का नृशस प्रहार होता तो हिन्दू विष के घूँट पी-पीकर रह जाते थे, अशक्त और निस्साधन हिन्दुओ का मन मसोस-मसोस कर रह

मे अनेक बार औरंगजेब द्वारा हिन्दुओ पर किये जाने वाले जुल्मो का वर्णन आया है—

देवल गिरावते फिरावते निसान अली,
ऐसे समै राव राने सबै गए लबकीं ।
गौरा गनपति आप औरंग को देखि ताप,
आपने मुकाम सब मारि गए दबकी ।
पीरा पैगंबरा दिगंबरा दिखाई देत,
सिद्ध की सिधाई गई रही बात रब की ।
कासी हू की कला गई मथुरा मसीत भई,
सिवाजी न होतो तो सुनति होति सबकी ॥

औरङ्गजेब हिन्दू व्यापारियो से अधिक कर लेता था और मुसलमान व्यापारियो से कम, जिससे हिन्दू व्यापारी लोभवश मुसलमान धर्म स्वीकार कर ले । इस्लाम धर्म स्वीकार करने वाले हिन्दू को पुरस्कार, सम्मान और उच्च पद प्रदान किया जाता था । हिन्दू प्रकट या सामाजिक रूप से अपने पर्व, त्यौहार और उत्सव नही मना सकते थे, उन्हे ऊँचे पदो से हटाकर उनकी जगह पर मुसलमानों को रक्खा जाता था तथा मुगल राजसभा मे प्रवेश-प्राप्त हिन्दू रीति-रिवाजो का चलन बन्द कर दिया गया । हिंदुओ के दमन और जलालत की ऐसी कट्टर और क्रूर नीति का परिणाम अच्छा न हुआ । इस हिन्दू-विरोधी नीति के परिणामस्वरूप राज्य मे चारो तरफ क्षोभ और असतोष की लपटे उठने लगी और मुगल शासन पर उसकी आँच आए बिना न रही । जो हिन्दू राज्य के स्तम्भ एव आधार थे उनके पदमर्दित और भूलुठित होने पर मुग़ल सत्ता निरापद न रह सकी । असंतोष और रोष की विद्रोहमयी ज्वालाएँ चतुर्दिक उठने लगी । औरङ्गजेब को अर्द्ध शताब्दी के सुदीर्घ शासन-काल मे अपनी ही नीति के कारण शाति और सुख की साँस लेने का अवसर न मिला । इन ज्वालाओ को शात करने के लिये वह 'बघूरे के पात की तरह' चारो ओर दौडता फिरता । अपने राज्य-काल का पूर्वार्ध औरङ्गजेब को जमीदारो, राजाओ और हिन्दुओं के धार्मिक झगड़ों और विद्रोहो को दबाने मे व्यतीत करना पडा और उत्तरार्ध उसे मुक्तिकामी दक्षिणापथ को अधिकार मे बनाए रखने मे बिताना पडा । औरङ्गजेब के शासन और अधिकार के विरुद्ध विद्रोह करने वाली शक्तियाँ इस प्रकार थीं—(१) आगरा प्रान्त के जाटो ने औरङ्गजेब की भेद-भावमूलक एवं अन्यायपूर्ण शासन-नीति के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और वे लगभग २० वर्ष तक मुगल शासन से सघर्ष करते रहे । अवध के कुछ राजपूत और इलाहाबाद के अनेक जमीदारो ने भी छोटे पैमाने पर ही सही मुगल शासन पद्धति की खिलाफत की । (२) नारनौल और मेवाड के सतनामी संप्रदाय के संतों ने अपनी असाधारण धर्म-निष्ठा का निदर्शन किया; उन्होंने औरंग-

जेब की धार्मिक कट्टरता के विरुद्ध विकट विद्रोह किया जिसका दमन करना औरङ्गजेब और उसके सैनिको के लिये बहुत मुश्किल हो गया। सतो और साधुओ के इस असाधारण साहस और शौर्य को देख मुगल सैनिक आश्चर्यचकित रह गये, उन्हे उनमे अतिमानवीय एवं दैवी शक्तियो का संदेह होने लगा। सतनामी संतो का यह विरोध इस बात का सूचक है कि वे इस्लाम धर्म को अस्वीकार कर अपने धर्म की रक्षा प्राणपण से करना चाहते थे। (३) राजपूताना में भी विद्रोह की आग भडक उठी जहाँ के अनेक प्रमुख राज्यो ने मुगलो की आधीनता अच्छी तरह स्वीकार कर ली थी। इसका कारण यह था कि राजपूत राज्यो की रही-सही स्वाधीनता का भी औरङ्गजेब ने अपहरण कर लिया।[1] यह बात राजपूतो के लिये एकदम असह्य हो उठी और उनका राजपूत रक्त फिर से बलकने लगा। मारवाड और मेवाड मे तो विशेषरूप से विद्रोह की लपटे उठने लगी। राजपूतो ने भी औरङ्गजेब का विरोध लगभग २५ वर्षों तक किया। राजपूतो के विद्रोह का नेतृत्व वीर दुर्गादास राठौर ने किया और मेवाड के राणा राजसिंह ने भी उसका साथ दिया। मुगल वाहिनी इन वीर राजपूतो को परास्त करने मे बार-बार असफल हो जाती थी, ऐसा लगता था जैसे राजपूताना मुगलो के आधीन नही रह सकेगा। अन्त मे औरङ्गजेब को बडी मुश्किल से सफलता मिली और वह भी सधि का मार्ग पकडकर। दुर्गादास अन्त तक मुगलो से युद्ध करते रहे। (४) पजाब मे गुरु नानक द्वारा सस्थापित सिक्ख सप्रदाय के गुरु तेगबहादुर ने औरङ्गजेब की नीति का विरोध किया। मुगल बादशाह के खिलाफ बगावत करने के अपराध मे सिक्खो का भीषण रूप से दमन किया गया और गुरु तेगबहादुर की नृशंसतापूर्ण हत्या कर दी गई। इस घटना ने सिक्खो की क्रोधाग्नि मे घी का काम किया, सिक्ख प्रतिशोध लेने के लिए उतारू हो गये। उनके बाद गुरु गोविन्दसिह ने मुगलो का विरोध और आत्मरक्षा के उद्देश्य से सिक्खो को एक युद्धपरायण जाति का रूप दे दिया। यह सिक्ख-शक्ति खालसा शक्ति कहलाई जो बराबर मुगलो से लोहा लेती रही। गुरु गोविन्दसिह के बच्चो को जिस पाशविकता के साथ दीवाल में चुनवा दिया गया था वह घटना भी सिक्खो के मन में सदा हूल पहुँचाती रही। (५) उधर बुन्देलखण्ड मे चम्पतराय मुगल शासन नीति के कारण विद्रोही हो गये तथा उनकी मृत्यु के अनन्तर उनके सुयोग्य पुत्र पन्नानरेश छत्रसाल के नेतृत्व मे दीर्घकाल तक औरङ्गजेब का विरोध होता रहा। रीतिकालीन भूषण कवि ने इन महाराज छत्रसाल

---

[1]जोधपुर के महाराज जसवन्तसिह और जयपुर के मिर्जा राजा जयसिह ने मुगल शासन को बनाए रखने के लिये ही अपने प्राणो की बलि चढा दी थी फिर भी औरङ्गजेब ने इनके राज्य हडप कर इनके उत्तराधिकारियो के प्रति कृतघ्नता और निर्ममता का व्यवहार किया। उसने जयपुर पर अधिकार कर लिया फलस्वरूप मारवाड़ और मेवाड के राजपूत विद्रोही हो गए।

की वीरता, स्वाभिमान और स्वतत्र प्रकृति का अच्छा वर्णन किया है। कविवर लाल या गोरेलाल ने तो छत्र-प्रकाश ही लिख डाला जिसमे महाराज छत्रसाल के गौरव-गरिमापूर्ण चरित्र का विस्तृत वर्णन किया गया है। (६) दक्षिण मे औरङ्गजेब की धार्मिक असहनशीलता के कारण शिया राज्य-शक्ति शिथिल पड़ गई थी—औरंगजेब कट्टर सुन्नी था और शिया मुसलमानो का दमन करता एवं उन्हे नफरत की निगाह से देखता था–फल यह हुआ कि वहाँ पर वीर शिवाजी के नेतृत्व मे मराठा-शक्ति उठ खडी हुई। समर्थ गुरु रामदास ने दक्षिण मे स्वाधीनता और जागृति का शख फूंक दिया। मराठे शिवाजी के निर्देशन मे जातीय चेतना से स्पन्दित हो उठे। शिवाजी ने क्रूर और कट्टर शासक औरङ्गजेब के विशाल मुगल साम्राज्य का स्वप्न भंग कर दिया। जो मुगल वाहिनी अपराजेय समझी जाती थी उसे मराठा-शक्ति से बार-बार पराजय स्वीकार करनी पडी। शिवाजी का उद्देश्य मुगलो की आधीनता समाप्त कर स्वतन्त्र एव सशक्त हिन्दू राज्य की पुनः प्रतिष्ठा करना था। भूषण कवि ने इसीलिये शिवाजी को 'हिन्दुत्व का सरक्षक' और 'दक्षिण की ढाल' कहा है—

वेद राखे विदित पुरान परसद्ध राखे
रामनाम राख्यौ अति रसना सुघर मैं।
हिंदुन की चोटी, रोटी, राखीहै सिपाहिन की
कांधे मैं जनेऊ राख्यो माला राखी गर मैं॥
मीड़ि राखे मुगल मरोड़ि राखे पातसाह
बैरी पीसि राखे वरदान राख्यो कर मैं।
राजन की हद राखी तेगबल सिवराज,
देव राखे देवल स्वधर्म राख्यो घर मैं॥

चारो तरफ विरोध और विद्रोह के बावजूद भी औरङ्गजेब के दृढ व्यक्तित्व के कारण उसका साम्राज्य टिका रहा। चाहे जितना भी समय लगा औरङ्गजेब ने विद्रोहो का दमन किया यहाँ तक कि मराठा शक्ति भी शिवाजी की मृत्यु (स० १७३७) के बाद शिथिल पड़ गई और उसे भी मुगलो की आधीनता स्वीकार करनी पडी। यह कहा ही जा चुका है कि विलासी जहाँगीर तथा ऐश्वर्य एवं प्रदर्शनप्रेमी शाहजहाँ के समय से ही मुगल साम्राज्य की जडो मे घुन लगनी शुरू हो गयी थी। औरङ्गजेब की अहंवादिता और कट्टर धर्मान्धिता ने उन जडों को और खोखला और जर्जर कर दिया। शाहजहाँ, औरङ्गजेब आदि एक से एक स्वेच्छाचारी शासक थे जो किसी का हस्तक्षेप नही पसद करते थे। शाहंशाह की इच्छा ही उस समय नियम और कानून थी। इस अतिवैयक्तिक, स्वेच्छाचारी और अहंवादी शासन के कारण जिसका रूप औरङ्गजेब के काल में और भी उग्र एवं कठोर तथा असहिष्णुतापूर्ण हो चला था असंतोष की लू सर्वत्र चल रही थी। जैसा ऊपर कहा जा चुका है औरङ्गजेब को

अपने साम्राज्य की रक्षा के लिए चारो तरफ दौडना पडता था और विद्रोहियो के दमन के लिये संघर्ष करना पडता था। विशाल सेना, सैनिक सामग्री एव युद्ध का व्यय-भार राज्य की आर्थिक स्थिति को डावॉडोल कर रहा था। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक स्वातत्र्य का ऐसे सामती शासन मे कही नाम-निशान तक न था। भयकर अहंकार, स्वेच्छा और अत्याचार का शासन तभी तक चल सका जब तक कि औरङ्गजेब मे दृढता थी अन्यथा चारो तरफ वातावरण बहुत ही प्रतिकूल था। आर्थिक सकट के कारण सेवको और स्वामिभक्तो को जागीरे बॉटी जाने लगी, सामंत पद दिया जाने लगा। ये ओहदे भी बडे-बडे उपहार लेकर बॉटे जाते थे। परिणामस्वरूप जागीरदारो की भी आर्थिक स्थिति अतिशय शोचनीय हो गई थी। इसके अतिरिक्त अकबर की उदार और समन्वयपूर्ण धर्म-नीति के विपरीत औरङ्गजेब ने हिन्दू-विरोधी नीति अख्तियार की। इस प्रकार उसने हिन्दुओ के सद्भाव और सहयोग की जगह उनका असंतोष, आक्रोश और अभिशाप प्राप्त किया। शाहजहॉ के समय मे अहमदनगर मुगलो के हाथ मे आ गया था और बीजापुर की आदिलशाही तथा गोलकुण्डा की कुतुबशाही ने मुगल आधिपत्य स्वीकार कर लिया था किन्तु अहम्मन्य औरङ्गजेब इतने से ही क्यो सतुष्ट रहने लगा। सुदूर दक्षिण मे भी मुगल शासन का विस्तार देखने के लिये उसने इन सबको भी जीतकर आधीन बना देना चाहा। उसकी इस महत्वाकाक्षा का परिणाम यह हुआ कि उसके शासन-काल का उत्तरार्ध दक्षिण-विजय और दक्षिण की व्यवस्था करने मे व्यतीत हुआ। अपने उद्देश्य मे वह सफल भी हुआ क्योंकि इन शाहियो को तथा मराठो को औरङ्गजेब की प्रबलतर शक्ति के आगे झुकना पडा किन्तु इसी बीच उत्तरापथ की व्यवस्था शिथिल पड गई थी। उपर्युक्त कारणों से औरङ्गजेब के द्वारा अत्यत परिश्रम से कायम रक्खा गया विशाल मुगल साम्राज्य स० १७६४ मे उसकी मृत्यु के बाद बरकरार न रह सका।

औरङ्गजेब के बाद : पतन का आरम्भ—व्यक्ति मे केन्द्रीभूत सत्ता कैसे भीषण परिणाम दिखलाती है इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण औरङ्गजेब के उत्तरवर्ती भारत के इतिहास का अवलोकन करने से पता चलता है। जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है औरङ्गजेब का शासन-काल अशाति और संघर्ष का काल था फिर भी अपनी शक्ति तेज और दृढ मनोबल तथा प्रतिभा के कारण औरङ्गजेब ने बाबर के वश की प्रतिष्ठा बहुत कुछ अक्षुण्ण रक्खी। उसके बाद राजनीतिक पतन एव अव्यवस्था का जैसा एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित हुआ वैसा भारतीय इतिहास में विरल है। यह अशाति और अव्यवस्था लगभग डेढ सौ वर्षों तक बनी रही। औरङ्गजेब की मृत्यु (स० १७६४) के बाद भारतवर्ष व्यवस्थित शासन के अन्तर्गत सैनिक विद्रोह या गदर (स० १९१४) के बाद ही आ सका। इसके बाद का इतिहास इस प्रकार है।
औरङ्गजेब के उत्तराधिकारी राजनीतिक दृष्टि से अत्यन्त अशक्त थे। उसकी मृत्यु के

अनन्तर उत्तराधिकार के लिये पदलोभी एवं स्वार्थी सिपहसालारो और शासन के उच्च पदाधिकारियो मे युद्ध शुरू हो गया । स० १७६४ से १७७६ तक लगभग १२ वर्षों के बीच बाबर के खानदान के पाँच बादशाह सिंहासन पर बैठे, जिनकी नामावली क्रमशः इस प्रकार है—बहादुरशाह (सं० १७६४-१७६९), जहाँदारशाह (१७६९), फर्रुखसियर (१७६९-१७७६), रफीउद्दरजात (१७७६) और रफीउद्दौला (१७७६)। इन सभी ने उत्तराधिकार के लिये भीषण युद्ध किया और अपने प्रतिद्वद्वी को या तो समाप्त कर दिया अथवा बंदी-गृह मे डाल दिया। इसके बाद मुहम्मदशाह दिल्ली के सिंहासन पर बैठे और उन्होने लगभग ३० वर्ष तक (सं० १७७६-१८०५) राज्य किया। मुहम्मदशाह के बाद अहमदशाह (स० १८०५-१८११) और अहमदशाह के बाद आलमगीर द्वितीय (स० १८११-१८१६) मुगल सिंहासन पर बैठे।

स० १७६४ से १८१६ तक की लगभग आधी शताब्दी मे एक के बाद एक होने वाले शक्तिहीन मुगल शासक लोभ, स्वार्थ और विलास की कठपुतली थे। जैसे-तैसे वे राज्याधिकार पाते और जैसे-तैसे उसका निर्वाह करते। एक के बाद एक उत्तराधिकार प्राप्त करने वाले उपरिलिखित शासको मे शिक्षा, सस्कार, वीरता, राज्य-सचालन-क्षमता, दूरदर्शिता आदि गुणो का अभाव था। फलस्वरूप बडे श्रम से सुसंगठित विशाल मुगल साम्राज्य का भवन शीघ्र ही धराशायी हो गया। दूर-दूर तक फैला हुआ मुगल साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया। इस बीच[1] निजाम, रुहेलो, सिक्खो, मरहठो, नादिरशाह और उसके उत्तराधिकारी अहमदशाह अब्दाली ने जो आक्रामक एव अशातिपूर्ण कार्रवाइयाँ की उनका मुगल शासकों द्वारा तीव्र प्रतिरोध न हो सका। फलतः संपूर्ण मुगल साम्राज्य असतोष, अत्याचार और रक्तपात की क्रीड़ा-भूमि बन गया। राजपूत जो मुगलो की आधीनता मे ही सही अपनी वीरता और पौरुष दिखाया करते थे अब अशक्त और निर्जीव हो चले थे, भोग-विलास और आमोद-प्रमोद तक इनकी दुनियाँ सीमित हो चली थी तथा किसी बाहरी आक्रमणकारी का मुकाबला करने के बजाय ये, राजपूत आपस में ही लडकर अपनी शक्ति का अपव्यय कर रहे थे। राजस्थान मे गृहयुद्धो का बोलबाला था। इस स्थिति से मरहठो और पिंडारियों ने पूर्ण लाभ उठाया। इस स्थिति का चित्रण करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि—'मुगल-वश की राजनीतिक प्रतिभा नष्ट हो चुकी थी। अंतःपुर में क्षुद्र द्वेष और प्रणय की लीला चल रही थी—राज्य के उत्तराधिकारी उचित शिक्षा और संस्कार के अभाव में विलासी, निर्वीर्य एव व्यक्तित्वहीन हो गए थे। मुगलों के जैसे राजत्व-विधान के लिए जहाँ सम्पूर्ण व्यवस्था सम्राट के व्यक्तित्व पर ही आश्रित रहती थी, इस प्रकार का वातावरण पूर्णतया घातक सिद्ध हुआ। केन्द्रीय शासन के दुर्बल हो जाने के कारण भिन्न-भिन्न प्रान्तो के अधिपति स्वतत्र होने लग गए थे। मुगल-दरबार स्वयं

[1] मुहम्मद शाह के दीर्घ राजत्वकाल (स० १७७६-१८०५) मे

अमीरो और राजकीय अधिकारियो की उच्चाकाक्षाओ का रंगस्थल बना हुआ था। इन लोगो के पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष का ऐसा ताण्डव नर्तन हो रहा था मानो संम्राट का अस्तित्व ही न रहा हो। फर्रुखसियर के समय मे सैयद भाइयों और तूरानी सरदारो का उदाहरण इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। सैयद भाई तो बादशाहो को बनाने-बिगाडने की शक्ति रखते थे। आगरा और राजपूताना मे जाट और राजपूतो के विद्रोह हो रहे थे, दिल्ली के उत्तर मे सिक्खो का प्रभुत्व बढ रहा था—बन्दा वैरागी के उपद्रवो ने बहादुरशाह और फर्रुखसियर दोनो के नाक मे दम कर दिया था। दक्षिण मे मराठो की शक्ति अप्रतिरुद्ध बढ रही थी। निर्बल मुगल शासक प्रायः उनकी शर्तों को मानकर उनको चौथ वसूल करने का फरमान देकर जैसे-तैसे अपनी मुसीबत दूर करते थे।'[1] इस प्रकार औरगजेब की मृत्यु के बाद बहुत दिनो तक हिन्दी प्रदेश पर आधिपत्य स्थापित करने के लिये छोटी-बडी राजनीतिक शक्तियो मे नानाविध सघर्ष चलता रहा। इस परिस्थिति और दुर्बल मुगल शासन के परिणामो का उल्लेख करते हुए डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय लिखते है—'मुगल साम्राज्य के टुकडे-टुकडे हो गए, राजकीय आय कम हो गई, दिन-रात युद्ध-विग्रह, लूटमार, रक्तपात होने लगा, राज्य मे विद्रोह और बाहर से आक्रमण होने लगे और समस्त हिन्दी-प्रदेश मे प्रजा दुर्भिक्षो तथा अन्य कष्टो और यातनाओ से पीडित रहने लगी। रेवाडी, सरहिंद, दादरी, थानेश्वर, पानीपत, बागपत, बुलन्दशहर, अनूपशहर, दनकौर, मथुरा, दिल्ली, आगरा, डीग, करनाल, सहारनपुर, इटावा, सोनपत, फर्रुखनगर, मिर्जापुर, जयपुर, गाजियाबाद, खुर्जा, गढमुक्तेश्वर, गुडगॉव, भरतपुर, रीवॉ, बरेली, पटना, वृन्दावन, दिल्ली, राजस्थान, मरहठा-राज्य, पजाब और बिहार आदि के अनेक छोटे-बडे स्थानो मे समय-समय पर लूटमार, स्त्रियो का अपहरण, विध्वस और विनाश आदि बाते साधारण घटनाएँ थी। इनमे से अनेक स्थान तो हमेशा के लिये उजड गए। कुछ न मालूम कितनी बार उजडे और कितनी बार बसे। नादिरशाह और अब्दालीशाह ने विभिन्न कालो में दिल्ली और मथुरा, वृन्दावन तथा आगरे के बीच का भूमि-भाग लूटा और भीषण नर-संहार किया। उस समय का वर्णन अत्यत लोमहर्षक और रोमाचकारी है। यह तो खैर एक बडे भारी आक्रमण और लूट का उल्लेख है लेकिन जब स्वय भारतवासी ही आपस मे एक दूसरे पर आक्रमण करते थे तो जनता को नाना भॉति के घोर कष्ट और यातनाएं सहन करनी पडती थी। हिन्दी प्रदेश के एक कोने से दूसरे कोने तक अस्थिरता और अराजकताजन्य हाहाकार मचा हुआ था और एक दृष्टि से किसी भी प्रकार की नियमित, व्यवस्थित और वैध शासन-पद्धति का अत हो गया था।'[2]

[1] डा० नगेन्द्र : रीति काव्य की भूमिका (सन् १९५३) पृ० ५।

[2] डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका (सन् १९५२) पृ० ३५-३६।

मुगल साम्राज्य के पतन के कारण एक तो औरंगजेब की असहिष्णुतापूर्ण एव अनुदार शासन-नीति मे ढूँढे जा सकते है—[1] उसकी हिन्दू राजपूत विरोधी नीति, राजधानी मे ही शासकीय सत्ता का केन्द्रीकरण, राजकीय आय का निरर्थक युद्धो में व्यय, सुदूर भूभागो के सूबेदारो, आश्रित या विजित राजाओं और नवाबो पर नियत्रण की कमी, यातायात की सुविधाओ का अभाव, सपन्न व्यक्तियो के माल का राज्यकोष में सम्मिलित किया जाना, धर्मगत कट्टरता, इतर धर्मानुयायियो की दुर्गति, समर्थ एव निष्पक्ष न्यायाधीशो की कमी, राज्य की सैनिक एव आर्थिक स्थिति का ह्रास आदि औरगजेब के उत्तराधिकारियो को उत्तराधिकार के रूप मे प्राप्त हुए। ये उत्तराधिकारी स्वतः राजदण्ड सँभालने मे असमर्थ थे। उत्तराधिकार के लिए होने वाले सघर्षों की कथा पहले कही ही जा चुकी है, इन्ही कारणो से उत्तरवर्ती औरंग-जेब-काल मे अव्यवस्था और अराजकता का साम्राज्य रहा। उधर मराठा, सिक्ख आदि अन्यान्य शक्तियाँ मुगल-शासन के विरुद्ध चारो तरफ से उठ खडी हुई थी। इन अनेकानेक कारणो के बीच एक शक्तिशाली मुगल सम्राट की कमी सबसे बड़ा कारण थी। उनका राजदण्ड निष्प्रभ हो गया था। राजकीय आज्ञाएँ अवज्ञा की दृष्टि से देखी जाती थी। मुगल शासक की दशा ऐसी दीन हो गई थी कि कभी तो वह अपने प्रतिद्वद्वियो के विरुद्ध अपने शत्रुओ से ही सहायता की याचना करने लगता था वैसे शत्रु और मित्र दोनो समान रूप से अविश्वसनीय थे। प्रतिद्वद्वी स्वार्थ के भूखे भेड़िये थे, प्रजाहित के कामी महिपाल नही। अर्थ और अधिकार-लोलुप वासनापरायण पदलिप्सुओ की ऐसी हीन मनोवृत्ति के कारण लूटमार, धोखाधडी, छलफरेब, पक्षपात, गद्दारी, सरकारी खजाने से गबन, रिश्वत, पदलोभ के लिए नीच कर्म आदि का बाजार गर्म था। साम्राज्य विस्तार, आक्रमण एव सुरक्षा के लिए रक्खी गई विशाल सेनाएँ अतिशय व्ययसाध्य हो गई थी जिसका व्यय-भार राज्य सँभालने मे असमर्थ हो चला था। कूच करती हुई सेनाओ की अनियंत्रित गति के कारण भी प्रजा पीडित रहा करती थी। वीरतापूर्ण जीवन की जगह अकर्मण्यता, भीरुता और विलासप्रियता तात्कालिक राज्याधीशो का जीवन हो चला था। राज-नर्तकियो और वेश्याओ की प्रतिष्ठा राज्य-सभाओ मे बढ चली थी। इनके इशारों पर भी अनेक कामोपासक नरेश अनेक अकरणीय कार्य कर बैठते थे। भोग-वासनामय जीवन के परिणामस्वरूप सगीत, नृत्य, चित्र स्थापत्यादि कलाओं को प्रोत्साहन भले ही मिला हो किन्तु जीवन की गंभीर और वाछनीय समस्याओं को सुलझाने की ओर लोगो का ध्यान न गया। राज्यशक्ति का जैसा क्षय हो चला था और देश में जैसी फूट तथा स्वार्थलिप्सा पैदा हो चुकी थी उसके परिणामस्वरूप कोई भी विदेशी शक्ति भारतीय वातावरण का लाभ उठा सकती थी।

---

[1] डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय : आधुनिक हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ० ३१, ३२, ३६, ३७।

मराठा शक्ति का अभ्युदय—रीतिकाल के पूर्वार्ध की समसामयिक राजनीतिक परिस्थितियो का विवरण ऊपर दिया जा चुका है। उत्तरार्ध का विवरण मराठा शक्ति के उदय और अस्त तथा अँग्रेजो की प्रभुता के विस्तार के साथ संबद्ध है। मराठा शक्ति मुगल शासन के औरगजेब-काल मे ही प्रबुद्ध और जागृत हो सशक्त हो चुकी थी। उसके प्रथम उन्नायक थे पूना जागीर के स्वामी शाहजी (अहमदनगर की निजामशाही के एक प्रतिष्ठित जागीरदार) के पुत्र शिवाजी। मुगलों के हमलों से दक्षिण के राज्य जर्जर एव अशक्त हो गए थे। शिवाजी ने इस स्थिति से लाभ उठा कर एक स्वतत्र राज्य की स्थापना की। इस राज्य के दो भाग थे—एक स्वराज्य अर्थात् वह प्रदेश जो शिवाजी के निजी अधिकार या शासन में होता था दूसरे मुगलिया अर्थात् वह प्रदेश जो शिवाजी के निजी शासन मे न होते हुए भी 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' नामक कर देने को बाध्य था। कर देने वाले राज्यो की बाहरी आक्रमणो से रक्षा शिवाजी अपना पावन कर्तव्य समझते थे। प्राय: सम्पूर्ण दक्षिणापथ से शिवाजी चौथ और सरदेशमुखी वसूल किया करते थे। शिवाजी की मृत्यु सं० १७३७ मे हो चुकी थी। उनका उत्तराधिकारी सम्भा जी उतना समर्थ शासक न था फलस्वरूप औरगजेब ने शिवा जी की मृत्यु के अनंतर मराठा शक्ति का दमन किया। स० १७४६ मे संभा जी कैद कर लिये गए और नृशसतापूर्ण ढग से उसका वध कर दिया गया। औरगजेब की मृत्यु (सं० १७६४) तक मराठा-शक्ति शिथिल पडी रही। इसके बाद इन लोगो ने फिर सिर उठाया। मराठो के अनेक दल थे जो औरगजेब के बाद जर्जरीभूत मुगल साम्राज्य पर जिधर-तिधर छापे मारते तथा चौथ और सरदेशमुखी वसूल करते। बाला जी विश्वनाथ मराठा-शक्ति के नये उन्नायक हुए (सं० १७७०-१७७७) जिनके प्रयत्नो से मराठो का गया हुआ 'स्वराज्य' तो वापस लौटा ही समूचे दक्षिणापथ से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार भी प्राप्त हो गया। यह सब औरगजेब के उत्तराधिकारियो की निर्बलता का ही परिणाम था। पेशवा बाजीराव (स० १७७७-१७९७) के नेतृत्व मे मराठा-शक्ति और साम्राज्य का विस्तार हुआ। दक्षिणापथ के अतिरिक्त मध्यभारत और गुजरात तक इनके हमले हुए और नए प्रदेश अधिकार मे आए। पेशवा की अधीनता मे चार नए राज्य कायम हुए। राघो जी भोसले, मल्हार राव होल्कर, रानो जी सिंधिया और पीलाजी गायकवाड की आधीनता मे क्रमशः नागपुर, इन्दौर, ग्वालियर और गुजरात नवस्थापित मराठा साम्राज्य के केन्द्र बने। इन राजाओ ने स्वतत्रतापूर्वक अपने-अपने साम्राज्य का विस्तार किया, जिसके परिणामस्वरूप मध्य प्रदेश का भी बहुत बडा भू-भाग मराठों की आधीनता मे आ गया। दुर्बल मुगल उत्तराधिकारी अब मराठो के इशारो पर चलने लगे थे। बाजीराव के पुत्र बाला जी बाजीराव पेशवा के पेशवा-काल (स० १७९७-१८१८) मे मराठा-शक्ति अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच गई थी। इनके

हमले उडीसा, बगाल, रुहेलखण्ड (पाचाल प्रदेश) और पजाब तक हुए। उडीसा इनके अधिकार मे आ गया था, बगाल से इन्होने चौथ और सरदेशमुखी कर वसूल किये तथा पश्चिम मे सिन्धु नदी तट स्थित अटक दुर्ग पर भी इनका भगवा झडा फहराने लगा। मराठो के प्रदीप्त तेज और बल के समक्ष दिल्ली के मुगल उत्तराधिकारी निष्प्रभ और हीनबल हो रहे थे, इनके हाथ की कठपुतली मात्र।

आलमगीर द्वितीय के बाद स० १८१६ मे शाह आलम मुगल सम्राट बना किन्तु मराठो के चतुर्दिक व्याप्त प्रभुत्व के कारण वह दर-दर मारा फिरता था। वह इतना अशक्त बादशाह था कि स्वय उसके मन्त्री उसे परेशान करते थे। ऐसी स्थिति में जगह-जगह भिखारी की तरह सहायता की याचना करना और अपनी खोई शक्ति पाने की कोशिश करना ही उसका एकमात्र काम था। उधर दिल्ली पर बार-बार मराठो के हमले हो रहे थे। शाह आलम के बाद दो मुगल सम्राट और हुए—अकबर शाह द्वितीय (स० १८१७) और बहादुरशाह (स० १८३२) किन्तु उनकी दशा भी शोचनीय थी। शक्ति और एकता के अभाव मे ये अपने पतन का दृश्य अपनी आँखो देखते रहे। सिक्खो, जाटो और मराठो का उत्कर्ष हुआ। मराठा-शक्ति का जैसा विशिष्ट अभ्युदय हुआ उसकी चर्चा ऊपर की ही जा चुकी है। मुगलो की जर्जर दशा देख केवल देश के अन्दर की ही शक्तियाँ प्रबल नही हो उठी अपितु अनेक बाहरी आक्रामक भी आए। स० १७९६ मे ईरान के नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण किया। मराठो, सिक्खो, राजपूतो आदि के विद्रोह और विरोध के कारण मुगल सम्राट की शक्तियाँ ही क्षीण हो चली थी, नादिरशाह के भयकर आक्रमण ने रही-सही कमी भी पूरी कर दी। नादिरशाह ने भीषण रक्तपात किया और दिल्ली को बुरी तरह से लूटा। इसके बाद अफगानिस्तान के शासक अहमदशाह अब्दाली ने साम्राज्य-विस्तार तथा वैभव-वृद्धि की दृष्टि से कई बार भारत पर आक्रमण किये। उसका पहला आक्रमण स० १८१४ मे हुआ, जिसके कारण देश मे भीषण लूटपाट और रक्तपात तथा नरसहार हुआ। परिणामस्वरूप पजाब, सरहिंद, दिल्ली, आगरा, मथुरा तक के प्रदेश हाहाकार कर उठे। दिल्ली तो एकदम उजड ही गई; क्योकि वहाँ बेतरह लूटपाट मची। अन्य स्थानों की भी लगभग ऐसी ही दशा हुई। जन-जीवन विशृङ्खलित हो गया। इस समय दिल्ली के मुगल शासक मराठों के हाथों की कठपुतली बने हुए थे। मराठा-शक्ति अपने पूर्ण उत्कर्ष पर थी। चार वर्ष बाद स० १८१८ मे अहमदशाह अब्दाली का दूसरा और अधिक महत्वपूर्ण आक्रमण हुआ जिसका उद्देश्य मराठा शक्ति का अन्त करना था। अपने पहले आक्रमण मे अब्दाली ने पंजाब को अपने अधिकार में कर लिया था और वहाँ अपना सूबेदार नियुक्त किया था किन्तु बाद में मराठो ने उस प्रदेश पर अधिकार कर अपना मराठा सूबेदार नियुक्त किया। सं० १७६१ के आक्रमण में अब्दाली ने मराठा सूबेदार को परास्त कर दिल्ली को फिर

अधिकृत किया। पेशवा को जब यह समाचार मिला तो उसने अब्दाली को परास्त करने की दृष्टि से बड़ी भारी सेना तैयार की और दिल्ली की ओर चला। सदाशिव-राव भाऊ के नेतृत्व मे मराठा-शक्ति ने अफगान आक्रमणकारी अहमदशाह अब्दाली और उसके साथ मिले हुए नाजिब शुजा और रुहेलो की सगठित शक्ति से मोर्चा लिया। सब मराठे अपनी-अपनी सेनाओ के साथ पेशवा की सहायता के लिए आए। अनेक राजपूत-शक्तियों ने भी मराठो का साथ दिया। पहले दिल्ली का विजय हुआ और यह योजना बनी कि पेशवा बालाजी बाजीराव के पुत्र विश्वनाथ राव को दिल्ली का मराठा सम्राट घोषित किया जाय। उधर अब्दाली भी पूरी शक्ति और तैयारी के साथ आया। पानीपत के मैदान मे घमासान युद्ध हुआ, जिसमे मराठो की हार हुई और कितने ही वीरों के साथ-साथ सदाशिवराव भाऊ और विश्वनाथ राव भी युद्ध में मारे गए। इस पराजय से मराठा-शक्ति को गहरा धक्का लगा। इसी समय से उनके अपकर्ष का युग शुरू होता है। सात-आठ वर्ष तक उत्तर-विजय की कामना इनके मन मे उठी ही नही। उसके बाद जाटो और उनके पड़ोसी राज्यो पर इनके आक्रमण शुरू हुए। २०-२५ वर्षों तक यही दशा रही। स० १८२२-१८६२ तक राजपूताना और बुन्देलखण्ड मे मराठो के आक्रमण से महाविध्वंस का दृश्य उपस्थित होता रहा, जिसके कारण इन क्षेत्रो के लोगो मे इनके प्रति आत्यन्तिक घृणा के भाव भर गए। फिर इन युद्धो मे व्यक्तिगत रूप से अलग-अलग मराठा सेनापतियों की महत्वाकांक्षा निहित थी न कि यह समस्त मराठा शक्ति की ओर से उठाया गया कोई कदम था। फिर भी मराठो का यह लक्ष्य अवश्य था कि वे एक बार फिर अपने खोए हुए साम्राज्य को अपनी आधीनता मे लाना चाहते थे और इसी उद्देश्य से वे बार-बार उत्तरापथ पर आक्रमण करते रहे। मराठो मे आपस मे विशेष मतभेद नही था। उनके आक्रमणों के परिणामस्वरूप मथुरा, दनकौर, टप्पल, डिबाई, नौझील आदि स्थानों मे युद्ध के भीषण परिणाम उपस्थित हुए। मराठे नाजिब की सहायता से जाटो पर शासन करना चाहते थे किन्तु नाजिब स्वतः मराठो का विपक्षी था इसलिये जाटो पर शासन करने की उनकी कामना पूरी न हो सकी। दूसरे मराठे यह भी चाहते थे कि शाहआलम को कठपुतली की तरह सिंहासन पर बिठाकर एक बार फिर दिल्ली का शासन करे। इसके लिए वे तरह-तरह की नीतियाँ अपनाते रहते। स० १८२८ में मुगलो ने शाह आलम को सम्राट घोषित किया। जगह-जगह सहायता की याचना करने वाला शाह आलम स० १८२९ मे दिल्ली लौटा। वह तो नाम का ही बादशाह बना, असली शक्ति मराठो के हाथ रही। कुछ विरोधियो ने रुहेलखंड और दिल्ली के आस-पास उपद्रव भी किये किन्तु वे दबा दिये गए। सं० १८४५ मे मौका देखकर नाजिब के पुत्र गुलाम-कादिर खाँ ने शाह आलम को कैद कर लिया और निर्ममतापूर्वक उसकी आँखे फोड़ दी। मराठो ने कादिर खाँ से बदला लिया। महादजी सिंधिया की सेना यूरोपीय ढंग

पर सैनिक शिक्षा प्राप्त कर चुकी थी, उसी की सहायता से सं० १८६० तक उन्होने दिल्ली का शासन सँभाला। इसी वर्ष नवागत अंग्रेज शक्ति से मराठे पराजित हुए और उन्हे दिल्ली छोडनी पडी।

अंधे मुगल सम्राट शाह आलम की मृत्यु स० १८६३ मे हुई। उसके बाद अंग्रेजो ने शाह आलम के पुत्र अकबरशाह द्वितीय और उसकी मृत्यु के बाद स० १८६४ मे उसके पुत्र बहादुरशाह को उत्तराधिकारी बनाया। सं० १९१४ के सैनिक विद्रोह या गदर के परिणामस्वरूप बहादुरशाह रंगून भेज दिये गए जहाँ स० १९१९ मे उनकी मृत्यु हुई। ये दोनो भी नाम के ही सम्राट थे, वास्तविक राज्य सत्ता अंग्रेजों की थी। बहादुरशाह मुगल वश परम्परा के आखिरी बादशाह थे। ऐसी दयनीय स्थिति मे मुगल सत्ता सदा के लिए भारत से समाप्त हो गई। इतना ही नही राजपूत, सिक्ख, जाट, मराठा आदि अन्य देशी शक्तियाँ भी इस युग मे क्रम-क्रम से उदित होकर विनष्ट हो गई। देश आपस की फूट और कलह का शिकार हुआ।

अन्य शक्तियाँ : नाजिब, जाट, सिक्ख और राजपूत—औरंगजेब को अनुदार और हिन्दूविरोधी नीति तथा उसके उत्तराधिकारियो की अयोग्यता के कारण मुग़ल शासन का राष्ट्रीय रूप समाप्त हो चुका था। मराठे, सिक्ख, राजपूत आदि अन्य शक्तियाँ मुगलो के विरुद्ध खडी हो चुकी थी तथा अपनी स्वतत्र सत्ता की स्थापना एव विस्तार का आयोजन कर रही थी।

मुग़लो को क्षीण बल होते देख आगरा, मथुरा के समीपवर्ती प्रदेशो के जाटो ने अपने छोटे-छोटे अनेक स्वतंत्र राज्य कायम कर लिये थे। स० १८१८ मे पानीपत के रणक्षेत्र मे अहमदशाह अब्दाली ने मराठा शक्ति को पराजित किया। इस घटना के कारण जाटो को अपना उत्कर्ष-साधन का अच्छा अवसर मिला। सूरजमल जाट के नेतृत्व में जाटों ने आगरा, धौलपुर, मैनपुरी, हाथरस, अलीगढ, इटावा, मेरठ, रोहतक, फर्रुखाबाद, मेवाड़, रिवाडी, गुडगाँव और मथुरा के प्रदेशों पर अधिकार कर लिया और भरतपुर को राजधानी बनाकर अपने स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। इस प्रकार जाट भी अपने समय की एक महत्वपूर्ण राज्यशक्ति थे। जाटो ने गंगा-जमुना के दोआब के बीच अपना आधिपत्य स्थापित कर रक्खा था। वे दिल्ली के पश्चिम में भी अपने साम्राज्य का विस्तार देखना चाहते थे किन्तु ऐसा संभव न हो सका। सं० १८२० मे सूरजमल जाट की मृत्यु हो चुकी थी। उसके अनतर उसका पुत्र जवाहर सिंह जाटों का नेता बना। उसने जयपुर के महाराज माधोसिंह, नजीबाबाद नगर के बसाने वाले महत्वाकांक्षी नाजिब तथा मराठो के साथ अनेक युद्ध किये जिसका कोई सत्परिणाम न निकला। इन युद्धो में आगरा, दिल्ली, कालपी, राजपूताना आदि के भू-भाग एक बड़ी सीमा तक उजड़े। जयपुराधीश माधोसिंह के साथ जवाहर

राज्यो की जडे हिल गईं। जयपुर के सभी वीर वश वीरविहीन हो चले। हर परिवार के दो-तीन वीर युद्ध मे काम आए। जाटो को इन युद्धो मे जो असफलता मिली उसके कारण उनकी राज्य-सीमा सकुचित होने लगी। स० १८२५ मे जयपुर के माधोसिंह ने जवाहरसिंह के राज्य पर प्रतिशोध की भावना से फिर आक्रमण किया, जिसमे जवाहरसिंह को भारी पराजय मिली। इसी वर्ष कुछ दिनो बाद जवाहर सिंह की मृत्यु हो गई।

नजीबाबाद का बसाने वाला महत्वाकाक्षी नाजिब छल, छद्म और कूटनीति द्वारा राज्य-प्रसार और आत्म-विकास चाहता था। वह अहमदशाह अब्दाली की सहायता से अपने राज्य का स्थायित्व और विस्तार चाहता था किन्तु उसे समय पर अब्दाली की सहायता न प्राप्त हो सकी। उधर सिक्खो की बढ़ती हुई शक्ति और प्रभुता के कारण नाजिब का धैर्य और आत्मविश्वास जाता रहा। उसने दिल्ली का राज्य अपने पुत्र जाबित के सुपुर्द कर दिया (सं० १८२५) और स्वयं नजीबाबाद मे जाकर शाति का जीवन व्यतीत करने लगा।

सिक्खो की सैनिक शक्ति का उत्कर्ष औरगजेब के समय में ही गुरु गोविन्द सिंह के कारण हो चुका था। किन्तु मराठो के व्यापक उत्कर्ष के कारण सिक्ख शक्ति का प्राबल्य विशेष न हो पाता था। स० १८१८ मे पानीपत के युद्ध मे अब्दाली से मराठो की जो हार हुई उसके परिणामस्वरुप सिक्ख शक्ति पुनः प्रबल हो उठी। सं० १८२४ मे सिक्खो ने अफगान आक्रमणकारी अहमदशाह अब्दाली को पराजित किया तथा पजाब मे उन्होने अनेक स्वतत्र राज्यो की स्थापना की। सिक्खो, नाजिब तथा जाटों मे पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता थी फलत. उन दिनो पटियाला, सरहिन्द, अंबाला आदि मे काफी लूटपाट और विध्वंस हुआ किन्तु बाद मे ये प्रदेश सिक्खों की आधीनता मे आ गए। सिक्खो ने उत्तरी दोआब, सहारनपूर, मेरठ, नजीबाबाद के आस पास काफी लूटपाट मचाई।

राजपूत इस समय एक कमजोर शक्ति के रूप मे थे। मुगल शासन के उत्कर्ष काल मे ये उनको आधीनता स्वीकार कर चुके थे। मेवाड़ के राना प्रताप आदि अपवादस्वरूप ही स्वतत्रता का ध्वज लिये चल रहे थे। ये लोग वस्तुतः पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष के शिकार थे और इसी कारण सगठित रूप में राजपूत शक्ति का विकास नही कर पाते थे। इनके अलग अलग छोटे-छोटे राज्य थे और ये मुगलो के सहायक एवं सूबेदार आदि के रूप मे उनकी साम्राज्य-लिप्सा को प्रोत्साहन दिया करते थे किन्तु इनमे पारस्परिक ऐक्य का सदा अभाव रहा। सं० १८१८ मे मराठा शक्ति को पानी-पत के मैदान मे जब गहरा धक्का लगा। उस अवसर का भी ये लोग लाभ न उठा सके। पारस्परिक विद्वेष, उचित नेतृत्व का अभाव आदि के कारण धीरे-धीरे ये अधोगति एवं सर्वनाश की स्थिति को पहुँच गए थे। राज्य-विस्तार के भूखे मराठे इन पर बार-

बार आक्रमण करते, राजपूत उन्हे प्रर्याप्त धन आदि दे कर वापस कर देते। इनके बीच गृह-युद्ध आदि चला करते थे। मराठे उसमे भी हस्तक्षेप करते रहते थे। आई हुई विपत्ति से जूझने का साहस इनमें शेष न था, ये किसी प्रकार उसे टाल दिया करते थे। अर्थ, शक्ति और साहस सब कुछ के अभाव मे ये राजपूत निष्क्रिय और तेजहत होते गए यहाँ तक कि स० १७७५ तक सभी राजपूत नवागत अँग्रेज शक्ति की आधीनता स्वीकार कर बैठे।

ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना—अग्रेज, फ्रासीसी और पुर्तगाली आदि यूरोपीय जातियाँ समुद्र द्वारा भारत का मार्ग जान लेने पर व्यापार और आर्थिक लाभ की दृष्टि से भारत मे आईं। पूर्वी देशो का व्यापार हस्तगत करने के उद्देश्य से हालैण्ड, फ्रास, ब्रिटेन, स्पेन आदि देशो मे व्यापारिक कम्पनियाँ स्थापित की गइ और इन देशो के व्यापारी पहले पोर्तुगीज मल्लाह वास्कोडिगामा द्वारा खोजे गए समुद्र-मार्ग से भारत मे आए। विक्रम की १७वी-१८वी शती मे ये कम्पनियाँ केवल व्यापार से ही सन्तुष्ट रही क्योंकि उस समय तक शक्तिशाली मुगलो का इस देश मे अच्छा शासन था किन्तु उनके पतन और देशी राज्यो की जर्जर शक्ति का लाभ उठाकर तथा उनकी पारस्परिक फूट और प्रतिद्वद्विता का सुयोग पाकर ये कम्पनियाँ भारतीय राज्यो के गृह-कलह मे स्वार्थपूर्ण भाग लेने लगी और यहाँ के मतिभ्रष्ट राजा भी उनकी सहायता से अपना-अपना प्रतिशोध लेने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि यहाँ के राजा तो आपस मे जूझते ही थे, नवागत विदेशी कम्पनियो के व्यापारी विशेषतः ब्रिटिश और फ्रेंच भी आपस में जूझने लगे। व्यापार-वृद्धि की अपेक्षा साम्राज्य-विस्तार की दृष्टि से इनके बीच दक्षिण मे अनेक युद्ध हुए जो 'कर्नाटक के युद्ध' नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है। इन युद्धो के परिणामस्वरूप फ्रासीसियो को हार खानी पडी और भारत में साम्राज्य-विस्तार का उनका स्वप्न भंग हो गया। विजेता अग्रेज जाति दक्षिण मे ही अपना थोडा-सा प्रभाव जमाकर सन्तुष्ट नही रही। इन्होंने क्रमिक रूप से उत्तर भारत मे भी अपना पैर फैलाना शुरू किया।

औरगजेब की मृत्यु के बाद किस तेजी से मुगल साम्राज्य का ह्रास और पतन हुआ है यह दिखलाया ही जा चुका है। एक से एक निस्तेज शासक दिल्ली के सिंहासन पर आसीन होते रहे और सुसंगठित एवं विस्तृत मुगल साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया। इसी क्रम में बिहार और बगाल के सूबेदार भी स्वतन्त्र हो गये। स० १८१३ में सिराजुद्दौला बगाल की गद्दी पर बैठा। सत्तालोभी अँग्रेजो ने षड्यन्त्र पूर्वक सिराजुद्दौला को सं० १८१४ मे प्लासी की लडाई में हरा दिया। सिराजुद्दौला के सेनापति मीरजाफर तथा अनेक अमीर उमरावों ने अँग्रेजों का साथ दिया। सिराजुद्दौला की मृत्यु के बाद मीरजाफर बंगाल का नवाब बनाया गया किन्तु वह अँग्रेजों के हाथ की कठपुतली से अधिक कुछ भी न था। बंगाल का नवाब बनने के एवज में पौने तीन

करोड रुपयो की इतनी बडी रकम की शर्त अग्रेजो ने रक्खी जिसे वह शाही खजाना खाली करने और तमाम जवाहरातो को बेच कर भी अदा न कर सका। परिणाम-स्वरूप स० १८१७ मे मीरकासिम बगाल का नवाब बना दिया गया। उसे अपनी नवाबी की शर्तों मे बर्दवान, मिदनापुर और चटगाँव के जिले ईस्ट इडिया कम्पनी को देने पडे। उसे काफी बडी रकम कम्पनी को भी देनी थी क्योंकि उसके पूर्ववर्ती यह रकम अदा न कर सके थे। मीरकासिम होशियार आदमी था उसने राज्य के खर्च कम कर दिये और अँग्रेजो के बढते हुए प्रभाव को कम करने के लिए तरह-तरह से रकम जमा करने की युक्ति निकाली। स्वाधीनचेता मीरकासिम से अग्रेज इसी पर असन्तुष्ट हो उठे और उन्होंने बगाल की नवाबी मीरजाफर को फिर देनी चाही। अग्रेजो का मुकाबला करने मे अपने आपको अशक्त पाकर मीरकासिम अवध के नवाब शुजाउद्दौला के पास आया। वही उसकी भेट, सहायता के लिए दरदर भटकने वाले दिल्ली के शहंशाह शाहआलम से हुई। तीनो की सम्मिलित शक्ति ने स० १८२१ मे बक्सर के युद्ध मे अँग्रेजो का सामना किया किन्तु भाग्य के अनुरोध से विजय अग्रेजो की ही रही। बक्सर के ऐतिहासिक युद्ध मे पराजित हो जाने के बाद अग्रेजो का उत्तर-विजय का मार्ग और भी निष्कटक हो गया। बनारस, इलाहाबाद और अवध आदि के इलाके अग्रेजो के अधीन हो गए। सं० १८२२ मे अवध के नवाब शुजाउद्दौला को आत्म-समर्पण करना पडा। भारत मे अँग्रेजी राज्य की नींव डालने मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के गवर्नर क्लाइव का सबसे बडा हाथ था। सं० १८१७ से १८२२ तक क्लाइव इगलैण्ड मे रहा। अग्रेजो के प्रभुत्व का खासा विस्तार होते देख वह फिर ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थिति को सम्भालने और ब्रिटिश राज्य को और भी अधिक व्यापक बनाने के उद्देश्य से भारत भेजा गया।

इस समय के हिन्दी प्रदेश का इतिहास एक दुःखद कहानी है जैसा कि एक विद्वान् ने लिखा है—'एक ओर तो भोग-विलास, वैभव-ऐश्वर्य और आमोद-प्रमोद तथा इन्द्रियजनित सुख और जीवन की शिष्ट और सस्कृत भावना मे डूबे हुए, कला और सौदर्य के पुजारी, जीवन की वास्तविक विभीषिकाओसे अलग भावलोक के स्वप्निल और उन्मादकारी वातावरण मे पालित-पोषित क्रियात्मक शक्तिसे हीन भारतीय नरेश थे और दूसरी ओर यूरोप की नवीन युद्ध-विद्या और नए अस्त्र-शस्त्रो से सुसज्जित चतुर कूटनीतिज्ञ अग्रेज थे। समस्त हिन्दी प्रदेश मे अवसरवादिता, अतिव्यय, गृहकलह लूटमार, रक्तपात आदि का दौर-दौरा था। लगभग प्रत्येक वर्ष ऐसे लोमहर्षक अकाण्ड ताण्डव घटित होते रहते थे और कुछ नही तो बढ़े हुए सैनिक व्यय को पूरा करने के लिए ही एक नरेश दूसरे नरेश पर आक्रमण कर देता था। जीवन मे अनिश्चितता घुस गई थी, किसी एक सर्वमान्य राजनीतिक सत्ता का अभाव था। अग्रेजो ने भी अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए कोई कसर न उठा रक्खी थी। भारत के तत्कालीन

वातावरण मे दुर्बल किन्तु महात्वाकाक्षी नरेशो, सामन्तो और सेनापतियो का भी अभाव नही था। ऐसी राजनीतिक परिस्थिति मे समम्त हिन्दी प्रदेश मे अग्रेजो का प्रभुत्व छा जाना कोई आश्चर्य की बात नही थी।'[1]

अर्थात् सं० १८२२ के आस-पास ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक व्यापारिक सस्था मात्र न रह गई, वह एक राजनीतिक शक्ति के रूप मे परिणत हो चुकी थी। व्यापार तो व्यापार, राज्य-विस्तार उनका मूल उद्देश्य हो चुका था और विजित प्रदेश का शोषण उनका प्रधान कर्म था। बक्सर की लडाई मे अवध के नवाब शुजाउद्दौला के साथ-साथ शाह आलम को भी अँग्रेजो की अधीनता स्वीकार करनी पडी थी। यद्यपि बंगाल-बिहार के नवाब स्वतन्त्र थे फिर भी मुगल बादशाहत का अधिकार उनके ऊपर माना जाता था। क्लाइव ने बक्सर युद्ध के बाद शाहआलम से बगाल-बिहार और उडीसा की दीवानी अर्थात् राज्य-कर वसूल करने का अधिकार अंग्रेजो को दिया गया, इस आशय का फरमान निकलवाया। सं० १८२२ मे बगाल, बिहार और उडीसा अँग्रेजो के हाथ आ गए। इन प्रदेशो का शासन अब भी वहाँ के नवाबो के हाथ मे था किन्तु धन वसूल करने की शक्ति अँग्रेजो के हाथ जा चुकी थी। दोहरे शासन का परिणाम कितना भयंकर होता है यह सभी जानते है—

दुसह दुराज प्रजान कों क्यों न बढ़ै दुख-द्वंद।
अधिक अँधेरो जग करत मिलि मावस रवि चंद॥ (बिहारी)

इन प्रान्तो के किसानो की ऐसी दुर्दशा हुई, उनका ऐसा शोषण हुआ कि प्रजा में घोर अशान्ति और हाहाकार मच गया। राज्य में अभूतपूर्व अव्यवस्था और स्वेच्छाचारिता मची, फलस्वरूप सं० १८२७ में बंगाल मे भीषण अकाल पडा जिसमें लगभग एक करोड़ व्यक्ति मौत के मुँह मे चले गए। सं० १८२६ में वारेन हेस्टिंग्ज कम्पनी का गवर्नर होकर आया। उसने नवाबी समाप्त कर दी और बंगाल, बिहार तथा उडीसा में दुहरे शासन का अन्त हुआ। नवाबो को पेशन दी और शासन अपने हाथों में ले लिया। वारेन हेस्टिंग्ज के समय मे ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार के लिये अँग्रेजों को बहुत उद्योग करना पड़ा और अनेक लडाइयाँ लड़नी पड़ीं। सं० १८१८ मे पानीपत के मैदान में अहमदशाह अब्दाली से पराजित होने पर भी मराठा ही भारत की प्रधान शक्ति थे। सं० १८२६ में मुगल बादशाह शाह आलम अँग्रेजों की शरण छोड़ कर दिल्ली चला आया था और मराठे उसे दिल्ली के सिंहासन पर बिठाकर स्वयं दिल्ली से शासित राज्य का संचालन कर रहे थे। उधर अवध के हारे हुए नवाब

---

[1] डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : आधुनिक हिंदी साहित्य की भूमिका (सन् १९५२) पृ० ६०-६१।

शुजाउद्दौला तक अँग्रेजो का प्रभाव था ही, क्योकि बक्सर के युद्ध के बाद इलाहाबाद की सधि के अनुसार अवध मे अँग्रेजो की सेना स्थापित हो चुकी थी। अनेक छोटे-छोटे राजे-महाराजे और जमीदार मराठों के आक्रमणो, उपद्रवों और अत्याचारो से तंग आकर अँग्रेजो की शरण मे आ गए थे। अँग्रेजो की सहायता से अवध के नवाब ने रुहेलखण्ड पर आक्रमण किया और उसे जीतकर अवध में सम्मिलित कर लिया। स० १८३२ मे शुजाउद्दौला की मृत्यु के बाद आसफउद्दौला अवध का नवाब हुआ। अँग्रेजो ने उसे और भी अधिक अँग्रेजी सेना रखने के लिये विवश किया और उसका खर्च चलाने के लिए गोरखपुर और बहराइच के ज़िलो की मालगुजारी अँग्रेजो को समर्पित करनी पडी। उसने बनारस का इलाका भी अँग्रेजो को दे दिया। अवध राज्य के राजघराने और इस प्रदेश के छोटे-छोटे अधिपति अँग्रेजो के रग-ढग से सतुष्ट न थे। बनारस के राजा चेतसिह ने अँग्रेजो की आर्थिक सहायता करने से इनकार कर दिया और अँग्रेजो के विरुद्ध विद्रोह की अग्नि भडका दी। उसके इस कार्य मे अवध की बेगमो ने उसकी सहायता की जिसके फलस्वरूप अँग्रेजो ने राजा चेतसिह और अवध की बेगमो को दण्ड दिया। ये घटनाएँ इस प्रकार है—दक्षिण मे साम्राज्य-विस्तार के लिये और यो भी अँग्रेजो को धन की जरूरत थी, वे उसे किसी भी कीमत पर और किसी भी प्रकार प्राप्त करना चाहते थे। स० १८३२ में बनारस का राजा चेतसिह अँग्रेजो के आधीन हो गया। वह अपना वार्षिक कर उन्हे नियमित रूप से अदा कर दिया करता था। स० १८३५ मे वारेन हेस्टिग्ज ने उससे ५ लाख रुपयो की माँग की। दो वर्ष तक वह इतनी अतिरिक्त धनराशि देता रहा। तीसरे वर्ष उसके लिये सम्भव न हो सका। अँग्रेजो ने इस बात पर उसे गिरफ्तार कर लिया और उसके भाजे को राजा बनाया। इस बात पर बनारस की सेना ने अँग्रेजो के खिलाफ विद्रोह कर दिया जिसे अँग्रेजो ने बुरी तरह कुचल दिया। अनुचित ढग से ही हेस्टिग्ज ने अवध की बेगमो से रुपये वसूल किये। उनके राजमहल को सैनिको ने घेर लिया, बेगमो पर अत्याचार किया, उन्हे कैद किया और धन देने को बाध्य कर दिया। कम्पनी धन-सग्रह और साम्राज्य-विस्तार के लिये हर सम्भव तरीके को काम मे ले आती थी। राजगद्दी के लिए लडते हुए दो हकदारो मे किसी एक का साथ देना और उससे जागीरें प्राप्त करना, निर्बल राज्यो की सहायता के उद्देश्य से उनसे सन्धि करना और बाहरी आक्रमण और आन्तरिक विद्रोहो से उनकी रक्षा करना तथा इस कार्य मे जो धन व्यय होता था वह उसी से वसूल किया जाता था जिसकी सहायता की जाती थी। ऐसे राज्यो में कम्पनी अपना एजेण्ट या रेज़ीडेण्ट नियुक्त करती थी और उन्हे अपने आधीन समझती थी। तीसरे शक्तिशाली राज्यो को अधिकृत करने के तो कम्पनी घात मे ही लगी रहती थी।

उस समय तक अँग्रेजो का प्रभुत्व रुहेलखण्ड तक स्थापित हो चुका था।

मराठा-शक्ति पतनशील होते हुए भी सशक्त थी। दिल्ली का शासन उनके हाथ मे था किन्तु उनमें आपसी एकता कम हो चली थी। स० १८४२ मे पेशवा माधवराव की मृत्यु के बाद मराठा सरदारो मे पेशवा-पद के लिए झगड़े शुरू हो गए। अँग्रेजों ने अपनी नीति के अनुसार मराठो के गृह-कलह मे भी भाग लेना शुरू कर दिया। कुछ समय तक यह गृह-कलह चला। अन्त मे बाजीराव द्वितीय पेशवा बना। उसे अपने प्रभाव मे रखने के लिए अनेक मराठा सरदार तत्पर थे। बाजीराव द्वितीय ने अपनी स्थिति को सुदृढ रखने के लिए स० १८५६ मे अँग्रेजो से सहायता की सधि कर ली। इस सधि के अनुसार ६००० सैनिको की अँग्रेजी सेना उसके राज्य मे उसकी सहायता के लिए रक्खी गई और उसका खर्च वहन करने के लिए २६ लाख वार्षिक आय प्रदान करने वाला एक बडा भू-भाग अँग्रेजो को प्रदान कर दिया गया। ग्वालियर के सिंधिया, नागपुर के भोसले तथा समस्त मराठा सरदारो को पेशवा का एक विदेशी सत्ता की शरण मे जाना अच्छा न लगा। उन्होने यह उद्योग किया कि विदेशियो की राज्य-विस्तार-नीति के विरुद्ध सभी मराठे मिलकर लड़े। पेशवा को भी यह बात मान्य हुई। स० १८६० मे मराठों और अँग्रेजो मे उत्तर दक्षिण सर्वत्र लडाई हुई। इन्ही युद्धो मे अँग्रेजी सेना की उस टुकड़ी ने जो लार्ड लेक के नेतृत्व मे युद्ध कर रही थी अलीगढ़ और दिल्ली का विजय किया और मराठो के हाथ से दिल्ली का अधिकार सदा के लिए खत्म कर दिया। शाह आलम जो इस समय मराठो के हाथ की कठ-पुतली था अँग्रेजो के अधिकार मे आ गया। अँग्रेजों ने आगरे पर भी अधिकार कर लिया। हारते हुए मराठे सन्धि करने को बाध्य हुए जिसके परिणामस्वरूप सिंधिया के प्रभुत्व मे आये हुए दिल्ली, आगरा, गगा-यमुना के बीच का एक बडा भूभाग, दोहद, ग्वालियर आदि अँग्रेजो को समर्पित करने पडे। नागपुर के भोसला सरदारों को भी वर्धा और कटक नदियो का पश्चिमवर्ती प्रदेश अँग्रेजो को देना पडा। अँग्रेजों को इन्दौर के होल्कर राजा से भी युद्ध करना पडा जो अधिक समय तक न चल सका क्योकि इसी समय अँग्रेजों को यूरोप में नेपोलियन से युद्ध करना पड़ा। उधर से निश्चित होकर सं० १८७४ मे अंग्रेजो ने फिर मराठों से युद्ध किया। इस युद्ध मे पेशवा, सिंधिया, भोंसले, होल्कर आदि सभी मराठा राजाओ ने अन्तिम बार बढ़ती हुई अँग्रेज़-शक्ति का प्रतिरोध किया किन्तु वे एक-एक कर पराजित हुए। सं० १८७५ मे मराठा शक्ति का सदा के लिए पराभव हो गया। उन्हें अँग्रेजो का प्रभुत्व और आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा। मराठो के आधीन राजपूत-शक्ति भी अँग्रेजी अधि-कार मे आ गई। उस समय तक प्रायः सम्पूर्ण भारतवर्ष अँग्रेजों की आधीनता स्वीकार कर चुका था। हिन्दी प्रदेश में पंजाब तथा सिन्ध और काश्मीर अब भी ब्रिटिश साम्राज्य की आधीनता में न आ सके थे। पंजाब मे अब्दाली के प्रभाव की समाप्ति के बाद सिक्ख शक्ति का फिर अभ्युदय हुआ। सिक्ख साम्राज्य के विकास

विस्तार और उत्कर्ष के सिलसिले मे राणा रणजीतसिंह का नाम अविस्मरणीय है। पूर्व मे सतलज से आगे न बढने की उन्होने अँग्रेजो से सन्धि कर ली तथा लाहौर को राजधानी बनाकर उन्होने एक शक्तिशाली सिक्ख साम्राज्य की स्थापना कर ली। स० १८९६ मे महाराणा रणजीतसिंह की मृत्यु हुई। मृत्यु के बाद सिक्खो के पारस्परिक कलह का अँग्रेजो ने पूरा लाभ उठाया। स० १९०२ और १९०५ मे अँग्रेजो और सिक्खो की लडाइयाँ हुई जिनमे सिक्ख पराजित हुए और तत्कालीन ब्रिटिश गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी ने पंजाब को ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत कर लिया।

सामाजिक परिस्थिति

इस युग का सामाजिक जीवन जड़तापूर्ण और रूढिग्रस्त था, उसमे कितनी ही कुरीतियाँ और अंध आस्थाएँ चली चल रही थी। शासक वर्ग अतिशय स्वेच्छाचारी हो गया था और शासित सर्वसाधारण वर्ग अपनी सहिष्णुता की पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। साधारण जनता अशिक्षित ही नही शिक्षा के अयोग्य ठहरा दी गई थी इससे उन्नति और उद्धार के द्वार उनके लिये सदा के लिए बन्द हो गए थे। केवल ब्राह्मण ही थोडी शिक्षा ग्रहण करते थे शेष लोग अपने पैतृक व्यवसाय की दीक्षा पाकर ही सन्तुष्ट रह जाते थे। समाज अज्ञान के अंधकार मे भटक रहा था, उसे मार्ग दिखावे भी तो कौन ? फलतः वे पिसते जा रहे थे। निकम्मे सामतवाद का जुआ उनकी गर्दनो पर बहुत भारी पड रहा था पर वे सिर झुकाए सब कुछ सहते जा रहे थे। निम्न वर्ग को विकास के अवसर सुलभ नही थे। ज्ञान के प्रसार के अभाव में अंध भ्रातियो और अंध रूढ़ियो की जडे समाज मे गहरी हो रही थी। साधारण लोग ही नही, पढे-लिखे लोग भी अनुदार, सकीर्ण, कूपमडूक, पुरानी लकीर के फकीर तथा रूढ़ियों और भ्रातियो के शिकार हो रहे थे। वर्णव्यवस्था का जटिल बन्धन जरूर ढीला पड चला था और पेशे के हिसाब से नई-नई जातियाँ बन चली थी। अलग-अलग पेशो के लोग अलग-अलग जातियो में ढलते जा रहे थे। सभी वर्गों के लोग सभी काम कर लेते थे। जनजीवन अगतिक और स्थिर होकर तमाम विकृतियो का केन्द्र हो गया था। उधर सामतो और अधिकार-प्राप्त व्यक्तियो की निरंकुशता गरीबो पर कहर ढा रही थी, इधर पिंडारियो और ठगो का आतंक भी समाज मे कम न था। उत्तरवर्ती रीतिकाल मे तो घोर अराजकता का साम्राज्य था। सारे देश मे ठगो, चोरो, डाकुओ और युद्धजीवी वर्गों ने हडकंप मचा रक्खा था। अरक्षा की यह स्थिति लोगो को स्वार्थी और आत्मकेन्द्रित बना रही थी।

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने इस युग के जीवन की सामान्य परिस्थितियो

पर विशद प्रकाश डाला है।[1] सामाजिक परिस्थिति की चर्चा करते हुए उन्होंने विस्तार से हिन्दी प्रदेश के हिन्दुओ के आकार-प्रकार, स्वभाव, भोजन, रहन-सहन, वेश-भूषा, हिन्दू स्त्रियो के रूप-सौदर्य, स्वभाव, शिक्षा, वस्त्राभूषण, शृङ्गार-प्रसाधन, सजावट-प्रियता, धनिक वर्ग की मनोवृत्ति, हिन्दुओ की कुटुब-व्यवस्था, स्त्री का जीवन, उसके जीवन का लक्ष्य, पुरुष पर उसकी निर्भरता, विधवाओ की स्थिति, नौकर-चाकर, हिन्दू सस्कार, वर्ण-व्यवस्था, प्रत्येक वर्ग की दशा और मनोवृत्ति, वर्णव्यवस्था के अभिशाप, समाज का चार वर्गों के अतिरिक्त अधिकाधिक वर्गों और टुकडियो मे बँट जाना, विवाह की रीति-नीति, बहुविवाह, बाल-विवाह, सती-प्रथा, पर्दा, कौटुबिक जीवन पद्धति, स्त्रियो की स्थिति, हिन्दुओ के खान-पान, विश्वासो आदि का पूरा व्यौरा दिया है।[2]

हिन्दू और मुसलमान—हिन्दू पराजित जाति के व्यक्ति थे और मुसलमान विजेता थे। फलस्वरूप उनमे स्वभावतः हिन्दुओ के प्रति उपेक्षा और असमानता की भावना भरी हुई थी। इधर हिन्दू भी उन्हे धर्मघातक समझ घृणा की दृष्टि से देखते थे और उन्हे विजातीय म्लेच्छ समझते थे। यद्यपि सम्राट अकबर तथा नाना सतो और भक्त-कवियो ने इनके पारस्परिक विद्वेष को मिटाने के लिए बहुत कुछ किया फिर भी आक्रामको और आक्रातात्रो के बीच जो मूल मनोभाव बद्धमूल हो गए थे वे सर्वथा विलुप्त न हो सके। उधर शाहजहाँ के समय से ही हिन्दुओं पर अत्याचार बढ चला था जो औरगजेब के समय मे आकर अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। इन बादशाहों की हिन्दू-विरोधी नीति ने हिन्दुओं के मन मे घोर असंतोष और क्षोभ सकलित कर दिया था। हिन्दुओ के मन्दिरो, पूजा-पाठ, पुस्तकालय ,, धर्म-स्थानों तथा धर्मकृत्यो के प्रति जो प्रतिबन्ध था और जो दुर्व्यवहार होता था (मूर्तिखडन, देवालय का विध्वस, पुस्तकालय का दाह आदि) तथा हिन्दू बहू-बेटियो पर मुगलो की जो कुदृष्टि रहती थी उसके कारण दोनो धर्मों और जातियो के बीच विभेद की एक स्पष्ट रेखा खिची हुई थी; किन्तु राजनीतिक पराभव के कारण वह समाज के अन्दर ही अन्दर घुट रही थी। जगह-जगह से समय-समय पर हो उठने वाले राजनीतिक विद्रोह और उपद्रव इसी सामाजिक क्षोभ की अभिव्यक्ति मात्र थे। मुगल सत्ता के क्षीयमान होते ही इस क्षोभ की उग्रता धीरे-धीरे कम होने लगी। गाँवो में यह विभेद या जातीय चेतना बहुत कम हो चली थी क्योंकि वहाँ शासित और शासक का विचार कम था। सामान्य जीवन के निर्वाह की ही समस्या प्रधान थी और उनके लिये दोनो फिरके के लोगो को मिल-जुल कर ही रहना पडता था। हिन्दू और मुसलमान अलग-अलग भी पूर्ण ऐक्य से

---

[1]आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका : डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० ४६।
[2]वही पृ० १०६ से १२४।

नही रहते थे। मुसलमानो मे शिया-सुन्नी, इरानी-तूरानी आदि आधारो पर अनैक्य था और हिन्दू तो इस दृष्टि से अत्यन्त विशृङ्खलित थे। उनमें जाति-भेद का भाव अत्यन्त उग्र और व्यापक था। ब्राह्मण शूद्र का स्पर्श तो दूर छाया भी छूने को तैयार नही था। इन सब कारणो से निम्न वर्गों के हिन्दू धर्म-परिवर्तन भी कर रहे थे।

आर्थिक दृष्टि से समाज में दो वर्ग—आर्थिक दृष्टि से समाज स्पष्टतः दो वर्गों मे बँटा दिखाई पड़ता है एक तो भोक्ता वर्ग जिसमे शाह, राजा, रईस, नवाब, अमीर, उमराव, मसबदार, सामत आदि थे। इस वर्ग के सहायक और आश्रित लोग भी इसी वर्ग मे आते है—जैसे, सम्राट का परिवार, सभासद और राजकर्मचारी। दूसरा वर्ग था उत्पादको का जिसमे नौकरी-पेशा के लोग, श्रमिक, कृषक, बढई, लोहार, कहार, जुलाहा आदि आते है। इन्हे शासन, युद्ध आदि राजनीतिक बातो से कोई सरोकार न था, ये मेहनत-मजदूरी करते थे, खेती-बारी मे लगे रहते थे, खूब लगान देते थे और उपद्रवो से शासक इनकी रक्षा करता था। भोक्ता और उत्पादक वर्ग के बीच का व्यवधान थोडा न था, वह दिन-दिन बढ़ता जा रहा था। यह अन्तर शासक और शासित या शोषक और शोषित का था।

सामन्ती समाज—समसामयिक राजनीतिक परिस्थिति के परिणामस्वरूप सामन्तवादी शासन चल रहा था, तदनुसार समाज भी सामन्तीय आधार ग्रहण किए हुए था। राजा के पास ही राज्य के समस्त अधिकार होते थे और उसकी इच्छा के विरुद्ध सोचा और रहा नही जा सकता था। उसकी आज्ञा की अवहेलना के परिणामस्वरूप प्राणदंड तो एक साधारण-सी बात थी। सारे देश मे मसबदारो और उच्चपदस्थ अमीरो का जाल फैला हुआ था। ये लोग राजकीय अधिकारो के वाहक हुआ करते थे। ये भोक्तावर्ग के लोग राज्य की प्रधान शक्ति होते थे, समस्त ऊँचे पद इन्ही सामन्तो के हाथ मे होते थे। योग्य और महात्वाकांक्षी व्यक्ति इन्ही राजकीय पदो पर आने का उद्योग किया करते थे। अन्य नौकरियाँ तुच्छ समझी जाया करती थी।

मुगलों के महलों और दरबारों का ऐश्वर्य—मुगल बादशाहो के महलो और राजदरबारो का ऐश्वर्य असाधारण था। विदेशी यात्रियों ने शाहजहाँ के वैभव का वर्णन चकित भाव से किया है। स्वयं सम्राट् के ही वस्त्राभूषणो पर असीम धन-राशि प्रतिवर्ष व्यय होती थी। उसका दैनन्दिन जीवन ही अत्यन्त खर्चीला था। रत्नाभरणो से महल के लोग अलंकृत रहते थे। सारा राजसदन जगमग करता रहता था। शाह तथा बेगमो के और इसी प्रकार सभासदो आदि के वस्त्र बेशकीमती हुआ करते थे क्योकि वे स्वर्णखचित और रत्नजटित हुआ करते थे। रत्नो, मणियो और जवाहिरातो की तो शाहजहाँ के पास अशेष राशि थी। दरबारियो के पास भी रत्नों और मणियो की कमी नही होती थी। प्रसन्न होने पर शाह लोग अपने बहुमूल्य वस्त्र

और रत्नहार आदि भेट कर दिया करते थे। स्त्रियो के पहनने के वस्त्रो आदि मे रत्न मुक्तादि की मालाएँ और सजावटे देखी जा सकती थी। हीरा, लाल, नीलम आदि मणियो की काति से अन्त:पुर जगमग करता रहता था। वस्त्रादि सुगन्धि से सुवासित रहते थे तथा ये शाह और इनकी बेगमे दिन मे कितने ही बार अपने वस्त्र बदलती रहती थी।

विलासिता का नग्न नृत्य—मुगल सम्राटो का जहाँ इतना वैभव और ऐश्वर्य था वही भोग-विलास का भी नग्न नृत्य होता रहता था। इतिहासकारो ने लिखा है कि मुगलो के अत.पुर मे हजार-हजार की सख्या मे युवतियाँ और परिचारिकाएँ रहा करती थी। ये विविध जाति और वर्ण की होती थी। इनमे जो कुटनियाँ होती थी। वे छलपूर्वक लोभ दिखाकर जगह-जगह से सुन्दर लडकियाँ ले आया करती थी। राजमहलो मे सुरापान की धूम रहती थी और इससे सम्बधित जितने अवगुण होते है, उनका मुक्त नृत्य हुआ करता था। बाबर, हुमायूँ और अकबर मे विलासिता का रूप फिर भी सयत था किन्तु जहाँगीर के व्यक्तित्व मे विलासिता का असतुलित रूप दृष्टिगोचर होता है। शाहजहाँ की ऐश्वर्यप्रियता और विलासिता पर बर्नियर, मनूची तथा अन्य विदेशी यात्रियों ने अच्छा प्रकाश डाला है। उनके अनुसार शाहजहाँ एक अत्यन्त कामुक और विलासप्रिय व्यक्ति था 'पाशविक ऐन्द्रिय भोग ही उसके जीवन का लक्ष्य था। हरम मे लगने वाले रूपबाजार, राज्य के द्वारा अनुचरियो की व्यवस्था तथा अन्त:पुर में शत-शत अंगसेविकाओं की उपस्थिति उसकी इसी लोलुप वृत्ति की परिचायक है। उसके मन मे मासल ऐन्द्रिय उपभोग के लिये बडी दुर्बलता थी। कही-कही तो अनेक उच्च कर्मचारियो की पत्नियो तथा स्वयं अपनी पुत्रियों के साथ उसके अवैध ऐन्द्रिय सम्बन्धो का उल्लेख किया गया है।'[१] औरगजेब ने अवश्य इन दुर्व्यसनो को रोका, किन्तु उसके उत्तराधिकारियो ने आँख मूँदकर बल्कि अधिकाधिक उन्मेष के साथ इस क्रम को चालू रखा। वेश्याएँ दरबार की शोभा हुआ करती थी। औरंगजेब के बाद तो यह क्रम यहाँ तक बढा कि कुछ मत पूछिये। मुहम्मदशाह तो अपनी रसिकता के कारण 'रँगीले' कहे जाते थे। नाच-रंग और मदिरा-पान मे ही उनका सारा समय व्यतीत होता था। वेश्याओं का दरबार मे खूब सम्मान होता था; ऊधमबाई नाम की वेश्या को उसके दरबार मे यह सम्मान प्राप्त था। इन्ही मुहम्मद शाह के दरबार की सुजान नाम की वेश्या पर स्वच्छन्द कवि घनआनन्द जी भी मुग्ध बताए जाते हैं। सम्राट जहाँदारशाह के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे हाथ मे दर्पण और कंघा लिये हुए हर समय सुन्दर स्त्री के समान अपने केशो को ही सँवारा करते थे। लालकुँवरि वेश्या से तो उनका इतना ज्यादा लगाव था कि उनके सभासदो तक को भी इस बात पर रोष हो आया था। जहाँदारशाह के समय मे विला-

[१] हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास (स० २०१५) षष्ठ भाग : पृ० १३-१४

सिता और कामुकता, मूर्खता और अधोगति की चरमसीमा पर पहुँच गयी थी, उसने मुगलो का सारा गौरव मिट्टी मे मिला दिया था। शाह को राज्य-संचालन के लिए वेश्या लालकुँवरि से सकेत और आदेश लेना पडता था। लालकुँवरि की इच्छापूर्ति के लिए जहाँदरशाह ने क्या नही किया था—अन्न के भाव बढा दिए गए थे, यात्रियो से भरी नाव पानी मे डुबा दी जाती थी, उस वेश्या के रिश्तेदार ऊँचे पदो पर बिठा दिये गये थे और उन्हे रहने के लिए अच्छे से अच्छे महल दे दिये गये थे। सारगी बजाने वाले और तबलची कुजडे और कुजडिनो को ऊँचे ओहदे और बड़ी जागीरे दे दी गई थी। संतानोत्पत्ति की इच्छा से सामत लोग दरगाहो मे नग्न स्नान किया करते थे और रात्रि मे वेश्या लालकुँवरि के नीचे दर्जे के आशिक महल में शराब पीने के लिए एकत्र होते। शराब मे चूर होकर वे लोग बादशाह को ठोकरो और थप्पडो से बेहाल कर देते थे और बादशाह जहाँदारशाह लालकुँवरि को खुश रखने के लिए बखुशी यह सब सहन करता था।[1] फिर बेचारे सामन्तो और अमीरों की क्या हस्ती थी। लालकुवरि के हाँथो आए दिन वे भी अपमानित होते रहते थे। ऐसी ही हालत राजपूताना के मारवाड राजा विजयसिह की भी थी। पासबनी नामक वेश्या के हाथो वे और उनके सामन्त जलील होते रहते थे। मुगल बादशाहो और सामन्तो के पतन का यह दृश्य बहुत ही मर्मभेदी है। वेश्याओ के इशारे पर नाचने वाले ये सपदभोगी कामुक देश, समाज और प्रजा का क्या उद्धार कर सकते थे? इतिहासकारो ने इस स्थिति पर प्रकाश डालते हुए यहाँ तक लिख दिया है कि यह वेश्याओं और हिजडो का ही युग था।[2]

सामन्तों और छोटे रईसों पर बादशाहों के ऐश्वर्य और विलास का प्रभाव—मुगल बादशाहो की इस आत्यंतिक ऐश्वर्यप्रियता एवं विलासिता का प्रभाव उस युग के अधीनस्थ राजाओ और सामतो के ऊपर पडे बिना न रहा, जिसका परिणाम यह हुआ कि वे दिन-दिन अकर्मण्य, क्षीण-बल और पौरुषहीन होते गए। मुगल सम्राटो को तो युद्धो, विद्रोहो तथा सीमान्त उपद्रवो के सिलसिले मे थोडा बहुत श्रम और पराक्रम दिखाना ही पड़ता था परन्तु अधीनस्थ राजा और सामत इन चिताओ से अपेक्षाकृत मुक्त रहा करते थे, फलतः वे निश्चित होकर विलासिता मे निमग्न रहते थे। और भी जो छोटे जागीरदार थे वे और अधिक निर्बाध हो विलासी बने हुए थे। शक्ति, ओज, सदाचार और प्रतिष्ठा का स्थान विलासिता और प्रदर्शन ने ले लिया था। सामंतो के परिवार के लोगो की खुले आम गुण्डागर्दी के भी विवरण ऐतिहासिक ग्रन्थो मे मिलते है। दूकानों का लूटा जाना, रास्ता चलते हिन्दू-स्त्री का अपहरण कोई बड़ी बात न थी। जो हालत बादशाहो के अतःपुर की थी

---

[1] हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, पृष्ठ १६।

[2] डा० बनारसीप्रसाद सक्सेना (हिन्दी साहित्य : द्वितीय खण्ड, पृ० ७०)।

वही अधीनस्थ नवाबो, सामंतो और रईसो की भी। उनके अत:पुर मे भी अनेकानेक जातियो और वर्गों की स्त्रियाँ रहा करती थी जो विलास की सामग्री मात्र थी। ऐसे वातावरण में किसी महान और प्रतिभाशाली व्यक्तित्व के उदय की बात अकल्पनीय थी। सुरापान, द्यूत क्रीडा, वेश्यागामिता, नाच-रग—यही इनका जीवन था। इन सामंतो की सन्तान सुख और ऐश्वर्य के वातावरण मे पलकर शिक्षा और सत्संस्कारो से विरत रह कर इन्ही दुर्व्यसनो का शिकार हो जाती थी। सामती-जीवन का यही क्रम था। डा० नगेन्द्र ने भी लिखा है कि 'शाहजादो, राजपुत्रो एवं अमीरजादो की शिक्षा का उचित प्रबन्ध नही था। उनका भरण-पोषण जिस कलुषित वातावरण मे होता था, वह उन्हे विलासी और निर्वीर्य ही बना सकता था—उन पर हिजड़ो और युवती दासियो का प्रभुत्व था। उनके शिक्षक भी वेतनभोगी सेवको से अधिक सम्मान नही पाते थे। यही कारण था कि छोटी उम्र से ही वे (औरंगजेब के प्रधान मन्त्री के पोते) मिर्जा तफख्खुर की तरह बाजार में आवारागर्दी और औरतो से छेड-छाड़ शुरू कर देते थे। जनता के सदाचार-रक्षको के प्रयत्न केवल पाखण्ड की ही वृद्धि कर रहे थे।'[1]

सामन्तों की अनेक पत्नियाँ और रक्षिताएँ—सामंत लोग भी जैसा ऊपर कहा जा चुका है मुगल बादशाहो के ही समान अनेक पत्नियाँ और रक्षिताएँ रखते थे। स्त्री के प्रति ये विलासी लोग प्रकृत्या दुर्बल हो चुके थे क्योकि जीवन मे ऊँचे आदर्शों का उनके लिये कोई महत्व न रह गया था। इन स्त्रियो और रक्षिताओं को भी अपनी उपयोगिता का पूरा ज्ञान था। वे फारसी के आशिकाना गजलो को सुनती सीखती थी। अपने आपको सजाकर इन सामंतो के सामने तरह-तरह की भाव-भगियो के साथ प्रस्तुत करने मे ही वे जीवन की चरितार्थता समझती थी। वे विलास का चेतन उपकरण बनी हुई थी। अपने कटाक्षो, हाव-भावो और शृङ्गार-सज्जा के द्वारा अपने स्वामी को रिझाना ही उनके जीवन का लक्ष्य था। इन स्त्रियो को गृहस्थी सम्भालने की कोई आवश्यकता न थी क्योकि वहाँ दास-दासियों की कमी न थी। राज्य के कर्मचारी और दास भी इस रंगीनी और रसिकता का मजा लूटते थे और इसी स्वार्थवश वे सामंतो के भोग-विलास के उपकरण जुटाने में तत्परता से संलग्न रहते थे।

समाज में नारी का स्थान—नारी को इस युग के समाज में कोई स्वतंत्र सत्ता या व्यक्तित्व नही प्राप्त था। सर्वसाधारण के बीच तो वह एक आश्रित प्राणी मात्र थी। पुरुष का अनुसरण और इच्छानुवर्तन ही जिसका एकमात्र जीवनोद्देश्य था। अशिक्षा और दरिद्रता के कारण उसे श्रमिक-सा जीवन यापन करना पड़ता था। किन्तु शाही और सामती वातावरण की नारी एक भिन्न प्राणी थी—सजी-धजी,

[1] रीति काव्य की भूमिका (सन् १९५९) पृ० १४।

इन्द्रलोक की अप्सरा बनी हुई, नाना वस्त्राभरणो से अलंकृत, सुख-भोग के उपकरणों से सम्पन्न तथा दूती और दासियो से सेवित, किन्तु फिर भी वह कोई स्वतत्र व्यक्तित्व न रखती थी, क्योकि थी वह पुरुष के विलास का उपकरण ही। उसका कोई सामाजिक अस्तित्व न था, समाज व्यवस्था का वह कोई प्रधान अग या इकाई न थी। वह भोग-वासना की तृप्ति का साधन मात्र थी चाहे वह वारवनिता हो चाहे कुल-वधू—

कौन गनै पुर वन नगर कामिनि एकै रीति।
देखत हरै विवेक कों चित्त हरैं करि प्रीति॥

स्त्री मात्र चाहे वह किसी जाति की हो, किसी धर्म की हो, किसी वर्ग की हो उस युग के कवियों द्वारा कामोद्दीपक मासलता के रूप मे ही अकित हुई। ग्रामीण नायिकाओं के वर्णन मे तथा विविध जातियो (तमोलिन, काछिन, भडभूँजिन, नाइन) तथा स्थानों की नायिकाओ के निदर्शन मे बिहारी, देव आदि ने उनकी जातीय या स्थानीय विशेषताओं का परिचय न देकर उनके जगमग यौवन का ही उन्मादक चित्र प्रस्तुत किया है। इससे स्त्री-मात्र के प्रति उनकी दृष्टि का परिचय मिलता है। नारी के समाज में स्थान, उसके प्रति युग के लोगो का दृष्टिकोण, उसकी विलास-साधन रूप में स्वीकृति, उसके शृङ्गार प्रसाधन, वस्त्राभूषणो, महलो या अन्तःपुरों के ऐश्वर्य और समसामयिक समाज का स्वरूप समझने के लिए स्वय युग का साहित्य भी एक बहुत सच्चा साधन है।[1] डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का भी यही मत है कि रीति-काल की नारी का जो चित्र हमे रीति-साहित्य मे मिलता है उसमे नारी व्यक्ति नही टाइप के ही रूप में चित्रित हुई है। जहाँ-तहाँ उसका गार्हस्थिक रूप भी मिलता है किन्तु वहाँ भी उसका व्यक्तित्व नही उभरने पाया है।[2]

सामन्तों के भोग-विलास का वातावरण—शाहो और सामन्तों के भोग विलास का वातावरण सचमुच ही बहुत शोभा एव ऐश्वर्यपूर्ण रहा करता था। उच्च सौध और अट्टालिकाएँ विलास-सामग्री से परिपूर्ण रहती थी। महल चन्द्राकार होते थे। स्फटिक की फर्श हुआ करती थीं। अट्टालिकाओ की खिडकियाँ राजपथों की ओर अभिमुख हुआ करती थी। रजत ज्योत्सना मे ये भवन और प्रासाद दुग्धस्नात हो उठते थे। अनेक महल और प्रकोष्ठ शीशे के हुआ करते थे जैसे कि दिल्ली के लाल किले, आगरे के किले और जयपुर तथा आमेर में आज भी देखे जा सकते हैं। झाड़फानूसो

[1]इस साधन या माध्यम से इस युग के समाज की झाँकी देखने के लिए पढ़िये डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय द्वारा प्रस्तुत विवरण : आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० २३५-३८।

[2]हिन्दी साहित्य : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० २९८।

और आदमकद शीशो या आईनो से महलो के प्रकोष्ठ सज्जित रहा करते थे—जैसे ग्वालियर के सिंधिया महल, रीवा के व्यंकट भवन और गोविन्दगढ के रघुराज महल मे आज भी देखे जा सकते है। जब इन महलो में प्रकाश किया जाता था तो ज्योति की चतुर्दिक जगमग देखने योग्य हुआ करती थी। नग्न स्नान या जलक्रीडा के लिए बावडियाँ या वृत्ताकार स्नानकुण्ड बनाये जाते थे जैसे माण्डू (माण्डवगढ, धार) की चम्पा बावड़ी और जहाजमहल मे आज भी देखे जा सकते है। राजोपवन की शोभा अलग ही हुआ करती थी। जहाँगीर की उद्यानप्रियता प्रसिद्ध ही है। इन शाहो और सामन्तो के राजोपवनो मे भारतीय और फारसी गुलो की बहार रहा करती थी। 'भारतीय पुष्पो मे चम्पा, केतकी, बेला, जुही, कचनार, कुन्द, जपा, हरसिंगार आदि उपवन की शोभा बढ़ा रहे थे तो फारसी फूलो मे गुलाब, मोगरा, गुल्लाला आदि। इन उपवनो मे पुष्पचयन के बहाने नायक-नायिका का मिलन हो जाया करता था। फूलों का प्रचुर उपयोग होता था। कक्ष-शय्या पर उनकी पखुडियाँ बिछाई जाती थीं, विरह-ताप मे उनसे शीतोपचार का काम लिया जाता था। सामन्त सरदार और उनकी पुत्रियो के पुष्प-प्रेम का कहना ही क्या? नगर के बाहर स्थित श्वेत-नील कमलों से सुशोभित तथा भ्रमरावलियो से मुखरित स्वच्छ सरोवरो मे स्नान करती हुई सुन्दरियो के अनावृत सौदर्य को अनायास देखकर ये कवि उसे अपनी कविता मे अंकित कर देते थे।'[१] सामन्तो के शयन-कक्ष पुष्प-सौरभ तथा अन्यान्य सुगन्धित द्रव्यों से सुवासित रहा करते थे। कामिनियो के अग-अंग इत्रादि की सुगन्धि से आपूर रहा करते थे। वे विविध जवाहिरातो, रत्नाभरणो से सजी और बहुरंगी झीने पारदर्शी वस्त्रो को पहने रहा करती थी जिससे उनकी आगिक सुन्दरता अत्यन्त उन्मादक हो जाया करती थी। उनके अवगुण्ठनो से मर्म को भेद देने वाली जो 'चखचोट' होती थी वह भी कुछ कम प्रभावी न थी। सामन्त उससे जितने आहत हुआ करते थे कवि उससे कुछ कम घायल न होते थे। हर ऋतु मे हर पहर के सुखोपभोग का विधान था। इस दृष्टि से कवियो के ऋतु वर्णन और अष्टयाम देखने लायक हैं। बसन्त और वर्षा में प्रकृति का वैभव ही भोग-वासना संवर्धक उपकरण जुटा दिया करता था। ग्रीष्म में फौव्वारे, शीतलपाटी, उसीर की टट्टी, गुलाब जल, शीतल पेय आदि रहा करते थे और शिशिर का मसाला तो पद्माकर कवि बता ही गए हैं—

> **गुलगुली गिलमैं गलीचा हैं गुनीजन हैं**
> **चाँदनी हैं चिकैं हैं चिरागन की माला हैं।**
> **कहैं पद्माकर त्यौं गजक गिजा हैं सजी**
> **सेज हैं, सुराही हैं, सुरा हैं और प्याला हैं॥**

---

[१] रीति-कालीन कवियों की प्रेम व्यजना : डा० बच्चन सिंह, पृ० ११

सिसिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हैं
जिन्हके अधीन एते उदित मसाला है।
तान तुक ताला हैं बिनोद के रसाला हैं
सुबाला हैं दुसाला हैं बिसाला चित्रसाला हैं ॥ (पद्माकर)

ऋतुओ के रस को और भी अधिक उन्मादक बनाने के लिए सुरा और सुंदरी का सेवन प्रति ऋतु मे किया जाता था। सामत लोगो के मनोविनोद के और भी साधन थे। वे तरह-तरह के 'इनडोर' और 'आउट डोर' खेल भी खेला करते थे—जैसे, चौसर, गंजीफा, शतरंज और पोलो (गोह), कबूतर की उड़ान, पतग, बाज-तीतर-बटेर आदि पक्षियो की लड़ाई, हाथी की लडाई, शिकार आदि।[१] स्पर्श सुख प्रदान करने वाली 'चोरमिहीचनी' नाम की क्रीड़ा भी उन्हे विशेष रुचिकर थी। सामंती जीवन-विधि मे इन चीजो का विशेष महत्व था। इस प्रकार आठो याम इनके सुख और भोग मे ही व्यतीत होते थे। इसी कारण उस काल का मुगल शासन और सामती समाज लडखडाता हुआ चल रहा था।

उत्पादक और श्रमी वर्ग

उत्पादक या श्रमिक वर्ग की स्थिति अत्यंत दयनीय थी। उनकी दशा सामंतो से एकदम विपरीत थी। उनका बेतरह शोषण होता था। दिन भर कठोर परिश्रम के बाद भी उन्हे भर पेट भोजन नही नसीब होता था। उनसे बेगार लिया जाता था। मजदूरो और कारीगरो से पूरी मेहनत ली जाती थी और इसके बदले मे बेचारो को कोड़ो से पीटा भी जाता था। इस काल का कृषक बेचारा अत्यंत दुर्दशाग्रस्त था। डा० नगेन्द्र ने उनकी दशा का विवरण देते हुए लिखा है कि 'मुगल बादशाहों के असंख्य युद्धो, बहुमूल्य इमारतो, उनके अमीरो के विलास-वैभव सभी का भार अंत में जाकर इन किसानो पर ही पड़ता था। सचमुच इस समय के प्रासाद इन्ही लोगों की हड्डियो पर खडे हुए थे, इन्ही के आँसू और रक्त की बूंदे जमकर अमीरो के मोती और लालो का रूप धारण कर लेती थी। राजा के अबाध अपव्यय की क्षति-पूर्ति अनेक प्रकार के उचित-अनुचित कर्मों द्वारा की जाती थी, कर्मचारी गण राजा का और अपना उदर किसानो का खून-चूसकर भरते थे। सम्राट, सूबेदार, फौजदार, जमीदार सभी का शिकार बेचारा किसान था, जिसके कष्टो को केवल भगवान ही शायद सुन सकता था। शाही सेना के सिपाही, बनजारो की टोलियाँ, राजपूताने के डाकू उनकी हरी-भरी फसलो को तहस-नहस कर देते थे, घर-बार लूट लेते थे। दीन प्रजा सर्वथा त्रस्त होकर त्राहि-त्राहि कर उठी थी।'[२] इस प्रकार ये श्रमिक और कृषक तरह-तरह के

---

[१] रीतिकालीन कवियो की प्रेम व्यंजना : डा० बच्चनसिंह पृ० १२।
[२] रीति-काव्य की भूमिका (सन् १९५९) पृ० १३।

अत्याचारों के शिकार थे। बेगार और अत्याचार सहकर भी क्षुधित जीवन उन्हें व्यतीत करना पडता था। उनका जीवन एक अभिशाप था। उधर समय-समय पर फैलने वाली भीषण महामारी और अकाल की स्थिति उनके जीवन को और दूभर किये दे रही थी। ऐसे सतप्त जीवन से क्षुब्ध होकर अनेक श्रमिको एवं कृषको ने दस्यु-वृत्ति धारण कर ली थी।

भ्रष्टाचार और अव्यवस्था—एक तरफ विलासिता का बोलबाला था दूसरी तरफ शोषण और अत्याचार का कठोर यंत्र चल रहा था। शास्त्रो और राज-कर्मचारियो मे नैतिकता का लेश भी बाकी न था। बेचारे कृषक से राजकीय कर निर्ममतापूर्वक वसूले जाते थे और इस प्रकार उनका खून चूस-चूसकर राजकर्मचारी राज्यकोष तो भरते ही रहते थे अपना निजी कोष भी बढाते चलते थे। उनके पास इतने अधिकार होते थे कि बेचारा कृषक और श्रमिक चूँ तक न कर सकता था। समाज मे घोर अव्यवस्था व्याप्त थी। बजारो और पिण्डारियो ने जन-जीवन को आतकग्रस्त कर रक्खा था। राज्यकर्माधिकारी राजकीय कार्यों से जाते हुए मार्ग मे पड़ने वाले गाँवो की लूट-खसोट करते चलते थे। इन भ्रष्टाचारो और अत्याचारों के विरुद्ध कही सुनवाई न थी। इन्ही कारणो से जन-साधारण की स्थिति अत्यंत दयनीय थी। उनका जीवन-स्तर अत्यंत दीन हो गया था। आर्थिक, सामाजिक स्थिति के वैषम्य के कारण देश मे घुन लग चुका था। इस दुःशासन के प्रति जगह-जगह जो प्रबल विद्रोह हुए उनका हवाला राजनीतिक परिस्थितियो के विवरण मे दिया जा चुका है।

नैतिकता—ऐसी स्थिति में भला नैतिकता क्या रह सकती थी। विलास-जर्जर बादशाहों और सामतो मे नैतिक बल नाम की कोई चीज न रह गई थी। इंद्रिय-लिप्सा की तुष्टि के लिए जो व्यभिचार चल रहा था उसकी तो चर्चा की जा चुकी है। अपव्यय बढा हुआ था। गरीब की मेहनत को मेहनत न समझा जाता था। ऊँचे आदर्शों से जीवन का लगाव न रह गया था। राज्यकर्मचारी वर्ग खुले आम रिश्वत लेता था। छोटे-छोटे राज्यों को वश मे करने के लिए षड्यत्र और दुरभि-संधियाँ की जाती थी। धन और ओहदे का लोभ देकर छोटे-छोटे राज्यों को फोड़ा जाता था। स्वयं औरंगजेब ने अनेक दुर्ग इसी प्रकार जीते थे। शासक आत्मरक्षार्थ सशक्त अमीरो और आक्रामको को धन-वैभव आदि के उपहार दिया करता था। बादशाह की ओर से ओहदे बेचे जाते थे। धन और ओहदो का लालच देकर हिंदुओं को मुसलमान बना लिया जाता था। बादशाहो और अमीरों तथा सामंतो के निजी परि-वारों में ईर्ष्या-द्वेष, छल-कपट और षड्यत्र का नग्न नृत्य होता था। मुगल शाहजादे उत्तराधिकार के लिए किस प्रकार अपने ही भाइयों या पिता का रक्त बहाया करते थे, यह बात राजनीतिक परिस्थिति के विवरण में बताई ही जा चुकी है। सार्वत्रिक

नैतिक पतन का परिणाम यह हुआ कि ये अकर्मण्य शाह और सामंत ऊँचे लक्ष्यो की बात न तो कर ही सकते थे और न सोच ही सकते थे। अभ्युदय, प्रगति और विकास के मार्ग उनके लिए बन्द थे। वे ज्योतिषियो पर बहुत भरोसा करने लगे थे और भाग्य-वादी हो गए थे। हिंदू राजाओ मे तो घोर अधविश्वास व्याप्त था। इस भाग्यवाद और नैराश्य का परिणाम यह हुआ कि अपनी वृत्तियाँ अतर्मुखी कर भोग-वासना की पूर्ति करते हुए ही वे अपना जीवन ढोए चल रहे थे। उधर सर्व-साधारण मे भी निष्क्रियता और जडता आ गई थी। उनके लिए जीवन घोर अन्धकारमय और नैराश्यपूर्ण हो गया था। दूर-दूर तक उन्हे प्रकाश नजर नही आता था, किन्तु फिर भी नैतिकता की दृष्टि से जन-साधारण का चरित्र विभव और विलासप्रेमी राजाओं और सामतो से बेहतर था। हिंदू धार्मिक आचार्यों एव सतो की भक्ति और नीति-मयी वाणी तथा उपदेश सर्व-साधारण पर अपना प्रभाव डाल रही थी। रामचरित-मानस, भक्तो के पदो तथा आचार्यों एवं विविध संप्रदायों एवं पंथो के सतो की उपदेश-मयी वाणी जनता के नैतिक बल को इस दीन-हीन और अत्याचार-पीडित दशा मे भी जागृत रख रही थी और उन्हे मानसिक पराभव और नैतिक-पतन से बचाए चल रही थी। इतिहासकारो ने भी इस तथ्य को स्वीकर किया—'जन-साधारण मे धार्मिक एवं नैतिक चेतना को जाग्रत करने वाली साहित्यिक धारा बराबर बहती रही है। निर्गुण धारा के विभिन्न सप्रदायो और पंथो—जैसे, कबीर पथ, दादू पथ, सत-नामी सप्रदाय, बावरी पथ, शिवनारायणी संप्रदाय आदि के कवियो ने निर्धन और निराश जनता के भीतर ईश्वर की अटूट भक्ति और सयम, तप, सत्यता और परोप-कार से युक्त जीवन मे गहरी आस्था जागृत की। सगुणोपासक भक्ति काव्य का भी प्रभाव अशतः इसी प्रकार रहा—विशेषतः राम भक्ति शाखा का।……इतिहासकारों का मत है कि जन-साधारण के जीवन मे भारतीय आत्मा की विशेषता प्रकट है, जिसने न जाने कितने राजनीतिक तूफानो को अपने सामने आते और जाते देखा, परन्तु जो सदैव उनसे अछूते रहे और जब तूफान निकल गया, तो फिर अपने सहज जीवन-क्रम मे सलग्न हो गए।'[1]

इस युग के कवियों को दशा—रीति काल मे कवि की दशा साधारणतः यह थी कि जन्म से तो वह निर्धन वर्ग का जीव होता था किन्तु पेशे और कर्म से सामन्ती वर्ग का। सुख और ऐश्वर्य या समृद्धि की कामना करने वालो को राजा और सामन्तो का आश्रय लेना पडता था। फलतः पढ़े-लिखे प्रतिभाशाली कवि भी मान-सम्मान के लिए राज्याश्रय के अभिलाषी और राजाओ के मुखापेक्षी हुआ करते थे। रीतिबद्ध तो रीतिबद्ध स्वच्छंद धारा के प्रसिद्ध कवि ठाकुर तक ने राज्याश्रय की अनिवार्यता पर बल दिया है—

[1]हिन्दी रीति साहित्य : डा० भगीरथ मिश्र, पृ० १०।

ठाकुर सो कवि भावत मोहिं जो राजसभा मैं बड्प्पन पावैं ।

उच्च वर्ग के आश्रय के बिना इन कवियो का काम न चलता था। उत्पादक वर्ग के होकर भी इनकी प्रतिभा का वहाँ कोई मूल्य न था । न वहाँ कोई उसकी प्रशंसा करने वाला और न उसे पुरस्कृत करने वाला । इधर भोग-विलासप्रधान शाही और सामन्ती जीवन-क्रम मे कविता का मान-सम्मान और चलन था फलतः इस वर्ग के व्यक्ति इसी सामन्ती समाज की आशाकाक्षाओ का चित्रण करते हुए इसी समाज के अंग बन जाते थे । जहाँ केशवदास, बिहारी ऐसे कुछ कवि इनाम-इकराम और सम्मान पाकर स्वयं छोटे-मोटे राजा या सामन्त की बराबरी करने लगते थे, वहीं देव, बोधा ऐसे कवि एक राज्य से दूसरे राज्य मे आश्रय के लिए टक्कर भी खाते फिरते थे। राज्याश्रय उनकी प्रतिभा के चमकने और प्रतिष्ठा के प्रसार का निश्चित साधन था । अतएव ये उससे सम्बन्ध तोडने की बात सोच भी नही सकते थे । इधर ऐश्वर्य और विलासिता के क्रमश. प्रदर्शन और तुष्टि मे सहायक होने के कारण कवि और काव्य को इन आश्रयदाता शाहो और सामन्तो के यहाँ अच्छा स्थान और महत्व भी प्राप्त था। प्रतिभासपन्न कवि और कलाकारो को वे उदारतापूर्वक दान, उपहार और आश्रय देते थे तथा इस प्रकार काव्य और कला को प्रोत्साहन मिलता था । फलस्वरूप समाज मे कवियो का स्थान और सम्मान था तथा उनकी आर्थिक स्थिति शोचनीय नहीं रहने पाई थी। कवियो मे पारस्परिक स्पर्धा भी होती थी जिससे कवित्व का हित ही होता था, किन्तु अल्प प्रतिभाशाली कवि और कलाकार अवश्य असतोष का जीवन व्यतीत करते रहे होंगे । इस आश्रय और सम्मान के परिणामस्वरूप कवियों ने सामान्यतया अपने व्यक्तित्व को इन सामन्तो के व्यक्तित्व मे ही लय कर दिया था। वैसे इस तथ्य के अनेक अपवाद भी मिल जायंगे । आर्थिक समस्या के सुलझ जाने से ये कवि और कलाकार काव्य और कला की ही साधना मे अपना जीवन लगा देते थे भले ही वह कला आश्रयदाता की विलासिता की तुष्टि के ही लिए क्यो न सृष्ट की जाती हो । शाहजहाँ के बाद मुगलो के शाही दरबार के कवियो की आजीविका को अवश्य धक्का लगा क्योकि औरंगजेब ऐसी चीजो को नफरत की निगाह से देखता था; किन्तु औरंगजेब के बाद मुगल साम्राज्य ही क्षीणबल हो विकेन्द्रित हो गया था, फलतः कवि और कलाकार छोटे-छोटे राजाओं, अमीरो, सूबेदारों और नवाबों के आश्रय में चले गये थे । उत्तरोत्तर सामन्तो की आर्थिक स्थिति के ह्रास के साथ-साथ इन कवियों की स्थिति मे भी परिवर्तन हुआ होगा ।

धार्मिक परिस्थिति

रीतिकाल मे आकर धर्म का पतित और कुत्सित रूप ही देखने को मिलता है। न तो शासक या सामन्त वर्ग ही धर्म के मूल तत्वों से अवगत था और न ही शासित।

शासितो के लिये तो धर्म एक अन्ध आस्था थी जो जीवन के लिए अपरिहार्य थी। अंध-गति से पण्डितो और पुजारियो द्वारा बताए गए मार्ग पर चले चलना ही इस काल की धार्मिकता थी। भोग-विलास, शोषण-अत्याचार, अज्ञान-अशिक्षा और अनुदात्त जीवन-दर्शन के इस युग मे धर्म अपने निकृष्टतम रूप में चल रहा था विशेषतः हिदुओं मे। धर्म के तत्व से अवगत सत, साधु और महात्मा रहे होंगे किन्तु धर्म के ढोंगी ठेके-दारो के जोर-शोर के सामने उनका अस्तित्व नगण्य ही था। कबीर और नानक ऐसे शक्तिशाली तथा सूर और तुलसी ऐसे प्रभावशाली संत और भक्त महात्मा इस युग मे कहाँ थे तथा अकबर ऐसे उदारचेता और सहिष्णु शासको का भी इस युग में नितात अभाव था। फल यह हुआ कि धर्म का गिरा हुआ रूप ही सामने आया और लोग उसे ही अपना पुनीत कर्तव्य समझकर निभाते रहे। इस युग का धर्म सामाजिक जीवन की विपन्नता और विषण्णता से उत्पन्न है, ब्राह्मणो, पंडो और पुजारियो द्वारा शासित और चालित धर्म है।

भक्ति काल मे धर्म जीवन को आन्दोलित कर देने वाली एक चेतन शक्ति थी। रीतिकाल मे वह जड़ता और अवनति की ओर ले जाने वाली बेडी बन गया था। बात यह है कि इस युग के धर्म मे जीवन को जगाने और उन्नत करने की क्षमता न थी। धर्म जीवन को ऊर्ध्वमुखी करता है, वह ताकत इस युग के धर्म मे नही रह गई थी। धर्म का रूप उदात्त न रह गया था वरन् वह सकीर्ण और निष्प्राण हो चला था। वह जड़ रूढ़ियो का अंधानुकरण मात्र रह गया था।

परम्परागत धर्म—रीतिकाल मे हिन्दू जनता के बीच जो धर्म चल रहा था वह परम्परागत या लोक-प्रचलित हिन्दूधर्म ही था। यह वही धर्म था जिसे हिन्दू वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थो, उपनिषदो, रामायण, महाभारत आदि से निकला हुआ मानते थे और जिसमे त्रिदेवोपासना, बहुदेवोपासना, ब्राह्मणो (भूसुरो) की सर्वोपरि महत्ता, विस्तृत कर्मकाण्ड, जन्मातर आदि के सिद्धान्त प्रतिपादित और मान्य थे। वह प्राचीन हिन्दू धर्म कालातर मे कितने ही धर्मो तथा मतमतातरो से प्रभावित होता गया। वैदिक देवताओ की जगह पौराणिक देवी-देवताओ का महत्व अधिक हो गया। ब्रह्मा, विष्णु और महेश में अन्तिम दो की उपासना अधिक हुई। शिव और विष्णु को भी लेकर कितने धर्म और भक्ति सप्रदाय उठ खडे हुए। शिव की उपासना करने वालो मे अघोरी, ऊर्ध्ववासी, आकाशमुखी, कापालिक, अवधूत, कनफटे योगी और सन्यासी अपने-अपने सम्प्रदाय चला रहे थे। इनकी कुछ क्रियाएं और साधनाएँ तो अत्यन्त त्रास और जुगुप्साजनक हुआ करती थी, जिनकी भयकरता और वीभत्सता के कारण वैष्णव धर्म अधिक लोकप्रचलित हुआ, जहाँ सौदर्य, प्रेम, आदर्श और भक्ति के मानव-सुलभ रूप का साक्षात्कार कराया गया। वैष्णव अवतारो में राम और कृष्ण को लेकर ही विशेष सम्प्रदाय चले। जितने भी प्रमुख धर्म और सम्प्रदाय थे, वे सभी

आलोच्यकाल के पूर्व ही प्रवर्तित हो चुके थे किन्तु वे इस काल मे निर्जीव रूप मे चले चल रहे थे। उनमे धर्म-प्रवर्तकों और संचालको का जोशखरोश न था। उनकी सजीवता और सप्राणता जाती रही थी। उनमे अज्ञान और अंध-विश्वास तथा इनसे उत्पन्न दोष घर कर गये थे। कुछ छोटे-मोटे नए पंथ और सम्प्रदाय भी इस युग में उठ खडे हुए विशेषतः निर्गुण सन्तो के बीच, किन्तु वे अत्यन्त क्षीण और सीमित प्रभाव वाले थे जो समूचे देश के जीवन को झकझोरने की क्षमता नही रखते थे। उनके चलने का भी मूल कारण धर्म-प्रचार की अपेक्षा आत्म-प्रचार ही था। जडता और अधविश्वास के कारण धर्म अधःपतित रूप मे चला चल रहा था। इस प्रकार हिंदू धर्म मोटे तौर से अपनी पुरानी लीक पर चल रहा था। कालान्तर मे आ मिलने वाली बाते और प्रभाव भी उसमे समा गए थे किन्तु थी उसमें जडता ही। इस्लाम धर्म के प्रचार और प्रभाव से हिन्दी के भक्तिकाल मे जो धार्मिक जोश और भावना देखने को मिली वह इस काल मे मन्द पड गई थी। डा० वार्ष्णेय लिखते हैं कि 'साहित्य के इतिहास में स्वर्णयुग उपस्थित करने वाले रामानन्द, कबीर और वल्लभाचार्य द्वारा प्रेरित आंदोलन कुंठित हो चुके थे और चारों ओर फैली हुई अराजकता के बीच किसी नवीन शक्तिशाली धार्मिक आंदोलन की सम्भावना भी नही थी। पहले से चले आ रहे धार्मिक सम्प्रदाय अपनी सकीर्ण परिधि और कर्मकाण्ड लिए भक्तों की मानसिक परितुष्टि करते रहे। साम्प्रदायिक ग्रन्थों मे उल्लिखित नियमों से वे जरा भी इधर-उधर होना नही चाहते थे।""""राजनीतिक और आर्थिक अराजकता के कारण रूढि और परम्परा का और भी कट्टरता के साथ पालन होता रहा।'

विविध धर्म सम्प्रदायों की स्थिति—विद्वान् पंडित और मौलवी अपने-अपने धर्मग्रन्थो का निष्ठापूर्वक अध्ययन करते और उसी के अनुसार अपना जीवन चलाते थे और दूसरो को भी वैसा ही करने का उपदेश देते थे। धर्म ग्रन्थो मे कथित नियमो के पालन मे उनका पक्का विश्वास था। कृष्णभक्ति सम्प्रदायो मे महत्वपूर्ण कार्य करने वाले आचार्य वल्लभ और गोस्वामी बिट्ठलनाथ का समय बीत चुका था। अब उनके द्वारा स्थापित गद्दियो पर वैभव-प्रेमी महन्त आसीन होने लगे थे जो राजाओं और श्रीमानों से विशेष सम्पर्क रखते थे, सर्वसाधारण से कम। इन लोगों में साधुवृत्ति की जगह ऐश्वर्य-परायणता आ चली थी। सेवा, अर्चा, पूजा, भोग प्रसाद आदि के ब्यौरो पर अधिक ध्यान दिया जाता था। अब के गोस्वामी भोग-विलास में भी लिप्त रहा करते थे तथा छल, धोखा और आडम्बर उनके जीवन के अंग हो गए थे। डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि 'उनके विलास के लिए भी इतने साधन एकत्र किये गए थे कि अवध के नवाब तक को उनसे ईर्ष्या हो सकती या कुतुबशाह भी अपने अन्तःपुर में उनका अनुसरण करना गर्व की बात समझते। यही दशा

मध्व, निम्बार्क, चैतन्य तथा राधावल्लभीय. सम्प्रदायो की गद्दियो की थी। उनमें राधा की महत्ता के कारण श्रृङ्गार-भावना और भी स्पष्ट रूप से व्यक्त हो रही थी। ....मठ और मन्दिर, देवदासियों और मुरलियों के चरणो की छन-छन से गूंज रहे थे।'[1] इस भोगवृत्ति के विकास से धर्म का तात्विक रूप दृष्टि से ओझल होता जा रहा था। जब धर्माचार्यों की यह स्थिति थी तब उनके भक्तो और अनुयायियों का क्या! उन पर तो दुगुना नशा सवार रहा होगा। तपस्या, साधना, तत्वचिंतन और पुनीत जीवन-क्रम के अभाव मे वैष्णव धर्म इस प्रकार ह्रासोन्मुख हो रहा था। भक्ति-काल मे कृष्णभक्ति धारा के अन्तर्गत माधुर्यभाव की जैसी पुनीत भक्ति-भावना के दर्शन होते है, वह इस काल मे तिरोहित हो चुकी थी। भक्तो और उनकी रचनाओ में स्थूल मासल श्रृङ्गारिकता गोचर होती है। जैसे सामाजिक क्षेत्र मे वैसे ही धार्मिक जगत मे भी नैतिक भ्रष्टाचार व्याप्त मिलता है। यदि इस युग की जनता मे धर्म के प्रति परिष्कृत रुचि और उदात्त भावना का अभाव था तो इसका दायित्व बड़े-बड़े धर्माचार्यों पर था। यद्यपि चैतन्य सम्प्रदाय के रूप गोस्वामी सरीखे आचार्यों और भक्तो ने माधुर्यभाव की भक्ति और श्रृङ्गार रस का एक उज्ज्वल और दिव्य रूप सामने रक्खा किन्तु कालान्तर में उसकी भावात्मक पवित्रता तो नष्ट हो गई किन्तु स्थूल भोगप्रवणता और कामचेष्टाओ का वर्णन ही भक्ति की तथाकथित रचनाओ में प्रधान हो गया। जहाँ पुनीत प्रेम के भाव थे वहाँ ऐन्द्रिक कामुकता के भाव फैलाए गए और यह सब धर्मसरक्षक महन्तो की कृपा का फल था। उनका निजी जीवन भ्रष्ट हो चला था तथा कृष्णभक्ति सम्प्रदायो (राधावल्लभीय, चैतन्य आदि) की गद्दियाँ रसिकता का केन्द्र हो गई थी। 'भक्ति मे वित्त सेवा का भी बडा महत्व था, फलस्वरूप बडे-बडे महन्तो की गद्दियाँ छत्रवान राजाओ के वैभव से टक्कर लेने लगी। ....मन्दिरों और मठों मे देवदासियो का सौदर्य और उनके घुँघुरुओ की झनकार मठाधीशो की सेवा और मनोरंजन के लिए सर्वदा प्रस्तुत रहती थी। सूक्ष्म आध्यात्मिकता की विकृति का यह स्थूल रूप वास्तव मे धर्म के इतिहास मे एक अंधकारपूर्ण पृष्ठ है।'[2] कृष्णभक्ति तो कृष्णभक्ति रामभक्ति मे भी श्रृङ्गारभावना और कामुकता का पूर्ण रूप से प्रचार हुआ। अवश्य ही यह कृष्णभक्ति की अवनत माधुर्य-भावना के प्रभाव के कारण हुआ होगा किन्तु यह निश्चित है कि मर्यादा पुरुषोत्तम का चरित्र भी कलकित करने मे इन श्रृङ्गारी भक्तो को लज्जा का अनुभव न हुआ। रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय का समावेश हो चला जिसका परिणाम यह हुआ कि राक्षसो के सहार और मानवता के कल्याण के लिए कृतसकल्प राम अब सरयू तट

---

[1] रीतिकाव्य की भूमिका : डा० नगेन्द्र (१९५९ ई०) पृ० १९।

[2] हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, पृ० १८, डा० सावित्री सिनहा।

पर कामक्रीडा करते हुए दिखाए गए। वे एक कामी पुरुष के रूप मे और सीता एक विलासप्रिय रमणी के रूप मे चित्रित की गई तथा उनके रसिक भक्त सखीरूप मे उनकी सभोग लीलाओ का तृषित भाव से दर्शन किया करते थे।[1] आचार्य शुक्ल ने भी राम-भक्तो की इस पतितावस्था का सकेत अपने इतिहास में किया है।[2]

निर्गुणोपासक संत और सूफी—निर्गुण भक्ति में विकृति का अवकाश कम था क्योंकि विकृति का एक मूल कारण वैभव हुआ करता है। निर्गुण सत प्रायः समाज के निर्धन वर्ग के लोग थे और उनके धर्म का प्रचार भी सर्वसाधारण मे ही विशेष हुआ। फलतः भोग-विलासिता के साधनो से असंपृक्त संत मत में वैसी विकृति सम्भव न थी किन्तु इस धारा मे भी कबीर, नानक, दादू एव सुन्दरदास ऐसे शक्तिशाली सतो की परम्परा देखने को नही मिलती। पूर्ववर्ती सतो के पंथ तो चले ही कुछ नए सतो ने भी अपने-अपने पथ और सम्प्रदाय चलाये जैसे चरणदासी सम्प्रदाय, शिवनारायणी सम्प्रदाय, गरीबदासी सम्प्रदाय, रामसनेही सम्प्रदाय, यारी सम्प्रदाय, जगजीवनदास द्वारा पुनर्गठित सतनामी सम्प्रदाय आदि जिनमे से अनेक तो इस्लाम से इस तरह प्रभावित हुए कि हिंदू धर्म के आधारभूत सिद्धान्तो तक का विरोध करने लगे।[3] कुछ हिंदू पंथ सशक्त और सुसगठित भी थे जैसे सतनामी, लालदासी आदि। सतनामियों ने तो औरंगजेब के समय अपनी संगठित शक्ति का परिचय भी दिया था। अनेक ऊँचे चरित्र के भी संत हुए जैसे जगजीवन, बुल्ला साहब, चरनदास, सहजोबाई, दयाबाई आदि। इनकी बानियों मे आज भी अक्षय पवित्रता के दर्शन होते हैं। इनमें मिथ्याचार और ढोग नही था। कुछ सत तो विवाहित रहकर भी समाज मे स्त्री-पुरुषो को उपदेश देते फिरते थे। ये संत सामाजिक धर्म एवं चरित्र को उठाने मे निश्चय ही क्रियाशील रहे किन्तु इनके विविध सम्प्रदायो मे कोई भी ऐसा प्रभावशाली संत नही हुआ जो देश के सामाजिक जीवन और चरित्र को एक नई दिशा दे सकता। जनसाधारण के समक्ष इनके द्वारा कोई एक जीवंत आदर्श न प्रस्तुत किया जा सका जो समाज की दुरवस्था से उसे नजात दिला सकता। सामान्य रूप से संत मत उतना विकृत न हुआ था जितना वैष्णव धर्म किन्तु ये भी उत्तरोत्तर ह्रासोन्मुख हो रहे थे, यह निश्चित है। विद्वानों ने लिखा है कि युग की विलास-वृत्ति और ऐश्वर्य-तृष्णा ने अनेक सतों को भी विचलित कर दिया। सम्पन्न लोग इन्हें

---

[1]राम-भक्ति मे रसिक सम्प्रदाय : डा० भगवती प्रसाद सिंह।

[2]हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृ० १४०-४२।

[3]आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका : डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० ३६।

सम्मान देने लगे और इनसे दीक्षा लेने लगे। फलतः इनकी भी गद्दियाँ स्थापित होने लगीं।[१]

सूफी सतो के भी अनेकानेक सम्प्रदाय हो गए थे। चिश्तिया, निज़ामिया, नक्शबदिया, क़ादिरिया, शत्तारिया आदि। एक ही मूल मत को मानने वालो मे भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो का हो जाना पारस्परिक असतोष, अनुदारता, वैयक्तिक महत्ता या प्रतिष्ठा की आकाक्षा तथा साध्य के प्रति विभक्त निष्ठा का परिचायक है। जो हो, ये सूफी भी प्रेम-कहानियाँ लिखते रहे तथा अपने-अपने मतो का प्रचार करते रहे। संतो और सूफियो के विचार एव आदर्श एक दूसरे के बहुत निकट थे। हिन्दुओ के वेदान्त और मुसलमानो के एकेश्वरवाद से प्रभावित सतो ने ईश्वर की एकता, समस्त जीवधारियो की समानता, सबके प्रति प्रेम तथा हिंदू-मुसलमान, ब्राह्मण-शूद्र आदि के झूठे भेदो के त्याग पर विशेष बल दिया। इस दुःखमूला सृष्टि से नजात पाकर परमात्मा से ऐक्य स्थापन ही जीवात्मा का चरम लक्ष्य है जिसकी प्राप्ति के लिये तप और त्याग का जीवन ही एकमात्र उपाय है। ससार की लिप्सा, माया छोडे बिना परमगति सम्भव नही। धर्म के दिखावे और ढोग जैसे तीर्थाटन, व्रतोपवास, रोजा-नमाज, मूर्तिपूजा आदि व्यर्थ है। योग और प्रेम के द्वारा निर्गुण का साक्षात् सम्भव है किन्तु बिना गुरु के उसकी प्राप्ति सम्भव नही। उधर सूफी भी आडम्बररहित प्रेम-पथ के पथिक थे जो जीवन मे सदाचार को सबसे अधिक महत्व प्रदान करते थे। प्राणिमात्र मे भेद करना या धर्म का दिखावटी कर्मकाण्ड अपनाना उनके दीन के खिलाफ था। वे भी गुरु की महत्ता और अनिवार्यता के कायल थे तथा ईश्वरीय प्रेम मे अपने को लगा देना ही सच्चा जीवन समझते थे। यह धर्म भी मनुष्य के चारित्रिक धरातल को उन्नत करने वाला था और वर्ण-भेद को निर्मूल करने वाला था। समाज के गिरे हुए और उपेक्षित वर्गों के लोग स्वभावतः इन धर्मो की ओर आकृष्ट हुए। अनेक हिन्दू, मुस्लिम एवं सूफी सतो और इनके दरगाहो की पूजा करते थे। बहराइच के सैयद सालार नामक संत की समाधि पर प्रति वर्ष हिंदुओ की बडी भीड दूर-दूर से आया करती थी। सैयद सालार के पिता शौक सालार भी इसी प्रकार के एक समादृत सूफी सत थे। शेख ख्वाजा मुईनुद्दीन की दरगाह पर भी बहुत बडी सख्या मे हिंदू श्रद्धाजलि चढाने और अपनी मनौती मानने या पूरी करने की मुराद से जाया करते थे और यह क्रम आज भी कायम है। यह सब होते हुए भी ये संत सामाजिक जागृति न ला सके और न जन-जीवन को अपेक्षित रूप मे उन्नत ही कर सके। इनमे प्रवर्त्तक संतो और सूफी महात्माओ की वाणी की क्षीण प्रतिध्वनि ही थी। मौलिक प्रतिभा-

---

[१]रीति काव्य की भूमिका (१९५९ ई०) पृ० १८ और हिंदी साहित्य का वृहद् इतिहास, षष्ट भाग, पृ० १८।

सम्पन्न सत और सूफी इस युग मे न हुए जो परम्परा प्राप्त सिद्धान्तो और आदर्शों में कोई नया आवेग ला सकते। इस पतन-काल मे किसी प्रकार की सामाजिक क्राति इनके द्वारा सम्भव न हो सकी।

अन्य धर्म सम्प्रदाय—वैष्णव और निर्गुण सम्प्रदायो के अतिरिक्त भी अनेक छोटे-छोटे धर्म सम्प्रदाय हिन्दी प्रदेश मे चल रहे थे—जैसे शैव, गोरखपंथी, जैन तथा काली, दुर्गा और भवानी के पूजकों का। साहित्यिक दृष्टि से ये विशेष महत्वपूर्ण नही क्योकि रीति युग का साहित्य इनके प्रभाव से मुक्त ही रहा। इन छोटे सम्प्रदायों में अनेक भद्दी, क्रूर और घृणित प्रथाएँ प्रचलित थी।

इस युग के शासको या विजेताओ का भी धर्म—इसलाम—जोरो पर था। पहले तो उन्होंने धर्म परिवर्तन का क्रम जोरो से चलाया जो रीतिकाल मे भी वेग के साथ चलता रहा और औरंगजेब के जमाने मे अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था किन्तु मुगल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर इसलाम का प्रचार करने वाले मुल्लाओं और मौलवियों का भी विशेष उत्साह न रह गया था। ये परिवर्तित देश-काल में भी अपना जीवन-क्रम कुरान मे बताए आदर्शों पर ही चलाए जा रहे थे किन्तु मुगलों की विलासिता और नैतिक अधोगति का प्रभाव इसलाम पर भी पडे बिना न रहा। उनका धर्माचार भी परिवर्तित परिस्थितियो के अनुसार ढलने के बजाय रूढिग्रस्त ही था।

उत्तरवर्ती रीतिकाल मे (सं० १८५० के आस-पास) दक्षिण और पूर्व में ईसाई धर्म-शक्ति धीरे-धीरे निम्न वर्ग की जनता में अपना प्रचार-आन्दोलन दृढ कर रही थी। हिन्दू धर्म की बुराइयों और दुर्बलताओं का लाभ उठाकर जिस प्रकार मुसलमानो ने धर्म-प्रचार करना शुरू कर दिया था उसी प्रकार ईसाइयो ने भी, किन्तु हिन्दी-क्षेत्र इससे उस समय बहुत प्रभावित न हुआ।

रूढ़ि और अंधविश्वास—सर्वसाधारण मे अशिक्षा और अज्ञान के कारण अधविश्वास की जड़े गहरी हो गई थी। लोग धर्म के तत्व तक न जाकर उसकी ऊपरी और दिखावे की बातो के अनुसरण और पालन मे ही सच्चा धर्म पालन या धार्मिक जीवन समझते थे। तीर्थ, व्रत, जादू, टोना, सन्तों और पीरों पर इन्हे बहुत विश्वास था। पीरो और गुरुओ पर आस्था इस हद तक बढी हुई थी कि स्त्री-पुरुषों के समूह उनके तकियो और मठो मे अपनी-अपनी मुरादे और मनौतियाँ ले-ले कर पहुँचा करते थे और वे लोग इन्हे अच्छी तरह ठगते भी थे। हिन्दू-मुसलमान सभी अपने-अपने गुरुओ और पीरो को ईश्वर के ही समान महत्व देते थे। यह व्यक्ति-पूजा इस हद तक बढ़ी हुई थी कि किसी भी विशाल भुजा वाले व्यक्ति को हनुमान का अवतार समझ लिया जाता था तथा उसे श्रद्धा और भक्ति की भरपूर भेंट चढ़ाई जाती थी।

समग्र रूप से इनका धार्मिक जीवन रूढ़ियो और अंधविश्वासो से ग्रस्त था। जनता मे अनेक अमानुषीय और घृणित आचार-विचारो, रीति-रस्मो और निर्जीव धार्मिक रूढियो और परपराओ का चलन था। ये अमानुषी और घृणित धार्मिक कृत्य अपनी आत्यंतिक अर्थहीनता के कारण उपहासास्पद भी थे, उदाहरण के लिए भैरव, भवानी, दुर्गा आदि रुद्र रूप वाले देवताओ को तुष्ट करने के लिए बकरे, भैसे और मनुष्य तक की बलि चढाना, जादू - टोने मे विश्वास, सतानोत्पत्ति के लिए समाधियों मकबरो की पूजा और महन्तो के पास आशीर्वाद के लिए जाना, भूत-प्रेतो मे विश्वास, बरगद और पीपल की पूजा, फकीरो और दरवेशो की शक्ति और सामर्थ्य पर विश्वास, किसी भी भयभीत करने वाली वस्तु की पूजा—जैसे महामारी, साड, पत्थर आदि। धर्म के नाम पर अपने शरीर को घोर यातना और पीडा पहुँचाना और ऐसा करने वालो की पूजा (क्योकि वे समझते थे कि जब तक कोई पापी अपने शरीर को अच्छी तरह पीडा नही पहुँचाता तब तक वह पाप से मुक्त नही होता) यातनामूलक क्रियाओं मे प्रवृत्त हो कर अनेक साधु जनता मे श्रद्धाभक्ति जगाए रखते थे—जैसे दोनों हथेलियो को सिर पर रखकर, मुट्ठी बाँध कर या भुजाएँ फैलाकर या एक पैर पर खडे रहकर वर्षों का समय काट देना, नाखून बढा लेना, जटाएँ रखना, कीलों और काँटो की शैय्या पर सोना, जंजीर से अपने को बाँध कर पडे रहना, वृक्ष के सहारे झुके हुए ही सोना, देवी-देवताओ के रथ के नीचे लेटकर अपने प्राणो का उत्सर्ग कर देना, दण्डवत करते हुए तीर्थो तक जाना, भारी बोझ लाद कर चलना, हाथो और घुटनो के बल चलना, पेट के बल रेगकर तीर्थ स्थानों का भ्रमण करना, आग पर चलना, उलटे सिर लटक जाना, लोहे की शलाकाएँ या छल्ले शरीर के आर-पार कर देना, जीवित अवस्था में जल प्रवाह लेना, जीवित जमीन पर गडे रहना आदि ऐसे कितने ही साधु प्रयाग के माघ मेले मे आज भी देखे जा सकते हैं। ऐसे साधु और योगी अपनी असाधारण कष्ट सहिष्णुता के कारण अपढ़ समाज को आकर्षित किया करते थे।[1]

कपटी और ढोंगी साधु—इस युग मे साधुता एक आसान बात थी। 'मुई नारि घर सम्पति नासी, मूँड मुँडाय भये सन्यासी' वाली बात इस युग मे और भी सार्थक थी। हिन्दी प्रदेश मे प्रचलित सप्रदायो की सख्या मामूली नही थी। हर सप्रदाय के साधुओ की ही जमात बहुत बडी हो गई थी। सामान्य जन-समाज मे अज्ञान और अशिक्षा के कारण इन साधुओ का मान-सम्मान भी था। फलतः साधु वेश आजीविक का एक अच्छा साधन हो गया था। कितने ही सैनिक साधु बनकर जनता की अंध-श्रद्धा के सहारे जी रहे थे। हिन्दू वैरागी और गोसाईं होकर तथा मुसलमान फकीर होकर जनता पर अपना आध्यात्मिक प्रभुत्व जमाये रहते थे। कविवर सेनापति ने

---

[1]आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका : डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० ६४-६७।

अपने 'कवित्त रत्नाकर' मे 'भगतों के भेष की कमाई खाने वाले साधुग्रो' और सम-सामयिक 'गुसाइयो' का रोचक वर्णन किया है—

गीतहिं सुनावैं तिलकन झलकावैं भुज,
मूलन छुपावैं द्वारका हू के पयान ही।
बैसनव भेष भगतन की कमाई खाहि,
सेवैं हरि साहिबै न साँच है निदान ही।।
देखि कै लिबास नीची सबन की नारि होति,
मोहि कै बिकच करैं, मन धन ध्यान ही,
सेनापति सुमति बिचारि देखौ भली भाँति,
कलि के गुसाईं मानौं माँगना समान ही।।

मालै हठि लै कै भले जन ए बिसारैं राज,
भोग ही सौ काज रीति करैं न बरत की।
लेहिं कर मुद्रा देह बुरी यौं बनावैं छाँडि,
निगम की संक अब लाज न रमत की।
पाइ पकरावैं जो निदान करैं उपदेस,
रास उतसव ही सौं केलि जनमत की।
सेनापति निरखि बिचारि कै बताए देखौ,
कलि के गुसाईं मानौं माँगना जगत की।।

सेनापति ने बताया है कि उनके जमाने के साधु और गोसाई किस प्रकार के व्यक्ति हुआ करते थे। वे साधुता का प्रदर्शन करते थे, वास्तविक साधु न थे। उनके हृदय मे न तो सत्य था और न वे हरि के सच्चे भक्त ही थे। वे साधुओं का वेश पर-श्रद्धाकर्षण के लिए धारण किए रहते थे तथा उनका ध्यान लोगों के धन और वैभव पर लगा रहता था जिसे वे अपना बनाने की फिराक मे रहते थे। प्रवृत्ति से भी वे लोग त्यागी न होकर भोगी ही थे, वे व्रतादि नही करते थे और न ही वेद-मत का परिपालन। अपनी पूजा कराने मे वे विश्वास करते थे और रास तथा उत्सव से उन्हे विशेष प्रयोजन रहता था। ऐसे साधु-वेशधारी लोग जहाँ जाते थे वहाँ अपने चेले बना लेते थे, अंधी जनता उनमें रहस्यमयी शक्तियो का वास समझा करती थी। कभी-कभी ऊँचे घरो की स्त्रियाँ उन्हें भोजन कराने भी जाया करती थी तथा उनसे 'आशीर्वाद' प्राप्त किया करती थी। अजगर और पंछी के समान सब को ही देने वाले राम के भरोसे रहने वाले अनेक साधु मादक वस्तुओ का भी सेवन किया करते थे। अनेक बार ये ढोंगी, प्रवंचक और स्वार्थसाधक साधु और योगी बडे प्रभावशाली सिद्ध हुए हैं। उनका सर्वसाधारण पर और धनिक वर्ग पर भी अच्छा खासा आतक रहता

था। उनमे किसी से कुछ भी करा सकने या ले सकने की शक्ति थी। वैष्णव भक्तों के अनेक गुरुओ की चर्चा पहले की ही जा चुकी है जो आत्म-पीडन तथा संयम और व्रत से रहित भोग और ऐश्वर्य, ऐश और इशरत की जिन्दगी बसर कर रहे थे। ये लोग केवल नाम के ही भक्त, साधु और महात्मा थे। इस युग मे इनकी इतनी अधिकता थी कि सच्चे भक्त महात्मा और धार्मिक व्यक्तियो का इनके सामने विशेष मान और महत्व नही स्थापित हो पाता था, उधर जनता भी इतनी ज्ञान-मूढ़ थी जो असली और नकली साधुओ मे भेद नही कर पाती थी।

इस युग का धर्म पंडे, पुजारियों और पुरोहितों के हाथ मे था—इस युग का धर्म ऐसे ही ढोंगी साधुओं द्वारा चालित था। दूसरी तरफ सगुण-भक्ति का पथ भी पण्डो, पुरोहितो, पुजारियो और गुरुओ के सरक्षण मे था। जनता में भय और अज्ञान था। ये पण्डे और पुरोहित उसे कायम रखकर उसी के सहारे खुद जीते थे क्योकि भय और अज्ञान के निकल जाने पर इन पुरोहितो और पुजारियो को कौन पूछता। ये पुजारी-पुरोहित जनता का अज्ञान दूर नही करते थे और न उसे दूर करने की आवश्यकता ही समझते थे। इन्हे स्वय भी धर्म का ज्ञान था ही ऐसा भी नही कहा जा सकता। यह क्रम किसी सीमा तक आज भी चला चल रहा है। ये पंडे और पुजारी इतने स्वार्थ-परायण थे कि ईश्वर की अपेक्षा अपनी पूजा-अर्चा कराने मे इनका अधिक विश्वास था। शास्त्र, धर्म एव अध्यात्म तत्व से ये स्वत: अनभिज्ञ थे फिर भला ये जनता का मार्ग-दर्शन क्या करते। वहाँ तो 'अधै-अधा ठेलिया' वाली बात थी। फिर इनमे स्वार्थपरायणता और मक्कारी इतनी थी कि ये जन-साधारण का वास्तविक हितचिंतन भी नही करते थे। इसीलिए इस युग मे धर्म का भी बेतरह ह्रास हुआ। हिन्दू धर्म बुरा था ऐसा नही है किन्तु उसके उदात्त और उन्नायक स्वरूप को सामने रखने की चेष्टा न की गई और जो धर्मतत्वज्ञ थे वे इन ढोंगियो के कारण आगे न आ सके। फलत: धर्म के मामले मे त्याज्य बातो का ग्रहण हुआ और ग्रहणीय बातो का त्याग—

> **भजन कह्यौ ताते भज्यौ, भज्यौ न एकौ बार।**
> **दूरि भजन जातें कह्यौ, सो तैं भज्यौ गँवार॥ (बिहारी)**

लोग साध्य को छोड साधन को ही धर्म मान बैठे और मूल को छोड़ डालो को लगे सीचने, तभी तो जहाँ-तहाँ रीति कवियो को इस प्रकार के प्रबोधनात्मक वाक्य लिखने पडे—

> **जप माला छापा तिलक सरै न एकौ काम।**
> **मन काँचै नाचै वृथा साँचै राँचै राम॥ (बिहारी)**

इन पंडो, पुजारियो और ब्राह्मणो पर जनता की इतनी आस्था थी कि उनके बताए हुए मार्ग पर आँख मूँद कर चलने के सिवा उनके पास कोई दूसरा चारा

न था। जनता को शास्त्रों का अध्ययन तो दूर दर्शन तक न हो पाता था फिर वह घोर अपढ और निरक्षर थी, ऐसी स्थिति मे ब्राह्मणो, पुरोहितों तथा सदृश धर्मगुरुओं की बातो के खडन एव किसी स्वमत-स्थापन का बल और साहस ही उसमे कहाँ था। ऊँचे वर्णों के लोग ही शास्त्रो का पठन-पाठन करते थे फलतः सर्व-साधारण के बीच पुरोहितो द्वारा चलाया गया धर्म का विकृत और अध-विश्वास पूर्ण रूप ही प्रचलित रहा। नासमझ और ज्ञान-मूढ जन-समाज के लिए ब्राह्मण वाक्य वेद-वाक्य से कम महत्व नही रखता था तथा उसकी अवहेलना करने से वह पाप का भागी होता था जिसका प्रायश्चित किये बिना उसे किसी लोक मे भी ठौर-ठिकाना न था। धर्म एक ऐसा जाल बन गया था जिसमे जाने या फँसने के लिए भी ब्राह्मण आवश्यक होता था और जिससे निकलने के लिए भी उसकी आवश्यकता थी। जीवन कितने जटिल नियमो और सस्कारो तथा धार्मिक कृत्यो और बधनो मे जकड उठा था और उसकी हर जकड़न से नजात दिलाने के लिए ब्राह्मण देवता की शरण आवश्यक थी। इस प्रकार धर्म भी जनता के आर्थिक शोषण का भयानक साधन बना हुआ था। जन्म, छठी, बरही, मूल-पूजा, यज्ञोपवीत, विवाह, पिण्डदान आदि कुछ भी ब्राह्मण देवता के बिना संभव न था। कोई भी शुभ-कर्म गृह-प्रवेश, तीर्थयात्रा, मदिर निर्माण या नीव डालना, सन्तति-लाभ के लिए यज्ञ, व्रत, पूजा-पाठ, गगा स्नान ब्राह्मण और पुरोहित द्वारा ही सपन्न हो सकता था। जीवन की समस्त धार्मिक उपलब्धियाँ मंत्र-ज्ञान, देवतुष्टि आदि ब्राह्मणों के ही आधीन थी। पडो-पुजारियो का महत्व यहाँ तक बढ़ चला था कि वे साक्षात् ईश्वर के ही प्रतिद्वंद्वी हो चले थे। उन्हे तुष्ट करके लोग देवता को तुष्ट करने का-सा आनन्द और लाभ मानते थे। इस प्रकार की धार्मिक रूढ़ियो तथा उनके पालन की अनिवार्यता और पंडे-पुजारियो और ब्राह्मणों को दिये जाने वाले पुजापे के कारण हिन्दुओ की बुरी दशा थी। पडे-पुजारी उनके समस्त धार्मिक कृत्यो पर चारो ओर छाए हुए थे। ये लोग धर्म-तत्व की शिक्षा देने के बजाय सर्वसाधारण के लिए अभिशाप-स्वरूप थे। लोगों को न धर्म का न धर्म के इतिहास का ही ज्ञान था, और न धर्म के शाश्वत रूप से ही वे परिचित थे। ब्राह्मणो ने बता रक्खा था कि समाज इसी ढंग से, इन्ही धार्मिक कृत्यो को करता हुआ सनातन काल से चला आ रहा है तथा हर रीति-रस्म की उत्पत्ति देवताओ से ही हुई है। उन्हें विश्वास था कि नीलाकाश के पीछे ही स्वर्ग और नरक है तथा वही से बैठा हुआ परमात्मा सृष्टि का संचालन किया करता है। ब्राह्मणो और पशुओ को भोजन देना पुण्य है। अतिम अवस्था में काशीवास से स्वर्ग मिलता है आदि बातें ब्राह्मणों ने ही उनके हृदय में जमा रक्खी थी।

हिंदुओं की धार्मिक प्रवृत्ति एवं विश्वास—धर्मप्राण हिंदू स्वभाव से ही दयाशील थे। वे हत्या और हिंसा, शिकार या पर-पीडन से दयार्द्र हो उठने

वाले प्राणी थे, रक्त-पात के दृश्य नही देख सकते थे । मासादि का सेवन नही कर सकते थे, गोमास का देखना या छूना तथा गोहत्या आदि का प्रायश्चित वे दीर्घकाल तक किया करते थे । मनुष्य क्या प्राणिमात्र के पुनर्जन्म मे उनकी आस्था थी । उनका जीवन सरल था, इच्छाएँ बहुत नही थी, धर्माचारपूर्ण जीवन-यापन करते हुए स्वर्ग पहुँचना उनकी अभिलाषा रहती थी । ऐसी धार्मिक वृत्ति वालो को शास्त्रो और धर्मतत्व का ज्ञान न होने के कारण ब्राह्मणो की सहायता, परामर्श और आदेश का मुखापेक्षी रहना पडता था और ब्राह्मण जो कुछ कहते उसे आँख मूँद कर पालन करने को वे उद्यत रहते थे । जहाँ वे लोग ईश्वर को अनादि, अनत, अजर, अमर, मानते थे वही उसके सगुण रूपो, विविध देवी-देवताओ की पूजा अर्चा मे भी विश्वास रखते थे । किसी सीमा तक राम-कृष्ण आदि के जीवन की नकल उपस्थित करके वे लोग धर्म के द्वारा आह्लाद का भी अनुभव कर लिया करते थे । वार्षिक रामलीला, कृष्ण जन्म की झाँकियाँ, पर्वों एव उत्सवो पर कथा-कीर्तन, सूर और मीरा के पदो का गायन, मानस पाठ आदि से उनकी धर्म-वृत्ति को पूर्ण परितृप्ति और तोष मिलता था । मुसलमान भी अपने पीरो की मजारो पर होने वाली उर्सो मे गजलो और कव्वालियो द्वारा अपनी भक्ति और ईश्वर-निष्ठा व्यक्त किया करते थे । भगवद् लीलाओ का यह मनोहर दर्शन और गायन उनके विपद-ग्रस्त जीवन में किसी तरह सरसता और जीवनाभिलाष जगाए रखता था और इससे उत्पन्न स्फूर्ति और उल्लास के बल पर वे अपने जीवन के संकटो को भुला दिया करते थे ।

धर्म का ह्रास और अधःपतन—ऊपर के पर्यवेक्षण के आधार पर यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि इस युग का धर्म अगतिक, गदा और अतिशय ह्रासग्रस्त था । उदात्त भावों का लोप, मानसिक एव हार्दिक अःधपतन के लक्षण उसमे स्पष्ट थे । लोगो की थोडी-बहुत तुष्टि उससे भले ही होती रही हो किन्तु था वह ह्रासोन्मुख ही । धर्म से भव्यता और मानवता तिरोहित हो चुकी थी, वह शोषण का भी एक साधन था । शास्त्रज्ञ पंडित, मदिरो और तीर्थस्थानो के पडे-पुजारी, पुरोहित-ज्योतिषी, गुरुओं आदि को जनता के अज्ञान के कारण ही पर्याप्त आर्थिक लाभ हुआ करता था । बहुत से मठ और मदिर अर्थ-वैभव की खान हो चले थे । काशी, प्रयाग, और मथुरा पडित, पण्डो और महतो के बडे-बडे केन्द्र थे । इस प्रकार के रूढिग्रस्त धर्म को धनिक वर्ग का भी प्रश्रय मिला । तत्कालीन सम्पन्न वर्ग धर्म के प्रस्तुत रूप को बनाए रखने मे पूरा विश्वास रखता था क्योकि ऐसे अवे धर्म की बदौलत ही उनका धन-वैभव और भोग-विलास सुरक्षित रह सकता था जो यह सिखलाता है कि प्राणिमात्र का सुख-दुख, सपन्नता-दरिद्रता उसके अपने ही कर्मों का भोग है । ऐसे धर्म को मान्यता देने से ही सम्पन्न वर्ग की सम्पन्नता अक्षुण्ण रह सकती थी ।

समग्र रूप से देखने पर पता चलता है कि इस युग मे धर्म का कोई उदार

रूप सामने नही लाया जा सका क्योंकि यह भोग-विलास तथा शोषण और दमन का युग था। समाज मानसिक, बौद्धिक, चारित्रिक सभी प्रकार के ह्रास की स्थिति से गुज़र रहा था। धर्म मनुष्य के नैतिक स्तर को उन्नत करता है, जनता को जीवन की विपदाओ से लोहा लेने की शक्ति प्रदान करता है किन्तु इस युग का धर्म ऐसा कुछ करने के बजाय सामतो और सर्वसाधारण दोनो को गड्ढे मे ढकेल रहा था। इस युग के धर्म का उदात्त रूप थोडा-बहुत निर्गुण धारा के सन्तो मे ही लक्षित होता है अन्यथा तो वह सब प्रकार की रूढियो, अधविश्वासो, आडबरो और विकृतियो का आग लगा देने लायक घूरा हो रहा था। लोग चली आती हुई परपराओ और तथाकथित धर्म-नेताओं द्वारा बताए गए गदे नियमो की शृङ्खला मे बँधकर चलने मे ही धर्म का निर्वाह मानते थे। जीर्ण-शीर्ण प्रथाओ और अधविश्वासो पर आधारित इस युग का धर्म राजनीतिक दुरवस्था के कारण और भी दूषित हो उठा था। वह जीवन की धारा को गतिशील बनाने के बजाय उसे पकिल कर रहा था।

हालाँकि हिन्दू समाज धर्म की दृष्टि से विभिन्न सप्रदायो मे विभक्त था फिर भी यह विभाजन उतना कठोर न था। एक के प्रभाव दूसरे पर पड रहे थे। उनके सामान्य विश्वास बहुत कुछ एक-से थे उदाहरण के लिए निर्गुण की सत्ता और ईश्वर की एकता की स्वीकृति, पाप-पुण्य कर्मों के अनुसार नर्क-स्वर्ग की प्राप्ति, पुनर्जन्म, आत्मा की अमरता, वेदो का महत्व आदि। इन सप्रदायो मे पारस्परिक विभेद होते हुए भी तीव्र वैमनस्य न था और सभी संप्रदाय वाले अपने-अपने ढंग से जीवन-यापन कर रहे थे।

निष्कर्ष—निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि रीतियुगीन धर्म स्वस्थ और नवजात तथा उन्नत करने वाले विचारो से रिक्त, थोथा, रूढ़िवादी, पंडे-पुजारियो को महत्व देने वाला, अज्ञान और अधविश्वास पर आधारित एक अगतिक धर्म था जिसमें धर्म की शाश्वत और पवित्र मान्यताओं का कही स्थान न था। धर्म मे जीवन की शक्ति न रह गई थी। उसमे स्वस्थ दार्शनिक विचारो का प्रवेश न था। लोगो में धर्म की वास्तविक प्रवृति तो ऐसी स्थिति मे सभव भी न थी किन्तु धर्म-भीरुता अवश्य आ गई थी। सामंत लोग विशेष कर सपन्न हिंदू वर्ग ऐहिकता और परलोक-भय की द्विविधा मे झूल रहा था। विलासियो के लिए धर्म का शृङ्गारमूलक रूप ही विशेष प्रयोजनीय था और सर्वसाधारण के लिए धर्म आर्थिक शोषण का एक दूसरा भीषण यंत्र बना हुआ था। जीते हुए भी यह धर्म मृतक-सा ही था जिससे पाप और दुर्गति की सड़ाध आ रही थी। ऐसे दूषित धर्म के कारण साहित्य में भी नवीन और जीवंत चेतना की अपेक्षा रूढि-प्रियता, भोग-भावना आदि का ही आधिक्य रहा और सर्वसाधारण की दुर्दशा का चित्र अंकित कर उनके प्रति सहानुभूति और समवेदना जगाने वाले साहित्य का सृजन न हो सका। लोग आत्म-केन्द्रित और आत्मसुख-व्यंजक साहित्य के सृजन में ही दत्त-चित्त रहे।

नामकरण और वर्गीकरण

रीतिकाल का नामकरण

विभिन्न मत :—हिन्दी साहित्य के मध्ययुग (सं० १७००-१९००) के नामकरण के सम्बन्ध मे हिन्दी मे कोई विवाद नही चला, हाँ थोडा मतभेद अवश्य रहा है और वह अभी भी बना हुआ है। सर्वप्रथम इस युग का नामकरण मिश्रबन्धुओं ने किया। उन्होने आज से लगभग ५० वर्ष पहले सं० १९७० मे इस काल को 'अलंकृत काल' कहा था तथा इस युग के भी दो भाग कर उन्हे 'पूर्वालकृत हिन्दी' और 'उत्तरालकृत हिन्दी' नाम दिये।[1] इसके १६ वर्ष बाद सवत् १९८६ मे अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास मे प० रामचन्द्र शुक्ल ने इस युग का नाम 'रीतिकाल' रक्खा। दो वर्ष बाद सं० १९८८ मे अपने इतिहास मे प० राम शङ्कर शुक्ल 'रसाल' ने इस युग को 'काव्य-कला-काल' नाम दिया। स० १९९९ मे 'वाङ्मय विमर्श' मे प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने उत्तर मध्य काल को 'श्रृङ्गार काल' नाम से अभिहित किया। वे अपने इस नाम के पक्ष मे उत्तरात्तर अधिक दृढमत होते गये है तथा बिहारी, घनानन्द ग्रन्थावली और हिन्दी साहित्य का अतीत भाग-२ 'श्रृङ्गार काल' नामक ग्रन्थो मे उन्होने 'श्रृङ्गारकाल' नाम के औचित्य पर अपना अभिमत विस्तार के साथ व्यक्त किया है और कहा है कि अनेक दृष्टियो से 'श्रृङ्गार काल' नाम ही अधिक उपयुक्त है अतएव 'रीतिकाल' की जगह इस नाम के प्रचलन की अपेक्षा है। उत्तर मध्ययुग के काव्य मे अलंकरण या अलंकार शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थो की प्रचुरता के कारण तथा काव्य के कलापक्ष के प्रति कवियो के विशेषाग्रह के कारण ही मिश्रबन्धुओ तथा डा० रसाल ने 'अलंकृतकाल' या 'काव्य कलाकाल'[2] नाम सुझाए थे किन्तु इन आलोचको ने अपने दिये हुए नामो के प्रति किसी प्रकार का आग्रह नही प्रदर्शित किया है साथ ही रीति और श्रृङ्गारिकता को इस युग के काव्य की प्रधान प्रवृत्ति ठहराते हुए 'रीति' शब्द का भी इस काल, कवि तथा काव्य के साथ प्रयोग किया है। उपर्युक्त सभी नामों मे 'रीतिकाल' नाम का प्रचलन

---

[1]देखिये 'मिश्रबन्धु विनोद अथवा हिन्दी साहित्य का इतिहास तथा कवि कीर्तन' (प्रथम भाग) लेखक गणेश बिहारी मिश्र, श्याम बिहारी मिश्र, शुकदेव बिहारी मिश्र। प्रकाशक—हिन्दी ग्रन्थ प्रसारक मण्डली, खण्डवा व प्रयाग (स० १९७०)।

[2]'कलाकाल से तात्पर्य उस काल से है जिसमे हिन्दी-क्षेत्र मे काव्य को कलापूर्ण किया गया अर्थात उसमे काव्य के चमत्कृत रूप एवं चातुर्यपूर्ण गुणो को ध्यान में रखकर रचनाएँ की गई और साथ ही काव्य की कला के नियमोपनियमो से सम्बन्ध रखने वाले रीति या लक्षण ग्रन्थो की रचना हुई।'—डा० रसाल। साहित्यप्रकाश, सन् १९३१ (इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग) पृ. ११४।

सबसे अधिक हुआ। रीति शास्त्र और काव्य के प्रसिद्ध मर्मज्ञ डा० नगेन्द्र ने भी 'रीति काल' नामक अभिधा के प्रति अपना मत प्रकट किया है।

अब प्रश्न यह है कि औचित्य की दृष्टि से कौन-सा नाम उपयुक्त है और ग्राह्य होना चाहिये। इस युग का नाम 'रीतिकाल' रखते हुए भी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने नामकरण के कारणों की चर्चा नही की है किंतु उनके इतिहास से आप नामकरण के कारणो तक अवश्य पहुँच सकते है। उन्होंने साहित्य के इतिहास के विभिन्न कालों की रचनाओं की विशेष प्रवृत्ति के अनुसार उनका नामकरण किया है। उत्तर मध्यकाल को 'रीतिकाल' कहने का कारण यही जान पडता है कि इस काल मे रीतिग्रन्थो अर्थात रस-अलंकार आदि काव्यागों अथवा काव्य-रीति का निरूपण करने वाले ग्रन्थो की परम्परा-सी चल पडी। यही उनकी दृष्टि मे इस युग के काव्य की व्यापक प्रवृत्ति रही है। काव्याग-निरूपक लक्षण-ग्रन्थो को आचार्य शुक्ल ने 'रीति ग्रन्थ' की संज्ञा दी है। 'रीति' शब्द सस्कृत मे एक काव्य सम्प्रदाय विशेष का वाचक था जिसके प्रवर्तक आचार्य वामन थे। उन्होने एक विशिष्ट प्रकार की पद रचना को 'रीति' कहा और उसे ही काव्य की आत्मा करार दिया। हिन्दी में रीति शब्द कुछ स्वतन्त्र अर्थ रखता था। उसका आशय था पन्थ या मार्ग, शैली या पद्धति। इन अर्थों मे यह शब्द रीतिकाल में बराबर व्यवहृत होता रहा है—

क—रीति सु भाषा कवित की बरनत बुध अनुसार। (चिंतामणि)

ख—छन्द रीति समुझै नही बिन पिंगल के ज्ञान। (सोमनाथ)

ग—अपनी-अपनी रीति के काव्य और कवि रीति (देव)

घ—सो विश्रब्ध-नवोढ़ यो बरनत कवि रसरीति। (मतिराम)

ङ—काव्य की रीति सिखी सुकबीन सों देखी सुनी बहुलोक की बातैं। (भिखारीदास)

च—थोरे क्रम क्रमते कही अलकार की रीति। (दूलह)

छ—कवित रीति कछु कहत हौ व्यग अर्थ चित लाय। (प्रतापसाहि)

इस प्रकार स्पष्ट है कि काव्य-पन्थ या काव्य-विधान के अर्थ मे यह शब्द भाषा काव्य परम्परा में प्रयुक्त होता रहा है। आचार्य शुक्ल ने 'रीति' शब्द को एक काव्य युग और काव्य परम्परा का बोधक बनाकर इस शब्द को नई अर्थमत्ता प्रदान की।[1] 'रीति शास्त्र' शब्द काव्य के किसी भी अंग को लेकर लिखे गए काव्य शास्त्र

[1] संस्कृत मे 'रीति' शब्द का व्यवहार ऐसे व्यापक अर्थ मे नही होता, पर 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' मे 'रीति' शब्द का प्रयोग रस, अलंकार, पिंगल आदि काव्यांगों के लिए किया गया है जिसे हिन्दी काव्य परम्परा का मान्य अर्थ समझना चाहिये। 'रीति' वस्तुतः 'काव्य रीति' का संक्षिप्त रूप है। (काव्य की रीति सीखी सुकबीनसों देखी सुनी बहुलोक की बाते)—पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : शृङ्गार काल (सं० २०१७), पृ० ३५४।

या अलङ्कार शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ का वाचक हो गया 'रीति-काव्य' शब्द काव्य-शास्त्रीय नियमो से बद्ध काव्य रचना का सूचक हो गया और रीति-काल उस युग विशेष का बोधक हो गया जिसमें 'रीतिग्रन्थ' और 'रीतिकाव्य' लिखा गया। 'रीति' शब्द मे आचार्य वामन द्वारा निर्दिष्ट 'विशिष्ट पदरचना' तथा 'काव्य-पथ' और 'काव्य विधान' वाले प्रचलित अर्थ भी किसी न किसी रूप मे निहित रहे। यह बात सभी को मान्य हुई कि 'रीतिकाव्य' मे काव्य के साधन पक्ष या बाह्याकार पर विशेष जोर दिया जाता है और वह एक खास ढर्रे पर की गई रचना होती है। इस प्रकार 'रीति शब्द' को एक विशेष काव्य युग और काव्य पद्धति का वाचक बना कर शुक्लजी ने अनोखी सूझ-बूझ का परिचय दिया इसमें सन्देह नही। डा० नगेन्द्र ने शुक्ल जी द्वारा दिये गए नाम 'रीतिकाल' के अर्थ और अभिप्राय से पूर्ण सहमति प्रकट करते हुए इस नाम के प्रयोग का पूर्ण समर्थन किया है।[1]

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का मत—आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र औचित्य के विचार से 'उत्तर मध्य युग' को 'रीतिकाल' की अपेक्षा 'श्रृङ्गार-काल' की अभिधा देने के पक्ष मे है। इस बात की घोषणा उन्होंने लगभग २३ वर्ष पहले की थी[2] तथा इस विषय पर वे ज्यो-ज्यो उत्तरोत्तर विचार करते गए हैं उनका मत अधिकाधिक दृढ़तर होता गया है। अब तो वे अपने प्रस्तावित नाम के पक्ष में अत्यन्त दृढमत है यहाँ तक कि लगभग तीन दशाब्दियो के बीच किये गये रीतियुगीन

---

[1]'हिन्दी मे रीति का प्रयोग साधारणतः लक्षण ग्रन्थो के लिये होता है। जिन ग्रन्थो में काव्य के विभिन्न अगो का लक्षण उदाहरण सहित विवेचन होता है उन्हे रीतिग्रन्थ कहते है और जिस वैज्ञानिक पद्धति पर, जिस विधान के अनुसार यह विवेचन होता है उसे रीतिशास्त्र कहते है।........यहाँ काव्य रचना सम्बन्धी नियमो के विधान को ही समग्रतः रीति नाम दे दिया गया है। जिस ग्रन्थ में रचना सम्बन्धी नियमों का विवेचन हो वह रीति ग्रन्थ और जिस काव्य की रचना इन नियमो से आबद्ध हो वही रीतिकाव्य है। स्वभावतः इस काव्य में वस्तु की अपेक्षा रीति अथवा आकार की, आत्मा के उत्कर्ष की अपेक्षा शरीर के अलंकरण की प्रधानता मिलती है।........उनसे (शुक्लजी से) पूर्व रीति शब्द का स्वरूप निश्चित और व्यवस्थित नही था। ऐसे लक्षणग्रन्थो के लिए भी जिनमे रीति कथन तो नही है, परन्तु रीति बन्धन निश्चित रूप से है, रीति सज्ञा शुक्ल जी से पहले अकल्पनीय थी।..........उनके विधान मे जिसने रीतिग्रन्थ रचा हो, केवल वही रीति कवि नही है वरन् जिसका काव्य के प्रति दृष्टिकोण रीतिबद्ध है वह भी रीति कवि है।'

—रीतिकाव्य की भूमिका (सन् १९५३) पृ० १२९-३०।

[2]वाङ्मय विमर्श (सं० १९९९) पृ० २८६-८७।

सबसे अधिक हुआ। रीति शास्त्र और काव्य के प्रसिद्ध मर्मज्ञ डा० नगेन्द्र ने भी 'रीति काल' नामक अभिधा के प्रति अपना मत प्रकट किया है।

अब प्रश्न यह है कि औचित्य की दृष्टि से कौन-सा नाम उपयुक्त है और ग्राह्य होना चाहिये। इस युग का नाम 'रीतिकाल' रखते हुए भी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने नामकरण के कारणो की चर्चा नही की है किंतु उनके इतिहास से आप नामकरण के कारणो तक अवश्य पहुँच सकते है। उन्होने साहित्य के इतिहास के विभिन्न कालो की रचनाओं की विशेष प्रवृत्ति के अनुसार उनका नामकरण किया है। उत्तर मध्यकाल को 'रीतिकाल' कहने का कारण यही जान पडता है कि इस काल में रीतिग्रन्थो अर्थात रस-अलकार आदि काव्यागो अथवा काव्य-रीति का निरूपण करने वाले ग्रन्थो की परम्परा-सी चल पड़ी। यही उनकी दृष्टि मे इस युग के काव्य की व्यापक प्रवृत्ति रही है। काव्याग-निरूपक लक्षण-ग्रन्थो को आचार्य शुक्ल ने 'रीति ग्रन्थ' की संज्ञा दी है। 'रीति' शब्द सस्कृत मे एक काव्य सम्प्रदाय विशेष का वाचक था जिसके प्रवर्तक आचार्य वामन थे। उन्होने एक विशिष्ट प्रकार की पद रचना को 'रीति' कहा और उसे ही काव्य की आत्मा करार दिया। हिन्दी मे रीति शब्द कुछ स्वतन्त्र अर्थ रखता था। उसका आशय था पन्थ या मार्ग, शैली या पद्धति। इन अर्थों में यह शब्द रीतिकाल मे बराबर व्यवहृत होता रहा है—

क—रीति सु भाषा कबित की बरनत बुध अनुसार। (चिंतामणि)

ख—छन्द रीति समुझै नही बिन पिंगल के ज्ञान। (सोमनाथ)

ग—अपनी-अपनी रीति के काव्य और कवि रीति (देव)

घ—सो विश्रब्ध-नवोढ़ यो बरनत कवि रसरीति। (मतिराम)

ङ—काव्य की रीति सिखी सुकबीन सो देखी सुनी बहुलोक की बातै। (भिखारीदास)

च—थोरे क्रम क्रमते कही अलकार की रीति। (दूलह)

छ—कवित रीति कछु कहत हौ व्यग अर्थ चित लाय। (प्रतापसाहि)

इस प्रकार स्पष्ट है कि काव्य-पन्थ या काव्य-विधान के अर्थ मे यह शब्द भाषा काव्य परम्परा में प्रयुक्त होता रहा है। आचार्य शुक्ल ने 'रीति' शब्द को एक काव्य युग और काव्य परम्परा का बोधक बनाकर इस शब्द को नई अर्थमत्ता प्रदान की।[1] 'रीति शास्त्र' शब्द काव्य के किसी भी अंग को लेकर लिखे गए काव्य शास्त्र

संस्कृत में 'रीति' शब्द का व्यवहार ऐसे व्यापक अर्थ में नही होता, पर 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में 'रीति' शब्द का प्रयोग रस, अलंकार, पिंगल आदि काव्यांगों के लिए किया गया है जिसे हिन्दी काव्य परम्परा का मान्य अर्थ समझना चाहिये। 'रीति' वस्तुतः 'काव्य रीति' का संक्षिप्त रूप है। (काव्य की रीति सीखी सुकबीनसों देखी सुनी बहुलोक की बातै)—प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : शृङ्गार काल (सं० २०१७), पृ० ३५४।

या अलङ्कार शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ का वाचक हो गया 'रीति-काव्य' शब्द काव्य-शास्त्रीय नियमो से बद्ध काव्य रचना का सूचक हो गया और रीति-काल उस युग विशेष का बोधक हो गया जिसमें 'रीतिग्रन्थ' और 'रीतिकाव्य' लिखा गया। 'रीति' शब्द मे आचार्य वामन द्वारा निर्दिष्ट 'विशिष्ट पदरचना' तथा 'काव्य-पथ' और 'काव्य विधान' वाले प्रचलित अर्थ भी किसी न किसी रूप मे निहित रहे। यह बात सभी को मान्य हुई कि 'रीतिकाव्य' मे काव्य के साधन पक्ष या बाह्याकार पर विशेष जोर दिया जाता है और वह एक खास ढर्रे पर की गई रचना होती है। इस प्रकार 'रीति शब्द' को एक विशेष काव्य युग और काव्य पद्धति का वाचक बना कर शुक्लजी ने अनोखी सूझ-बूझ का परिचय दिया इसमें सन्देह नही। डा० नगेन्द्र ने शुक्ल जी द्वारा दिये गए नाम 'रीतिकाल' के अर्थ और अभिप्राय से पूर्ण सहमति प्रकट करते हुए इस नाम के प्रयोग का पूर्ण समर्थन किया है।[1]

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का मत—आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र औचित्य के विचार से 'उत्तर मध्य युग' को 'रीतिकाल' की अपेक्षा 'शृङ्गार-काल' की अभिधा देने के पक्ष मे हैं। इस बात की घोषणा उन्होंने लगभग २३ वर्ष पहले की थी[2] तथा इस विषय पर वे ज्यों-ज्यो उत्तरोत्तर विचार करते गए है उनका मत अधिकाधिक दृढतर होता गया है। अब तो वे अपने प्रस्तावित नाम के पक्ष मे अत्यन्त दृढमत है यहाँ तक कि लगभग तीन दशाब्दियो के बीच किये गये रीतियुगीन

---

[1]हिन्दी मे रीति का प्रयोग साधारणतः लक्षण ग्रन्थों के लिये होता है। जिन ग्रन्थो में काव्य के विभिन्न अंगों का लक्षण उदाहरण सहित विवेचन होता है उन्हें रीतिग्रन्थ कहते है और जिस वैज्ञानिक पद्धति पर, जिस विधान के अनुसार यह विवेचन होता है उसे रीतिशास्त्र कहते है।.........यहाँ काव्य रचना सम्बन्धी नियमो के विधान को ही समग्रतः रीति नाम दे दिया गया है। जिस ग्रन्थ में रचना सम्बन्धी नियमों का विवेचन हो वह रीति ग्रन्थ और जिस काव्य की रचना इन नियमो से आबद्ध हो वही रीतिकाव्य है। स्वभावतः इस काव्य में वस्तु की अपेक्षा रीति अथवा आकार की, आत्मा के उत्कर्ष की अपेक्षा शरीर के अलंकरण की प्रधानता मिलती है।.........उनसे (शुक्लजी से) पूर्व रीति शब्द का स्वरूप निश्चित और व्यवस्थित नही था। ऐसे लक्षणग्रन्थो के लिए भी जिनमे रीति कथन तो नही है, परन्तु रीति बन्धन निश्चित रूप से है, रीति सज्ञा शुक्ल जी से पहले अकल्पनीय थी।..........उनके विधान मे जिसने रीतिग्रन्थ रचा हो, केवल वही रीति कवि नही है वरन् जिसका काव्य के प्रति दृष्टिकोण रीतिबद्ध है वह भी रीति कवि है।'

—रीतिकाव्य की भूमिका (सम् १९५३) पृ० १२६-३०।

[2]वाङ्मय विमर्श (सं० १९९९) पृ० २८६-८७।

काव्य के अध्ययन के आधार पर उन्होने जिस ग्रन्थ का प्रणयन 'हिन्दी साहित्य का अतीत, भाग २' नाम से किया है उसका अपर नाम 'शृङ्गारकाल' रक्खा है।' "शृङ्गार काल' नाम की ग्राह्यता के पक्ष मे उनके कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उनका मत है कि साहित्य के किसी काल के नामकरण के अनेक आधार हो सकते है उदाहरण के लिए कृति, कर्ता, विषय, पद्धति आदि किन्तु किसी साहित्यकाल के नामकरण की उपयुक्तता के दो तत्व प्रधान होगे, एक सर्वसामान्य या व्यापक प्रवृत्ति की बोधकता दूसरे अन्तर्विभाग का सुभीता। साहित्य के किसी काल विशेष की सर्वसामान्य प्रवृत्ति का बोध उस काल विशेष मे प्रस्तुत ग्रन्थराशि के बाहुल्य से हो सकता है उसकी समस्तता से नही। एक ही काल मे कुछ प्रवृत्तियाँ पूर्ववर्ती युग की चलती रहती है और कुछ आगत युग की भी सामने आती है इसलिए युग विशेष की व्यापक प्रवृत्तियो का स्वरूप बाहुल्य के ही आधार पर निर्दिष्ट किया जा सकता है।

कृति, कर्ता और पद्धति की अपेक्षा किसी युग विशेष मे उस युग के साहित्य का प्रधान वर्ण्य विषय ही नामकरण का सर्वथोपयुक्त आधार होता है। वर्ण्य के भी दो पक्ष हो जाते है—एक बाह्य दूसरा आभ्यतर। भारतीय दृष्टि से साहित्य का आभ्यंतर प्रतिपाद्य भाव या रस होता है। हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल में रीति अर्थात् अलकार, नायिकाभेद, शब्द-शक्ति, पिंगल आदि बाह्य वर्ण्य हैं तथा शृङ्गार आभ्यतर वर्ण्य। रीति-काल मे प्रणीत लगभग समस्त रचनाओ में न्यूनाधिक रूप मे शृङ्गार सर्वत्र व्याप्त है, इसी कारण इस काल का नाम 'शृङ्गारकाल' होना चाहिए। रीति के कवियो के काव्याग-विवेचन के उदाहरण अधिकांशतः शृङ्गार के रहे। जिन्होंने रीति से बँधकर रचना नही की (उदाहरण के लिए बिहारी या घनानन्द, बोधा, ठाकुर आदि) उनके काव्य का भी मुख्य वर्ण्य शृङ्गार ही रहा। रीति के रचयिता भी अधिकतर काव्य-शास्त्र के समर्थ आचार्य नही थे। इससे भी पता चलता है कि इन्होने रीति का पल्ला केवल सहारे के लिए ही पकडा था वैसे ये कहना शृङ्गार ही चाहते थे। इसी कारण रस नायिका भेद, नखशिख, षट्ऋतु, बारहमासा आदि सम्बन्धी ग्रन्थ ही विशेषतः प्रणीत हुए। शब्द-शक्ति और ध्वनि ऐसे गम्भीर विषयों की ओर लोग कम गए। अलकारो से सम्बन्धित रीति-ग्रन्थ पर्याप्त परिमाण में तैयार किये गए परन्तु उनका कथितव्य प्रधानतः शृङ्गार ही रहा। उस समय की परिस्थितियाँ अर्थात् दरबारी वातावरण और वह काव्य भी, जिसकी प्रतिद्वद्विता में भाषा-कवियो को अपना करतब दिखलाना पड़ता था, शृङ्गारमय ही था; इसके कारण भी काव्य शृङ्गारी ही हुआ करता था।

'रीतिकाल' नाम देने से आलम, ठाकुर, घनानन्द, बोधा, द्विजदेव ऐसे काव्योत्कर्ष मे अद्वितीय शृङ्गारी कवियो को खींचकर फुटकल खाते मे झोकना पड़ा क्योकि 'रीति' की सीमा मे ये कवि न समा सके। रीति नाम देने से लोगो को यह बात

स्वीकार करनी पडी कि इसके विभाजन का कोई मार्ग अभी मिल नही रहा । 'रीति' नाम देने से यदि उप-विभाग का मार्ग मिला भी तो अत्यंत संकीर्ण । इस प्रकार किसी भी दृष्टि से विचार करने पर अलंकृत काल या रीतिकाल नामो में अपेक्षित व्याप्ति का अभाव है । ऐसी दशा मे इन नामो के हटाने और 'शृगार काल' नाम के स्वीकार करने की स्पष्ट अपेक्षा है । यह ध्यान देने की बात है कि 'शृङ्गार' शब्द मे इस युग के काव्य की सजावट का अलकरण के व्यापक स्वरूप का भी सकेत मिलता है ।

निष्कर्ष—हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल मे लगभग सभी पूर्ववर्तिनी काव्य धाराएँ प्रवाहित होती रही तथा निर्गुण और सगुण उपासना की सन्त और सूफी तथा राम और कृष्ण भक्ति धाराएँ और वीर गाथा काल की वीर काव्य धारा तथा अभिनव नीति काव्य धाराओं मे भी पर्याप्त परिमाण मे कवि-समाज ने योग दिया । मात्रा या परिमाण की दृष्टि से उक्त धाराओ के अन्तर्गत लिखित साहित्य कम नही है जैसा कि अन्यत्र दिये गए विवरणो से विदित होगा फिर भी यह तो मानना ही पडेगा कि सबसे अधिक प्राणवान साहित्य 'शृङ्गार धारा' का ही है । बडे-बडे काव्य-शास्त्र के पडितो का शास्त्रचिंतन कच्चा, हल्का और शिथिल है । हाँ, शृङ्गारी रचना मे कवि अवश्य एक से एक बढकर हुए और इस दिशा मे उन्होने अपनी अच्छी गति का परिचय दिया है । शृङ्गार की प्रवृत्ति इस युग मे इतनी प्रबल और व्यापक हुई कि रीति ग्रन्थ तो रीति ग्रन्थ रामभक्ति और कृष्णभक्ति प्रधान रचनाओं मे भी शृङ्गारिकता का प्राधान्य हो चला । सूफी तो प्रेम-भावना को लेकर चलते ही हैं तथा सतो मे भी शृङ्गार की झलक जहाँ-तहाँ मिलती है । वीरकाव्य प्राचीन परम्परा का अवशेष है तथा नीति काव्य समयुगीन सामाजिक चेतना का क्षीण प्रतिबिम्ब । जो हो यह बात निर्विवाद है कि इस युग के काव्य की सर्वाधिक व्यापक और प्रबल प्रवृत्ति या सर्वप्रधान वर्ण्य शृङ्गार था । रीति की प्रचुरता थी किन्तु उसकी गुणात्मक शक्ति-मत्ता सदिग्ध है फिर 'रीति' सज्ञा के चलन से अनेक समर्थ कवियो को 'रीति' की महत्वपूर्ण सीमा से बहिष्कृत करना पडता है । ऐसी स्थिति मे 'शृङ्गार काल' नाम का स्वीकरण ही बुद्धिसंगत है । 'शृङ्गार काल' नाम स्वीकार कर लेने से रीतिमुक्त अनेक महत्वशाली कवि अपना उचित स्थान प्राप्त कर लेगे और काल के उपविभाग का मार्ग भी अनवरुद्ध हो जायगा । फिर वीर-काल, भक्ति-काल ऐसे आभ्यतर वर्ण्य के सूचक नामो का मेल भी 'शृङ्गार काल' नाम से अच्छी तरह बैठ जायगा । 'रीति-काल' नाम उक्त क्रम में बेमेल बैठता है । यह पहले ही कह चुके हैं कि 'शृङ्गार काल' नाम उत्तर मध्ययुगीन समस्त प्रवृत्तियो का बोधक नही फिर भी वह सर्वप्रधान और सर्वव्यापक प्रवृत्ति का निश्चय ही बोध कराता है । वर्ण्यगत प्रवृत्ति की समस्तता के आधार पर किसी साहित्यिक युग का नामकरण असम्भव है इसलिए प्रवृत्ति विशेष की

सशक्तता और व्यापकता ही वह आधार हो सकती है जिस पर किसी युग का नाम रक्खा जा सकता है। अलकृत काल, कला काल, रीति काल ऐसे वाह्यार्थ या वर्णित प्रणाली सूचक नामो मे वह व्याप्ति, गरिमा और प्रवृत्तिद्योतन-सामर्थ्य और काव्य के आभ्यतर प्रयोजन की व्यजना नही है जो 'शृङ्गार काल' नाम मे है। इसलिए आग्रहमुक्त हो कर हिन्दी के विद्वानो को इस नाम को स्वीकार करना चाहिये। 'रीति शृङ्गार काल' ऐसे समन्वयात्मक नाम समस्या को उलझाने वाले ही है। सुलझाने वाले नहीं।

रीतियुगीन काव्य का वर्गीकरण

रीति या शृङ्गार काल (स० १७००-१९००) मे लिखित समस्त उपलब्ध साहित्य का वर्ण्य अथवा विषय के अनुसार विभाजन पहली बार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास मे चलते हुए ढग से कर दिया था। ३२ वर्ष बाद आज हिन्दी साहित्य के वृहद् इतिहास (षष्ठ भाग सम्पादक डा० नगेन्द्र) मे भी हम इस विभाजन को लगभग ज्यो का त्यो पाते है। उन्होने रीति ग्रन्थो की रचना को इस युग के साहित्य की प्रधान एव प्रतिनिधि प्रवृत्ति मान कर इस काल का नामकरण भी 'रीतिकाल' किया था। इतर प्रवृत्तियो को गौण ठहराते हुए उन्होने उनका विवरण एक भिन्न प्रकरण मे दिया। शुक्ल जी का वर्गीकरण इस प्रकार है :—

(१) रीति ग्रन्थकार कवि—जिन्हे रीतिकाल का प्रतिनिधि कवि कह सकते है।

(२) रीतिकाल के अन्य कवि—जिन्होने रीति ग्रन्थ न लिखकर दूसरे प्रकार की पुस्तके लिखी।

इस दूसरे ढग के कवियो की कविता को उन्होने सात वर्गों मे विभक्त किया है[1] :—

पहला वर्ग—शृङ्गारी कवियो अथवा शृङ्गार रस के फुटकल पद्य लिखने वालो का।

दूसरा वर्ग—प्रबन्ध काव्य या कथात्मक प्रबन्ध लिखने वालो का।

तीसरा वर्ग—वर्णनात्मक प्रबन्ध लिखने वालो का।

चौथा वर्ग—नीति के फुटकल पद्य कहने वालो का।

पाँचवाँ वर्ग—ज्ञानोपदेशकों का जो ब्रह्मज्ञान और वैराग्य की बाते पद्य में कहते थे।

छठाँ वर्ग—भक्त कवियों का जिन्होंने भक्ति और प्रेमपूर्ण विनय के पद आदि पुराने भक्तों के ढग पर गाए हैं।

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास : प० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २९७-२९९।

सातवाँ वर्ग—आश्रयदाताओं की प्रशसा मे वीर-रस की फुटकल कविताएँ लिखने वालो का।

रीति ग्रन्थ रचना को आधार मानकर किया गया उपर्युक्त विभाजन ठीक होते हुए भी उपविभागो की दृष्टि से सन्तोषजनक नही है; क्योकि उपविभाजन के वर्ग २, ३ और ७ को मिलाकर एक ही वर्ग मे रक्खा जा सकता है और इसी प्रकार वर्ग ५ और ६ को भी जैसा कि पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने किया भी है।[1] उनके अनुसार ये उपविभाग इस प्रकार है—

(१) कुछ तो रीति मुक्त शृङ्गारी कविताएँ हैं, (२) कुछ पौराणिक और लौकिक प्रबन्ध काव्य है, (३) कुछ नीति और उपदेशविषयक रचनाएँ हैं और (४) कुछ भक्ति और ज्ञानविषयक उपदेश के काव्य हैं।

आचार्य शुक्ल के पूर्व रीतियुगीन काव्य के वर्गीकरण की ओर किसी का ध्यान न गया था। मिश्र बन्धुओ ने रीतिकाल को 'अलकृत काल' कहकर उसके दो भेद 'पूर्वालकृत हिन्दी' और 'उत्तरालकृत हिन्दी' नाम से किये थे, वे निरर्थक थे।

डा० रसाल ने शुक्ल जी के इतिहास के एक ही वर्ष बाद प्रकाशित अपने इतिहास मे रीतिकाल (उनके अनुसार 'काव्य-कला-काल') के समस्त काव्य पर व्यापक दृष्टि से विचार करते हुए उसके ११ विभाग किये तथा कुछ प्रमुख विभागो के उप-विभाजन की आवश्यकता की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया। उनका वर्गीकरण इस प्रकार है—१. लक्षण ग्रन्थकार, २. जय काव्य (वीर काव्य), ३ पौराणिक कथा या प्रबध-काव्य, ४. कृष्ण लीला काव्य, ५. कृष्ण काव्य, ६. राम-काव्य, ७. नीति और स्फुट काव्य, ८. मुसलमान कवि, ९. प्रेमात्मक सूफी काव्य, १०. स्त्री लेखिकाएँ, ११. सन्त-काव्य। प्रथम वर्ग के कवियो का वर्गीकरण उनकी उपलब्धि के आधार पर (आचार्य श्रेणी, अनुवादक श्रेणी, साधारण श्रेणी), काव्याग विवेचन के आधार पर (सम्यक् काव्य शास्त्रकार, केवल अलकार-लेखक और रस तथा नायिका भेद लेखक) तथा रचना शैली के आधार पर (दोहात्मक शैली, छन्द शैली और कवित्त-सवैया शैली) तथा पंचम वर्ग 'कृष्ण काव्य' का कवियो की भावना के आधार पर (भक्त कवि और प्रेमी कवि) विभाजन किया गया है।[2] इस विभाजन से रीतिकालीन साहित्य की विशद भाव-भूमि प्रत्यक्ष होती है, किन्तु इसमे भी विभाजन सुगठित और व्यवस्थित नहीं है। आज के विकसित युग मे धर्म और जाति अथवा सेक्स के आधार पर मुसलमान कवि और स्त्री लेखिकाएँ आदि वर्गीकरण अर्थहीन है। वर्ग संख्या ४ और ५ को पृथक् करने की आवश्यकता नही। इस

[1]हिन्दी साहित्य : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ३४०।

[2]हिन्दी साहित्य का इतिहास : डा० रसाल, पृ० ४००-५४७

वर्गीकरण मे एक अन्य विशेषता यह है कि घन आनन्द, ठाकुर, बोधा, आलम आदि को पाँचवे वर्ग 'कृष्ण काव्य' के अन्तर्गत द्वितीय उपवर्ग 'प्रेमी कवि' मे रक्खा गया है; किन्तु ये कवि अपने कृतित्व के आधार पर जिस स्थान के अधिकारी हैं इस वर्गीकरण मे उन्हे वह स्थान नही प्राप्त हो सका है। हाँ, रसालजी द्वारा लक्षण ग्रन्थकारो का काव्यांग विवेचन के आधार पर जो वर्गीकरण है वह परवर्ती विद्वानो द्वारा स्वीकृत हुआ है।[1]

पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने शृङ्गारकालीन काव्य का विभाजन रीति-ग्रहण के आधार पर दो भागो मे किया है—१. रीतिबद्ध काव्य धारा २. रीतिमुक्त स्वच्छन्द काव्य धारा। फिर प्रथम वर्ग के दो भेद किये है (लक्षणबद्ध काव्य और लक्ष्यमात्र काव्य) और द्वितीय वर्ग के भी दो भेद (रहस्योन्मुख काव्य और शुद्ध प्रेम काव्य)।[2] मिश्र जी का वर्गीकरण अत्यन्त व्यवस्थित एवं साधार है किन्तु 'रहस्योन्मुख काव्य' की कोई विशिष्ट धारा नही जिसके आधार पर उसका स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया जा सके। अतएव उसका उल्लेख आवश्यक नही। दूसरी कमी इस वर्गीकरण मे यह है कि इसके अन्तर्गत रीतिकाल की शृङ्गारेतर काव्य-प्रवृत्तियो का अन्तर्भाव नही हो सका है। फलतः, यह वर्गीकरण श्लाघनीय होते हुए भी असम्पूर्ण है। इसी कारण मिश्र जी को 'इस काल के अन्य कवि' शीर्षक देकर वीर-रस, नीति तथा भक्ति के कवियो की पृथक् से विवेचना करनी पडी है।[3]

स्पष्ट ही रीतिकाल की प्रभूत काव्य-राशि का विधिवत् वर्गीकरण उपर्युक्त विद्वानो द्वारा नही हो सका है। मेरे मत से हिन्दी की रीति या शृङ्गारकालीन कविता का वर्गीकरण इस युग के कवियो की मूल आंतर वृत्ति के आधार पर इस प्रकार किया जाना चाहिए :—
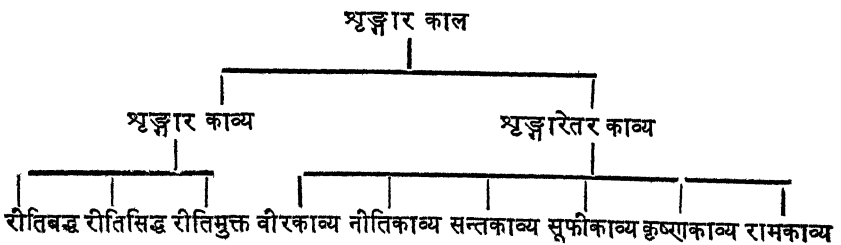
इसके अतिरिक्त भी यदि किसी भाव विशेष की रचना उपलब्ध हो तो उसे 'शृङ्गारेतर वर्ग' के अन्तर्गत सातवे उपवर्ग के रूप में लिया जा सकता है।

---

[1] हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास : डा० भगीरथ मिश्र, पृ० ३६-३७ तथा हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास, पृ० २६८-६६।

[2] घन आनन्द ग्रन्थावली, वाङ्मुख, पृ० १६।

[3] वाङ्मय, विमर्श पृ० ३०६।

शृङ्गार तथा रीतिबद्ध काव्य

हिन्दी रीति-ग्रन्थों की परम्परा का आरम्भ

'शिव सिंह सरोज' के आधार पर हिन्दी साहित्य तथा अलकार शास्त्र के इतिहास ग्रन्थो मे संवत् ७७० विक्रमी के लगभग पुण्ड, पुण्ड्र या पुष्य नामक कवि का उल्लेख मिलता है। ये बंदीजन थे और इन्होने हिन्दी में सस्कृत के किसी अलंकार-ग्रन्थ का अनुवाद किया था (अनुवाद दोहा, छन्दो मे किया गया) किन्तु यह ग्रन्थ अप्राप्य है। परिणामस्वरूप हिन्दी के प्रथम रीति ग्रन्थकार हैं कृपाराम जिन्होने स० १५६८ में 'हित-तरगिणी' नामक रस-ग्रन्थ की रचना की। इन्होंने दोहा-सोरठा ऐसे छोटे छन्दों मे शृङ्गार-रस का निरूपण किया है। इनकी 'हित-तरगिणी' से पता चलता है कि इनके समसामयिक अन्य लक्षणकार भी थे जो बडे-बडे छन्दो में शृंगार निरूपण कर रहे थे[1] किन्तु ये कर्त्ता कौन थे, उनकी कृतियाँ कौन-कौन सी हैं इसका हमे कुछ पता नही चलता। फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि रीति ग्रन्थो का प्रणयन रीतिकाल के स्वीकृत प्रारम्भ-काल से लगभग १०० वर्ष पूर्व शुरू हो चुका था। कृपाराम की 'हित-तरगिणी' जिसमे भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' तथा भानुदत्त की 'रसमंजरी' का आधार लिया गया है हिन्दी का सर्वप्रथम रीति ग्रन्थ है। इसके पश्चात् सवत् १६१६ के लगभग चरखारी के मोहनलाल मिश्र ने शृङ्गार-रस सम्बन्धी ग्रन्थ 'शृङ्गार-सागर' लिखा जिसमे नायिका भेद का विशेष विस्तार है। स० १६३७ के आस-पास अकबरी दरबार के नरहरि कवि के साथी करनेस बदीजन ने अलंकार सम्बन्धी तीन ग्रन्थ लिखे—कर्णाभरण, श्रुतिभूषण और भूपभूषण। ये अलंकार ग्रन्थ साधारण है। रीति परम्परा का निर्वाह करते हुए भी इनके द्वारा रीति-निरूपण की किसी प्रभावशाली शैली का प्रवर्तन नही हो सका। इसी समय के आस-पास गोप या गोपा नामक एक अन्य रीतिकार का उल्लेख किया जाता है। इनके समय के सम्बन्ध मे मतभेद है।[2] इनके लिखे दो ग्रन्थ है—१. रामभूषण जिसमे राम के यश-वर्णन के साथ-साथ अलंकारो का निरूपण किया गया है। २. अलंकार चन्द्रिका जिसमें स्वतन्त्र रूप से अलंकारो का विवेचन है। केशव के बडे भाई बलभद्र मिश्र ने सं० १६४० के आस-पास 'नखशिख' तथा 'रसविलास' नामक ग्रन्थ लिखे जिनमें क्रमशः नायिका भेद एवं भावो का निरूपण है।

---

[1]बरनत कवि सिंगार रस, छन्द बड़े बिस्तारि।
मैं बरन्यो दोहान बिच, याते सुघर विचारि ॥

[2]मिश्रबन्धु इनका समय स० १६१५ मानते है, डा० भगीरथ मिश्र स० १७७३ और 'हिन्दी साहित्य के वृहद् इतिहास' (पृ० १६८) में इनका समय स० १६७० दिया हुआ है।

हिन्दी-रीति-परम्परा का आरम्भ और विकास दिखलाते हुए तीन अन्य कवियों की ओर दृष्टि जाती है। ये है सूरदास, रहीम और नन्ददास। यदि 'साहित्य लहरी' (सं० १६०७) सूरदास की ही रचना मानी जाय तो स्पष्ट है कि दृष्टिकूट पद्धति पर यह अलकार और नायिका भेद का ही ग्रन्थ है भले ही उसमे लक्षणो का विधान न हो। रहीम का 'बरवै नायिका भेद' (स० १६४०) का वर्ण्य तो ग्रन्थ नाम से ही स्पष्ट है। अष्टछाप के प्रसिद्ध कृष्णभक्त कवि नन्ददास ने भी 'रसमजरी' नामक एक रीति ग्रन्थ लिखा जिसमें हाव-भाव हेलादिको के वर्णन के साथ नायक-नायिका-भेद निरूपण हुआ है। किसी मित्र के आग्रह पर नन्ददास ने यह ग्रन्थ लिखा। आधार रूप मे उन्होने भानुदत्त की 'रसमंजरी' को स्वीकार किया—

रसमंजरि अनुसारि कै, नन्द सुमति अनुसार।
बर्णत बनिता भेद जहँ, प्रेमसार विस्तार ॥

केशव के पूर्व हिन्दी में रीति ग्रन्थो के प्रणयन की यही परम्परा थी। इसके पश्चात् केशव ने सं० १६४८ मे 'रसिकप्रिया' और स० १६५८ मे 'कविप्रिया' लिखी। इसमे तो सन्देह नही कि हिन्दी रीति-ग्रन्थो के प्रणयन की परम्परा के आविर्भाव का श्रेय कृपाराम को ही है, जिन्होने रीतिकाल के सर्वस्वीकृत आरम्भ-काल (स० १७०० विक्रमी) से लगभग १०० वर्ष पूर्व (सं० १५९८) 'हित-तरंगिणी' की रचना की किन्तु दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न जो हिन्दी के रीति काव्यालोचन-क्षेत्र में उठा है वह यह है कि रीति का प्रथम आचार्य होने का श्रेय किसको मिले, केशवदास को या चिंतामणि त्रिपाठी को। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि मे यह श्रेय चितामणि त्रिपाठी को मिलना चाहिए, केशवदास को नही। इस सम्बन्ध मे उनका कथन यह है कि हिन्दी रीति साहित्य मे केशव के काव्यादर्शों का अनुगमन नही हुआ। दूसरे केशव के तत्काल बाद रीति ग्रथो की परम्परा नही चली वरन् उनकी कविप्रिया के ५० वर्ष बाद उसकी अखण्ड परम्परा चिंतामणि त्रिपाठी से चली। किन्तु शुक्ल जी के दोनों तर्क अब रीतिशास्त्र के विद्वानों को अमान्य है। एक तो यह कथन ही सत्य से दूर है कि केशव के बाद रीति ग्रन्थों का प्रणयन रुक गया उसकी तो पूरी शृङ्खला जुड़ती चली गई है जैसा कि शोध द्वारा प्राप्त नवीनतम सूचनाओ से स्वतः प्रमाणित है—

रचनाकाल (संवत्)	कवि या रीति ग्रन्थकार	रीति ग्रन्थ
१५९८	कृपाराम	हित-तरगिणी
१६०७	सूरदास	साहित्य लहरी
१६१६	गंग	फुटकल
१६१६	मोहनलाल	शृङ्गार सागर

१६२०	मनोहर	फुटकल
१६२०	गगा प्रसाद	ग्रन्थनाम अज्ञात
१६३७	करनेस	कर्णाभरण, श्रुतिभूषण, भूपभूषण
१६४०	बलभद्र मिश्र	नखशिख
१६४०	रहीम	बरवै नायिका भेद
१६४८	केशवदास	रसिकप्रिया, कविप्रिया
१६५०	मोहनदास	बारहमासा
१६५१	हरिराम	छन्द रत्नावली
१६५७	बालकृष्ण	रसचन्द्रिका[1] (पिंगल)
१६६०	मुबारक	अलकशतक, तिलशतक
१६७०	गोप	अलकार चन्द्रिका
१६७६	लीलाधर	नखशिख
१६८०	व्रजपति भट्ट	रगभाव माधुरी
१६८५	छेमराज	फतेह प्रकाश
१६८८	सुन्दर	सुन्दर शृगार
१६९८	नन्ददास	रसमञ्जरी
१७००	सेनापति	षट् ऋतु वर्णन

उपर्युक्त परम्परा इस बात की स्पष्ट घोषणा करती है कि रीतिग्रन्थो की परम्परा कृपाराम से प्रारम्भ होकर अविरल और अखंड रूप से चली चलती है। वह शिथिलप्राय या लुप्त तो हुई ही नही। स्वीकृत 'रीति युग' के पूर्ववर्ती १०० वर्षों के इस प्रस्तावना काल मे कृतित्व और रीतिग्रन्थ प्रणयन की दृष्टि से केशवदास का महत्व असंदिग्ध है और वे ही रीति परम्परा के प्रथम आचार्य ठहरते हैं। यह मत आज अनेक विद्वानो द्वारा मान्य है।[2]

सं० १६०० से १७०० के बीच लिखे गए रीति ग्रन्थ स्वीकृत रीतिकाल से

---

[1]रसचन्द्रिका का नाम हिन्दी साहित्य के वृहत् इतिहास पष्ठ भाग (सभा द्वारा सं० २०१५ मे प्रकाशित) मे रामचन्द्रप्रिया दिया हुआ है जो पिंगल ग्रन्थ है। लेखक बालकृष्ण और रचनाकाल सं० १६७५, पृ० १६७।

[2]हिन्दी साहित्य का इतिहास : डा० रसाल, पृ० ४०१-४०३
हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास : डा० भगीरथ मिश्र (सं० २०१५) पृ० ४८-५०
हिन्दी रीति साहित्य : डा० भगीरथ मिश्र, पृ० २६
हिन्दी अलंकार साहित्य : डा० ओम प्रकाश, पृ० ४८-५०

पूर्व युग के है जिसे रीति का प्रस्तावना काल भी कहा गया है। सं० १७०० के आस-पास सस्कृत रीतिशास्त्र की परम्परा क्षीण होने लगी थी। संस्कृत के अन्तिम प्रकाड आचार्य 'रस गगाधर' के कर्त्ता पडितराज जगन्नाथ और पं० रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार हिन्दी रीति के प्रथम आचार्य चिंतामणि दोनो समसामयिक थे। पडितराज जगन्नाथ शाहजहाँ के सभापडित थे और चिंतामणि को शाहजहाँ की सभा मे पुरस्कार प्राप्त हुआ था। स्पष्ट है कि सस्कृत की क्षीयमाण परम्परा हिन्दी के आचार्य कवियो द्वारा उठा ली गई किन्तु इस बात को हम पहले ही दिखा चुके है कि हिन्दी रीति की परम्परा चिंतामणि से लगभग १०० वर्ष पहले ही कृपाराम द्वारा प्रवर्तित हो चुकी थी और वह धारा इस शताब्दी मे अखण्ड रूप से प्रवाहित होती रही। सं० १७०० के बाद यह और वेगवान हो उठी और लगभग २०० वर्षों तक उसका यह वेग अनवरुद्ध रहा। आधुनिककाल मे रीतिकालीन परिपाटी पर रीति ग्रन्थ अवश्य लिखे गए किन्तु गद्य में लिखे गये रीतिशास्त्रीय ग्रन्थो की परिपाटी दूसरी ही रही और इस दिशा मे गम्भीर प्रयत्न किये गए।

रीति काव्य का शास्त्रीय आधार : भारतीय काव्य-संप्रदाय

हिन्दी साहित्य के मध्ययुग मे रीति-काल मे जो रीति काव्य लिखा गया उसका मूल आधार सस्कृत काव्य-शास्त्र ही है। संस्कृत साहित्य मे काव्य-शास्त्र पर अत्यन्त व्यापक रीति से गंभीर विवेचना मिलती है। सस्कृत का काव्य-शास्त्र एक स्वतंत्र विषय अथवा दर्शन के रूप मे विकसित हुआ है। सस्कृत काव्य-शास्त्र के ग्रंथों में काव्य की आत्मा, काव्य-स्वरूप, काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु, गुण, अलकार, रस, ध्वनि, रीति, दोष, कवि-शिक्षा आदि विषयो का विवेचन है। यह विवेचन सूक्ष्म तथा खण्डन-मण्डनयुक्त है। काव्य का मूल तत्व क्या है इसी की शोध में सस्कृत के उद्‌भट विद्वान प्रवृत्त हुए और उन्होने रस, अलकार, रीति, वक्रोक्ति तथा ध्वनि सिद्धान्तों का निर्धारण किया। इन्ही से सम्बधित अलग-अलग पाँच प्रमुख संप्रदाय बने जिनके प्रवर्तक आचार्य संस्कृत साहित्य के गंभीर विद्वान एव अध्येता हैं। काव्य की आत्मा का सधान करते हुए इन आचार्यों ने अपनी दृष्टि के अनुसार काव्य के भिन्न-भिन्न तत्वो को महत्व दिया और इस प्रकार विभिन्न काव्य संप्रदायो की सृष्टि हुई। भरत, भामह, वामन, कुन्तक और आनंदवर्धन ऐसे संप्रदाय-उद्‌भावक आचार्यों के अनेकानेक महत्वपूर्ण मतानुयायी विद्वान एव आचार्य हो गए है जिन्होंने प्रतिपादित काव्य सिद्धान्तों का और भी अधिक विशद एवं पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया है। परवर्ती पालि, अपभ्रंश और हिन्दी साहित्य इनसे प्रवाहित हुआ है।

भारतीय साहित्य-शास्त्र के प्रायः सभी आचार्य इस बात पर सहमत है कि

आनंद की साधना ही काव्य का उद्देश्य है। जिन्होने यश, अर्थ आदि को भी काव्य-लक्ष्य माना है वे भी काव्य के प्रधान उद्देश्य आनद-साधकता के सबध मे सहमत हैं। इन आचार्यों में जिस प्रकार काव्य के प्रधान उद्देश्य को स्वीकार करने मे कोई मत-भेद नही है उसी प्रकार उस आनद-साधना के मूलभूत उपादानो मे भी कोई मतभेद नही है। रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि सभी को काव्य के आनद विधायक तत्व के उपादान रूप में स्वीकार किया गया है, अंतर केवल महत्व या प्रधा-नता का है। एक के मत मे इनमे से कोई एक उपादान प्राण अथवा आत्मा रूप है दूसरे के मत मे कोई दूसरा। भरतमुनि भारतीय काव्य-शास्त्र के आदि आचार्य है तथा उनके अनंतर संस्कृत मे काव्य और काव्यशास्त्र दोनो की ही प्रतिष्ठा उत्तरोत्तर अधिक होती गई। भरत के द्वारा प्रतिष्ठापित रससिद्धान्त अथवा रस सम्प्रदाय ही आज भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण एव सम्मान्य सिद्धान्त है। भामह, दण्डी आदि द्वारा प्रवर्त्तित अलंकार, रीति आदि सम्प्रदाय बाद मे आए। अब हम संक्षेप में यह देखने की चेष्टा करेंगे कि काव्य के मूल तत्व अथवा उसकी आत्मा के सम्बन्ध मे इन विविध आचार्यों का क्या मत है।

रस संप्रदाय— रस-तत्व की सर्व प्रथम विवेचना भरत मुनि ने अपने नाटच-शास्त्र मे की है। उनका नाटचशास्त्र काव्य शास्त्र से सम्बन्धित सर्वप्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है जिसमे नाटक अथवा रूपक एव रस का तात्विक निरूपण किया गया है। भरत के पूर्व भी उक्त विषयो का निरूपण करने वाले आचार्य हुए होंगे किन्तु हमे उनके सम्बन्ध में न तो कोई उल्लेखनीय जानकारी ही प्राप्त है और न ही उनके ग्रन्थ उपलब्ध है। भरत के नाट्यशास्त्र मे नाटक से सम्बन्धित विभिन्न उपयोगी बातो के विवेचन के साथ-साथ यह भी कहा गया है कि नाटक का प्रधान लक्ष्य है प्रेक्षक श्रोता अथवा दर्शक को रस का अनुभव कराना तथा रसानुभूति की प्रकिया इस प्रकार है— 'विभावानुभाव व्यभिचारि सयोगाद्रसनिष्पत्तिः' अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभि-चारी भावों के सयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भरत के इस प्रसिद्ध सूत्र की पृथक्-पृथक् रीति से विवेचना की गई और रस की अनुभूति जो एक अत्यन्त सूक्ष्म एवं मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है—को लेकर संस्कृत काव्य-शास्त्र मे अनेक वाद खडे हो गए जिनमे भट्ट लोल्लट का आरोपवाद, शकुक का अनुमितिवाद, भट्टनायक का भुक्ति-वाद या भोगवाद तथा अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद विशेष महत्वपूर्ण हैं। इन विविध आचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि से भरत के उक्त सूत्र पर टीकाएँ लिखी है। पर्याप्त वैमत्य होते हुए भी अभिनव गुप्त का मत अधिक सम्मानित रहा जिसके अनुसार दर्शको के हृदय मे वासना रूप से अवस्थित रति, हास, शोक, क्रोध आदि मनोविकार विभावो (आलबन और उद्दीपन) के संयोग से व्यंजनावृत्ति के साधारणी-करण या विभावन व्यापार से सजग हो जाते है तभी दर्शक या आस्वादयिता रसानु-

भूति की अभिलषित अवस्था प्राप्त करता है। इसी अवस्था में स्थायीभाव सम्बन्धी रस की अनुभूति होती है, जिसे रस की अभिव्यक्ति कहते है।

अतस् की स्थायी वृत्तियो को स्थायी भाव कहते है। उनको जाग्रत एवं उद्दीप्त करने वाले कारण अथवा हेतु को (जो व्यक्ति अथवा परिस्थिति कोई भी हो सकते हैं) आलंबन और उद्दीपन विभाव कहते है। स्थायी भाव के अतिरिक्त उसकी सहायता करने वाले बीच-बीच मे जल बुद्बुदवत उठने-मिटने वाले सहकारी भावो को संचारी या व्यभिचारी भाव कहते हैं तथा जिन आंगिक चेष्टाओ, क्रियाओ अथवा सकेतो से मूल स्थायी भाव झलकता है उन्हे अनुभाव कहते है। ये स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव और सचारी भाव ही रस के अग या अवयव है। इन्ही के सयोग से रस की उत्पत्ति होती है।

पर्याप्त खण्डन-मण्डन के अनंतर अभिनव गुप्त द्वारा यह रस-सिद्धान्त सम्यक रूप से प्रतिपादित हुआ तथा कालातर मे रस-नाटक के साथ ही साथ काव्य की आत्मा के रूप मे भी मान्य हुआ। विक्रम की ९वी शती उत्तरार्द्ध मे ध्वनि सिद्धान्त के जोर पकडने पर रस-सिद्धान्त की भी विशेष प्रतिष्ठा हुई। ध्वन्यालोक के श्रेष्ठतम व्याख्याता अभिनव गुप्त ने रस-ध्वनि को ही काव्य का जीवन-तत्व स्वीकार किया तथा वस्तु-ध्वनि और अलकार-ध्वनि को रस-ध्वनि के आधीन उसी का सहायक एवं उपकारक होने पर ही काव्योपयोगी कहा।

अभिनव गुप्त के बाद रस के व्याख्याताओ में भानुदत्त और विश्वनाथ महत्वपूर्ण हैं। विश्वनाथ ने 'वाक्यं रसात्मक काव्यं' कह कर रस को सीधे काव्य की आत्मा ही करार दिया। उन्होंने ध्वनि को रस के ही अतर्गत स्थान दिया और रस का महत्व सर्वोपरि सिद्ध किया। आगे चल कर काव्य प्रमाणकार मम्मट और रसगगाधरकार पंडितराज जगन्नाथ ने भी रस सिद्धान्त की महत्ता और प्रतिष्ठा में योग ही दिया। ध्वनिवादी आचार्यों के कारण भी रस-सिद्धान्त की अधिक प्रतिष्ठा हो सकी।

रसों में वैसे तो शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्-भुत और शान्त ये ९ रस सर्वमान्य हुए किन्तु विशेष प्रतिष्ठा शृङ्गार की ही रही और अन्य रसो के भी महत्व के प्रतिपादक आचार्यों के पाण्डित्यपूर्ण विवेचनों के बावजूद शृङ्गार को ही अधिकाश आचार्यों ने रसराज स्वीकार किया; क्योंकि शृङ्गार सबसे अधिक आकर्षक एवं सार्वभौमिक प्रभावसम्पन्न रस होता है। शृङ्गार रस की आत्यंतिक व्यापकता के ही कारण दो भेद किये गए—सयोग और वियोग तथा उसके एक-एक अवयव पर ही लक्षण ग्रन्थो की रचना-परम्परा तक विकसित हो चली। संस्कृत मे भी तथा उससे भी अधिक हिन्दी मे। रसग्रन्थ, नायक-नायिका भेद के ग्रन्थ, नखशिख, षड्ऋतु, बारहमासा सम्बन्धी ग्रन्थों की भरमार शृङ्गार की सर्वोपरि प्रतिष्ठा के कारण हो चली। सस्कृत मे रस-परिचय सम्बन्धी अनेकानेक ग्रन्थ लिखे

गए जिनके लेखक काव्यशास्त्र के श्रेष्ठ विद्वान हो गए है जैसे दशरूपककार धनञ्जय, शृङ्गार प्रकाश और सरस्वती कण्ठाभरण के लेखक भोजराज, अलङ्कार शेखर के कर्त्ता भाव मिश्र, भाव-प्रकाशनकार शारदातनय, रसमञ्जरी के रचयिता भानुदत्त आदि। भोजराज शृङ्गार रस के प्रतिष्ठित आचार्य है जिन्होने पूरी शक्ति तथा आवेशोन्मेष के साथ शृङ्गार की रसराजकता स्थापित कर दी। रस-सिद्धान्त का एक अभिनव विकास हमे चैतन्य सम्प्रदाय के वैष्णव महात्मा रूप गोस्वामी मे देखने को मिलता है जिन्होने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'उज्ज्वल नीलमणि' मे शृङ्गार रस का एक सर्वथा नवीन दृष्टि से अत्यन्त विशद विवेचन किया है। 'उज्ज्वल नीलमणि' मे भक्ति-सिद्धान्तो के आधार पर रस की एवं रस-सिद्धान्त के आधार पर भक्ति की व्याख्या करते हुए भक्ति के पाँच प्रकार (शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य) माने गये है तथा सभी प्रकार की भक्ति के आधार शृङ्गार के ही देवता श्रीकृष्ण ठहराए गए है। इन समस्त प्रकार की भावनाओं में माधुर्य का स्थान सर्वोपरि ठहराया गया है। शृङ्गार रस और मधुरा भक्ति की भावना से, रस सिद्धान्त तथा उसके अगोपागो पर लिखित सस्कृत रीति ग्रन्थो से हिन्दी का मध्ययुगीन काव्य किस असाधारण रूप में प्रभावित है यह बताने की यहाँ आवश्यकता नही।

इस प्रकार सस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास मे एक समय ऐसा आया जब अलङ्कार-सम्प्रदाय के ही समान रस-सम्प्रदाय की भी प्रतिष्ठा बढी और ध्वनि-सम्प्रदाय की सत्ता स्थापित एवं स्वीकृत हो जाने के अनन्तर रस सिद्धान्त ने दूसरे सम्प्रदायो का महत्व क्षीण कर दिया और काव्यात्मा के रूप मे रस तत्व ही प्रायः सर्वत्र स्वीकार किया जाने लगा। भोज के 'शृङ्गार प्रकाश' मे शृङ्गार की विशद विवेचना हुई और उसके बाद तो शृङ्गार की विवेचना करने वाले ग्रन्थों की बाढ़-सी आ गई। सारी रस विवेचना शृङ्गार मे सीमित हो गई और परिस्थितियो की कुछ ऐसी प्रेरणा हुई कि सारी शृगार रस सम्बन्धिनी चर्चा नायिका भेद तक आ सिमटी। आगे चलकर भानुदत्त के दो प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रस तरगिणी' और 'रस मञ्जरी' प्रणीत हुए। पहले मे रसमात्र की विवेचना है तथा अन्य रसो की अपेक्षा शृंगार की विशद किन्तु दूसरे ग्रन्थ मे भानुदत्त ने नायक-नायिका-भेद विषय ही प्रधान रूप से उठाया है। अपनी स्वच्छता और सुबोधता के कारण ये दोनों ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय हुए तथा हिन्दी के कितने ही रस और नायिका भेद ग्रन्थकारो ने इन ग्रन्थों का सहारा लिया। उदाहरण के लिए हित-तरंगिणी (कृपाराम), कवि कल्पद्रुम (चितामणि), रसराज (मतिराम), भाव-विलास (देव), जगद्विनोद (पद्माकर) आदि का हवाला दिया जा सकता है।

अलंकार संप्रदाय—रस की चर्चा तो रूपक या नाटक के संदर्भ में शुरू

हुई परन्तु काव्य के सम्बन्ध में सर्वप्रथम अलकार की ही महत्ता स्वीकार की गई थी। इस दृष्टि से काव्य सम्बन्धी सम्प्रदायो मे अलकार सप्रदाय सबसे अधिक प्राचीन ठहरता है। बात यह हुई कि रस को नाटक (रूपक) का प्रमुख प्रतिपाद्य स्वीकार कर लेने से अधिकाश आचार्य काव्य की शोभा का प्रधान आधार अलकारो को मान कर चले और अलकारो के विवेचन से ही काव्य सम्बन्धी शास्त्रीय विवेचन का श्री गणेश हुआ इसीलिए सस्कृत काव्यशास्त्र को अलकार शास्त्र भी कहा गया। अलकार को काव्य की आत्मा मानने वाले सर्वप्रथम आचार्य भामह है। हो सकता है कि भामह के पूर्व भी कुछ अलकारशास्त्री हो गए हो किन्तु उनके ग्रन्थ हमे उपलब्ध नही है, स्वयं भामह ने अलकार शास्त्र के प्रणेता के रूप मे मेधाविन् का उल्लेख किया है किन्तु मेधाविन् का लिखा कोई अलंकार ग्रन्थ आज उपलब्ध नही है। भामह का 'काव्यालंकार' इस विषय की एक महत्वपूर्ण कृति है जिसमे स्पष्ट रूप से यह न कहने पर भी कि अलकार ही काव्य की आत्मा है भामह ने अलकारो पर ही विशेष बल दिया है, 'सौन्दर्यमलंकार:' कह कर उन्होने काव्यगत सौन्दर्य एव अलकार की अभिन्नता का उद्घोष किया था। दण्डी ने भी अलकारो को पर्याप्त महत्व देते हुए उसे काव्य का शोभाकारक धर्म बतलाया—काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते'—परन्तु उन्होने प्रमुखता रीति को प्रदान की है। भामह का अनुसरण करने वाले अन्य आचार्य थे उद्भट, रुद्रट, प्रतिहारेन्दुराज आदि। उद्भट के दो ग्रन्थ कहे जाते है—१. भामह-विवरण, २. अलकार-सार-सग्रह जिनमें से प्रथम अप्राप्य है। उद्भट की ख्याति भामह से कम नही। उनकी अलंकार विषयक विवेचना में एक ओर जहाँ प्राचीन मान्यताओ का विकास मिलता है वही दूसरी ओर नवीनता भी मिलेगी। रुद्रट ने अलकारों का सूक्ष्म और सुन्दर विवेचन करते हुए काव्य मे उनकी प्रधानता स्वीकार की है। उनके विवेचन में अलकारो के वर्गीकरण तथा रस भावादि से अलकारो का पार्थक्य (अलकार और अलकार्य का भेद) विशेष रूप से निर्दशित किया गया है। आगे चलकर ध्वनि आदि अन्य सिद्धान्तो का भी महत्व प्रतिपादन होता रहा फिर भी अलकारो को काव्य में सर्वाधिक महत्व देने वाले आचार्य आते गए। रस या ध्वनि सम्प्रदायों को जब काव्यशास्त्रियों ने अधिक महत्व देना शुरू किया उस समय अलकार सम्प्रदाय कुछ काल के लिए निष्प्रभ पड गया किन्तु आगे चलकर जयदेव, अप्पय दीक्षित, विद्याधर आदि ने इस सम्प्रदाय को विशेष उत्कर्ष प्रदान किया। सरल एव बोधगम्य भाषा-शैली के कारण जयदेव का चन्द्रालोक, अप्पय दीक्षित विरचित कुवलयानन्द काव्य शास्त्राभ्यासियों के बीच में अत्यन्त समादृत ग्रन्थ रहे और हिन्दी साहित्य के रीतिकाल के परवर्ती रीतिशास्त्रियों—महाराज जसवंत सिंह, दूलह, पद्माकर आदि ने अपने भाषा-भूषण, कविकुल कंठाभरण, पद्माभरण आदि में इन्ही दो संस्कृत अलंकार ग्रन्थों का आदर्श ग्रहण कर अलंकार विषयक अपनी कृतियो का प्रणयन किया। हिंदी में केशवदास

जो काव्यशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान थे उन्होने अलकारो को भामह, दण्डी आदि द्वारा प्रतिपादित व्यापक अर्थ मे ग्रहण किया और काव्य-कल्पनावृत्ति, अलंकार शेखर आदि ग्रन्थो का सहारा लिया। देव पर भी संस्कृत के पुराने काव्यशास्त्रियो का प्रभाव था परन्तु हिंदी के परवर्ती रीति कवि चन्द्रालोक और कुवलयानन्द को ही अपना उपजीव्य मानते रहे। इसमे सन्देह नही कि सस्कृत काव्यशास्त्र के परवर्ती अलंकार-वादी आचार्यों मे चन्द्रालोक के रचयिता जयदेव तथा कुवलयानन्द और चित्र-मीमासा के लेखक अप्पय दीक्षित विशेष महत्वपूर्ण है। जयदेव ने तो काव्य के अन्तर्गत अलकारो की अनिवार्यता सिद्ध करने के लिए यहाँ तक कह दिया कि अग्नि मे जिस प्रकार उष्णता होती है काव्य मे उसी प्रकार अलकार की सत्ता समझनी चाहिए—

> अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
> असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥ (चन्द्रालोक)

हम यह देखते है कि सस्कृत के साहित्यशास्त्रियो मे जिन्होने अलकार को काव्य का प्राण नही भी माना उन्होने भी बडे ही विस्तार के साथ अलंकारो का उनके भेद-प्रभेदो सहित सूक्ष्म निरूपण किया है, जिससे काव्य मे अलंकारो की विशिष्ट सत्ता की सार्वभौम स्वीकृति का आभास मिलता है। अलकारवादी आचार्यों की ही कृपा का यह फल था कि अलकार काव्य का एक प्रकार से अनिवार्य और अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग सभी के द्वारा मान्य हुआ।

अलकारवादी आचार्य रस सिद्धान्त से अनभिज्ञ न थे परन्तु वे काव्य में महत्व और प्रधानता अलकार को ही देते थे रस को नही। कालान्तर मे अलंकारों का विवेचन अधिकाधिक सूक्ष्मता से होता गया और उत्तरोत्तर निरूपित अलंकारो की सख्या मे वृद्धि ही होती गई। भरत ने ४ अलंकारो (उपमा, रूपक, दीपक और यमक) की चर्चा की जबकि अग्निपुराण मे १६ अलंकारो का उल्लेख है। भामह और भट्टि ने ३८ अलकार माने तथा दण्डी, उद्भट और वामन (ईसा की ८वीं शती) तक अलकारो की सख्या ५२ हो गई। रुद्रट, भोज, मम्मट और रुय्यक तक आते-आते यह सख्या १०३ हो गई तथा जयदेव, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित और पंडितराज जगन्नाथ (१८वीं शती ईसा) तक आते-आते अलकारो की सख्या १६१ तक पहुँच गई। हो सकता है कि इनमे से कुछ अलकार अन्यो के बीच अन्तर्भुक्त होने के योग्य हों और कुछ विद्वानों द्वारा अमान्य या अग्राह्य भी ठहरा दिए जायं परन्तु तथ्य यह है कि नए-नए अलकारों की शोध बराबर होती गई और सम्बन्धित शास्त्र उत्तरोत्तर समर्थ ही होता गया। अलंकारो के वर्गीकरण की ओर भी रुद्रट, विद्यानाथ, रुय्यक आदि आचार्यों ने विशेष ध्यान दिया और अलकारो के वैज्ञानिक विवेचन एवं वर्गी-

करण का मार्ग प्रशस्त होता रहा। अलंकार विषय को लेकर जो विवेचना रुद्रट, प्रतिहारेन्द्रराज, रुय्यक, भोज, राजशेखर, अप्पय दीक्षित प्रभृति आचार्यों द्वारा हुई, उसमे अलंकारो की सख्या, परिभाषा और वर्गीकरण आदि सम्बन्धी बातो को लेकर विस्तृत विवेचना मिलती है किन्तु अलकारो का काव्य पर किस प्रकार प्रभाव पडता है इसकी छान-बीन वक्रोक्ति सिद्धान्त के आचार्यों—कुन्तक, रुय्यक, जयरथ आदि की विवेचना मे सम्भव हो पाई।

रीति सम्प्रदाय—रीति गुणो पर आधारित होती है तथा गुणो की चर्चा वामन से पूर्व मिलती है। गुणो का वामन से पहले भी विशद विवेचन हो चुका था किन्तु रीति शब्द का व्यवहार सर्वप्रथम वामन मे ही मिलता है। भरतमुनि और भामह ऐसे प्राचीनतम आचार्यों ने भी गुणों का वर्णन किया है। भरत ने १० गुणो की व्याख्या की है, भामह ने ३ गुण स्वीकार किये है। इस प्रकार किसी न किसी रूप मे रीति सम्प्रदाय रस और अलकार सम्प्रदायो के समानान्तर ही चल रहा था। किन्तु उसे एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय का अस्तित्व प्रदान करने का श्रेय आचार्य वामन को ही है। इन्होने १० गुणो के स्थान पर १० शब्दगुण और १० अर्थगुण बतलाये और गौड तथा वैदर्भ मार्गों की जगह ३ प्रकार की रीतियो—गौडी, वैदर्भी और पाचाली का अस्तित्व घोषित किया। रीति सम्प्रदाय की स्थापना करने वाले आचार्य वामन ही थे जिन्होंने अपने 'काव्यालकार सूत्र' मे रीति को ही काव्य की आत्मा कहा है और रीति को विशिष्ट प्रकार की पद-रचना बतलाया। पद-रचना में विशिष्टता गुण से आती है इसलिये गुण का भी महत्व उन्होने काव्य मे स्थापित किया है—

रीतिरात्मा काव्यस्य, विशिष्टा पद-रचना रीतिः, विशेषो गुणात्मा। रीति शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है मार्ग या पथ जिससे रचनाकार विशेष की अपनी रचना-प्रणाली या रचना-शैली अथवा लेखन-मार्ग का अभिप्राय निकलता है। दण्डी ने तो रीति के लिये मार्ग शब्द का ही व्यवहार किया है तथा रचयिता-भेद से उसके अनन्त भेद भी बतलाए है। वामन ने गौडी, पांचाली और वैदर्भी इन तीन रीतियो की प्रतिष्ठा की। प्रारम्भ मे ये रीतियाँ एक भौगोलिक आशय लेकर निर्धारित की गई थी तथा देश के विभिन्न प्रदेशो के रचयिताओ के रचना-पथ या रचना-रीति से उनका सम्बन्ध स्थापित किया गया था किन्तु आगे चलकर विषय की दृष्टि से इन रीतियों या रचना-शैलियों का निर्धारण हो गया। उदाहरण के लिए परुष या कठोर विषयो के वर्णन मे गौडी रीति, सुकुमार विषयो या प्रसगों के वर्णन मे वैदर्भी रीति तथा दोनों के सम्मिश्रित वर्णन विधि मे पाचाली रीति का होना निर्धारित हुआ। कुन्तक ने अपने 'वक्रोक्ति जीवितम्' मे रीतियो के नाम से भौगोलिक अभिप्राय को सदा के लिए दूर कर दिया। उन्होंने तो गौडी, पाचाली और वैदर्भी के लिए नए

नाम क्रमशः विचित्र मार्ग, मध्यम मार्ग और सुकुमार मार्ग भी दिये, पर वे चल नही सके।

संस्कृत काव्यशास्त्र के बहुत बडे आचार्यों मे वामन की गणना की जाती है तथापि रीतिसम्बन्धी इनका सिद्धान्त परवर्ती आचार्यों को मान्य न हुआ और रीति को काव्य का प्राण समझने वाला कोई भी दूसरा आचार्य न हुआ। हाँ परवर्ती आचार्यों ने रीति का वर्णन अवश्य किया और किसी-किसी ने कुछ नई रीतियों की भी उद्भावना की जैसे रुद्रट ने लाटी की और भोजराज ने मागधी और अवन्तिका की। लाटी तो एक सीमा तक अन्य आचार्यों को मान्य भी हुई परन्तु मागधी और अवन्तिका किसी को भी मान्य न हुई। रीति की संख्या के सम्बन्ध मे आगे चलकर रुद्रट, भोज, वाग्भट्ट, राजशेखर आदि के ग्रन्थों मे मतभेद मिलता है तथा काव्यागो की विवेचना मे शास्त्रीय विवेचना की पूरी गम्भीरता भी है फिर भी रीति सम्प्रदाय संस्कृत मे अपना कोई असाधारण महत्व स्थापित नही कर सका। अलकार के ही समान इसने काव्य के बहिरंग पर ही जोर दिया तथा आगे चलकर इसे रस और ध्वनि सम्प्रदायो मे ही अतर्भुक्त कर लिया गया। हिन्दी के रीतियुगीन कवियो पर इस सम्प्रदाय का कोई विशेष प्रभाव गोचर नही होता।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय—वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक कुन्तक थे जिन्होने अपने 'वक्रोक्ति जीवित' नामक ग्रन्थ मे ध्वनि को नही वक्रोक्ति को काव्य का प्राण माना। वक्रोक्ति द्वारा ही कथन मे चमत्कार की सृष्टि होती है और जिस कथन मे वक्रता नही वह मर्मस्पर्शी एव कवित्वपूर्ण किस प्रकार हो सकता है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी वक्रोक्ति का महत्व स्वीकार करते हुए उसे एक शब्दालकार के रूप में स्वीकृति दी थी। रुद्रट ने सर्वप्रथम इसे शब्दालकार के रूप मे स्वीकार किया था और इसके दो भेद किये थे—श्लेष वक्रोक्ति और काकु वक्रोक्ति। हेमचन्द्र, वाग्भट्ट, जयदेव, विश्वनाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने वक्रोक्ति को अलंकार के रूप मे माना है किन्तु भामह, दण्डी, आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त ने वक्रोक्ति को अपेक्षाकृत अधिक महत्व प्रदान किया है और उसे सभी अलंकारो का मूल तत्व कहा है। इन आचार्यों के अनुसार वक्रोक्ति कथन की उस असाधारण शैली का नाम है जो साधारण इतिवृत्ति कथन की शैली से भिन्न है--'शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानमिति अयमेवासौ अलकारस्यालकारान्तरभाव.।' (अभिनवगुप्त) भामह आदि के ही समान कुन्तक ने भी लोकोत्तर वर्णन के व्यापक उक्तिवैचित्र्य के अर्थ मे ही वक्रोक्ति का प्रयोग किया है। उनका कहना है कि कवि का शब्दचयन साधारण व्यक्ति के शब्द चयन से भिन्न और विशिष्ट होता है तथा अपनी लोकातिक्रांत या लोकोत्तर अभिव्यक्ति के कारण ही उसकी रचना काव्य कहलाती है। उन्होंने वक्रोक्ति को ही काव्य का जीवन-तत्व बताने की कोशिश की और कहा—

लोकोत्तर चमत्कारकारि वैचित्र्य सिद्धये।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगी भणितिरुच्यते ॥

इस वक्रोक्ति की व्याख्या करते हुए इसे उन्होने असीम व्यापकता प्रदान कर दी है तथा अलकार, रस, भाव, ध्वनि तथा उसके सम्पूर्ण भेद एवं काव्य के अन्य सभी तत्वो को उन्होने वक्रोक्ति के ही अन्तर्गत समेट लिया है। कुन्तक मे असाधारण विवेचन-शक्ति थी और मौलिकता भी किन्तु यह सम्प्रदाय अधिक विकसित न हो सका। कुछ आचार्यों ने तो इसे अलंकार सम्प्रदाय की ही एक शाखा कहा है, किसी-किसी ने वक्रोक्तिकार को प्रच्छन्न रूप मे ध्वनिवादी ही बतलाया है। इस काव्य सम्प्रदाय का भी हिंदी के रीतिकाव्य पर कोई उल्लेखनीय प्रभाव नही पड़ा।

ध्वनि सम्प्रदाय—ध्वनि सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक है आचार्य आनन्दवर्धन किन्तु उन्होने स्वयं लिखा है—इस सम्प्रदाय अथवा सिद्धान्त का प्रवर्त्तन उनसे पहले के आचार्य कर गए है—'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधर्यः समाम्नातपूर्वः'। अभिनव गुप्त ने उद्भट और वामन को ध्वनि का महत्व स्वीकार करने वाले पूर्ववर्ती आचार्य माना है। इसमे सन्देह नही है कि आनन्दवर्धन का 'ध्वन्यालोक' सस्कृत काव्य-शास्त्र का एक असाधारण ग्रन्थ है जिसमे ध्वनि सिद्धान्त की अविचल प्रनिष्ठा की गई है। आनदवर्धन के मनानुसार अलकार, रीति और वक्रोक्ति का सम्बन्ध काव्य के बहिर्पक्ष से ही है तथा रस सिद्धान्त भी सर्वथा निर्दोष नही क्योकि एक तो ब्रह्मानन्द सहोदर कह कर रस सिद्धान्त को जैसे कोई अलौकिक-सी चीज बना दिया गया था दूसरे छोटी-छोटी मुक्तक रचनाओ में रस के समस्त अवयवो अथवा उपकरणो का विधान सम्भव न हो सकने के कारण ऐसी रचनाओ का महत्व ठीक-ठीक नही आँका जा सकता था और छोटे-छोटे सुन्दर मुक्तको को उचित गौरव नही मिल पाता था। इन दोषों का निराकरण करते हुए आनंदवर्धनाचार्य ने व्यंजनाश्रित ध्वनि सिद्धान्त का आविष्कार किया और उसकी अखण्ड महत्ता स्थापित की। उन्होने कहा कि ध्वनि पूर्ववर्ती किसी भी काव्य सम्प्रदाय रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि के अंतर्भूत नही की जा सकती दूसरे उन्होने ध्वनि का उचित सम्बन्ध रस रीति अलकार आदि से भी भली-भाँति स्थापित किया। इस प्रकार एक अत्यन्त व्यापक एवं पूर्ण काव्य सिद्धान्त के रूप में ध्वनि सिद्धान्त स्थापित हो गया किन्तु यह न समझना चाहिए कि यह सिद्धान्त सहज ही अथवा निर्विरोध ही स्थापित हो गया। भट्ट नायक ने आनंदवर्धन का विरोध करते हुए व्यंजना शक्ति के अस्तित्व का ही निषेध कर दिया तथा भावकत्व और भोजकत्व नामक दो काव्य-शक्तियो का होना निर्धारित किया। भट्टनायक का खंडन अभिनव गुप्त ने किया और व्यंजना का अस्तित्व प्रमाणित किया। ध्वनि-सिद्धान्त के विरोधी आचार्यों में भट्ट नायक के बाद कुन्तक और महिमभट्ट ऐसे

दिग्गजो का नाम आता है— कुन्तक ने तो ध्वनि को वक्रोक्ति के ही अतर्भूत कर उसे काव्यात्मा के रूप मे स्वीकार नही किया और महिमभट्ट ने फिर व्यजना के अस्तित्व को ही अस्वीकार कर दिया। ऐसे बडे-बडे विरोधियो के बावजूद ध्वनि सिद्धान्त की मान्यता बनी रही। मम्मट ने समस्त विवादो का निराकरण करते हुए ध्वनि का विवेचन किया एवं उसके महत्व को पुनर्स्थापित किया। विश्वनाथ ने ध्वनि की अपेक्षा रस को विशेष महत्व दिया परन्तु पडितराज जगन्नाथ ने ऐसा न होने दिया। ध्वनि और रस-सिद्धान्तो का समन्वय अभिनव गुप्त ने ही किया था जो आगे चल कर उभय सम्प्रदायो के प्रवक्ताओ द्वारा और भी अधिक होता गया तथा पडितराज तक आते-आते उभय सम्प्रदायो मे विशेष भेद नही रह गया। ये दोनों सम्प्रदाय अपना महत्व अक्षुण्ण रख सके तथा एक दूसरे के उपकारक ही रहे, अपकारक नही।

ध्वनि सम्प्रदाय के अनुसार काव्य की आत्मा ध्वनि है। ध्वनि शब्द की अभिधा और लक्षणा नामक वृत्तियो पर नही वरन् उसकी व्यंजना शक्ति पर आधारित है। इसी व्यजना शक्ति की उपस्थिति के आधार पर काव्य की उत्तमता और अनुत्तमता का भी निर्धारण किया गया और उत्तम, मध्यम तथा अधम नामक तीन काव्य-कोटियाँ निर्धारित की गई जिन्हे क्रमशः ध्वनि काव्य, गुणीभूतव्यग्य काव्य और चित्र काव्य कहा गया। ध्वनि के भी तीन भेद कहे गए—वस्तु-ध्वनि, अलकार-ध्वनि और रस-ध्वनि जिसमे रस-ध्वनि सबसे महत्वपूर्ण ठहराई गई। इस प्रकार ध्वनि सिद्धान्त मे भी रस की अखण्ड महत्ता को स्वीकृति प्रदान की गई तथा रसशून्य काव्य को चित्र काव्य, अवर काव्य या अधम-काव्य कहा गया। अनेक विद्वान ध्वनि सिद्धान्त को रस सिद्धान्त का ही विस्तार मानते है। इस अत्यंत गम्भीर एव सम्मान्य ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना मे आनन्द वर्धन से भी अधिक महत्वपूर्ण काम अभिनव गुप्त का था जिन्होने अपनी असाधारण प्रतिभा से इन नूतन काव्यात्मा सिद्धान्त का ऐसा पण्डित्य-पूर्ण प्रतिपादन अपना 'ध्वन्यालोक-लोचन' के माध्यम से किया। अपने समय तक के ध्वनि सिद्धान्त के विरोधियो का उन्होने मुँहतोड़ जवाब दिया और ध्वनि की अखंड महत्ता प्रमाणित की। उनके द्वारा रस की भी प्रतिष्ठा कम न हुई। अभिनवगुप्त के 'लोचन' से ध्वनि सिद्धान्त का व्यापक प्रचार हुआ। मम्मट ने आगे चलकर ध्वनि सिद्धान्त को पूर्ण रूप से व्यवस्थित किया तथा अभिनवगुप्त परवर्ती ध्वनि विरोधियो के मतों की परीक्षा करते हुए उनके आरोपो का दृढतापूर्वक प्रतिवाद किया। १८ वी शती विक्रमी मे पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने 'रस गगाधर' मे बलिष्ठ तर्कों द्वारा ध्वनि सिद्धान्त का समर्थन किया। पंडितराज के पश्चात् संस्कृत काव्य-शास्त्र सम्बन्धी कोई ऐसा महत्वपूर्ण ग्रंथ न लिखा जा सका जैसा कि विभिन्न काव्य सम्प्रदायो के प्रवर्त्तक आचार्यों के द्वारा लिखे गए थे और न ध्वनि सिद्धान्त के पश्चात् कोई अन्य काव्य सम्प्रदाय ही सामने आया। आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट और पंडितराज जगन्नाथ ऐसे काव्य-

शास्त्र नदीष्ण आचार्यो के द्वारा प्रतिपादित होकर ध्वनि सिद्धान्त भारतीय आलोचना शास्त्र के श्रेष्ठतम सिद्धान्त के रूप मे स्वीकृत हुआ।

हिन्दी रीतिकारो ने जब रीति ग्रथ लिखना शुरू किया उस समय तक सस्कृत कव्यशास्त्र के उक्त सभी काव्य सिद्धान्त आविर्भूत हो चुके थे तथा पर्याप्त तर्क-वितर्क एव खण्डन-मण्डन की घाटियाँ पार कर रस और ध्वनि के शिखरों पर न पहुँचे थे इसलिए हिन्दी के रसवादी रीति-आचार्यों ने ध्वनि को स्वतन्त्र रूप से तो ग्रहण नही किया किन्तु रस के सन्दर्भ मे ध्वनि की भी थोडी चर्चा कर दी थी। संस्कृत काव्यशास्त्र मे ही ध्वनि और रस के समन्वय का क्रम आरम्भ हो चुका था। हिन्दी के रीतिकार प्रधान रूप से अलंकार और रस सिद्धान्तो के अनुसर्त्ता थे फिर भी कुलपति और प्रतापसाहि जैसे आचार्यों ने ध्वनि को ही काव्य का प्राण माना है।

रीति ग्रन्थों का वर्गीकरण

लगभग २०० वर्षों के रीतियुग मे इतने रीतिग्रन्थ लिखे गए कि उनसे हिन्दी काव्य का भण्डार प्रचुर परिमाण मे भर-सा गया। इन रीति या लक्षण ग्रन्थो का वर्ण्य विषय के आधार पर वर्गीकरण करने से इस बात का ज्ञान होता है कि रीति-काल मे किस काव्याग पर कितने ग्रन्थ लिखे गए। हमारे विवरण मे रीतिकाल की स्थूल सीमा स० १७०० से १६०० के बीच के ही ग्रन्थो का उल्लेख मिलेगा। यह सख्या निश्चय ही काफी बढ जायगी जब रीतिकाल के पूर्ववर्ती लगभग १०० वर्षों के प्रस्ता-वनाकाल तथा लगभग ७५ वर्षों के उपसंहार काल का भी लेखा-जोखा हम लेने लगेंगे।

डा० ओम प्रकाश का मत है कि विषय, काव्य सम्प्रदाय या शैली के आधार पर किया गया कोई भी वर्गीकरण सर्वथा निर्दोष नही हो सकता। इसलिये रीति ग्रन्थ-कारो का वर्गीकरण काव्याग निरूपण के आधार पर इस प्रकार किया जा सकता है—१. अनेकाग निरूपक। २. एकाग निरूपक। एकाग निरूपको के वर्ग हो सकते है—(क) रस निरूपक, (ख) अलकार निरूपक, (ग) छन्द निरूपक आदि। नायिका भेद, नखशिख, षड्ऋतु, बारहमासा आदि का वर्णन करने वाले रसनिरूपको की कोटि मे अन्तर्भुक्त किये जा सकते हैं। कुछ कवियों ने (उदाहरण के लिये मतिराम को ले लीजिये) एक से अधिक अंगों का विवेचन पृथक-पृथक ग्रन्थो मे किया है परन्तु फिर भी उन्हें एकांग निरूपको में ही गिना जाना चाहिये क्योकि इनकी प्रवृत्ति समग्रता की ओर न थी।[1]

---

[1] डा० ओम प्रकाश : हिन्दी अलंकार साहित्य (सन् १६५६) पृ० ५४

मोटे तौर से चार प्रकार के रीतिग्रन्थ इस युग मे प्रणीत हुए—

१. अलंकार निरूपक ग्रन्थ—

२. रस एव नायिका भेद निरूपक ग्रन्थ—(क) रस निरूपक ग्रन्थ (ख) शृगार एवं नायिका भेद निरूपक ग्रन्थ

३. काव्यशास्त्र या विविधाक निरूपक ग्रन्थ—(काव्य से समस्त, अधिकाश या एकाधिक अगो का निरूपण करने वाले ग्रन्थ)

४. पिंगल निरूपक ग्रन्थ

रीतिकाल मे लिखे गए अलंकार ग्रन्थ ३५, रस ग्रन्थ ३७, शृगार एवं नायिका भेद ग्रन्थ ३०, काव्य शास्त्र या विविधाग ग्रन्थ २७ तथा पिंगल ग्रथ १४ है। जब हम रीति के प्रस्तावना एव उपसहार कालो पर भी दृष्टि डालते हैं तब यह सख्या क्रमशः ५३, ४८, ३२, ३६ और १५ हो जाती है।[1] मेरे विचार से अधिक शोध करने पर यह संख्या निश्चय ही और बढ जायगी। इस प्रकार रीति काल मे लिखित कुल रीति ग्रंथो की संख्या १४३ और उसके बाहर के युगो की प्रणतियों को मिलाकर १८७ ठहरती है; किन्तु हमारा विश्वास है कि इससे भी अधिक सख्या मे रीतिग्रन्थ लिखे गये जो भावी शोध द्वारा निश्चय ही उद्घाटित होगे। हमारे सतोष के लिये यही क्या कम है कि इतने विपुल परिमाण मे रीतिबद्ध साहित्य लिखा गया। उसका लक्षण अथवा निरूपण वाला अश उतना महत्वपूर्ण नही है जितना कि औदाहरणिक भाग क्योकि रीति कवियो का सच्चा कर्तृत्व लक्षणो की अपेक्षा उन्हे चरितार्थ करने वाले छदो में मूर्त्त हुआ है।

डा० भगीरथ मिश्र के शोध के आधार पर हिन्दी रीति ग्रन्थो की वर्गीकृत सूची इस प्रकार है[2] :—

(१) गोपा कृत अलंकार चद्रिका (सं० १६१५ सं० १६७३ वि०), (२) करनेस कृत कर्णाभरण, श्रुतिभूषण, भूपभूषण (सं० १६३७ के लगभग), (३) छेमराज कृत फतेह प्रकाश (सं० १६८५ के लगभग), (४) जसवतसिह कृत भाषा भूषण (सं० १६९५ के लगभग), (५) मतिराम कृत ललितललाम (सं० १७१६ और १७४५ के बीच), (६) भूषण कृत शिवराज भूषण (सं० १७३०), (७) गोपालराय कृत भूषण विलास, (स० १७३६ के लगभग), (८) बलवीर कृत उपमालकार (स० १७४१ के लगभग), (९) सूरति मिश्र कृत अलकार माला (सं० १७६६), (१०) श्रीपति कृत अलंकार गंगा

[1]. देखिये डा० भागीरथ मिश्र का हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास (सं० २०१५) पृ० ३७-४३ और डा० नगेन्द्र द्वारा सम्पादित हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास (सं० २०१५) पृ० २९९

[2]. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास (सं० २०१५) पृ० ३७-४३

(सं० १६७० के लगभग) (११), गोप कृत रामचन्द्राभरण, रामचन्द्र भूषण (सं० १७७३), (१२) रसिक सुमति कृत अलंकार चन्द्रोदय (सं० १७८६), (१३) भूपति, (गुरुभक्त सिंह) कृत कंठाभूषण (सं० १७९१ के लगभग), (१४) बंशीधर कृत अलंकार रतनाकार (सं० १७९२), (१५) रघुनाथ कृत रसिक मोहन (सं० १७९६), (१६) गोविन्द कवि कृत कर्णाभरण (सं० १७९७), (१७) दूलह कृत कविकुल कंठाभरण (सं० १८०० के लगभग), (१८) शम्भुनाथ कृत अलंकार दीपक (सं० १८०६ के लगभग), (१९) रसरूप कृत तुलसीभूषण (सं० १८११), (२०) गुमान मिश्र कृत अलंकार दर्पण (सं० १८१८), (२१) बैरीसाल कृत भाषा-भरण (सं० १८२५), (२२) नाथ (हरिनाथ) कृत अलकार दर्पण (सं० १८२६), (२३) रतनेश या रतन कवि कृत अलंकार दर्पण (सं० १८२७ वि० या सं० १८४३), (२४) दत्त कृत लालित्यलता (सं० १८३०), (२५) महाराज रामसिंह कृत अलकार दर्पण (सं० १८३५), (२६) ऋषिनाथ कृत अलकारमणि मंजरी (सं० १८३१), (२७) सेवादास कृत रघुनाथ अलकार (सं० १८४०), (२८) चदन कृत काव्याभरण (सं० १८४५), (२९) मान कवि कृत नरेन्द्र भूषण (सं० १८५५), (३०) ब्रह्मदत्त कृत दीप प्रकाश (सं० १८६७), (३१) संग्रामसिंह कृत काव्यार्णव (सं० १८६६ के लगभग), (३२) पद्माकर कृत पद्माभरण (सं० १८६७ के लगभग), (३३) बलवान सिंह कृत चित्र-चन्द्रिका (सं० १८८९), (३४) गिरिधरदास कृत भारती भूषण (सं० १८९०), (३५) प्रताप सिंह कृत अलंकार चिन्तामणि (सं० १८९४), (३६) चतुर्भुज कृत अलंकार आभा (सं० १८९६), (३७), लेखराज कृत लघु-भूषण (सं० १९०० के लगभग) तथा गगा भरण (सं० १९३४), (३८), ग्वाल कृत अलंकार भ्रम भंजन (सं० १९०० के लगभग), (३९) शालिग्राम शाकद्वीपी कृत भाषाभूषण की समालोचना (सं० १९२० के लगभग), (४०) कन्हैयालाल पोद्दार कृत अलंकार प्रकाश (सं० १९५३), (४१) भगवान दीन कृत अलकार मंजूषा (सं० १९७३), (४२) कन्हैया लाल पोद्दार कृत अलकार मंजरी (सं० १९९३), (४३) जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' कृत अलंकार दर्पण (सं० (१९९३), (४४) रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' कृत अलंकार पीयूष (सं० १९८६), (४५) अर्जुनदास केडिया कृत भारती भूषण (सं० १९८७), (४६) लछिराम कृत रामचन्द्र भूषण (सं० १९४७), (४७) गुलाब सिंह कृत वनिता भूषण (सं० १९४९), (४८) गंगाधर कृत महेश्वर भूषण (सं० १९५२) (४९), मुरारिदीन कृत जसवन्त जसोभूषण (सं० १९५०)

२. रस एवं नायिका भेद निरूपक ग्रंथ (क)—रस निरूपक ग्रंथ—

(१) केशवदास कृत रसिक प्रिया। (सं० १५४८), (२) व्रजपति भट्ट कृत रंगभाव माधुरी (सं० १६८०), (३) तोष कृत सुधानिधि (सं० १६९१) (मिश्रबन्धु), (४) मंडन कृत रसरत्नावली और रस विलास (सं० १८ वी शताब्दी का प्रारम्भ) (५) तुलसीदास

कृत रस कल्लोल तथा रस भूषण (सं० १७११), (६) कुलपति कृत रस रहस्य (सं० १७२४), (७) गोपाल राम कृत रस सागर (सं० १७२६), (८) सुखदेव मिश्र कृत रसार्णव (सं० १७३०) तथा फाजिल अली प्रकाश (सं० १७३३), (९) श्री निवास कृत रस सागर (सं० १७५०), (१०) लोकनाथ चौबे कृत रस तरग (सं० १७६०), (११) सूरति मिश्र कृत रस रत्नाकार, रस रत्नमाला तथा रस ग्राहक चन्द्रिका (सं० १७६० के लगभग), (१२) देव कृत भवानी विलास, रस विलास और कुशल विलास (सं० १७८३ के लगभग), (१३) बेनी प्रसाद कृत रस शृगार समुद्र (सं० १७६५ के लगभग), (१४) श्रीपति कृत रस सागर (सं० १७७०), (१५) याकूब खाँ कृत रस भूषण (सं० १७७५), (१६) बीर कृत कृष्ण चन्द्रिका (सं० १७७९), (१७) भिखारीदास कृत रस साराश (सं० १७९९), (१८) गुरुदत्त सिंह कृत रस रत्नाकर, रसदीप (१८ वी शताब्दी का अंत), (१९) रसलीन कृत रस प्रबोध (सं० १७९८), (२०) रघुनाथ कृत काव्य कलाधर (सं० १८०२, (२१) उदयनाथ कृत रस चन्द्रोदय (सं० १८०४), (२२) शम्भु नाथ मिश्र कृत रस कल्लोल, रस तरगिणी (सं० १८०६), (२३) समनेस कृत रसिक विलास (सं० १८२७ या १८४७), (२४) दौलत राम या उजियोर कृत रस चन्द्रिका (सं० १८३७ के लगभग) तथा जुगुलप्रकाश (सं० १८३७), (२५) रामसिंह कृत रसनिवास (सं० १८३९), (२६) सेवादास कृत रसदर्पण (सं० १८४०), (२७ बेनी बन्दीजन कृत रसविलास सं० १८४९), (२८) पद्माकर कृत जगत् विनोद (सं० १८६७) (२९) बेनी 'प्रवीन' कृत नवसतरंग (सं० १८७८), (३०) करन कवि कृत रसकल्लोल (सं० १८८५), (३१) ग्वाल कृत रसरंग (सं० १९०४), (३२) नन्दराम कृत शृगार दर्पण (सं० १९२९), (३३) लेखराज कृत रसरत्नाकर (सं० १९३०), (३४) महाराजा प्रताप नारायण कृत रसकुसुमाकर सं० १९५१), (३५) बलदेव (द्विजगंग) कृत प्रमदा-पारिजात (सं० १९५७), (३६) हरिऔध कृत रसकलस (सं० १९८८), (३७) कन्हैयालाल पोद्दार कृत रसमंजरी (सं० १९९१), (३८) ब्रजेश कृत रस-रसाग-निर्णय (सं० १९९३)।

(ख) शृंगार एवं नायिका भेद निरूपक ग्रन्थ

(१) कृपाराम कृत हिततरंगिणी (सं० १५९८), (२) सूरदास कृत साहित्य लहरी (सं० १६०७), (३) नन्ददास कृत रसमंजरी (१७ वी शताब्दी का प्रारभ), (४) मोहनलाल कृत शृंगार-सागर (सं० १६१६), (५) सुन्दरकवि कृत सुन्दर शृंगार (सं० १६८८), (६) चिंतामणि कृत शृंगार मजरी (१८ वी शताब्दी का प्रारंभ), (७) शभुनाथ सोलंकी कृत नायिकाभेद (सं० १७०७) (८) मतिराम कृत रसराज (सं० १७०१ के लगभग) और साहित्यसार (सं० १७४० के लगभग), ९) सुखदेव मिश्र कृत शृंगारलता (सं० १७३३ के लगभग) (१०) कृष्णभक्त देवऋषि कृत शृंगार

रस माधुरी (सं० १७६६), (११) देव कृत सुखसागर तरंग और जाति विलास (१८ वी शताब्दी का मध्य), (१२) कालिदास कृत बधूविनोद (स० १७४६), (१३) कुदन कृत नायिकाभेद (स० १७५२), (१४) केशवराय कृत नायिकाभेद (सं० १७५४), (१५) बलवीर कृत दपति विलास (स० १७५६), (१६) खडगराम कृत नायिकाभेद (स० १७६५), (१७) आजम कृत शृंगार रसदर्पण (सं० १७८६), (१८) भिखारीदास कृत शृंगार निर्णय (सं० १८०७), (१६) शोभाकवि कृत नवलरस चन्द्रोदय (सं० १८१८,, (२०) रग खाँ तथा हितकृष्ण कृत नायिकाभेद (सं० १८४०), (२१) देवकी नन्दन कृत शृगार चरित (सं० १८४१), (२२) लालकवि कृत विष्णु विलास (सं० १८ वी शताब्दी का मध्य), (२३) मोगीलाल दुबे कृत बखत विलास (स० १८५६), (२४) यशवंतसिह द्वितीय कृत शृगार शिरोमणि (सं० १८५६), (२५) माखनलाल पाठक कृत वसत मजरी (स० १८६०), (२६) यशोदानदन कृत बरवैनायिक-भेद (सं० १८७२), (२७) दयानाथ दुबे कृत आनन्दरस (सं० १८८६), (२८) जगदीशलाल कृत ब्रजविनोद नायिका भेद (बीसवी शताब्दी) (२६), नवीन कवि कृत परमानन्द-रस-तरग, रग तरग आदि (स० १८६६), (३०) चद्रशेखर कृत रसिक विनोद (सं० १६०३)।

(३) काव्य शास्त्र या विविधांग निरूपक ग्रन्थ

(१) केशवदास कृत कविप्रिया (स० १६५८), (२) चिंतामणि कृत कविकुल-कल्पतरु, (सं० १७०७) चिंतामणि कृत काव्य प्रकाश (सं० १७०० के लगभग), (३) कुलपति कृत रसरहस्य (स० १७२७), (४) देव कृत भाव विलास (सं० १७४६) और काव्यरसायन या शब्दरसायन (सं० १७६० के भगभग), (५) सूरति मिश्र कृत काव्य सिद्धात (सं० १८ वी शताब्दी का अतिम चरण), (६) कुमारमणि कृत रसिक रसाल (सं० १७७६), (७) श्रीमणि कृत काव्य सरोज (सं० १७७७) तथा काव्य कल्पद्रुम (स० १७८०), (८) गंजन कृत कमरुद्दीन हुलास (स० १७८६), (६) सोमनाथ कृत रसपीयूषनिधि सं० १७६४), (१०) भिखारीदास कृत काव्य निर्णय (सं० १८०३), (११) रूपसाहि कृत रूपविलास (स० १८१३), (१२) रतनकवि कृत फतेहभूषण (स० १८३० के आसपास), (१३) जनराज कृत कविता रसविनोद (सं० १८३३), (१४) थानकवि कृत दलेलप्रकाश (सं० १८४०), (१५) गुरुदीन पाडे कृत वागमनोहर (सं० १८६०), (१६) करन कृत साहित्यरस (स० १८६०), (१७) प्रतापसाहि कृत व्यंग्यार्थ कौमुदी (सं० १८८२) काव्य विलास (सं० १८८६) तथा काव्य विनोद (सं० १८६६), (१८) भवानी प्रसाद पाठक कृत काव्य शिरोमणि और काव्य कल्पद्रुम, (१६) रणधीर सिंह कृत काव्य रत्नाकर (स० १८६७), (२०) ग्वाल कृत साहित्य दर्पण तथा साहित्य दूषण (सं० १६०० के लगभग), (२१) रामदास कृत कवि कल्पद्रुम (साहित्यसार) (सं० १६०१), (२२) सालिग्राम शाकलद्वीपी कृत काव्य-प्रकाश की समा-

लोचना (स० १९२०), (२३) बलदेव कृत प्रतापबिनोद (स० १९२६), (२४) लछिराम कृत कमलानन्द कल्पतरु (स० १९४०) और रावणेश्वर कल्पतरु स० १९४७), (२५) नारायण कृत नाट्यदीपिका (२० वी शताब्दी का प्रथम चरण), (२६) मुरारिदीन कृत जसवन्तजसोभूषण (सं० १९५०), (२७) जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' कृत काव्य प्रभाकर (स० १९६७), (२८) सीताराम शास्त्री कृत साहित्य सिद्धात (स० १९८०), (२९) कन्हैयालाल पोद्दार कृत रसमजरी (सं० १९९१), (३०) बिहारीलाल भट्ट कृत साहित्य सागर (स० १९९४) (३१) मिश्रबन्धु कृत साहित्य पारिजात (सं० १९९७) (३२) रामदहिन मिश्र कृत काव्यालोक, काव्यदर्पण (सं० २००१ तथा स० २००४)।

(४) पिगल निरूपक ग्रंथ[1]—

(१) केशवदास कृत छदमाल, (२) चितामणि कृत पिंगल, (३) मतिराम कृत छदसार, (४) सुखदेव मिश्र कृत वृत्तविचार, (५) माखन कृत श्रीनाग पिंगल छंद विलास, (६) जयकृष्णभुजग कृत पिंगलरूपदीपमाला, (७) भिखारीदास कृत छदार्णव, (८) नारायणदास कृत छदसार, (९) दशरथ कृत वृत्त विचार, (१०) नन्दकिशोर कृत पिंगलप्रकाश, (११) चेतन कृत लघुपिंगल, (१२) रामसहाय कृत वृत्त तरगिणी, (१३) हरिदेव कृत छदपयोनिधि, (१४) अयोध्या प्रसाद बाजपेयी कृत छदानन्द पिंगल।

रीतिबद्ध-काव्य की प्रेरणा

रीतिबद्ध काव्य की तीन प्रधान प्रवृत्तियाँ है : (१) रीति निरूपण या आचार्यत्व, (२) शृगार-प्रधान काव्य रचना और (३) कला पक्ष का आग्रह या कलात्मकता। यहाँ इस बात का विवेचन अभीष्ट है कि इन प्रवृत्तियो से ओत-प्रोत साहित्य की रचना किन कारणो से हुई।

रीति निरूपण अथवा आचार्यत्व—रीति अथवा लक्षण ग्रंथो की रचना का एक कारण यह बतलाया जाता है कि काव्य परंपरा मे जब लक्ष्य ग्रथो अथवा मौलिक काव्यो का सृजन पर्याप्त परिमाण मे हो चुकता है तब साहित्यिको का ध्यान लक्षण ग्रथों अथवा काव्य शास्त्र की रचना की ओर जाता है जिनमे काव्य रचना के सिद्धान्तों तथा नियमों आदि का विधान होता है। यह प्रवृत्ति सभी देशो के साहित्य मे देखी जाती है। सस्कृत साहित्य मे ऐसा ही हुआ हिन्दी मे भी। साहित्य की जाति विधि दखते हुए तथा उसकी आवश्यकताओ का अनुभव करते हुए कुछ आचार्य अवश्य ऐसे हुए जिन्होने हिन्दी काव्य का दिशा-निर्देशन किया। उनमे केशवदास अग्रगण्य हैं; भिखारीदास इसी कोटि के आचार्य थे। दूसरा कारण यह था कि सस्कृत मे काव्य-

---

[1]. पिंगल ग्रथो की नामावली हिन्दी साहित्य के वृहद् इतिहास (सं० २०१५) के आधार पर दी गई है देखिये पृ० २९९।

शास्त्र का अच्छा मथन किया जा चुका था। काव्यात्मा, कव्य लक्षण आदि पर काफी खडन-मंडनपूर्ण विवेचना हो चुकी थी, विभिन्न काव्य-सप्रदाय निर्मित हो चुके थे फलतः अनेक सस्कृतज्ञ हिन्दी कवियो ने संस्कृत साहित्य-शास्त्र को हिन्दी मे अवतरित कर काव्य को नई दिशा देने की चेष्टा की, क्योकि भक्ति, ज्ञान एव वैराग्यपरक काव्य पर्याप्त मात्रा मे प्रणीत हो चुका था। रीतिकाल मे ही शाहजहाँ के समसामयिक पडित-राज जगन्नाथ ने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रसगगाधर' निर्मित किया था। सस्कृत अलंकार शास्त्र की परपरा का अंत हो रहा था, हिन्दी अलकार शास्त्र की परपरा का आरंभ। यह एक सुन्दर संयोग था। हिन्दी मे रीति की सारी सामग्री सस्कृत से ही आई। नवीन उद्भावना के लिये न तो विशेष अवकाश ही था और न हिन्दी रीतिशास्त्री उतने समर्थ ही थे। पूर्व प्रतिपादित सिद्धान्तो का ग्रहण, अनुगमन, पुनर्प्रतिष्ठापन अथवा अनुवाद ही अधिकतर हुआ। केशव, श्रीपति, देव, दास ऐसे कतिपय आचार्यों ने कुछ मौलिकता भी दिखलाई परन्तु वह कुछ विशेष महत्वपूर्ण न थी। रस, ध्वनि, अलंकार आदि पूर्वप्रतिष्ठित सप्रदायो का हिन्दी काव्य रीति के आचार्यो ने अनुगमन किया। सस्कृत मे विवेचित काव्यशास्त्र मोटे तौर पर ही हिन्दी मे ग्रहीत हुआ, विवेचना का वह सारा विस्तार और सूक्ष्मता हिन्दी रीति ग्रन्थो मे अप्राप्य है फलतः ये ग्रन्थ प्रारभिक जानकारी ही देने मे समर्थ है। अनेक ग्रन्थ इस दृष्टि से भी सदोष ही हैं। हिन्दी रीतिकारो ने बिना खंडन-मंडन किये और बिना किसी विशेष नवीनता का योग किये संस्कृत की सामग्री भाषा ग्रन्थो मे अवतरित की। केशव सरीखे कुछ भाषा कवि जब शास्त्ररचना कर आचार्य रूप मे प्रतिष्ठित हुए तो औरो मे भी आचार्यत्व का लोभ जगा। धीरे-धीरे सभी कवि-रीति ग्रन्थ लिखने लगे। हालत यह हुई कि बिना रीति ग्रन्थ लिखे कवि-कर्म पूरा न समझा जाता था। यह चसका यहाँ तक बढा कि भूषण ऐसे हिन्दुत्वप्रेमी वीर रस के कवि को भी 'शिवराजभूषण नामक' अलंकार ग्रन्थ लिखकर आचार्य पद पाने की इच्छा हुई। भक्ति, ज्ञान एव वैराग्यपरक काव्य की अतिशयता की प्रतिक्रियास्वरूप मे केशवदास सरीखे काव्य रीति के हिन्दी आचार्यों ने काव्य के स्वततंत्र रूप की प्रतिष्ठा की। यह शास्त्रसम्मत काव्य-रचना का मार्ग संस्कृत में पहले से ही खुला हुआ था। हिन्दी मे इस दिशा का निर्देश करने के कारण दीर्घकाल तक आचार्य केशव सम्मानित हुए। शताधिक कवियो ने केशव द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करते हुए काव्य रीति के उदाहरणस्वरूप काव्य की रचना की। रीतिबद्ध ग्रन्थ-रचना का तीसरा कारण राज्याश्रय प्रतीत होता है, क्योंकि इस काल में मुगल बादशाहो तथा अधीनस्थ राजे-महाराजों और नवाबो की सभाओं मे नृत्य-संगीत आदि अन्य कलाओं की भाँति काव्य को भी प्रश्रय और प्रोत्साहन प्रदान किया जाता था। काव्य के मूल्याकन के लिये राजाओं और काव्य-प्रेमियों को काव्य-रचना के लिये नये काव्याभ्यासियो को काव्य रीति के ज्ञान की

अपेक्षा हुई। केशव ने अपने आश्रयदाता महाराज इन्द्रजीतसिंह के आदेश से 'कवि-प्रिया' की रचना की थी और अपनी शिष्या प्रवीणराय पातुर को काव्य की शिक्षा देने के लिये 'रसिकप्रिया' लिखी। काव्य के नवाभ्यासियो के लिये ये रीति ग्रन्थ बहुत उपयोगी सिद्ध हुए और बहुतेरे तो इन्ही के सहारे कवि भी बन गए। आश्रयदाता राजाओ को इन रीति ग्रन्थो से काव्य की उत्तमता का पता चलने लगा। इधर लक्षण ग्रन्थ लिखकर कवि जब आचार्य रूप मे प्रख्यात हुए तो सभी राज्याश्रित कवियो ने ख्याति के उद्देश्य से लक्षणबद्ध काव्य-रचना शुरू कर दी। यही कारण है कि शास्त्र-चिन्ता का स्तर न केवल कायम न रह सका अपितु गिरने भी लगा। अकबर के पूर्व भाषा-कवियो को विशेष सम्मान प्राप्त न था, वे चारण या भाट के रूप मे ही विशेष प्रसिद्ध थे। लोक मे भी उनकी कीर्ति इसी रूप में थी, हाँ फारसी और संस्कृत के कवि अवश्य सम्मानित होते थे। अकबर की देखा-देखी राजपूताना तथा मध्य भारत की रियासतो में कवियो को हिन्दू और मुसलमान दोनो दरबारो मे राज्याश्रय प्राप्त हुआ फलतः लक्षणबद्ध काव्य की रचना व्यापक रूप से हुई। कवि लोग साधारणतः आर्थिक दृष्टि से निम्नवर्ग के थे। राजसभा मे धीरे-धीरे कवि के व्यक्तित्व और काव्य की प्रतिष्ठा हो चली। आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से अभ्युदय-प्राप्ति के लिये ये कवि उद्योगशील हुए। कवि और आचार्य रूप मे कीर्तिलाभ के लिये जहाँ ये लक्षण ग्रन्थो का अध्ययन करते थे वही ऐसे ग्रन्थो का निर्माता बनने की स्पृहा भी इन लोगों मे जागृत हुई क्योकि काव्य लक्षण और कवि-कर्म का जब प्रचार-प्रसार हुआ तब काव्य-शास्त्र का ज्ञाता और रचयिता हुए बिना कीर्ति और प्रतिष्ठा की प्राप्ति संभव न थी। इसलिये भी कविजन रीति ग्रन्थो की रचना मे प्रवृत्त हुए। सस्कृत के जानकारो ने संस्कृत से रीति की सामग्री उधार ली, बहुतों ने तो भाषा के ही ग्रन्थो के आधार पर अपने ग्रन्थ लिखे। परिणाम यह हुआ कि प्रारभिक जानकारी देने वाले लक्षण ग्रन्थ ही अधिकतर लिखे जा सके। संस्कृत में प्राप्त सागोपाग काव्यशास्त्र हिन्दी में प्रतीत न हो सका क्योकि भाषा के काव्यकर्ता प्रमुखतः कवि थे, आचार्यत्व की उन्हे लिप्सा थी। रीति ग्रन्थों की रचना के एक अन्य कारण का भी अनुमान किया जाता है वह है काव्य-रचना की गुरु-शिष्य परपरा का आरभ। केशव, मतिराम ऐसे काव्याचार्यों के कुछ शिष्य भी हुआ करते थे जो उनसे काव्य रचना पद्धति की शिक्षा लिया करते थे। उस्ताद और शागिर्द की परपरा फारसी और उर्दू के शायरों की देखादेखी तो हिन्दी मे थोडा-बहुत चली ही स्वतः भी चली हो तो कोई आश्चर्य नही। इस प्रकार काव्य-रचना करने-कराने की एक व्यवस्थित पद्धति विकसित हुई भले ही उसका सम्यक् विकास न हो सका। शिष्य कालांतर में गुरु बनने की आकाक्षा से आचार्यत्व सूचक लक्षण ग्रन्थो के प्रणयन में निरत हुआ। फलतः कवि संस्कृत में विद्यमान अलंकार शास्त्र का थोड़ा बहुत अध्ययन कर हिन्दी मे उसे उतारने लगे। इन कारणों

से रीति या लक्षण ग्रन्थो की भाषा-काव्य परंपरा मे ऐसी बाढ-सी आ गई कि यह युग का युग ही ऐतिहासिको द्वारा 'रीतिकाल' कहा जाने लगा।

श्रृङ्गारिकता—श्रृगारिकता रीति काव्य की दूसरी प्रधान प्रवृत्ति है। समूचा रीतिबद्ध काव्य यहाँ तक कि लगभग पूरा का पूरा रीतियुगीन काव्य श्रृगार-भावना से ओत-प्रोत है। कृष्ण भक्ति की पूर्ववर्तिनी काव्यधारा में तो श्रृगार का स्थान था ही फलतः इस युग मे प्रवाहित कृष्णकाव्यधारा में तो प्रगाढ श्रृंगारिकता आई ही साथ ही साथ चलने वाली मर्यादा-प्रवण रामभक्ति काव्य धारा भी श्रृगारिकता तो क्या ओछी रसिकता से ओत-प्रोत हो चली, कुछ सन्तो पर भी उसका प्रभाव पडा तथा सूफी तो श्रृगार और लौकिक सम्भोग के कायल थे ही। हाँ, वीर और नीति काव्य की धारा श्रृंगारिक प्रभाव से अपेक्षाकृत मुक्त रही। श्रृंगारिकता के इस सर्वतोमुखी प्रभाव के कारण अनेक है। पहला कारण तो समसामयिक युग का प्रभाव ही जान पड़ता है। युग की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियाँ श्रृगारप्रधान काव्य के ही अधिक अनुकूल थी। राजनीतिक दृष्टि से देश विभक्त था, युद्ध जर्जर था। हिन्दू पादाक्रान्त हो अध.पतन के गर्त मे जा चुके थे। देश की राजनीति मे सब तरह की क्षुद्रता आ गई थी। मुसलमान विलास-जर्जर थे। क्या हिन्दू राजे क्या मुसलमान शाह और नवाब व्यक्तित्वहीन सन्ततियो को जन्म दे रहे थे। नादिरशाह और अब्दाली के आक्रमणो से रहा-सहा नैतिक बल भी जाता रहा; शासक शक्ति के सभोग-प्रधान आदर्श सभी नवाबियो और रियासतो मे मान्य हुए क्योंकि क्षीणबल जीवन मे इससे महत आदर्श ही नही रह गया था। पार्थिव सुख के समग्र उपकरण जुटाकर ये लोग अतिशय तुष्ट थे।[1] अचिर अस्थिर जीवन का प्रदीप राजनीतिक विग्रहो के झझावात मे कब बुझ जाय ! इस आशङ्का से राज्य शक्तिसम्पन्न व्यक्ति, उनके सभासदादि जीवन के पूर्ण उपभोग मे विश्वास करने लगे थे। फलतः जीवन के भोग और विलासप्रधान स्वरूप के चित्रण मे रीतिकालीन कवि प्रवृत्त हुए, क्योंकि इन कवियो के आदर्श आश्रयदाता राजा, रईसों, नवाबो और मनसबदारो के आदर्श से

गुलगुली गिलमैं हैं, गलीचा हैं, गुनीजन हैं,
चाँदनी है चिक है चिरागन की माला हैं।
कहैं 'पद्माकर' त्यों गजक गिजा हैं सजी,
सेज हैं सुराही हैं, सुरा हैं और प्याला हैं॥
शिशिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हैं,
जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं।
तान तुक ताला हैं विनोद के रसाला हैं,
सुबाला हैं, दुशाला हैं, विशाला चित्रशाला हैं॥

भिन्न न थे। सामाजिक दृष्टि से रीतिकालीन शृंगार काव्य के कर्ता सामान्य, दलित या शोषित वर्ग के व्यक्ति थे। किन्तु राजा, रईस, अमीर उमरावों के आश्रय मे आकर अपनी आर्थिक स्थिति सुधार कर ये लोग सामान्य जन समुदाय के कृषको और मजदूरो को भूल चुके थे। ऐश्वर्य और भोग के परवर्ती संस्कारों ने दैन्य और दारिद्र्य् के पूर्ववर्ती सस्कारो पर विजय पा ली थी। उधर मुगल शाहो के दरबारो और राजा-रईसो के भवनो मे ऐश्वर्य और वैभव का समुद्र लहरा रहा था। वैभव का विलास से कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है यह बताने की आवश्यकता नही। इन राजभवनो मे कितनी ही रानियाँ, रक्षिताएँ, शिक्षिकाएँ, कुटनियाँ और दूतियाँ रहा करती थी। बाह्य जीवन मे अस्थिरता, अव्यवस्था, असतोष और क्षोभ के उपकरण विद्यमान थे। उनके निवारण की ओर ये शक्तिसम्पन्न राजे, रईस, शाह और नवाब तत्पर न हुए। जीवन की गम्भीरता सच्चाइयो से मुँह मोड ये लोग घर की चहारदीवारी के भीतर ही जीवन का चरम आनन्द लूटने लगे जैसा कि डा० नगेन्द्र ने भी स्वीकार किया है[२]—"भक्ति युग मे हिन्दुओ को केवल राजनीतिक पराभव ही सहना पड़ा था, आर्थिक स्थिति अधिक चिताजनक नही थी। इसके अतिरिक्त उस समय के लोकनायक महात्माओ ने आध्यात्मिक विश्वासो का ऐसा मागलिक प्रकाश विकीर्ण कर दिया था कि हिन्दुओं ने सब कुछ खोकर भी जीवन का उत्साह नही खोया था। परन्तु रीतिकाल तक आते-आते आर्थिक स्थिति भी सर्वथा भ्रष्ट हो गई थी, और वह आध्यात्मिक प्रकाश भी विलुप्त हो चुका था। अब जीवन को न तो स्वस्थ बाह्य अभिव्यक्ति का ही अवसर था और न सूक्ष्म आतरिक (आध्यात्मिक) अभिव्यक्ति का ही। उसकी समस्त प्रवृत्तियाँ घर की चहारदीवारी मे ही सीमित रह गईं।........ निदान विलास की सरिता दोनो कूलो को तोड कर बह रही थी। विलास का केन्द्र-विन्दु थी नारी, जिसके चारो ओर अनेक कृत्रिम उपकरण एकत्र थे।....आखिर जीवन को आत्मरक्षण के लिए अभिव्यक्ति चाहिये। इस युग में यह अभिव्यक्ति केवल घर के भीतर ही सम्भव थी जहाँ उसकी समस्त आकाक्षाएँ नारी के शरीर के चारों ओर ही मँडरा सकती थी। पराभव के और भी युग भारतीय जीवन में आए, पर उन सभी मे काम की ऐसी सार्वभौम उपासना नही हुई। कारण यह था कि उन युगों मे नैतिक आदर्श दृढ और कठोर थे, जो इस प्रवृत्ति के प्रतिकूल पडते थे। परन्तु रीति काल मे कृष्ण भक्ति की परम्परा से नैतिक अनुमति भी एक प्रकार से इसे प्राप्त हो गई थी। अतएव अब किसी प्रकार के अप्राकृतिक सङ्कोच अथवा दमन की आवश्यकता भी नही पड़ी। काम की उपासना जीवन के स्वीकृत सत्य के रूप में होती थी।" इस कामोपासना मे रीति के कवियो ने पूरा-पूरा योग दिया। रूप, विलास, ऐश्वर्य,

---

[२] रीति काव्य की भूमिका : (सन् १९५३) पृ० १५८

कामक्रीडा और सम्भोग के चित्रण मे इन शृगारी कवियो ने अपनी लेखनी का कमाल दिखलाया। ये कवि आपादचूढ काम रस मे डूबे हुए थे। राधा अथवा गोपी कृष्ण के चले आते हुए वर्णन के व्याज से इन कवियो ने उस युग के ऐहिक और विलासपूर्ण जीवन की झाँकी प्रस्तुत की। रीतिकाव्य मे वर्णित तमाम दूतियाँ, नायिकाएँ, अभिसारिकाएँ, मुग्धाएँ, गणिकाएँ आदि शाहो और सामन्तों के घरो की कुटनियों, रक्षिताओ और वेश्याओ के अतिरिक्त और कुछ नही। धार्मिक दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि रीतिकाल मे आकर धर्म सम्प्रदायो का भी ह्रास हो चला था। महात्मा तुलसीदास के मर्यादापुरुषोत्तम इस काल मे आकर 'रसिकेश' हो गये थे और परम शृगारी कृष्ण की प्रतिद्वन्द्विता करने लगे थे। कृष्णभक्ति के नाना सम्प्रदाय विकसित हो चले। स्वय वल्लभ-सम्प्रदाय की गोकुल, कामबन, कॉकरौली, नाथद्वार, सूरत, बम्बई और काशी मे सात गद्दियाँ स्थापित हुई। गद्दियाँ स्थापित होने के अनन्तर गद्दीधारी महन्त भी समसामयिक रुचि मे ही तन्मय हुए। इन्हे सर्वसाधारण से सरोकार न था, राजाओ और श्रीमानो को दीक्षित करने मे ये लोग विशेष अभिरुचि रखते थे। भक्त महतो ने वैभव और ऐश्वर्य की पूजा-अर्चा शुरू की, मठ और मन्दिर देवदासियो एव मुरलियो की नूपुरध्वनि से अनुरणित होने लगे। मध्व, निंबार्क, चैतन्य, राधावल्लभीय आदि अधिक प्रचारप्राप्त कृष्ण भक्ति सप्रदायो मे इस प्रकार शृंगार-भावना ही प्रधान हो गई। रीतियुगीन सगुणभक्ति काव्य में इसी कारण शृंगार का तत्व उभर कर सामने आता है यहाँ तक कि समसामयिक रीति शृंगार काव्य और कृष्ण भक्ति काव्य मे विशेष अन्तर नही रह गया है।

रीतियुगीन काव्य की शृगारिकता का दूसरा प्रधान कारण है राजदरबारो मे कवियों का आश्रय प्राप्त करना। इस युग मे विभिन्न राजदरबार काव्य रचना के केन्द्र हो गए तथा अधिकाश कवि राजकवि या राज्याश्रित कवि का पद सुशोभित करने लगे। कवि लोग यश और सम्मान प्राप्ति के लिए राजा, रईस और सामन्तो के मुखापेक्षी होने लगे। बिना राजसभा मे बड़प्पन पाये कवि की प्रतिष्ठा नही होती थी और न उसकी धाक ही जम पाती थी। हाँ किसी राज दरबार का मण्डन हो जाने पर कवि की कीर्तिकौमुदी शीघ्र ही पसर जाती थी। इन राजदरबारों का शृंगार और विलासिता से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध था फलत: रीतिकाल मे काव्य और शृङ्गार तत्व बहुत कुछ अभिन्न हो गये थे। मध्यकालीन राजदरबारी संस्कृति में पली कविता का शृगारिक होना प्राय: सभी विद्वानो को मान्य है। डा० श्यामसुन्दर दास ने लिखा है कि, "राजदरबारों में हिन्दी कविता को अधिक आश्रय मिलने के कारण कृष्णभक्ति की कविता को अध:पतित होकर वासनामय उद्गारो में परिणत हो जाने का अधिक अवसर मिला। तत्कालीन नरपतियो की विलास-चेष्टाओ की परितृप्ति और अनुमोदन के लिए कृष्ण एव गोपियो की ओट में हिन्दी के कवियो ने लौकिक

मर्यादाहीन प्रेम की शत सहस्र उद्भावनाएँ की। इसका परिणाम यह हुआ कि राजाओ से पुरस्कार पाने तथा जनता द्वारा समादृत होने के कारण रीतिकाल की कविता शृंगाररसमई हो गई और अन्य प्रकार की कविताएँ उसके सामने दब-सी गई।"[१] डा० रसाल का मतव्य भी इस सम्बन्ध मे ऐसा ही है—"साधारणतया हम कह सकते है कि इस समय मे साहित्य रचना के केन्द्र प्राय: राजदरबारो में ही थे।...मुगल दरबार की विलासप्रियता तथा फारसी भाषा के शृगारप्रधान साहित्य से प्रवाहित होकर राजदरबारी तथा धनी-मानी लोगो की, जो कवियो के आश्रयदाता होने लगे थे, विलासिता की रुचि भी अपना प्रभाव पूर्ण रूप से साहित्य पर डाल रही थी। अतएव साहित्य मे शृगार रस की प्रधानता एवप्रचुरता होने लगी।....चारित्रिक ह्रास से इस रुचि को और भी प्रौढता प्राप्त हुई और शुद्ध शृगार के स्थान पर अश्लील श्रृङ्गार की बढती-सी होने लगी।"[२] डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है कि, "इन दो वर्गो के मध्य मे कवियों, चित्रकारो, सगीतज्ञो आदि कलावन्तो का वर्ग था जो प्राय: उत्पादक वर्ग से उत्पन्न होता था किन्तु भोक्ता वर्ग की स्तुति और मनोविनोदन करके जीविका निर्वाह करता था। जिस प्रकार के मालिको का मनोरञ्जन इन कवियो और कलावन्तो को करना पड़ता था, उस वर्ग को संतुष्ट करने के लिए जिस प्रकार के जीवन से परिचित होना आवश्यक है, वह इन कवियो को प्रत्यक्ष रूप से ज्ञात नही था। उसके लिए इन्हे पुस्तकी विद्या की आवश्यकता थी। दो मूलों से यह ज्ञान प्राप्त हो सकता था—रतिरहस्य आदि कामशास्त्रीय ग्रन्थो से और दशरूपक रसमञ्जरी आदि नायिकाभेद का वर्णन करने वाले ग्रंथो से।"[३] इन ग्रन्थों के सहारे इन कवियो या कलावन्तो ने राज-सभा मे अपने आश्रयदाता के मनोविनोदनार्थ श्रृङ्गार की सामग्री जुटाई। इस प्रकार इस युग के काव्य की श्रृङ्गारिकता का राजदरबारो से अविच्छेद्य सम्बन्ध प्रमाणित होता है। यह तो सभी जानते है कि रीतिकविता राजा और रईसो के आश्रय मे पली। ये राजा और रईस निश्चिन्त और विलासप्रिय अधिक थे, अपनी राज्य शक्ति को सुदृढ कर सामयिक राजनीति के प्रति सजग रहने वाले कम थे। बिहारी के आश्रयदाता मिर्जाराजा जयसिह की विलासिता की प्रसिद्ध कथा उक्त तथ्य का ज्वलन्त दृष्टान्त है; वे एक कली पर ही आसक्त थे और उससे विरत नही होते थे। ऐसे आश्रयदाता राजाओ में न तो आत्मगौरव ही था और न अपने कर्तव्य का ज्ञान। भोग-लिप्सा ही उनका जीवन था

१, डा० श्यामसुन्दर दास : हिन्दी साहित्य, पृ० २४२

२, डा० रमाशकर शुक्ल 'रसाल' : हिन्दी साहित्य का इतिहास (सन् १९३१) पृष्ठ ३८३

३, डा० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य पृ० २९९.

"अतएव ये लोग भोग के सभी उपकरणो को —विनोद के सभी रसालायो को एकत्र करने मे प्रयत्नशील रहते थे जिसमे सुबाला, सुराही और प्याला के साथ-साथ तान तुकताला और गुणी जनो का सरस काव्य भी सम्मिलित था। कहने की आवश्यकता नही कि इन सभी में कविता सबसे अधिक परिष्कृत उपकरण थी—वह केवल विनोद का रसाला ही नही थी एक परिष्कृत बौद्धिक आनन्द का साधन तथा व्यक्तित्व का शृङ्गार भी थी। ये राजा और रईस अपनी सस्कृति और अभिरुचि को समृद्ध करने के लिए रससिद्ध व्युत्पन्न कवियों का सत्सङ्ग और काव्य का आस्वादन अनिवार्य समझते थे—उससे उनका व्यक्तित्व कलात्मक और संस्कृत बनता था।"[1] इस प्रकार काव्य जहाँ भोग और शृङ्गारिकर्ता के उत्तेजक उपकरण के रूप में राजदरबारो में स्वीकृत हुई वही कलाप्रेमी व्यक्तित्व के विकास मे सहायक भी। स्पष्ट है कि इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए ग्राह्य कविता शृङ्गारिक हो सकती थी।

रीतियुगीन काव्य की शृगारप्रवणता का तीसरा कारण है पूर्ववर्ती कृष्णभक्ति काव्य का प्रभाव। भक्तिकाल के अतिम चरण मे कृष्ण भक्त कवि कृष्ण लीलाओ का उत्साहपूर्वक वर्णन एव गायन कर रहे थे। कृष्ण, राधा और गोपियो के रूप, सौन्दर्य एवं प्रेमादि के वर्णनो से कृष्ण भक्ति काव्य ओत-प्रोत था। गोपी कृष्ण अथवा राधा-कृष्ण की यह मधुराभक्ति रीतियुगीन वातावरण एवं कवि समाज के लिए परमोपयोगी सिद्ध हुई क्योकि इसके बहाने उन्हें अपना लोक-परलोक दोनो सुधरता दिखाई दिया। गोपी कृष्ण के प्रणय-प्रसंगो के वर्णन मे कवि की निजी रुचि तो व्यक्त होती ही थी; कविजनो के रीझने लायक वर्णन हुए तो कवित्व की प्रतिष्ठा हुई अन्यथा राधाकन्हाई का स्मरण ही सही—

आगे के सुकवि जो पै रीझि हैं तो कविताई।
न तु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है॥

(भिखारीदास)

यह भक्ति आई कहाँ से है? स्पष्टतः यह भक्तिकालीन भावना ही है जो रीति काल में जगह-जगह व्यक्त हुई है —

राधा अरु नन्दलाल कौ जिन्हें न भावत नेह।
परियौ मुठी हजारदास तिनकी आँखन खेह॥

(देव)

होत रहै मन यों मतिराम कहूँ बन जाय बड़ो तपु कीजै।
है बनमाल गरै लगियै अरु है मुरली अधरा रस पीजै॥

(मतिराम)

---

[1], डा० नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका (सन् १९५३) पृ० १३२

किन्तु यह भक्ति है शृंगार भावना के ही आधीन । राधा-कृष्ण के प्रणय, मिलन, रास, सभोग, परिरंभ आदि के कितने उन्मादक चित्र सूर आदि ने प्रस्तुत किये है। भक्तो के पवित्र चित्त से निर्गत होने के कारण ये काव्य कितने ही पवित्र रहे हों किन्तु साधारण पाठको को इनका भौतिक पक्ष ही सबल प्रतीत हुआ। उसमे उन्हे तथा परवर्ती कवियो को शृंगारिकता की ही विशेष प्रतीति हुई। इतना ही नही शृगारी वृत्ति वाले कवियो को इस प्रकार की काव्य सृष्टियाँ विशेष प्रेरणाप्रद भी हुईं। डा० नगेन्द्र ने ठीक ही कहा है कि कृष्ण भक्ति की शृंगारिक काव्य परंपरा से रीति कवियो को नैतिक अनुमति तो प्राप्त हो चुकी थी अतएव शृंगार काव्य की रचना करते हुए उन्होने एक तो वही विषय उठाया और दूसरे अप्राकृतिक संकोच और दमन[1] को अनावश्यक समझ काम की उपासना जीवन के स्वीकृत सत्य के रूप मे की। 'इस प्रवृत्ति का एक अच्छा परिणाम यह हुआ कि रीति-शृगार काव्य दमित या रुग्ण मनोवृत्ति की उपज न हो सका अपितु अकुंठ चित्त से प्रसूत भावो की निश्छल अभिव्यक्ति का रूप पा सका। यो तो प्रेम ही किसी न किसी रूप मे भक्ति युग का भी एक प्रधान प्रतिपाद्य था क्योकि सन्तो ने प्रेम को ही जीवन का सार ठहराया था तथा उक्त उद्देश्य के लिए शृङ्गारी रूपक बाँधे थे। प्रेम की पोर के गायक सूफियो की प्रणय-भावना मे लौकिक प्रणय (जिसमे सभोग का पूरा-पूरा स्थान था) और शृङ्गारिकता भरपूर थी। रामभक्ति की परम्परा मे रसिकता आ ही चली थी और कृष्ण भक्ति काव्य तो शृङ्गार सबलित था ही अतएव रीतिकाल मे सर्वत्र परिलक्ष्यमान शृङ्गारिकता की प्रबल प्रवृत्ति के मानसिक स्वरूप की भूमिका भक्ति युग मे ही बँध चुकी थी; एक सीमा तक भक्ति युगीन प्रेम भावना रीतिकालीन शृङ्गारिकता का आधार और प्रेरणा स्रोत भी कही जा सकती है। रीतियुगीन प्रेम का अधःपतित स्वरूप समसामयिक वातावरण एवं परिपार्श्व मे देखा जा सकता है जैसा कि पहले प्रमाणित भी किया जा चुका है। भक्ति काल के अलौकिक आलम्बन कृष्ण और राधा रीति काल में सामान्य नायक-नायिका के रूप मे चित्रित किये गये। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि, "मधुर भाव की कृष्णभक्ति ने भी अपने ढंग से नायिका भेद के साहित्य को प्रभावित किया था यद्यपि इसका प्रत्यक्ष प्रभाव इस काल के साहित्य पर नही पडा परन्तु परोक्ष रूप से उसने इसे प्रभावित अवश्य किया। यही कारण है कि इस सम्पूर्ण शृङ्गारी साहित्य के भीतर गोपी और गोपाल का नाम अवश्य आ जाता है। रीतिकाल के शृगारी साहित्य की यह विशेषता है कि उसमे शृगार के आश्रय भी उस युग के धर्म और अध्यात्म के आश्रय

---

[1] डा० नगेन्द्र: रीतिकाल की भूमिका (सन् १९५३) पृ० १५८

की भाँति श्रीकृष्ण ही है[१] ।'' भक्तिकालीन कृष्ण भक्त कवियो का शृंगारी काव्य रीति की शृंगारी रचना की प्रेरणा बनी—इस तथ्य को आचार्य प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने असंदिग्ध रुप से स्वीकार किया है—''शृङ्गार काल की प्रस्तावना भक्ति काल के भीतर हो गई थी । राधाकृष्ण की जैसी प्रेम-क्रीडा का वर्णन कृष्ण भक्त कवि कर चले वह शृंगार का बहुत बडा अवलम्ब सिद्ध हुई ।''[२] न केवल वल्लभ सम्प्रदाय के भक्तो मे अपितु समस्त कृष्ण भक्ति सम्प्रदायो मे मधुर भाव की उपासना प्रचलित हुई । ''भक्ति की पिछले काँटे की रचना काव्य दृष्टि से शृंगार की ही रचना हो गई, भले ही उसे हम लौकिक शृंगार की सीमा मे न घेर सके, पर वह शृङ्गार का ही परिष्कृत, सस्कृत या ईश्वरसम्बद्ध—चाहे जो नाम रखे—रूप हो गई ।..........पर भारतीय काव्य परम्परा मे आचार-निष्ठता का ध्यान बराबर रखा गया है । शृंगार काल मे कवियो ने नायक-नायिकाओ की प्रेमलीलाओ का निरूपण आरम्भ किया तो उसमें स्वकीया प्रणय के विस्तार का अवकाश न मिला । ....अलौकिक दृष्टि से भक्ति के भीतर जो दाम्पत्य प्रेम रखा गया वह सर्वत्र स्वकीया का प्रेम न रहा, क्योकि उपास्य और उपासक या आकर्षक और आकृष्ट के रूप की लम्बी-चौड़ी भूमि परकीया प्रेम के परिष्कार मे दिखाई पडी, जिसमे अलौकिक सम्बन्ध का आरोप होने लगा । इस प्रकार प्रेम की विवृत्ति ने साहचर्य मे परकिया-प्रेम के विस्तार विशेष उत्तेजना प्राप्त हुई । हिन्दी साहित्य को उस समय जिस साहित्य से प्रतिद्वन्द्विता करनी पड़ी उसमें परकीया प्रेम का बाहुल्य था । प्रतिद्वन्द्विता से पीछे हटने पर कवियो की हेठी होती थी अतः नायिका भेद से परकीया प्रेम ले लिया गया पर आचारनिष्ठता को ध्यान मे रखकर प्रेम के आलम्बन श्रीकृष्ण और राधिका माने गए । प्रेम की घोर वासना-पूर्ण रचना करने वालो ने भक्ति की शृङ्गारिकता की ओट लेने का पूरा प्रयत्न किया । ....इस प्रकार रीतिकाल मे जितनी रचना हुई उसमे प्रायः हरि और गोपी या राधा का कीर्तन तो मिलता है पर उसे भक्ति की रचना नही कह सकते । इन कवियो ने भक्ति की शृगारमयी रचना का भक्ति वाला अश त्याग दिया । आवरण के रूप मे भक्ति अवश्य रह गई, पर सारी रचना लौकिक प्रेम प्रसंगो की ही प्रस्तुत होने लगी ।''[३]

रीतिकाव्य मे व्याप्त शृङ्गारिकता का चौथा कारण पूर्ववर्ती एवं सामयिक संस्कृत एव फारसी साहित्य की परम्पराओ का प्रभाव भी है । समसामयिक वाता-

---

१. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी: हिन्दी साहित्य, पृ० २९९–३००

२ प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : हिन्दी साहित्य का अतीत, भाग २, शृङ्गारकाल पृ० ३७२

३. वही पृ० ३७३–७४

वरण तथा जिन अन्य बातो की चर्चा शृगारिकता के कारण रूप मे ऊपर की गई है उनमें एक कारण यह भी था – संस्कृत के नाट्यशास्त्रीय एव कामशास्त्रीय ग्रन्थों का सहारा भी इस युग के कवियो ने लिया। सस्कृत के अमरुक शतक, भर्तृहरि के शृङ्गार शतक तथा प्राकृत के शृगार काव्यो से भी रीतिकालीन कवियो की काव्य-भूमि को पोषण प्राप्त हुआ। सस्कृत-प्राकृत से होकर आती हुई लौकिक प्रेमपरक काव्यधारा तथा नायिका भेद आदि के ग्रन्थो से रीतिकवियो ने अपने युग एव रुचि तथा प्रकृति के अनुरूप तत्वों को ग्रहण किया। इसके साथ ही साथ रीतिकाल मे ही राजदरबारो मे फारसी साहित्य की परम्परा भी समान्तर रूप से चल रही थी। फारसी के समृद्ध एवं शक्तिशाली साहित्य का प्रभाव भी रीति कवियो पर पड़ा इसमे सन्देह ही क्या ! उनका काव्य-विषय भी शृङ्गार था । प्रेम लौकिक प्रेम के एक-एक पहलू पर हर नजर से ये शायद विचार करते थे और उक्तियाँ बाँधते थे। उसी साहित्य के मुकाबले मे ब्रजभाषा के कवियों को अपनी भाषा की कविता को खड़ा करना था फलतः चेतन या अचेतन रूप से यह साहित्य फारसी काव्य की परम्पराओ से अवश्य प्रभावित हुआ। कुछ तो नवीनता के कारण फारसी साहित्य ने आकर्षित किया, कुछ मुसलमानी राजदरबार की भाषा होने के कारण, कुछ उसकी अभिज्ञता को प्रेरणा और प्रोत्साहन मिलने के कारण बड़े-बडे मुसलमानी राजदरबारों मे फारसी, सस्कृत, ब्रज सभी भषाओ के कवि रहा करते थे। शृङ्गार प्रधान फारसी मुक्तक छन्दो या अक्षरो की जोड़ और बराबरी मे सस्कृत एव हिन्दी के कवियो को अपनी मुक्तक रचनाएँ रखनी पडती थी और वे भी शृङ्गार प्रधान। अपने यहाँ नायक-नायिका भेद ही जोड-तोड के लिए सर्वाधिक उपयुक्त विषय था। संस्कृत और हिन्दी के कवि फारसी वातावरण और वर्ण्य तो अपने काव्य मे रख नही सकते थे, उन्हे अपनेपन की और स्वदेशीपन की भी रक्षा करनी थी और कोरी नकल करके वे पार नही पा सकते थे। उसमे स्वाभिमान की भी रक्षा सम्भव न थी फलतः संस्कृत के नाट्य-ग्रन्थो से नायक-नायिका-भेद लाकर इन संस्कृत हिन्दी के कवीश्वरो ने उसे दरबारी प्रतिस्पर्धा की कविता का विषय बनाया। फारसी शायरी के आशिक-माशूको और रकीबो की प्रणय-चेष्टाओ एव वचनभंगियो की जोड़-तोड पर भाषा कवियो ने नायक-नायिका भेद से ही बहुत प्रकार के प्रेमी-प्रेमिकाओ को निकाला, नायक-नायिका-भेद का अतिशय विस्तार किया और उनके नाना प्रकार के प्रणय-व्यापारो एवं चेष्टाओ, प्रणय की अभिव्यक्तियो तथा सम्भोग वर्णन के बहुसंख्यक रसीले चित्रो द्वारा उन्होने भी दरबारो मे अपने निजत्व और देशीपन की रक्षा करते हुए बडा रगीन साहित्य प्रस्तुत किया। इस प्रकार रीतिबद्ध काव्य की शृगार-प्रवणता का दरबारदारी और फारसी शायरी की प्रतिद्वंद्विता भी एक अत्यत महत्वपूर्ण कारण रहा है।

कलात्मकता—रीति काव्य की तीसरी प्रमुख प्रवृत्ति है कलात्मकता। समूचे रीतिकालीन काव्य मे कलाकार का जैसा और जितना आग्रह रहा है वैसा और उतना आग्रह हिन्दी साहित्य के किसी दूसरे युग मे देखने को नही मिलता। इस काल का कवि कला के प्रति विशेष जागरूक था। इस काल के काव्य मे भावतत्व एक बार पिछड जाय तो पिछड जाय परन्तु कला-कौशल या उक्ति-चमत्कारशून्य रचना कदापि सह्य न थी। हो सकता है रीतिकालीन काव्य की कलाप्रधानता के पीछे साहित्य का यह सिद्धात कार्य कर रहा हो कि साहित्य के आरम्भिक युगों मे भावप्रधान काव्य लिखा जाता है और बाद मे कवि कला के उत्कर्ष की ओर विशेष प्रवृत्त देखे जाते है। युग की प्रवृत्ति मे भी कला-प्रधानता का करण ढूँढा जा सकता है। यह युग विलास और भोग का था इसी कारण अनुरूप साहित्य की सृष्टि हुई। जीवन की गंभीर विवेचना करने वाला साहित्य इस युग मे प्रणीत न हो सका जितना कि चमत्कृत करने वाला। यह चमत्कार शब्द-योजना, नैम्द-सौन्दर्य, अलकरण, कल्पना अथवा उक्ति वैलक्षण्य आदि विद्वानो द्वारा प्रस्तुत किया गया। वैसे इस युग मे लिखा गया फारसी का साहित्य भी हल्का चमत्कारक ही रहा, उसके प्रभावस्वरूप भी रीति काव्य मे आलंकारिता आई। रीति अथवा लक्षण का अनुधावन करते हुए तो रचना अलंकृत हुई ही, उक्ति अथवा कथन को सजाना इस युग का एक फैशन-सा हो गया था। सेनापति, बिहारी, मतिराम, पद्माकर सभी इस बात के कायल थे। सहजोक्ति मे कवित्व का अधिवास ही नही माना गया। कविता को, 'भूषन बिनु न विराजई' तो केसवदास ने ही कहा किन्तु यह बात सिद्धान्ततः स्वीकार सभी रीतिकवियो को हुई। अलकारो मे भी भाव की गंभीरता का विधान करने वाले अलंकार अल्प व्यवहृत हुए, उक्ति का चमत्कार प्रस्तुत करने पर विशेष दृष्टि रही यही कारण है कि कवित्त अथवा सवैये के अतिम चरण की उत्तमता पर पूरे छंद की उत्तमता निर्भर होने लगी। उक्ति अनूठी हो इस पर सभी की दृष्टि निबद्ध होने लगी। भाषा और छद को कलात्मकता इसलिये भी प्रदान की गई क्योकि भाषा-काव्य को फारसी की चटपटी शायरी की प्रतिद्वंद्विता में खड़ा करना था। ऐसा करते हुए हिन्दी कवियो ने संस्कृत कवियों के भावो एवं उक्तियों का भी जहाँ-तहाँ नि.संकोच भाव से अपहरण किया। यह समझ लेना चाहिये कि रीति ग्रन्थकारों का प्रधान उद्देश्य शास्त्रचिन्तन न था क्योकि यदि वास्तविक शास्त्र-चर्चा के लक्ष्य से इस काल के लक्षण ग्रन्थ लिखे गए होते तो सूक्ष्म विवेचन द्वारा नए-नए तथ्यो का विधिवत उद्घाटन होता और रीति-ग्रंथों की इतनी बड़ी राशि एकत्र न की गई होती। स्पष्ट है कि काव्य-कौशल का प्रदर्शन रीतिकर्ताओं का प्रमुख उद्देश्य था और यही प्रवृत्ति कला के प्रति विशेषाग्रह का प्रमुख कारण बनी। रीतिबद्ध काव्य अधिकतर तो कला के प्रदर्शन के लिए ही लिखा गया। रीति कवि की इस कलाप्रियता की प्रवृत्ति का विवेचन और उसके

कारणों की खोज डा० नगेन्द्र ने अपने प्रबंध मे बडी अंतर्दृष्टि के साथ की है [1]—
"रीतिकाल के कवि वे व्यक्ति थे जिनको प्रायः साहित्यिक अभिरुचि पैतृक परम्परा के रूप मे प्राप्त थी— काव्य का परिशीलन और सृजन इनका शगल नही था, स्थायी कर्त्तव्य कर्म था। ये लोग यद्यपि निम्न वर्ग के ही सामाजिक होते थे परन्तु अपनी काव्य-कला के द्वारा ऐसे राजाओ और रईसो का आश्रय खोज लेते थे जिनकी सहायता से इनकी काव्य-साधना निर्विघ्न चलती रहे। अतएव इनका संपूर्ण गौरव इनकी काव्य-कला पर ही निर्भर रहता था—इसी कारण कविता इनके लिए मूलतः एक ललित कला थी जिसके बल पर ये अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करते हुए गोष्ठी के शृगार बन पाते थे।...... (इस काल की कविता) कलात्मक कविता है—स्वभावतः उसमे वस्तु तत्व (Objectivity) असदिग्ध है। इसलिए उसकी मूल्य प्रेरणा सीधी आत्माभिव्यंजना की प्रवृत्ति मे न खोज कर आत्मप्रदर्शन की प्रवृति मे खोजनी चाहिए। हिन्दी साहित्य के प्राचीन इतिहास मे यही युग ऐसा था जब कला को शुद्ध कला के रूप मे ग्रहण किया गया था। अपने शुद्ध रूप में रीति कविता न तो राजाओ और सैनिको को उत्साहित करने का साधन थी, न धार्मिक प्रचार अथवा भक्ति का माध्यम थी, न सामाजिक अथवा राजनीतिक सुधार की परिचारिका ही। काव्यकला का अपना स्वतत्र महत्व था—उसकी साधना उसी के अपने निमित्त की जाती थी—वह अपना साध्य आप थी।"

रीति निरूपण

संस्कृत मे काव्यशास्त्र का ऐसा विशद, व्यापक और सूक्ष्म निरूपण और विवेचन हो चुका था कि केशव, श्रीपति, भिखारीदास, प्रतापाहि ऐसे अनेक संस्कृतज्ञ हिन्दी कवियो के मन मे यह लोभ जागृत हुआ कि सस्कृत की काव्य-रीति की परम्परा को हिन्दी मे अवतरित करे। ऐसा करने का उन्होने उद्योग भी किया किन्तु काव्य-सिद्धान्तो की जैसी समृद्ध विवेचना सस्कृत मे उपलब्ध थी वैसी हिन्दी मे प्रस्तुत नही की जा सकी। हिन्दी रीति ग्रथो में जो कुछ भी विवेचित हुआ वह अधिकतर संस्कृत काव्यशास्त्र पर ही आधारित था फिर भी विषयवस्तु और प्रतिपादन-शैली दोनों दृष्टियो से वह उतना प्रौढ़ और गंभीर नही है। देखादेखी हिन्दी मे रीति ग्रंथों की बाढ तो बडी आई किन्तु विवेचन और निरूपण हल्का और सतही ही रहा। उसमें गभीरता, नवीनता, मौलिकता और सूक्ष्मता का अभाव ही रहा। ये कवि अधिक से अधिक कवि-शिक्षा की पाठ्य पुस्तकें ही प्रस्तुत कर सके। रस, अलङ्कार आदि का साधारण निरूपण मात्र हो पाया। कुछ आचार्यों ने अवश्य मौलिकता, जानकारी

---

१. डा० नगेन्द्र : रीति काव्य की भूमिका (सन् १९५३) पृ. १३२-३३

और आचार्यत्व का परिचय दिया[1] किन्तु शेष का तात्विक योगदान नगण्य ही रहा। फिर प्राचीन स्थापनाओ का प्रत्याख्यान और अभिनव नियमो और सिद्धान्तो का अन्वेषण तो दूर की चीज थी। एक-दो साधारण रीतिग्रन्थ लिखकर कवि जब आचार्य रूप मे प्रसिद्धि पाने लगे तो उनके शिष्यो ने कालान्तर मे बिना प्रयास ही साधारण रीतिग्रथो का प्रणयन कर डाला और चट आचार्य पद पर आसीन हो गये। कवि-शिक्षा का यह क्रम ऐसा चला कि शास्त्र और कवित्व दोनो आहत होने लगे। कविता रीतिबद्ध होकर ह्रासोन्मुख हुई और रीति या काव्यशास्त्र का चलता हुआ या आरम्भिक ज्ञान गभीर गवेषणात्मक या विश्लेषणात्मक शास्त्रसृष्टि कर सकने मे सर्वथा असफल रहा। जिन्होंने रीति ग्रन्थ न लिखा काव्य ही लिखा वे ही भले रहे। कवित्व का उनमे कुछ उत्कर्ष ही रहा परन्तु रीति का पल्ला जिन्होने पकडा वे दोनों दीन से गए। केशव, मतिराम, देव, भूषण, पद्माकर, भिखारीदास आदि को अपवाद ही समझना चाहिए। वास्तविक बात यह थी कि हिन्दी के रीति कवि सरस काव्य की रचना द्वारा अपने शौकीनमिजाज आश्रयदाता, राजा, रईसो, उमरावो और संभ्रात रसिक नागरिको का मनोविनोदन कर प्रतिष्ठा पाना चाहते थे। कभी-कभी उन्हें अपने पाण्डित्य के प्रदर्शन की भी स्पृहा होती थी। रीति ग्रन्थ की रचना तो उन्होंने आचार्यत्व की झूठी पदवी के प्रलोभन मे आकर की या अपने-अपने आश्रयदाताओ, कतिपय काव्यरसिको या नवाभ्यासियो को काव्यागो का साधारण ज्ञान करा देने के उद्देश्य से की। मौलिक सिद्धान्तों का निर्वचन तो इनका लक्ष्य ही न था, इनमे उसकी क्षमता भी न थी। रीति के ये आचार्य सस्कृत के उन्ही उत्तरकालीन लक्षण ग्रंथो के सहारे अपने रीतिग्रन्थो के निर्माण मे प्रवृत्त हुए जो सरल और सुबोध शैली में लिखे गये थे जिनमे मौलिक सिद्धान्तो की सूक्ष्म मीमासा तो न थी किन्तु काव्यरीति सम्बन्धी बातो को सरलता से समझाया गया था। उदाहरण के लिए चन्द्रालोक, कुवलयानन्द, रसतरगिणी, रसमञ्जरी आदि। किसी-किसी की दृष्टि साहित्यदर्पण और काव्यप्रकाश पर भी गई किन्तु मौलिक काव्य सिद्धान्तो के उद्भावक आचार्यों की इस प्रकार की कृतियो—काव्यालङ्कार, काव्यादर्श, काव्यालङ्कार सूत्र, वक्रोक्ति जीवितम्, ध्वन्यालोक, काव्यालङ्कार, सूत्र वृत्ति, ध्वन्यालोक लोचन आदि—तक हिन्दी रीति के आचार्यों को जाने का साहस न हुआ क्योकि काव्यसम्बन्धी सूक्ष्म तथ्यानुसंधान तथा खंडन-मण्डन द्वारा किन्ही सिद्धान्तो का निषेध और किन्हीं की स्थापना की। इनमें न तो गम्भीर अभिरुचि ही थी, न उसके लिए अपेक्षित पाण्डित्य ही और न वैसी तथ्यान्वेषिणी मेधा ही। केशव दास ऐसे दो-एक आचार्यों ने दण्डी

---

[1], देखिये डा० सत्यदेव चौधरी कृत 'हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य' जिसमें हिन्दी के रीति आचार्यों के मौलिक शास्त्रचिंतन का विस्तृत विवेचन किया गया है।

के काव्यादर्श और केशव मिश्र के अलङ्कारशेखर तक की यात्रा की किन्तु सूक्ष्म विवेचन-निरूपण का लक्ष्य उनके सामने भी न था। छन्दोबद्ध रचना भी सूक्ष्म विवेचना के लिए उपयुक्त साधन नही प्रस्तुत करती थी। हिन्दी रीति के आचार्य अभिनववादो की कल्पना और स्थापना क्या करते जब उन्होने काव्यसम्बन्धी मूलभूत बहुत सी बातो की ही चर्चा नही की है। उदाहरण के लिए काव्य का स्वरूप, उसकी आत्मा, रस निष्पत्ति के सिद्धान्त, रस और अलङ्कारो की काव्य मे स्थिति, काव्य लक्षण, शब्दशक्ति, गुण, वृत्ति आदि।

वैसे तो सस्कृत मे प्राप्य कितने ही काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ हिन्दी रीतिकारो के उपजीव्य रहे किन्तु फिर भी प्रमुख रूप से संस्कृत काव्यशास्त्र के जिन कृती कर्ताओ की कृतियो का हिन्दी रीति शास्त्रीय ग्रन्थो पर प्रभाव रहा वे इस प्रकार है—

१. भरत—नाट्यशास्त्र	७. अमरदेव—काव्य कल्पलता वृत्ति
२. भामह— काव्यालङ्कार	८. जय देव—चन्द्रालोक
३. दण्डी—काव्यादर्श	९. अप्पयदीक्षित—कुवलयानन्द
४. उद्भट—अलङ्कार सार सग्रह	१०. मम्मट—काव्य प्रकाश
५. भोज—शृङ्गार प्रकाश, सरस्वती कण्ठा भरण	११. विश्वनाथ—साहित्यदर्पण
	१२. आनन्दवर्धन—ध्वन्यालोक
६. केशव मिश्र—अलङ्कारशेखर	१३. भानुदत्त—रसमञ्जरी, रसतरङ्गिणी

हिन्दी मे केशव तथा कुछ अन्य आचार्यों ने उपरिलिखित पहले ६ आचार्यों के ग्रन्थो को आधार बनाया शेष कवियो ने अन्य ७ का आधार ग्रहण किया। अलङ्कार ग्रन्थ लिखने वाले हिन्दी कवियो ने अधिकतर चन्द्रालोक और कुवलयानन्द का सहारा लिया, ध्वनि को महत्व देने वालो ने काव्य प्रकाश का और रस नायिका-भेद के लेखको ने रसमञ्जरी, रसतरङ्गिणी, साहित्यदर्पण और नाट्यशास्त्र का। यह आधार किसी ने तो स्वाध्याय से प्राप्त किया और किसी ने देखादेखी, श्रुति परम्परा से या योग्य गुरुओ से। इन सस्कृत ग्रन्थो का अच्छा अध्ययन करने वाले अनेक न थे, अधिकांश ने आधार भी चलताऊ ढङ्ग से ग्रहण किया। कारण स्पष्ट है। दोनो के उद्देश्य भिन्न थे। सस्कृत के आचार्य काव्य-सिद्धान्तसम्बन्धी गम्भीर कर्म मे रत थे, हिन्दी के कवि साधारण शास्त्रज्ञान के बल पर आचार्य पद पाना चाहते थे। आचार्यत्व उनके पास न था कवित्व जरूर था अतएव चलते हुए ढङ्ग से लक्षण देकर अपनी ललित रचना को वे यथास्थान बिठा दिया करते थे या फिर लक्षण के अनुरूप छद का निर्माण कर दिया करते थे। लगभग दो-ढाई सौ वर्षों तक यही क्रम रहा। इन रचनाओ को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि रीतिकाल के अधिकाश रीति

ग्रन्थकर्ता, रीति के आचार्य न थे उनके लक्षण अस्पष्ट और अपूर्ण है। उनकी कृतियो के औदाहरणिक भाग ही सुन्दर बन पडे हैं, उन्ही मे उनकी काव्य-प्रतिभा, भाषाधिकार, सौन्दर्य-कल्पना आदि का सच्चा प्रस्फुटन हुआ है। इसी कारण रीतिकाव्य के कड़े से कड़े आलोचक ने एक बात बेलाग स्वीकार की है। वह यह कि रसो और अलङ्कारो या अभिनव शृङ्गारिक उद्भावनाओ के जितने अधिक सरस और मार्मिक उदाहरण रीतिकाल मे प्रस्तुत किये गये उतने सस्कृत के समस्त लक्षणग्रन्थो मे भी नहीं मिल सकते।

रीतिकालीन रीति-निरूपण मे पहली विलक्षण बात यह हुई कि एक ही व्यक्ति कवि और आचार्य होने लगे। सस्कृत मे यह परम्परा न थी। आचार्य लक्षणों का निरूपण या मत प्रतिपादन करता था उदाहरण यशस्वी कवियो के रखता था। हिन्दी के रीतिकार रीतिनिरूपण भी करते थे और उदाहरण भी खुद गढ़ते थे। संस्कृत मे आचार्य और कवि भिन्न-भिन्न व्यक्ति होते थे हिन्दी मे इस प्रकार का कोई भेद न रहा। इस एकीकरण से हिन्दी आचार्यत्व को क्षति पहुँची। काव्य-सिद्धान्तो की जैसी सूक्ष्म विवेचना होनी चाहिये थी न हो सकी, खण्डन-मण्डन तर्क-वितर्क द्वारा स्वमत स्थापन, अभिनव सिद्धान्त निरूपण आदि कुछ न हो सका। एकाध दोहे में अपर्याप्त लक्षण देकर काम चलता किया गया, काव्य-कौशल का निदर्शन उदाहरण रूप मे दिये गये कवित्त सवैयों मे किया गया। एक श्लोक या चरण मे ही लक्षण देने की यह पद्धति चन्द्रालोक से ग्रहण की गई। फल यह हुआ कि अलङ्कारादि का स्वरूप विश्लेषण तक ठीक-ठीक न हो सका। इसका एक कारण यह अवश्य था कि ये रीति ग्रन्थ पद्यबद्ध थे। पद्य मे सिद्धान्तों की सूक्ष्म और तर्कसम्मत विवेचना सम्भव नही। अनेक स्थलो पर लक्षण भ्रामक हो गये हैं और उदाहरण सदोष या अनुपयुक्त। शब्दशक्ति, ध्वनि, रूपक या नाट्य-सिद्धान्तो का विवेचन तो न के बराबर ही रहा। कहने का आशय यह है कि गम्भीर शास्त्र-चिंतन तो दूर सफल, सुबोध और सच्चा काव्याङ्ग निरूपण तक मुश्किल से मिलता है। ऐसी स्थिति मे अलङ्कार, रस, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य आदि काव्य मतो के विवेचन का सवाल ही नही उठता। इधर रीतिकाव्यालोचको और अनुसन्धानकर्ताओ ने अवश्य विभिन्न रीतिकारों को विभिन्न काव्य सिद्धान्तो का मानने वाला सिद्ध करने की अथवा उन्हे विभिन्न मतो के पृथक-पृथक वर्गों में डालने की चेष्टा की है[1], परन्तु उक्त काव्य सम्प्रदायों की स्थापना या प्रवर्तन का काम हिन्दी मे नही हुआ, यह सत्य है। उपर्युक्त विवेचन

---

[1], हिन्दी साहित्य : द्वितीय खण्ड (भारतीय हिन्दी परिषद् प्रयाग) सन् १९५९ पृ० ४२७-४५९ तथा डा० नगेन्द्र: रीतिकाव्य की भूमिका (सन् १९५३) पृ० १५४-५७ भगीरथ मिश्र : हिन्दी रीति साहित्य (सन् १९५६) पृ० २८-१०४

से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि रीतिग्रंथो के कर्ता भावुक और सहृदय कवि थे, काव्यरीति के ज्ञान से अधिक उसके प्रयोग और व्यवहार मे प्रवीण। उनका उद्देश्य काव्य-सृजन था। शास्त्रचिन्तन या प्रौढ काव्याङ्ग-निरूपण नही। सच बात तो यह है कि संस्कृत मे काव्यचिंतन पूरी प्रौढ़ता को पहुँच चुका था, उस परिपक्व सैद्धान्तिक विचारणा से ही हिन्दी रीतिप्रेमी पूरी तरह अवगत नही थे, उससे आगे जाकर कुछ कह सकने की तो बात ही वृथा है। पं० विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र के अधोलिखित कथन से[१] उक्त मत की पुष्टि होती है "यदि रीति का विवेचन इनका साध्य होता तो ये संस्कृत के आचार्यो की भाँति प्रत्येक विषय के विमर्श मे लगते, दोहों में लक्षण देकर काम चलता न करते। शास्त्र के पुराने विवेचक पहले से प्रस्तुत ग्रन्थो या विवेचित पक्षो को हृदयङ्गम करते थे, तब उस पर अपना स्वच्छन्दमत प्रकट करते थे। हिन्दी के ये आचार्य तो काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, काव्यादर्श, रसतरंगिणी, रस-मञ्जरी, चन्द्रालोक, कुवलयानन्द, वृत्तरत्नाकर मे से एक या दो ग्रंथ सामने रख लेते और लक्षणो का टेढा-सीधा पद्यबद्ध उल्था करके हिन्दी मे संस्कृत-उदाहरण से मिलता-जुलता दूसरा उदाहरण गढ देते थे। कही-कही लक्ष्य का भी उल्था ही दिया जाता था। फल यह हुआ कि जहाँ रीति के विवेचन का अल्प प्रयास दिखाई भी पड़ा वहाँ भी सारा ग्रंथ भ्रान्तिशून्य न बन सका। विषय पूर्णतया हृदयङ्गम करके यदि ग्रन्थ प्रस्तुत किये जाते तो ऐसा प्रायः न होता। केशव, देव, दास, पद्माकर ऐसे आचार्यों से भी संस्कृत की विवेचित सामग्री का सग्रह करने मे भ्रान्ति हो गई है फिर औरो की तो बात ही क्या!"

यह बात निर्विवाद ही है कि भामह, दण्डी, वामन, कुन्तक, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त और मम्मट की काव्यविषयक गंभीर मीमांसा के रहते हुए हिन्दी राज्याश्रित कवि कोई नया काव्य-चिन्तन नही कर सकते थे। स्थूल नियमो को बोधगम्य रूप से निरूपित कर लेते इतना ही बहुत था। इनके रीति-निरूपण की सदोषता एवं उसके स्तर की साधारणता के ४ कारण डा० नगेन्द्र ने गिनाए हैं[२]—

(१) सस्कृत-साहित्य-शास्त्र की जिस उत्तरकालीन परिपाटी का वे अनुकरण कर रहे थे, स्वयं उसमे ही खडन-मण्डन और शूक्ष्म विवेचन की प्रणाली नही रह गई थी।

(२) जिसके लिए इन ग्रथों की रचना हो रही थी वह पंडितो का वर्ग न

---

[१] शृङ्गारकाल (सन् २०१७) पृ० ३५६-६०

[२] डा० नगेन्द्र: रीति काव्य की भूमिका (सन् १९५३) पृ० १३३-३४ (हिन्दी रीतिकारों द्वारा गृहीत रीति निरूपण शैलियों, उनकी मौलिक उद्भावना और आलोचना-शक्ति के विस्तृत अध्ययन के लिए देखिये पृ० १३४-१५४.

होकर केवल रसिको का ही समुदाय था, जिनमे अर्तविश्लेषण की सूक्ष्मताओ को ग्रहण करने का धैर्य नही था। जो केवल उतने ही काव्याङ्ग परिचय की अपेक्षा करते थे जितना कि उनकी रसिकता के पोषण के लिए अनिवार्य था।

(३) गद्य की विवेचना-शैली का अभाव।

(४) अनेक कवियो का अपरिपक्व शास्त्र-ज्ञान।

एक अन्य कारण यह प्रतीत होता है कि जिन लोगों के लिए ये ग्रथ लिखे गये वे काव्यशास्त्र का प्रारम्भिक ज्ञान भी रखने वाले नही थे फलतः इन ग्रन्थो के माध्यम से काव्य सिद्धान्तो या काव्याङ्गो का प्रारम्भिक ज्ञान कराना ही इनके रचयिताओ का उद्देश्य था। गम्भीर शास्त्रीय विवेचन की ओर गुरु और शिष्य किसी की रुचि न थी। राज सभा मे बडप्पन पाने के लिए गुरु ग्रंथ प्रणयन करता था और शिष्य उसका अनुशीलन। अपने आश्रयदाता को काव्य-शिक्षा देकर उसका कृपाभाजन बनना भी इन रीतिग्र थकारो का लक्ष्य था अतएव अनेक रीति-रचयिताओ ने अधूरे या चलते हुए लक्षण देकर उदाहरणो मे अपने आश्रयदाता की प्रशंसा भी की है। रीति-रचना और काव्य-प्रणयन दोनो का लक्ष्य गिर जाने से भी शास्त्र और काव्य दोनो की क्षति हुई है। फिर भी उदाहरणों में सरसता या चमत्कार ले आने की कवियों ने कोशिश की और इस उद्देश्य मे वे अवश्य सफल रहे। रीतिग्रंथो मे चमत्करण का वैशिष्ट्य अवश्य मिलेगा।

काव्य-सिद्धान्तों के निरूपण या परिपालन की जहाँ तक बात है यह तो स्पष्ट ही है कि संस्कृत साहित्य शास्त्र के इन ५ मतों—अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और रस में सभी का प्रभाव हिन्दी रीतिकारो पर पडा परन्तु विशेष प्रभाव अलङ्कार ध्वनि और रस सप्रदायो का ही रहा, रीति और वक्रोक्ति का नही। इन सिद्धान्तो का भी तर्कसङ्गत विवेचन या निरूपण नही, उनकी शास्त्रीय चर्चा नही वरन् साधारण परिचय ही दिया गया है। रस का गम्भीर विवेचन नही है और न उसके आस्वाद या साधारणीकरण आदि की व्याख्या की गई है। समस्त रसो का भी निरूपण ठीक से नही मिलता। रस ग्रन्थो मे भी नायिका-भेद के विवेचन की ओर विशेष प्रवृत्ति है। हाँ, अलङ्कारो के लक्षणोदाहरणयुक्त विवेचन का प्रयास सबसे अधिक हुआ है।[१] अनेक बार अलङ्कारों का निर्भ्रान्ति निरूपण भी संभव नही हो सका है, उदाहरण लक्षणानुकूल नही प्रस्तुत किया जा सका है। ध्वनि और शब्द-शक्ति की बहुत ही साधारण चर्चा थोडे से रीतिग्रंथों मे मिलती है। फिर भी इतना तो

१. अलङ्कार निरूपण की अधिकता और अलङ्कारो के प्रयोगो की अतिशयता के कारण मिश्र बंधुओं ने इस युग को 'अलंकृत काल' और डा० रसाल ने 'कलाकाल' नाम दे डाला।

है कि औदाहरणिक या काव्य-रचना वाला अश पर्याप्त आकर्षक बन पडा है। और यही इन रीतिकारो का प्रमुख उद्देश्य था। शास्त्रीय प्रणाली को दृष्टि मे रखते हुए कवित्व का प्रदर्शन ही इनका अभीष्ट था, साहित्य शास्त्र के विविधाङ्गों का पाण्डित्य-पूर्ण विवेचन करना नही। गुण, रीति, वृत्ति आदि की प्रासङ्गिक या आनुषंगिक रूप से कही-कही चर्चा कर दी गई है जैसे वृत्ति की चर्चा केशव की 'रसिकप्रिया' मे रस वर्णन की शैली के रूप मे की गई है। गुणो की चर्चा चिन्तामणि के 'कविकुल कल्पतरु' मे कुलपति के 'रस रहस्य में' और श्रीपति, सोमनाथ, दास आदि के ग्रथो में मिलती है। रति का हल्का वर्णन जगतसिह के 'साहित्य सुधानिधि' मे उपलब्ध है।

यह बात तो सर्वस्वीकृत ही है कि रीतिकालीन लक्षण ग्रथ अधिकतर सस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो पर आधारित है। संस्कृत काव्य शास्त्र मे काव्य-सिद्धान्त के साथ-साथ नाट्य सिद्धान्त और कवि-शिक्षा विषय भी विवेचित हुए हैं परन्तु रीति काल में नाट्य सिद्धान्त और कवि-शिक्षा का विवेचन नही के बराबर है। नारायण कृत 'नारायण-दीपिका' हिन्दी का नाट्यविधान सबंधी एक मात्र ग्रथ है। इसी प्रकार कवि-शिक्षासंबधी एक मात्र हिन्दी ग्रथ केशव की 'कविप्रिया' ही है जो रीतिकाल के पहले ही लिखी जा चुकी थी।

हिन्दी के रीति ग्रन्थकार सस्कृत साहित्य शास्त्र के विभिन्न वादो के अंगीकरण या तिरस्करण के फेर मे नही पडे। वे अधिकतर अलंकार तथा रस (नायिका-भेद) पर रीति ग्रंथ लिखते रहे। कुछ ने उभय विषयो को उठाया। अलकार विवेचन के लिए ये कवि अधिकतर अप्पय दीक्षित के कुवलयानंद और रस या नायिका-भेद विवेचन के लिए भानुदत्त मिश्र की 'रस मजरी' के ऋणी रहे। संस्कृत के ये आचार्य किसी सप्रदाय विशेष के न थे फलतः इनके हिन्दी अनुकर्त्ता भी किसी वाद या संप्रदाय के मानने वाले न हुए। कछ हिन्दी रीतिकार अनेकांग निरूपक हुए। उन्होने मम्मट (काव्य-प्रकाश या विश्वनाथ (सहित्य दर्पण) का सहारा लिया। मम्मट और विश्वनाथ क्रमशः ध्वनि और रसवादी थे। इन सिद्धान्तो का प्रभाव हिन्दी अनुकर्ताओ पर भले रहा हो परन्तु सज्ञान भाव से ये इन संप्रदायो के अनुसर्ता थे ऐसा नही कहा जा सकता। हिन्दी रीतिकारो को विभिन्न काव्य संप्रदायों मे हम अपनी ओर से बाँट ले तो बात अलग वे किन्ही सप्रदायो मे विभक्त नही थे। उनका वह उद्देश्य ही नही था। विभिन्न काव्य-मतों की उन्हे सम्यक जानकारी भी नही थी अतएव किसी एक के अनु-सरण की बात ही नही उठती। मात्र रस या अलंकार-निरूपण की ओर उन्मुख होने के कारण हम किसी को रसवादी या अलंकारवादी नही कह सकते।

जब हिन्दी रीतिकार इतनी बड़ी सख्या मे रीति ग्रंथो की रचना करते हुए भी अपने कार्य मे सफल न हो सके तो स्वभावतया यह प्रश्न उठता है कि ये कवि रीति-ग्रंथो के प्रणयन के फेर मे पडे ही क्यों ? क्या इसलिये कि ये हिन्दी साहित्य के विकास-

क्रम से परिचित थे और उसके आधार पर हिंदी को ये अपना रीति शास्त्र बनाना चाहते थे और इस प्रकार हिंदी काव्य का दिशा निर्देशन करना या संस्कृत मे उपलब्ध प्रभूत शास्त्र सामग्री को हिंदी मे लाकर उसके भडार की श्रीवृद्धि करना। यदि हिंदी लक्ष्य के आधार पर लक्षणों की रचना कर हिन्दी काव्य का नियमन इनका उद्देश्य होता तो इनके रीति ग्रथो का औदाहरणिक भाग पूर्ववर्ती हिंदी कवियो के उदाहरणों से ओत-प्रोत होता जैसा कि संस्कृत रीति ग्रथो मे मिलता है। पूर्ववर्ती हिंदी काव्य मे उदाहरणार्थ दी जाने वाली सामग्री की कोई कमी न थी। दूसरे यदि हिंदी काव्य के आधार पर रीति के नियमो का निर्धारण इनका लक्ष्य होता तो रीति ग्रथों मे विचार की दृष्टि से कुछ प्रगति या नवीनता आई होती परन्तु दो सौ वर्षों के इस रीतिकाल मे रीति-निरूपण या काव्यचिंतनसबधी कोई क्रम-विकास या नवीनता नही मिलती। यदि कही कोई नवीनता मिलती भी है तो वह प्रसगवश, तत्वचितन के परिणाम-स्वरूप नही। ऐसी नवीनता का स्रोत सस्कृत के ग्रंथो मे ढूँढ़ने पर मिल भी सकती है यदि हिंदी रीतिकारों ने हिंदी रीति ग्रथो को देखा भी है तो सुविधा और श्रम-लाघव की ही दृष्टि से देखा है रीति विवेचन को अग्रसर करने की दृष्टि से नही। उदाहरण के लिए प्रतापसाहि, सोमनाथ और भूषण ने क्रमशः कुलपति, जसवंतसिंह और मतिराम के ग्रन्थो से सहायता ली है। कुछ आचार्य ऐसे अवश्य थे जिनकी दृष्टि हिन्दी काव्य के विकास पर रही जैसे देवदास आदि। इन्होने सर्वथा नई नायिकाओ का उल्लेख किया है। दास का तुक-वर्णन और दोषविवेचन हिंदी की दृष्टि से मौलिक और महत्वपूर्ण है परन्तु यह नवीनता या मौलिकता हिन्दी रीति विवेचन के परिणाम को देखते हुए नगण्य है। इस क्षमता के आचार्य भी हिंदी मे कितने है? कही-कहीं हमे जो नवीनता मिलती है उसे हम भ्रमवश ही नवीनता कहने लगते है उदाहरण के लिए तोष, रसलीन, दास आदि की उद्बुद्ध या उद्बोधिता नामक नायिकाएँ अकबर-शाह कृत 'शृगार मंजरी' मे देखी जा सकती है। केशव के नवीन लगने वाले काव्य-दोष मम्मट के दोष प्रकरण मे नाम भेद से, पाये जा सकते हैं। केशव द्वारा वर्णित अध और बधिर दोष मम्मट के 'प्रसिद्ध-विरुद्ध' और 'असमर्थ दोष' ही हैं। पगु परंपरागत 'हतवृत्तता' ही है। भूषण के 'भाविक छवि' और देव के 'छत्र' सचारी की भी यही दशा समझिये। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी रीतिकारों का लक्ष्य लक्ष्यग्रन्थो के आधार पर हिंदी के किसी नवीन काव्य शास्त्र का निर्माण करना नही था वरन् संस्कृत काव्य-रीति से अनभिज्ञ हिन्दी कवियो और काव्यप्रेमियों को परिचित कराना और इसीलिए उन्होने संस्कृत ग्रन्थो का अधिकतर उलथा किया अथवा आधार ग्रहण करते हुए अपने रीति ग्रन्थ लिखे।

रीति के निरूपण मे हिंदी रीतिकारों ने कठिन विषयो का त्याग और सरल

निष्पत्ति, साधारणीकरण, काव्य की आत्मा, ध्वनिविचार, काव्य का स्वरूप, अलंकार और रस का संबंध, काव्य-लक्षण, शब्द-शक्ति, व्यंजना, रससंबधी भरत सूत्र के व्याख्याताओ के चारो मतो—गुण-अलकार गत भेद, काव्य दोष आदि गंभीर विवेचना-पेक्षी मत-मतातरो के तो पचडे में ये सामान्यतया पडे ही नही। इनमे इन सबके विवेचन की न क्षमता ही थी और न धैर्य ही। नायक-नायिका-भेद जैसे रोचक और अलंकार-परिचय जैसे सरस विषयो तक ही इन्होने अपने को प्रमुखतः सीमित रखा। इस विषय-निर्वाचन से भी इतना स्पष्ट हो जाता है कि गंभीर शास्त्रचितन का तो लक्ष्य लेकर ये चले ही नही। हिंदी काव्य-रीति के अनेकाग या विविधाग निरूपक आचार्य भी गभीर शास्त्रचितन से विरत ही रहे। स्थूल विषयों के स्थूल वर्गीकरण एवं लक्षण उदाहरण देने तक ही उनका रीतिकर्म सीमित रहा। इक्के-दुक्के कुलपति और प्रतापसाहि जैसे आचार्यों ने जब शास्त्रगत किन्ही सूक्ष्म समस्याओ को उठाया भी है तो वे उसमे असफल ही रहे है। दास और कुलपति ऐसे एकाध मौलिकता लाने वाले आचार्यो का प्रयत्न भी निष्फल ही रहा है। विविधाग निरूपक आचार्यों के प्रयत्नो को यदि सम्मिलित कर दिया जाय तो भी काव्यशास्त्र या साहित्य दर्पण क समान व्यवस्थित और पूर्ण विवेचनात्मक सामग्री प्रस्तुत नही की जा सकती। नायिकाभेद विवेचन अपेक्षाकृत अच्छा है परन्तु सर्वथा निर्दोष वह भी नही रहने पाया है। भानुदत्त की रसमजरी के समान नायिकाओ के भेदोपभेदो के अव्याप्ति और अति व्याप्ति दोषरहित लक्षण प्रस्तुत नही किये जा सके है। इस प्रकार शास्त्रीय वर्ण्य के विस्तार, विवेचना की सूक्ष्मता और शास्त्रीयता तथा प्रतिपादन की गंभीरता आदि के विचार से हिंदी का रीतिकालीन रीतिशास्त्र अपग है जिसका मूल कारण यही है कि हिन्दी रीतिकार सस्कृत काव्यशास्त्रियो की भाँति गंभीर शास्त्रचिन्तन का उद्देश्य ले कर चले ही नही। संस्कृत आचार्य लक्ष्य को दृष्टि मे रखकर लक्षण ग्रन्थों का निर्माण कर रहे थे जब कि हिन्दी आचार्य पहले से बने हुए लक्षणो का आधार मात्र ग्रहण कर सुन्दर लक्ष्य का निर्माण करना चाहते थे। अपने इस उद्देश्य मे वे अवश्य सफल रहे। सरस और सुन्दर उदाहरणो का इन्होंने ढेर खड़ा कर दिया जो हिन्दी काव्य की गौरवपूर्ण सपदा है। उनमे अक्षय काव्यसौदर्य के साथ-साथ तत्कालीन राजसिक, सामाजिक और पारिवारिक जीवन की प्रतिच्छाया भी है। हिन्दी रीति ग्रन्थो मे से सरस उदाहरणो की इतनी अधिकता है कि वे लक्षण ग्रन्थ कम लक्ष्य ग्रंथ ही अधिक प्रतीत होते है। यह तथ्य भी इसी बात की ओर इंगित करता है कि हिंदी लक्षणकार कवि पहले थे रीतिशास्त्री बाद मे जब कि सस्कृत काव्य शास्त्री सच्चे अर्थों मे आचार्य थे।

हिन्दी रीति कवियो का रीति-विवेचन न तो पुष्ट, व्यवस्थित और पूर्ण ही है और न मौलिकतासपन्न। इसके निम्नलिखित कारण है :—

(१) ये रीतिकार आचार्य होने के साथ-साथ कवि भी थे। इतना ही नही ये कवि पहले थे आचार्य बाद मे फलतः ये कवित्व-शक्ति का तो सच्चा निदर्शन करने मे प्रयत्नशील थे और आचार्य पद पाने के लोभवश लगे हाथ लक्षणो की रचना द्वारा रीति की परंपरा का अनुसरण भी कर रहे थे। सच बात यह है कि इनका कवित्व इनके आचार्य को आच्छादित किये हुए था। इसीलिए इनका आचार्य कर्म शिथिल और हल्का था। इनका मूल उद्देश्य कवि कर्म था। आचार्य कर्म का आधार मन्न था।

(२) ये आचार्य सस्कृत रीति शास्त्र के निष्णात विद्वान् न थे। केशवदास, भिखारीदास ऐसे कुछ आचार्य इस कथन के अपवाद है। कदाचित् वैसी विद्वत्ता की इन्हे आवश्यकता भी न थी क्योंकि दरबार में रहते हुए रसिको का रजन ही इनका उद्देश्य था। शास्त्र की गभीरता को समझने और समझाने की न इन्हे फुरसत थी और न सुनने वालो को। शास्त्र की दुरूह और जटिल तथा सूक्ष्म समस्याओ को ग्रहण करने और उनकी चर्चा सुनने का धीरज किसको था। राजदरबारो के रगीन थातावरण मे इस सब की अपेक्षा न थी। हाँ काव्यरसिको को अलकार नायिका-भेद ऐसे रोचक विषयों का हल्का ज्ञान करा देने का उद्देश्य ये कवि अवश्य रखते थे जिससे काव्य-पाठ के समय वाहवाही पूरी मिल सके। इस हल्के और सीमित उद्देश्य के लिये ही ये रीति ग्रथ लिखे गए थे और अपने इस उद्देश्य मे ये रीतिकार अवश्य सफल रहे। दरबारो मे ऐसा काव्योपयोगी वातावरण इन रीतिसंबंधिनी रचनाओ द्वारा व्याप्त हो गया था। नवाभ्यासी कवि, काव्यप्रेमी राजे-रईस, कलाप्रेमी वेश्याएँ और सभासद विशिष्ट विशिष्ट अलकारो और नायिकाओ की जानकारी रखने लगे थे। उधर कवित्त तरगित हुआ और इधर नायिका विशेष का नाम उच्चरित होने लगा।

(३) फिर हिन्दी की गद्य शैली अविकसित और अशक्त अवस्था मे पडी थी जब कि सस्कृत का सबल और सशक्त गद्य रीति की बारीकियो को धुन-धुन कर सामने रख चुका था। ये सूक्ष्मताएँ पद्य मे लाई ही नही जा सकती थी और फिर दोहा जैसे छोटे छंद के अन्दर जिनका अधिकतर प्रयोग लक्षणों के निरूपण मे किया गया।

हिन्दी मे रीतिबद्ध काव्य की अपेक्षा क्यों हुई? इस सबध मे "लोगो ने प्रायः यही अनुमान लगाया है कि हिन्दी मे काव्य की सरणि का व्यवस्थित विधान करने के लिये शास्त्रीय ग्रंथों के निर्माण की आवश्यकता हुई और हिन्दी के कवियों ने अपना कर्तृत्व दिखलाया, जो लोग ऐसा कहते है वे यह भी स्वीकार करते है कि हिन्दी के ये कर्ता कर्ता ही थे आचार्य नही। अर्थात् इन्होंने शास्त्रीय विचार-विमर्श के लिये रीति-ग्रंथों का निर्माण नहीं किया, प्रत्युत अपनी कवित्व-शक्ति का प्रदर्शन करने के लिये उसका अवलब लिया। यदि इन सब का प्रयोजन साहित्य-विमर्श होता तो जितनी

ग्रंथ राशि इस युग में एकत्र हुई, उतनी की आवश्यकता ही न होती। संस्कृत में शास्त्र-चर्चा प्रभूत परिमाण मे हुई है, किन्तु शास्त्र ग्रंथो का ऐसा पहाड वहाँ नही दिखाई देता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि रीतिबद्ध काव्य करने वालो का लक्ष्य लक्षणग्रंथ प्रस्तुत करना होता तो इतना अधिक पिष्टवेषण या चर्वित-चर्वण की आवश्यकता न होती। यह तो नही कहा जा सकता कि इनमे से किसी ने शास्त्र-चर्चा का लक्ष्य रखा ही नही, किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि शास्त्र-चर्चा का स्वच्छंद विचार को खोज निकालने के लिए रीति काव्यो का ढेर फटकने पर भी विफल ही होना पडेगा। अतः यह निश्चित है कि काव्य-कौशल का प्रदर्शन यदि सबके लिये नही तो बहुतो या अधिकांश के लिए साध्य था।"[1]

रीति निरूपण की शैली—हिन्दी रीतिग्रन्थकारो के रीति-निरूपण की शैली पर जब हम दृष्टिपात करते है तो देखते है कि इस दिशा में भी उन्होने संस्कृत काव्य-शास्त्रियो की शैलियो का स्थूल रूप से अनुकरण किया है। "सस्कृत रीति के आचार्यों की ३ शैलियाँ बताई गई है[2]—

१. पद्यात्मक शैली—लक्षण और उदाहरण दोनो पद्य मे उदाहरण के लिये दण्डी, उद्भट, वाग्भट्ट प्रथम, जयदेव और अप्पय दीक्षित।

२. सूत्रवृत्ति शैली—शास्त्रीय सिद्धान्त सूत्रबद्ध और सूत्रो की वृत्ति गद्य में, उदाहरण पद्य मे। उदाहरण के लिये वामन और रुय्यक।

३. कारिकावृत्ति शैली—शास्त्रीय सिद्धान्त कारिकाबद्ध, व्याख्यात्मक विवेचना गद्यबद्ध वृत्ति मे और उदाहरण पद्य मे।

हिन्दी मे पद्यात्मक शैली ही विशेषतया स्वीकृत हुई। रीतिकारों ने शास्त्रीय विवेचन के लिये प्रायः दोहो का उपयोग किया है तथा उदाहरण कवित्त सवैयों मे दिये है। केशव, मतिराम, भूषण, देव, भिखारीदास, पद्माकर, बेनीप्रवीन आदि ने इसी शैली को अपनाया है। जसवत सिंह की शैली कुछ भिन्न है, उन्होने जसवंत सिंह के समान दोहो मे ही लक्षण उदाहरण भरने की चेष्टा की है। शेष दो शैलियाँ हिन्दी मे ग्रहीत नही हुई"[3]

---

[1]. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र :—शृंगारकाल, पृ० ३७७-७८

[2]हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास (सं० २०१५) पृ० २९३ डा० सत्यदेव चौधरी

[3]वही पृ० २९३ डा० सत्यदेव चौधरी लिखते हैं कि 'सूत्रवृत्ति शैली मे रचित हिन्दी का काई ग्रन्थ उपलब्ध नही है। कारिकावृत्ति शैली में चिंतामणि, कुलपति, सोमनाथ, प्रतापसाहि के ग्रन्थो को रख सकते है। पर वस्तुतः ये ग्रंथ संस्कृत आचार्यों की इस शैली के ठीक अनुरूप नही है।'

डा० नगेन्द्र ने हिन्दी मे रीति निरूपण की तीन शैलियाँ मानी है[1]—

(१) काव्य प्रकाश शैली जिसमें सभी काव्यागों पर थोडा-बहुत विचार हुआ है।

(२) शृङ्गार तिलक रसमजरी आदि की शृङ्गार एव नायिकाभेद वाली शैली जिसमे शृङ्गार एवं नायिकाभेद का ही विशेष रूप से निरूपण हुआ है।

(३) चन्द्रालोक शैली जिसमे सक्षेप में अलंकारों के ही लक्षणोदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं।

उन्होने इन तीनो शैलियो का पृथक-पृथक एवं सुन्दर विवेचन भी विस्तारपूर्वक किया है।[2]

कुछ विद्वान हिन्दी रीति निरूपण की शैलियो पर काव्य प्रकाश या चन्द्रालोक की शैलियो का प्रभाव तो मानते है किन्तु उनकी शैलियो का पूरा-पूरा अनुकरण नही।[3]

वस्तुतः हिन्दी की समस्त रीति-राशि पर जब हम दृष्टि डालते है तो देखते है कि रीति का निरूपण मुख्यतः इन शैलियो मे हुआ है :—

(१) चन्द्रालोक और कुवलयानन्द की निरूपण शैली जहाँ एक ही छन्द में या पद्यो मे लक्षण, उदाहरण दिये गये है, इसे संक्षिप्त पद्धति कह सकते है। सक्षिप्त पद्धति पर लिखे गये रीति ग्रन्थों में प्रायः किसी एक काव्याग या विषय जैसे रस या अलंकार का विवेचन किया गया है। इस शैली के प्रयोग में भी हिन्दी रीतिकारो ने कुछ अपना वैशिष्ट्य दिखाया है।

क—कुछ ने दोहा शैली अपनाई अर्थात् लक्षण और उदाहरण दोनों दोहो मे लिखे जैसे भाषाभूषण के रचयिता महाराज जसवत सिह। दोहा शैली के अन्तर्गत भी दो प्रवृत्तियाँ हैं: एक ही दोहे मे लक्षण और उदाहरण (एक पक्ति मे लक्षण दूसरी मे उदाहरण) तथा एक दोहे मे लक्षण और दूसरे मे उदाहरण। इस प्रकार लक्षण और उदाहरण एक साथ ही दिये गये है और पृथक पृथक भी।

ख—कुछ ने दोहा एवं कवित्त-सवैया शैली अपनाई अर्थात् लक्षण दोहो मे और उदाहरण कवित्त-सवैयो में लिखे जैसे मतिराम, भूषण, भिखारीदास, केशव, पद्माकर, बेनी प्रवीन। इस शैली का अनुसरण करने वालो की सख्या सबसे अधिक हैं।

ग—कुछ ने कवित्त-सवैया शैली का उपयोग किया है जैसे दूलह ने अपने 'कविकुल-

[1]रीतिकाव्य की भूमिका (सन् १९५३) पृ० १३४

[2]वही पृ० १३४—१४३

[3]डा० ओम प्रकाश : हिन्दी अलंकार साहित्य (सन् १९५६) पृ० ५२-५३

कंठाभरण मे केवल कवित्त-सवैयो का ही उपयोग किया है। इस शैली को स्वीकार करने वाले बहुत कम है।

इसी शैली मे कुछ रीतिकार तो ऐसे हुए जिन्होने लक्षण अपने रखे तथा उदाहरण दूसरो के रचे हुए। इसी कारण कुछ ने लक्षण दूसरो के लिखे हुए स्वीकार कर लिये तथा उदाहरण स्वरचित दिये, परन्तु ऐसे रीतिकारो की संख्या कम ही है। कुछ रीतिकार ऐसे हुए जिन्होने अपने लक्षण अपने आश्रयदाता पर ही घटाए अर्थात् उदाहरण मे आश्रयदाता का चरित्रगान किया। कुछ ने उदाहरणो का बाहुल्य रखा। कुछ ने लक्षण एक साथ दिये उदाहरण एक साथ। इस प्रकार रीति निरूपण मे कुछ छोटी-छोटी प्रवृत्तियाँ भी देखने को मिलती है।

(२) रीति निरूपण की दूसरी शैली विस्तृत पद्धति कही जा सकती है। काव्य प्रकाश, ध्वन्यालोक, साहित्यदर्पण, रसगंगाधर की व्याख्यात्मक शैली बहुत कम लोगों ने स्वीकार की। चिंतामणि (कविकुल कल्पतरु, काव्यविवेक), कुलपति (रस रहस्य), श्रीपति (काव्यसरोज), सोमनाथ (रसपीयूषनिधि), भिखारीदास (काव्य निर्णय), प्रतापसाहि (काव्य विलास) आदि ने किसी सीमा तक इसी दूसरी पद्धति का आश्रय लिया। इन कवियो की प्रवृत्ति रीति निरूपण की ओर ही रही है। कभी-कभी इन्होने टूटे-फूटे गद्य का भी सहारा लेकर अपनी बात स्पष्ट करनी चाही है। काव्य के समस्त अगो पर विचार करने का लक्ष्य लेकर ये रीतिकार चले है। इन्होंने गभीरतापूर्वक रीति कर्म करने की चेष्टा की है तथा काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयोजन, रस भाव ध्वनि, नायिका शब्दशक्ति रीति गुण-दोष पिंगल आदि सभी विषयो पर व्यवस्थित रूप से कुछ लिखा है। ऐसे आचार्य कम है किन्तु इनके रीति ज्ञान के संबंध मे शंका नही की जा सकती। ऐसे आचार्य जो शास्त्रीय पद्धति पर रीतिशास्त्र का सर्वाङ्गीण विवेचन करना चाहते थे दूसरो के उदाहरण भी कभी-कभी रखते थे तथा उसे लक्षणानुरूप सिद्ध करने के लिये थोडी बहुत गद्यात्मक व्याख्या भी दिया करते थे।

रीति काव्य की शृङ्गारधर्मिता

रीति काल की समूची काव्य राशि मे शृगार की कविता का प्राधान्य एक सर्वस्वीकृत सत्य है और इसी कारण इसे शृगार काल कहने मे भी कोई अनौचित्य नही दिखाई देता। यहाँ हमे यही देखना है कि क्यो शृंगार ही इस युग के काव्य की प्रधान रस एवं भावधारा के रूप मे ग्रहीत हुआ।

जीवन के प्रति ऐहिकतामूलक दृष्टिकोण—समसामयिक युग की राज-नीतिक और सामाजिक परिस्थितियो के कारण इस युग के काव्य मे एक ऐहिकता-

मूलक दृष्टिकोण विकसित हुआ जो पूर्ववर्ती भक्तिकाल मे नही मिलता। वीर रस, सगुण भक्ति, निर्गुणोपासना, सूफी प्रेमाख्यान, नीति आदि की अन्यान्य धाराएं भी इस काल मे प्रवाहित होती रही किन्तु रीतिरचना और शृंगारिक काव्य की प्रवृत्ति ऐसी प्रधान हुई कि अन्यान्य प्रकार की कृतियाँ परिमाण की दृष्टि से प्रचुर होते हुए भी नगण्य पड गई। इस धारा के अधिकाश कवियो का दृष्टिकोण मूलतः ऐहिक था आध्यात्मिक नही। हाँ, आध्यात्मिकता के संस्कार अवश्य शेष्य थे। इस युग के कवियो की दृष्टि जीवनपरक थी जबकि पूर्ववर्ती भक्त कवियो की दृष्टि वैराग्यपरक थी। इस जीवनपरकता या प्रवृत्तिपरकता के ही कारण रीतियुगीन काव्य मे नर और नारी के सम्बन्धों की विस्तृत चर्चा मिलती है। दोनो एक दूसरे के प्रति किस प्रकार आकृष्ट होते हैं, सकोच करते हैं, ललकते हैं, मिलते है, लोकलाज की बाधाओ, चबाइयो की चुगलियो और गुरुजनो की मर्यादाओ के रहते हुए अपने प्रणयपथ पर अग्रसर होते है, मिलन की स्थिति मे नानाविध प्रणय प्रसग उपस्थित किये जाते है, इसी प्रकार वियोग मे चित्त की नाना अन्तर्वृत्तियो का व्यवहार कैसा हो जाता है, मान-प्रवास आदि के सैकडो अवान्तर प्रसग—ये सारी बाते इस युग के शृगार काव्य मे उपस्थित की गई है। सक्षेप मे यह कि ये कवि प्रेम के क्षेत्र का कोना-कोना झाँक आये है, यह क्षेत्र कितना ही सँकरा और लौकिक क्यो न रहा हो। मानव मन की प्रणयाकाक्षाओ का इसमे विशद चित्रण हुआ है, वह परपरागत, अमौलिक, अश्लील और स्थूल ही क्यो न हो। सौन्दर्य के विधान और कुण्ठाहीन शृगार-चित्रण की दृष्टि से यह साहित्य हिन्दी के लिए लाछन का कारण नहीं कहा जा सकता वरन् उसका मंडन ही रहेगा। इसका खडन जिन्हे अभिप्रेत हो उन्हे आधुनिक युग मे प्रणीत मानसिक घुटन को व्यक्त करने वाली वे रचनाएँ पढनी चाहिये जो पत्र-पत्रिकाओ मे प्रतिदिन प्रकाशित होती रहती है या फिर सस्कृत के उस शृंगारिक काव्य का अवलोकन करना चाहिए जहाँ श्लीलता को तिलाजलि देकर कवि काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए है। जिन्हे इस पर भी ग्लानि न आती हो उन्हे आज के मानव का 'नहि जानत कोउ अनुजातनुजा' वाला आचरज देखना चाहिए। मनोवृत्ति की अधोगति और नैतिक ह्रास आज रीतियुग की तुलना मे कम से कम पचास गुना अधिक है। रीति युग के कवि की रचना मे इसी रूप मे समाज का बिंब देखना चाहिए। हाँ तो रीति युग के कवियो की दृष्टि ऐहिकतापरक थी इसके परिणामस्वरूप इस युग मे विभिन्न भौतिक जीवनोपयोगी विषयो पर ग्रथो का प्रणयन हुआ उदाहरण के लिए राजनीति, कामशास्त्र, शालिहोत्र, रमल, सामुद्रिक, पाकशास्त्र, आहारशास्त्र, सुरापान, मैत्रीभाव, संगीत, ज्योतिष, पक्षीज्ञान, आखेट, रत्न परीक्षा आदि। खोज रिपोर्टों से ऐसे ग्रंथों के प्रणीत होने का प्रमाण मिलता हैं। इन ग्रंथो के अध्ययन के परिणामस्वरूप इस युग के कर्ताओं की जीवन दृष्टि पर विशद प्रकाश पड़ने की सम्भावन है। ये कवि

अपने विनोद के क्षणो मे 'हुक्का' और 'मदिरास्वाद' ऐसे विषय के माहात्म्य का वर्णन कर किस प्रकार समाज-विनोदन किया करते थे, देखिये—

(क) तौर ते याके न तौर है और सुवास ते याके न और सुवास है।
याके अनादर ते न अनादर आदर याके न आदर कासु है॥
धीरता धीरज साहस सील उदारता औ प्रभुता को निवासु है।
अष्टऊ सिद्धि नऊ निधि के सुख हुक्कहि देखत पावत आसु है॥

(ख) येकई उदर तैं प्रगट है सुधा औ सुरा
येकै रूप येकै वर्ण सबन बैनाई है।
अजर अमर सुधा करत प्रसिद्धि सुरा
सुरनर मुनि देव जानि बस दाई है॥
सुधा मधुराई देव लोक में अलभ्य सुरा
षटरस तीनों लोक सुलभ सदाई है।
सुरन सुहाई गुन स्वाद गरु आई याते
सुधा सुरा नाम के पुराननि कहाई है॥

जीवन के प्रति यह मस्ती, उसके प्रति दृष्टिकोण का यह याथार्थ्य कितना प्रशंसनीय है। इस जिन्दादिली की जितनी कद्र की जाय कम है। यह जिन्दादिली, यही लौकिक भौतिकतावादी या ऐहिकतापूर्ण दृष्टि शृगार काव्य की सर्जना के मूल में है जिसके कारणों की अन्यत्र चर्चा की जा चुकी है। रीति के बंधन मे जकडे हुए कवि के काव्य मे भी यह दृष्टि स्पष्ट लक्ष्य की जा सकती है। प्रणय के संयोग-वियोग पक्षो मे नाना मनोदशाओ का जैसा स्वाभाविक विधान किया गया है वह साधारणतया प्राप्य नही। यौवनागम, रूपराशि के प्रभाव, प्रगाढ़ अनुराग, प्रियतम का प्यार, रूप और प्रेम का गर्व, अभिलाषाएँ, ईर्ष्या, रोष, खीझ, प्रणय, आसक्ति आदि के चित्र इतने हृदयग्राही और मन को खीच लेने वाले है क्योकि इनमें जीवन की स्वाभाविकता पूर्णतया बिंबित है। कला की आयोजना ने इन चित्रों को अधिक मार्मिक और अनुरंजक बना दिया है। कला और जीवन दोनो ने मिलकर रीति काव्य को सौन्दर्य से मढ़ दिया है। इन रचनाओ के माध्यम से हम तत्कालीन सामाजिक जीवन को समग्रतः नही तो अशतः अच्छी तरह जान सकते हैं। इस युग का साहित्य इतिहास को भी पर्याप्त सामग्री प्रदान कर सकता है। नीति और उपदेश सम्बन्धिनी रचनाएँ तो इस युग के समाज को उद्घाटित करती ही हैं, शृंगारिक कृतियाँ भी इस दिशा में पीछे नही हैं। रीति कवि की दृष्टि मे भोग की कितनी ही प्रधानता और दरबारदारी की कितनी ही उत्कट अभिलाष क्यो न हो मन और आँखों मे बसे हुए जीवन के बिब उसकी रचना मे यथावसर उतर ही पड़े है। पारिवारिक मर्यादाएँ, सामाजिक

विश्वास और मान्यताएँ, वैयक्तिक आदर्श और आचरण आदि के कितने ही स्फुट चित्र यत्र-तत्र बिखरे मिलेगे। इन चित्रो मे लुभा लेने की ऐसी अमोघ शक्ति है कि कुछ पूछिये नही। कही-कही वृत्तियो का ऐसा मनोग्राही चित्रण हुआ है कि देखते ही बनता है। दूर के खेडे (गाँव) को जाते हुए नायक को नायिका जाने नही देना चाहती। उसने और कोई स्थूल या प्रत्यक्ष उपाय इसके लिये न किये केवल गुलाब के फूलों का गजरा उसके मार्ग मे डाल दिया जिसका व्यंग्य आशय यह हुआ कि नायक नायिका के पाटप्रसून से सुकुमार भावों को रौद कर जाना चाहे तो चला जाय। भाव सवेदन का यह उपाय कितना मार्मिक है सहृदयों को बतलाने की जरूरत नही:—

गोगृहकाज गुवालन के कहै देखिबे को कहूँ दूरिके खेरो।
माँगि विदा लई मोहिनी सों पद्माकर मोहन होत सबेरो।
फैंट गही न गही बहियाँ न गरो गहि गोबिन्द गौन ते फेरो।
गोरी गुलाब के फूलन को गजरा लै गोपाल की गैल में गेरो॥ (पद्माकर)

जीवन के उपभोग की प्रवृत्ति—इस प्रकार यह बात सिद्ध है कि इस युग के काव्य मे जीवन के उपभोग की प्रवृत्ति प्रधान है, उसमे भौतिकता की ही प्रवृत्ति विशेष है आध्यात्मिकता की अत्यल्प। जो कुछ आध्यात्मिकता है भी वह स्वार्जित नही संस्कारवश है। रीति कवि जीवन और जगत को माया और भ्रम मानकर उसके प्रति अवहेलना का भाव नही रखते थे। उसके लिए जीवन यथार्थ और भोग्य था इसीलिये वे इसे प्रतीयमान समझ अपने को झुठलाने की कोशिश नही करते थे। इसी वास्तविक और भौतिक आनन्दमय जीवन के प्रति उनकी गहरी अभिरुचि थी। उसके उपभोग मे उनका पूर्ण विश्वास था। इसी कारण इनकी रचना में व्यक्त जीवन यथार्थ सौन्दर्य से पूर्ण, आकर्षक और लुब्ध करने वाला है। यौवन, विलास, संभोग, उन्माद आदि के जितने मोहक चित्र यहाँ मिलते हैं अन्यत्र नही। विषय की संकीर्ण परिधि मे भी रीति कवि ने बडी विशाल संसृति की सृष्टि की है जो अपनी व्यामोहिनी शक्ति के कारण पाठक को मुग्ध किये बिना नही रहती। सौन्दर्य क्या है, उसमे आकर्षण की गुरुता कितनी होती है, पहले-पहल की रीझ किस प्रकार लिप्सा जाग्रत करती है और आँखें किस प्रकार जाकर रूप की राशि में मुँह के बल गिर पड़ती है और यह गिरना भी ऐसा होता है कि फिर उससे विकास संभव नही दिखता इस सब का जीता-जागता चित्र यदि देखना हो तो रीति-काव्य को देखना पड़ेगा। इस सब का मूल उत्स रीति-कवि की उस प्रवृत्ति में निहित है जो जीवन को इन्द्रियों का समारोह मानती आई है। देव ने इसी जीवनाभिरुचि को कितनी विदग्धता से प्रस्तुत किया है—

धार में धाय धँसीं निरधार है, जाय फँसीं उकसीं न उधेरी।
री! अगराय गिरीं गहिरी, गहि फेरे फिरीं न, घिरीं नहिं घेरी॥

'देव' कछू अपनो बस ना, रस लालच लाल चितै भई चेरी ।
बेगि ही बूडि गई पँखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भई मेरी ।। (देव)

शृङ्गार की प्रधानता—इस युग मे लिखित समस्त काव्य-राशि मे शृगारी रचना ही परिमाण की दृष्टि से सबसे अधिक मिलती है । अन्य रस का वर्णन करने वालों ने भी शृंगार का त्याग नही किया इसके विपरीत शृगार का वर्णन करने वाले ऐसे एक-दो नही पचासो कवि मिलेगे जिन्होने शृंगार को छोड दूसरे रस की कविता की ही नही, बात यह है कि शृगार ही उनका साध्य था । भक्ति की रचना भी शृङ्गार-मिश्रित मिलती है । रीतिबद्ध अधिकाश कवियो का प्रधान वर्ण्य शृङ्गार ही था इसी कारण रस और नायिकाभेद के ग्रथ अधिक लिखे गए और शब्द-शक्ति तथा ध्वनि ऐसे क्लिष्ट काव्यांगों की ओर ये कवि गए ही नही । अलंकार ग्रथ भी अधिक लिखे गए किन्तु उनके औदाहरणिक भाग मे शृङ्गार के ही उदाहरण है । नखशिख, षड्ऋतु, बारहमासा आदि विभावमूलक रचनाएँ शृङ्गार-प्रधानता का ही प्रमाण प्रस्तुत करने वाली है ।

रस और अर्थकारो का निरूपण करते हुए कविजन शृङ्गार के ही सरस और मनोहर उदाहरण प्रस्तुत किया करते थे । नायिका-भेद विषयक ग्रथ सबसे अधिक लिखे गए फलस्वरूप शृङ्गार रस के एक से एक अनूठे छद सामने आए । ऐसे छंदो की सख्या शृङ्गार काल मे इतनी अधिक हो गई कि परिमाण मे इतनी रचना सस्कृत के लक्षण ग्रंथो से भी खोज कर नही जुटाई जा सकती । शृङ्गार के एक-एक अवयव को लेकर कवियो ने कितनी ही उद्भावनाएँ की है । शृङ्गार का वर्णन या निरूपण करते हुए उसके आलंबन नायिका का वर्णन वर्गीकरण अत्यधिक विस्तार से किया गया यहाँ तक कि रस के एक अंग आलंबन के एक अंग नायिका को तो छोडिये, नायिका के एक-एक अंग पर अलग-अलग ग्रथ लिखे गए जिसके परिणामस्वरूप 'तिलशतक' और 'अलकशतक' जैसी रचनाएँ सामने आती हैं । यह शृङ्गारिकता की हद है । 'नखशिख' वर्णन तो अत्यत प्रिय विषय बन गया । अकेले इसी पर कितने काव्य ग्रथ लिखे गए । इसी प्रकार शृङ्गार के उद्दीपक ऋतुओं तथा वर्ष के द्वादश मासों को लेकर कितने ही षड्ऋतु वर्णनात्मक ग्रथ और बारहमासे लिखे गए । यह सब शृङ्गारिकता और शृङ्गार रस को ग्रहण करने के परिणामस्वरूप हुआ । नारी युग की सारी शृङ्गार वर्णना का केन्द्र-बिन्दु हो गई । अधिकाश रचनाओ का वर्ण्य वही हो गई । नायक बेचारा दब गया । उसे काव्य का स्वतन्त्र विषय नही बनाया जा सका । इस बात से भी इस युग के काव्य को प्रवृत्ति पर सम्यक प्रकाश पड़ता है । रस का निरूपण करते हुए शृगार का ही अत्यंत विस्तार से वर्णन किया गया, शेष आठ रसो को उसके अंतर्भुक्त कर दिया गया और एक-एक छद मे उनका उल्लेख कर काम चलता किया

गया। शृङ्गारिकता की प्रवृत्ति तो यहाँ तक प्रबल हुई कि वीर या रौद्र रस का उदाहरण देना हुआ तो भी शृङ्गार के प्रसग के अंदर से ही उदाहरण छाँट कर लाये और वीरों के युद्ध के बजाय प्रेमी-प्रेमिका के 'रतिरण' का दृश्य सामने रखने लगे—

प्रिया जी को वीर रस—गति गजराज साजि देह की दीपति वाजि,
हाव रथ भाव पति राजि चल चाल सों।
लाज साज कुलकानि शोच पोच भवभानि,
भौहैं धनु तानि बान लोचन विशाल सों॥
केशोदास मन्द हास असि कुच भट भिरे,
भेट भये प्रतिभट भाले नख जाल सों।
प्रेम को कवच कसि साहस सहायक लै,
जीति रति रण आजु मदन गुपाल सों॥

(केशव : रसिकप्रिया)

प्रिया जू को रौद्र रस—केहरी की हरी कटि करी मृग मीन फणि,
शुक पिक कंज खंजरीट बन लीनो है।
मृदुल मृणाल बिब चम्पक मराल बेल,
कुंकुमरु दाडिम को दूनो दुख दीनो है॥
जारत कनक तन तनक तनक शशि,
घटत बढ़त बन्धु जीव गन्ध हीनो है।
केशोदास दास भयो कोविद कुँहर कान्ह,
राधिका कुँवरि कोप कौन पर कीनो है॥

(केशव : रसिकप्रिया)

शृङ्गार के अन्तर्गत भी अन्य अवयवो की अपेक्षा आलंबनान्तर्गत नायिका ही कवियो और रीतिकारों का प्रधान वर्ण्य हुई फलतः शृगार की जैसी एकनिष्ठ आराधना इस युग मे सम्भव हो सकी हिन्दी साहित्य के किसी दूसरे काल मे नही। रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध, रीतियुक्त सभी इसी दिशा की ओर दौडे। भेद उनमे पद्धति और दृष्टिकोण का था, दिशा सबकी एक ही थी इसीलिये आलोचको ने इसे शृगार काल कहने का आग्रह किया है।

भक्तिकाल में शृगारकाल की शृङ्गारिकता की भूमिका बंध चुकी थी। सूर आदि भक्तो ने राधाकृष्ण की जैसी प्रेम-क्रीड़ा का चित्रण किया वह उत्तरवर्ती रीति कवियो के लिये अवलम्ब बन गया। राधाकृष्ण की भक्ति को लेकर कितने ही सम्प्रदाय चले जैसे माध्व, निंबार्क, टट्टी, अनन्य, राधावल्लभीय आदि। किन्तु मधुरा भक्ति का ही प्राबल्य रहा। राधा का जैसा मधुर और मोहक स्वरूप विभिन्न कृष्ण भक्तो ने

अंकित किया उसने उत्तरकालीन साहित्य मे शृंगार-भावना का पोषण किया। राधा-कृष्ण या गोपीकृष्ण की प्रेम-लीलाओ का इतना अधिक और आकर्षक विस्तार हुआ कि शृगारी कवियो को अपर नायक-नायिकाओ के चयन का विकल्प ही नही रह गया। शृगार रस के देवता श्रीकृष्ण और नायिका-भेद ग्रन्थो के नायक-नायिका कृष्ण और राधा ही मान्य हुए। इन्ही के प्रणय-जीवन को लेकर असख्य प्रणय-प्रसगो की उद्भावना की गई।

शृङ्गारिकता के कारण—शृगारिकता समसामयिक वैभव-विलास और साज-सज्जा की रुचि तथा वातावरण के कारण आई, और यह वातावरण जन-समाज मे न होकर राजदरबारो मे था। राजदरबार मुगल विलासिता से ओत-प्रोत थे। राजा और नवाब भोग को जीवन का पर्याय समझ बैठे थे फलस्वरूप राजाश्रित कवि ने जब शृगार का चषक भरना शुरू किया तो फिर उसका क्रम ही चल पडा। परम्परागत कृष्णभक्ति काव्य के अन्तर्गत शृगार के सन्निवेश का पूरा अवसर देख रीति कवि राधाकृष्ण के ब्याज से युग की और अपनी भी शृंगारिक भावनाओ को व्यक्त करने लगे। फलस्वरूप राधाकृष्ण का वह दिव्य अलौकिक और भक्तिभावोत्तेजक रूप मन्द पड़ गया और उनका विलासप्रिय कामुक रूप ही प्रकर्ष रूप में सामने आया। रीति ग्रन्थो मे कृष्णभक्ति का शृङ्गारप्रधान रूप और शृगारी कृष्णभक्ति काव्य मे रीति ये दोनो समान रूप से प्रविष्ट हुए मिलते है। गोपीकृष्ण के बहाने कवियो ने रूप-सौन्दर्य, नाना अंग चेष्टाओ, मानसिक भाव-व्यापारो तथा रीतिशास्त्र मे गिनाए गए विषयो यथा अष्टयाम अथवा दिनचर्या, मान, ऋतुकृत उद्दीपन या षड्ऋतु, बारहमासा, नख-शिख, हाव-भावो तथा सभोग शृगार के अश्लील प्रसगो का वर्णन प्रचुरता से किया।

इस युग मे शृगार रस के काव्य लिखे जाने का कारण था भक्तिकालीन कृष्ण-काव्य जिसमे विलासिता का भाव पहले से ही विद्यमान था। भक्तियुग में लिखित शृंगार काव्य ने रीतियुग के कवियो के लिए शृंगारिक रचना का मार्ग खोल दिया और परिणामस्वरूप जहाँ भक्तियुग मे शृंगार के साथ-साथ भक्ति की भावना चला करती थी अब रीतिकाल मे आकर भक्ति की पवित्रता बहुत कुछ शेष हो चली, यदि रही भी तो अत्यल्प परिमाण में। उसका स्थान लौकिक प्रेम सम्बन्धो ने तथा वैषयिक भावनाओ ने ले लिया। रीतिकाल की शृंगारी रचनाओ मे कवियो ने कभी तो राधा-कृष्ण की ओट ले ली है और कभी साधारण नायक-नायिका या प्रेमी-प्रेमिका की प्रीति रतिकेलि आदि का मुक्त भाव से चित्रण किया है।

शृङ्गार का त्रिविध चित्रण—शृगार का चित्रण तीन शैलियो मे हुआ है—रीतिबद्ध, रीत्यनुसारी (रीतिसिद्ध) और रीतिमुक्त। रीतिबद्ध अर्थात् लक्षणकार कवियों

ने काव्यशास्त्र या काव्यागो का विवेचन करते हुए उदाहरण रूप मे स्वरचित शृगारिक रचनाएँ प्रस्तुत की है। सस्कृत आचार्य भी कामाग निरूपण करते हुए शृगारी उदाहरण ही दिया करते थे क्योकि यह रस यो भी व्यापक रस है तथा जीवन के अनेक अग इसमे समाहित है। इसका परिणाम यह हुआ कि काव्यशास्त्र के सभी अगों के उदाहरण इसी एक रस मे प्राप्य होने लगे। यही परम्परा हिन्दी रीतिकारो ने भी अपना ली, यह स्वाभाविक ही था। भूषण ऐसे एकाध कवियो ने अपवादस्वरूप ही वीर-रस के उदाहरण प्रस्तुत किये।

शृगार-वर्णन की दूसरी शैली थी रीतिसिद्ध कवियो की जो रीति ग्रन्थ तो नही लिखते थे किन्तु जिनका वर्णन बहुत कुछ रीति की छाप लेकर चलता था। ये कवि रीति का बन्धन ढीला करके चलते थे और अपने प्रिय वर्ण्य विषय को रीतिग्रंथों से चुनकर काव्यबद्ध किया करते थे। बिहारी, रसनिधि आदि रीत्यनुसारी इसी कोटि के कवि थे।

तीसरा वर्ग रीति की परिपाटी को बलाए ताक रखकर स्वच्छन्द भाव से प्रेम की उमग के छन्द लिखने वाले कवियो का था, प्रेम जिनका स्वभाव था। ये प्रेमी जीव हो गए है—घनानन्द, ठाकुर, बोधा, आलम आदि। प्रेम के मार्ग मे इन्होने लोक-परलोक, जाति, धर्म, कुलकर्म का भेद अस्वीकार कर दिया। प्रणय के सयोग और वियोग के ताने-बानो से इनका व्यक्तित्व ही विनिर्मित था।

शृङ्गार-वर्णन—युग के सामती वातावरण और परम्परागत साहित्यिक प्रभावो के कारण रीतिकालीन कवि मे वह गहरी भगवदास्था न रह गई और न सात्त्विक पवित्र भावो का वैसा अस्तित्व ही बच रहा। आचार्य विश्नाथ प्रसाद मिश्र ने कहा है कि 'भक्ति के ही गर्भ से शृगार की कडी घूमी' फलतः पूर्व युग से ही शृंगारिकता के अनुकूल उपकरण उत्तर युग मे लाए गए। नायिका अर्थात राधा या गोपी और कृष्ण शृगारी काव्य के केन्द्र बन गए। इन्ही को लेकर शृगार का व्यापक वर्णन शुरू हुआ। शुरू तो पहले ही हो चुका था, आगे बढा। राजे, शाह, नवाब, सामन्त सभी शक्ति और उत्साह के अभाव मे प्रेमी और रसिक, हो गए। उनकी इस अभिरुचि के अनुरूप ही आश्रित कवियो ने काव्य लिखा। ऐश्वर्य, भोग और विलास के उन्मादक चित्र—ऊँची अट्टालिकाएँ, विशाल प्रासाद, प्रशस्त राजपथ, अभिराम, उद्यान, मनहर बगीचियाँ, तड़ाग और वाटिकाएँ, नाना वर्ण की सुमनावली, काँच के महल, विशालकाय फानूस, रजतज्योत्स्ना, रत्नाभरणमण्डित देहद्युति, मणिमय आभूषण, फूलों के गहने, पुष्पसज्जित शैया, विविध प्रकार के अंगराग और सुगन्धियाँ,[1] पारदर्शी

---

[1]. पामरी के पामरे परे हैं पुर पौर लागि
धाम धाम धूपनि के धूम धुनियत हैं।
कस्तूरी, अतरसार, चोवा, रस, घनसार,
दीपक हजारन अँध्यार लुनियत हैं॥

वस्त्र, मखमल, और मखतूल, पाटल प्रसून की पखुरियाँ, आसव, उसीर, हमाम्र आदि ऋतु के अनुकूल सम्भोग के उपकरणो का विशद चित्रण किया गया है। कवि और राजा रईस, सभासद और दरबारी इन्ही भोग के रसालाओ मे डूबने-उतराने लगे, न्याय और सच्चाई का दरबारों मे प्रवेश निषिद्ध था।[1] उसयुग के रसिक शृंगार ही चाहते थे और इसकी अभिव्यञ्जना रीतिकाव्य मे नायिका-भेद प्रकरण को लेकर इतने विस्तार से हुई कि उससे सम्बन्धित एक विशाल साहित्य ही ब्रजभाषा मे खडा हो गया। नायिकाओ अथवा शृगार के वर्णन मे कवियो ने दमित मनोवृत्ति का परिचय नहीं दिया, जो कुछ कहा है कुठाहीन भाव से। डा० नगेन्द्र ने इस तथ्य का बड़ा सुन्दर उद्घाटन किया है—'साँचा चाहे नायिका भेद का रहा हो चाहे नखशिख आदि का, उसमे ढली है शृगारिकता ही; इसकी अभिव्यक्ति मे उन्होने किसी प्रकार का सकोच नही किया। इसलिए उनकी शृगारिकता मे अप्राकृतिक गोपन अथवा दमन से उत्पन्न ग्रन्थियाँ नहीं हैं, न वासना के उन्नयन अथवा प्रेम को अतीन्द्रिय रूप देने का उचित-अनुचित प्रयत्न। जीवन की वृत्तियाँ उच्चतर सामाजिक अभिव्यक्ति से चाहे वचित रही हो परन्तु शृङ्गारिक कुठाओ से ये मुक्त थी, इसी कारण इस युग की शृङ्गारिकता मे घुमड़न अथवा मानसिक छलना नही है।'[2]

रीतियुग के कवि और रसिक दोनो का दृष्टिकोण उपभोगमूलक रहा है फलतः आत्मिक या आतरिक पवित्रता और मनोगत सौन्दर्य के चित्र कम है। प्रेम के उदात्त स्वरूप का निदर्शन अधिक नही, उसके लिए अपेक्षित तप, त्याग, निष्ठा, अनन्यता आदि का चित्रण बहुत कम हुआ है। इसके विपरीत भोगवृत्ति की प्रधानता के कारण प्रेम के बाह्य रूप को ही लेकर मासल भोग के चित्र ही विशेष उरेहे गए। यह प्रवृत्ति नायिका-भेद तो नायिका-भेद अलंकार, रस, नखशिख, बारहमासा, अष्टयाम, षड्ऋतु आदि सभी प्रकार के रीति ग्रन्थों मे देखी जा सकती है। रूप और अंग-प्रत्यंग का चित्रण अधिकता से किया गया है जो समस्त शृङ्गार वर्णन का अधार है। बात यह है कि रूपासक्ति के बिना प्रेम-व्यापार संभव ही नही। रीतिमुक्त कवियों में तो यह रूप की रीझ खूब मिलती है। नेत्र भी तो अपना समारोह मनाना चाहते हैं इसलिये रीति कवियो ने रूप और अगद्युति का विशेष वर्णन किया है। अंग-अग का पृथक्-पृथक् चित्रण करने की भी प्रणाली चली किन्तु जो सौन्दर्य समग्र रूप के चित्रण मे है वह पृथक्-पृथक् अगो के वर्णन मे नही। रूप के सवेगात्मक चित्र जिसमें कवि की अपनी अनुभूति भी लिपटी होती है विशेष आकर्षक होते हैं। देव कवि द्वारा प्रस्तुत एक चित्र देखिये—

---

[1] साहब अंध, मुसाहब मूक, सभा बाहरी रग रीझ को माच्यौ।

(देव)

[2]. हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास, पृ० १८७—८८

जगमगे जोबन जराऊ तरिवन कान,
ओठन अनूठो रस हाँसी उमडो परत ।
कचुकी मे कसे आवैं उकसे उरोज बिन्दु,
बदन लिलार बड़े बार घुमड़े परत ।।
गोरे मुख स्वेत सारी कञ्चन किनारीदार
देव मणि झूमका झमकि झुमड़े परत ।।
बड़े बड़े नैन कजरारे बड़े मोती नथ
बड़ी बरुनीन होडा होड़ी आड़े परत ।   (देव)

रूप सौन्दर्य के अलंकृत चित्रो में वह आनन्द नही आता जो सयोगात्मक चित्रों द्वारा संभव होता है। जहाँ रूप का प्रभाव पाठक पर डालने की चेष्टा की जाती है अथवा जहाँ रूप के प्रति कवि की निजी प्रतिक्रिया अंकित की जाती है वहाँ रूप का बिंब ग्रहण हुए बिना भी चित्र पर्याप्त प्रभावोत्पादक होता है। रूप या नायिका के अंग-प्रत्यंग के चित्रण मे ऐन्द्रिकता की मात्रा प्रर्याप्त है। नारी के कामोत्तेजक अगो एवं हावभावों का कवि ने सतृष्ण भाव से वर्णन किया है। मनुष्य की कामवृत्ति को सहलाने वाली सामग्री रूप या अगसौन्दर्य के वर्णनो मे विशेष है। देव से ही एक उदाहरण लीजिये—

आई हुती अन्हवावन नायन सौंधे लिये कोइ सीधे सुभायनि ।
कंचुकी छोरि धरी उबटैंबे कौं इगुर से अग की सुखदायनि ।
'देव' सुरूप की रासि निहारति पाँय तें सीसलौं सीस तें पायनि ।
ह्वै रहीं ठौरईं ठाढ़ी ठगी सी, हँसै कर ठोडी दिये ठकुरायनि ।। (देव)

सहज रूप चित्रण भी कम प्रभावशाली नही होती। ग्राम्ययुवती के नैसर्गिक सौन्दर्य का चित्र देखिये —

(क) गदराने तन गोरटी ऐपन आड़ लिलार ।
हूठ्यौ दै, इठलाइ, दग करै गँवारि सुवार ।।   (बिहारी)
(ख) गौरी गदकारी परै हँसत कपोलन गाड़ ।
कैसी लसति गँवारि यह सुनकिरवा की आंड़ ।।   (बिहारी)

शृङ्गार के आलम्बन विशेषतः नायिका का वर्णन करते हुए नखशिख वर्णन की भी एक प्रणाली चली जो नई न होते हुए भी बहुप्रयुक्त हुई। नखशिख वर्णन मे कवि-प्रौढ़ोक्ति सिद्ध व्यापारो और रूपकातिशयोक्ति आदि चमत्कार-विधायक अलङ्कारों का विशेष प्रयोग हुआ है जिसके द्वारा चमत्कृति अधिक पैदा की गई है, रूप या अगों का प्रभाव कम। नखशिख वर्णन के स्वतन्त्र ग्रंथ और अन्य ग्रंथो में नखशिख वर्णन

दोनो प्रचुरता से पाये जाते है किन्तु ऐसे वर्णनो मे रसात्मकता कम विलक्षणता अधिक पाई जाती है और प्रायः वर्णन की अलकृत शैली प्रयोग में लाई जाती है। कही-कही नखशिख वर्णन अत्यत प्रभावशाली भी बन पडे है किन्तु रूपकातिशयोक्ति आदि के सहारे खडे किये गये नख से शिख तक के चित्रो को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कागजी दृश्य कहा है। रूप या अग के स्वाभाविक चित्रणों मे जो आनन्द आता है वह कमल पर कदली, कदली पर कुन्द, शङ्ख पर चन्द्रमा ऐसे परंपरासिद्ध कागजी दृश्यो मे नही। फिर नखशिख के वर्णनो मे कवि के स्वानुभूत अंगसौन्दर्य का चित्रण कम और शास्त्रोक्त उपमानो का विधान ही अधिक किया जाता है। इस खानापूरी के कारण नखशिख वर्णनो मे कृत्रिमता विशेष मिलती है।

श्रृङ्गार वर्णन की पराकाष्ठा होती है मिलन प्रसगो मे। प्रेमी और प्रेमिका की रूपाशक्ति क्रमशः उन्हे एक दूसरे के निकट ले आती है। निगाहे मिलती हैं, सँदेसे आते-जाते है। एकात मे अचानक या आयोजित रूप मे भेट होती है, सम्बन्ध प्रगाढ होते है। अगस्पर्श, ललक, तृषा सब कुछ वर्णित होती है और उसके बाद प्रगल्भ कवि सम्भोग के चित्र भी कभी साकेतिक और कभी खुले हुये ढंग से उतारते है। शरीर सम्पर्क के साथ-साथ मनोगत उल्लास के चित्र भी अंकित किये गए है। वास्तव मे ये दोनो स्थितियाँ परस्पर-सम्बद्ध है। हृदय का उल्लास काया अनुभव करती है और काया का सुखानुभव हृदय को उल्लसित करता है। हाव-भावो, अनुभवो का वर्णन इन्ही के अन्तर्गत होता है। स्पर्श-सुख इसी के अन्तर्गत आता है जिसका वर्णन बार-बार कविजन करते पाये जाते है—

(क) लरिका लैबे के मिसनि लंगर मो ढिग आय।
गयो अचानक आँगुरी छतियाँ छैल छुवाय॥ (बिहारी)

(ख) स्वेद सलिल रोमाञ्च कुस, गहि दुलही अरु नाथ।
हियो दियो सँग हाथ के, हथलेवा हीं हाथ॥ (बिहारी)

(ग) कौतुक एक अनूप लख्यौ सखि, आज अचानक नाहु गयो छ्वै।
श्रीफल से कुच कामिनि के दोउ फूलि कदंब के फूल गयो ह्वै॥

इसी स्पर्श-सुख की ऐन्द्रिकता परिरभन, चुम्बन, सुरति आदि वर्णनो मे अधिक उत्तान रूप मे आती है। कुछ कवि श्रृङ्गार को उस सीमा तक भी खीच ले गए है जहाँ शरीफ आदमी जाना नही पसन्द करेगा। श्रृङ्गार के सम्भोग पक्ष की मनोहारिता बढाने मे हास्य, व्यंग्य और विनोद के प्रसग विशेष उपयोगी होते है, वे संयोग की सरलता मे अभिवृद्धि करते हैं। इसी प्रकार ऋतुओ या त्यौहारो का भी प्रेमियो के जीवन मे विशेष स्थान होता है। वसन्त, वर्षा, शरद, फाग, दीपावली

आदि के प्रसग ऐसे होते है जब हृदय का अनुराग अधिक गाढा हो जाता है और मन का उल्लास भी अपनी सीमा का अतिक्रमण कर चलता है। प्रकृति और पर्व प्रेमी युगलो में प्रणय की अभिनव चेतना भर देते है।

जीवन मे केवल सुख ही नही हुआ करता दुख के भी दिन आते है परिणाम-स्वरूप संयोग की घडी जो बिता चुकते है उन्हे वियोग के कल्प भी व्यतीत करने पडते है। प्रवास और मानजन्य विरह का वर्णन कवियो ने अपेक्षाकृत अधिक किया है। विरह मे प्रेम परिपक्व हो जाता है और उसकी ऐन्द्रिकता आत्मिकता मे परिणत हो जाती है। रतिबद्ध कवियों का वियोग वर्णन अनुभूति सम्वलित कम ऊहात्मक या चमत्कारपूर्ण अधिक है। बिहारी की रचना इसका सर्वोत्तम प्रमाण उपस्थित करती है।

(क) आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति।
साहसु ककै सनेह बस सखी सबै ढिग जाति ॥
(ख) औंधाई सीसी सुलखि बिरह बरी बिललात।
बीचहिं सूखि गुलाब गो छीटौ छुयौ न गात ॥
(ग) इति आवति चलि जात उत चली छ सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे सी रहै लगी उसासन साथ ॥   (बिहारी)

हृदय-दशाओ की जैसी वास्तविक विवृत्ति रीति-स्वच्छन्द कवियो ने की है रीतिबद्ध कवियो ने नही। रीति कवियो का विरह प्रोषितपतिका, प्रवत्स्यतपतिका, आगतपतिका, मानवती आदि के बँधे बँधाए पैमानो पर वर्णित है। नायिका के अंगताप और क्षीणता आदि की माप-जोख ही उसके विरह-ताप की कसौटी है। मेघ से, पवन से, पक्षी से, दूतियो से सदेश-निवेदन या पत्र-प्रेषण कराकर परंपरा की लीक कायम रखी गई है। उधर शठ और धृष्ट नायको को परस्त्रीरत दिखाकर खडितादि के वर्णन द्वारा मानजन्य वियोग के उदाहरण भी प्रचुरता से प्रस्तुत किये गये है। व्यङ्ग और वक्रोक्तिपूर्ण कथनो द्वारा मानजन्य विरह सरस हो उठा है। पूर्वरागजन्य विरहविकलता के चित्र अपेक्षाकृत कम है। वियोगान्तर्गत ऋतुवर्णन प्रणय-वेदना को उद्दीप्त करता हुआ ही पाया गया है।

समग्रतः यह कहना पडता है कि युग की सर्वप्रधान प्रवृत्ति शृङ्गारिकता का स्वरूप रीतिबद्ध काव्य मे वैसा गम्भीर नही रहा है जैसा होना चाहिए। उसमें कामुकता, वासनावृत्ति, वैषयिकता और छिछली रसिकता का प्राधान्य रहा है। इनकी तुलना में रीतिमुक्त कवियो ने प्रणय का महान् आदर्श प्रस्तुत किया है—

मरिबो बिसराम गनै वह तौ यह बापुरो मीत-तज्यौ तरसै।
वह रूप छटा न सहारि सकै यह तेज तवै चितवै बरसै ॥

घन आनद कौन अनोखी दसा मति आवरी बावरी ह्वै थरसै ।
बिछुरैं मिलै मीन-पतंग-दसा कहा मो जिय की गति को परसै ॥

रीतिबद्ध कवि की वर्णन-सीमा अति विस्तृत नही थी। रीति ग्रंथो की चहार-दीवारी के बीच ही उन्होने प्रेम की उछलकूद दिखाई है फलतः प्रणय के उदात्त त्याग-मय और पावन स्वरूप का चित्रण ये कवि न कर सके। बात यह है कि प्रेम की स्फूर्तिप्रदायिनी भावना का विकास जब जीवन के विशाल कर्मक्षेत्र मे दिखाया जाता है तब वह प्राणप्रद अभीष्ट और मगलमय हुआ करती है। जब वह बैठे-ठाले की दिनचर्या मात्र दिखलाई जाती है तब उसमे वासना की मलिन छाया के सिवा और कुछ नही रह जाता। जीवन के हर्ष-विषाद और ह्रास-विकासमय घाटियो से पार हुए बिना प्रणय का स्वरूप उदात्त और परिष्कृत नही हो सकता, उसमे अपेक्षित गहराई नही आ सकती। शृङ्गार युग का वातावरण और तत्कालीन राजा-रईसो की भोगैष्णा ही इसके लिये उत्तरदायी है जिसमे बनाव-शृंगार, रसिकता और दिखावे के सिवा और कुछ नही रह गया था।

फिर प्रणय ऐसी व्यक्तिगत चीज के लिए रीतिकवि का दृष्टिकोण भी कम उत्तरदायी नही है। वे प्रेम का व्यक्तिनिष्ठ रूप उतारने मे नही लगे, परंपरागत रूढ़िबद्ध प्रेम के स्वरूप का पोषण करना ही उनके कवि-कर्म की इतिश्री भी रहा। कवि कर्म की दृष्टि से कोई नवीनता और ताजगी आई है तो आई है प्रणय-भावना के वैशिष्ट्य के कारण नही। इसी कारण रीतियुग की नारी निजी व्यक्तित्व से रहित किन्तु आगिक सौन्दर्य से सपृक्त भोग के उपकरण से अधिक कुछ नही, वह एक 'टाइप' है। उसकी शृगार-चेष्टाएँ, हाव-भाव, अभिलाषाएँ और मान-अमर्ष आदि उसकी अपनी नही, प्रथा-विशेष का पालन मात्र हैं जिसे नायिकाओ के रूढिगत हाव-भाव हेलाओ के वर्णन मे देखा जा सकता है जहाँ शास्त्रोक्त स्वभावज, अंगज, अयत्नज आदि अलकार दिखाए जाते है। ऐसी जडमूर्ति के ऊपरी सौन्दर्य पर रीतिबद्ध कवि विशेषतः रीझे है फल यह हुआ है कि इस काव्य से एक प्रकार का मनोविनोदन हुआ है उस युग के सामाजिको का जिनमे ऐन्द्रिक रसिकता विशेष परिमाण मे थी। बँधी लीक पर चलता हुआ जीवन एक बँधे ढर्रे के काव्य से अपने मन को कुछ तोष और अनुरजन प्रदान कर लिया करता था। सघर्ष, प्रेरणा और उत्साह के अभाव मे जीवन को इस प्रकार का शृङ्गारी काव्य कुछ स्फूर्ति और उल्लास दे पाता था। यह भी इस युग के शृङ्गार काव्य की कुछ ओछी सिद्धि न थी।

अश्लीलता—शृङ्गारिकता की प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि नारी-सौन्दर्य का खुला हुआ चित्रण किया गया तथा अनेक अश्लील प्रसंगो की आयोजना हुई जिनसे शृङ्गार का गम्भीर रूप सामने न आने पाया तथा कामुकता की वृत्ति को विशेष प्रश्रय

मिला। जनता की रुचि अश्लील शृङ्गारिक काव्य का कारण नही थी। अश्लीलता समसामयिक अकर्मण्य राजाओ की भोग-विलासवृत्ति के परिणामस्वरूप तो आई ही, संस्कृत के शृङ्गार काव्य, कामशास्त्रीय ग्रंथो के प्रभावस्वरूप भी आई। नायिकाभेद सम्बन्धी ग्रन्थो का प्रणयन भी शृङ्गार की नग्नता और अतिशयता को बढ़ाने वाला सिद्ध हुआ। शृगार की यह उत्तानता या अश्लीलता जिसमे स्त्री के लज्जास्पद अंगो का खुलकर वर्णन किया गया और सुरति, सुरतान्त और विपरीत रति के अनेकानेक चित्र प्रस्तुत किये गए, फाग की मौज मे 'नै-बै' वालो को कितने ही अवगुन कराते दिखाया गया है। ये सब बाते अति तक पहुँची हुई है यद्यपि यह मानना पडेगा कि रीतिकाल के कवि इस दिशा मे उतना दिखा नही पाए है जितना बदनाम हुए है। इस माने में सस्कृत का शृङ्गार साहित्य कही अधिक खुला हुआ, नग्न और अश्लील है। फिर भी इतना तो मानना ही पडेगा कि सीमातिक्रमण करने वाली शृङ्गारिकता अपनी अश्लीलता के कारण अनेकानेक आक्षेपो का कारण बनी है और उसके कारण शृङ्गार काव्य के महत्व को धक्का लगा है। वीर रस की रचनाएँ भी हुई किन्तु शृङ्गार की सार्वभौम प्रवृत्ति के आगे वे दब-सी गई। प्रेम की जो प्रगाढ निष्ठा होती है उसके सामने इनकी रचना फीकी-सी लगती है जिसमे आलिगन चुबनादि सभी प्रकार के रतिकर्मों या शरीर-व्यापारो की आयोजना की गई है।

रीतिकालीन प्रेम का स्वरूप—रीति युग मे वर्णित प्रेम व्यक्तिनिष्ठता के अभाव मे आन्तरिक और गभीर नही वह ऊपरी या बाहरी मात्र है। वह इन्द्रियार्थों की पूर्ति तथा वैषयिकता की तृप्ति का साधन है। उसमे विलासिता, कामुकता और नग्नता का साम्राज्य है। बहुनिष्ठ नायक और बहुनिष्ठ नायिकाएं जहाँ-तहाँ देखने को मिल सकती हैं—

(क) बाल कहा लाली भई लोयन कोयन माँहि।
लाल तिहारे दृगन की परी दृगन में छाँहि॥ (बिहारी)

(ख) मूँदे तहाँ एक अलबेली के अनोखे दृग
सु दृग मिचावनै के ख्यालनि हितै हितै।
नैसुक नवाइ ग्रीवा धन्य धनि दूसरी कों
औचका अचूक मुख चूमत चितै चितै॥ (पद्माकर)

(ग) यों अलबेली अकेली कहूँ सुकुमार सिंगारन कै चलै कै चलै।
त्यों पद्माकर एकन के उर में रसबीजनि बै चलै बै चलै।
एकन सौं बतराइ कछू छिन एकन को मन लै चलै लै चलै।
एकन कों तकि घूँघट में मुख मोरी कनैखिन दै चलै दै चलै॥ (पद्माकर)

खंडिताओ और परकीयायों के विवरण इसी एक तथ्य को प्रमाणित करते

है। प्रेम की अनन्यता और उसके लिए सर्वोत्सर्ग की महान भावना कम दिखाई देती है। छिछले प्रेम की व्यंजना करने वाले बहुत है। कितने ही प्रेमियो का प्रेमकपट खुले रूप मे दिखलाया गया है।

ऊपरी प्रेम वर्णन और रसिकता—प्रेम-भावना की यह स्थूलता या ऐन्द्रिकता बाह्य रूप वर्णन मे प्रवृत्ति करती है, इसीलिये नायक-नायिका के ऊपरी सौन्दर्य को अधिक उरेहा गया है आतरिक सौन्दर्य को कम। प्रणय की गहराई रीतिबद्ध श्रृंगार काव्य मे कम देखने को मिलती है, उसकी जड़े दूर गई नही मिलती। रूपाकर्षण, प्रथम मिलन, सयोग आदि सबन्धी अनेक चित्र मिलेंगे। नायक का प्रेम विशेषयकर ऐन्द्रिक है इसी लिये विरह मे उसकी व्यथा का चित्रण अत्यल्य हुआ है, नायिका की ही पीडा का विशेष। कवि उसकी भी वास्तविकता से अनवगत रहे हैं इसीलिये उन्होने हास्यास्पद ऊहाओ और अतिशयोक्तियों का सहारा लेकर वियोग-वेदना की गहराई मे उतरने का ढोग, रचा है। सच्ची भावुकता या प्रेम की अनुभूतिजन्य तीव्रता के दर्शन नही होते। इस प्रकार ये कवि दोनो दीनों से गये नज़र आते है। 'माया मिली न राम' वाली उक्ति इनके लिये बावन तोला पावरत्ती ठीक उतरती है। श्रृङ्गार के फेर मे ये रीति के आचार्य-पद से गिर जाते है और रीति के फेर मे श्रृंगार की प्रकृष्ट भूमि से अधःपतित होते है। रीति काव्य के प्रतिनिधि कवि बिहारी, मतिराम, पद्माकर आदि रसिक ही कहे गये है प्रेमी नही। इन रसिको ने रूप पर रीझना, जिस तिस पर आसक्त होना। आंगिक सुघराई पर ही निसार होना तात्पर्य यह है कि प्रेम-पात्र के बाह्यावरण पर ही सर्वस्वार्पण करने की बान अपना ली थी फलतः इनकी दृष्टि रमणीय नायिका के मनोगत सौन्दर्य पर कम जा सकी, अन्नमय अथवा प्राण-मय कोषों तक ही रही, उन्हे भेदकर मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोषो तक न जा सकी। गहरी आतरिकता के अभाव मे रीति कवि की प्रेम-वर्णना मे अपेक्षित तीव्रता नही मिलती। उसमें भावना का प्रवाह मन्द रहता है। स्थूलता, कामुकता या विलासिता, बहुन्मुखी अनुरक्ति, उपभोग-वृत्ति, वासनाभिव्यक्ति का ही प्रयत्न अधिक मिलता है। प्रेम विवृत्ति की यह बहिर्मुखता उसे अनियत्रित और उच्छृङ्खल भी बनाने में सहायक हुई है। रीति कवि की यह विशेषता है कि उसमे उद्दाम श्रृंगार या भोगवृत्ति का अकुठ भाव से चित्रण किया है। रीति कवियो द्वारा वर्णित यह प्रेम की प्राथमिक विशेषता है। रीति काव्य की नायिका भी पर्याप्त रसिक होती थी इसका एक चित्र बानगी के तौर पर देखिये—

कंज नयनि मंजनु किये, बैठी ब्यौरति बार।
कच-अँगुरी-बिच दीठि दै, चितवति नन्दकुमार॥ (बिहारी)

गार्हस्थिकता—रीति कवियो के श्रृङ्गार-वर्णन का वातावरण अभारतीय

नही होने पाया है। उसमे अश्लीलता और वैषयिकता या इन्द्रियलोलुपता चाहे कितनी ही क्यों न हो और वह फारसी आदि विदेशी प्रभावो से कितना ही प्रभावित क्यो न हो किन्तु फिर भी उसकी परपरागत मर्यादा अक्षुण्ण रही है। फारसी आदि के प्रभाव हिन्दी काव्य की भावभूमि का स्पर्श कम ही कर पाए है, अभिव्यजना शैली तक उनकी पहुँच थोडी-बहुत जरूर रही है। रीतियुगीन शृङ्गार काव्य मे बाजारू ढंग की हुस्न-परस्ती की बू नही आने पाई है और न वेश्यावृत्ति का खुला प्रदर्शन ही उसमे हुआ है। रीति कवियो के प्रेमवर्णन मे स्वदेशी गार्हस्थिकता के दर्शन होते है। भारतीय गृहस्थ-जीवन मे प्रणय-निर्वाह निरापद नही हो पाता क्योकि परिवार मे छोटे भी होते है और बडे भी। गुरुजनो का भय उनके आगे-पीछे लगा रहता है। यह भीति पुरुष और स्त्री दोनों को निःसकोच कभी नही होने देती। सकोच का उतार मन के धरातल पर चाहे जितना होता हो व्यवहार के धरातल पर तो वह चढाव पर ही रहता है। एक गृहस्थ के परिवार मे जहाँ नायिका या नववधू हुआ करती है परिवार के अन्य प्राणी भी तो होते है। पति या नायक के अतिरिक्त सास, ससुर, ननद, जिठानी, देवरानी, दास, दासियाँ (दूतियाँ,) छोटे बालक आदि सभी होते है। अवसर विशेष पर पडित-पुरोहित, नाते-रिश्ते के अन्यान्य कितने लोग जुटते है। प्रणयी जीवन का आरभ और अत अपने देश मे अधिकाशतः इसी वातावरण के बीच होता है। फिर परिवार के अतिरिक्त मुहल्ले-टोले के लोगो, बडे-बूढों का भी लाज-संकोच करना पडता है। हमारी सभ्यता मे टोला-मुहल्ला भी परिवार का वृहद रूप ही मान्य हुआ है। वसुधा को कुटुम्ब मानने वालो के देश मे यह बात नितात स्वाभाविक ही है। गाँवो मे यह ऐक्य आज भी समाप्त नही हुआ है यद्यपि यूरोपीय सभ्यता के निरन्तर प्रसार और प्रभाव के कारण वैयक्तिकतावादी (Individualistic) दृष्टिकोण दिन-दिन विकास पर हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रणय का विकास रीतिकाल मे गृहस्थी के वातावरण मे ही विशेषतः दिखाया गया है जहाँ प्रेमी-युगल को बात करने की स्वतत्रता नही, देखने की स्वतन्त्रता नही, नायक के जाने या आने के समय विदा देने या स्वागत करने का तो प्रश्न ही नही उठता। बेचारी नायिका इसीलिए तो कभी प्रवास से लौटे हुए नायक को 'पावक झर के समान झरोखे से झमक कर देखती और भाग जाती है' या जाते हुए नायक को आँसू भरे नेत्रों से विदा देती है। बेचारा नायक भी परदेस जाते समय ऊपर से झाँकती हुई नायिका को पगडी ठीक करने के बहाने 'टा-टा' करता है। नायिका शाम होते ही सारे काम-काज जल्दी-जल्दी निपटाने लगती है। सास और ननद यदि संकीर्ण विचारो की हुई तब तो जीवन और भी दूभर हो जाता है। दिन-रात चुगली चला करती है 'घरहाइने' आफत मचाए रहती है। ऐसे घुटन से भरे हुए गार्हस्थिक वातावरण के भीतर भारतीय युवक-युवतियाँ अपने प्रेमपूर्ण जीवन को किसी प्रकार निभाते आये है। पारिवारिक मर्यादा की वेदी पर उनकी आकाक्षाओं

की बलि चढा दी गई है। यौवन के समस्त उत्साहो को गृहस्थ जीवन की काशी में 'करवत' लेना पड गया है। फिर भी प्रेमी हुए है जिन्होने इन सब दिक्कतो के बावदूद भी अपना प्रेम का मधुर जीवन यापित किया है और बडी जिन्दादिली के साथ। ऐसे भी प्रेमी हुए हैं जिन्होने चारित्रिक अधःपतन के दृष्टात प्रस्तुत किये है। नायिकाएँ भी अन्य पुरुषानुरक्त देखने मे आई है परन्तु कम। रीतिकालीन काव्य की प्रणय-भावना का आदर्श त्याग और बलिदानपूर्ण तथा उदात्त और महत् न था फिर भी एक बडी बात यह देखी गई है कि उसमे परकीया प्रेम या गणिकानुराग की अल्पता है। डा० नगेन्द्र ने इस बात को स्वीकार किया है—'यद्यपि एक-एक राजा था रईस के यहाँ अनेक वेश्याएँ थी ...... परन्तु फिर भी उनके आश्रित कवि स्वकीया प्रेम का ही माहात्म्य-गान करते रहे। उन्होने परकीया के नेह तक को निरुत्साहित किया—गणिका की तो बात ही क्या ! ..... गणिका के प्रेम को उन्होंने स्पष्ट रूप से रसाभास माना और अत्यन्त अरुचि के साथ उसका वर्णन किया—प्रेमहीन चित्र वेश्या है शृंगाराभास।'[1] नायिका-भेद के प्रकृष्ट ग्रंथ लिखने वाले महाशृंगारी आचार्यों ने भी परकीया तथा सामान्या (गणिका) नायिकाओ का अत्यल्प वर्णन किया है। गणिका के प्रेम-वर्णन मे आचार्यों ने शृङ्गार रसाभास ही माना है। इससे भी इतना तो सूचित होता ही है कि चारित्रिक स्तर को किसी सीमा तक बनाए रखने का ध्यान इन कवियो को भी रहा है रीति कवियो के प्रेम-वर्णन की तुलना मे हम देखते है कि भक्तियुगीन कवियो का प्रेमवर्णन अधिक स्वच्छंद और बाधा-बधनरहित है चाहे सूर की गोपियो का हो चाहे तुलसी की सीता का चाहे सूफी प्रेमाख्यानो के विरही-विरहिनियो का। थोडी बहुत लोक लज्जा मीरा के रास्ते मे आई किन्तु उसने उसका पूर्ण तिरस्कार कर दिया।

इस प्रकार रीतिकवियो के प्रेम-वर्णन का जो गार्हस्थिक वातावरण है वह उसे असामाजिक नही बनने देता। उसमे विकृतियाँ हैं किन्तु है वह घर-घर की ही कथा। यह गार्हस्थिकता वर्णाश्रम-मर्यादाओ से प्रभावित उत्तरकालीन सस्कृत साहित्य के शृङ्गारी काव्यो मे भी देखी जा सकती है। रीति कवि का शृङ्गार वर्णन उस परपरा से अपनी खूराक पाता रहा है। परिवार के जटिल जजालमय जीतन मे पलने वाला प्रेम साहसिक और घटनासंकुल नही हो सका है। हो भी कैसे सकता था जब घर की चहारदिवारी के बाहर पॉव नही निकाले जा सकते थे। फिर यह युग ऐसा था जिसमे मुस्लिम शासन के कारण हिन्दू घरो मे परदे आदि की प्रथाएँ प्रचलित हो चली थी। सड़को पर स्त्रियाँ अपवाद रूप मे ही दिखाई देती थी इसलिए प्रेम का रोमानी और साहसिकता-संवलित रूप यहाँ नही दिखाई पड़ता। यहाँ तो मात्र

---

[1]. डा० नगेन्द्र : रीति काव्य की भूमिका (सन् १९५३) पृ० १६०-६१

रसिकता है, लोभ है, ललक है, अप्राप्ति की छटपटाहट है, प्राप्ति या भोग की तृप्ति है। साहस यदि है तो इस प्रकार का—

> अँगुरिन उचि, भरु भीति दै उलमि चितै चख लोल।
> रुचि सों दुहूँ दुहूँन के चूमे चारु कपोल ॥ (बिहारी)

या उसकी भावना मात्र से भी काम चला लिया गया है। नायिकाभेद ग्रन्थो की अभिसारिकाएँ अवश्य कुछ साहसमयी है। एक प्रच्छन्न प्रेमाभिसारिका को देखिये :—

> लीनै हमै मोल अनबोलै आई जान्यो मोह,
> मोहिं घनश्याम घनमाला बोलि ल्याई है।
> देखो ह्वै है दुख जहाँ देहऊ न देखी परै,
> देखो कैसे बाट केशो दामिनि दिखाई है ॥
> ऊँचे नोचे बीच कीच कंटकन पीडे पग,
> साहस गयन्द गति अति सुखदाई है।
> भारी भयकारी निशि निपट अकेली तुम,
> नाही प्राणनाथ साथ प्रेम जो सहाई है ॥
> (केशव : रसिकप्रिया)

शृगार के पोषण मे दूतियाँ खूब काम करती है। सद्भाव या रुचि जागृत करने मे, मानमोचन मे, मिलन कराने मे उनका सहयोग अमूल्य होता है। वे नायक को आकृष्ट करने के नाना विधियाँ बतलाती है गरूर कम कराती है आदि आदि और कभी-कभी मौका लगने पर नायक का संभोग सुख भी प्राप्त करती है। रीतिकालीन शृङ्गार की गार्हस्थिकता इसी प्रकार के नाना प्रेम-प्रसगो की उद्भावना कराने में सहायक हुई है।

निर्वैयक्तिक प्रेम—अनुभूतिप्रधान प्रेम जो कवि के निजी जीवन से सजात होता है उसकी विवृत्ति कुछ और ही होती है। बोधा और घनानन्द के काव्य में कवियो का जो दीवानापन और मस्ती है वह रीतिबद्ध कवियो के बाँटे नही पड़ी है। उसका कारण क्या है? यही कि रीति की छाप से छपे हुए आचार्य या कवि शृङ्गार की रचना पर रीति का ठप्पा लगा देते थे। काव्य का एक पैटर्न निर्धारित हो चुका था। उसी ढब पर कुछ कह देना ही उनका काम था। कथ्य भी वही था, विधि भी वही थी। सब कुछ पूर्वनिर्धारित रहता था हाँ थोड़ा कथन-चमत्कार, थोड़ी प्रसंगोद्भावना में बुद्धि व्यय करना पड़ता था। फल यह हुआ कि कविता बहुत-कुछ एक रस, एक रूप हो चली। केवल देव, बिहारी, मतिराम, सेनापति, पद्माकर जैसे समर्थ कवियो को ही भाषा या शैली-भेद से पहचाना जा सकता है, शेष लगभग एक से ही

है वक्तव्य और उसकी विधि दोनो की ही दृष्टि से। वैयक्तिकता का यह विकास रीति के शताधिक कवियो मे न हो सका। इसका कारण युग और काव्य-परम्परा मे ढूँढा जा सकता है। सभी कवि थे, आचार्यत्व की स्पृहा थी। आचार्य बनने के लिए रीति की उँगली पकडनी जरूरी थी। रीति ग्रन्थो मे जो कथित होता था उसी पर उदाहरण लिखना इनका काम था। बँधे ढर्रे पर चलने से काव्य एकरूप न होता तो और क्या? यही कारण है कि शृङ्गार, सयोग, विप्रलम्भ, मान, प्रवास, आगमन, मिलन, उत्कंठा, अभिसार, ऋतु, मास, दूतियाँ, सखियाँ आदि रस और नायिका-भेद के सुनिश्चित विषयो पर भाव, विभाव, अनुभाव और सचारी के निर्धारित अवयवो को समेटती हुई कविता निकल जाया करती थी। इसी सङ्कीर्ण दायरे के बीच रीति कवि अपना नट-कौशल दिखाया करता था। भावना की धारा मे कभी बरसाती नद की-सी उच्छृङ्खलता न आती थी, फलस्वरूप कवि उसमे अत्युक्तियो और ऊहाओ के भँवर डाल दिया करता था, जिसमे कृत्रिम सौन्दर्य भी आ जाय, कविता की एकतानता टूट जाय, चमत्कृति भी आ जाय और नवीनता भी दिखने लगे। भँवर जैसे नदियो के लिये सौन्दर्य का कारण भले हो किन्तु वह उसके या किसी के लिए श्रेयस्कर कदापि नही कहा जा सकता वैसे ही काव्य की ऊहाएँ भी।

प्रेम वैषम्य का अभाव—प्रेम मे वैषम्य मजा ले आता है। प्रेम के कठोर मार्ग पर चलने वाला प्रायः दुख पाता है इस बात को सूरदास ने अपने इस प्रसिद्ध पद—'**प्रेम करि काहू सुख न लह्यो**' मे कितने ही दृष्टान्तो से उदाहृत किया है। यह सर्वमान्य, सार्वभौम सत्य है। वैषम्य प्रेम की प्रकृति है इसीलिए प्रणय के अन्तर्गत काव्यशास्त्री कलह का भी जान-बूझ कर विधान करते हैं किन्तु प्रेम व्यञ्जना मे परिस्थिति, स्वभाव, सन्देह, निष्ठुरता, अप्राप्ति, उदासीनता, वियोग, उपेक्षा, परप्रीति आदि नाना कारणो से व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर विरोध या वैषम्य की स्थिति प्रायः उत्पन्न हो जाया करती है। यह विपरीतता मन मे नाना प्रकार की प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करने वाली होती है। विदग्ध और मर्मी कवि इन मनोगत प्रतिक्रियाओ और विकृतियो का चित्रण बडे अभिनिवेश के साथ करते पाये जाते हैं। सूर ने, जायसी ने, घनानन्द ने, बोधा ने ऐसा ही किया है। प्रीति-विषमता, वियोग आदि कारणों से प्रेम-काव्यो मे अनूठी भाव-सृष्टियाँ सम्भव हो सकी है—

> **प्रीति कर दीन्ही गरे छुरा।**
> **पहले श्याम चुगाय कपट कन पाछे करत बुरी ॥ (सूर)**

और इसी कारण उस विषम स्थिति मे वियोग के गीतो से मर्मी कवियो का सारा प्रणय-काव्य ओतप्रोत हो रहता है। विरह प्रेम को पुनीत कर देता है। विरह की असीम और प्राणान्तक वेदना झेलने वाला प्राणी भी प्रेम करना छोडता नही वरन् विहारी

के कुरंग की भाँति और भी उलझता ही जाता है। उस विषम परिस्थिति के अन्दर निहित मानसिक सुख के आगे सुख का साक्षात पारावार अनीप्सित और उपेक्षणीय हो जाता है—

जाके या वियोग दुःखहू मैं सुख ऐसो कछू।
जाहि पाइ ब्रह्म सुखहू को दुख मानै हम ॥ (रत्नाकर)

इस प्रकार की तीव्र और विशिष्टताव्यजक प्रेमावेगपूर्ण रचनाएँ जो अपने प्रवाह में पाठक को कुछ दूर तक बहा ले जाएँ विरले है। यह सामर्थ्य रीतिकाल के किन्ही प्रेमी कवियो को यदि प्राप्त है तो वे है स्वच्छन्द धारा के उन्मुक्त गायक घनानन्द, बोधा, ठाकुर आदि जो बेचैनी और पीडा मे रास्ता नही पाते। कहाँ जायँ यह समझ में नही आता। प्रमत्तता उन्हे दिक्-काल-ज्ञान-शून्य कर देती है और वे चीख उठते है—

अन्तर हौ किधौं अंत रहौ दृग फारि फिरौ कि अभागनि भीरौं।
आगि जरौं अकि पानि परौं अब कैसी करौं हिय का विधि धीरौं।
जौ घन आनन्द ऐसी रुची तौ कहा बस है अहो प्राननि पीरौं।
पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हैं धरनी मे धसौं कि अकासहिं चीरौं ॥ (घनआनन्द)

[शास्त्र की लीक पर चलने वाले सरस्वती-पुत्रों के भाग्य मे प्रेम की ऐसी मार्मिक व्यञ्जनाएँ न थी।]

परकीया प्रेम का वर्णन—शृंगार काल मे राधाकृष्ण नायक-नायिका बनाकर जिस प्रणय का सविस्तार वर्णन किया गया वह प्रणय स्वकीया प्रणय न होकर परकीया प्रणय ही रहा। बात यह है कि परकीया प्रेम के चित्रण में ही प्रणय-प्रसङ्गों के असीम विस्तार की संभावनाएँ दिखाई दी, स्वकीया के प्रेम मे नही। राधा स्वयं परकीया नायिका थी। इसके अतिरिक्त ब्रज भाषा काव्य इस युग मे फारसी काव्य की प्रतिद्वन्द्विता मे खड़ा हुआ जहाँ परकीया का ही इश्क प्रधानता से वर्णित हुआ है। फारसी शायरी मे परकीया प्रेम या परकीया की अदाओ, वचनावली के चुटीलेपन की अधिकता देखी जा सकती है साथ ही एक माशूक के अनेक आशिको या रकीबो का वर्णन मिलता है। भाषा कवियो ने ऐसी शायरी की प्रतिस्पर्धा मे और अपनी कविता द्वारा मजलिस मे अपना रङ्ग जमाने के इरादे से नायक-नायिका भेद के ग्रन्थो की शरण ली। इस स्पर्धा-भाव के कारण भी परकीया प्रणय का कवियों ने डट कर वर्णन किया। इस प्रकार स्पष्ट है कि वह परकीया-प्रेम जो सामान्यतः बहुत कम वर्णित होता था फारसी काव्यों की प्रतियोगिता मे आ खड़ा हुआ और तद्-विषयक रचनाओं की अधिकता हो चली। नैतिकता की सुरक्षा के लिए नायक-नायिका या प्रेमी-प्रेमिका के रूप मे राधाकृष्ण का ही नाम लिया गया। यह परकीया-भाव

का प्रेम भक्ति की परम्परा से भी थोडा-बहुत रीतिकाल मे आया यद्यपि रीति या नायिका-भेद के ग्रथो मे परकीया प्रेम को सर्वत्र अनुचित कहा गया है--देव ने स्वकीया का वर्णन वाच्य, परकीया का लक्ष्य और सामान्या या गणिका का व्यग्य ही रखना उचित माना है अर्थात् स्वकीया का वर्णन काव्य मे प्रत्यक्ष करना चाहिये, परकीया का उपलक्ष्य के रूप मे और सामान्या का संकेत रूप मे । जिस परकीया प्रेम का रीतिबद्ध कवियो ने सविस्तार वर्णन किया है उसके लिए कृष्ण चरित्र मे पूरा अवकाश था फलस्वरूप इन कवियो ने कृष्ण और गोपियो के मधुर प्रणय-प्रसङ्ग को अनिवार्य रूप से ग्रहण किया । युग की आवश्यकता एव अपने मनोभावो को कृष्णार्पित कर वे एक सीमा तक लोक-भर्त्सना से भी बचे रहे । जयदेव और विद्यापति भी राधाकृष्ण के प्रणय की मधुर भावना के मोहक चित्र उतार चुके थे । इस प्रकार परकीया भाव के प्रणय-चित्रण की परम्परा रीतिकाल के लिए कोई नई चीज न थी, उसका क्रम परम्परागत ही था । प्रतिस्पर्धा मे लिखित साहित्य स्वकीया-प्रेम के सहारे बहुत दूर तक नही जा सकता था और मुकाबले मे ठहर भी नही सकता था । अपभ्रंश की पुरानी रचनाओ और देशी गीतो में स्वकीयाओ के प्रेम का मधुर मर्मस्पर्शी वर्णन मिलता है परन्तु हिन्दी के रीति कवियो का सम्बन्ध उससे नही था और इसीलिए स्वकीया प्रणय के उस प्रकार के भावविभोर कर देने वाले चित्र इनमें नही मिलते । 'अलौकिक दृष्टि से भक्ति के भीतर जो दाम्पत्य प्रेम रक्खा गया वह सर्वत्र स्वकीया का प्रेम न रहा, क्योकि उपास्य और उपासक या आकर्षक और आकृष्ट के रूप की लम्बी-चौड़ी भूमि परकीया प्रेम के परिष्कार मे दिखाई पडी जिसमे अलौकिक सम्बन्ध का आरोप होने लगा । इस प्रकार प्रेम की विवृत्ति के साहचर्य में परकीया प्रेम के विस्तार को विशेष उत्तेजना प्राप्त हुई । हिन्दी साहित्य को उस समय जिस साहित्य से प्रतिद्वन्द्विता करनी पडी उसमे परकीया-प्रेम का बाहुल्य था । प्रतिद्वन्द्विता से पीछे हटने पर कवियो की हेठी होती थी । अतः नायिका-भेद से परकीया-प्रेम ले लिया गया पर आचारनिष्ठता को ध्यान मे रखकर प्रेम के आलम्बन श्री कृष्ण और राधिका माने गए ।,[१] भक्ति काल के काव्य मे जहाँ शृङ्गार के साथ भक्ति अच्छी तरह जुडी हुई थी वहाँ इस युग मे भक्ति संस्कार या आवरण के रूप मे ही रह गई थी प्रधानता शृगार की हो चली थी ।

रीतियुगीन काव्य की शृगारिकता के प्रेरक तत्वों, उसके पीछे निहित दृष्टिकोण एव उसके स्वरूप का अनावरण करते हुए विदग्ध समालोचक डा० नगेन्द्र के ये निष्कर्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण है[२]—

१, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : शृगार काल, पृ० ३७३

२, रीति काव्य की भूमिका (१९५३ ई०) पृ०१६३

(१) उसका (रीतिकाव्य का) मूलाधार रसिकता है प्रेम नही। यह रसिकता शुद्ध ऐन्द्रिय अतएव उपभोगप्रधान है। उसमे पार्थिव एवं ऐन्द्रिय सौन्दर्य के आकर्षण की स्पष्ट स्वीकृति है—किसी प्रकार के अपार्थिव अथवा अतीन्द्रिय सौन्दर्य के रहस्य संकेत नही।

(२) इसीलिए वासना को उसमे अपने प्राकृतिक रूप मे ग्रहण करते हुए उसी की तुष्टि को निश्छल रीति से प्रेम रूप मे स्वीकार किया गया है—उसको न आध्यात्मिक रूप देने का प्रयत्न किया गया है न उदात्त और परिष्कृत करने का।

(३) यह शृगार उपभोगप्रधान एवं गार्हस्थिक है जो एक ओर बाजारी इश्क या दरबारी वेश्या-विलास से भिन्न है, दूसरी ओर रोमानी प्रेम की साहसिकता अथवा आदर्शवादी बलिदान-भावना भी प्रायः उसमे नही मिलती।

(४) इसीलिए इनमे तरलता और छटा अधिक है आत्मा की पुकार एवं तीव्रता कम।

हार्दिकता एवं भावप्रवणता—रीति काव्य या रीतिबद्ध काव्य की आलोचना करते हुए आलोचको ने इधर उसके एक पक्ष की उपेक्षा कर दी है, वह है उसका भावपक्ष। रीतियुगीन रीतिनियन्त्रित काव्यधारा मे रीति की जकड़ या छाप के होते हुए भी पर्याप्त भावुकता और सरसता के दर्शन होते है। कलात्मकता ही नहीं सरसता की दृष्टि से भी इस युग के काव्य का महत्व कम नही है। रीति की छाप या परम्परा का अनुसरण या सृष्टकाव्य की वर्ण्यगत एकरूपता के होते हुए भी पर्याप्त सहृदयता और भावात्मक नवीनता के दर्शन होते है। प्रत्येक कवि एक ही वर्ण्य को लेकर काव्य-रचना करता हुआ भी नवीनता की ओर जाता है कवि की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति हुआ करती है। इसी कारण काव्य के सीमित वर्ण्य—शृगार—के अन्दर भी कवियो ने भावो का एक असीम विस्तार दिखलाया है; उस सबकी अभी पूरी-पूरी टोह नही हो पाई है। यदि शृङ्गार-काव्य का पाठक इस समस्त भाव-राशि के ही विशेष अध्ययन की ओर प्रवृत्त हो तो उसे देखने और काम करने का एक बहुत बडा क्षेत्र मिल सकता है। अभी एक-एक कवि के ही विशेषाध्ययन की प्रवृत्ति जोरो पर है या वर्गीकृत काव्यधाराओ के पृथक्-पृथक् अनुशीलन की। रीतिकाव्य के सर्वप्रधान वर्ण्य शृङ्गार के ही अन्तर्गत असख्य भावों का नानाविध चित्रण हुआ है। उस सबका आकलन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नही रहेंगे कि रीति कवियों की भावात्मक सम्पदा कुछ कम नहीं थी, गुण और परिमाण दोनो ही दृष्टियो से। जितने सूक्ष्म, सुन्दर, सुकुमार और अभिनव मनस्थितियो की ओर ये कवि अग्रसर हुए हैं और इस प्रकार की जितनी सुन्दर से सुन्दर छन्दसृष्टि इन कवियों ने की है वह गुण और परिमाण दोनों दृष्टियो से असाधारण महत्व रखती हैं। रीतिकाव्य अपनी इसी शक्ति पर तो भाषा-काव्य का मंडन बना हुआ है। सच्चा कवि-कर्म यदि किसी युग

मे हुआ है तो वह हिन्दी का रीतियुग ही है जहाँ कविता कविता के लिये ही लिखी जाती रही है, भक्ति, नीति, युद्धादि की उत्तेजना प्रदान करना तथा सामाजिक सुधार और देशोत्थान आदि के इतर लक्ष्य जहाँ भुला दिये गए थे। यह सोचना कि कलापक्ष का विशेषाग्रह लेकर चलने वाले रीतिकार कवियो मे रस-तत्व का अभाव था या भावात्मक पक्ष क्षीण था उनके साथ अन्याय करना होगा। ये कवि गहरी वैयक्तिक अनुभूति से उस प्रमत्तकारिणी अन्तर्व्यथा से प्रेरित हो काव्य-रचना भले ही न करते रहे हो जो श्रेष्ठ काव्यो का सृजन करने मे समर्थ हुआ करती है किन्तु भावपक्ष के ये भी द्रष्टा और पारखी थे मानव प्रकृति के ये भी ज्ञाता और मर्मी थे। यहाँ यह अवकाश नही कि रीति कवि की विशाल सहृदयता का परिचय कराया जाय किन्तु सकेत रूप मे इतना ही कथन अभीष्ट है कि रीति कवि की भावात्मक सम्पदा अनल्प थी और उसके अनावरण और विश्लेषण का क्षेत्र अब भी अपनी विशाल सम्भावनाएँ रखता है। कितने महत्वशाली रीतिकवियो की रचनाएँ हिन्दी के अनुसन्धाताओ, विद्वानो और आलोचको के समक्ष आज भी नही है। ऐसी रचनाएँ भी इस युग के रीतिबद्ध काव्य मे पर्याप्त मिल जायँगी जो भाव-प्रवणता मे भक्तिकालीन रचनाओ से टक्कर ले सकती हैं—

(क) पिय कैं ध्यान गही गही रही वही है नारि।
आपु आपुहीं आरसी लखि रीझति रिझवारि ॥ (बिहारी)

(ख) आपनी ओर की चाहै लिख्यौ लिखि जाति कथा उत मोहन ओर की।
प्यारी दया करि वेगि मिलौ, सहि जाति विथा नहि मैन मरोर की।
आपु ही बाँचि लगावति अंक, अहो किन आनी चिठी चित चोर की।
राधिके राधे रही जकि भोर लौं, ह्वै गई मूरति नन्द किसोर की ॥
(अज्ञात)

(ग) साँसन हीं में समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयौ गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि।
'देव' जियै मिलिबेई की आस कै, आसहु पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन ते मुख फेरि हरै हँसि हेरि हिये जु लियो हरि जू हरि ॥ (देव)

(घ) झहरि-झहरि झीनी बूँद हैं परत मानों,
घहरि-घहरि घटा घेरी है गगन में।
आनि कह्यौ स्याम मो सौं 'चलौ झूलिवे को आज'
फूली न समानी भई ऐसी हौं मगन मैं ॥
चाहत उठ्योई उठि गई री निगोड़ी नीद,
सोय गए भाग मेरे जागि वा जगन में।
आँख खोलि देखौं तौ न घन है, न घनश्याम,
वेई छाई बूँदै मेरे आँसु है दृगन मे ॥ (देव)

(ङ) क्यों इन आँखिन सौं निरसंक ह्वै मोहन को तन पानिप पीजै।
नैकु निहारे कलंक लगै, यहि गोकुल गाँव बसे किमि जीजै।
होत यहै मन मैं 'मतिराम' कहूँ बन जाइ बडो तप कीजै।
ह्वै बनमाल हिये लगिये अरु ह्वै मुरली अधरा रस पीजै॥ (मतिराम)

यह सोचना कि कला की वेदी पर भावुकता की बलि चढी है इस काल के कवियो के साथ अन्याय करना है। आवेगपूर्ण मनोदशाओ के कितने ही चित्र इन कवियो ने अकित किये है। जिस सश्लिष्ट रूप मे भावो और परिस्थितियो को इन कवियो ने अकित किया है उससे काव्य में मूर्तिमत्ता या चित्रात्मकता काव्यामोहक सन्निवेश हुआ है—

(क) नाक मोरि सीबी करै जितै छबीली छैल।
फिरि-फिरि भूलि वहै गहै प्यौ कँकरीली गैल॥ (बिहारी)

(ख) चलत घेरु घर घर तऊ घरी न घर ठहराय।
समुझि वहै घर कौ चलै भूलि वहै घर जाय॥ (बिहारी)

(ग) आरस सों आरत सँभारत न सीस पट,
गजब गुजारत गरीबन की धार पर।
कहै 'पदमाकर' सुगंध सरसावै सुचि,
बिथुर बिराजैं बार हीरन के हार पर॥
छाजत छबीली छिति छहरि छरा को छोर,
भोर उठि आई केलि मन्दर के द्वार पर।
एक पग भीतर सु एक देहरी पै धरै,
एक कर कंज एक कर है किवार पर॥ (पद्माकर)

(घ) आई खेलि होरी घरैं नवल किसोरी कहूँ
बोरी गई रंग में सुगंधनि झकोरै है।
कहैं पदमाकर एकन्त चलि चौकी चढ़ि
हारन के बारन तें फन्द बन्द छोरै है॥
घांघरे को घूमनि सु ऊरुन दुबोचे दाबि
आंगीहू उतारि सुकुमारि मुख मौरै है।
दंतनि अधर दाबि दूनरि भई सी चापि
चौवर पचौवर कै चूनरि निचोरै है॥

(ङ) धरत जहाँई जहाँ पग है सुप्यारी तहाँ,
मंजुल मजीठ ही की माठ सी ढरत जात।

हार ते हीरे झरैं, सारी के किनारन ते,
बारन ते मुकुता हजारन झरत जात ॥

पद्माकर, बिहारी, मतिराम और देव ऐसे कवियो मे इस प्रकार के अनेक चित्र मिलेगे जो पाठक के हृदय पर अपना अचूक प्रभाव डालने मे समर्थ है। रीति के बँधे-बँधाए सकीर्ण दायरे मे भी इन रीति कवियो ने नये-नये भावात्मक प्रसंगो की जो अनेकानेक उद्भावनाएँ की है वे कवियो की नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा और असाधारण सहृदयता की परिचायिका है। श्रृङ्गार की सयोग-वियोगात्मक स्थितियो के अनुरूप असख्य प्रणय-भाव-भावित परिस्थितियाँ कवियो ने खडी की हैं जहाँ भावना और कल्पना का मणि-काचन-सयोग संघटित हुआ है और कितनी ही मनोहर एवं रमणीय काव्यसृष्टियाँ सम्भव हो सकी है। तीव्र भावावेग की ही स्थिति मे इस प्रकार की पक्तियाँ भी लिखी गई है—

(क) मन मोहन सों नेह करि तू घनश्याम निहारि।
कुंज बिहारी सों बिहरि गिरधारी उर धारि ॥ (बिहारी)

(ख) ऐसो जु हौं जानत कि जैहै तू विषै के सग,
एरे मन मेरे हाथ पायँ तेरे तोरतो।
आजु लौं हौं कत नरनाहन की नाही सुनि,
नेह सों निहारि हेरि बदन निहारतो ॥
चलन न देतो देव चंचल अचल करि,
चाबुक चेतावनीन मारि मुँह मोरतो।
भारो प्रेमपाथर नगारो दै, गरे सों बाँधि,
राधाबर-बिरद के बारिधि में बोरतो ॥ (देव)

(ग) कहा कुसुम कह कौमुदी कितक आरसी जोति।
जाकी उजराई लखे आँख ऊजरी होति ॥ (बिहारी)

जहाँ ऐसी भावुकता के दर्शन होते है वहाँ कला के उपकरण मात्र साधन ही रह गए है।

कलात्मक प्रवृत्ति और अलंकरण

कलाप्रधानता या आलकरिता इस युग की एक अन्य प्रधान प्रवृत्ति थी। कवि-जन अपनी उक्तियो को अलकारो से सजाया करते थे। यह प्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ी कि रचना रस-शून्य हो सकती थी किन्तु अलकारशून्य नही। किसी बात को साधारण ढग से कहने मे कवित्व कहाँ जब तक उसे उक्तिगत चमत्कार से सश्लिष्ट न कर दिया जाय।

इसी प्रवृत्ति के कारण इस युग की रचना मे ऊपरी अलकृति पूरी पाई जायगी । इस युग के अधिकाश कवि उक्तिशूर हुआ करते थे । वचन-वक्रता, उक्तिवैलक्षण्य, कथन-सौष्ठव आदि बातो पर पूरा ध्यान रहता था इसी कारण रीति कवियो की कविताएँ कवि-समाजो या सभा-समाजो मे विशेष रूप से समादृत होती थी। राजसभाओ मे सुनाने का उद्देश्य भी इन कवियो की काव्य-रचना के पीछे था। सभा-समाजो मे उक्ति का सौन्दर्य दिखलाने वाले कवि किस प्रकार पद-पद पर प्रशसित और सम्मानित होते है यह हमसे-आपसे छिपा नही है। इस प्रकार काव्य मे अलकरण की प्रधानता का कारण एक बडी सीमा तक राज्याश्रय भी रहा जहाँ उक्तिगत चमत्कार और शब्दो की बाजीगरी पर रीझने वालो की बहुतायत थी। अलकार-साधित काव्य-कला की उस प्रदर्शन के युग मे अच्छी कद्र थी तथा अलकृत काव्य-रचना का कौशल दिखलाने वाले कवि सभा-समाजो मे विशेष आदृत होते थे। बिहारी, केशव और सेनापति की कविता का समादर उसकी कलात्मकता के ही कारण हुआ। रचना के अंतिम चरण तक पहुँचते-पहुँचते रसिक-समाज यदि झूम न जाय तो कविता कविता नही इसी कारण रीति काल के अधिकाश कवित्त-सवैयो मे अतिम चरण बहुत अच्छे और वजनी बन पडे है। रचना अपने अतिम चरण तक आते-आते अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच जाती है। चरण और कल्पना दोनो का विधान इसी दृष्टि से किया गया है। इतनी कलात्मक चेतना लेकर हिन्दी के किसी दूसरे काव्य युग के कवि न चले। प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसीलिये कहा है कि 'सच पूछा जाय तो शुद्ध साहित्य की दृष्टि से निर्माण करने वाले कर्ता इस युग मे जितने अधिक हुए हिन्दी साहित्य के सहस्र वर्षो के दीर्घकालीन जीवन मे उतने अधिक कर्ता शुद्ध साहित्य की दृष्टि से निर्माण करनेवाले कभी नही हुए। आधुनिक काल मे भी नही।'[1] रीतियुग मे समस्यापूर्तियाँ खूब होती थी, कला का चमत्कार खूब दिखलाया जाता था आदि आदि। दरबारी वातावरण के लिए लिखे जाने के कारण इस युग के काव्य मे बहुत साज-सज्जा और चमत्कारप्रवणता आई। दरबार मे पढी जाने वाली रीति कविता एक तो अधिकाश मे मुक्तक रही दूसरे उसमे कलापक्ष की प्रधानता हुई। सभा-समाजो में वही रचना विशेष अभिनदित होती है जिसमे कला एवं चमत्कार की विशिष्टता होती है। यह बात आज के कविसम्मेलनो मे भी देखी जा सकती है। विगत युग की ब्रज-भाषा गोष्ठियो का तो वह प्राण ही हुआ करती थी। सभा-समाजों मे गंभीर रचना जम नही पाती। साधारण जन की रुचि को उत्तेजित और आकर्षित करने की क्षमता अलंकरण और चमत्करण में ही हुआ करती है। इसी प्रकार रचना मे छदगत सौन्दर्य

[1]. प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—देखिये परिचय पृ० २ (घनानन्द और स्वच्छंद काव्य-धारा, स० २०१५)

भी विशेष लाने की चेष्टा की जाती है। रीतिकाल के कवित्त और सवैयों मे अनुप्रास, प्रवाह, नाद, लय और वर्ण-विधान का जो मनोग्राही सौन्दर्य है वह भक्तिकालीन कवित्त सवैयो मे नही। इसका विशेष कारण कविता का राजदरबारो मे पाठ किया जाना ही है, यही कारण है जिससे काव्य के इन बाह्य उपादानो पर कवियों ने पूरा-पूरा ध्यान दिया।

इस युग के काव्य में अलकरण की अधिकता का अन्य कारण था अलकार-सम्बन्धी ग्रथों का प्रणयन। सैकडो रीति कवियो ने अलकार विषय को लेकर रीति ग्रंथ लिखे। उनकी बहुत-सी रचना अलकारो के निदर्शनार्थ ही हुई फलस्वरूप भी अलंकारिकता काव्य का एक अनिवार्य अग बन गई। अलंकार ग्रंन्थो का प्रणयन ही सभवत: सबसे अधिक हुआ भी।

काव्य के रसपक्ष का पर्याप्त उद्रेक पूर्ववर्ती काव्य मे किया जा चुका था। कवि-जनो ने अब उसके ऊपरी साज सज्जा तथा बाह्य सौष्ठव की ओर दृष्टि फेरी। कविता कामिनी अनलंकृत रहे ऐसा उनकी सौन्दर्य दृष्टि सह नही सकती थी। 'अर्थालंकार-रहिता विधवैव सरस्वती' की भावना इनमे प्रबुद्ध हो चुकी थी। काव्य को निर्दोष रखने की पूरी चेष्टा की जा रही थी—

दूषन कों करिकै कवित्त बिन भूषन कौ
जो करै प्रसिद्ध ऐसो कौन सुर मुनि है। (सेनापति)

काव्य के सभी अंग ठीक हो किन्तु भूषण तत्व यदि क्षीण हो तो काव्य अशो-भन माना जाता था। यह बात केशव तो केशव रसवादी देव को भी माननी पडी थी—

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजई कविता बनिता मित्त।। (केशवदास)
कविता कामिनि सुखद पद, शुबरन सरस सुजाति।
अलंकार पहिरे अधिक अद्भुत रूप लखाति।। (देव)

इस कथन मे युग की सामान्य प्रवृत्ति स्पष्ट प्रतिबिम्बित होती है। भक्ति काल मे काव्य की भाषा को सूर, तुलसी, जायसी ऐसे परम प्रतिभाशाली कवियो के संसर्ग से शक्ति और प्रौढता प्राप्त हो चुकी थी। उत्तर मध्यकाल मे आवश्यकता थी उसको व्यवस्थित और अलकृत करने की। उत्तर युग के कवियो ने उसे व्यवस्थित रूप देने की चेष्टा तो नही की किन्तु उसे सजाने-सँवारने की चेष्टा अवश्य की। इस चेष्टा मे ये कवि शब्दार्थगत अलकारो के प्रयोग, भाषा की लक्षणा और व्यञ्जना शक्तियो के विनियोग और भाषा को कोमल, ललित एव मधुर बनाने की ओर विशेष रूप से गए। अलकृत भक्त कवियो में भी थी पर वह आयास साधित नही, अंतः प्रेरित है। उनके भावोन्मेष ने उनकी वाणी को सहज सौदर्य और अलकृति से विभूषित किया। फिर

वे कवि काव्यशास्त्रीय परम्पराओ से अवगत थे । सस्कार रूप मे परम्परागत सौन्दर्य-विधान उनके काव्यो मे आए हैं । हाँ, कभी-कभी जब ये कवि बड़े-बडे रूपक बाँधने लगते हैं तब अलकरण का प्रयास अवश्य लक्षित होता है किन्तु रीतिकाल के कवि अपने काव्य के अतर्बाह्य को सजाने मे विशेष प्रयत्नशील हुए । बात यह है कि काव्य को ये कवि एक कला समझते थे जिसकी साधना से उसका काव्य तो काव्य-व्यक्तित्व भी समाज मे प्रतिष्ठा के योग्य बनता था । इसलिए ये कवि काव्य को अलंकृत किये बिना बेचैन रहते थे । कविता कामिनी को ये निराभरण नही देख सकते थे । इसीलिए इन्होंने अपने काव्य को शब्दार्थगत अलकारो से अच्छी तरह सजाया है । पद-पद पर अनुप्रास, यमक और श्लेष के प्रयोग देखे जा सकते है । उपमा, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, रूपकादि नगो की भाँति पूरी पदावली मे विजडित मिलेगे । अलंकृति का ऐसा आधिक्य किसी दूसरे युग की रचना मे नही मिलेगा । कारण यह था कि इनकी दृष्टि ही अलंकारों पर बडी सीमा तक टिकी रहती थी । इनकी रचनाएँ एक बार भावशून्य हो सकती थी परन्तु अलंकारशून्य नही । अलंकारशून्य हुई कि ये कवि सारा खेल बिगडा समझ लिया करते थे । इन कवियो का जो प्रधान वर्ण्य प्रेम या शृंगार था उसकी व्यक्तिनिष्ठ अभिव्यक्ति ये नही करते थे । जो कवि भावावेश या प्रेमावेश मे कविता करते है उन्हे अलकरण की विशेष परवाह नही होती, किन्तु जो कला की सृष्टि का लक्ष्य लेकर चलते है उनकी रचना मे कला-कौशल न हो यह सम्भव नही । केशव, सेनापति ऐसे चमत्कार-प्राण कवियो मे तो अलंकार काव्य के प्राण रूप मे प्रतिष्ठित मिलेगा । वहाँ अलकरण की सीमा हो गई है । सेनापति के कवित्त रत्नाकर के श्लेष तरग का प्रत्येक छंद इसका प्रमाण है । केशव की रचना भी ऐसी ही है—

(क) तिन नगरी तिन नागरी, प्रति पद हसक हीन ।
जलजहार शोभित न जहँ, प्रगट पयोधर पीन ।।

(ख) चढ़यो गगन तरु धाय, दिनकर बानर अरुन मुख ।
कीन्हो झुकि झहराय, सकल तारिका कुसुम बिनु ।

(ग) भौंहैं सुरचाप चारु प्रमुदित पयोधर
भूखन जराय जोति तड़ित रलाई है ।
दूरि करी सुख मुख सुखमा ससी की,
नैन अमल कमलदल लोचन निकाई है ।।
केसौदास प्रबल करेनुका गमनहर,
मुकुत सु हंसक सबद सुखदाई है ।
अंबर बलित मति मोहै नीलकंठ जू की,
कालिका कि बरषा हरषि हिय आई है ।। (केशवदास)

इस प्रकार अलकार-ज्ञान और अलकार-प्रयोग इस युग की काव्य-चेतना का एक प्रमुख अङ्ग था। कविता इससे रहित हो अपने सौन्दर्य और अस्तित्व दोनों से खारिज समझी जाती थी।

अलकरण-कौशल इस युग मे कवि के सम्मान का कारण होता था। कवि के व्यक्तित्व का रीतियुग मे जैसा सम्मान हुआ वैसा सम्मान किसी दूसरे युग मे नही।[1] यह बात भी कलाप्रधान काव्य-सर्जना के लिए पर्याप्त उत्साहप्रद सिद्ध हुई। जो इस दिशा मे जितनी प्रौढ और परिष्कृत रुचि रखता था वह उतना ही आदर का आस्पद था। इस अलकरण की अतिशयता का एक परिणाम यह भी हुआ कि कभी-कभी अलकारो से रचना इतनी बोझिल हो गई है कि उसका रस या आनन्द-तत्व निकल गया है। केशव और सेनापति की काफी रचनाएँ इसका प्रमाण है।

वह बात तो सर्वमान्य ही है कि इस युग का काव्य एक बडी सीमा तक कला-कौशल के प्रदर्शनार्थ लिखा गया। अधिकाश कवियो के लिए कलात्मक काव्य-रचना साध्य ही थी। इसका एक और भी महत्वपूर्ण कारण था। कला-कौशल-प्रधान काव्य फारसी काव्य की प्रतिद्वन्द्विता मे खडा किया गया। केशवदास ने वैसे तो प्रबन्ध रचना और नाटक रचना का भी मार्ग दिखलाया परन्तु लोग उस रास्ते गए नही क्योकि वह आदर्श संस्कृत काव्यो का था जो इस जमाने मे पुराना पड चला था। विदेश के नवागत फारसी काव्य का आकर्षण ही इस युग मे अधिक था। फारसी की शृङ्गारपरक मुक्तक रचनाओ के जोड-तोड मे इस युग के कवियों ने मुक्तकों को ही लिया और उसी मे अपनी कारीगरी दिखलाई। 'यह कारीगरी नाज़ुक खयाली के पेश करने मे, उक्ति वैचित्र्य मे और शब्द-विधानगत सौन्दर्य में दिखलाई गई। प्रतिद्वन्द्विता मे कला तत्व खूब उभरा, यह मानना पडेगा।

धार्मिक काव्य की प्रचुरता हो चुकी थी और स्वधर्म-भावना हिन्दुओ मे तत्परिणामस्वरूप स्थिर हो चुकी थी। पिछली दो-तीन शताब्दियो मे इस धार्मिक चेतना का उद्रेक और क्रमशः शमन हो चुका था अतएव अब काव्य को दूसरी दिशा ग्रहण करनी थी। नये-नये कवियो को इस युग ने उत्पन्न किया जिन्हे आध्यात्मिकता की चिन्ता न थी वरन् काव्य को कलापूर्ण और सौन्दर्यसमन्वित देखने की अभिलाषा थी जिससे हिन्दू काव्य-रसिक फारसी और उर्दू की ही मँजी हुई भाषा के प्रवाह मे

1, डा० रसाल : हिन्दी साहित्य का इतिहास (सन् १९३१) पृ० ३८३-८४

'अब चूँकि राजदरबारो मे कवियों का मान-सम्मान होने लगा था, उन्हें पुरस्कार प्राप्त होने लगे थे और कही-कही जागीरे या मुआफियाँ भी मिलने लगी थी, अतः हिन्दी काव्य-रचना की ओर सभी पढे-लिखे लोगो का ध्यान आकृष्ट होने लगा और बहुत-से आदमी काव्य-रचना का प्रयास करने लगे।'

बहकर अपनी भाषा और साहित्य को भुला न बैठे वरन् उसके प्रति अभिरुचि जगाए रहे। संस्कृत साहित्य क्षीयमान हो ही चला था, स्वदेशी भाषाओ के साहित्य की धारा स्वदेशी शासन के बीच सूख ही न जाय इस बात की बडी आशका थी। अकबर ऐसे मुगल गुणज्ञो के हाथ भी ब्रजभाषा की परम्परा सम्मानित हुई और उसकी समृद्धि की ओर रीति कवियो ने विशेष ध्यान दिया यह महत्व की बात है। आवेशशील या भावप्रवण भक्तिपरक काव्य-रचना के बाद काव्य की प्रवृत्ति बदलनी ही थी। कला और शास्त्र के सजग पण्डितो ने उसे कलात्मक कौशल और अलकरण या चमत्करण की राह दिखलाई, इससे एक बडी बात हुई वह यह कि लोक मे सौन्दर्य-भावना का विकास हुआ और यह क्रम शताब्दियो तक चला यहाँ तक कि आधुनिक युग मे भी रीति काव्य की रूढिमत्ता की कटु आलोचना करने वाले छायावादियो की दृष्टि भी कलाप्रधान ही रही। लोक मानस रीति युग मे काव्यकला और सौदर्य का आग्रही हो गया जैसा पहले नही था। रीति काव्य की यह भी कोई साधारण सिद्धि नही।

यह बात निर्विवाद है कि निरन्तर कलाप्रधान काव्य-रचना का क्रम स्थापित हो जाने से इस सपूर्ण युग मे ही एक विशिष्ट कलात्मक दृष्टि का विकास हुआ। लोक मे काव्याभिरुचि और सौन्दर्यादर्श जागृत हुए और कला-निर्णय की शक्ति विकसित हुई। इतना ही नही सभी प्रकार की काव्यधाराओ मे सौदर्य-चेतना का सन्निवेश हुआ। सतो मे सुन्दरदास हुए जिनके द्वारा प्रणीत सत-काव्य कलात्मक सौदर्यपूर्ण उत्कर्ष पर है। जो भी विषय काव्यबद्ध हुआ, कला का कुकुम मस्तक पर लगाता गया, सौदर्य उस पर विशेषत: मढा गया। कला की पारसमणि ने हर लौह खण्ड को सुवर्ण बना दिया। मनुष्य तो मनुष्य प्रकृति के उपकरणो के चित्रण मे भी याथार्थ्य की अपेक्षा सौन्दर्य का सश्लेष विशेष रूप से हुआ। यह प्रवृत्ति रीतिबद्धों मे ही नही रीति-मुक्तो मे भी देखी जा सकती है। द्विजदेव के प्रकृति-चित्रण मे इस कलात्मकता और सौन्दर्यचेतना का विकास विशिष्ट रूप मे हुआ—

> सुर ही के भार सूधे सबद सुकीरन के
> मंदिरन त्यागि करैं अनत कहूँ न गौन।
> 'द्विजदेव' त्यौं ही मधुभारन अपारन सौं
> नैकु झुकि झूमि रहे मोंगरे मरुअ दौन ॥
> खोलि इन नैननि निहारौं तौ निहारौं कहा
> सुखमा अभूत छाइ रही प्रति भौन भौन।
> चाँदनी के भारन दिखात उनयौ सो चन्द
> गन्ध ही के भारन बहत मन्द मन्द पौन ॥

औरै भाँति कोकिल चकोर ठौर ठौर बोलै,
औरै भाँति सबद पपीहन के वै गए।
औरै भाँति पल्लव लिए हैं वृन्द वृन्द तरु
औरै छवि पुञ्ज कुञ्ज कुञ्जन उनै गए।।
औरै भांति सीतल सुगंध मंद डोलैं पौन
'द्विजदेव' देखत न ऐसैं पल द्वै गए।
औरै रति औरै रंग औरै साज औरै संग,
औरै बन औरै छन औरै मन ह्वै गए।।

यह कला की साधना थी जिसने काव्योत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त किया। अन्यान्य काव्यधाराएँ भी चलती रही। रीति काव्य की कलाप्रधान धारा के कारण उनमे सौंदर्य का ज्वार ही आया है किसी प्रकार का अवरोध नही उपस्थित हुआ।

रीति की परम्परा का आरम्भ करने वाले आचार्यों कृपाराम, केशवदास, चिंतामणि आदि ने शुद्ध काव्य की रचना का मार्ग खोल दिया। रीतिकाल के पूर्व हिन्दी मे काव्य-रचना केवल काव्य-रचना के ही उद्देश्य से कभी नही की गई। उसका उद्देश्य आश्रयदाता की प्रशस्ति करना, उसे युद्धादि मे उत्साहित करना, निःश्रेयस की प्राप्ति करना अथवा भगवान के प्रति आत्मसमर्पण तथा नीति अथवा उपदेश-कथन करना आदि ही रहा। काव्य की रचना काव्य-रचना के ही लिये इसके पहले और बाद के किसी भी युग मे न हुई। कोई न कोई इतर लक्ष्य सामने जरूर रहा। शुद्ध काव्य की धारा रीतिकाल मे ही प्रवाहित हुई फलस्वरूप इस युग के कवियो की काव्य-दृष्टि, कलात्मक सौंदर्य उत्पन्न करने की वृत्ति तथा उसके साधन—काव्यशास्त्र—द्वारा ही प्रधानतः निर्दिष्ट हुई, फलस्वरूप काव्य-रचना की शास्त्रीय प्रणाली स्वीकृत हुई और काव्य के प्रति रुचिरता या कलात्मकता की दृष्टि प्रधान रही। रीतियुग का काव्य कवियो और काव्य-रसिकों की कला और सौंदर्य की तृषा को मिटाने वाला काव्य है—यह तृषा एक बडी सीमा तक मिटी भी इसमें सन्देह नही।

रीति कवि की कलाविषयक दृष्टि—राजसी वातावरण मे रहने और काव्य-रचना करने के कारण इन कवियो की काव्य के सम्बन्ध में एक विशेष दृष्टि विकसित हो चली थी। काव्य की रचना मे उसके बाह्य सौन्दर्य को ये कवि विशेष महत्व देने लगे थे। कवि की कविता काव्य-लक्षणो से सयुक्त सुवृत्त (छन्दमयी) और सरस होने पर भी भूषणापेक्षी बनी ही रहती थी। यह 'भूषण' या अलंकारप्रधानता उनकी प्रधान प्रवृत्ति थी इसी कारण इस युग के कवि को प्रत्येक पद का विन्यास करते हुए सुबरन (सुन्दर अक्षरो) का शोधन करना पडता था। इनका काव्य 'रसआर्द्र'

भी हुआ करता था, यह भी उसकी एक अनिवार्य शर्त थी जिसकी ओर किसी-किसी ने ध्यान आकृष्ट किया है—

'बानी पुनीत ज्यों देवधुनी रस आरद सारद के गुन गाहौ।' (देव)

काव्य मे चन्द्रमा का शील हो और सूर्य की काति तभी वह सच्ची कविता है—

'सील ससी सविता छ्विता कवि ताहि रचै कवि ताहि सराहौ।' (देव)

परन्तु सब गुण होने पर अलकार न हो तो उसमे वह बात नही आती जो अपेक्षित है। इसे रसवादी देव ने भी स्वीकार किया है —

कविता कामिनि सुखद पद, सुबरन सरस सुजाति।
अलंकार पहिरे अधिक अद्भुत रूप लखाति॥ (देव)

देव के इस कथन मे केशव की उक्ति की छाया बहुत स्पष्ट है। रस को देव ने विशेष महत्व दिया है परन्तु अलकार की महत्ता वे भी कम नही कर सके है। उनकी रचना स्वतः अलंकरण प्रधान है। इस युग मे अलकार की अतिशयता रही और उसकी महत्ता की दुदुभी भी बजी, परन्तु वह रस तत्व का विरोधी नही माना गया। रीतिकाल के सबसे बडे चमत्कारवादी केशवदास थे, उन्होने भी रसविहीन काव्य को 'रस हीन' दोष से दूषित माना। इस मत को अन्य विद्वानो ने भी माना है—'रीति काव्य मे अलंकरण पर आवश्यकता से अधिक बल दिया गया है पर रसात्मकता का आधार भी इतनी दृढता से पकडा गया कि रीति कवियो की रसानुभूति से स्पदित उक्तियाँ, शब्द-वैभव से सयुक्त वर्णन-भगिमाएं और स्वतः जिये हुए जीवन की साक्षी देने वाली शृंगारिक ध्वनियाँ काव्य के मर्मज्ञ प्रेमियो के चित्त को सदा ही अपहृत करती रहेगी।'[1] रीतिकाव्य का कलापक्ष इतना समृद्ध एव प्रौढ है कि वह अपनी तुलना आप ही है। परवर्ती युग मे भी उसका प्रभाव बहुत समय तक हिन्दी काव्य पर देखा जा सकता है। भारतेन्दु युग तो भारतेन्दु युग द्विवेदी-युगीन एव उत्तरवर्ती हिन्दी काव्य में भी रीतिकालीन प्रभाव अनेकानेक कवियो पर अच्छी तरह देखा जा सकता है। स्वय छायावादी कवि भी शैलीगत सौंदर्य के प्रति जागरूकता के लिए रीति कवियों के ऋणी माने जायँगे। उन्ही का विरोध कर उन्होने उनसे ही काव्य-सौदर्य की प्रेरणा प्राप्त की भले ही यह प्रेरणा कितनी ही अप्रत्यक्ष क्यों न हो।

कला एवं काव्य-कौशल के परिचायक एक से एक सुन्दर छद रीतिकाव्य से प्रस्तुत किये जा सकते हैं। वास्तव मे ऐसे छदो की सख्या 'अत्यधिक है' शब्द द्वारा व्यक्त नही की जा सकती। वस्तु का चित्रण, वर्ण्यगत सौदर्य, पदावली का चमत्कार सब कुछ अतिशय अनुरजक एव व्यामोहक मिलेगा—

[1]—डा० जगदीश गुप्त : रीतिकाव्य सग्रह (सन् १९६१) भूमिका पृ० ६१

(क) पग पग मग अगमन परत चरन-अरुन दुति झूलि ।
ठौर ठौर लखियत उठे दुपहरिया से फूलि ॥ (बिहारी)

(ख) धरत जहाँई जहाँ पग है सुप्यारी तहाँ,
मंजुल मजीठ ही की माठ सी ढरत जात ।
हारन ते हीरे झरैं, सारी के किनारन ते,
बारन ते मुकुता हजारन झरत जात ॥ (पद्माकर)

(ग) जाहिरै जागति सी जमुना जब बूड़ बहै उमहै वह बेनी ।
त्यों पद्माकर हरि के हारनि गंग-तरंगन को सुख देनी ॥
पायन के रंग सों रग जाति सी भांति ही भांति सरस्वति स्रेनी ।
पैरै जहाँई जहाँ वह बाल तहाँ तहाँ ताल मैं होत त्रिवेनी ॥
(पद्माकर)

जो लोग काव्य को नग्न यथार्थ और उपयोगिता के निकष पर कसने के अभ्यासी है उन्हे रीतियुगीन काव्य मे निहित अपार सौंदर्य सूझेगा ही नही, उनके लिये वह काव्य है भी नही । युग के अनिवार्य प्रभाव को दृष्टि से ओझल कर साहित्य-चर्चा करने वाले प्रगतिशील समीक्षको को यह सामंती साहित्य जला देने योग्य प्रतीत होगा किन्तु काव्य को सौदर्य की साधना मानने वाले रीतियुगीन कला-साधना की प्रशसा किये बिना नही रहेगे । दैनदिन जीवन की रुग्ण और अस्वस्थ अवस्था के बीच हमारे मनोलोक मे सौदर्य का नया ससार खोल देने वाला रीतिकाव्य चिरस्पृहणीय रहेगा । उसे हिन्दी साहित्य के शृगार के रूप मे ही देखना समीचीन है कलक के रूप मे सोचना अपनी ही आँखो मे धूल डालना है ।

यदि मानव मन को अनुरजित और आनन्दित कर देने की क्षमता काव्य की कसौटी है तो इस कसौटी पर रीतिकाव्य खरा उतरता है । उसमें साहित्य और कला की ऊँची अभिरुचि के दर्शन होते है । सौदर्य के मध्ययुगीन प्रतिमानो का परिचय मिलता है । इस कलाप्रधान साहित्य की प्रेरणा शुद्ध साहित्य-सृजन की भावना मे है । किसी राजनीतिक, धार्मिक या सामाजिक उद्देश्य की सिद्धि मे नही । काव्य का सृजन अपने आप मे ही एक महत्वपूर्ण कार्य है । और इस आत्मसिद्धि मे यह साहित्य पूर्णतः कृतकार्य है । रीति काव्य यौवन, सौदर्य और प्रणय का जीवंत चित्रण प्रस्तुत करता है और अपने इस परम व्यामोहक कार्य मे अतिशय प्रभावपूर्ण है । यही उसकी चरम सिद्धि भी है ।

रीति कवि का व्यक्तित्व और उसकी मनोवृत्ति

रीतिकाल में काव्य की विविध धाराएँ प्रवहमान थी परन्तु इस काल में लिखी गई विशाल काव्यराशि का प्रतिनिधित्व करने वाली रचनाएँ किसी न किसी प्रकार

'रीति' से अवश्य सम्बद्ध थी। रीतिग्रन्थो के निर्माता या रीति की परम्परा के अनुसरणकर्ता कवियो की सख्या इतनी अधिक है तथा उनका काव्य रूढियो मे आबद्ध होने के कारण इतना एक सा हो गया है कि व्यक्तिवैशिष्ट्य के आधार पर उसे पृथक् करना असम्भव-सा है। केशव, बिहारी, देव, भूषण, मतिराम, पद्माकर, भिखारीदास आदि कुछ गिनती के कवियो को छोड़ देने पर रीतिपरक समस्त रचनाएँ लगभग एक-सी ही है। इसका कारण यही है कि ये कवि काव्य की परम्पराओ से इस तरह जकड गए कि स्वतन्त्र चिंतन या भावन की शक्ति ही निःशेष हो गई। क्या वक्तव्य वस्तु, क्या कथन पद्धति, क्या कल्पना विधान सब कुछ ऐसा मिलता-जुलता-सा बन पड़ा है कि लगता है जैसे ये कवि एक ही चटसार के पढे हुए बटुक हो। थोड़े-बहुत अन्तर के साथ छाप सब पर एक ही थी। आश्रयदाता की प्रशस्ति और दरबार-दारो, आचार्य पदाकाक्षा, शृगारिकता या भोगवृत्ति हल्की सा भक्तिभावना, कला-कौशल का आग्रह आदि बाते थोडे बहुत हेर-फेर के साथ, सभी रीति कवियो मे देखी जा सकती है। इसी कारण रीति कवि को व्यक्ति न कह कर यदि 'टाइप' कहा जाय तो कदाचित् अधिक युक्तियुक्त होगा।

इस 'टाइप' की विशेषताओ एव अन्तर्वृत्तियो का सधान बहुत कठिन नही। अधिकाश रीतिकवि समाज के निम्न, दलित या शोषित वर्ग की उपज थे। अपनी कवित्व-शक्ति के कारण वे राजन्य वर्ग के ससर्ग मे आ जाया करते थे तथा वहाँ धन-वैभव, सम्मान आदि उपलब्ध कर उसी सामन्त वर्ग की प्रशस्ति करते हुए या उनके सुखद जीवन को ही जीवन का चरम आदर्श मान उनकी आशाकाक्षाओ का चित्रण करने मे अपने कविकर्म की चरम सफलता मानते थे। घोर दरिद्रता से निकल कर कवि और कलावत जब उच्च एव अभिजात वर्ग का आश्रय पा लेते थे तब इनमे निर्धनता के सस्कार धीरे-धीरे क्षीण पड जाते थे तथा ये कुलीन एवं सम्पन्न वर्ग के सस्कारो से सपृक्त हो उन्ही के हर्ष-विषाद मे रम लेते थे। निर्धन वर्ग के सुख-दुखो को ये प्रायः भूल-सा जाते थे। प्रकृति का यही नियम भी है। साधारण स्थिति से मनुष्य जब ऊँची स्थिति को पहुँच जाता है तब अपनी पूर्व स्थिति को भूल-सा जाता है। उसे पाना तो नहीं ही चाहता उस स्थिति मे पड़े हुए लोगो को प्रायः हिकारत, घृणा, उपेक्षा या अवहेलना की दृष्टि से भी देखने लगता है। बिहारी ने इस तथ्य की ठीक व्यंजना की है :—

> **बढ़त बढ़त सम्पति-सलिल, मन-सरोज बढि जाय।**
> **घटत घटत सु न फिरि घटे, बरु समूल कुम्हिलाय ॥ (बिहारी)**

बेचारा निर्धन समाज न तो इन कलावंतो की कला का उचित पुरस्कार ही दे सकता था और न उनकी कला-साधना का आस्वाद ही ले सकता था। इसी कारण

ये कलाकार रईसो, उमरावों, सरदारो, नवाबो, छोटे-छोटे राजाओ, सूबेदारों इत्यादि की शरण ढूँढ़ा करते थे। उस युग मे किसी सम्पन्न महाप्रभु की सभा या आश्रय मे रहना भी कवि की प्रतिष्ठा का एक गहरा मानदण्ड था। शाहजहाँ के बाद तो इन राज्याश्रित कवियो की स्थिति बडी दयनीय हो गई थी। उत्तर रीतिकाल मे तो इन्हे जगह-जगह बुरी तरह भटकना भी पडा। देव कवि किसी एक आश्रयदाता के यहाँ अधिक दिन ठहर ही न पाते थे, फलस्वरूप उन्हे कितनी ही जगह शरण लेनी पडी। स्वच्छन्द धारा के बोधा कवि का भी यही हाल था। कितने आश्रयदाता देख चुकने के बाद उन्हे 'खेतसिंह' महाराज ही ठीक जँचे—

देवगढ़ चाँदागढ़ मंडला उजैन रीवा
साम्हर सिरोज अजमेर लौं निहारो जोई।
पटना कुभाउ पैंधि कुर्रा औ जहानाबाद
साँकरी गली लौं वारे भूपदेव आया सोई॥
बोधा कवि प्राग औ बनारस सुहागपुर
खुरदा निहार फिर मुरक्यो निराश होई।
बड़े बड़े दाता ते अड़े न चित्त मे कहूँ
ठाकुर प्रवीन खेतसिंह सों लखो न कोई॥ (बोधा)

कभी-कभी बडे-बडे गुणी कवि आश्रय न पाने के कारण बड़े दुखी और जीवन से निराश भी हो जाया करते थे। एक कवि ने अपने बेबस और हतभाग्य होने का कैसा दारुण चित्र प्रस्तुत किया है—

जानत हौं ज्योतिष पुराण और वैद्यक को,
जोरि जोरि आखर कवित्तन को उच्चरौं।
बैठि जानौं सभा माँझ राजा को रिझाय जानौं,
अस्त्र बाँधि खेत माँझ सत्रुन सों हौं लरौं॥
राग धरि गाऊं औ कुदाऊँ घोड़े वाग धरि,
कूप ताल बावरीन नारन मैं हौ तरौ।
दीनबन्धु दीनानाथ ये ते गुन लिये फिरौं,
करम न यारी देत ताको मैं कहा करौं॥[1]

स्थिति यह थी कि कवि या कलाकार रूप मे आदृत हो चुकने के अनन्तर इनके लिये अपने दरिद्र भाइयो के बीच फिर से लौटना असम्भव था।

अर्थ और सम्मान की दृष्टि से राज्याश्रय पर अवलंबित रहते हुए भी रीति कवि आश्रयदाता के हाथ सर्वथा बिक ही गए थे ऐसा नही कहा जा सकता। उनका

[1] डा० जगदीश गुप्त : रीतिकाव्य संग्रह (सन् १९६१) पृ० ३५

व्यक्तित्व, उनका आदर्श, उनकी प्रतिमा दरबारी वातावरण से ओत-प्रोत थी यह बात ठीक है और यह भी ठीक है कि आश्रयदाता की इच्छानुसार ये अनुरजनकारी काव्य-सृष्टि किया करते थे; किन्तु इनका समस्त कृतित्व आश्रयदाता के लिए ही अर्पित नही हो गया था और न ही इनके काव्य आद्योपात राजप्रशस्तियो से ही ओत प्रोत मिलते है। दो-चार छन्द आश्रयदाता के लिए लिख ये शुद्ध काव्य-रचना की प्रवृत्ति से चालित हो काव्य-प्रणयन मे रत हो जाते थे। इनमे भी स्वाभिमान होता था और ये राजाओ को फटकार भी सुना दिया करते थे। राजसम्मान से वंचित होने पर बोधा अपने आश्रयदाता को खरी-खरी सुना बैठे—

जो धन है तो गुनी बहुतै अरु जौ गुन है तौ अनेक है गाहक। (बोधा)

इन कवियो का खरापन इनकी एक जातिगत विशेषता है। जब-तब ये अपने ईश्वर को भी ऐसी ही खरी-खरी सुना दिया करते थे—

करौं कुबत जग कुटिलता तजौं न दीनदयाल।
दुखी होहुगे सरल चित बसत त्रिभङ्गीलाल॥ (बिहारी)

सेनापति ने तो एक हाथ आगे बढकर यहाँ तक कह दिया कि—

आपने किये पै जब हौं ही निबहौंगो तौ
हौं ही करतार, करतार तुम काहे के॥ (सेनापति)

इनका अहकार ईश्वर को अर्पित न हो सका था वरन् इनके व्यक्तित्व मे ही अक्षुण्ण था। अपने आश्रयदातओ की इन्होंने प्रशस्ति की है परन्तु उनके समक्ष इन्होंने दैन्य का प्रदर्शन नही किया है। अपने को कुछ न समझने की भावना इनमे न थी। ये अपनी दृष्टि मे तुच्छ और नगण्य नही थे। रीतिकवि की गर्वोक्तियाँ प्रसिद्ध है। इनका स्वाभिमान अदम्य हुआ करता था। कभी-कभी यह स्वाभिमान अपने आश्रय-दाता के कारण होता था कभी अपनी कवित्व शक्ति के बूते पर। इस मामले में ये अपने आपको दूसरा विधाता ही समझा करते थे, इतना ही नही उससे भी बढकर—

छै रस बिधि की सृष्टि में नौ रस कविता माहिं।
कवि सब विधि बिधि ते बड़े यामैं संशय नाहिं॥

एक अर्वाचीन कवि की गर्वोक्ति देखिये—

महापात्र विश्वनाथ तैसे नरहरि नाथ
भए हरिनाथ कवि मंडल में रवि हैं।
वंशज हैं तिनके ब्रजेश ब्रजभाषाचार्य,
काव्याचार्य कोविद महीपन में छवि हैं॥
जानैं अलंकार गूढ़ तत्व ध्वनि भाव भेद,
छन्द रचना में दास देव ते न दबि हैं।
महाराज रीवा के पुराने कविराज हम
ओरछाधिराज की सभा के राजकवि हैं॥ (ब्रजेश)

उक्त छंद मे महान कविवश की पम्परा के वाहक होने का, उच्च कोटि की कवित्व-शक्ति से सम्पन्न होने का तथा अच्छे आश्रयदाता की सभा का राज-कवि होने का स्वाभिमान व्यक्त किया गया है। स्वच्छन्द धारा के ठाकुर का स्वाभिमान और निर्भीकता तो प्रसिद्ध ही है[1] उन्होने पद्माकर के आश्रयदाता महाराज हिम्मत बहादुर को ललकारा था—

सेवक सिपाही हम उन रजपूतन के,
दान युद्ध जुरिबे में नेकु जे न मुरके।
नीति देनवारे हैं मही के महिपालन को,
कवि उनहीं के जे सनेही साँचे उरके।।
ठाकुर कहत हम बैरी बेवकूफन के,
जालिम दमाद हैं अदानिया ससुर के।
चोजन के चोर रस मौजन के पातसाह,
ठाकुर कहावत पै चाकर चतुर के।। (ठाकुर)

ये कवि मात्र कोमल भावनाओ के ही व्यक्ति नही होते थे, अनेक गुणो एवं विद्याओ के आकर होते थे। कभी-कभी वीरतापूर्वक अपने आश्रयदाता के सग युद्ध-भूमि में जाकर युद्ध भी किया करते थे। इस प्रकार इन कवियो का व्यक्तित्व आधुनिक चाटुकार कवियो की अपेक्षा कही ऊँचा था 'जो चाटुकारिता वर्तमान स्वतन्त्र भारत में राजकीय मन्त्रियो को अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने मे हिंदी के कविमन्य और पंडितमन्य महानुभावो के द्वारा देखी जा रही है उसका शताश ही उनमे मिल सकता है। दरबारी मनोवृत्ति सप्रति आज कही अधिक है और राजनीति के नाम पर साहित्य न्यौछावर हो रहा है। रीतिबद्ध कवि नीतिगलित नही थे और न वैसा करके धन बटोरना चाहते थे। सभ्यता अपने विकास के साथ सचाई छिपाने के जितने अधिक साधन और मार्ग आज निकाल चुकी है उतने उस समय नही थे। जितने थे भी उनका उपयोग कोई कवि कुटिलतापूर्वक नही करता था।....वे अर्थ की अपेक्षा राजसभा में बडप्पन पाने के अभिलाषी थे, वे स्वार्थसिद्धि के स्थान पर समाजसिद्धि का भी ध्यान रखते थे।'[2] ये कवि पतित नही थे। कभी-कभी पथभ्रष्ट राजाओ को ठीक राह पर भी ले आया करते थे। बिहारी ने जयपुर नरेश महाराज जयसिंह को घोर शृंगार से उबारा था यह बात प्रसिद्ध ही है। चारित्रिक दृष्टि से भी ये ऐसे गये-गुजरे न थे इतना अवश्य है कि इनकी कविता का क्रीडाक्षेत्र मुख्य रूप से दरबार या सभाएँ होने के कारण राजप्रशस्ति या शृंगार के सकीर्ण दायरे मे ही इनकी कविता घिर कर रह गई। इसीलिए इनकी

[1] देखिये ठाकुर का जीवन-वृत्त

[2] विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : शृगार काल (सं० २०१७) पृ० ३८५

मनोवृत्ति दरबारी और शृंगारी कही गई है। इस सत्य से अवश्य इनकार नहीं किया जा सकता।

अधिकांश रीतिकवि राज्याश्रित थे और अर्थ के ही लिए राजाश्रय की खोज मे रहते थे। इनके स्वाभिमान को जब ठेस पहुँचती थी तब एक राजा को छोड दूसरे की शरण मे पहुँचते थे। यह बात सत्य है कि अर्थ की उपलब्धि इनकी काव्य-रचना का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य था। असाधारण परिश्रम करने पर भी जितना धन जीवन भर मे कदाचित् नही पाया जा सकता था उतना धन कभी-कभी कवि लोग एक छद पर ही पा लिया करते थे। प्रसिद्ध है कि कविवर बिहारी को एक-एक दोहे पर एक-एक मुद्रा या अशर्फी मिला करती थी। केशवदास तो स्वयं किसी नरेश से कम न थे, उनके एक-एक छद तो लाखो का वारा-न्यारा किया करते थे। कविता करके उन्होने कितना ऐश्वर्य सचित किया वह तो इस एक पंक्ति से ही स्पष्ट है—

धरती को इन्द्र इन्द्रजीत राजै जुग जुग
जाके राज केशोदास राज सो करत है।

देव ने भोगीलाल नामक एक साधारण भूप की प्रशंसा की है क्योंकि उसके निकट सुविन्यस्त अक्षरो का मूल्य लक्ष-लक्ष मुद्राएँ था—

भोगी लाल भूप लाख पाखर लेवैया जिन,
लाखन खरचि रचि आखर खरीदे हैं।

राजतन्त्र का यह युग ही ऐसा था जब काव्य और कला पर रीझने वाले राजे-महाराजे लाखों की सम्पदा लुटा दिया करते थे। स्वभावतः कवियो की वृत्ति भी तदनुसार हो गई थी। असाधारण वैभव-प्राप्ति के इस प्रलोभन को सूर, तुलसी और परमानन्द ऐसे लोग ही छोड सकते थे। इन सन्तों को सीकरी से भले ही काम न रहा हो परन्तु रीति कवियो को तो था। रीति कवि जीवन से बीतरागी नही था। इतना पुष्कल धन पाने के बाद उसे छोडना इनके बूते की बात न थी। आज भी कवियो को उनकी रचना पर रीझ कर इतना धन तो क्या इसका दशाश देने वाले गुणग्राही यदि मिल जायँ तो वे दरबारदारी और चाटुकारिता का बीसगुना अच्छा उदाहरण पेश कर सकते हैं। अनेक रीति कवि बडी शाही तबियत के थे, मिला हुआ धन ज्यों का त्यो दान कर देते थे। आधुनिक युग मे ऐसे एक ही फक्कड कवि का नाम सुना गया है—वह है निराला; परन्तु निराला को इतना धन मिला कहाँ ? वे तो आजीवन कला की सूखी रोटी ही खाते रहे। रीतिकाल के हरिनाथ कवि की कथा प्रसिद्ध है। हरिनाथ जहाँगीर के सभाकवि नरहरिनाथ के पुत्र थे। इन लोगों को शहंशाह से लाखो की सम्पदा प्राप्त हो चुकी थी। एक बार कवि हरिनाथ जी बान्धव-

---

[१] १५ अक्तूबर १९६१।

नरेश रामसिंह की सभा में बान्धवगढ़ आए। इन्हे भारी विद्वान् और शाही कवि समझ महाराज रामसिंह उठकर आदर के साथ इनसे दोनो हाथो से मिले परन्तु हरिनाथ जी महाराज से तो एक ही हाथ से मिले और दूसरा हाथ उन्होने पीछे को कर लिया। जब कारण पूछा गया तब हरिनाथ जी ने जो उत्तर दिया वह इस प्रकार है—

मोसों औ तोसों विपत्ति अबै लौं रही रसरीति की प्रीति सहेली।
तो हित हार पहार मँझाय के देखी मैं आय कै भूमि बघेली।
तैं हरिनाथ सों मान करै जनि मानु कहे हठ छाँड़ि दै हेली।
भेंटत हौं अब राम नरिन्दहि भेंटि ले री फिर भेट दुहेली॥
(हरिनाथ)

ऐसी उक्ति सुनकर शाह रामसिह और सभासदो का चित्त प्रसन्न हो गया। महाराज रामसिह की दानशीलता की प्रशसा मे हरिनाथ ने निम्नलिखित छन्द पढा—

काहू के करम उमराई पातसाई रई,
काहू के करम राज राजन सों हेत है।
काहू के करम हय हाथी परगने पुर,
काहू के करम हेम हीरन सों नेत है॥
हरिनाथ जेई जोई जाहि के लिलार लीक
सोई सोई यहि दरबार आनि लेत है।
महाराज बाँधव नरेश रामसिह तेरे,
करके भरोसे कर तारौ लिखि देत है॥ (हरिनाथ)

इस छन्द पर महाराज रामसिह ने एक लाख का दान दिया। जब दान-सम्मान से अलंकृत राजकवि हरिनाथ की सवारी बाँधवगढ से बाहर निकली तब कलंक नाम के एक उपेक्षित कवि ने हरिनाथ कवि की प्रशस्ति में यह दोहा पढा—

दान पाय दोई बढ़े की हरि की हरिनाथ
उन बढ़ि ऊँचो पग कियो इन बढ़ि ऊँचो हाथ॥

कलंक कवि के इस दोहे की गम्भीर भावध्वनि तथा व्यतिरेकमिश्रित उक्ति पर मुग्ध हो कविवर हरिनाथ ने एक लाख का समस्त दान कलक कवि को दे दिया। बघेलखण्ड में यह वृत्त बहुत प्रसिद्ध है।[1] यह मान-सम्मान और अर्थ का यह विनिमय रीतिकाल में एक साधारण-सी बात थी। केशवदास महाकवि की रचना की इस प्रसिद्ध पंक्ति—

दै करतापन आपन ताहि, दई करतार दुवौ करतारी।

---

[1] स्वर्गीय महाकवि ब्रजेश के हस्तलेख से—जो लेखक के पास सुरक्षित है।

पर रीझकर बीरबल ने महाराज इन्द्रजीत पर जो जुर्माना हुआ था उसे अकबर से कह कर माफ करा दिया था और प्रसन्न हो ६ लाख रुपयो की हुण्डियाँ केशव को पुरस्कार-स्वरूप दी।[१] इस प्रकार अर्थोपार्जन और प्रतिष्ठा दोनो दृष्टियो से इस युग के कवियो के लिए राज्याश्रय से अधिक श्रेयस्कर कुछ न था। उन्होने इस अवसर का लाभ उठाया। कुछ छद राजप्रशस्ति के रूप मे लिख देने से इनका कुछ जाता न था, पुष्कल सम्पदा हाथ लगती थी। जीवन का पूर्ण भोग जैसा रीति कवि कर सके न तो वह हिन्दी के पूर्ववर्ती कवियो को नसीब हुआ और न बाद के। कुछ दिनो तक मानो लक्ष्मी और सरस्वती ईर्ष्या-द्वेष से मुक्त हो साथ-साथ रही। यह बात अधिकाश बडे कवियो तथा बडे-बड़े रजवाडो की है। छोटे-छोटे कवियो और आश्रय-दाताओ के यहाँ भी स्थिति यही थी—बस पैमाना छोटा या साधारण रहता था, वृत्ति म कोई अन्तर न था। कविता अर्थकरी हो गई थी। अर्थोपलब्धि कवि की प्रतिष्ठा का मानदण्ड भी माना जाता था। अपनी रचना के बल पर जो कवि जितना द्रव्य प्राप्त कर लेता था कवि अथवा राज-समाज तथा गण्यमान्य सामाजिको मे वह उतना ही समादृत भी होता था। परवर्ती कवि कभी-कभी इसी आधार पर उनका कीर्ति-गायन भी कर गए है जो उक्त तथ्य को अच्छी तरह प्रमाणित करते हैं—

> **लाख दियो हरनाथ को राम, द्वै लाख दियो राजा मान अमाने।**
> **छत्तिस लाख दियो कवि गंग को जी के उमंग ते त्यों खानखाने।**
> **केसव को दियो ब्रह्म छ कोटि नगारौ सबै हरनाथ सुताने।**
> **साह अकब्बर त्यों नर नाहर, भूषन को सनमान सिवा ने॥**

संग्रह, भोग-वृत्ति या प्रवृत्तिपरकता का ही यह परिणाम था कि इस काल के कवियो मे दरबारी वृत्ति का विकास हुआ। यह तो अवश्य है कि कवि अर्थाश्रयी हो काव्य और जीवन के ऊँचे आदर्शों से स्खलित होता है तथा कविता का भी किन्ही अंशो मे पतन होता है— वह ऊँचे सन्देश और गहरे विचारो को वहन करने मे असमर्थ हो जाती है। शृंगारिकता, भोग-वृत्ति का प्राधान्य, ऐन्द्रिकता आदि की अतिशयता से काव्य मे उदात्त तत्वो का क्रमशः अभाव होने लगता है और जीवन-दृष्टि मे संकीर्णता आने लगती है। यह सब बाते रीति कवि की अर्थ एवं भोगपरक दृष्टि के कारण रीतिकाव्य मे आई। त्याग और विनम्रता के बजाय संग्रह और अहंकार की वृत्तियाँ जागृत हुई। जहाँ तुलसी ऐसे कवीश्वर यह कहते हुए पाये गए कि—

> **कवित विवेक एक नहि मोरे। सत्य कहउ लिखि कागद कोरे॥**

वहाँ रीति कवि अपनी कवित्व-शक्ति की सरेआम दुंदुभि पीटते मिलेगे—

---

१. कृष्णचन्द्र वर्मा : आचार्य कवि केशवदास (सम् १९५७) पृ० २५

(क) कवि मतिराम राजसभा के सिंगार हम,
जाके बैन सुनत पियूष पीजियतु है। (मतिराम)

(ख) मूढ़न कौं अगम सुगम एक ताकौं जाकी,
तीछन अमल विधि बुद्धि हैं अथाह की।
कोई है अभंग कोई पद है सभंग, सोधि,
देखे सब अंग, सम सुधा के प्रवाह की।
ज्ञान के निधान, छंद-कोष सावधान, जाकी
रसिक सुजान सब करत हैं गाहकी।
सेवक सियापति कौं, सेनापति कवि सोई,
जाकी द्वै अरथ कविताई निरवाह की॥ (सेनापति)

रीति कवि का दृष्टिकोण काव्य के सृजन मे आर्थिक तो था ही मान-सम्मान या प्रतिष्ठा की प्राप्ति भी कुछ कम नही। रीतिबद्ध तो रीतिबद्ध, रीतिमुक्त प्रेमी ठाकुर ने भी कविता का एक लक्ष्य राजसभा मे बडप्पन पाना स्वीकार किया है—

ठाकुर सो कवि भावत मोहिं जो राजसभा मैं बड़प्पन पावै।

ये कवि प्रतिष्ठा के भी भूखे थे। 'आदर न दैयै तहाँ कबहूँ न जैये' वाली बात इन्हे सिद्धान्ततः ही नही व्यवहारतः भी मान्य रही है। अनेक बार इन कवियो ने इस सिद्धान्त को उदाहृत करके भी दिखलाया है।

वैभव, सम्मान, प्रतिष्ठा, सभी कुछ राज्याश्रय लेने से मिलती थी फिर भला ये उसे क्यो छोड़ते। यह युग ऐसा था जिसमे आकर भक्ति का पुनीत स्वर मंद पड़ गया था। जन-जीवन निराश और आहत था। शोषण के जुए में सिर झुकाकर पिसते चले जाने के सिवा अन्य मार्ग न था। ऐसी दशा मे इन कवियो, इन प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियो को राज्याश्रय आत्मोत्थान का अमोघ उपचार प्रतीत हुआ और उन्होने कविता को वैभव और प्रतिष्ठा के हेतु राज्यश्री पर अर्पित कर दिया। राजप्रशस्ति और शृंगार-वर्णन ही मानो कविता के दो प्रधान लक्ष्य रह गए। किसी-किसी कवि को यह बात खली भी है। भूषण ने इस प्रवृत्ति से क्षुब्ध होकर कहा था—

भूषण यों कलि के कविराजनि राजन के गुन गाय नसानी।
पुन्य चरित्र सिवा सरजै सरन्हाय पवित्र भई पुनि बानी॥ (भूषण)

वास्तविक बात यह है कि काव्य के भक्ति-युगीन आदर्श इन्हें मान्य थे। अमान्य रहे हो सो बात नही। जिस प्रकार भक्त कवि काव्य को ईश्वरार्पण करने में ही अपने कवि-कर्म की चरम सफलता माना करते थे उसी प्रकार रीति कवि भी। वही युक्ति इनकी दृष्टि मे भी अच्छी होती थी जिसमें हरि का यश वर्णित हो—'हरि

जस जामै सोई कथनि सुहाई है ।' स्वयं केशवदास ने कवि कोटियो का निर्धारण इसी भक्तिवर्णना के आधार पर किया था—

उत्तम मध्यम अधम कवि, उत्तम हरिरस लीन ।　　(केशव)

इन पक्तियो मे तुलसी का वही उज्ज्वल आदर्श झलक रहा है—

कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना । सिर धुनि गिरा लागि पछिताना ।

एक अज्ञात नाम रीति कवि का यह कथन तत्वतः तुलसीदास के उक्त कथन से अभिन्न ही है—

सन्तर्मन, भाई सुखदाई है सुहाई जामै
कृष्ण केलि गाई सोई साँची कविताई है ।

इस प्रकार जहाँ तक काव्य के आदर्श का सवाल है वह सिद्धाततः ज्यो का त्यो स्वीकृत हुआ था । उसके व्यवहार मे अवश्य भेद हो गया था । उदाहरण के लिए इस काल मे आकर सन्तो को भी कृष्ण-भक्ति मे आनन्द कम मिलता था, कृष्णकेलि मे ही अधिक । इसका व्यापक प्रमाण रीति युग मे प्रणीत कृष्ण और रामभक्ति साहित्य की धाराओ मे तथा सन्तो की माधुर्य-भाव परक प्रेम-व्यञ्जनाओ मे देखा जा सकता है । यह युग ही ऊँचे उद्देश्यो से गिर गया था फलतः कवि और काव्य उच्चादर्शो से च्युत हो भोगप्रधान हो चले थे । प्रतिष्ठा, धनलिप्सा, दैहिक वासनाओ की तृप्ति जब राज्याश्रय मे ही होने लगी तब ईश्वर की शरण मे जाने की आवश्यकता ही क्या थी ? नर-काव्य लिखने पर भी भौतिक साधन जब न जुट पाये तब कविता अवश्य निष्प्रयोजन और त्याज्य समझी जाती थी—

नर को बखान करै तोऊ न अरथ सरै,
ऐसी कविताई को बहाय दीजै पानी में ।

इस कथन से युग की माँग के अनुरूप कविता के आदर्श का स्खलित होना स्पष्ट लक्षित हो रहा है ।

कवि का राज्याश्रय मे जाना कोई अनुचित बात न थी । हिन्दी के कवियों के समक्ष अतीत के महान कवियों और उनके यशस्वी आश्रयदाताओ का उज्ज्वल आदर्श भी था । कविता ऐसी ऊँची कला का राज्याश्रय मे कितना अधिक विकास हुआ करता है इसका ज्वलन्त इतिहास इनके आँखों के सामने था । महाराज विक्रमादित्य और भोज के राज्याश्रित कवियो के सम्मान और यश की गाथाओं से ये कवि अच्छी तरह परिचित थे । ये कवि इन्ही आदर्शों को लेकर चले थे । ये आश्रयदाता गुणी हो यह तो ठीक है किन्तु दानशील भी हो इसी बात विशेष की आवश्यकता थी । भूषण के आश्रयदाता ऐसे ही थे । कवि ने उन्हे राजा भोज से भी अधिक दानी कहा है—

साहितनै सरजा तव द्वार प्रतिच्छन दान की दुंदुभि बाजै ।
भूषन भिच्छुक भौरन को अति भोजहु तें बढ़ि मौजनि साजै ।। (भूषण)

जहाँ ऐसी दानशीलता और उदारता नही दिखाई देती थी वहाँ मतिराम ऐसे कवि पूर्वोक्त आदर्शो को प्रस्तुत कर तत्कालीन राजाओ को प्रबोधित भी किया करते थे—

करन के विक्रम के भोज के प्रबंध सुनो
कैसी भाँति कबिन को आगे लीजियतु है ।

हिन्दी के अनेक कवि उसी मान-सम्मान से विभूषित हुए थे । चन्द बरदाई को महाराज पृथ्वीराज ने हाथी-घोडे और बीसो गॉव उपहार मे दिये थे । भूषण की पालकी मे महाराज छत्रसाल ने कन्धा तक लगा दिया था ।

ऊपर रीति कवि के व्यक्तित्व एव उसकी मनोवृत्तियो का आकलन करते हुए जो कुछ कहा गया है उसका यह अर्थ नही कि ये रीति-कवि इतने सम्पन्न और सुखी थे कि इनके जीवन मे असन्तोष कभी आता ही न था । मान-सम्मान का यह जीवन इस युग मे श्रेयस्कर था इसमे सन्देह नही और इसीलिए ये कवि रजवाडो मे पडे भी रहे । छोटे-छोटे राजा-रईसो के आश्रय किस प्रकार गहरे क्षोभ और असन्तोष को व्यक्त करते हैं इसकी बड़ी अच्छी बानगी डा० जगदीश गुप्त ने पेश की है । वे कहते हैं—'आदर्श जिसकी माँग करता है यथार्थ कभी-कभी उसका उलटा नज्जारा ही पेश करता है । साधारणतः राजाओ की गुणग्राहकता से कवियो को प्रसन्न ही होना चाहिए था पर आजीविका का प्रश्न उससे सम्बद्ध होने के कारण बिना आर्थिक लाभ के कोरी गुणग्राहकता सन्तोषप्रद सिद्ध नही होती थी । कवियो का यह असन्तोष गहरे क्षोभ के रूप में उत्तर-रीति काल मे विशेषतया लक्षित होता है, क्योकि उस समय तक राजा-सामन्तो की स्थिति और भी गिर चुकी थी ।[1] उन्होंने कुछ ऐसे क्षुब्ध स्वर उद्धृत किये हैं—

(क) सूमन के रहे दुइ बातन की तंगी एक
ईस्वर निमित्त औ कवीस्वर के दैबे की ।

(ख) काके ढिग गाई काहि कवित सुनाई भाई
अब कविताई भई फ़जीहतिताई है ।

(ग) सौक सेर मारिबे को सभा मैं सुनावैं सदा,
स्यार हू न मारो कहूँ झारो की झरीन की ।

× × × ×

बाजे बाजे भूप ऐसे बेसरम होत जात
राखि लेत हाथी चारो डारत चिरीन को ।

---

[1]. रीति काव्य संग्रह (सन् १९६१) पृ० ५३ । देखिए पृ० ५४ भी ।

(घ) खात हैं हराम दाम, करत हराम काम,
धाम धाम तिनही के अपजस छावैंगे।
दोजख में जैहै तब काटि काटि कीरा ख्वैहैं
खोपरी को गृद्ध काक टोंटिन उडावैंगे।
कहै करनेस घर घुस्सनि ते बाज, तजै
रोजा औ नमाज, अंत जम काढ़ि लावैंगे।
कविन के मामले में करैं जौन खामी
तौन नमकहरामी मरे कफन न पावैंगे।।

यह क्षोभ असन्तुष्ट होने पर छोटे तो क्या बड़े-बडे कवियो ने भी व्यक्त किया है। बिहारी,[१] पद्माकर,[२] देव, बोधा आदि कितने कवियो ने इस क्षोभ की प्रकारान्तर से व्यञ्जना की है। कहने का प्रयोजन यह है कि राज-सम्मान या प्रतिष्ठा मे जब कमी आई है कवि क्षुब्ध हुआ है, जब वह अनाहत रही है कवि ने मुक्त कण्ठ से प्रशसा की है।

रीति कालील कवि की जीवन-दृष्टि को समसामयिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिवेश मे देखना सङ्गत होगा। राजनैतिक दृष्टि से रीतिकाल अनेकानेक उथल-पुथलों एवं अव्यवस्थाओ का युग है, सामाजिक क्षेत्र में जीवन नैतिक आदर्शों से च्युत एव सभी प्रकार के व्यभिचरण से मुक्त था और धार्मिक दृष्टि से जीवन अभिनव भक्ति-चेतना से शून्य पूर्ववर्ती भक्तो और सन्तो के स्वरों की अनुगूँज से अधिक नही था। समग्र रूप से यदि कहा जाय तो कह सकते है कि इस युग का अभिजात वर्ग ऊँचे आदर्शों से च्युत हो भोग-वासना से परिपूर्ण जीवन-यापन मे ही अपने देह धारण की चरम सिद्धि मानता था। यह मनोवृत्ति शासक वर्ग की थी जिसे भोक्ता वर्ग भी कहा जा सकता है। इस भोक्ता वर्ग के अन्तर्गत सम्राट, उसका परिवार, उसके सभासद, उसके अधीन मनसबदार या ऊँचे-ऊंचे ओहदोवाले अमीर, राज-कर्मचारी तथा दास-दासियाँ तक आते थे क्योकि उत्पादक वर्ग के ऊपर इन सब का पूर्ण प्रभुत्व था। इस युग के कवि और कलावंत भी इसी वर्ग में आ मिले थे। शासक की जो मनोवृत्ति होती थी वही समस्त भोक्ता वर्ग की मनोवृत्ति हो जाती थी, उससे भिन्न होने की कही कोई गुञ्जाइश न थी। स्वच्छन्द राजतन्त्र का दूसरा अर्थ ही क्या हो सकता था। ये शासक रत्नाभरणो से जटित, इत्रादि से सुवासित वस्त्र धारण करते थे। सारा राज प्रासाद सैकड़ो सुन्दरियों से भरा रहता था। सुरा सुन्दरी का

१. स्वारथ सुकृत न स्रमु वृथा, देखु विहग बिचारि।
बाज पराये पानि पर तू पंछीन न मारि।
२. आप महाराज हैं तो हौं हूँ कविराज हौं।।

सेवन नैमित्तिक कर्म समझा जाता था। वेश्याओं और रक्षिताओं की सर्वत्र कद्र थी। सुन्दरियों के बीच भी आशिकाना गजलों और अश्लील प्रेम-कहानियों की विशेष चर्चा चलती थी। रस, रङ्ग और यौवन के मदभरे प्याले में ये भोग और विलास के दीवाने डूबे रहते थे। ऐसी स्थिति में इस काल के रीति एवं शृंगारी कवियों से किन्ही ऊँचे आदर्शों की अपेक्षा नही की जा सकती थी। आदर्श और नैतिकता को ताक पर रख इस युग के कवियों ने भोग को ही जीवन का चरम प्राप्य मान रक्खा था। राज्य को दृढ़ और विस्तृत करने की चिन्ता जब स्वयं शासकों को न थी तब उनके आश्रित कवियों को क्या होती। ये कवि तो अधिकतर उसी रुचि और स्वाद की मदिरा-काव्य के प्याले में ढाल-ढाल कर अपने आश्रयदाताओं को पिलाया करते थे जिसकी उन्हे विशेष चाह हुआ करती थी। यह बात सही है कि शाहजहाँ और औरङ्गजेब के बाद मुगल-शक्ति जितनी तीव्रता और व्यापकता से विकेन्द्रित हुई उसके परिणामस्वरूप गायक, चित्रकार, कवि, शिल्पी आदिको को विशेष असुविधा का सामना करना पडा। छोटे-छोटे राजा-रईसों की शरण में उन्हे जाना पडा जिनकी खुद की आर्थिक हालत खस्ता हो चली थी। ये छोटे-छोटे राज्याश्रय भी बड़े-बडे मुगल शासकों की प्रतिच्छाया मात्र थे। आत्म-गौरव की चेतना से रहित ये रसिक वर्ग इस पतन के युग मे भी वेश्याओं का नृत्य और संगीत तथा काव्य-पाठ द्वारा आत्मविनोदन कर सकता था। नैतिक पराभव का इससे बड़ा प्रमाण दूसरा क्या हो सकता है। इस युग के राजाओं और नवाबों की समस्त शक्तियाँ निःशेष हो चुकी थी, शेष रह गई थी एक भोग की वासना मात्र। उसी अग्नि को प्रज्ज्वलित रखने के लिए इस युग के कलाकार अपनी कला के घृत का अर्घ्य चढ़ाया करते थे। काव्य इसी कारण शृंगार परक हो गया था और शृंगार के अन्तर्गत भी कवि के व्यक्तित्व के अनुसार शृङ्गारिकता अथवा अश्लीलता के विविध स्तर देखने को मिलते हैं। शृंगार के संयत आदर्श कम है गहरी अश्लीलता या नग्नता अधिक है और इस सब का कारण है युग की अधोमुखी प्रवृत्ति। इस काल के कवि साधारण हाड-मास के प्राणी थे, भक्तियुगीन सन्तो की भाँति जीवन मे तप कर जीवन को उच्चतर मार्ग की ओर ले जाने वाले नही वरन् जीवन की कीच मे ही प्रफुल्लित होने वाले। इनके जीवन मे यदि कोई संघर्ष था तो आर्थिक, यदि कोई चिन्ता थी तो दैहिक भोग के साधनों की। जीवन के महत्तर लक्ष्यों और समाज के विकास के साधुतर उद्देश्यों की ओर इनकी दृष्टि ही न जाती थी। नीति और विवेक की जो बाते इन्होंने कही हैं वे परम्परा के अनुसरण मे ही, किसी निजी गम्भीर अनुभूति के प्रतिफल के रूप मे नहीं। इसी कारण इस युग के कवियों के व्यक्तित्व में प्रखरता और तेजस्विता न थी। सद्सद के निर्णय द्वारा सन्मार्ग के अनुसरण की प्रेरणा और सामयिक जीवन को अधोमति से उबरने की उत्तेजना देने की शक्ति इनके काव्य मे न थी। ये अपने युग

की परिस्थितियो से ऊपर न उठ सके थे वरन् उन्ही के शिकार हो गये थे। लोक-जीवन से ये और इनका काव्य विमुख था। इनके निजी जीवन मे कोई महत् आदर्श प्रतिष्ठित न हो सके थे। युग की वायु के अनुरूप ये भी अपना आचरण ढालते हुए 'जैसी बहै बयार पीठ तब तैसी दीजै' की उक्ति चरितार्थ कर रहे थे। जग की वायु से ये तो क्या कदाचित इनका ईश्वर भी अछूता न था।[1] उच्चादर्शों के सद्भाव से इनके व्यक्तित्व मे निखार नही आने पाया था। सामन्ती जीवन जिस ढर्रे पर चल पड़ा था लगभग निरपवाद रूप से रीति कवि उसी लीक पर चले चल रहे थे। भूषण ने अवश्य इस सम्बन्ध मे औरो की अपेक्षा जागरूकता का प्रमाण दिया है। अपवाद-स्वरूप अन्य कवियो ने भी कभी-कभी अपने आश्रयदाता को विवेक के मार्ग का अनुसरण करने की सलाह दी है। उदाहरण के लिए बिहारी और ठाकुर ने अपने आश्रय-दाताओ को समय-समय पर सजग किया था किन्तु इन अपवादात्मक उदाहरणों से इस युग के कवियो की सामान्य अंधानुसरण की स्पष्ट प्रवृत्ति को झुठलाया नही जा सकता। रीति कवि के सामने नैतिक या सामाजिक आदर्शो की द्वन्द्वमयी स्थितियाँ न थीं। इन्हे तो चुपचाप निर्धारित मार्ग पर चले चलना था और ऐसा करने मे इन्हे अर्थ, धर्म, काम ऐसे परम पुरुषार्थों की सिद्धि सहज ही प्राप्त हो रही थी।

रीति कवि परम शृंगारी और रसिक था। कामक्रीडा, विपरीत रति और सुरतात के विशद चित्रण द्वारा उसने संभोग वर्णन की तो सीमा-रेखा ही छू दी है साथ ही छिछली रसिकता और कामुकता का प्रदर्शन भी उसने अपने काव्य मे खुले आम किया है—

(क) अहे दहेडी जनि धरै जनि तू लेइ उतारि।
नीके है छींके छुए ऐसी ही रहु नारि॥ (बिहारी)

(ख) चौकी पै चंदमुखी बिन कंचुकी अचर में उचकैं कुच कोरै।
बारन गौनी बधू बड़ी बार की बैठी बड़े बड़े बारन छोरै॥

(ग) चौक मैं चौकी जराय-जरी तिहि पै खरी बार बगारति सौंधे।
छोरि धरी हरी कंचुकी न्हान कों अंगन तें जगे जोति के कौंधे।
छाई उरोजन की छबि यों 'पद्माकर' देखत ही चकचौंधे।
भाजि गई लरिकाई मनो लरिकै करि कै दुहुं दुंदुभि औंधे।
(पद्माकर)

नीकी दई अनाकनी फीकी परी गुहारि।
तज्यो मनो तारन बिरद, बारक बारन तारि॥
कब कौं टेरत दीन रट होत न स्याम सहाय।
तुमहूँ लागी जगत गुरु जग नायक जग बाय॥ (बिहारी)

रीति कवि की श्रृंगारप्रवणता का कारण एक बडी सीमा तक तो राज्याश्रय एवं वहाँ का वातावरण ही था, इस बात की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। एक तो विदेशी सत्ता के सामने छोटे-छोटे देशी राजा निस्तेज-से हो गए थे दूसरे कालातर मे मुगल शासन भी क्षीण-बल हो विकेन्द्रित हो चला था। विद्रोह, ईर्ष्या, द्वेष, और बिश्रृखलता की प्रबल शक्तियो के सामने ये छोटे-बडे नरेश घुटने टेक चुके थे। बाहर उनके अहं की पूर्ति न हो सकने पर अंतःपुर में उन्होने आत्माभिव्यक्ति की। मदिरा के प्यालो, वेश्याओ के नृत्यो और सुकुमार सुन्दरियो के आंगिक सौन्दर्य पर रीझ-रीझ कर ही ये अपने अहं को तुष्ट करने लगे। कवियो ने राजरुचि की तृप्ति में ही अपना कवि कर्म अर्पित कर दिया। इस मनोवृत्ति का डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने बड़ा सुन्दर मानसिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है—'रीति काल का काव्य यद्यपि श्रृगारप्रधान है पर इस श्रृगार रस की साधना मे जीवन की सतुलित दृष्टि का अभाव है, जैसे सब ओर से चोट खा कर किसी ओर रास्ता न पाकर बुद्धि घर के भीतर सिमट गई हो, जैसे जीवन के व्यापक क्षेत्रो में मनोनिवेश का अवसर न मिलने के कारण मनोरजन का एक मात्र साधन नारी-देह की शोभाओ और चेष्टाओ के अवलोकन-कीर्तन तक ही सीमाबद्ध हो गया हो। इस श्रृङ्गार मे न तो प्रिया का व्यक्तित्व उभर पाया है (उसका साधारण नारीत्व ही आकर्षण का एक मात्र हेतु है) न प्रिया की प्रीति जीतने के लिये रूमानी ढग के किसी असीम साहसिक कार्य की योजना ही बन पाई है (केवल लला का रूप ही—चाहे वह चित्र-दर्शन से प्राप्त हो, स्वप्न मे दर्शन से लब्ध हो, सखिमुख से सुनकर प्राप्त हुआ हो, प्रत्यक्ष देखकर दृग्गोचर हुआ हो या विवाह की भॉवरी के समय झलक गया हो-इस प्रीति को जीतने के लिए पर्याप्त है) और न प्रिया के रूप मे सूफी कवियो की भाँति किसी अपूर्व पारस-रूप का ही कोई उल्लेख है। यह प्रेम शुरू से अन्त तक महत्त्वाकाक्षा से शून्य, सामाजिक मंगल के भाव से प्रायः अस्पृष्ट, पिण्ड-नारी के आकर्षण से हततेजा और स्थूल प्रेमव्यजना से परिलक्षित है। फिर भी वह मोहन है, क्योकि उसमे चित्त को विश्राम देने का महान गुण है। वस्तुतः यह मोहनता उसे पूर्ववर्ती श्रृङ्गारी कविताओ से भिन्न और विशिष्ट बना देती है। यह सब ओर से रुद्धगति हो गये हुए मानस-व्यापारो की विश्राम-भूमि है, कर्मठ और बहुधा-विभक्त चित्त की गति-शील प्रक्रिया का सामयिक विराम-स्थल नही। इसीलिए ठीक-ठीक वह भौतिकवादी भी नही। वह वास्तविक जीवन की कठोरताओ पर आधारित नही। उसका आधार-फलक (कैनवास) सीमित, संकुचित और सँकरा है। जीवन के मूल प्रश्नो से उसका सम्बन्ध बहुत थोड़ा है। जीवन की वास्तविक जटिलताओ के साथ सामना करने के लिए जिस प्रकार का वैयक्तिक साहस और सामाजिक मंगल का मनोभाव आवश्यक है वह इसमे नही है और न श्रृंगार-भावना को जीवन का सबसे बडा लक्ष्य घोषित करने का साहस ही। सब ओर से सिमटी मनोवृत्ति का वह एक विराम स्थान मात्र है।

यद्यपि प्रायः सभी कवियो ने शृङ्गार की रसराजता की घोषणा की थी, तथापि इसको तर्कसंगत परिणति तक घसीट ले जाने का साहस कम कवियो मे रहा। इस शृंगार-भावना को उन्होंने भक्ति का आवरण दिया। राधारानी और गोपाललाल घूम-फिर कर सभी प्रकार की शृंगार-चेष्टाओ के विषय बन जाते है। यह भक्ति-भावना कवियों के लिए सामाजिक कवच का काम करती है, साथ ही उनके मन को प्रबोध भी देती है -
आगे के सुकवि रीझि हैं तो कविताई न तो राधिका गोविंद सुमिरन को बहानों है।

राजा या आश्रयदाता की इच्छा का अनुसरण करते हुए रीति कवि ने काव्य-सर्जना को जीवन के प्रति उसकी दृष्टि भी भोगपरक ही थी इसीलिए अपनी ओर से वह राजेच्छा को कोई नई दिशा न दे सका। ये कवि किन्ही महान् उद्देश्यों से प्रणोदित न हुए थे फलस्वरूप राजा की भावना के अनुकूल ये कविता लिखा करते थे। राजाओं की अभिरुचि कैसी थी इसकी चर्चा ऊपर की ही जा चुकी है। शासनाधिकार के परिणामस्वरूप मनुष्य में जो तेजस्विता और दर्पशीलता आती है उसकी बहिर्मुखी अभिव्यक्ति राज्यविस्तार, पौरुषपूर्ण कर्मों, अन्याय और अत्याचार के दमन एव लोकरक्षण या लोक-सेवा ऐसे पुनीत कार्यों मे जब न हो सकी तब ये हततेज शासक नारी के सौंदर्य मे, विलास के उपकरणो मे, ऐश्वर्य और वैभव के प्रदर्शन मे रमने लगे। कर्मप्रधान और उच्चादर्श युक्त जीवन मे जब इनके लिए कोई आकर्षण न रह गया तब ये आश्रयदाता अपना मन रमाने के लिए नारी के झीने अंचल और सुकुमार अंग-जाल की शरण मे आए। अन्य दिशाओ मे या जीवन की अन्य समस्याओ की ओर जाने से अवरुद्ध मन को नारी की कामोत्तेजक शृगार-भूमि में ही विश्राम मिला। रीति कवि ने अपने आश्रयदाता की इस विश्राम-भूमि को बडे अभिनिवेश के साथ सजाया है। उसे मौलिक चिंतन द्वारा राजा के मन को फेरने और शक्ति एवं तेजपूर्ण कार्यों की ओर ले जाने की आवश्यकता न दिखाई पडी। उसकी निजी भौतिक आकाक्षाओ की सिद्धि इसी में दिखी कि वह अपने आश्रयदाता के मनोनुकूल शृंगारी काव्य-सृष्टि करता चले। इसी मे उसकी, उसके आश्रयदाता की तथा राजसभा के रसिको की तृप्ति सन्निहित थी। फलस्वरूप रीतिकवि एक ओर जहाँ वैभव-विलास के उपकरणो, शीश महलो, रजत ज्योत्स्नाओ, स्फटिक भवनो, दीप ज्योति एवं विविध सुगन्धो से सुवासित प्रकोष्ठों, पुष्पसुरभि से आमोदित उपवनों, कुजो, बासंती मलयजो, पुष्प सज्जित पर्यंकों, हिंडोलों, नाना अगरागों और रत्नावेष्टित भूषाओं आदि के वर्णन द्वारा परम राजसिक वातावरण तैयार करने में लीन हुआ है वही विविध नायिकाओ की अग-द्युति, नखशिख, हाव-भाव, रूप, सौन्दर्य, यौवनच्छटा, शृंगार-चेष्टाओ एवं रति-केलियो आदि के उन्मादक चित्रणो मे प्रवृत्त हुआ है। इसी मे उसकी राजसेवा

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य, पृ० ३०२-३०३

और आत्माभिव्यक्ति दोनो एकाकार हो गए थे। इस शृंगारिकता के प्रति उनका दृष्टिकोण मुख्यत: भोगपरक था इसलिए प्रेम के उच्च धरातल तक ये कवि नही जा सके। प्रेम जिन गुणो अथवा बातो से प्रेमी को महान और अमर बना देता है वे बाते इनमें देखने को बहुत कम मिलती है उदाहरण के लिए प्रेम की अनन्यता, त्याग, एक-निष्ठता आदि। युग और समाज मे जिस प्रकार की छिछली रसिकता या ऐन्द्रिक-लिप्सा व्याप्त थी उसी के अनुरूप विलासितावर्धक शृंगार अथवा प्रेमसम्बन्धी बाह्य चित्र ये कवि प्रस्तुत कर सके जिसे हम कवियो के नायिकाभेद निरूपण, नख-शिख या ऋतु वर्णनसम्बन्धी ग्रन्थो मे देख सकते है। छिछली, बहिर्मुखी अथवा ऊपरी शृंगारिकता का इस युग के काव्य मे इतना प्राधान्य हो गया था कि उसे इस युग के काव्य का सर्वप्रधान तत्व कहा जा सकता है। पराभव के इस युग मे किसी मे आत्म-चेतना तक शेष न रह गई थी, चेतना का अलौकिक प्रकाश विकीर्ण करने वाले सत शान्त हो चुके थे, जो थे भी वे निष्प्रभ और कबीर, नानक, दादू ऐसे समर्थ संतो की क्षीण छाया मात्र। राजसिक जीवन नारी के शरीर को जीवन के आकर्षण का चरम-केन्द्र मान कर उसी के चारो ओर परिक्रमा कर रहा था। कवि भी इसी कामोपासना मे लिप्त हुआ। भक्ति युग के कवि मार्ग-दर्शन कर ही गए थे, रीतिकार उस पथ पर चलते हुए झिझके नही। काम और विलास की वृत्तियो को सहलाने और उभारने वाली रचना से इस युग का काव्य ओत-प्रोत हो गया। रीति कवि ने इस कामोपासना मे पूरा-पूरा योग दिया। अकुंठ चित्त से उसने कामवृत्ति की अभिव्यजना की। डा० नगेन्द्र ने इसीलिए शृंगारिकता को इस युग के 'काव्य की स्नायुओ मे बहने वाली रक्तधारा कहते हुए उसके कारण, स्वरूप, उसके पीछे छिपे जीवन दर्शन पर अच्छा प्रकाश डाला है।[1] युग जीवन विलासिता से पकिल हो चला था तथा संयत स्वस्थ और ऊर्ध्वमुखी जीवन-चेतना विलुप्त हो चुकी थी। धनीमानी सपदभोगी प्रदर्शन और इंद्रियतुष्टि को ही जीवन का पर्याय समझ बैठे थे। जीवन आत्मिक शुद्धि और आध्यात्मिक ऊँचाइयो तक जाने मे सर्वथा अक्षम था फलत: युग के राजा-रईस-नवाब आदि विलास के केन्द्रीय उपकरण को शमा बनाकर खुद परवाने बने हुए थे। उनका प्रत्येक आचरण सुरा और सुन्दरी के प्रति रसिकता का भाव लिये होता था। सामतों के निस्तेज व्यक्तित्व और जीवन मे कामुकता का ही सर्वत्र साम्राज्य था। साक्षात् वायु-मडल मे ही परिव्याप्त जीवन के इस रंग से सामती शरण में पले हुए ये कवि कैसे नजरन्दाज कर सकते थे। कृष्ण-प्रेम की कविता की आड मे तो ये कवि क्या कुछ नही लिख डालते थे। गोपीकृष्ण के प्रेममय जीवन के विविध वृत्तों ने इन कवियो को युग की छिछली रसिकता के चित्रण का अवसर प्रदान किया। कृष्ण-भक्ति के

१. रीतिकाव्य की भूमिका (सन् १९५३) पृ० १५९-१६५

बहाने ये राधिका कन्हाई की निगूढ परम गोप्य सभोग-लीलाएँ भी चित्रित करने लगे। कृष्णभक्ति की ओट ले लेने के कारण इन्हे इस प्रकार की कविता लिखने का जैसे लाइसेंस-सा मिल गया था। इस नैतिक अनुमति का इन्होने भरपूर उपयोग भी किया। शृगार मुक्तक काव्य-रचना की प्राकृत, सस्कृत, अपभ्र श आदि से चली आती हुई परपरा तथा विद्यापति, सूर आदि की रचनाओ मे प्राप्य भक्तिमिश्रित शृगार की परंपरा, समसामयिक शृगार-प्रधान फारसी शायरी, युग का वातावरण सभी कुछ तो शृगारी काव्य-रचना के लिये उपयुक्त वातावरण की सृष्टि कर रहा था फिर ये कवि शृगार का ही आसव क्यो न भर-भर कर पिलाते।

एक बात जो विशेष रूप से इस युग की कविता मे द्रष्टव्य है वह यह कि रीतिकवियो ने पूरी निर्बधता के साथ अपनी आतर वृत्तियो अथवा भावनाओ को वाणी दी है। उनकी शृगारी भावनाएँ और काममूलक वृत्तियाँ अदम्य भाव से फूट पडी है और उन्होने जो कुछ भी कहना चाहा है अकुठ चित्त से कहा है। अपनी चित्तवृत्तियो को दमित रखने की उन्हे आवश्यकता न थी, अग ससर्ग सुख आदि की बाते वे पूरे आवेशोन्मेप के साथ कह गए है, उसमें किसी प्रकार को कुठा या मनो-ग्रथि के दर्शन नही होते और न उन्होने अपनी कथित बातो पर आवरण ही डालना चाहा है। कृष्ण-राधा के प्रेम का पल्ला पकडने तथा उनकी भक्ति की आड़ ले लेने से एक प्रकार की नैतिक अनुमति जो उन्हे समाज से मिल गई थी उसी के कारण शृगारी काव्य का ऐसा अकुँठ प्रवाह फूट सका। उन्होने शुद्ध कायिक, लौकिक प्रेम की कविता को आवश्यक रूप मे आध्यात्मिक रग देने की चेष्टा नहीं की। ऊँची बातो के फेर मे ये कवि सूफियो की भाँति नही पडे। इस प्रकार की कायिक अथवा सभोग सुख की आकाक्षा से भरी अभिव्यक्तियो के कारण प्रेम के बहिर्स्वरूप का ही चित्रण अधिक हो पाया यह एक बडी कमी देखने मे आई। रीतिकालीन रीति कवियों को रसिक कवि कहा गया है, प्रेमी नही। रसिक का सबध वासना मात्र से है संबन्ध की आत-रिकता से नही। स्थूल शारीरिकता और विलासिता से ही उसका प्रयोजन होता है आतर सबन्धो की प्रगाढता, एकनिष्ठता; प्रेम के लिये सर्वस्व त्याग आदि की भावनाएँ वहाँ गोचर नही होती। ऊपरी-ऊपरी बातो को ही असाधारण विस्तार से दिया गया है, अनेकमुखी प्रीति का खुल कर कथन किया गया है—

(क) मूँदे तहाँ एक अलबेली के अनोखे दृग
सुदृग मिचावनै के ख्यालनि हितैहितै।
नैसुक नवाइ ग्रीवा धन्य धनि दूसरी कों
औचका अचूक मुख चूमत चितै चितै।

(ख) एकन सों बतराइ कछू छिन एकन को मन लै चलै लै चलै।
एकन कों तकि घूँघट में मुख मोरि कनैखिन दै चलै दै चलै॥ (पद्माकर)

जहाँ प्रेम मे अनेकोन्मुखता हुई वहाँ वह प्रेम की पवित्र संज्ञा नही पा सकता। उसे छिछली रसिकता या कामुकता ही कहा जायगा। उपभोग की वृत्ति प्रधान होने के कारण रीति कवियो मे प्रेम का गंभीर मानस पक्ष उभर कर सामने नही आ सका है। रीति के प्रमुख कवियो-केशव, मतिराम, पद्माकर, दास आदि को प्रेमी कवि न कहकर रसिक कवि ही कहना पडेगा क्योकि इनकी प्रेम-साधना रूप-रंग और बाह्याकार के आकर्षण तक ही सीमित थी। प्रेमिका के और अपने अथवा प्रेमी के मनोदेश की गहराइयों मे उतरकर आतरिक भावनाओ को ऊपर लाने का प्रयत्न इनमे गोचर नही होता। यह काम रसखान, बोधा, ठाकुर, घन-आनन्द आदि स्वच्छन्द धारा के शृंगारी कवियो ने किया है तभी तो उनकी वाणी का विधान ही अलग है और व्यजना की मार्मिकता भी सर्वथा दूसरी है। इनमे छिछलापन है उनमे गहराई, इनमे बहिर्मुखी आसक्ति है उनमे आतरिकता से परिपूर्ण समर्पण।

रीति कवि की दृष्टि मे नारी उपभोग का एक उपकरण मात्र थी। सामती वातावरण मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण विलास-सामग्री के रूप मे उसकी स्वीकृति हो चुकी थी। भोग-वासना से भिन्न सन्दर्भों मे नारी का चित्रण इस युग के कवियो ने किया ही नही। नारी का कोई निजी चेतन व्यक्तित्व हमे नही मिलता, वह स्मयमेव भोग-विलास की वासनाओ को तुष्ट करने के लिए सहर्ष तत्पर दिखाई देती है। उसके हाव-भाव, चेष्टाएँ, गति-विधियाँ इसी एक आशय को व्यक्त करने वाली हैं कि वह नर के सुख-सभोग की सजी-सजाई सामग्री है। उसका यह रूप इन शृंगारी कवियो का ही दिया हुआ है। नारी का जितना सारा रूप-चेष्टा-क्रीडा-विलासादि का चित्रण नायिका-भेद अथवा अन्यान्य कृतियो मे फैला हुआ है वह सब उसकी उपभोग-योग्यता का ही प्रसार है। उसे कामकेलि का सरोवर समझ कर रसिक कवि जन उसके रूप और अग-जल मे निमग्नामग्न होते रहे है। उसके प्रति कवियो की जो दृष्टि रही है इस प्रकार के कुछ कथनो से ही भली-भाँति व्यक्त हो रही है—

> **तातैं कामिनि एक ही कहन सुनन को भेद।**
> **राचै पागै प्रेम रस मेटै मन के खेद॥**
> **कौन गनै पुर बन नगर कामिनि एकै रीति।**
> **देखत हरै विवेक कों चित्त हरै करि प्रीति॥** (देव)

इन उक्तियो से जाहिर है कि नायिका-भेद का सारा पसारा इसी एक बात को लेकर है कि वह अपने सौन्दर्य-रस मे कवि के मन को या पुरुष मात्र के मन को अनुरक्त कर लेती है और उसके समस्त मानसिक संतापो को मिटा देती है। उसके रूप-रंग-अंग आदि का आकर्षण नर के चित्त एवं विवेक सब कुछ को हरण कर लिया करता है। नारी मात्र के प्रति यही एक दृष्टि थी जिसे लिये-दिये कविजन चले चल रहे थे—

जग जीवन को फल जानि पर्यो धनि नैननि कों ठहरैयतु है।
पद्माकर ह्यो हुलसै पुलकै तनुसिंधु सुधा के अन्हैयतु है।
मन पैरत सो रस कै नद में अति आनन्द मैं मिलि जैयतु है।
अब ऊँचे ऊरोज लखे तियके सुरराज को राजसो पैयतु है।।

नारी के प्रति कोई सम्मान एव गौरवपूर्ण भावना भी उनके मन मे थी ऐसा जान नही पडता—'देवि, माँ, सहचरि, प्राण' आदि विविध रूपो मे उसे देखने की कदाचित् अपेक्षा ही न थी। उसका महत्व गृहस्थी के बीच भी कुछ था, वह गृहिणी, माँ, बहन, पुत्री, परामर्शदात्री आदि रूपो मे देखी ही नही गई। कामिनी का एक ही रूप—उपभोग-सामग्री का—ही उनके मन के समूचे पर्दे पर छाया हुआ था। नायिका-भेद के ग्रन्थो मे मानवती, खडिता, स्वकीया, परकीया, मुग्धा, मध्या आदि जो शत-शत रूप दिखाए गए है वह उसके इस एक ही रूप के अवान्तर भेद है और कुछ नही।

इस प्रकार रीति कवि एक अस्वस्थ जीवन-दर्शन लेकर चल रहा था। उसका कर्मक्षेत्र इतना सकुचित हो गया था कि संघर्ष और वृत्तियो के विकसित होने का अवसर ही न था। कवियो का निजी जीवन निश्चिन्तता का जीवन था। जीवन एक निश्चित लीक पर चल रहा था। राज्याश्रय मे होने से जीविका की समस्या सुलझी ही हुई थी, काव्य-रचना उनका कर्त्तव्य कर्म था और रसप्राप्ति ही उनके समग्र जीवन का लक्ष्य था। परिस्थितियों से टक्कर लेते हुए जीवन के कर्ममय क्षेत्र मे अग्रसर होते रहने से व्यक्ति के व्यक्तित्व मे जो स्फूर्ति और वैशिष्ट्य आता है वह रीतिकवि मे नही आने पाया। एक ही दिशा मे निरन्तर लिप्त रहने के कारण उसकी वृत्तियाँ असंतुलित हो गयी, उसके व्यक्तित्व का विकास अवरुद्ध हो गया और उसकी सृष्टि कविता निर्विशिष्ट हो गई। व्यक्तित्व का तेज और दीप्ति उनकी रचनाओं मे न उतर सका। सभी कवियो की रचना बहुत-कुछ एक-सी ही हो गई है क्योकि परिस्थितियाँ वही, कवि का जीवन वही। नवीन अनुभवो या अनुभूतियो की गुञ्जाइश नही, भावना के नए-नए क्षेत्रो तक दौड नही। ऐसी दशा मे कवि और काव्य दोनो 'टाइप' मात्र हो कर रह गए। केशव, बिहारी, मतिराम, पद्माकर सरीखे कुछ बडे कवियो मे अवश्य थोड़ा व्यक्तिवैशिष्ट्य दिखाई देता है फलतः इनकी रचना भी थोडी विशिष्टता लिये हुए है किन्तु टाइप फिर भी वही है; क्योकि रस, नायिकाभेद, अलकार के निर्धारित लक्षणों पर ही तो छन्द बाँधने पडते थे, बहुत भिन्नता आती भी तो कहाँ से। परिणाम यह हो गया है कि कवियो की रचनाएँ एक दूसरे मे मिल जाने लगी और परवर्ती काव्यरसिको की रचना के बल पर कवि की पहचान मे धोखा होने लगा। संग्रह ग्रन्थो में यह घाल-मेल बहुत हुआ। किसी की रचना किसी के नाम चढ गई। बिहारी, रसनिधि, रसलीन, मतिराम आदि के दोहे एक दूसरे के नाम पर चढ गए। कवित्त-सवैयो की भी यही दशा होने लगी। कविता ही जहाँ अर्थोपार्जन और प्रतिष्ठा

का एक बडा आधार हो वहाँ असमर्थ और चौर वृत्ति वाले लोग भी जैसे-तैसे स्वार्थ-साधन के लिए आगे आये। कविता की चोरी होने लगी। भावापहरण तक तो कोई बात न थी परन्तु इस काल मे तो शब्द, पद, वाक्य, चरण यहाँ तक कि पूरा का पूरा कवित्त चुराया जाने लगा—

सुनु महाजन चोरी होत चारि चरन की
ताते सेनापति कहै तजि करि ब्याज कौं
लीजियौ बचाइ ज्यौं चुरावै नहिं कोई, सौंपी
वित्त की सी थातीं मैं कवित्तन की राज कौं। (सेनापति)

स्वभावतः कवियो को अपनी परिश्रम से बनाई हुई इस मूल्यवान पूँजी के संरक्षण की बड़ी चिंता हुई। वे अपनी रचनाओ को अपने आश्रयदाताओ को समर्पित करने लगे। ग्रथार्पण करने मे कभी-कभी जागीरे तक मिलने लगी साथ ही ग्रन्थ के चोरी जाने का भय भी कम हो गया। रीतिकाल मे लिखा हुआ प्रत्येक छन्द अपने कर्त्ता का नाम वहन करता है उसका प्रधान कारण कवि के अह की तुष्टि और चोरी का भय प्रतीत होता है।

रूढिबद्ध जीवन, अवैयक्तिक दृष्टि, राजनीतिक और आर्थिक पराभव, वृत्तियो का असतुलन, ऊँचे लक्ष्यो के प्रति अनाशक्ति, संघर्ष का अभाव या सघर्षों से बचते रहने की चेष्टा—सक्षेप मे यही सामती जीवन था जिसके बीच व्यक्तित्व का स्वस्थ और चतुर्मुखी विकास सम्भव न था। ऐसा रूढि से ग्रस्त-रुग्ण और जर्जर जीवनक्रम मे तेजस्वी कवि-व्यक्तित्व का जन्म नही हो सका। यह भी इस एक ही बात को प्रमाणित करता है कि इस युग का कवि अपनी परिस्थितियो से ऊपर उठने की शक्ति नही रखता था। निस्तेज और स्वाभिमानरहित सामन्तो की भोगवृत्तियो को तोष देने के लिए कविता लिखनेवाले कवि किसी स्वतन्त्र और व्यापक जीवनदृष्टि को सामने न ला सके तथा अपने आश्रयदाता को मात्र भोग-विलास के जीवन से नजात न दिला सके। वे उन्हे प्रबुद्ध करने वाली सरस्वती न दे सके जो उन्हे लोककल्याण-कारी कर्मों मे प्रवृत्त करती। अत्यन्त बँधी हुई परम्परागत दृष्टि रखने के कारण ये कवि उससे बाहर न जा सके। जिस प्रकार ये रीतिकवि किसी सूक्ष्म एव गम्भीर आध्यात्मिक आशयो को अपने काव्य मे प्रतिफलित न कर सके उसी प्रकार ये लोग मौलिक जीवन के भी नाना पक्षो को न ला सके, भौतिक जगत और जीवन की अनेक-रूपता इनके काव्य मे न आ सकी। भौतिक जीवन का स्वस्थ एव सुन्दर चित्रण के योग्य अनन्त विस्तार छोडकर ये कवि नारी के देह की सुन्दरता के ही भ्रमर बने रहे। इससे आगे वे नही जा सके। काम की ऐसी सार्वभौम उपासना इन लोगो ने की कि उस वृत्त से ये बाहर ही न जा सके। कामवृत्ति की तृप्ति का यह आयोजन अपने आप मे ही एक बडा लक्ष्य था, किसी महत्तर लक्ष्य की सिद्धि का साधन नही। भोग

की चतुर्मुखी प्रभा ही ये कवि देखते रह गए। उसके आगे इन्हे अनन्त अन्धकार ही गोचर होता था। लोक के प्रति ऐमी अधी-पथराई दृष्टि रखते हुए भी ये कवि अपनी अनन्त सीमाओ के बावजूद चित्तानुरजक भावलोक प्रस्तुत कर गए इस बात से इनकार नही किया जा सकता। अपनी इस अनुरजनकारिणी उपलब्धि के कारण वे अविस्मरणीय भी हो गए है। जीवन-सघर्ष से टक्कर लेने की बात से दूर रह कर भी इन्होने अपनी कविता की गागर मे जीवन-रस का जो सागर भरा है वह आपको परिपूर्ण संतोष देने वाला है—यह बात द्विधाहीन भाषा मे स्वीकार करनी पडेगी।

रीति कवि ने जन-जीवन और मानव व्यक्तित्व को स्फूर्त करने देने वाली कोई बात नही लिखी। राजैनीतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि क्षेत्रो मे आन्दोलन मचा देने वाली कोई सवेदना ये पैदा न कर सके, परम्परा और रीति की दासता की शृखलाओ को इन्होने भी तोडने का उत्साह नही दिखलाया। सर्वथा मौलिक और अछूते भावलोक का दिग्दर्शन ये न करा सके। रीति कवि के निजी विचार प्रायः दृष्टिगत नही होते। जीवनानुभव या नीति-सम्बन्धी जो विचार इनमे आए है वे भी परम्पराप्राप्त कथनो के मेल मे ही हैं। काव्य-विषयो के सम्बन्ध मे भी उनकी दृष्टि स्वतन्त्र या वैयक्तिक न होकर रूढिबद्ध ही रही है। रीति के पालन या अनुसरण मे ही उसकी निजी प्रतिभा का विनियोग हुआ है इसलिए उसका काव्य निर्वैयक्तिक रहा है और काव्य दृष्टि भी। यदि आत्मप्रसार या वैयक्तिकता कही मिलती भी है तो वह अपवाद स्वरूप ही। घनआनन्द की निजी वेदनासमन्वित रचनाओ मे रीति की काव्यधारा का सच्चा प्रतिनिधित्व नही होता।

रीति कवि के व्यक्तित्व मे अलकरण की प्रवृत्ति विशेष परिलक्षित होती है। इसका कारण है जीवन के प्रति किसी गहरी दृष्टि का अभाव। स्वतन्त्र चेतना और जीवन-उद्भाविनी क्षमता के अभाव मे ये कवि रीति से बँधे रह गए और अलकारो के परम प्रेमी बन चले। गम्भीर जीवन-दृष्टि न होने पर सतही या ऊपरी शोभा तथा दिखावो के चक्कर में पड़ जाना स्वाभाविक ही है। उनके काव्य मे वैयक्तिकता की कमी का भी यही कारण है—नई स्फूर्ति, स्वच्छन्द जीवन और गहरी जीवन-दृष्टि का अभाव। उन्होने काव्य के कलापक्ष को खूब बनाया, सजाया, सँवारा और निखारा। सीमित भावजगत के भीतर ही उन्होने भावना, कल्पना और कला की समूची कारीगरी दिखलाई तथा समसामयिक कवियो और अपने पूर्ववर्तियो से वे उक्त क्षेत्रो मे बढ जाने का निरन्तर प्रयास करते रहे। काव्यान्तर्गत कला विधान के प्रति ऐसी सजग दृष्टि रखने वाले कवि हिन्दी मे इस युग से पहले कभी नही हुए थे। और चाहे जिस चीज मे ये कलाकार पीछे रहे हो पर कला की साधना तथा अपने जीवन धर्म 'कवि कर्म' मे ये लेशमात्र भी पीछे न रहे।

रीतिकवि के व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि वे

भक्त थे अथवा नही ? ऊपर जो कुछ रीति कवि के सम्बन्ध मे कहा गया है उसे रीति-कवि द्वारा लिखित काव्य को दृष्टि मे रखते हुए यह बात स्पष्ट रूप से ध्यान मे रख लेनी चाहिये कि इन कवियों के काव्य की प्रेरणा भक्ति नही थी। भक्ति की किसी तीव्र भावना से अनुप्रेरित हो ये काव्यक्षेत्र मे प्रविष्ट हुए ऐसी बात नही। भक्ति सस्कार रूप मे या परम्परागत काव्य-पद्धति के प्रभाव रूप मे इनके काव्य मे आई है किन्तु वह चमत्करण, शृंगारिकता, कौशल-प्रदर्शन, राजप्रशस्ति आदि प्रबलतर वृत्तियो के सामने दब-सी गई है। जब कभी उसका थोडा-बहुत उद्रेक हुआ है कुछ सुन्दर पक्तियाँ रीतिकवि द्वारा लिखी जा सकी है। भक्तिकाव्य सम्बन्धिनी जो धाराएँ रीतिकाल मे प्रवाहित हो रही थी उनकी चर्चा तो अन्यत्र की गई है किन्तु यहाँ पर हमारा अभिप्रेत रीति के कर्त्ताओ द्वारा की गई भक्ति भावपरक रचनाओ से है तथा उनके आधार पर इन कर्त्ताओ के व्यक्तित्व के विश्लेषण से है। रीति की ओर ये कवि मुडे इसलिए कि रीति या कला-कौशलप्रधान रचना द्वारा राजा के सभा का शृङ्गार बनना इस युग के कवियो के लिये जरूरी हो गया था। वह सामती युग की ही सही, अपने युग की माँग थी। रीति-भक्ति की प्रतिक्रिया न थी। भक्ति और रीति की धाराये भक्ति और रीति युगो मे समानान्तर चल रही थी। प्राधान्य के ही कारण ये युग दो विभिन्न नामो से अभिहित हुए है। रीति कवि मे भक्त कवि की भाँति परमात्मा के प्रति सर्वस्व अर्पित कर देने की वृत्ति नही, लोक से उसे वैराग्य न था, लोकमगल की प्रबल स्पृहा उसमे न थी, लोक को प्रबुद्ध करने की तथा रूढ विश्वासो से पृथक कर उसे जीवन का सात्विक मार्ग बतलाने की कामना रीति कवि मे न थी। भक्ति-भावना की वह गम्भीरता और पवित्रता तथा भावावेश की वह तीव्रता उसमे लक्षित नही होती जो सूर, जायसी, तुलसी, मीरा आदि संतो में स्वतः व्यक्त है। ये कवि हाड-माँस की देह को पाकर फूले-फूले फिरने वाले थे। संसार की अनित्यता से भीत न थे। जीवन की इच्छाओ और प्रवृत्तियो मे रसात्मक भाव से प्रवृत्त होने वाले प्राणी थे। ऐन्द्रिक तृप्ति, नारी का रूप-जाल, धन और वैभव का उन्मादक आह्लाद इनके समक्ष मूल्यवान उपकरण थे, त्याज्य और विगर्हणीय नही। हरि और गोपाल, राधा और कृष्ण, गोपी और नन्दलाल, मोहन और घनश्याम ऐसे लोकप्रिय एव पुनीत नामो को लेते हुए इन्होने अति शृङ्गारिक उद्भावनाएँ की हैं। अपने पूज्य ईश्वरावतारो की नितात लौकिक, मासल और कामुक वर्णना की है। जहाँ यह सब है भक्ति इनसे कोसो दूर है। उधर जब कभी अपनी शृङ्गारिकता से विरक्ति हुई है या जिस क्षण भोगप्रधान जीवन की घृणितता का भाव मनोगत हुआ है इन्होंने वैराग्यमिश्रित भक्ति-निवेदन किया है। ऐसे समय रचनाएँ अच्छी बन पडी है परन्तु यह इन कवियो का स्थायी और मूलवर्ती स्वर नही। यह व्यजन तो स्वाद बदलने के लिए उपयोग मे लाया जाता है। गम्भीर और सात्विक विचारो की

राशि से इन कवियो का काव्य प्रायः शून्य है । तीव्र और गहरी सवेदनाओ से रिक्त है । रीतिकवि 'कविनाई' के लिए तो काव्यक्षेत्र मे आए ही थे, वही इनका मुख्य लक्ष्य था । उसकी सिद्धि न होने पर इन्हे पश्चाताप न होने पाए इस उद्देश्य के लिए इन्होने उसमे 'राधिका-कन्हाई' का नाम और जोड़ दिया है । काव्य-रचना इन्होने अहेतुकी भाव से न की । कवि-समाज मे प्रतिष्ठा उसका प्रथम उद्देश्य था । उसकी सिद्धि से धन, सम्मान, वैभव, भोग के उपकरण सब कुछ सुलभ होते थे । उसमे यदि कही असफलता हुई तो हरिनामस्मरण तो कही गया नही । रीतिकवि की इस मनोवृत्ति का खुलासा करते हुए भिखारीदास 'फिमल पडे की हर गगा' वाली उक्ति चरितार्थ कर गए है । बहुत बढिया बात इन कवियो के विषय मे यह है कि इनका व्यक्तित्व जो कुछ भी है, जैसा भी है एकदम स्पष्ट है, द्विधारहित नही है । कुछ विद्वानो ने कहा है कि रीतिकवियो मे प्राप्य भक्ति-भावना ने 'सामाजिक कवच' का काम किया, ये कवि लोग-निन्दा से इसी कारण बच सके । असल बात यह है कि श्रृङ्गारप्रधान काव्य-रचना के कारण उस युग मे कोई तिरस्कृत या निन्द्य नही माना गया । भक्ति की भावना या राधाकृष्ण और गोपी का नामोल्लेख इन्होने कदाचित् परम्परागत काव्यसस्कारवश किया है न कि लोकापवाद से आत्मरक्षण के निमित्त । डा० नगेन्द्र ने रीति कवियो मे प्राप्य भक्तिभावना को एक 'मनोवैज्ञानिक आवश्यकता' कहा है—'भौतिक रस की उपासना करते हुए भी उनके विलासजर्जर मन मे इतना नैतिक बल नही था कि भक्तिरस मे अनास्था प्रकट करते या उसका सैद्धान्तिक निषेध करते ।[१] सच तो यह है कि भक्ति की क्रमागत भावना के विरोध का सवाल ही नही उठता । वह भावना तो उन्होने स्वीकार ही कर ली थी । भक्ति के वे भाव जो सूर, तुलसी आदि ने व्यक्त किये है जगह-जगह रीति कवियो मे भी पाये जाते है इतना ही नही कभी-कभी कबीर का स्वर भी कही-कही सुनाई पड जाता है—

जप माला छापा तिलक सरै न एकौ काम ।
मन काँचै नाचै वृथा सांचे रांचे राम ।। **(बिहारी)**

इसलिए भक्ति-रस मे अनास्था या उसके सैद्धान्तिक विरोध का कही कोई प्रश्न ही नही । वह भावना और वह सिद्धान्त तो इन कवियो को यथावत मान्य रहा है सिर्फ उसकी स्वीकृति का स्वर उतना तीव्र नही था । इसका कारण विलासजर्जर युग, सामती वातावरण, कवियो की पार्थिव दृष्टि आदि मे स्पष्ट देखा जा सकता है । इसीलिये इनकी भक्तिमयी रचनाएँ न उतनी आवेशपूर्ण हैं न उतनी निष्ठासम्पन्न, न उनमें वह आत्मसमर्पण है न वह गहरी आसक्ति है । उस उन्मेष का न तो यह काल था और न इन कवियो में समार-त्याग और ईश्वरानुराग की वैसी गहरी वृत्ति

---

१. रीतिकाव्य की भूमिका (सन् १९५९) पृ० १६५

थी। इसी कारण भक्तिकालीन आवेशोन्मेष से पूर्ण गहरी धवल और पवित्र भक्ति की एक हलकी किन्तु निश्चित छाया रीति कवि के काव्य और व्यक्तित्व मे दृष्टिगोचर होती है। रीति और भक्त कवियो के जीवन-विषयक मानदण्ड भिन्न थे। यही भिन्नता उनके काव्यो के बीच स्पष्ट भेदक रेखा खीच देती है। भक्तिकालीन काव्य में ईश्वर-भक्ति और आस्तिकता लोक की चेतना के लिए एक बहुत बडा सहारा थी पर रीतियुग तक आते-आते वह बात न रह गई। शृङ्गारिकता इतनी बढी कि ये कवि भक्ति का सहारा केवल स्वाद बदलने के लिए ले लिया करते थे या विपदा के चक्कर मे आ फँसने पर ईश्वर का नामोच्चार और माहात्म्य कथन कर चलते थे। ऐसी रचनाएँ इनकी असाधारण लीनता का द्योतन नही करतीं। भक्ति के कवियो मे जिस प्रकार अशतः रीति विद्यमान थी उसी प्रकार रीतिकवियो मे भक्ति भी। भक्तो की अति शृगारी रचना ने इनकी राधाकृष्णपरक अति शृगारी काव्य सृष्टि का अनुमोदन कर उसका पथ प्रशस्त किया। सूर आदि मे प्राप्त उत्तान शृगार से रीति-शृ गारी कवियो को बहुत बडा नैतिक बल मिला। भक्ति भी इन रीतिकारो ने उसी दैवत के प्रति अधिकतर निवेदित की है जो उनके शृगार का आलम्बन था—

> मन मोहन सों नेहु करि तू घनस्याम निहारि।
> कुज बिहारी सों बिहरि गिरधारी उर धारि॥
> तजि तीरथ ही राधिका तन द्यु ति कर अनुरागा।
> जेहिं ब्रज केलि निकुंज मग पग पग होत प्रयाग॥

इस प्रकार रीतिकवि की भक्ति उसकी शृ गारी वृत्ति से कुछ-बहुत भिन्न या अलग न थी, वह उनकी मूल वृत्ति शृ गारिकता के ही अनुकूल थी। एक ओर भक्ति-परक रचनाओ द्वारा वे पूज्य एव परम सम्माननीय भक्ति की परम्परा का वहन करते हुए लोक का आदर प्राप्त करते थे दूसरी ओर उनका रुचि-परिवर्तन भी हो जाता था। भक्ति की मन्दाकिनी में नहाकर ये अपनी वासनापरक भावो की पकिलता इस प्रकार की उक्तियो द्वारा थोडा-बहुत धो डालते थे—

> होत रहै मन यों मतिराम कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै।
> ह्वै बन माल गरैं रहियै अरु ह्वै मुरली अधरा रसु पीजै॥ (मतिराम)

विलासिता मे डूबा हुआ व्यक्तित्व लेकर युग मे प्रचण्ड रूप से बहने वाली भक्ति की हवाओ का निषेध ये न कर सकते थे। इसी रूप मे भक्ति इनके काव्यो मे अवतरित हुई है।

भाषा और रचना-शैली

भाषा का स्वरूप—रीतिकाल के काव्य की प्रधान भाषा व्रज भाषा थी। अवधी का प्रयोग सूफी काव्यो मे हो रहा था, सतो की सधुक्कडी भाषा भी व्रजभाषा

हो चली थी। रीतिकाव्य मे जिस ब्रजभाषा का एकच्छत्र साम्राज्य हो चला था उसका स्वरूप क्या था यही मूल द्रष्टव्य है। रीतिकाल मे व्यवहृत ब्रजभाषा मे ब्रज प्रदेश की बोली का ठेठ रूप नही मिलता। उसमे अनेक भाषाओ और बोलियो का सम्मिश्रण है जैसे अवधी, बुदेली, प्राकृत, अपभ्रंश, सस्कृत, फारसी, अरबी, खडी बोली, पूर्वी बोली आदि। इस तथ्य को कुछ उदाहरणो द्वारा भली भाँति हृदयगम किया जा सकता है—

संस्कृत शब्द्— हिन्दी का रीतिशास्त्र और रीतिकाव्य दोनो सस्कृत काव्यशास्त्र और काव्य से प्रभावित रहे है साथ ही हिन्दी अथवा हिन्दी बोलियो का शब्दभंडार मूलतः संस्कृत शब्दो से ही व्युत्पन्न है तथा ब्रजभाषा के अनेक उत्कृष्ट कवि सस्कृत भाषा के ज्ञाता थे अतएव उनके काव्यो मे सस्कृत शब्दावली निःसकोच रूप मे व्यवहृत हुई है उदाहरण के लिए देखिये—कज्जल, अद्वैतता, द्वैज-सुधा-दीधित, सचिक्कन, सुगध, निदाघ, जालरध्र, श्रम स्वेद कन कलित, पावस प्रथम पयोद, कायव्यूह ऐसे प्रयोग बिहारी मे, कंत, सीमंत, अभिनव, परिकर, कदर्प, अनत, अनलज्वाल, ज्वलित-ज्वाल ऐसे शब्द मतिराम मे, चामीकर, ऊर्ध, शब्ररारि तथा सरीसृप, आसीविष ऐसे क्लिष्ट शब्द देव मे, अलर्वीतिनि, आसमुद्र, कुचद्वय, क्षिप्र, क्षामोदरी, दोषाकर, परिधान, वक्रतुड, विघ्नखड, वेत्ता, व्रीडित, सुकृत ऐसे शब्द भिखारीदास मे मिलते है। अन्यान्य कवियो की भी यही स्थिति है, केशव की कविता विशेष रूप से सस्कृत बहुला है। कितने सस्कृत शब्द ब्रजभाषा के अनुरूप ढाल लिये गये है।

प्राकृत अपभ्रंश शब्द्—बिज्जु, मेह, दिच्छ, खग्ग, चक्क, गुज्जर, जूह, नाह, दिग्ध, रुट्ठि ऐसे शब्द ब्रज के अग हो गए है। ब्रजभाषा स्वयं शौरसेनी अप-भ्रंश से विकसित हुई है।

फारसी-अरबी शब्द्—रीतिकालीन काव्य से पहले की भाषा कविताओ मे भी फारसी अरबी के शब्दो का प्रयोग मिलता है। रीतिकाल मे एक तो फारसी राजभाषा थी, दूसरे रीतिकवि राजकवि थे फलस्वरूप ये लोग फारसी अरबी के विद्वानो और शायरो की भाषा और शायरी के निकट सम्पर्क मे आए। शाह की रुचि का भी इन भाषा-कवियो को ध्यान रखना पडता था, तीसरे ये कवि प्रदर्शन या भाषा-चमत्कार या बहुभाषा ज्ञान द्वारा अपनी धाक भी जमाने के अभिलाषी थे। परम्परागत काव्य मे भी ये अरबी-फारसी का व्यवहार देख चुके थे अतएव इन विदेशी शब्दो के ग्रहण मे इन्होने किसी कट्टरता या संकीर्ण मनोवृत्ति का परिचय नही दिया। मुगल शासन और वातावरण का प्रभाव भी इस काल के कवियो की भाषा पर थोडा-बहुत पडा है परन्तु रीतिकवि ने अपनी भाषा को फारसी से बोझिल नही किया है —उमरदराज, बख्त, बलंद, कुबत, चश्मा, जोर, बेकाम, नेजा, शिकार, कबूल, निसान, हद, हमाम, गुलाम, गिरद, कसीस, कहरु, करामति, जरह, दस्ताने, तमक, जाहिर फबत, चिराग,

कसाला, कलाम ऐसे चलते और बोलचाल के शब्दो के साथ-साथ इजाफा, ताफता, रोहाल, सेल, रकम, छाहगीरु, सबी, महल मखमल, किर्च, कजाक, महूम, गलीम, मफजंग, गिलमे, गजक ऐसे साहित्यिक या अपेक्षाकृत कठिन शब्दो का प्रयोग बिहारी, देव, भिखारीदास, पद्माकर, भूषण, रसलीन, ग्वाल ऐसे अच्छे कवियो की रचनाओ में पाये जाते है। अपवाद स्वरूप कही-कही किन्ही-किन्ही कवियो की तो पदावली ही फारसी की हो गई है जैसे --

(क) मुसकाय के मोतन हेरि दियो तिरछो अँखियाँ चितवन के मरूरत।
होशम रफ्त न मुंद बदस्त शुदे दिल मस्त ज़िदीदने सूरत ।।
(ये पंक्तियाँ गंग की कही जाती है)

(ख) मी गुजरत ई दिलरावे दिलदार।
इक इक साअत हम यूँ साल हजार ।। (रहीम)

कही कही 'खुशबू' से 'खुसबोयन' ऐसे भद्दे प्रयोग भी मिलते है जिससे परिष्कृत रुचि को आघात पहुँचता है पर ऐसे दोष स्वदेशी काव्य परम्परा से अपरिचित साधारण कवियो मे ही देखे जाते हैं। उत्कृष्ट कवियो ने तो विदेशी शब्दावली का मिश्रण बडे कौशल से किया है।

बोलियों के शब्द—रीतिकाल की काव्यभाषा मे बुदेली, अवधी, पूर्वी तथा कभी-कभी राजस्थानी शब्द आ मिले है। केशव और विहारी मे बुदेली प्रभाव स्पष्ट है।

बुदेलखडी शब्द—देखबी, गीधे, बीधे, घेरु, धरबी, आनबी, मानबी, जानबी, पहिचानबी आदि।

अवधी या पूर्वी शब्द—दीन, कीन, लीन, बिहान, कवन आदि।

साहित्यिकता—इस प्रकार के नाना शब्दसमूहो के सम्मिश्रण से मधुर व्रजभाषा का ठेठ, शुद्ध या अमिश्रित रूप रीतिकाव्य मे देखने को नही मिलता; परिणामस्वरूप उसका वह माधुर्य जो सूर के काव्य मे बहुत-कुछ अब भी सुरक्षित है रीतिकाव्य की भाषा में दुर्लभ है। मथुरा, आगरा आदि के समीपवर्ती प्रदेश की लोक-भाषा की सहज मिठास रीतिकाव्य की भाषा मे नही। उसके स्थान पर उसमें उक्त प्रकार का सम्मिश्रण तथा अलंकरण (शाब्दी, आर्थी आदि) तथा शब्द-शक्तियों के प्रयोग द्वारा उत्पन्न वैदग्ध्य दूसरे शब्दो मे साहित्यिकता पैदा की गई है और इस प्रकार से उसमे लोच, मार्दव, नाद-सौन्दर्य आदि के विधान द्वारा रुचिरता, रोचकता और सरसता लाई गई है। इस काल के सभी कवि ब्रज प्रदेश के नही थे। अधिकाश उस प्रदेश से बाहर के है इसीलिए उनकी भाषा मे ब्रज का नैसर्गिक माधुर्य न होकर उसके उस साहित्यिक स्वरूप का सौष्ठव देखने को मिलता है जो बिना 'ब्रजवास' किये सिद्ध कवियो की वचनावली का अनुसरण करके भी सिद्ध किया जा सकता है।

आप्त कवियो की वाणी से जबाँदानी आ सकती है यह बात भिखारी दास बता गए है :—

सूर, केशव, मंडन, बिहारी, कालिदास, ब्रह्म,
चितामणि, मतिराम, भूषन सु जानिए।
लीलाधर, सेनापति, निपट, नेवाज, निधि,
नीलकंठ, मिश्र सुखदेव, देव मानिए॥
आलम, रहीम, रसखान, सुन्दरादिक,
अनेकन सुमति भए कहाँ लौं बखानिए।
ब्रजभाषा हेत ब्रजवास ही न अनुमानौ,
ऐसे ऐसे कविन की बानी हू सों जानिए॥

मिश्रित भाषा का आदर्श—इस प्रकार पहली बात जो रीतिकाव्य की ब्रजभाषा मे लक्ष्य करने की है वह यह कि रीति कवि को मिश्रित भाषा की बात सिद्धान्ततः स्वीकार है। वैसे भाषासम्बन्धी सिद्धान्त या विचार दास के अतिरिक्त किसी अन्य रीतिकवि ने व्यक्त नही किये है। उनके भाषा-प्रयोग से ही उक्त कथन समर्थित होता है। दास ने भाषा-प्रयोग या भाषा-स्वरूपसम्बन्धी अपना अभिमत लगभग १०० वर्षों की काव्य-परम्परा के निरीक्षण के अनन्तर व्यक्त किया है :—

भाषा ब्रजभाषा रुचिर, कहैं सुमति सब कोई।
मिलै सस्कृत पारस्यो, पै अति प्रकट जु होइ॥
ब्रज मागधा मिलै अमर, नाग यवन भाखानि।
सहज पारसी हू मिलै, षट विधि कहत बखानि॥

ब्रज भाषा मे संस्कृत, फारसी, मागधी (पूर्वी भाषा अवधी), नाग (अपभ्रंश) यवन (खडी बोली) का मिश्रण उन्हे दिखाई पड़ा। यह सम्मिश्रण पूर्ववर्ती एव समकालीन ब्रजभाषा काव्य मे उपलब्ध था इसीलिए उन्होने उदारतापूर्वक भाषा सम्मिश्रण के सिद्धान्त को स्वीकार किया। तुलसी और गंग ऐसे सुकवि सरदारो में भी विविध प्रकार की भाषाओं का सम्मिश्रण देख उनके मन मे मिली-जुली भाषा की बात और भी जम गई थी। वैसे भाषा-प्रयोग के सबन्ध मे सम्मिश्रण का सिद्धान्त सर्वत्र व्यवहृत होता है उससे भाषा सशक्त और व्यापक बनती है। जो भी भाषा समर्थ और समृद्ध होती है वह अन्यान्य प्रदेशो के शब्द आत्मसात करती जाती है। हिन्दी साहित्य के मध्य-काल मे यही हाल ब्रज भाषा का था। राजस्थान, बुन्देलखंड, अवध और जिधर-जिधर इसे काव्य भाषा के रूप में स्वीकार किया गया उधर-उधर के शब्द इसके भण्डार में आ गए। ब्रज भाषा के विकास और प्रसार का कारण जहाँ उसका नैसर्गिक माधुर्य और वक्तव्य कृष्णप्रेम में देखा जा सकता है वही उसका एक और भी कारण है। ब्रज भारतवर्ष के उस मध्य देश या हृदयदेश की भाषा रही है जहाँ परम्परागत

रूप से ही समर्थ भाषाएँ ज्ञान-विज्ञान के प्रसार मे आगे रही है । वैदिक सस्कृत, संस्कृत, पालि, और शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रश का समृद्ध वाड्मय भारत की सारी संस्कृति को अपने विशाल वाड्मय मे समेटे हुए है । इसी मध्यदेश को शौरसेनी प्राकृत से विकसित होने के कारण संस्कृतादि पूर्ववर्तिनी भाषाओं की भाँति ब्रजभाषा की व्यापकता दूर-दूर तक हुई ।[1] भक्तिकाल मे यही ब्रज भाषा बंगाल, महाराष्ट्र, गुज-रात, और पजाब तक पहुँची थी । उधर अन्वेषको ने अनुमान किया है कि विक्रमी १४ वी शताब्दी मे भी ब्रजभाषा मे साहित्य अवश्य प्रणीत हुआ था, भले ही प्रभूत प्रामाणिक सामग्री आज इस सबन्ध मे हमे उपलब्ध न हो। इस प्रकार रीतिकाव्य की भाषा पर्याप्त पुरानी तथा सूर और तुलसी ऐसे कवि-पुंगवो की परम्परा की उत्तरा-धिकारिणी ऐसी मधुर और कामलकात ब्रजभाषा रही है जो अपने समय में दूर-दूर तक व्याप्त तो हुई ही किन्तु जिसकी महिमा शताब्दियो पूर्व राजशेखर ऐसे काव्य मीमासक स्वीकार कर चुके थे ।[2]

भाषा संबन्धी अव्यवस्था—रीति काव्य की भाषा-विवेचना करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डा० रसाल ने अपने-अपने इतिहासो मे भाषा की गड-बड़ी उसके स्वरूप की अव्यवस्था आदि की विगर्हणा की है । यह गडबड़ी कई प्रकार की रही है उदाहरण के लिए उसका अनियत्रित होना, च्युतसंस्कृत-दोष-युक्त होना,

---

1. मध्यकाल मे ब्रजभाषा का इतना परिविस्तार एव सास्कृतिक–साहित्यिक प्रभुत्व क्यो संभव हुआ इसका कारण खोजते हुए ब्रज भाषा की तीन सहायक शक्तियों का उल्लेख किया गया है—१. कृष्ण भक्ति, २. राजागण, ३. संगीत । कृष्ण भक्ति के साथ एक ओर वह बगाल के कृष्णदास, श्यामदास आदि 'ब्रजबुली' के कवियों की मैथिली मिश्रित भाषा को ब्रज के सस्कार प्रदान कर सकी दूसरी ओर गुजरात के केशवदास तथा भालया जैसे कवियो की सभवतः १५ वी, १६ वी शताब्दी से ही अपने प्रयोग की ओर प्रेरित करने मे समर्थ हुई । दक्षिण भी ब्रजभाषा के प्रभाव से अछूता नही रहा यद्यपि बगाल और गुजरात की तरह कदाचित् ब्रजमिश्रित किसी विशिष्ट भाषा रूप का विकास वहाँ नही हुआ । कृष्ण काव्य पदबद्ध शैली मे रचा गया और पद रागबद्ध किये गये अतएव सगीत भी ब्रजभाषा को प्रचारित करने मे सहायक हुआ । जहाँ तक रीति काव्य का संबन्ध है उसके ब्रजभाषा मे विनिर्मित होने का कारण मेरे विचार से परम्परा मे अधिक निहित है । कृष्णभक्ति और राजाश्रय उसके पोषक माने जा सकते है । सगीत से रीतिकाव्य, वैष्णव काव्य की तरह कभी संबद्ध नहीं रहा । डा० जगदीश गुप्त : रीतिकाव्य सग्रह (सन् १६६१) पृ० १२२

2. मथुरा के आस-पास की भाषा का नैसर्गिक माधुर्य 'काव्य मीमासाकार' राजशेख को भी मान्य था— मधुर मधुरावासि भणितिः ।

सदोष वाक्य-रचना, शब्द-रूपो की अस्थिरता, शब्द-विकृति, या उनकी तोड-मरोड, कवि की इच्छानुसार ब्रज और अवधी का सम्मिश्रण अन्यान्य बोलियो के शब्दो का ग्रहण ही नही उनके कारक चिन्हो और क्रिया रूपो का भी यथेच्छ व्यवहार इन कवियों ने किया। इसका कारण यही है कि यद्यपि शताधिक वर्षो से ब्रज भाषा व्यवहृत होती रही फिर भी किसी ने उसे व्याकरणबद्ध नही किया और न ही उसके सस्कार-परिष्कार द्वारा शब्द-रूपो मे स्थिरता लाने की चेष्टा की। काव्यरीति का तो विवेचन खूब हुआ परन्तु काव्य-भाषा का नही। भाषा मे सफाई, क्रिया-कारकादिकों की एक-रूपता, वाक्य-रचना मे सुव्यवस्था, शब्द-रूपो की स्थिरता की ओर किसी का ध्यान न गया। भिखारी दास ने भाषा-स्वरूप की कुछ चर्चा अवश्य की किन्तु वे भी भाषा-मीमासा की सूक्ष्मताओ से विरत रहे। फलस्वरूप भाषासबन्धी गडबडी बनी रही। समूचे रीतिकाल मे भाषा की सफाई और उसके स्वरूप की स्थिरता आदि की दृष्टि से बिहारी, घनानन्द ऐसे कुछ कवि ही मिलेगे। आचार्य शुक्ल और डा० रसाल ने कहा है कि इस प्रकार की अव्यवस्था इस काल मे आकर दूर न की जा सकी यह बडे खेद की बात है। इसीलिए ब्रज भाषा विदेशी काव्य-पाठको के लिए दुर्बोध रहेगी ही, स्वदेशी इतर भाषाभाषियो के लिए भी दुर्गम ही रहेगी। साहित्यिक भाषा के लिए जो स्थिरता आवश्यक है वह रीतिकालीन ब्रज भाषा मे न आ सकी—उसमे अपेक्षित सस्कार, व्यवस्था , नियम-नियंत्रण, स्थिरता, सर्वमान्य व्यापकता, व्याकरणबद्ध निश्चितता या एकरूपकता न लाई जा सकी। कवियो ने प्राप्त स्वतन्त्रता से काम लिया। वे काव्य-रचना करते हुए भाषा को अलकृत तो कर ही रहे थे किन्तु उसके स्वरूप को सुनिश्चित, परिनिष्ठित और व्याकरणानुमोदित रूप नही दे रहे थे। बिहारी जैसे एकाध लोग अपने ढंग से भाषा के स्वरूप का विधान करने मे लगे किन्तु अपनी उस निजी व्यवस्था को विश्लेषित करने वाला व्याकरण वे प्रस्तुत न कर सके। इसी कारण उनकी शैली का अनुकरण तो हुआ किन्तु भाषागत स्वरूप का परिपालन नही मिलता। ब्रज भाषा का व्याकरण लिखने की ओर तो कोई आचार्य प्रवृत्त ही नही हुआ। फलतः नये शब्द स्वतन्त्रतापूर्वक गढे गए, तोड-मरोड भी लोगो ने निर्विघ्न रूप से किया तथा वाक्य-विन्यास की व्यवस्थादि पर किसी ने ध्यान न दिया। अन्यान्य भाषाओं या बोलियों के शब्दो का मिश्रण भी अनियत्रित ढंग से हो चला। भाषा की इस गड़बडी या अव्यवस्था की ओर बडे-बडे सावधान कवियो का भी ध्यान न गया, यह बडी ही शोचनीय बात हुई। समसामयिक वातावरण, कवियो की अभिरुचि एवं उनकी परिस्थितियाँ इन बातो के लिए उत्तरदायिनी है। फारसी आदि के प्रभाव-स्वरूप भी भाषा मे प्रयोग के प्रति एक प्रकार की स्वेच्छारिता देखने मे आई। भाषा स्वरूप की स्थिरता न होने से इतर बोलियो के शब्द तो शब्द कारक-चिह्न और क्रिया-रूप भी धड़ल्ले से व्यवहृत होने लगे। ऐसे मनमाने प्रयोग किन्ही सिद्धातो पर आधारित

रहे हों सो बात भी नही। जैसा कि शुक्ल जी ने बताया है छंद की आवश्यकता के अनुसार 'करना' या देना क्रिया के कितने ही भूतकालिक रूप प्रचलित हुए—कियो, कीनो, करयो, करियो, कीन, किय आदि या दीन्हा, दीन्ह्यो, दीन, दियो आदि अनेक रूप चले। भाषा के सम्बन्ध मे ऐसी अव्यवस्था बड़ी ही लज्जास्पद बात रही। हिन्दी से अपरचित व्यक्ति के लिए शब्द-रूपो की इतनी विविधता कितनी कठिनाई उत्पन्न कर सकती है यह सहज ही अनुमानित किया जा सकता है। भाषा की यह अनिश्चित और दुर्बोधस्वरूप भाषा-विज्ञान के उन विद्यार्थियो के लिए बडी कठिनाई उपस्थित करता है जो विकास का अध्यन करना चाहते है। किसी भाषा मे अन्यान्य भाषाओ का सम्मिश्रण का भी एक सिद्धात होता है, अपनी मूल भाषा का स्वरूप अव्याहित रहे। परमाण, स्थान या अवसर का भी ध्यान रखना पडता है। इन सब बातो या सिद्धातो की ओर रीति कवियो का ध्यान न था। सौन्दर्य के लिए वे कुछ भी कर डालते थे। ऐसी बात साधारण कवियो मे विशेष रूप से देखी जाती है। वैसे अव्यवस्था रही सभी कवियो मे, शब्दो की तोड-मरोड तथा व्याकरणिक अनियत्रिण के परिणामस्वरूप भाषा का जो हाल हुआ उसे दिखलाने के लिए यहाँ कुछ उदाहरण अनुपयुक्त न होगे। भूषण शब्दो की तोड मरोड मे आगे थे। उन्होने सुठार (सुष्ठु), औदिलु (आदिल शाह) तनाय (तनाव), बिधनोल (बिदनूर), नैरनि (नगरो म), ऐसे प्रयोग किये। देव कवि भी शब्दो के रूप बिगाडने मे पीछे न रहे तथा कन्द (कदुक), ईच्छी (इच्छा), अनिरव्या (अभिलाषिणी), विधोत (विदित), ददरा (द्वन्द्व), पुमनेन्दु (पूर्णेन्दु), व्योह (व्यामोह), लपना (जल्पना), पडल (पाडुर), हेमन्त (हैउत) ऐसे प्रयोग कर डाले हैं।

बडे-बडे कवियो मे इस प्रकार की उच्छृंखलता देखकर ग्लानि होती है। माना कि तुक, छन्द या अनुप्रास के आग्रह से शब्दो के रूप कभी कभी बदलने पडते हैं किन्तु उन्हे ऐसा बदल या बिगाड़ देना कि वे आसानी से पहचाने ही न जा सके या समझे जा सके कवि के लिए श्रेयस्कर नही हो सकता। भाषा को निर्द्वन्द्व भाव से इन कवियो ने इच्छानुसार विकृत किया।

कारक-प्रयोग—ब्रजभाषा मे एक-एक कारक के अनेक विकल्प रखे गए हैं। विभक्ति का लोप भी बहुत बार देखा जाता है। कर्ता कारक की विभक्ति ने का प्रयोग ब्रज भाषा मे साधारणतया मिलता ही नही।

(क) जोर करि जैहै अब अपर नरेस पर
लरिहैं लराई ताकं सुभट समाज पै। (भूषण)

यहाँ करण की जगह अधिकरण कारक का प्रयोग हुआ है।

(ख) चूनो होइ न चतुर तिय, क्यों पट पोछ्यौ जाइ। (बिहारी)
यहाँ 'पट पोछ्यौ' में करण विभक्ति का लोप है।

क्रियाओं के रूप—जैसा पहले बता आए हैं एक ही क्रिया के विविध रूप

प्रयोग मे लाए जाने लगे जैसे देना क्रिया के सामान्य भूतकाल दीन्हा, दीन्ह्यो, दीन, दियो, आदि कितने ही रूप चले। जाना, होना के भूत कालिक रूप गयो और हुयो तो चले ही, गो और भो भी प्रयोग मे लाए गए। कभी-कभी दुहरी विभक्तियाँ लगाकर कवियो ने क्रिया पद को बिगाड दिया है जैसे भविष्यत् काल सूचक प्रयोग 'बितैहौगी'। यहाँ 'हौ' के रहते हुए 'गी' अनावश्यक है। ब्रज मे कीजिए दीजिए ऐसे प्रयोग विध है। इनके लिए कीजै दीजै ऐसे प्रयोग अनेक बार 'इयत' प्रत्यय लगाकर क्रियाये प्रयुक्त की गई है। जैसे दीजियत कीजियत, आइयतु, भागियतु आदि ।

वाक्य-विन्यास—पद्य मे गद्य जैसा वाक्य विन्यास नही हो सकता फिर भी वाक्य-व्यवस्था निर्दोष रहे इस ओर कवि का सतत् ध्यान रहना चाहिए अन्यथा दूरान्वय, न्यून पदत्व, अधिक पदत्व, अनावश्यक आवृत्ति आदि के दोष काव्य की पक्तियो मे आ जाया करते है जैसे—

(क) आज कछू औरै भए, छए नए ठिक ठैन।
चित के हित के चुगल ए नित के होहिं न नैन। (दूरान्वय दोष)

(ख) कातिक की बिमल पून्यौ राति की जुन्हाई जोति।
जगमग होति रूप ओप उपजति है। (अधिक पदत्व)

(ग) बहबह्यो गध बहँबह्यो है सुगंध
(अनावश्यक पृष्टपेषरण)

लिङ्ग-दोष—हिन्दी मे एक ही शब्द देश के विभिन्न भागो में विभिन्न लिङ्गो में प्रयुक्त होता है। ब्रज भाषा मे रीति कवियो ने कभी-कभी एक ही शब्द को स्त्रीलिङ्ग और पुलिग दोनो मे प्रयुक्त किया है जैसे बिहारी ने 'वायु' शब्द और देव ने 'लंक' शब्द को। इस प्रकार के दोषो से रीतिकाल की ब्रजभाषा मुक्त न हो सकी, भाषा का साफ, शुद्ध और परिनिष्ठित रूप रसखान, पद्माकर और बिहारी ऐसे कुछ ही कवियो मे देखा जा सका।

भाषा की सजावट—रीति काव्य की ब्रजभाषा मिश्ररग-दोष, अव्यवस्था एवं व्याकरण-दोषो तथा शब्द-प्रयोगो की स्वेच्छारिता आदि दोगे के होते हुए भी काव्य के लिये पर्याप्त उपादेय, रुचिर और रुचिकर बनी रही। उपर्युक्तदोषो के बावजूद रीतिकालीन भाषा का अपना सौन्दर्य एव आकर्षरग है, उसकी अपनी एक सजावट है, कोमलता और लावण्य है, पद-विन्यास की थिरकन है, नाद का सौन्दर्य है जिसके कारण वह मनोरम और रमणीय है। उसका यह गुण एक बडी सीमा तक उसके दोषों का परिहार कर देता है। रीतिकवियों ने अपने ढग से काव्य-भाषा ब्रज का पूरा सजाव श्रृगार किया जिससे उसमे मार्दव, लोच, माधुर्य, अलकृति आदि गुण आ गए। पदावली के सौन्दर्य पर सभी कवियों की दृष्टि निबद्ध रही। यमक, अनुप्रास

आदि की ओर कवियो का विशेष ध्यान रहा । उन्होने बडे अभिनिवेश के साथ शब्द-साधना की । शब्द-चयन, शब्द-शोधन, शब्द-परिमार्जन, अनुरजनात्मक सौन्दर्य, शब्द-मैत्री, वर्ण-मैत्री, शब्दगत अलंकरण, लाक्षणिक एव व्यंग्यात्मक सौन्दर्य, अर्थ-चमत्कार, वृत्ति, गुण आदि पर इन कवियो ने इतना अधिक ध्यान दिया कि अलंकरण और कलात्मकता उनके काव्य की एक प्रधान प्रवृत्ति ठहराई गई । सौन्दर्य अथवा कला-विधान की दृष्टि से उनकी यह जागरूकता विशेष सराहनीय है । इन्ही कारणो से इस युग का काव्य इतना समाकर्षक रहा कि ब्रज की तुलना में दूसरी भाषाएँ खडी न हो सकी । ब्रज भाषा को संस्कृत और फारसी ऐसी समृद्ध भाषाओ की प्रतिद्वंद्विता में खड़ा होना पडा इसलिए भी इस युग के कवियों ने उसका विशेष सजाव-शृंगार किया । ऐसा न करने से उनकी हेठी होती थी । इन कवियों ने ब्रज भाषा को ललित और मधुर बनाने के लिए ढूँढ-ढूँढ कर कठोर वर्णों को अपने काव्य से बहिष्कृत किया और खोज-खोज कर ललित और कोमल वर्ण ले आए । ब्रज की पदावली मधुर और कोमलकान्त तो यो ही हुआ करती थी, ये कवि उसमे अतिरिक्त कोमलता और माधुर्य ले आए । इसके लिए वे विशेष रूप से आयासशील हुए । 'श' और 'ण' के स्थान पर 'स' और 'न' का स्वर सकोच द्वारा प्रविष्ट और दृष्टि के स्थान पर पैठि और दीठि श्रावण, भाद्र, चंद्र, शृगार, कृष्ण ऐसे संयुक्त वर्णवाले शब्दो की जगह सावन, भादौ, चद, सिंगार, कान्ह ऐसे शब्दो का प्रयोग किया गया । एक शब्द के लिए उसके अनेक रूप व्यवहृत हुए जैसे आँखो के लिए आँखिन, अँखियान, अँखियन आदि फलतः छद और तुक की कठिन समस्या सरल हो गई । वैकल्पिक विभक्तियो और निर्विभक्तिक प्रयोगो से भाषा मे व्याकरण की बलि चढाकर भी ये कवि सौष्ठव, लोच, व्यजकता और माधुर्य ले आए । एक ही विभक्ति 'हि' कितनी विभक्तियों का काम देने लगी । कवियो ने व्याकरण से बडी छूट ली परन्तु उसका उद्देश्य भाषा को सजाना और सँवारना ही रहा । भाषा को सक्षम, विकासशील तथा व्यापक बनाने के लिए ही इन कवियो ने राजस्थानी, बुन्देली, अवधी, अरबी, फारसी आदि शब्दो को ग्रहण किया । इससे भाषा की अभिव्यजन-शक्ति मे वृद्धि हुई फिर ये कवि सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश ऐसी समृद्ध काव्य भाषाओ की पम्परा के वाहक थे । ब्रजभाषा मे आरभ से ही आभिजात्य सस्कार अधिक मिलते है वह लोकमुखी न होकर नागर-मुखी विशेष रूप से हुई । लोक-भाषा की मिठास के बजाय साहित्यिक भाषा का सौन्दर्य उसमे विशेष रूप से लाया गया । भक्तिकाल की ब्रजभाषा की अपेक्षा रीतिकाल की ब्रजभाषा मे सजा-वट और लालित्य अधिक है यही कारण है कि यह भाषा कई सौ वर्षों तक साहित्य के क्षेत्र में अपना प्रभुत्व कायम रख सकी । अपने समय मे यह भाषा इतनी लोकप्रिय हुई कि अनेक सहृदय मुसलमानो ने इस भाषा मे काव्य-रचना की । बंगाल के कतिपय कृष्ण-भक्तो और गुजरात के कवियो तक ने इसके प्रभाव मे आकर काव्य-सर्जना की,

यह हम पहले ही बता आए है। ब्रजभाषा के निरन्तर सजाव और परिमार्जन होते रहने के कारण उसमे जो वैदग्धता और प्रौढता आई उसी का परिणाम था कि आधुनिक युग मे गद्य की भाषा खडी बोली स्वीकृत हो जाने पर भी बहुत से श्रेष्ठ कवि बहुत काल तक ब्रज भाषा मे ही काव्य-रचना करते रहे। यहाँ तक कि आज भी ब्रज भाषा मे काव्य-रचना करने वाले अनेकानेक काव्यप्रेमी उस परपरा को चलाते चल रहे है। जहाँ भाषा के बाह्य रूप को सुसज्जित और अलकृत किया गया वही उसकी भगिमा और व्यजकता को बढाने का भी उद्योग बराबर होता रहा। मतिराम, घनानद देव, बिहारी जैसे प्रतिभाशाली कवियो ने भाषा की सूक्ष्म व्यजना-शक्ति को खूब बढाया। उक्ति का वैचित्र्य, कथन पद्धति मे वैदग्ध्य ये कवि खूब ले आए। भावव्यजना की नई-नई शैलियाँ आविष्कृत हुई जिससे भाषा सम्पन्न और समर्थ हुई।

रचना-शैली और छन्द—रीति काव्य प्रधानतः मुक्तक शैली मे प्रणीत हुआ है। मुक्तक रचना बँध या कथा निरपेक्ष होती है। वह स्वतन्त्र तथा अपने आप मे पूर्ण रसोद्रेक मे सक्षम अथवा चमत्कृत होने वाली रचना हुआ करती है। पूर्वापर निरपेक्षता, आत्मपरिपूर्णता, रससञ्चार-समर्थता या चमत्कृतकारिणी क्षमता और कथाबन्ध से मुक्ति मुक्तक रचना के प्रधान लक्षण है। रीति काव्य का अधिकाश ऐसा ही है इसीलिए रीति काव्य की प्रधान शैली मुक्तक रचना की ही है। मुक्तक स्वतः पर्यवसित रचना होती है जब कि प्रबन्ध मे अर्थ का पर्यवसान कथाक्रम पर निर्भर करता है। प्रबन्ध मे रसास्वाद किसी एक ही छन्द से पूर्ण नही हो पाता। उसके लिए प्रबन्ध के अन्य काव्याशो पर भी दृष्टि रखनी होती है किन्तु मुक्तक रचना के एक ही छन्द मे रसचर्वणा या चमत्कृति के समस्त उपादान सँजोए गए होते है। मुक्तक रचना का समूचा सम्वेद्य, उसकी पूरी रस व्यञ्जना, उसका पूरा सौन्दर्य उसी मे पूर्णतः व्यक्त हुआ करता है।[1] सस्कृत मे मुक्तक रचना को प्रबन्ध रचना या महा-

---

१. मुक्तक मे प्रबन्ध के समान रस की धारा नही रहती जिसमे कथा-प्रसङ्ग मे अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है। इसमे तो रस के जैसे छीटे पडते है जिनसे हृदय की कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्ध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक काव्य एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसीलिए सभा-समाजो के लिए अधिक उपयुक्त होता है। उसमे उत्तरोत्तर अनेक दृश्यो द्वारा सङ्घटित जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नही होता बल्कि एक रमणीय खण्ड दृश्य इसी प्रकार सहसा सामने ला दिया जाता है। इसके लिए कवि को मनोरम वस्तुओ और व्यापारों का एक छोटा-सा स्तवक कल्पित कर के उन्हे अत्यन्त सक्षिप्त और सशक्त भाषा मे चित्रित करना पडता है। अतः जिस कवि मे कल्पना की समाहार-शक्ति जितनी अधिक होगी, उतना ही वह मुक्तक की रचना मे अधिक सफल होगा—

रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास

काव्य के समान महत्व नही दिया गया। कवि को यदि नैपुण्य लाभ करना है और प्रतिष्ठित होना है तो उसे प्रबन्ध-रचना मे प्रवृत होना चाहिए। मुक्तक रचना तो विकास का सोपान मात्र है। कालातर मे इस दृष्टिकोण में परिवर्तन आया।[1] प्रसिद्ध मुक्तककार अमरुक के एक-एक श्लोक पर सौ-सौ प्रबन्ध निछावर होने लगे—'अमरुक कवेरेक: श्लोक: प्रबन्ध शतायते' भले ही इस कथन मे अति हो किन्तु मुक्तक की महिमा प्रतिष्ठित हुई। एक तो पूर्ववर्ती प्राकृत सस्कृत और अपभ्रश भाषाओ मे शृगारी मुक्तको की परम्परा पहले से चल ही रही थी दूसरे रीति ग्रन्थ लिखने के लिए मुक्तको की ही अपेक्षा थी, प्रबन्धो की नही। और तीसरे राज्याश्रय जहाँ शेरो और श्लोको की जोड़-तोड में स्वतन्त्र छन्दो की आवश्यकता थी। चौथे समसामयिक राजसिक वातावरण मे प्रबन्ध सुनने-सुनाने की फुरसत और धीरज किसी को कहाँ थी। वहाँ तो एक भाव, कल्पना या बंधान बाँधा और चट से सभा के बीच सुनाया। प्रतिष्ठा, प्रशसा-पुरस्कार आदि तुरत मिल जाया करते थे। इन्ही कारणो से रीति काल मे मुक्तक रचना-शैली का विशेष विकास हुआ। कवियो ने प्रणय की कविता लिखते हुए शृगार-काव्य के मेरु-दण्ड राधाकृष्ण या गोपी-कृष्ण से सम्बन्धित असंख्य बधान बाँधे, कितनी ही रमणीय उद्भावनाएँ की। उनके मधुर अनुरागपूर्ण जीवन के कितने ही खण्ड-चित्र कल्पित और प्रस्तुत किये जिनमे जीवन की जीवंतता और मर्मस्पर्शिता है। पाठक सहज ही रस ग्रहण करने लगता है फिर रीतिकाव्य का तो वर्ण्य ही प्रधानत: राधाकृष्णाश्रित शृगार था, उसके भटकने का कही कोई सवाल न था।

रीतिकाल मे मुक्तक रचनाओ की प्रधानता का एक बडा कारण कृष्ण-चरित्र या कृष्ण की लीलाओं का वर्णन करना भी रहा है। कृष्ण-काव्य के रचयिताओ ने कृष्ण के जीवन के उसी भाग का मुख्यत: वर्णन किया है जिसका सम्बन्ध उनके गोकुल, वृन्दावन और मथुरा के जीवन से सम्बद्ध रहा है फलत: कृष्ण की मोहक

---

[1]. संस्कृत मे मुक्तक रचना का सूत्रपात तो वैदिक काल से ही मिलता है किन्तु मुक्तक काव्य मे रस की स्थिति नाट्य एव प्रबन्ध के बहुत पीछे स्वीकृत हुई। राजशेखर ने तो मुक्तक कवियो को महाकवियो मे स्थान ही नही दिया। आचार्य वामन ने भी यही माना है कि मुक्तक रचना तो कवि की प्रथम सीढी है, उसे निपुणता प्राप्त करने के लिए प्रबन्ध काव्य मे प्रवृत्त होना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि मुक्तक काव्य को प्रारम्भ मे उच्च स्थान प्राप्त नही हुआ किन्तु कालान्तर मे मुक्तक की श्रेष्ठता स्वीकृत हुई।

डा० विजयेन्द्र स्नातक - हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास, षष्ठ भाग (सं० २०१५) पृष्ठ ५०४।

क्रीडाओ एव लीलाओ का वर्णन प्रबन्ध रूप मे न किया जाकर स्फुट या मुक्तक रूप मे ही अधिक किया गया। मुक्तक रूप मे कृष्ण-लीला के वर्णन का मार्ग सूरदास तथा अन्य अष्टछाप के कवि, मीरा, रसखान, सेनापति आदि दिखा चुके थे। फलतः रीति के कवि प्रवन्ध-रचना की ओर गए ही नही केशव और ब्रजवासी दास आदि ने रामचन्द्रिका और ब्रजविलास की रचना का जो आदर्श रक्खा वह चल नही सका; क्योकि इस युग की रचनाओ को दरबार की माँग भी पूरी करनी थी। भक्त कवियों ने कृष्ण लीला के मोहक और रमणीय एव कोमल प्रसङ्गो को ही उठाया, रीति कवियो ने भी उसी से प्रेरणा प्राप्त की और कृष्ण के जीवन के मोहक एवं प्रेमोत्तेजक प्रसङ्गो को ही विशेष रूप से काव्यबद्ध किया। भक्तो ने गीतों या पदों का प्रयोग किया और रीति कवियों ने मुक्तक रचना के उपयुक्त कवित्त-सवैयो को उठाया। भगवान और भक्ति मे अशेष भाव से निमग्न रहने वाले भक्तो के लिए पद शैली बिलकुल ठीक थी। उस तमन्यता के अभाव मे रीति कवि पद या गीति-शैली स्वीकार न कर सके। उन्हे अपना कवित्व चमत्कार भी दिखलाना था। इसके लिए पदो की अपेक्षा कवित्त और सवैये ही अधिक अनुकूल प्रतीत हुए। फिर रीति कवियो को लक्षण ग्रन्थो की रचना करते हुए लक्षणो को घटित करने वाले उदाहरण भी प्रस्तुत करने थे। रस, अलङ्कार, नायिका आदि के उदाहरण भी मुक्तक रूप मे ही रखे जा सकते थे। मुसलमानी दरबारो के फारसी राजकवियो की प्रतिद्वन्द्विता मे ब्रजभाषा के कवियो को कविता के दङ्गल मे जो रचनाएँ प्रस्तुत करनी पडती थी उनका स्वरूप भी मुक्तक ही रखना पडता था। शेरों और गजलो की बराबरी पर कवित्त सवैये ही पढे जा सकते थे। आशुकवित्व का भी कवियो को जब तब राजसभा मे परिचय देना पडता था। यह परिचय भी मुक्तको द्वारा ही सभव था। दरबारी मुक्तको मे शृङ्गारपरक भावनाएँ नायिका-भेद के प्रकरण से ही ला-ला कर उपस्थित की गई। जो रचनाएँ दरबार की आवश्यकता की पूर्ति के लिए लिखी जाती थी उनका स्वरूप कथाबद्ध नही हो सकता था। अल्पकाल मे ही जिस रचना के माध्यम से प्रभाव जमाया जा सकता है वह रचना मुक्तक ही हो सकती है, प्रबन्ध नही। इन्ही कारणो से इस युग की कविता की प्रधान शैली मुक्तक ही रही जिनमे चमत्कृति, अलङ्करण और कला-कौशल का प्राधान्य रक्खा गया। सभा-समाजो में ऐसी ही रचनाओ की इज्जत होती है जिनमे चमत्कार का वैशिष्ट्य हुआ करता है। रीतिकाल मे कवित्त, सवैया तथा दोहा ऐसे मुक्तको के अतिशय प्रयोग का कारण आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी दरबारदारी ही ठहराया है—"रीविबद्ध रचना मुक्तक ही क्यों रही इसका भी कारण राजदरबार या राजसभा ही है। दरबार में जो रचनाएं सुनाई जाती है उनके लिए कथाबद्ध प्रबन्धो से काम नही चलता। थोडे समय के लिए जो रचना रस-मग्न करने वाली हो वही वहाँ काम की हो सकती है, उसका मुक्तक होना बहुत

आवश्यक होता है। आधुनिक युग मे भी सभा-सम्मेलनो मे प्रबन्ध काव्य नही पढे जाते, मुक्तक गीत, प्रगीत ही चलते हैं। दूसरी बात राजसभा की कविता के लिए यह अपेक्षित होती है कि उसमे कला-पक्ष प्रधान हो । जिस रचना मे चमत्कारातिशय न होगा वह सभासदो को अधिक रञ्जित नही कर सकती।............दरबारी कविता मे नाद का विधान कुछ अधिक अपेक्षित होता है। हिन्दी के पढत कविसम्मेलनो मे कवित्त-सवैयो को राग से पढने का तो विधान है ही, दो बार पढने का भी विधान है।............जिन हिन्दी कवियो को दो पक्तियो वाले छोटे आकार के 'शेर' की प्रतिद्वन्द्विता करनी होती थी वे 'दोहा' सामने लाते थे और अपनी पूरी कारीगरी दिखाया करते थे, किन्तु जो नाद सौन्दर्य द्वारा भी लोगों को अधिक प्रभावित करना चाहते थे वे 'सवैया' सामने करते थे। यह बताने की आवश्यकता नही कि 'सवैये' के नाद-माधुर्य के समक्ष 'शेर' ठहर नही सकते थे और सङ्गीत के बल पर हिन्दी के कवि मैदान मार लिया करते थे।"[1]

हिन्दी मे मुक्तक-रचना की व्यापक प्रवृत्ति का एक और भी कारण है और वह है सस्कृत की शृंगार-मुक्तक परम्परा जिससे हिन्दी का शृंगार काव्य पर्याप्त रूप से प्रभावित हुआ है। हिन्दी रीति ग्रन्थो मे काव्यशास्त्र के सूक्ष्म विवेचन के प्रति विरक्ति और शृंगारी रचना की प्रवृत्ति भी इसी तथ्य को प्रमाणित करती है। शृङ्गारी मुक्तक परम्परा का आरम्भ हालरचित प्राकृत की गाथा सप्तशती से माना गया है जिसका रचना-काल ईसा की दूसरी शताब्दी के आस-पास ठहरता है। इसके बाद प्रसिद्ध मुक्तककार अमरुककृत अमरुक शतक, गोवर्धन की आर्या सप्तशती आदि ग्रन्थो के माध्यम से मुक्तक शैली मे लिखित शृंगार की यह परम्परा चलती रही। सस्कृत प्राकृत अपभ्रंश आदि से होती हुई शृंगारी मुक्तको की यह परम्परा भाषा-काव्य में भी आई। गाथा सप्तशती, अमरूक शतक और आर्या सप्तशती आदि की शृंगार मुक्तक परम्परा ही हिन्दी की शृंगार-मुक्तक-परम्परा की पूर्वपीठिका के रूप मे समझी जानी चाहिए। संस्कृत मे शृंगारप्रधान मुक्तक रचनाओ के प्रसिद्ध संग्रह ग्रन्थ है शृंगार-तिलक, घटकर्परि, भर्तृहरिकृत शृंगार शतक, विल्हण कृत चौर पचाशिका आदि। हिन्दी के बिहारी आदि मुक्तककारो के प्रधान उपजीव्य उपर्युक्त ग्रथ ही हैं, जिनसे प्रेरणा लेकर हिन्दी के मुक्तककार शृंगारी छदो की रचना मे प्रवृत्त हुए। सस्कृत और प्राकृत भाषाओ के साहित्य मे प्राप्य यह मुक्तक परम्परा अपभ्रंश की रचनाओ मे भी खोजी जा सकती है। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण तथा द्वयाश्रय काव्य, सोमप्रभाचार्य के कुमार प्रतिपालबोध, राजशेखर सूरि के प्रबन्ध कोष, प्राकृत पैगलम और पुरातन प्रबन्ध संग्रह में से शृंगार, वीर तथा इतर रसो से सम्बन्धी मुक्तकों की एक अच्छी राशि

[1] —शृंगार काल : प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ३८१-८४

संग्रहीत की जा सकती है। हिन्दी मे मुक्तको की रचना इतने अधिक परिमाण मे हुई कि ब्रज भाषा काव्य का भडार भर गया। रीतिकाव्य के सभी नदीष्ण समीक्षको ने एक स्वर से स्वीकार किया है कि शृ गार के एक-एक अग को लेकर उत्तमोत्तम छदो का जितना विशाल संग्रह ब्रजभाषा मे है उतना सस्कृत साहित्य मे भी नही मिलता।

जहाँ तक प्रबन्ध-रचना की बात है ऐसा नही है कि लोग उधर प्रवृत्त ही नही हुए। जो रीति और दरबारदारी के झमेले मे नही पडे वे प्रबन्ध-रचना मे तत्पर हुए किन्तु कृष्ण के प्रारम्भिक जीवन-वृत्त को लेकर कोई महत्वपूर्ण प्रबन्ध ग्रथ नही लिखा जा सका। दान लीला, मान लीला, राम लीला आदि प्रसगो पर मुक्तको से बढ़े तो निबन्ध काव्य या पद्यात्मक निबन्ध तक पहुँचे। कृष्ण के जीवन के उत्तरार्द्ध से सम्बन्धित कुछ खण्डकाव्य अवश्य लिखे गए जैसे नरोत्तमदास का सुदामा चरित्र, आलम का सुदामा चरित और श्यामसनेही। माधवानल कामकदला की प्रसिद्ध प्रेम-कथा को लेकर आलम ने एक प्रबन्ध ग्रथ लिखा और बोधा ने 'विरहवारीश' नामक दूसरा। कृष्ण-चरित्र पर विस्तृत वर्णनात्मक शैली मे ब्रजवासीदास ने ब्रज-विलास और राम-चरित्र पर केशव ने रामचन्द्रिका लिखी। केशव की इस प्रबन्ध-शैली का अनुकरण न हो सका क्योकि वे सस्कृत के प्राचीन काव्यादर्शो को लेकर चले। हाँ, आश्रयदाताओ को लेकर अवश्य अनेक प्रबन्ध-काव्य लिखे गए जिसका विवरण वीर-काव्य और रासो-काव्यों की चर्चा करते हुए दिया गया है। इधर फ़ारसी और ब्रज की मुक्तक रचनाओ मे अभिनव आकर्षण पैदा किया जा रहा था। कवि लोग उधर ही विशेष आकृष्ट हुए।

अपनी प्रतिभा द्वारा सृष्ट काव्य के रस-बोध या चमत्कार-बोध के लिए रीति कवियो ने प्रमुख रूप से तीन छंद चुने—कवित्त, सवैया और दोहा। चलने को तो और भी छंद चले जैसे रोला, सोरठा, छप्पय, बरवै, कुण्डलिया आदि, किन्तु ये रीति-काल के प्रधान छंद नही कहे जा सकते। रोला का प्रयोग अधिकतर प्रबन्ध काव्यो मे किया जाता है। दोहे या अन्य छंदों का प्रयोग करते-करते कोमल रुचि-परिवर्तन के लिए जब-तब कवियो ने बीच-बीच मे सोरठे रख दिये हैं। छप्पय वीर-काव्य का छद है जिसका प्रयोग कभी-कभी शृगार या नीति के लिए भी किया गया है। बरवै अवधी का प्रिय छद है। रहीम का बरवै नायिका भेद और तुलसी की बरवै रामायण प्रसिद्ध ही है। रीतिकाल मे बेनी प्रवीन, जगनसिह और यशोदानदन ने इसका प्रयोग विशेष किया है। कुण्डलिया का प्रयोग नीति काव्य मे मिलता है। दीनदयाल गिरिधर कविराय ने इसका विशेष उपयोग किया। पदो का उपयोग रीति-युगीन कृष्ण-काव्य मे विशेष मिलता है। रीतिकाव्य के प्रधान छद कवित्त, सवैया और दोहा ही रहे। इसका प्रधान कारण यही है कि एक तो ये ब्रज भाषा की प्रकृति के अधिक से अधिक अनुकूल थे और दूसरे ये छद वर्णित भावो की उत्कृष्टतम अभि-

व्यक्ति के लिये सर्वाधिक उपयुक्त रहे। मुक्तक-रचना-शैली रीतियुग मे जिस प्रकार की रस-चर्वणा कराना या चमत्कृति पैदा करना चाहती थी उसकी परिपूर्णता कवित्तों, सवैयों और दोहो के ही माध्यम से सभव हो सकी। कवित छद वीर और शृंगार रसो के लिये सर्वथा उपयुक्त रहा। केवल पठन-शैली मे थोडा भेद कर देने से यह छद दोनों रसो की सुन्दरतम व्यजना मे समर्थ हो जाता है। सवैया छद शृगार और करुण के कोमलतम भावो की अभिव्यक्ति के लिए सर्वथा समीचीन होता है। इस युग का प्रधान रस शृगार था और उसकी व्यजना इन तीनो छदो के माध्यम से बडी अच्छी तरह हो सकी। इस कारण भी ये ही तीन छद रीतिकाल के प्रधान छंद रहे है। ये तीनो हिन्दी के अपने छंद है। ब्रजभाषा या हिन्दी मे अधिकतर मात्रिक छंदों का ही प्रयोग हुआ है। वर्णिक छंद भी व्यवहृत हुए है परन्तु जिन छंदो मे गणात्मकता का झगडा विशेष रहा है वे अधिक लोकप्रिय न हो सके। इसी प्रकार गुरुलघु के सुनिश्चित क्रम-निर्वाह का भी कठोर बंधन हिन्दी कवियो को कम सह्य रहा है। इसी कारण कवित्त और सवैया ऐसे छंद रीतिकाव्य में ग्राह्य हुए जिनमे ये पचडे कम थे और शिथिलता भी चल सकती थी। दोहा तो अत्यन्त प्रिय मात्रिक छद रहा जिसे शृगार तो शृगार नीति की उक्तियाँ बनाने वालो ने भी व्यवहृत किया। इस प्रकार रीति काव्य मे प्रयुक्त छंदों मे ब्रजभाषा की प्रकृति की अनुकूलता या अनुरूपता विशेष लक्षित होती है।

कवित्त—कवित्त छद के पाठ-सौन्दर्य की महिमा अपार है। राजप्रशस्ति के लिए हिन्दी मे इससे बढ कर दूसरा छंद नही। अकबर के समकालीन कवियो--नरोत्तमदास, गग, बीरबल, तुलसीदास आदि में कवित्त छद का प्रयोग सबसे पहले मिलता है फिर केशव तथा विशेषकर सेनापति ने इस छद को खूब चमकाया। इसी से तो सेनापति को अपने कवित्तो की सुरक्षा का विशेष बन्दोबस्त करना पड़ा—

लीजियो बचाइ ज्यों चुरावै नाहि कोई सौंपी
बित्त की सी थाती मैं कबित्तन की राज कौं।

कविता छद रीति-काल का बहुप्रसिद्ध छद है। इसमे कोई भी एक भाव, विचार, परिस्थिति, मुद्रा, रूपक बहुत अच्छी तरह अलकरण-कौशल और चमत्कार के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है। कवित्त को घनाक्षरी भी कहते हैं। यह दण्डक का एक भेद है। दण्डक छद के एक चरण में २६ से अधिक वर्ण हुआ करते है। दण्डक के अन्य भेद गण एवं गुरु लघु के बन्धनों से बंधे होते है किन्तु कवित्त और घनाक्षरी इन नियमो से मुक्त है। उसमे वर्ण-सख्या और यतिक्रम पर ही विशेष ध्यान रक्खा जाता है। इसलिये कवित्त छद अगणात्मक वर्णिक वृत्त है। कवित्त के यो तो अनेक भेद हैं किन्तु इसके दो भेद मनहर और रूप घनाक्षरी ही अधिक प्रचलित हुए। मनहर के एक चरण मे ३१ वर्ण होते है तथा ८, ८, ८, ७ पर यति होती है। रूप घनाक्षरी के एक चरण मे ३२ वर्ण होते है तथा ८, ८, ८, ८ पर यति होती है। मनहर के

चरणात् मे गुरु और रूप घनाक्षरी के चरणात मे लघु होना आवश्यक है। यति-विधान का नियम शिथिल भी कर दिया गया है और इसलिए मनहर मे १६, १५ पर तथा रूप घनाक्षरी मे १६, १६ पर यति रक्खी जाती है। कवित्त छद रीति काल में खूब मंजा। देव, मतिराम और पद्माकर मे वह अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचा। आधुनिक युग मे भारतेन्दु और रत्नाकर ने उसके परिमार्जित सौन्दर्य को सुरक्षित रक्खा। इस छद का इस युग मे यथासम्भव परिष्कार और परिमार्जन हुआ तथा इसे वृत्यनुप्रास, वीप्सा, अत्यनुप्रास, लयगत सगीतात्मकता आदि युक्तियो द्वारा सौन्दर्य और गरिमा की चरम सीमा पर पहुँचा दिया गया। भक्तियुगीन कवियो तुलसी आदि के कवित्तो से कही और अधिक सौन्दर्य भावोत्तेजक और मूर्तिविधायक क्षमता देव और पद्माकर के कवित्तो मे मिलती है। यह सब छन्द को सौष्ठव प्रदान करने के प्रति सजगता का ही परिणाम है। रीतियुग के श्रेष्ठ कवित्तकारो के छंद पढते समय हृदय जिस प्रकार भावोद्वेलित और दोलायित होता है उसका कारण उसमे आयोजित नाद, लय और प्रवाह का शौन्दर्य ही है। ये छन्द जहाँ एक ओर चित्त मे वर्ण्य के अनुकूल वातावरण निर्मित करते चलते है वही दूसरी ओर बिब भी अकित करते चलते है।

सवैया—सवैया की व्युत्पत्ति सपादिका से कही गई है क्योकि पुराने भाट इसके चौथे चरण को पहले शुरू मे पढ दिया करते थे बाद मे पूरा छद पढा करते थे। इसका प्रयोग भी हिन्दी मे कवित्त के साथ-साथ ही पहले पहल अकबर के समय के कवियों—गग, टोडरमल, नरोत्तमदास, तुलसीदास आदि द्वारा किया गया मिलता है। प्राकृत पैंगलम (रचनाकाल सं० १३०० के आस-पास) में सवैया से मिलते-जुलते ८ भगण वाले किरीट और ८ सगण वाले दुर्मिल का विवरण मिलता है। असम्भव नही कि विक्रम की १६ वी शताब्दी से पूर्व भी कवित्त सवैये किसी न किसी रूप मे प्रयुक्त होते रहे हो। सवैया की कोमलता और मंजुलता अद्वितीय होती है। सुकुमार वृत्तियो के प्रकाशन मे इससे अधिक सक्षम छंद दूसरा नही। वैसे आवेगपूर्ण भावो के लिए भी इसका व्यवहार किया गया है। सगीतात्मकता, सौकुमार्य, प्रवाह, चारुता आदि के लिये यह आदर्श छंद है। ब्रज-भाषा का तो यह अपना छद है। देव, मतिराम, रसखान, पद्माकर, घनानन्द, ठाकुर, बोधा आदि के सवैये तो भाषा के शृगार हैं। इस छंद का भी रीतिकवियो ने सम्यक परिमार्जन किया। २२ से २६ वर्णों तक के सवैये होते हैं। भानु जी ने सवैयों के १४ भेद किये है। गण तथा लघु-गुरु के भेद से इसके और भी कई भेद सम्भव हैं किन्तु मत्तगयद, दुर्मिल, किरीट और सुमुखी सवैये रीतिकाव्य मे विशेष प्रचलित रहे। इन चारो मे भी मत्तगयद सर्वाधिक लोकप्रिय एवं प्रचलित रूप है। सवैयो मे गुरु वर्ण को लघु करके पढने की छूट है। मत्तगयंद मे ७ भगण और दो गुरु होते हैं। सवैये को कोमलता या सौकुमार्य प्रदान

करने के लिए, उसमे नाद-सौन्दर्य विन्यस्त करने के लिए कविजन सानुप्रासिक पदावली का उपयोग करते देखे जाते हैं। सवैये के परिष्करण और परिमार्जन के प्रति सतत सजग रहने के कारण रीतिकालीन कवियो के सवैये भक्तिकालीन तुलसी आदि के सवैयो की अपेक्षा अधिक रमणीय और आकर्षक बन पडे है।

दोहा—दोहा एक अत्यन्त लोक प्रिय छद है तथा उसकी उत्पत्ति कवित्त-सवैयों से पहले की है। विद्वानो ने विक्रम की ८ वी शताब्दी मे इसके प्रयोगारभ का अनुमान किया है। १० वी और ११ वी शती के अपभ्रंश साहित्य मे दोहा उसी प्रकार प्रधानता से प्रयुक्त होता था जिस प्रकार पौराणिक युग मे अनुष्टुप। १२ वी शती में हेमचन्द्र के 'छदोनुशासनम्' मे इसके लक्षण उदाहरण तथा १३ वी शती मे 'प्राकृत पैंगलम' मे दोहे के २३ भेद वर्णित है। अपभ्रंश का यह सर्वाधिक प्रयुक्त छद है। श्लोक कहने से जिस प्रकार संस्कृत का तथा गाथा या गाहा कहने से प्राकृत का बोध होता है उसी प्रकार 'दूहा' कहने से अपभ्रंश का। मध्ययुगीन हिन्दी काव्य का तो यह एक अति प्रसिद्ध छद है। तुलसीदास तथा सत कवियो ने इसे खूब प्रयुक्त किया। रीति-काल के काव्य का पर्याप्त महत्वपूर्ण अश दोहो मे ही लिखा गया है। रीति ग्रथो का अधिकाश रीति-निरूपण, समस्त सतसई-साहित्य, सत काव्य और नीति काव्य के अतिरिक्त प्रभूत परिमाण मे लिखित स्फुट रचनाएँ दोहो मे ही है। दोहा अर्ध-सममात्रिक छद है। इसके विषम चरणों मे १३ तथा सम चरणो मे ११ मात्राएँ होती है। बिहारी के दोहो के आधार पर रत्नाकर जी ने दोहो का नियमन किया है तथा इस छंद पर पर्याप्त विमर्श किया है। दोहे मे भाषा की सामासिक शक्ति अपेक्षित होती है। गागर मे सागर भरने वाला ही उत्तम दोहे रच सकता है। इन्ही गुणो के कारण बिहारी के दोहे हिन्दी मे बेजोड हैं। दोहे मे शब्द-संगठन, चित्रात्मकता, व्यजना, उक्तिवैलक्षण्य तथा चोट करने की शक्ति अपेक्षित होती है। संक्षेप मे अधिक की व्यजना दोहे की प्राथमिक आवश्यकता है। इसी वैशिष्ट्य के कारण रहीम ने दोहे की प्रशस्ति मे लिखा है—

> दीरघ दोहा अरथ के आखर थोरे आहि।
> ज्यों रहीम नट कुंडली, सिमिटि कूदि चलि जाहि॥ (रहीम)

रीतिसिद्ध काव्य (लक्ष्यमात्र काव्य)

रीतियुग मे शृङ्गार की रचना करने वाले रीतिबद्ध या रीति ग्रन्थकार कवियो के साथ-साथ कवियो का एक अन्य वर्ग भी था जो शृगार रस की रचनाये तो किया करता था और काव्यशास्त्र का सहारा भी लिया करता था; किन्तु काव्य-शास्त्रीय या रीति-ग्रन्थो की रचना नही करता था। इन कवियो को रीतिसिद्ध कवि या काव्य कवि और इनकी रचना को रीतिसिद्ध काव्य या लक्ष्यमात्र काव्य कहा गया

है। इन कवियो का वर्ग सख्या की दृष्टि से रीति ग्रन्थकार कवियो की अपेक्षा छोटा है किन्तु इनकी प्रवृत्तियाँ बहुत स्पष्ट है। रीतिसिद्ध कवियो मे बिहारी, सेनापति, बेनी, कृष्ण, कवि, रमनिधि, नेवाज, पजनेस, नृपसभु, प्रीतम, रामसहायदास, हठी आदि का नाम लिया जाता है।[1] बिहारी-सतसई, मतिराम सतसई, रसनिधि कृत रतन-हजारा, रामसहाय दास कृत रामसतसई आदि ऐसे ग्रन्थ है जो लक्ष्यमात्र काव्य या रीतिसिद्ध काव्य की कोटि मे रखे जा सकते है। इसी प्रकार रीतियुग मे लिखी गई बारहमासा, नखशिख, षड्ऋतुसम्बन्धिनी रचनाये भी इसी कोटि मे आती है। इन कवियो की रचना रीति से बधी हुई है। उसमें रीति की ऐसी छाप मिलती है कि जो रीति की परम्परा से अपरिचित है वह इनकी कविता का पूरा-पूरा आनन्द नही ले सकता। इनकी रचनाये ऐसी होती है जिन्हे रसो तथा उसके अवयवो, अलकारो एव नायिका-भेद मे सरलता से विभक्त किया जा सकता है। लक्षण ग्रन्थो की रचना से विरत रहकर भी रीति की पूरी-पूरी छाप रखने के कारण ये कवि रीतिसिद्ध कवि या काव्य कवि कहलाये और इनका काव्य रीति-सिद्ध काव्य अभिहित हुआ। रीतिबद्ध लक्षणकार कवियो [शास्त्र कवि या आचार्य कवियो] से ये भिन्न थे।

रीति-सिद्ध कवियो की रचनाओ मे शास्त्रीय सिद्धान्तो का निरूपण और लक्षण निर्माण तो नही हुआ फिर भी इनकी रचनाये ऐसी बन पडी है जो किसी न किसी काव्याग के उदाहरण रूप मे अवश्य रखी जा सकती है। इन्हे रीति-सिद्ध या रीत्यनुसारी या लक्षणानुसारी कवि कहने का यही कारण है। लक्षणो का नियमतः पूरा-पूरा पालन न करने पर भी ये उनसे सम्पूर्णतः मुक्त न थे जैसा कि स्वच्छन्द कवि थे परन्तु नियमानुसरण करते हुए भी ये स्वतन्त्रता लेते थे। लक्षण ग्रन्थो की रचना से ये विरत रहते थे पर रीति की पूरी छाप भी रखते थे। रीति ग्रन्थो के कर्त्ता कवियो से ये अवश्य कुछ विशिष्टता रखते थे इसी से इन्हे पृथक् करने की आवश्यकता समझी गई। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के शब्दो मे 'इस प्रकार के कवियो को जो रीति विरुद्ध नही और लक्षण-ग्रन्थो से बँधे भी नही तिल भर भी उससे हट न सके, भले ही वे रीति की परम्परा को अपनी अभिव्यक्ति का आधार बनाते हों, रीति-सिद्ध कवि कहना चाहिये'।[2] रीति की बँधी परिपाटी मे इनकी आस्था पूरी थी किन्तु ये उसके पूरे गुलाम होकर नही चलना चाहते थे। उससे अलग हटना भी इन्हे अभीष्ट न था, उसकी पूरी दासता भी इन्हे स्वीकार्य न थी। इस प्रकार से ये मध्यमपथी थे। रीति की सारी परम्परा का इन्हे अच्छा ज्ञान था, कह सकते है कि रीति का समूचा शास्त्र इन्हें सिद्ध था और इन्होने रचनाये भी तदनुरूप ही की है किन्तु उसकी

---

[1] हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास : षष्ठ भाग पृ० ५०८-४६

[2] श्रृङ्गार काल : पृ० ५५०

बाध्यता इन्हे न थी। ये इच्छानुसार स्वतन्त्र भावो को भी सामने लाते थे और अभिनव सूक्तियो का भी विधान करते थे। लक्षण ग्रन्थो से बाहर जाने की इन्होंने पूरी छूट ले रखी थी इसी कारण बिहारी, रसनिधि, सेनापति आदि के छन्द रीत्यनुसारी होकर भी रीतिग्रस्त नही थे। रीति कवियो की श्रेणी मे अगर इन्हे बिठा दिया जाये तो ये अपनी स्वतत्र चेतना के कारण पृथक् दिखाई पडेगे। काव्य-रीति से ये पूर्णतः अभिज्ञ थे किन्तु इनकी स्वतंत्र चेतना रीति की वेदी पर पूरी तरह चढा नहीं दी गई थी। ये रीति से हटकर भी जब-तब अपनी कल्पना या उद्भावना की करामात दिखा दिया करते थे। तात्पर्य यह कि रीति के बन्धन मे ये रीति ग्रथकार कवियो की तरह एकदम कसकर जकडे नही जा सके थे, ये रीति का बन्धन ढीला करके चलते थे फलतः स्वतन्त्र काव्य-शक्ति एव अभिनव उद्भावना के निदर्शन का इन्हे अधिक अवसर था और इन्होने निदर्शित भी किया। रीति के नियमों से ये चालित तो होते थे किन्तु जब-तब ये उसका स्वतंत्र प्रयोग भी करते थे। इसी से इनकी रचना मे रीति-ग्रन्थानुसारी कवियो की अपेक्षा कुछ उत्कर्ष दिखाई देता है। यह बात भी ध्यान मे रखने की है कि ये रीति स्वच्छन्द धारा के कवियो की भाँति रीति से सर्वथा मुक्त न थे। रीति की सारी परम्परा इन्होंने अवश्य सिद्ध कर रखी थी, उसकी छाप इन पर पूरी-पूरी तरह थी किन्तु ये आवश्यकता पडने पर भाव अथवा कल्पना के आग्रह पर रीति से दाये-बाये होकर भी अपना करतब दिखाते थे। रीति रानी के ये सदैव दास ही नही बने रहते थे इच्छा होने पर अपना स्वामित्व भी दिखा जाया करते थे।

लक्षणानुधावन से विरत रहने के कारण इनकी रचनाये कुछ स्वतत्रता लिये हुए है तथा उसमे व्यक्ति-वैशिष्ट्य का भी थोडा विकास हुआ है, उनका निजी अस्तित्व बना रह सका है। जो लोग रीतिग्रथ लिखते थे उन्हे लक्षणगत नियमो के पालन का पूरा ध्यान रखना पडता था और सारी कल्पनाये तदनुकूल करनी पडती थी। उपमाये, उत्प्रेक्षाये, प्रसंग, वर्ण्य सभी कुछ शास्त्रानुकूल और परम्परागत ढग से बिठाते चलते थे। लक्षणो से बाहर जाने की उन्हे गुञ्जाइश न थी। पर ये रीतिसिद्ध कवि रीति से केवल सकेत ग्रहण करते थे और भाव तथा कल्पना का बन्धान स्वतत्र ढंग से भी करते थे। यही कारण है कि जहाँ ये लोग नवीन उद्भावनाये कर सके हैं रीति-ग्रन्थकार कवि अपनी रचनाओ मे प्रायः नवीनता का वैशिष्ट्य नहीं ला सके है। बिहारी की रचनाओं के वैशिष्ट्य का यही कारण है। यदि वे रीतिग्रन्थो मे दिये लक्षणो से बँधकर रचना करने मे दत्तचित्त हुए होते तो उनकी रचनाओं में व्यक्त उनकी जो स्वतत्र सत्ता है वह लुप्त हो गई होती। कवित्त-सवैया ऐसे अधिक प्रचलित छन्दो की अपेक्षा बिहारी ने दोहे को जो ग्रहण किया वह भी इसी व्यक्ति-वैशिष्ट्य का सूचक है, उनके दोहों मे जो सूक्ष्म कारीगरी है, वर्ण एव नाद-सौदर्य का विधान है, गहरी अर्थवत्ता और ध्वन्यात्मकता है वह कोरी रीति-प्रथा का अनुरण नहीं। वह

स्वतत्र कवि-अस्तित्व के विकास का विशाल प्रयास द्योतित करती है। मात्र रीति-बद्धता से पूरा पडता न देख बिहारी, रसनिधि आदि कवियो ने अपने स्वतत्र कवि-व्यक्तित्व की सूचना अपनी रीति से पृथक और विशिष्ट कलात्मक योजनाओ एवं साज-सभार द्वारा दी। बिहारी के दोहो को लक्षण-लक्ष्य लिखने वाले रीतिकारो के उन दोहो के साथ यदि रख दिया जाय जिनमें लक्षणो के उदाहरण दिये गए है तो रीति-सिद्ध कवियो के वैशिष्ट्य का पता चल जायेगा। रीति ग्रन्थो के ऐसे कर्त्ता कवि जो अपनी व्यक्तिगत विशेषताओ के कारण पहचाने जा सके देव, मतिराम, सरीखे कम ही हैं, जो पहचाने जा सकते हैं। उनके पहचाने जाने का कारण यही है कि उन्होंने जब-तब या बार-बार अपनी स्वतत्र कवित्व-शक्ति या अपने वैशिष्ट्य का परिचय दिया है जो रीति से बँधी रहकर भी नवीनता का विधान करती रही है।

रीति की सुनिश्चित परिपाटी के अनुकूल रचना करते हुए भी रीतिसिद्ध कवियो ने लक्षण ग्रन्थो की रचना नही की। ये कवि रीति या लक्षण ग्रथो की रचना मे इसलिए प्रवृत्त न हुए क्योंकि इन्हे कविगुरु, कविशिक्षक या आचार्य बनने का प्रचलित रोग न था। ये रीतिसिद्ध कवि ऐसे है जिनकी उक्तियो या अभिव्यक्तियो मे रीति की पूरी परम्परा सिमटी हुई है साथ ही साथ ये उससे ऐसे चिपक भी नही गए है कि तिल भर न हट सके। इसका कारण यही था कि ये कवि-गौरव के अभिलाषी थे; कविगुरु, काव्यशिक्षक या काव्याचार्य बनने के नही। इनकी दृष्टि मे कवित्व-शक्ति के निदर्शन द्वारा काव्य-रचना के पुनीत क्षेत्र मे वैशिष्ट्य लाभ करना अधिक श्रेयस्कर था उसके बजाय कि कविशिक्षा की साधारण पाठ्य-पुस्तक लिखकर रीति का आचार्य कहलाना। इनमे कवित्व की स्पृहा थी। ये कवि होना अधिक सम्मान की बात समझते थे अपेक्षाकृत इसके कि छोटी-मोटी कवि-शिक्षा की पुस्तक लिखकर काव्याचार्य का बहुकांक्षित पद प्राप्त कर ले। गुरुत्व या कवि-शिक्षक होने की कामना इन्हे न थी। ये कवि अवश्य इस बात से भली भाँति परिचित रहे होंगे कि संस्कृत काव्य शास्त्र की विकसित, सूक्ष्म विवेचनापूर्ण परम्परा के सामने भाषा में लिखे गये अलङ्कार-ग्रन्थ कितने साधारण कोटि के है; ऐसे रीति ग्रन्थो के सग्रह अथवा अनुवाद से कोई विशेष लाभ या गौरव नही। इसी कारण इनका काव्य अधिक सरस और मार्मिक बन पड़ा है। उक्तियाँ चमत्कार से पूर्ण हैं, रीति की पद्धति से सयुक्त भी; फिर भी रीति के लक्षणों से जहाँ-तहाँ स्वतन्त्र लक्षण पीछे छूट गए हैं। रीति की सारी बातो को ग्रहण करते हुए चलने मे इनका विश्वास न था। "शास्त्र स्थिति सम्पादन" मात्र से ये सतुष्ट न होते थे। कभी वे अपने काव्य मे शाब्दिक एवं आर्थिक अलङ्कारों की नई चमत्कृति दिखलाते थे तो कभी अभिनव कल्पना-विधान एवं स्वतन्त्र भाव-सृष्टि द्वारा नूतन ढङ्ग का रस-सञ्चार भी करते थे। आँख मूँदकर काव्य-प्रौढ़ियों का अवतरण ये सदा नही किया करते थे, कभी कविता मे ये अपनी जिन्दगी के

अनुभव भी उडेल दिया करते थे। इसी में इनकी रचना की विशिष्टता है। कोरे रीति ग्रथकारो मे यह बात नही, वे तो लक्षण के इधर-उधर हटे नही कि सारा खेल बिगडा। शुद्ध रीतिकार लक्षणो से इधर-उधर नही जा सकते थे, रीतिसिद्ध कवि लक्षणो को दिशानिर्देशक मात्र समझते थे। इनमे रीति है, चमत्कार भी किन्तु स्वानुभूति और रस की व्यञ्जना भी। रस-सञ्चार के लिए ये काव्य-कवि स्वानुभूतियो के सहारे अभिनव कल्पनाओ एवं उद्भावनाओ की सृष्टि कर काव्य मे नवीनता और रमणीयता का सन्चार करते थे, केवल शास्त्रों की ही गिनी-गिनाई बाते सामने नही रखते थे वरन् ससारविषयक अपने अनुभव के भी सहारे भाव एव सौन्दर्य-विधान की नई सामग्री पेश करते थे। यदि ये भी लक्षण-ग्रथ-रचना मे प्रवृत्त होते तो ऐसे सरस और अभिनव उक्तियो से पूर्ण काव्य की रचना ये न कर पाते जिनके कारण इनका वैशिष्ट्य स्वीकार करना पड़ता है।

शृगार की सुन्दर सरस रचना प्रस्तुत करने मे ये रीतिसिद्ध कवि संस्कृत की शृगार की मुक्तक परम्परा से अवश्य प्रभावित है। प्राकृत मे लिखी हाल की "गाथा सप्तशती" सस्कृत के अमरुक कवि के "अमरुकशतक" तथा गोर्वधन की "आर्या सप्तशती" भर्तृहरि के "शृंगार शतक" आदि काव्यो का प्रभाव रीतिसिद्ध कवियो पर पूरा-पूरा है। प० पद्मसिह शर्मा ने अपने "सतसई सहार" मे बिहारी के अनेक दोहो पर आर्याशप्तसती के श्लोको का प्रभाव दिखलाया है। सस्कृत और प्राकृत से होती हुई यह शृगार-मुक्तक परम्परा अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थो मे भी प्राप्त होती है—हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण तथा द्वयाश्रय काव्य, सोमप्रभाचार्य के कुमारपाल प्रतिबोध, राजशेखर सूरि के प्रबन्ध-कोष, प्राकृत पैगलम् और पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह। सस्कृत के शृगार-तिलक, घटकर्परि, भर्तृहरिरचित शृंगारशतक, विल्हण की चौर पंचाशिका आदि भी शृगारप्रधान मुक्तक ही है। बिहारी आदि काव्य कवियो के शृगारी मुस्तको को इस परम्परा से थोडी-बहुत प्रेरणा प्राप्त हुई क्योकि इन रचनाओ मे एक तो लक्षणानुधावन का बन्धन नही और ये कवि बन्धन ढीला करके चलना चाहते भी थे। दूसरे इन मुक्तको में जीवन के ऐहिक एवं भोगपरक पक्ष के चित्रण का आग्रह था जो इनकी और समसामयिक रुचि के अनुकूल भी था। इस परम्परा का उद्देश्य ही शृगार के रसात्मक मुक्तको द्वारा चित्त को उत्फुल्लता प्रदान करना था। वही कार्य हमारे रीतिसिद्ध कवियो ने भी अपने जमाने मे किया।

रीतिबद्ध कवियो ने काव्याग-विवेचन तो किया किन्तु वह बहुत हल्के ढग का रहा। सस्कृत मे काव्यशास्त्र की जैसी मीमामा हो चुकी थी वैसी व्याख्या-विवेचना, खन्डन-मन्डन की न तो रीतिबद्ध कवियो मे वृत्ति ही थी और न क्षमता। कुछ कवि अवश्य आचार्य कोटि के हो गये है जैसे केशव, भिखारीदास, कुलपति, प्रतापशाही आदि किन्तु विशद मीमासा आदि की ओर ये लोग भी न गये। अधिकांश आचार्य तो

संस्कृत के उत्तरवर्ती अलकार ग्रन्थो का ही पल्ला पकडकर रह गये जिनमे काव्यागो का सरल और स्पष्ट विवेचन मात्र हुआ था। उदाहरण के लिए चन्द्रालोक, कुवलयानन्द, रसतरगिणी, रसमजरी आदि। बहुत आगे गये तो साहित्य-दर्पण और काव्य-प्रकाश तक किन्तु स्वतंत्र सिद्धान्तो की स्थापना करने वाले मौलिक ग्रन्थो जैसे-ध्वन्यालोक, लोचन वक्रोक्ति जीवितम्, काव्यालकार सूत्रवृत्ति, काव्यादर्श, काव्यालकार तक ये कवि प्रायः नही गये। रस-स्वरूप, काव्य-स्वरूप, काव्यात्मा, रसनिष्पत्ति आदि सूक्ष्म शास्त्रीय प्रसगो की ओर तो किसी ने जाने का साहस भी नही किया। शास्त्रज्ञता और आचार्यत्व के लोभ मे ये हिन्दी रीतिकार या रीतिबद्ध कवि सस्कृत काव्यशास्त्र के विशाल प्रासाद की बाहरी परिक्रमा या अधिक से अधिक आँगन झाँककर लौट आये और मोटे-मोटे काव्याग-लक्षण-निरूपण के व्याज से शृगार-रस के उदाहरण प्रस्तुत कर सके और इसी मे अपने कवि-कर्म की उन्होंने इतिश्री समझ ली किन्तु रीतिसिद्ध कवियो ने इस सम्बन्ध मे अधिक विवेक से काम लिया। वे जानते थे कि काव्यशास्त्र के इस सिन्धु का साधारण श्रम और मेधा से संतरण संभव नही अतः ये लोग उस ओर गये भी नही। उसका ज्ञान इन्हे अवश्य था और काव्य-रचना के समय भी वह सब इनके दिमाग मे रहता था। इनकी रचना मे रीति की जो पूरी छाप है उसका कारण भी यही है कि रीतिशास्त्र की विचारावली और उसमे निरूपित विषयो और बातों की इन्हे पूरी जानकारी थी किन्तु उसे ये सामने रखकर काव्य-रचना में प्रवृत्त न होते थे। वह पृष्ठभूमि मे ही रहती थी और उससे ये संकेत या प्रेरणा ग्रहण करते थे किन्तु सस्कृत काव्यशास्त्र के अतिरिक्त ये कवि सस्कृत के शृगारी मुक्तको की परम्परा से विशेष प्रभावित हुए जिसका विकास पचाशिका, शतक एवं सप्तशती पद्धति के ग्रन्थो के माध्यम से संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि मे हो चुका था जिसकी चर्चा हम पहले कर आये है।

रीतिसिद्ध कवियो की मानसिक पृष्ठभूमि की निर्मिति मे सस्कृत रीति ग्रन्थों का भी हाथ रहा। जैसा हम पहले कह आये है ये रीतिसिद्ध कवि रीति की पूरी परंपरा से वाकिफ रहे। रस, ध्वनि, अलकार आदि सम्प्रदायो की इन पर भी पूरी-पूरी छाप थी। नेवाज, बेनी, नृपशभु, रसनिधि, हठी, पजनेस आदि रसवादी कवि ही थे। बिहारी को लोग रसवादी कहते है किन्तु डा० रामसागर त्रिपाठी ने अपने प्रबन्ध मे उन्हे रीतिकाल का प्रधान ध्वनिवादी कवि सिद्ध किया है[1]। सेनापति अवश्य अलंकारवादी थे। इतना तो स्पष्ट ही है कि कवित्व के प्रेमी ये रीतिसिद्ध कवि अलंकार और वक्रोक्ति सम्प्रदायों से कम, रस और ध्वनि सम्प्रदायों से विशेष प्रभावित थे। इनकी काव्य-वृत्ति देखते हुए यह बात ठीक ही जँचती है।

---

[1]. मुक्तक काव्यधारा और बिहारी : डा० रामसागर त्रिपाठी

रीतिशास्त्रीय विषयो की ही मानसिक पृष्ठभूमि होने के कारण इन कवियो ने भी नायिका-भेद, ऋतुवर्णन, बारहमासा, नखशिख आदि परम्परागत और शास्त्र-कथित विषयो को काव्य के वर्ण्य के रूप मे प्रचुरता से ग्रहण किया परन्तु उसमे अपनी नूतन गति का परिचय दिया। ये विषय ऐसे थे जिन पर स्वतन्त्र ढङ्ग से निजी अनुभव के बल पर काफी कुछ कहने का अवकाश था। ये विषय रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध दोनो ही प्रकार के कवियो द्वारा उठाये गये किन्तु भावनाओ एव उद्भावनाओ की नूतनता रीतिसिद्ध कवियो मे ही अधिक मिलेगी।

इन काव्य-कवियो ने काव्य के कला-पक्ष के साथ-साथ भाव-पक्ष पर भी पूरा बल दिया है फलतः दोनो का अच्छा समन्वय इनके काव्य की एक सर्वमान्य विशेषता है। ये कवि-कर्म के प्रति अधिक स्वस्थ और सतुलित दृष्टि रखते थे फलस्वरूप काव्य के भाव और कला दोनो पक्षो को समान महत्व देते थे। एक ओर जहाँ इन काव्य-कवियो ने अपनी कविता के भावपक्ष या वर्ण्य को नवीनता और ताजगी देने की चेष्टा की, उसे चर्वित-चर्वण मात्र होने से बचाया, अपनी और अपनी युग की सीमाओं से सीमित या बँधे रहने पर भी ऐहिकतापरक शृगारी रचनाओ द्वारा रस-सचार और आनन्द-सृष्टि का आयोजन किया वहाँ दूसरी ओर उन्होने काव्य के कला-पक्ष के वास्तविक सभार की ओर भी ध्यान दिया। रीतिकालीन आचार्य कवियो की अपेक्षा रीतिबद्ध काव्य-कवियो ने भाषा की लक्षणा और व्यजना-शक्ति पर अधिक ध्यान दिया और उसे अधिक विकसित किया। लाक्षणिकता और ध्वन्यात्मकता बिहारी, रसनिधि आदि मे रीतिबद्ध आचार्य कवियों की अपेक्षा अधिक है। इनमे भाषा का अधिक सामाजिक रूप मिलता है। बिहारी, रसनिधि, रामसहाय आदि काव्य-कवियो ने अपने दोहो को भावपूर्ण, सुगठित तथा सौन्दर्यसपन्न करने के लिये काव्य की समास-पद्धति का पर्याप्त उत्कर्ष दिखलाया है। अलकारो के प्रयोग मे भी इनकी दृष्टि अधिक विकसित और पूर्ण थी, वक्रोक्तियो के माध्यम से भी पूर्ण रस-संचार और काव्य को आनंद-प्रदान-क्षम बनाने मे सहायता पहुँचायी। भाषा को मृदुल, कोमल, नाद-सौदर्य से परिपूर्ण बनाने की उन्होने चेष्टा की तथा प्रचलित कवित्त, सवैया के अति-रिक्त दोहो पर इन्होने विशेष ध्यान दिया।

रीतिबद्ध काव्य-कवियो की प्रवृत्तियो और विशेषताओ के उपर्युक्त निर्वचन के अनन्तर रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध काव्यकर्ताओ के बीच की भेदक रेखा खीच देना भी अनिवार्य जान पडता है क्योकि दोनो की काव्य-रचना-पद्धति और ध्येय में एक निश्चित भिन्नता थी। रीतिबद्ध कवि लक्षण ग्रन्थो की रचना करते थे और लक्षणों को घटित करने वाले उदाहरण के रूप में अपनी कविता लिखते थे। रीतिसिद्ध कवि लक्षण ग्रन्थ नही लिखते थे फिर भी रीति की पूरी-पूरी छाप लिए हुए थे। रीति का पीछा नही छूटा था किन्तु रीति की जकडन से ये अवश्य मुक्त थे। पहली श्रेणी के

कवि है केशव, देव, भूषण, मतिराम, दूलह, दास, पद्माकर आदि, दूसरी श्रेणी के कर्त्ता है बिहारी, सेनापति, रसनिधि, पजनेस आदि। पहली श्रेणी क कवि रीतिबद्ध कवि रीति ग्रन्थकार, लक्षणकार आदि कहलाते है और दूसरी श्रेणी के रीति-सिद्ध, लक्ष्यकार, काव्य कवि आदि। रीति-ग्रन्थकार कवि रीति के बन्धनो से बेतरह जकडे हुए थे। उन्हे लक्षण-लक्ष्य का समन्वय करते हुए चलना था, वे लक्षणो से बाहर नही जा सकते थे पर सतसई और हजारा लिखने वाले रीतिसिद्ध कवि रीति का बन्धन ढीला करके चलते थे तथा शास्त्रोक्त सामग्री अथवा नियम का उपयोग अपने ढंग से करते थे इसीलिए नायिकाओ, अलकारो आदि का न तो इन्होंने क्रमिक रूप से वर्णन किया और न उनके समस्त भेदोपभेदो का सागोपाग वर्णन ही। फलस्वरूप, रीतिसिद्ध कवि रीतिबद्ध कवि की अपेक्षा स्वतत्र थे। इस स्वतत्रता का उपयोग इन्होने अपनी कवित्वशक्ति के प्रदर्शन और नई-नई उद्भावनाओ के निदर्शन मे किया। फलतः काव्यत्व का उत्कर्ष और रमणीयता इनमे रीति ग्रन्थकारो से अधिक ही मिलेगी। इनका मत यह था कि शास्त्र मे कथित बाते मार्ग-निर्देशन के लिए है, उनके सहारे नई कल्पनाये और बाते पैदा की जा सकती है पर रीति ग्रन्थकार कवि लक्षणो को ही सब कुछ समझते थे, उससे बाहर नही जा पाते थे। रीति ग्रन्थकार कवियो ने आचार्य पद पाने और कवि-शिक्षक का गौरव प्राप्त करने के उद्देश्य से लक्षणो का बोझ ढोना पसन्द किया किन्तु कवि-गौरव के अभिलाषी लक्ष्यकार कवि रीति का संभार लेकर ही रीति के पचडे में नही पड़ना चाहते थे। रीति के एक एक नियम का अनुसरण काव्य-सौंदर्य के लिए इनकी दृष्टि मे घातक था इसी से ये रीति मे बँधे भी थे और उससे कुछ पृथक भी। हाँ, रीतिमुक्तो की भाँति ये रीति से सर्वथा स्वतत्र भी न थे। रीति इन पर हावी न थी परन्तु ये रीति के विरुद्ध भी न थे। रीति इनके लिए सहारे का काम देती थी। रीति के सहारे ये काव्य-कवि के गौरवपूर्ण पद तक पहुँच सके थे। गुरुत्व का भी रीतिकारों की प्रतिभा अपना वह उन्मेष न दिखा सकी जो कवित्व-कामी कवियो की प्रतिभा द्वारा संभव हो सका। शास्त्र-स्थिति-संपादन और कवियो का प्रशिक्षण इनका लक्ष्य न था, कवित्व-शक्ति का उत्कर्ष दिखलाना इनका चरम काम्य था। रीतिसिद्ध कवियो को स्वतत्र काव्योद्भावना का अवकाश लक्षणकार कवियों की अपेक्षा अधिक था फलतः इनमे भावुकता, मौलिकता, अभिनव कल्पना आदि लक्षणानुधावन करने वाले रीति कर्ताओ से अधिक थी और व्यक्ति वैशिष्ट्य के आधार पर भी इन्हे पहचाना जा सकता है। बिहारी अपनी नई सूझ-बूझ वाली उक्तियों के बल पर ही रीतिबद्ध कवियो से पृथक् किये जा सकते है जबकि रीति की उँगली पकडने वालो की बहुत-सी रचना एक-सी ही हो गई है। उन्हे व्यक्तिगत विशेषता के आधार पर अलग कर सकना सभव नही है। वैयक्तिकता का यह विकास रीतिमुक्त कवियो मे और भी अधिक मिलेगा। रीतिबद्ध कवियो मे पिष्टपेषण और

और चर्वित-चर्वण सबसे अधिक है। रीतिबद्ध कवियो मे कलापक्ष प्रधान है और पक्षभाव गौण। रीतिसिद्ध कवियो मे कलापक्ष और भावपक्ष का समभाव है और रीतिविरुद्ध या रीतिमुक्त कवियो मे भाव पक्ष-प्रधान और कला-पक्ष गौण है। कला और भाव-पक्ष का यह तारतम्य तीनो धाराओ की पृथकता का सबसे अच्छा आधार है।

रीतिमुक्त काव्य (रीति स्वच्छन्द काव्य-धारा) : १५

प्रेम के जिन उन्मुक्त गायको की चर्चा यहाँ अभीष्ट है वे है रसखान, आलम, घनआनन्द, बोधा, ठाकुर और द्विजदेव। इसमे सदेह नही कि हिन्दी-काव्य मे स्वच्छन्द प्रेम-भावना को जैसा पोषण इन कवियो से प्राप्त हुआ दूसरो से नही। प्रणय-भावना तो सभी देशो के काव्यों मे सभी समय मिलेगी। हिन्दी काव्य-साहित्य मे इन रीति-निरपेक्ष कवियों की प्रेम-भावना विशिष्ट है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये कवि प्रेम के ही बने थे, इनमे अपर तत्व कुछ था ही नही। इन कवियो का प्रेम निर्बन्ध है—वह लाज नही मानता, लोक-रीति का अनुसरण नही करता, मान-अपमान की परवाह नही करता, कुलधर्म की अवहेलना करता है और स्वच्छन्द वायुमण्डल मे जीता है। इनका प्रेम-काव्य शास्त्रीय आचारो और मर्यादाओ मे बद्ध नही है। इनके प्रेम का निवेदन सखी, सखा या दूतियाँ नही करती और न ही वे इन कवियो तक रूप-सौंदर्य, विरह वेदना आदि के सँदेशे ला कर इनमे किसी के प्रति रुचि या करुणा ही जागृत करती है। इनमें रुचि आप जगती है, ये प्रेम का निवेदन आप करते है। इसीसे इनके प्रणय-भाव का रीतिकार या रीतिबद्ध कवियो के प्रणय-भाव से विभेद देखा जा सकता है। ये किसी आरोपित प्रेम-भावना को लेकर नही चल सकते। ये गोपियों के प्रेम का काव्य, परम्परा, रूढि अथवा कल्पना पर आश्रित अनुभव करते हुए काव्य-रचना नही करते। प्रेम इनके जीवन मे आया हुआ होता है। वह इनके हृदय से हो कर गुजरी हुई चीज होती है। लगभग सभी रीतिस्वच्छन्द कवियो की प्रेम-कहानी संसार मे प्रसिद्ध है। आलम और शेख का प्रेम, घनानन्द और सुजान का, बोधा और सुभान का इसी प्रकार ठाकुर का भी वैयक्तिक प्रेमाख्यान अविदित नहीं। रस-खान भी किसी से दिल लगाने के बाद ही भगवदोन्मुख हुए थे। जाहिर है कि इनके प्रेम मे तीव्रता होगी, सच्चाई होगी जो इनके काव्य मे भी यथावत प्रतिफलित हैं। इनके काव्य मे जो तीव्र स्वानुभूति और व्यक्तिनिष्ठता है वह भी इसी कारण। साराश यह कि इनका जीवन और व्यक्तित्व ही प्रणयविनिर्मित था जो अत्यन्त जीवंत रूप में इनके काव्यो मे प्रतिच्छायित मिलेगा।

ये कवि काव्य की समसामयिक प्रवृत्तियो और पूर्ववर्तिनी परम्पराओं से अन-भिज्ञ रहे हो सो बात भी नही। सभी किसी न किसी सीमा तक तत्सम्बन्धी सस्कारो

में सपृक्त है किन्तु ये प्रभाव इतने जबरदस्त नही रहे है कि वे इन कवियो को अपने नियम और रूढियों के शिकञ्जो मे बाँध सकते जैसा कि रीतिबद्ध कवियो के साथ हुआ । इन कवियो का निजी व्यक्तित्व अत्यन्त प्रबल था । वे काव्य-रूढियों को छोड कर स्वनिर्मित मार्ग पर चलने के अभिलाषी थे । उन्होने काव्य-क्षेत्र में नव पथ का निर्माण किया । भाषा और शैली-शिल्प मे उन्होने अनेक नवीनताओ का विधान किया । ये कवि यह अच्छी तरह समझते थे कि काव्य मे भाव या रस-तत्व ही मुख्य होता है शैली-शिल्प तो आश्रित वस्तु है । वह साधन ही हो सकता है, साध्य नही । साधन को ही साध्य मान लेने की भूल उन्होने नही की जैसा कि आचार्य केशव सरीखे कई रीतिकार कर चुके थे । इसीलिए आप देखेगे कि भाषा-अलङ्करण आदि का आग्रह रीति-स्वच्छन्दप्रेमी कवियो मे नही मिलेगा । रसखान और ठाकुर की भाषा की सादगी अपनी उपमा आप है । घनानन्द मे व्यञ्जना की जो वक्रता है वह उनके द्वारा अनुसरित काव्य-वस्तु या प्रेम-वैषम्य के कारण । इन कवियो मे शैलीगत जो सौन्दर्य और भगिमा है वह इनके व्यक्तिगत वैशिष्ट्य के कारण ।

काव्यगत दृष्टिकोण की भिन्नता—काव्य के सम्बन्ध मे रीतिस्वच्छन्द कवियो का दृष्टिकोण रीतिबद्धो से भिन्न था । वे रीति के सँकरे पथो पर नही चलना चाहते थे, वे काव्य-मन्दाकिनी का मार्ग प्रशस्त करने के अभिलाषी थे । वे काव्य को स्वानुभूतिप्रेरित मानते थे आयासप्रसूत नही; इसी से वे रीतिबद्ध काव्य को उपेक्षा ही नही निश्चित विगर्हणा की दृष्टि से देखते थे । पिटे पिटाए ढङ्ग पर छन्द-रचना कर चलना उनकी दृष्टि में निंद्य था । परम्परागत उपमानो के विधान मात्र मे (जो उस काल की कविता की प्रधान प्रवृत्ति थी) कवि और काव्य की असार्थकता थी इसी से ठाकुर ने काफी खीझ के साथ उस युग के रीतिबद्ध कवि को फटकारा है—

सीख लीन्हों मीन मृग खजन कमल नैन,
सीख लीन्हों यश औ प्रताप को कहानो है ।
सीख लीन्हों कल्पवृक्ष कामधेनु चिंतामणि,
सीख लीन्हों मेरु औ कुबेर गिरि आनो है ।
ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बातु,
याको नहीं भूल कहूँ बाँधियत बानो है ।
डेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच
लोगन कबित्त कीबो खेल करि जानो है ।। (ठाकुर)

काव्य के महत्तर लक्ष्य से अनवगत उसके साथ खिलवाड़ करने वाले कवियो और उनकी आने वाली पीढ़ियो पर इस फटकार का अच्छा प्रभाव पड़ा । रतिकाल में तो यह अभिनव पथानुधावन हुआ ही आधुनिक काल मे आकर रीति से ऊबे हुए कवियों ने काव्य-क्षेत्र में सर्वथा नवीन पथ का अनुसरण किया । भारतेन्दु काल में और

उसके बाद स्वच्छन्दता का झण्डा फहराने वाले कवियो मे श्रीधर पाठक, राय देवी प्रसाद पूर्ण, सत्यनारायण 'कविरत्न', रामचन्द्र शुक्ल, मन्नन द्विवेदी, बदरीनाथ भट्ट, रामनरेश त्रिपाठी और मुकुटधर पाण्डेय अग्रगण्य हैं।[1] दूसरे खेवे के छायावादी कवियो मे भी रीतिकालीन रूढियो के प्रति जो उग्र विद्रोह-भाव है वह पत के पल्लव की भूमिका मे तीव्रतम रूप मे निर्दशित है। कविवर घनानन्द ने अपनी काव्य-प्रवृत्ति का क्रमागत एवं समसामयिक काव्य-प्रवृत्ति से पार्थक्य इन शब्दो मे घोषित किया है—

नीछन ईछन बान बखान सों पैनी दसाहि लै सान चढावत।
प्रानि प्यास भरे अति पानिप मायल घायल चोप चढावत।।
है घन आनन्द छावत भावत जान सजीवन ओर ते आवत।
लोग हैं लागि कवित्त बनावत मोहिं तौ मेरे कवित्त बनावत।। (घनानन्द)

उन्होने स्पष्ट कह दिया कि कवित्त-रचना मेरा साध्य नही, वह साधन मात्र है। साध्य तो महत्तर है। इसी प्रकार मेरे काव्य की प्रेरणा भी सघन और तीव्र है। सुजान के प्रति मेरा उत्कट प्रेम और तीव्र व्यामोह, उसके लिए मेरे प्राणो की जो तृषा है वही मेरे काव्य मे काति का सृजन करती है। जाहिर है कि कवि-काव्य किसे कहते है, उनकी काव्यविषयक धारणा कितनी उन्नत है। इसके विपरीत इसी युग के रीतिबद्ध शीर्षस्थ कवियो ने कितनी तुच्छतर सिद्धियो मे ही काव्य की सिद्धि मान ली थी—

क—जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिन न विराजई कविता बनिता मित।। (केशवदास)

ख- सेवक सियापति कौं सेनापति कबि सोइ।
जाकी द्वै अरथ कविताई निरवाह की। (सेनापति)

ग—दूषन कौ करि कै कबित्त बिन भूषन कौं
जो करै प्रसिद्ध ऐसो कौन सुरमुनि है। (सेनापति)

घ—राखति न दोषै पोषै पिंगल के लच्छन कौं
बुध कवि के उपकंठ ही बसति है।
जोए पद मन कों हरष उपजावति है
तजै को कनरसै जो छन्द सरसति है।। (सेनापति)

ङ—बानी सौं सहित सुबरन मुँह रहैं जहाँ
धरति बहुत भाँति अरथ समाज कौं।
संख्या करि लीजै अलंकार हैं अधिक यामैं
राखौ मति ऊपर सरस ऐसे साज कौ।। (सेनापति)

[1]. श्रीधर पाठक तथा हिन्दी का पूर्व स्वच्छन्दतावादी काव्य—डा० रामचन्द्र मिश्र

स्वच्छन्द कवियो ने साधन को साध्य समझ बैठने की भूल न की। अलकृति मे ही काव्य की सफलता है ऐसा न उन्होने न कभी कहा न कभी माना जैसा कि सेनापति, केशव आदि ने स्वीकार किया है। काव्य की चित्तहारिणी शक्ति मे ही उन्होने कवित्व का अधिवास माना। और काव्यगत यह चित्तहरण शक्ति यमक, अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा के विधान द्वारा प्राप्य नही, इसका उद्‌गम तो तीव्र अनुभूतियों का कोष उनका अन्तस्तल ही था। स्वछन्द काव्य की इसी विशिष्टता को लक्ष्य करके आचार्य प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने कहा है—'स्वच्छन्द काव्य भाव-भावित होता है, बुद्धिबोधित नही, इसलिए आन्तरिकता उसका सर्वोपरि गुण है। आन्तरिकता की इस प्रवृत्ति के कारण स्वच्छन्द काव्य की सारी साधन सपत्ति शासित रहती है और यही वह दृष्टि है जिसके द्वारा इन कर्त्ताओ की रचना के मूल उत्स तक पहुँचा जा सकता है। ··· ····रीति काव्य के कर्त्ताओ का मूल आधारभूत तत्व है भंगिमा। स्वच्छन्द कर्त्ता मे भगिमा कही कदाचित न भी हो, पर अनुभूतिशून्य उसकी रचना नही हो सकती। रीतिकर्त्ता मे अनुभूति चाहे न भी हो, पर भगिमा अवश्य रहेगी। ······ ··अनुभूति मे बाहरी आकर्षण न भी हो तो भी वह हृदय खीच लेती है। अनुभूति हृदय से उठती है, हृदय को आकृष्ट करती है।'[1] इस हृदय, भाव या अनुभूति-तत्व को ही रीतिमुक्त काव्य मे प्रधान स्थान प्राप्त हुआ है, अलकरण या भगिमा को जो बुद्धि एवं कल्पना की उपज है गौण स्थान दिया गया है। ऐसा नही होने पाया है कि भगिमा या अलंकृति (बुद्धि तत्व) को स्वच्छन्द काव्य-क्षेत्र से खदेड दिया गया हो, उसे रहने दिया गया है किन्तु भाव या अनुभूति (हृदय तत्व) के आधीन बना कर। रीति-काव्य मे तो बुद्धि (भगिमा या अलंकृति) को पट्ट महिषी का पद प्राप्त हुआ था हृदय (भावानुभूति) को अधीनस्थ दासी का पद किन्तु रीतिस्वच्छद काव्य मे क्रम उलट गया है, चेरी (हृदय) रानी हो गई है और रानी (बुद्धि) चेरी—

रीझि सुजान सची पटरानी बची बुधि बावरी ह्वै करि दासी।

ये कवि भावावेग मे रचना किया करते थे, भाव के ऐसे आवेग मे जिसके सामने काव्य-रीति, कुल-मर्यादा, लोक-लाज सभी के बन्धन टूट जाया करते थे। उनका तो कहना था कि बंधन और मर्यादा के चक्कर मे पडना हो तो इस पथ पर पॉव मत रक्खो—

लोक की भीत धरा धरो मीत तो प्रीति के पैंडे परो जनि कोऊ। —बोधा

सच बात है, काव्य और प्रेम जगत के इस अभिनय-पंथ पर बहुतों ने पाँव नही दिया, इस पथ पर आने वाले थोड़े ही थे चुने हुए किन्तु सच्चे जवाँमर्द। प्रेम की पीर मर कर नही जीवित रह कर झेलने वाले—

---

[1] घनानन्द और स्वच्छन्द काव्य धारा परिचय पृष्ठ ५, डा० मनोहर लाल गौड़ (सं०२०१२)

मरिबो बिसराम गनै वह तौ यह बापुरो मीत-तज्यौ तरसै।
वह रूप छटा न सहारि सकै यह तेज तवै चितवै बरसै ।।
घन आनन्द कौन अनोखी दसा मति आवरी बावरी ह्वै थरसै ।
बिछुरे-मिलैं मीन-पतंग-दसा कहा मो जिय की गति कौं परसै ।।

जीते जी मृत्यु को वरण कर लेने वाले जैसे घनानन्द, कुल और धर्म को तिलांजलि दे देने वाले रसखान और बोधा। ये कवि काव्य-रीति को पकड कर भला क्या चलते ! इन स्वच्छन्द कवियो के काव्य का क्या आदर्श था उसके परखने की कसौटी क्या है इसे घनानन्द के कवित्तो के सग्रहकर्त्ता ने बहुत मर्मज्ञता से व्यक्त किया है। उन्होने कहा है कि घनानन्द सरीखे निर्बन्ध प्रेमी के गूढ प्रेमभावभरित काव्य को समझने मे साधारण व्यक्ति समर्थ नहीं। उसे तो प्रेम की तरगिणी मे भली भाँति डूबा हुआ व्यक्ति ही समझ सकता है। फिर उस व्यक्ति को ब्रजभाषा का भी अच्छा जानकार होना चाहिए और नाना प्रकार के सौन्दर्य-भेदो से भिज्ञ भी। उसे संयोग और वियोग की स्थितियो एवं असख्य अतवृंत्तियो को समझने की शक्ति-संपन्नता भी अपेक्षित है। किन्तु इन सारी विशेषताओ से भी विशेष जो विशेषता उसमे होनी चाहिए वह यह कि उस काव्यरसास्वादक का हृदय अहर्निशि प्रेम के तरल रग मे सराबोर होना चाहिए तथा वियोग और सयोग दोनो स्थितियो मे अतृप्त और अशात रहने वाला होना चाहिए और चित्त का स्वच्छन्द, निर्बन्ध होना चाहिए तभी वह घनानन्द के काव्य के मर्म तक पहुँच सकता है—

नेही महा ब्रज भाषा प्रबीन औ सुन्दरतानि के भेद को जानै ।
जोग वियोग की रीति मैं कोविद, भावना भेद स्वरूप कौं ठानै ।।
चाह के रंग मैं भीज्यौ हियौ, बिछुरें-मिले प्रीतम सांति न मानै ।
भाषा प्रबीन, सुछन्द सदा रहै, सो घन जो के कवित्त बखानै ।। (ब्रजनाथ)

जिसने चर्म-चक्षुओ से नही अतश्चक्षुओं से, हृदय की आँखो से प्रेम की पीडा देखी हो, सही हो, वही घनानन्द की कृतियो मे अतर्व्याप्त वेदना का मर्म समझ सकता है, मात्र शास्त्रज्ञान-प्रवीणता से काम चलने वाला नही। जिसके हृदय की प्रणाली खुली है वह घनानन्द की रचना को अन्य साधारण अथवा रीतिबद्ध कवियो की रचना मात्र समझ कर रह जाएगा —

जग की कविताई के धोखे रहै ह्याँ प्रबीनन की मति जाति जकी ।
समुझै कविता घन आनंद की हिय-आँखिन नेह की पीर तकी ।। (ब्रजनाथ)

भावावेग या भाव-प्रवणता—इस प्रकार स्वच्छन्द धारा के कवियों की पहली विशेषता जहाँ काव्यगत दृष्टिकोण मे देखी जा सकती है वही उनकी दूसरी प्रमुख विशेषता उनके काव्य मे प्राप्य भावावेग अथवा भाव-प्रवणता में देखी जा सकती है। कवित्व उनका साध्य न था अतःकरण की भाव-राशि को मुक्त भाव से उडेल देने

मे ही उनकी तृप्ति थी। ये ही कवि ऐसे थे जो हृदय की मुक्तावस्था प्राप्त कर रसदशा को पहुँचा करते थे। काव्य-रचना करते हुए ये आत्मविभोर हो जाया करते थे। इस रस-दशा को प्राप्त कर उनकी वाणी स्वतः भगिमामयी हो जाती थी। अतश्चेतना की ऐसी द्रवीभूत स्थिति की व्यजना सीधी भाषा मे सम्भव भी न थी इसलिए इन स्वच्छन्द कवियो की भाषा-शैली मे जो बाँकपन है वह सहज और अनायास है उसके लिए इन्हे माथापच्ची नही करनी पडी है। इसीलिए उसमे नव्यता है पिष्टपेषण अथवा चर्वित-चर्वण नही। उनकी काव्य-विभूति की सुषमा नैसर्गिक है आभ्यतरिकता से सपृक्त। इन कवियो की इसी विशेषता को लक्ष्य कर आचार्य प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने लिखा है—'ये वासना से पकिल राजाओ के मानस का रजन करने वाले चाटुकार नही थे। ये अपनी उमग के आदेश पर थिरकने वाले थे।........जग के कवि काव्य के बहिरग में ही लिपटे रह गए, उसके अतरग मे प्रविष्ट नही हुए। इसी से 'स्वच्छन्द कवि' हृदय की दौड के लिए राजमार्ग चाहते थे, रीति की सँकरी गली मे धक्कम-धक्का करना नही। ये कविता की नपी-तुली नाली खोदने वाले न थे। ।ये काव्य का उत्स प्रवाहित करने वाले या मानस-रस का उन्मुक्त दान देने वाले थे। पश्चिमी समीक्षको के ढग से कहे तो रीतिबद्ध कर्ता की कृति चेतनावस्था (Conscious state) मे गढी जाती थी और रीतिमुक्त कर्ता की कविता अतःसज्ञा (Subconscious state या unconscious state) मे लीन हो जाने पर आप से आप उद्भूत होती थी।.... रीतिमुक्त कवि का काव्यस्रोत स्वतः उद्भावित होता था। रीतिबद्ध कवि की काव्य-प्रणाली उसकी बुद्धि के सकेत पर टेढे-सीधे मार्ग पर बहती थी, पर रीतिमुक्त या स्वच्छन्द कवि अपनी भाव-धारा मे स्वतः बह जाता था। इस प्रकार दोनो का अन्तर स्पष्ट है।'[1]

अननुभूत वस्तु या विषय मे कवि सामने नही आया करते थे। जो सासारिक सत्य, जीवनगत तथ्य, भावगत अनुभूतियाँ इनकी अपनी हुआ करती थी, इनका काव्य उसी से निर्मित होता था। पराई अनुभूतियाँ, पराए भाव, पराई उक्तियाँ इनमे नही। रीति से लगे-लिपटे कवियो मे जहाँ-तहाँ चोरी की बात बहुत थी। भाव का अपहरण, भाषा की चोरी ये सब चलती थी। सस्कृत कवियो की कितनी ही उक्तियाँ, कल्पनाएँ, भाव, हिन्दी कवियो ने चुराये, विशेषकर रीतिबद्धो ने। बिहारी, देव, केशव सरीखे प्रतिभावान कवियो तक ने ऐसा किया फिर औरों की तो बात ही क्या। ये चोरी छोटे कवि आपस मे भी कर लिया करते थे। सेनापति सदृश मेधावी और प्रतिभा-सम्पन्न कवि को तो इस साहित्यिक चोरी का ऐसा भय था कि उन्हे हर छद मे अपना नाम रखना पड़ा और बार-बार कहना पड़ा—

---

[1]घनानन्द ग्रन्थावली : वाङ्मुख, पृ० १३-१४

सुनु महाजन चोरी होति चारि चरन को
तातैं 'सेनापति' कहै तजि करि ब्याज कौं।
लीजियौ बचाई ज्यों चुरावै नाहिं कोई सौंपो
बित्त की सी थाती मैं कवित्तन की राज कौं।।[२] (सेनापति)

किन्तु रीति स्वच्छन्द धारा के किसी भी कवि को इस प्रकार डरने की आवश्यकता न थी। उन्हे कविता लिखकर कुछ धन या कीर्ति कमाना न था, कोई उनका ऐहिक लक्ष्य न था। उनकी कविता उनके हृदय का भार हल्का करने वाली थी, उनका दुख-दर्द मिटाने वाली थी, उनकी तडप और टीस को राहत देने वाली थी। वह स्वानुभूति-निरूपिणी थी। औरो से उन्हे क्या लेना-देना इसलिए उनकी कविता भी औरो के लिए न थी। औरो को उनकी अनुभूति से राहत मिलती हो, रसोपलब्धि हो जाती हो वह बात अलग पर वह उनका लक्ष्य न था। अपनी कविता से वे अपना संस्कार कर लिया करते थे, अपनी प्यास बुझा लिया करते थे—

लोग है लागि कवित्त बनावत मोहि तौ मेरे कवित्त बनावत। (घ० आनन्द)

व्यक्तिवैशिष्ट्य—भाव-वेगमयी कविता लिखने के कारण रीतिमुक्त कवियो के काव्य मे जो व्यक्तिवैशिष्ट्य आ गया है वह भी इन कवियो की एक प्रमुख विशेषता है। ठाकुर, बोधा, रसखान, घनानन्द आदि की कविता सहज ही पहचानी जा सकती है। इनकी रचनाओ से यदि इनके नाम निकाल भी दिये जायँ तो भी काव्य-पाठक इनकी वृत्ति, भावानुभूति और अभिव्यक्ति पद्धति के वैशिष्ट्य के कारण इनको पहचानने में भूल नही करेगा। इसके विपरीत रीतिबद्ध या 'रीतिसिद्ध काव्य-कारो की सैकडो की संख्या के बीच बिहारी, भूषण, मतिराम, पद्माकर आदि कुछ ही कवि ऐसे मिलेंगे जिन्हे उनकी व्यक्तिगत विशेषता के कारण पहचाना जा सकता है। शेष सैकड़ो कवि ऐसे मिलेंगे जिनकी रचना को (नाम निकाल देने पर) पृथक करना असम्भव ही है, क्योकि उनमे वृत्ति और शैलीभेदजन्य विशेषता है ही नही। उनका व्यक्तित्व और उनकी रचना-शैली इतनी आवेगमयी न थी जिससे काव्य-पटल पर उनकी निजी लीक खिच सकती। एक दूसरा भी कारण था। ये कवि सुनिश्चित लीको पर चले फलतः नवीनता-विधान की गुञ्जाइश ही कहाँ। कवि शिक्षा के ग्रथ पढ-पढकर उन्हे नये मार्गो पर चलना तो दूर सोचने की शक्ति भी शेष न रही थी। अधिकाश तो अलकार और नायिकाभेद विषयो पर लक्षणोदाहरण प्रस्तुत कर देने मे ही कवि-कर्म की इयत्ता समझने लगे थे। फलतः एक-सी उक्तियाँ, एक-से वर्णन, एक सी विशेषताएँ अधिकाश कृतियो मे उत्पन्न हुई। किसी ऋतु अथवा नायिकाविशेष के वर्णन से सम्बन्धित पचीस भिन्न कवियो के छन्द एकत्र कर लीजिये और उपर्युक्त कथन बिना विशेष श्रम के सिद्ध हो जायगा। ऋतुगत वे ही वर्ण्य अथवा उपकरण, नायिका विशेषगत वे ही बाते थोडे हेर-फेर से लगभग सभी छदो मे मिलेगी। कही-

[२] कवित्त रत्नाकर : पहली तरंग छन्द स० १०

कही तो उक्ति, शब्दावली और अलङ्कृति तक का साम्य मिल जायगा। इसका कारण यह नही कि सभी कवियो ने अनिवार्य रूप से भाव अथवा उक्ति का अपहरण किया वरन् यह कि उनके सोचने की दिशाएँ इतनी निर्दिष्ट हो चली थी, विचार या कल्पना-जगत इतना सकुचित हो चला था कि वे उस काव्य-परम्परा से इतर दिशाओ मे अपनी दृष्टि और कल्पना को दौडा सकने मे असमर्थ थे जिसका पठन-पाठन वे नियमित रूप से करते आते थे। विशद साहित्यिक अध्ययन अनुशीलन की न तो वर्तमान युग-सी उस युग मे क्षुधा थी और न सुविधा। प्रतिभाये थी किन्तु 'गाडर की जाति' की भाँति एक ही पथ पर अधानुसरण करने वाली। रीतिमुक्त कवियो मे ये अन्धानुकरण न था। उनका अपना जीवन था, अपना जगत था। प्रेम की अपनी अनुभूति थी और वृत्ति का अपनापन था। इसीलिए उनके काव्य का वस्तु-जगत, कल्पना-जगत और शिल्प-जगत विशद और विस्तृत है, रीति से मुक्त और निरपेक्ष है। और इसी कारण उनमे व्यक्ति-वैशिष्ट्य का विशेष विकास भी लक्षित होता है। दोटूक बात कहने मे बोधा अपना सानी नही रखते, लोकोक्तिगर्भित प्रवाहपूर्ण भाषा लिखने मे ठाकुर अपनी मिसाल नही रखते, प्रीतिविषमता का अनुभूति-प्रवण-चित्रण और विरोधाश्रित भाषा-शैली का चमत्कार दिखाने मे घनानन्द की समता कहाँ और उन्मादिनी परानुरक्ति का रसखान-सा मरम सरल चितेरा दूसरा कहाँ! अपनी इसी निजता के कारण ये कवि हिन्दी की काव्य-सपदा के संवर्धक और रीतिबद्ध काव्यकाल मे एक अभिनव प्रेम-धारा के प्रवाहक हो गए है।

काव्य सम्प्रदायानुसरण से विरत—रीतिमुक्त कवियो ने किसी काव्य सम्प्रदाय का अनुसरण नही किया। ठाकुर, बोधा, घनानन्द आदि काव्यरीतियो से अनभिज्ञ नही थे इसके पर्याप्त सकेत उनके काव्यो मे मिलते है[1] पर इन्होने काव्य को

---

१. सीखि लीनो मीन मृग खजन कमल नैन,
सीखि लीनो जस औ प्रताप को कहानी है।
डेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीबो खेलकरि जानी है॥ (ठाकुर)

मोतिन कैसी मनोहर माल गुहै तुक अच्छर जोरि बनावै।
प्रेम को पंथ कथा हरिनाम की बात अनूठी बनाइ सुनावै॥
ठाकुर सो कवि भावत मोहि जो राजसभा में बडप्पन पावै।
पण्डित लोक प्रवीनन को जोइ चित्त हरै सो कवित्त कहावै॥ (ठाकुर)

लोग हैं कवित्त बनावत, मोहिं तो मेरे कवित्त बनावत। (घनानन्द)

उर भौन मैं मौन को घूँघट कै दुरि बैठी बिराजति बात बनी।
मृदु मंजु पदारथ भूषन सों सुलसै हुलसै रस रूप-मनी॥
रसना-अली कान-गली मधि है पधरावति लै चित्त-सेज ठनी।
घन आनँद बूझनि अंक बसै बिलसै रिझवार सुजान धनी॥ (घनानन्द)

किसी परिपाटी विशेष पर नही चलाया। सस्कृत साहित्य मे प्राप्य विविध काव्य-दर्शनो—अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि—का विवेचन, निरूपण या अनुसरण इन्हे इष्ट न था। रस, अलंकार, छद, दोप, वृत्ति आदि काव्यागो और नायिकाभेद आदि विषयो पर ग्रन्थ-रचना करना रीतिबद्धो के लिए जरूरी था परन्तु इनके लिए सर्वथा अनभीष्ट था। ऐसी वृत्ति वालो की तो इन लोगो ने भर्त्सना की है। ये कवि लीक छोड़ कर चलने वाले सपूतो मे थे। रीतिशास्त्र के ग्रन्थ लिखकर राजाओ को कविशिक्षा देना या आचार्य की पदवी प्राप्त करना या कविता के दंगल मे अपनी प्रतिष्ठा जमाना इनका लक्ष्य न था। ऐसे उद्देश्यो से ये कोसो दूर थे। चित्तहारिणी काव्य-सृष्टि द्वारा अपने मन के भार को हल्का करना, आत्माभिव्यक्ति करना, आत्म-प्रसार और आत्म-विकास मे प्रवृत्त होना यही इनका लक्ष्य था।

दरबारदारी से दूर—यश, पद और धन की लिप्सा इन्हे न थी। इन्होंने इसीलिए दरबारो की सेवा न की। जिन्होने की भी वे अधिक दिन वहाँ टिक न सके, बस अपनी इसी वृत्ति के कारण। रीतिमुक्त कवियो को दरबारी कवि नही कहा जा सकता। दरबारदारी और स्वच्छन्दता का सहज विरोध है। ये अपने आश्रयदाता के यहाँ टुकडे तोडने वाले और उनकी प्रशस्ति मे अपनी प्रतिभा का अपव्यय करने वाले कवि न थे। ठाकुर, घनानंद और बोधा ने तो राज्याश्रय को ठोकर मारकर अपने चित्त की स्वच्छन्दता का परिचय दिया था। बोधा तो यह कह कर कि **जो धन है तो गुनी बहुतै अरु जौ गुन है तौ अनेक है गाहक** अपने आश्रयदाता महाराज क्षेत्रसिह की राजसभा छोडकर चले गए थे। इन स्वच्छन्द वृत्ति के कवियो का स्वाभिमान अछोर था। बोधाकवि तो अपनी ऐंठ मे यहाँ तक कह गए—

> **होय मगरूर तासो दूनी मगरूरी कीजै,**
> **लघुता ह्वै चलै तासों लघुता निबाहिये।**
> **दाता कहा सूर कहा सुन्दर प्रबीन कहा,**
> **आपको न चाहै ताके बाप कों न चाहिये॥ (बोधा)**

यही हाल घनानद का था, वे मुहम्मदशाह रँगीले के मीरमुशी तो थे परन्तु उनका काव्य और सगीत शाह की इच्छा का गुलाम न था। वह उनकी अपनी मर्जी की चीज थी। अपनी इसी वृत्ति के कारण वे उनके राज्य मे अधिक दिन न ठहर सके। मन की यह मर्जी और ठसक रीतिबद्ध काव्यकारो मे विरल थी। वे अपने आश्रयदाता से विरोध ठानते या उनकी मरजी के खिलाफ चलने बहुत कम देखे गए। रसखान तो बादशाह वश के थे पर अपनी वृत्ति की स्वच्छन्दता के ही कारण वे सारी वशानुगत ठसक छोडकर वृन्दावन चले आए थे अथवा वहाँ के गोपाल बन गए थे। द्विज देव भी अयोध्याधिपति (महाराज मानसिह) थे, उनका भी यही हाल था। स्वच्छन्द प्रेमी बनने में जो आनद था वह राजभोग मे कहाँ। उन्हे राधा और कृष्ण तथा उनके प्रेम

ने असाधारण रूप से मुग्ध किया था । नागरीदास ऐसे भक्त और स्वच्छन्द प्रेमी इसी कोटि के कवि हो गए है । जैसा कह आए है ये कवि अपने हृदय की उमग पर थिरकने वालो मे थे, किसी आश्रयदाता के आदेश पर नृत्य करने वाले नही । ये प्रेम पर मर मिटने वाले थे, स्वाभिमान को रौद कर जीने वाले नही । यही कारण है कि किमी रीतिमुक्त कवि ने अपने आश्रयदाता की प्रशस्ति मे कोई काव्य नही लिखा है । परिस्थिति के सघात से उन्हे दरबार मे भले ही शरण लेनी पडी हो परन्तु अपनी स्वच्छन्द वृत्ति के कारण वे वहाँ ठहर नही सके है ।

प्रबंध-रचना की प्रवृत्ति—रीतिमुक्त काव्यकारो मे एक अन्य विशेषता यह भी लक्षित होती है कि उनकी प्रवृत्ति प्रबध-रचना की ओर भी थी । ऐसा तो नही था कि सूफी आख्यानक काव्यकारो की भाँति इन कवियो ने अनिवार्य रूप से या सिद्धान्त रूप से प्रबन्ध-रचना की हो परन्तु इतना अवश्य है कि अपने भाव मे निमग्न हो ये विशद प्रबन्ध भी लिखने मे समर्थ होते थे । आलम के नाम से तीन प्रबन्ध काव्य कहे जाते है । १—सुदामा-चरित्र, २ - श्याम सनेही, ३—माधवानल कामकदला । सुदामा चरित्र मे तो नरोत्तमदास वाली कथा है, श्याम सनेही मे रुक्मिणी के विवाह की सुप्रसिद्ध कथा है तथा 'माधवानल कामकदला' प्राकृतकालीन प्रसिद्ध कथा को लेकर लिखी गई है । इसी कथा को और भी अधिक विस्तार के साथ आगे चल कर बोधा ने 'विरहवारीश' नाम से लिखा । घनानन्द ने कोई विस्तृत प्रबन्ध नही लिखा किन्तु उनकी कुछ कृतियाँ प्रबन्ध नही तो निबन्ध काव्य की कोटि मे आ जायँगी जैसे गिरि-पूजन, यमुना यश, वृषभानुपुरसुषमावर्णन, गोकुल गीत आदि । ब्रज व्यवहार मे प्रबधात्मकता का भी थोडा विकास देखा जा सकता है ।' यद्यपि इन कवियो की भी मूल वृत्ति मुक्तक अथवा स्फुट रचना की ओर ही विशेष थी फिर भी प्रबन्ध की दिशा मे इनके उपर्युक्त प्रयत्न नजरन्दाज नही किये जा सकते । रीतिबद्ध कवियो की रचनाएँ तो अधिकाशतः लक्षणो को चरितार्थ करने वाले उदाहरण के रूप मे लिखित है फलतः उन्होंने मुक्तको के ही ढेर लगाए । प्रबन्ध-रचना की ओर वे न बढे । प्रबध की रचना उन्होंने यदि की भी तो अधिकाशत· वीरगाथाओ की शैली पर आश्रयदाताओ की प्रशंसा करते हुए जैसे वीर सिह देवचरित, हिम्मत बहादुर विरुदावली आदि । यदि रीतिबद्ध कवि लक्षणानुधावन और रूढि का पथ छोडकर काव्य रचना मे लगे होते तो सभव है कुछ शक्तिशाली प्रबध ग्रथ भी लिखे जाते । केशवदास ने कुछ प्रयत्न किया भी पर रीति से उनका मस्तिष्क इतना बोझिल था कि रामचन्द्रिका स्वतः काव्य रीति के नाना अगो—छन्द, अलकार, ऋतु वर्ण्य आदि के उदाहरणो का विशाल सग्रह-सा बन गई है । प्रबंध तत्व तो उसमे शिथिल है ही । रीतिमुक्तो के जो दो-चार प्रयत्न इस दिशा मे हैं वे रीति का मार्ग छोडकर चलने के ही कारण । एक दूसरा भी कारण था जिससे प्रबध काव्य की ओर रीतिमुक्त कवियो की दृष्टि किसी सीमा तक गई वह

था कृष्ण-चरित्र के उत्तरवर्ती अश का ग्रहण जैसे सुदामा-चरित्र और श्यामसनेही मे। कृष्ण का प्रारभिक जीवन, उनकी बाल-लीला, शैशव क्रीडा, किशोर जीवन, गोकुल, ब्रज और वृन्दावन का माधुर्यपूर्ण आख्यान प्रबध की धारा के लिए उपयुक्त नही पडता इसी से हिन्दी साहित्य के समूचे मध्ययुग मे लगभग ४५० वर्षो के साहित्य मे कृष्ण के प्रारम्भिक जीवन से संबधित प्रबध ग्रन्थो का नितात अभाव है। नददास कृत रूपमजरी, भँवर-गीत और रास पचाध्यायी अपवाद स्वरूप ही है। इस अश के सविस्तार किन्तु स्फुट वर्णनो से तो समूचा रीतिकालीन काव्य भरा पडा है। स्वच्छन्द कवियो के प्रबध ग्रथ सूफी आख्यानक काव्यो से स्वतत्र और भिन्न शैली मे लिखे गए है—जैसा कि प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी स्वीकार किया है—'माधवानल कामकदला शुद्ध भारतीय प्रेमकाव्यो की परपरा मे दिखाई पडती है। सूफी प्रेम-काव्यो मे कल्पित कथाओ पर या कही-कही कुछ ऐतिहासिक आधार से भी युक्त होकर जैसी रहस्यमयी कृतियाँ लिखी गई उनसे यह सर्वथा भिन्न है। बोधा ने भी माधवानल कामकदला-चरित्र या विरह वारीश प्रस्तुत किया पर उसमे भी सूफी प्रेमाख्यानो की भाँति रहस्यदर्शी पक्ष का समावेश नही है। अर्थात कोई समासोक्ति, अन्योक्ति वा अन्यापदेश (Allegoıy) नही हैं—भले ही उसमे सूफी इश्कमजाजी और इश्कहकीकी की चर्चा हो पर काव्यवस्तु मे अध्यवसान का विधान नही हुआ है। इस प्रकार स्वच्छन्द प्रेम के वृत्तो के ग्रहण द्वारा इस काव्य-धारा मे प्रबध की प्रवृत्ति के स्फुरण का भी सकेत मिलता है, जो रीतिबद्ध कवियो के बाँटे किसी प्रकार भी नही आ सकता था। आलम के अन्य ग्रथ पौराणिक या ख्यात वृत्त लेकर चले है। उनमे भी प्रेम के स्वच्छन्द और व्यापक रूप के ग्रहण का आभास स्पष्ट है।'[1]

देश के पर्वों एवं त्यौहारों का उल्लासपूर्ण वर्णन—रीतिमुक्त शृगार-काव्य की एक अन्य विशेषता है देश के पर्व एव त्यौहारो का उल्लासपूर्ण वर्णन। रीति से बँधे कवियो की दृष्टि उधर न जा सकी। शास्त्रबद्ध विषयो से बाहर उन्होंने कदम नही बढाया फलतः लोक जीवन मे हर्ष और आनद का जो स्रोत विभिन्न पर्वों एवं त्यौहारो पर ग्रामनिवासियों की मनोभूमि मे उच्छलित एव प्रवाहित होता था उसका स्वरूप वे कवि सामने न ला पाए। यह कार्य ठाकुर और बोधा सरीखे सहृदयो के लिए ही शेष रह गया था। ठाकुर के काव्य मे तो बुन्देलखण्ड में प्रचलित त्योहारो का वर्णन विशेष मनोयोग से हुआ है जैसे गनगौर, अखती, हरयाली तीज, बरगदाई (बटसावित्री), होली, झूला आदि। रीतिस्वच्छन्द काव्यकारो की इस विशेषता का उद्घाटन करते हुए आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है—"स्वच्छन्द दृष्टि ने देश के आनन्दोल्लास मे भी इन कवियो को सलग्न किया। वसत वर्णन के अतर्गत

---

[1]. घनानंद ग्रंथावली स० २००६. वाङमुख पृ० ४५ स० २००६

होली के त्यौहार का उल्लेख करने के आगे रीतिबद्धकर्ता नही बढे। गुलाल की गरद और केसर की कीच तक ही वे रह गए। इन त्यौहारो का चित्र उपस्थित करने की ओर इनकी दृष्टि स्वाधीनता के साथ प्रसरित न हुई। ठाकुर ने अपनी रचना मे बुन्देलखण्ड के आनदोल्लासमय जीवन के कुछ चित्र रखकर देश के इस सास्कृतिक वैभव की ओर भी लोगो की दृष्टि खीची। हम तो अपने नागरिक जीवन के अभिमान मे अपना प्राचीन संस्कार भी खोते जा रहे हैं। नगरो मे त्यौहारो का वह उल्लासमय रूप सामने नही आता जो भारत के जीवन का प्राण रहा है। गाँवो मे इस दृष्टि से अपने जीवन का रूप अच्छा और रमणीक दिखाई देता है। जो प्रांत या प्रदेश नागरिक जीवन की पकिलता से दूर या विच्छिन्न हैं उनमे अब भी देश की इस विभूति के बड़े भव्य दर्शन होते है। बुन्देलखंड मे हमारा जीवन-खड अपने प्राचीन रूप मे अब भी बहुत-कुछ सुरक्षित है। ठाकुर कवि ने उस उल्लासमय जीवन में से अखती, गनगौर, वटसावित्री (बरगदाई) होली आदि के बडे ही प्रभावुक चित्र सामने किये है। रीति-बद्ध 'कवियो' मे से किसी-किसी ने बुन्देलखड से संबध होने के कारण 'गनगौर' का उल्लेख भर कर दिया है, जैसे पद्माकर ने, पर उसका चित्र उपस्थित करने की अभि-रुचि नही दिखाई है। काव्यशास्त्र मे इन त्योहारो का उल्लेख तो है नही, फिर रीतिबद्ध कवि इनका अभिनन्दन करने क्यो दौडते।"[1] ठाकुर द्वारा अखती (अक्षय तृतीया, बैशाख शुक्ल तीज) का वर्णन देखिए। यह हिन्दू स्त्रियो के लिए व्रत एव पूजन का एक महत्वपूर्ण पर्व है। इस दिन बुन्देलखड मे किसी वटवृक्ष के नीचे स्त्रियाँ पुत्तलिका पूजन करती है। पुरुष भी सजधज कर पूजन देखने जाते है। पूज-नोपरात पुरुष स्त्रियो से उनके प्रेमियो और स्त्रियाँ पुरुषो से उनकी प्रेमिकाओ का नाम पूछती हैं। लज्जा और स्नेह के कारण जब नाम लेने मे संकोच और विलब होने लगना है तो वे एक दूसरे को गुलाब या चमेली की सुकोमल छडियो से मारते है—

> **गाँठ गठीली चमेली की बोदर[2] घालो न कोऊ अनूतरी कैहै।**
> **ऊसई नाम लेवाओ तो लेहैं पै घाले ते लाल कहा रस रैहै॥**
> **ठाकुर कंज कली सी लली बलि या जड़ चोट सरीर न सैहै।**
> **बाल कहै कर जोर हहा यह बोदर लाल हमै लगि जैहैं।** (ठाकुर)

इसी प्रकार बोधा ने वैवाहिक सस्कार का कैसा हृदयग्राही चित्र माधवानल कामकदला मे अकित किया है—

> **अँगन लिपाय दिवाल पुताई। जरकसमय बखरी सब छाई।**
> **जातरूप मय कलश सँवारी। चित्र सहित बहुधा छबिवारी॥**
> **हरित बाँस मन्डप शुभ साजा। जामुन पल्लव छाय बिराजा।**

× × × × ×

---

1. वही पृ० ४६।
2. फूल की छडी।

गौरि थापि माये सब साजी। करैं श्रृङ्गार नारि रत राजी।
मोद भरी मंगल सब गावैं। एकै तीया तेल चढ़ावैं॥
एकै बनिता तपै रसोंई। हरबर हरबर सब ठाँ होई।
कुटुम्ब बुलाय जमा सब कीन्हों। मडम भोग सबहि कहँ दीन्हों॥
भोर मायनो फेर रसोंई। दरोबस्त बस्ती कहँ होई॥
तीयन हरदी तेल चढ़ायो। नगर मध्य नाऊ फिरवायो।
बरन अठारह सब पुरवासी। पंगत बैठी देव सभा सी॥
बरन बरन पंगत सब न्यारी। जेंवत खोवा, पुरी सुहारी॥
दूजे पुन सब कुटुँब बुलायो। बरा भात मँड़वा को खायो॥ (बोधा)

हिन्दू जीवन का यह परम व्यामोहक सस्कार बडी मनोहरता से बोधा के काव्य मे सचित्र हुआ है। जन जीवन के ऐसे मर्मस्पर्शी-प्रसगो पर इन रीतिनिरपेक्ष कवियों की ही दृष्टि जा सकती थी। भला स्वकीया-परकीया और गणिका, मुग्धा-मध्या और प्रौढा तथा खडिता और अभिसारिका के भेद-प्रभेदो मे फँसी रीतिबद्ध दृष्टि इन रीति बाह्य विषयो पर कैसे जा सकती थी ? प्रकृति चित्रण के क्षेत्र मे थोडी स्वच्छन्दता के दर्शन द्विजदेव और बोधा मे होते है। आलम के प्रबध मे विशद प्राकृतिक रमणीयता का जहाँ-तहाँ चित्रण हुआ है पर अंततः वह भी विरही माधवानल के विरह की या तो पृष्ठभूमि बना है या उद्दीपक। द्विजदेव का प्रकृति-प्रेम प्रसिद्ध है। वे किसी सीमा तक उसे आलबन रूप मे ग्रहण कर सके है। अन्य कवियो ने उसे परंपरागत रूप में ही ग्रहण किया है।

मूल वक्तव्य : प्रेम—स्वच्छन्द कवियो का मूल वक्तव्य-प्रेम है। इसी मूल-वर्ती सम्वेदना से उनका सम्पूर्ण काव्य स्पन्दित है चाहे वह मुक्तको के रूप मे लिखा गया हो चाहे आख्यान के रूप में। आख्यान-रूप मे सम्वेदित किये जाने पर भी प्रेम ही समूची कथा का मूल-तत्व, सूत्र और वर्ण्य मिलेगा। मुक्तको मे तो वक्तव्य विषय से इधर-उधर जाने की गुञ्जाइश नही परन्तु प्रेम की सुरा पी कर छके हुए ये कवि प्रबन्धो मे भी लक्ष्य से इधर-उधर नही हुए हैं। जो कुछ प्रेम का पोषक और विकासक नही वह इनके काव्यो से बहिर्गत कर दिया गया है। इस प्रेम-वर्णन का वैशिष्ट्य इस बात मे है कि वह स्वानुभूति प्रेरित है। इनके द्वारा वर्णित प्रेम इनके जीवन से छन कर आया है उसमे ताजगी है, तीव्रता है। इन्होंने औरो के प्रेम का वर्णन नही किया है यदि किया भी है तो वह स्वानुभूति के प्रसार-रूप मे ही। इसके विपरीत रीतिबद्ध कवियो का प्रेम गोपी-गोपिकाओ का प्रेम है जिसकी उन्होंने या तो कल्पना की है या साहित्य परम्परा से उपलब्धि। ऐसा नही है कि रीतिबद्ध कर्ताओ मे प्रेम की अनुभूति ही न थी। कहने का तात्पर्य यह है कि औरो का प्रेम देख-सुन और कल्पित कर इनमे काव्य-सृजन की स्फूर्ति हुआ करती थी जब कि रीतिमुक्त कर्ताओ की

निजी प्रेमानुभूति ही काव्य-सृजन का कारण हुआ करती थी। लगभग सभी रीति-मुक्तो की अपनी अपनी प्रेम-कथा है। घनानन्द और सुजान, बोधा और सुभान, आलम और शेख या किसी नवनीत-कोमलाङ्गी यवनी की प्रेम-कथाएँ प्रसिद्ध ही है। रसखान भी किसी के रूप पर आसक थे, प्रेम-वाटिका के साक्ष्य से स्पष्ट पता चलता है—

तोरि मानिनि तें हियो, फोरि मोहिनी मान।
प्रेम देव की छबिहिं लखि, भए मियाँ रसखान॥ (रसखान)

और इस दिशा मे ठाकुर की प्रसिद्धि भी कुछ कम नही। उनका किसी सुनारिन से प्रेम हो गया था। बुन्देलखण्ड के बिजावर राज्य की बात है। वह सुनारिन विवाहिता थी पर ठाकुर उसके रूप पर रीझे हुए थे। उसकी रूप-विभा का वर्णन करते और उसे सुनाते। एक बार वह सुनारिन बीमार पडी और चार-पाँच दिन तक घर के बाहर दिखाई न पडी। बेचैन ठाकुर एक दिन रात्रि के समय उसकी गली से यह छद जोर-जोर से पढ़ते हुए निकले—

गति मेरी यही निसि बासर है चित तेरी गलीन के गाहने है।
चित कीनो कठोर कहा इतनी अब तोहि नही यह चाहने है।
कवि ठाकुर नेक नहीं दरसी कपटीन को काह सराहने है।
मन भावै सुजान सोई करियो हमै नेह को नातो निबाहने है।

कहते हैं इस छन्द ने औषधि का काम किया और उस सुनारिन की अस्वस्थता जाती रही। ठाकुर के छन्दो से पता चलता है कि दूसरी ओर से उन्हे कोई प्रेम न प्राप्त हो सका था परन्तु ठाकुर को इस बात का कोई खेद न था। वे इतने ही से संतुष्ट थे कि उन्होंने किसी को चाहा[1]—

वा निरमोहिनी रूप की रासि जऊ उर हेत न ठानति ह्वै है।
बारहु बार बिलोक घरी घरी सूरति तो पहचानति ह्वै है॥
ठाकुर या मन की परतीति है जो पै सनेह न मानति ह्वै है।
आवत है नित मेरे लिये इतनो तो विशेष कै जानति ह्वै है॥

इस प्रकार प्रेम के रङ्ग मे रङ्गे इन प्रेमोमङ्ग के कवियो की प्रेम-व्यञ्जना ही विलक्षण है। उनकी प्रेमानुभूति ही विशिष्ट है। वह किन्ही पूर्ववर्ती या परवर्ती कवियों को प्राप्त नही हो सकी है, समसामयिक रीतिकारों को तो बिलकुल ही नहीं। ये कवि ही सच्चे प्रेमी थे; प्रेम ही इनका इष्ट था जिसे पाकर इन्हे फिर और किसी वस्तु की

---

[1] Love is not love which admits impediments
Or bends with the remover to remove.
—Shakespeare

चाह न रहा करती थी ।[2] प्रेम जिस पथ पर इन्हे दौडाता वही इनका निर्दिष्ट मार्ग था, वह मार्ग लोक और शास्त्र की मर्यादाओ को मान कर नही उनका तिरस्कार कर आगे बढ़ता था । उस मार्ग मे प्रेम ही रास्ता था, प्रेम ही मञ्जिल थी । प्रेम से महत्तर कुछ नही था इसलिए प्रेम ही साध्य था । इस मार्ग मे प्रेम साधन रूप मे कभी भी स्वीकृत नही हुआ जैसा कि सूफी सम्प्रदाय के सन्तो मे दृष्टिगत होता है । जहाँ तक इनके प्रेम-काव्य पर पड़ने वाले प्रभावो का प्रश्न है दो प्रभाव बिलकुल स्पष्ट है—सूर आदि कृष्ण-भक्तो तथा बिहारी, मतिराम, देव, दास, पद्माकर आदि समसामयिक रीति कवियो का प्रभाव तथा सूफी प्रेमाख्यानक कवियो का प्रभाव । सूर तथा अष्टछाप के अन्य कृष्ण-भक्तो का प्रभाव रसखान पर स्पष्ट है तथा रीतिकारों का प्रभाव औरो की अपेक्षा आलम पर अधिक है । बोधा और घनानन्द पर सूफी प्रभाव विशेष है । स्वच्छन्द कवियो के काव्य का अध्ययन करते हुए उनकी प्रेम भावना की जिन प्रमुख विशेषताओ पर दृष्टि जाती है वे संक्षेप मे इस प्रकार है—

सूफी प्रेम-भावना का प्रभाव—स्वच्छन्द कवियो का प्रेम-वर्णन एक सीमा तक सूफी कवियो की प्रेम-भावना से प्रभावित है । सूफी कवियों द्वारा वर्णित प्रेम की पीर का प्रभाव बडा व्यापक था । वह कबीर आदि निर्गुण ज्ञानमार्गियों और कृष्णभक्त कवियो तक पर पडा ।[1] सूफियो की प्रेम-भावना की मूल विशेषता है लौकिक प्रेम द्वारा अलौकिक प्रेम के उच्चतर सोपान पर पहुँचना, इश्कमजाज़ी द्वारा इश्क-हकीकी की उपलब्धि । प्रेमगत यह सूफी सिद्धान्त घनआनद, रसखान और बोधा में विशेष मिलेगा । घनानन्द और रसखान का जीवनगत लौकिक-प्रेम उत्कर्ष प्राप्त कर अलौकिक प्रेम मे पर्यवसित हो गया था । सूफियो का यह प्रेम-सिद्धान्त बोधा के जीवन मे तो घटित नही हुआ किन्तु उसके द्वारा प्रतिपादित अवश्य हुआ—

इश्क मजाजा मै जहाँ इश्क हकीकी खूब ।

बोधाकी भाषा-शैली और भावना पर अवश्य यह प्रभाव एक सीमा तक स्पष्ट है । प्रेम के उक्त सिद्धान्त को रसखान और घनआनन्द में बहुत ही निजी ढग से कहा है । रसखान ने कहा है—यह बात गाँठ बाँध लेने की है कि ससार मे प्रेम के बिना आनन्द का अनुभव नही हो सकता, प्रेम चाहे लौकिक हो चाहे अलौकिक—

आनन्द अनुभव होत नहिं बिना प्रेम जग जान ।
कै वह विषयानंद कै ब्रह्मानंद बखान ।।

---

१. "आगे चलकर सगुणधारा की कृष्णभक्ति शाखा तक इससे विशे[illegible]न्वित हुई । नागरीदास (सावतसिंह), कुन्दनशाह आदि मे तो यह प्रेम की पीर हुई कि उसका विदेशी रूप तक छिप न सका ।"
—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (घनानन्द ग्रथावली, वाङ्मुख पृ० [illegible]

इसी आशय को घनानन्द यो व्यक्त करते है ।

प्रेम को महोदधि अपार हेरि कै,
बिचार बापुरो हहरि बार ही ते फिरि आयौ है ।
ताही एक रस ह्वै बिबस अवगाहैं दोऊ
नेही हरि राधा जिन्हैं देखे सरसायौ है ॥
ताकी कोऊ तरल तरग संग छूट्योकन
पूरि लोक लोकनि उमगि उफनायौ है ।
सोई घन आनन्द सुजानि लागि हेत होत,
ऐसें मथि मन पै सरूप ठहरायौ है ॥

प्रेम के अपार महासागर मे राधा और कृष्ण अहर्निश एकरस क्रीडा करते रहते हैं। उनके प्रेमानन्द की एक चंचल लहर से समग्र विश्व प्रेम से परिपूर्ण हो रहा है और उसी प्रेम-तरंग के एक कण से घनानद के हृदय में सुजान के प्रति इतना प्रगाढ अनुराग आ गया है। इस प्रकार घनानन्द और सुजान का (लौकिक या मजाजी) प्रेम राधा और कृष्ण के (अलौकिक या हकीकी) प्रेम का एक कण मात्र है। वही सूफी प्रेम-तत्व है पर कितने निजीपन के साथ कहा गया है कितने आत्मसात रूप मे अभिव्यक्त हुआ है ।[1]

प्रेम का स्वच्छन्द और अपरंपरागत रूप—यह पहले ही कहा जा चुका है कि स्वच्छंद कवियो की मूल सवेदना प्रेम है । रीतिमुक्त कवियो के काव्य मे प्रेम का परपरागत रूप न प्राप्त होकर उसका निर्बन्ध और स्वच्छन्द रूप देखने को मिलता है । क्रमागत अथवा समसामयिक साहित्य-परपरा मे जिस प्रेम का वर्णन मिलता है वह कुटुम्ब और समाज की मर्यादाओ से बँधे हुए प्रेम का वर्णन है । उस प्रेम के मार्ग मे कितनी बाधाएँ हैं कितने बन्धन है । गुरुजनो का सकोच है, लोक की लज्जा है । इतने दिनों के बाद नायक परदेस से वापस आया है, उसकी विवाहिता लोक और

---

[1] आ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने कहा है कि—रसखान और घनानन्द ने बड़े ढग से इसे (सूफी प्रेम सिद्धान्त) ग्रहण किया है पर बोधा इसे अपने रंग में रँग न सके । उन्होने तो बार-बार उसकी डुग्गी पीटी है—इस्कमजाजी मैं जहाँ इस्क हकीकी खूब । (बिरह वारीश)····रसखानि और घनानन्द दोनों ने कृष्ण-प्रेम मे इसे छिपा रक्खा । बोधा ने उधर उतना ध्यान नही दिया । वे कृष्णभक्ति मे लीन नही हुए । यदि कृष्ण-भक्ति का अवलंब वे लेते भी तो उनकी प्रवृत्ति और रग-ढंग से यह जान पड़ता है कि बहुत-कुछ नही तो कुछ-कुछ कुन्दनशाह की-सी वृत्ति होती । बोधा प्रेम की प्रकृत गंभीरता को प्रायः सँभाल नही पाते ।

—वही पृ०१४, १५

परिजनो के भय से उसे भर आँख देख भी नही सकती। दर्शनोत्कठा अलग मारे डालती है। उससे रहते नही बनता। वह झम्म से आती है झम्म से चली जाती है—

> नावक सर से लाइ कै तिलक तरुनि इत ताकि।
> पावक झर सी झमकि कै, गई झरोखा झाँकि॥ (बिहारी)

एक दूसरा नायक है जो परदेस जाने को उद्यत है। सारे कुटुम्बियो के बीच से अंतिम बिदा लेने के लिए लौट कर नायिका के पास नही जा सकता। बेचारे को ऊपर से झाँकती हुई प्रियतमा से इशारो-इशारो मे विदा लेना पड़ता है। तीसरा प्रेमी युगल है। वे मिलते है पर बहुतो की भीड के बीच। भीड किसी पारिवारिक आयोजन के कारण इकट्ठी है। ये उस भीड़ मे भी अपनी बाते आँखो-आँखो मे कर ही लेते है—

> कहत, नटत, रीझत, खिझत मिलत, खिलत, लजियात।
> भरे भौन मैं करत है नैननि ही सौं बात॥

उधर निंदा हो रही है, चवाइयाँ चल रही है, चुगलियाँ हो रही है इधर प्रेम चल रहा है। डर भी है, उद्वेग भी—

> चलत घैरु घर घर तऊ घरी न घर ठहराय।
> समुझि वही घर को चलै, भूलि वही घर जाय॥

इस प्रकार के बधनमय प्रेम से ये कवि अपरिचित है। इतने बन्धनो के बीच होकर चलने वाला प्रेम-व्यापार न तो इन कवियो को प्रिय हो सकता था और न इष्ट। लोक की लज्जा और परलोक की चिंता जो छोड सकता हो वही स्वच्छन्द प्रेम-मार्ग का पथिक हो सकता है यह बात स्वच्छन्द कवियो ने पुकार-पुकार कर कही है—

> लोक की लाज को शोच प्रलोक को वारिए प्रीति के ऊपर दोई।
> गाँव को गेह को देह को नाते सो नेह पै हातो करै पुनि सोई॥
> 'बोधा' सो प्रीति निबाह करै धर ऊपर जाके नहीं सिर होई।
> लोक की भीत धरा धरौ मीत तौ प्रीति के पैंड़े परौ जिन कोई॥ (बोधा)
>
> लोक वेद मरजाद सब लाज काज संदेह।
> देत बताए प्रेम करि विधि निषेध को नेह॥ (रसखान)

उनके प्रेम मे वही स्वच्छन्दता है जो राधा और कृष्ण या गोपियो और कृष्ण के बीच थी। इन कवियो को घर-बार, लोक-परलोक किसी की चिन्ता न थी, जीवन और जगत के ये झूठे बंधन इन्हे सर्वथा अस्वीकार थे। इसीलिये ये कवि शृंगार-रस तथा नायिका-भेद के ग्रंथो मे निर्दिष्ट प्रेम की सुनिश्चित लीकों पर नही चल सके हैं—स्वकीया-परकीया और गणिका के अलग-अलग प्रकार के प्रेम, फिर मुग्धा-मध्या और प्रौढ़ा की 'काम' वृत्ति पर आधारित भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ फिर अवस्थादि पर निर्भर

आगतपतिका, प्रोसितपतिका, उत्कंठिता, अभिसारिका, खडिता आदि के प्रेम, प्रेम की लुका-छिपी, चोरी-चोरी सदेश भेजना, मान और मनावन, बीच मे सखियो और दूतियो का इधर से उधर सदेश निवेदन, कुलीन, शठ, धृष्ट आदि नायको के विभिन्न प्रकार के आचरण सखियो या दूतियो का नायक से रमण-सभोग, सपत्नीक ईर्ष्या आदि जो अधिकाश रीतिबद्ध नायिका-भेद के ग्रन्थकारो द्वारा निर्दिष्ट प्रेम-वर्णन के विषय है उन पर ये रीतिमुक्त कवि काव्य-रचना करने मे एकात असमर्थ रहे है। ये रीतिग्रस्त प्रेम-वर्णन की सँकरी गलियाँ है, इनमे इन स्वच्छन्द कवियो की साँस घुटती थी। ये प्रेम की इन गलियो से निकल कर प्रेम के खुले मैदान मे आए जो उसका सच्चा क्षेत्र था जहाँ कोई किसी को बुरा-भला कहने वाला नही था। इनके प्रेम-वर्णन को नायिका-भेद के चौखटे में फिर नही किया जा सकता। ये अपने प्रेम का निवेदन आप करते थे, सखियो-दूतियो या सदेशवाहको के माध्यम से नही। इसी कारण इन रीतिमुक्त कवियो के काव्य मे हृदय की, अतःकरण की जैसी मनोहर झलक मिलेगी रीतिबद्ध कवियो मे वैसी दुष्प्राप्य है। देव, बिहारी, पद्माकर, दास, मतिराम आदि कवियो ने जहाँ अनुभूति से साथ प्रेम की व्यजना की है वे भी प्रेम के सुन्दर उद्गार और अतःकरण की मनोरम अभिव्यक्तियाँ दे गए है पर ऐसा रीति के बंधन से हृदय को मुक्त करने पर ही हो सका है।

प्रेम-भावना की उदात्तता—प्रेम के स्वच्छन्द रूप का ग्रहण करने से रीतिमुक्त कवियो की प्रेम भावना मे एक प्रकार की उदात्तता (sublimation) आ गया है। उसमे गहराई है, व्यापकता है, संकीर्णता और ओछापन नहीं। उनका प्रेम शुद्ध वासनात्मक स्तर से ऊपर भी उठ सका है। रीतिबद्धो की दृष्टि अतिशय शरीरी और स्थूल न थी। रसखान, घनानन्द, ठाकुर आदि मे उसका पर्याप्त उन्नत और उदात्त स्वरूप गोचर होता है। इन कवियो का प्रेमसम्बन्धी दृष्टिकोण मुख्यतः मासल और शरीरी न होकर सूक्ष्म और भावनात्मक था। बोधा को उपर्युक्त कथन का अपवाद कहा जा सकता है। वे कायिक प्रेम के पुजारी थे। परन्तु प्रेम के कुछ महत्वपूर्ण आदर्श उनके मन मे भी प्रतिष्ठित थे। उदाहरण के लिए यह कि अपने प्रेम का वृत्तान्त अपने तक ही सीमित रखना चाहिए अपना दर्द आप ही झेलना चाहिए, दूसरा कोई उसे क्या समझेगा ? अपने दुख पर तरस खाने वाला कोई न मिलेगा मजाक उड़ाने वाले पचासो मिलेंगे—

(क) हम कौन सो पीर कहै अपनी दिलदार तौ कोऊ दिखातो नही।
(ख) कठिन पीर कहिबे की नाहीं सहिबे ही बनि आइ।
(ग) दिल जानै कै दिलवर जानै दिल की दरद लगो री।
(घ) मालती एक विना भ्रमरी इतै कोऊ न जानत पीर हमारी।

(ङ) काहू सो का कहिबो सुनिबो कवि बोधा कहे में कहा गुन पावत।

(च) बोधा किसू सों कहा कहिये सो बिथा सुनि पूरि रहै अरगाइ कैं।
यातें भले सुख मौन धरैं उपचार करैं कहूँ अवसर पाइ कैं॥
ऐसो न कोऊ मिल्यौ कबहूँ जो कहै कछु रंच दया उर लाइ कै।
आवतु है मुख लौं बढ़ि कै फिरि पीर रहै या सरीर समाइ कैं॥

प्रेम के पथ पर चल कर डिगना नही होता—

कवि बोधा अनी घनी नेजहुँ ते चढ़ि तापै न चित्त डरावनो है।

प्रेम एक से होता है, अनेक से नही—

लगनि वहै थल एक लगि, दूजे ठौर बढै न।

अथवा

जो न मिलो दिलमाहिर एक अनेक मिलै तौ कहा करियै लै।

प्रेम मे अनन्यता आवश्यक है। लोक-लाज छोडना पडता है। तकलीफ सहनी पड़ती है। अहङ्कार, अभिमान और मगरूरी के लिए प्रेम के साम्राज्य मे कोई स्थान नही। प्रेम त्याग का ही दूसरा नाम है। प्रेम करना सरल है पर उसका निर्वाह मुश्किल है इसलिए बोधा प्रेम के निर्वाह पर बार-बार बल देते पाये जाते हैं। प्रेम के इन ऊँचे आदर्शों पर बोधा का भी विश्वास था—

प्रीति करै पुनि और निबाहै। सो आशिक सब जगत सरा है॥
एकहि ठौर अनेक मुसक्किल यारी कै प्यारी सों प्रीति निबाहिबो।
नेहा सब कोऊ करै कहा करैं मैं जात।
करिबो और निबाहिबो बडी कठिन यह बात॥

ठाकुर ने भी प्रेम के निर्वाह पक्ष पर बल दिया है—

प्रीति करैं मै लगै है कहा,
करि कै इक ओर निबाहिबो बाँको। (ठाकुर)

जब बोधा ने प्रेम के सम्बन्ध में इतने ऊँचे मानदण्ड स्थिर किये हैं तब रसखान, घनानन्द आदि प्रेम के पपीहो का तो कहना ही क्या! उनकी प्रेम-वृत्ति की ऊँचाई तो सहज ही अनुमानित की जा सकती है। रसखान के लिए यह प्रेम कुछ साधारण वस्तु या लौकिक व्यापार मात्र न था। उन्होने तो प्रेम को हरि का दूसरा रूप ही मान लिया था—

प्रेम हरी को रूप है त्यौं हरि प्रेम सरूप।
एक होइ द्वै यों लसैं ज्यों सूरज अरु धूप॥

इसकी दिव्यता का तो कहना ही क्या! प्रेम को पा लेने के बाद सारी स्पृहाएँ शेष हो जाती हैं—

जेहि पाए बैकुंठ अरु हरिहू की नहिं चाहि।
सोइ अलौकिक सुद्ध सुभ सरस सुप्रेम कहाहि ॥

इसीलिए बार-बार रसखान पुकार कर कहते है, 'प्रेम करो, प्रेम करो ! जिसने प्रेम नही किया उसने इस ससार में आकर कुछ नही किया'—

(१) कहा रसखानि सुख संपति सुमार कहा,
कहा महा जोगी है लगाए अंग छार को।
कहा साधे पंचानल कहा सोये बीच जल,
कहा जीत लीने राज सिंधु आर पार को ॥
जप बार बार तप संजम अपार ब्रत,
तीरथ हजार अरे बूझत लबार को।
कीन्हों नहीं प्यार नही सेयो दरबार, चित्त
चाह्यो न निहार्यौ जो पै नन्द के कुमार को ॥

(२) शास्त्रन पढ़ि पंडित भए कै मौलबी कुरान।
जु पै प्रेम जान्यौ नही, कहा कियो रसखान ॥

रसखान के मत में प्रेम से महत्तर कोई धर्म नही, कोई तत्व नही—

ज्ञान कर्मऽरु उपासना सब अहमिति को मूल।
दृढ़ निश्चय नहिं होत बिन किये प्रेम अनुकूल ॥
श्रुति पुरान आगम स्मृतिहि प्रेम सबहि को सार।

जैसी पवित्रता, दिव्यता और महत्ता इन रीतिमुक्त कवियो की प्रेम-भावना मे लक्षित होती है वैसी रीति से बंधे कवियो मे नही। घनानन्द की प्रेम-वृत्ति भी ऐसी ही उदात्त और मनोहारिणी है आमुष्मिकता वासना और ऐहिकता का जहाँ लेश भी नही प्रेम क्या है मानों शुद्ध अन्तःकरण फूटा पड रहा है। इस प्रेम मे सच्चाई है एक-निष्ठता है, समर्पण है, त्याग है। इन रीतिमुक्त रचयिताओ मे प्रेमगत भोग पर नही त्याग पर विशेष बल दिया गया है। प्राप्ति से अधिक पीडा और व्यथा को महत् बताया गया है। प्रेम के इस उदात्त स्वरूप की ठीक-ठीक परख करने के लिए समसामयिक रीतिकारो की प्रेम-भावना पर दृष्टि डालना समीचीन होगा। डा० नगेन्द्र ने उनकी प्रेम-भावना की चार प्रमुख विशेषताओ की ओर इङ्गित किया है[1]—

(१) उसका मूलाधार रसिकता है प्रेम नही। वह रसिकता शुद्ध ऐन्द्रिक अत-एव उपभोगप्रधान है। उसमे पार्थिव एवं ऐन्द्रिक सौन्दर्य के आकर्षण की स्पष्ट स्वीकृति है। किसी प्रकार के अपार्थिव अथवा अतीन्द्रिय सौन्दर्य के रहस्य का सकेत नही।

---

[1] रीतिकाव्य की भूमिका : (सन् १९५६) पृ० १६३

(२) इसीलिए वासना को अपने प्राकृतिक रूप मे ग्रहण करते हुए उसी की तुष्टि को निश्छल रीति से प्रेम रूप मे स्वीकार किया गया है। उसको न आध्यात्मिक रूप देने का प्रयत्न किया गया न उदात्त और परिष्कृत करने का।

(३) यह शृगार उपभोगप्रधान एवं गार्हस्थिक है जो एक ओर बाजारी इश्क या दरबारी वेश्या-विलास से भिन्न है दूसरी ओर रूमानी प्रेम की साहसिकता अथवा आदर्शवादी बलिदान-भावना भी प्राय: उसमे नही मिलती।

(४) इसीलिए इसमे तरलता और छटा अधिक है आत्मा की पुकार और तीव्रता कम।

रीतिबद्ध कर्ताओ की इस प्रकार की प्रेम-भावना क आलोक मे हम सहज ही रीतिमुक्त कर्ताओ की उदात्त प्रेम-वृत्ति हृदयङ्गम कर सकते है।

प्रेम-विषमता—रीतिमुक्त कवियो के काव्य मे प्रेम-विषमता का चित्रण विशेष रूप से हुआ है। प्रेमी प्रिय को जितना चाहता है, उसके लिए जितना तडपता है प्रिय प्रेमी के लिए उतना नही। स्वच्छन्द प्रेम-धारा के कवियो ने प्रेमगत इस वैशिष्ट्य को सविशेष रूप से अपने काव्य में चित्रित किया है। प्रेमी के प्रेम की तीव्रता, अनन्यता, निरंतरता आदि दिखाना ही इसका लक्ष्य है। प्रिय को क्रूर और दुष्कर्मी दिखाना नही। प्रिय को निठुर, उपेक्षापूर्ण, दुख और पीडा से अनभिज्ञ, सहानुभूतिशून्य कहा और दिखाया गया है पर वह सब प्रेमी की प्रेम-प्यास को तीव्रतर करने के ही उद्देश्य से। इन प्रेमियो ने प्रिय को दुष्ट और दुराचारी कहकर अपने प्रेम को उपहासास्पद नही बनने दिया है। प्रिय भूलता है, परवा नही करता, उनके दुख को नही समझता तो स्वच्छन्द कवियो ने उसके प्रति उपालम्भ दिया हैं, प्रिय के इस प्रकार के आचरण मे अपना दोष देखा है, भाग्य को कारण ठहराया है पर प्रिय को छोड़ने या भूलने की धमकी नही दी है। इस प्रकार स्वच्छन्द कवियो ने प्रेमी की उदात्त मनोवृत्तियो का परिचय दिया है,हृदय की किसी तुच्छता या ओछेपन का नहीं। यह प्रेम-विषमता लगभग सभी कवियो के काव्य मे आई है तथा नाना प्रकार की अन्तर्वृत्तियो की अभिव्यञ्जक हुई हैं। आलम की गोपिका की शिकायत है कि कृष्ण नाता तो असानी से जोड़ लेते है पर निभाने की चिन्ता नही करते। दूसरे कवियो की शिकायते भी यही या ऐसी ही रही है कि एक ही गाँव मे बसकर दर्शन के लिए तरसाया करते है, आदि, आदि—

> भली कीनी भावते जू पाँव धारे याहि खोरि,
> अनत सिधारे की बसत याही पुर हौ।
> निकट रहत तुम एती निठुराई गही,
> अब हम जाने तुम निपट निठुर हौ॥ (आलम)

प्रिय की यह निठुरता प्रेमी को कैसी दीनता की स्थिति में ला पटकती है, स्थिति वास्तव मे कितनी करुण हो उठती है—

(क) नैननि के तारे तुम न्यारे कैसे होहु पीय,
पायन की धूरि हमैं दूरि कै न जानिये। (आलम)

× × × ×

(ख) जा दिन तें तुम चाहे लोग कहैं पीरी काहे,
पीरौ न जनैयै पल पल जिय जारियै।

× × × ×

घूँघट की ओट आँसू घूँटिबो करत नैना
उमगि उसाँस कौ लौं धीरज यों धरियै ॥ (आलम)

× × × ×

(ग) देखै टक लागै अनदेखे पलकौ न लागै,
देखे अनदेखे नैना निमिष रहित हैं।
सुखी तुम कान्ह हौ जु आन की न चिन्ता हम
देखेहु दुखित अनदेखेहु दुखित हैं ॥ (आलम)

गोपिका की प्रियविषयक चिन्ता का वार-पार नही उधर प्रिय के कान पर जूँ तक नही रेंगती। ठाकुर की कोपियों का भी अनुभव कुछ-कुछ ऐसा ही है। कृष्ण जैसा कुछ कहा करते थे आचरण मे वैसे नही निकले—

हरि लाँबी औ चौरी बखानत ते अब गाढ़े परे गुण और कढ़े जू। (ठाकुर)

गोपियाँ उन्हे क्या समझा करती थी पर वे निकले कुछ और ही। उन्होंने प्रेम का नाता जोडकर गोपियो को अपने कुटुम्ब से नाता तोडने को पहले तो बाध्य कर दिया अब उनकी परवा भी नही करते, गुलाम की गाजरो का सा हाल कर रक्खा है—

खाई कछू बगराई कछू हरि गोपी गुलाम की गाजरैं कीन्हीं। (ठाकुर)

कृष्ण ऐसे निर्मोही और कठोर-हृदय व्यक्ति से प्रेम कर जीवन मे जो असफलता गोपियो को प्राप्त हुई है उसकी पश्चाताप से परिपूर्ण कितनी तीव्र व्यंजना इन पंक्तियों मे हुई है—

(क) ऊधौ जू दोष तुम्हैं न उन्हैं हम आपु ही पाँव पै पाथर मारे। (ठाकुर)

× × × ×

(ख) ऊधौ जू दोष तुम्हैं न उन्हैं हम लीनी है आपने हाथ ही बीछी। (ठाकुर)

कृष्ण से प्रेम क्या किया अपने हाथ से बीछी पकड़ ली है परिणाम कितना तीक्ष्ण है जाहिर ही है। यहाँ प्रेम-वैषम्य की कितनी तीव्र व्यंजना है! रसखान के काव्य में

आसक्ति और रीझ का प्राधान्य होने के कारण प्रेम की विषमता के लिए अवकाश नही रहा है फिर भी दो-चार छन्द ऐसे मिल सकते है जिनमे कृष्ण से प्रेम करने का दुष्परिणाम दिखाया गया है—

(क) कान्ह भए बस बाँसुरी के, अब कौन सखी हमको चहिहै।
निसि द्यौस रहै यह साथ लगी यह सौतिन साँसत को सहिहै ॥
जिन मोहि लियो मनमोहन कों, रसखानि, जु क्यों न हमैं दहिहै।
मिलि आवो सबै कहुँ भाग चलैं, अब तो ब्रज में बँसुरी रहिहै ॥
(रसखानि)

(ख) काह कहूँ सजनी सँग की, रजनी नित बीतै मुकुंद को हेरी।
आवन रोज कहैं मन भावन, आवन की न कबौं करी फेरी ॥
सौतिन भाग बढ्यो ब्रज में जिन लूटत हैं निसि रंग घनेरी।
मो रसखान लिखी विधना मन मारि कै आपु बनी हौं अहेरी ॥
(रसखानि)

(ग) पूरब पुन्यन तें चितई जिन, ये अँखियाँ मुसकान भरी री।
कोऊ रही पुतरी सी खरी, कोऊ घाट गिरी, कोऊ बाट परी री ॥
जे अपने घर ही रसखानि कहै अरु हौं सनि जाति मरी री।
लाल जे बाल बिहाल करी, ते बिहाल करो न निहाल करी री।
(रसखानि)

और यह प्रेम-विषमता घनानन्द के काव्य मे अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई है। वैषम्य ही घनआनन्द के प्रेम मे निखार और रग लाता है, विविध भावना-भेदों का उद्घाटन करता है तथा चाह मे भीगे हुए हृदय का निदर्शन करता है। घनानन्द के सम्बन्ध मे यह तो निर्द्वंद्व भाव से कहा जा सकता है कि विषमता उनके प्रेम-भावना की अनन्य विशेषता है। प्रेमी जितना ही आसक्त है और प्रिय के लिए तड़पता है प्रिय उतना ही उपेक्षापूर्ण है। एक तरफ सम्पूर्ण समर्पण है दूसरी तरफ छल और धोखा। एक का स्वभाव स्मरण करने का है दूसरे का विस्मरण करने का—'इत बाँट परी सुधि रावरे भूलनि।' एक तड़प रहा है दूसरा इठला रहा है। इस प्रकार प्रेमी और प्रिय की प्रकृति मे बडा अंतर हैं। एक 'निहकाम' है दूसरा 'सकाम', एक 'निहचिंत' है दूसरा 'सचिंत'। एक सहर्ष सोता है दूसरा सविषाद जागता है। एक की नींद हराम है दूसरा पैर पसार कर सोता है। एक चैन की चन्द्रिका का अमृत पीता है दूसरा विषाद के आतप से प्रतप्त रहता है। इस प्रकार प्रिय और प्रेमी का जीवन, उनकी प्रकृति, उनके मनोभाव आपाततः भिन्न और विषम हैं। यह वैषम्य उनके समग्र जीवन को अनुप्राणित किये हुए है फलतः घनआनन्द ने अपने काव्य में

सर्वत्र शत-शत रूपो मे इस वैषम्य का चित्रण किया है। यह वैषम्य-भाव घनआनन्द मे इतना प्रबल है कि वह उनके व्यक्तित्व का अभिन्न अग हो गया है और उनकी शैली मे भी अनायास उतर आया है। घनआनन्द मे सगठित यह वैषम्य 'इस्टाइल इज़ दी मैन' की उक्ति को चरितार्थ कर रहा है। कुछ लोगो ने इसे फारसी शायरी के प्रभाव के रूप मे भी देखा है। घनआनन्द स्वच्छद धारा मे प्रेम की विषमता के प्रबलतम पोषक है।

घनआनन्द के काव्य मे प्रेम की विषमता का उद्घाटन करने वाले कुछ अंश देखिये—

(१) दुख दै सुख पावत हौ तुम तौ चित के अरपे हम चित लही।

(२) महा निरदई, दई कैसे कै जिवाऊँ जीव,
बेदन की बढवारि कहाँ लौ दुराइयै।

× × ×

रैन दिन चैन को न लेस कहूँ पैयै, भाग
आपने ही ऐसे, दोष काहि धौं लगाइयै ॥

(३) तुम तौ निपट निरदई, गई भूलि सुधि,
हमैं सूल-सेलनि सों क्यौंहूँ न भुलाय है।
मीठे-मीठे बोल बोलि ठगी पहिले तौ तब,
अब जिय जारत कहौ धौं कौन न्याय है ॥

× × ×

(४) पहिले घन आनन्द सींचि सुजान कहीं बतियाँ अति प्यार पगी।
अब लाय वियोग की लाय, बयाय बढ़ाय, बिसास दगानि दगी ॥

(५) क्यों हँसि हेरि हर्यौ हियरा अरु क्यौं हित कै चित चाह बढ़ाई।

(६) तब तौ छबि पीवत जीवत हैं अब सोचनि लोचन जात जरे।

(७) पहिलै अपनाय सुजान सनेह सों क्यौं फिरि नेह कै तोरियै जू ॥
निरधार अधार दै धार मझार, दई गहि बाँह न बोरियै जू।

(८) लौ ही रहे हौ सदा मन और को देबो न जानत जान दुलारे।
देख्यौ न है सपने हूँ कहूँ दुख, त्यागे सकोच औ सोच सुखारे ॥

(९) तब ह्वै सहाय हाय कैसे धौं सुहाई ऐसी
सब सुख संग लै बिछोह दुख दै चलै।
सींचे रस रग अंग अगनि अनंग सौंपि
अंतर मैं विषम विषाद बेलि बै चलै ॥

× × ×

(१०) चाहौ अनचाहौ जान प्यारे पै अनंद घन
प्रीति रीति विषम सु रोम रोम रमी है ।।
मोहिं तुम एक, तुम्हैं मो सम अनेक आहिं
कहा कछू चंदहि चकोरन की कमी है ।।

घनानन्द मे तो यह प्रीति की विषमता पद-पद पर मिलेगी। उनके कवित्त-सवैयो का तो सारा बंधान प्रेम-वैषम्य पर ही आधारित है। प्रिय का आचरण, उसका स्वभाव, उसकी बोली, उसके कर्म, उसकी हँसी, उसका प्रेम, उसका आश्रय, उसका आदान-प्रदान सभी कुछ कुटिलता और विपरीतता से भरा हुआ है। भला ऐसे प्रिय का प्रेमी सुख कैसे पा सकता है यही कारण है कि घनानन्द और उनके सहयोगी रीतिमुक्त कवियो मे विरह, पीडा और वेदना का प्राधान्य है। इस व्यापक रूप से प्राप्य गुण प्रेम-वैषम्य के रीतिमुक्त काव्य मे आविर्भाव के कारण की भी सक्षेप मे टोह हो जानी अप्रासगिक न होगी।

प्रेम उभयपक्षीय होने पर सम तथा एकपक्षीय होने पर विषम कहलाता है। प्राचीन सस्कृत काव्यो मे समप्रेम का विधान है। दृश्य और श्रव्य उभय प्रकार की काव्य परम्परा मे यही बात मिलेगी। वाल्मीकीय रामायण के राम और सीता, कालिदास कृत अभिज्ञान शाकुन्तल के दुष्यंत और शकुतला तथा बाण विरचित कादबरी के कपिजल और कादंबरी मे सम प्रेम का ही विधान है। वहाँ ऐसा नहीं है कि एक प्रेम करता है दूसरा उपेक्षा। यह उभयपक्षीय प्रेम विद्यापति के राधा और कृष्ण मे बहुत कुछ अक्षुण्ण है किन्तु सूरदास तक आते-आते उसमे वैषम्य का विधान हो गया, कृष्ण भ्रमर के समान स्वार्थी और कृतघ्नी हो गए, वियोग का इतना बड़ा पारावार लहराने लगा और भ्रमर गीत जैसे विशद प्रेमवैषम्य व्यजक काव्य की सृष्टि हुई। फिर भी सूर तथा सहयोगी कृष्णभक्त कवियो के कृष्ण के हृदय मे राधा और गोपियों के प्रति प्रेमभाव का एकदम तिरोभाव न होने पाया था। रीति-काल में आकर रीतिबद्ध काव्य मे यह प्रेम-वैषम्य नायिका के विरह-निवेदन मे और भी बढ-चढ़ गया तथा रीतिमुक्त काव्यधारा के कवियो मे अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया जैसा ठाकुर, घनानन्द आदि की रचनाओं के ऊपर दिये गए उद्धरणो से प्रमाणित होता है। इस प्रकार से रीतिमुक्त कवियो मे पाई जाने वाली इस प्रेम-विषमता के दो स्रोत हो सकते है—(१) भागवत्, (२) सूफी तथा फारसी साहित्य। महाभारत मे कृष्ण-प्रेम मे वैषम्य नही आने पाया है पर श्रीमद्भागवत मे वर्णित गोपियो और कृष्ण के प्रेम मे विषमता का विधान है। भागवत मे यह वैषम्य प्रेम-लक्षणा भक्ति के निदर्शन के कारण आया है। भक्ति मे इस प्रकार की विषमता के लिए अवकाश नही किन्तु भक्ति में माधुर्य-भाव के सचार के कारण प्रीति-विषमता का विधान अनिवार्य हो जाता है।

भागवतकार ने श्री कृष्ण के मुँह से कहलाया है कि मै प्रेम करने वालो को भी प्रेम नही करता—'नाहंतु सख्यो भजतोपि जन्तून भजाम्यमीषामनुवृत्ति सिद्धये।' यह गोपियो के प्रेम मे दृढता लाने के लिए है। गोपियाँ श्रीकृष्ण के साथ रासलीला का आनन्द लेती रहती है, बीच-बीच मे कृष्ण अन्तर्धान हो जाते है। प्रेमिकाओ की आँखो से प्रेम की सरिता उमड चलती है। भागवत मे श्रीकृष्ण को आप्तकाम बताया है। उनकी समस्त कामनाएँ पूर्ण है, उन्हे कोई इच्छा नही। सूरदास के भ्रमर गीत मे कृष्ण जो निष्ठुर छली आदि कहे गए है वे इन्ही दोनो कारणो से—एक तो वे भगवान है, आप्तकाम और दूसरे उनके प्रति की जाने वाली भक्ति माधुर्य अथवा कान्ताभाव की है यही करण है कि भार्गवत से सम्बन्धित साहित्य मे कृष्ण-प्रेम के प्रसंग में प्रेम-वैषम्य का विधान हुआ। सूर तथा उनके समसामयिक कवियो से यह प्रभाव परवर्ती कवियो पर पडता चला गया। विवेचको ने घनआनन्द आदि स्वच्छन्द प्रेमियो की ऐसी उक्तियो 'तुम तौ निहकाम, सकाम हमैं, घनआनन्द काम सों काम पार्‌यौ' मे भागवत के कृष्ण की आप्तकामता और उनके प्रति की गई माधुर्य भक्ति का प्रभाव देखा है। जो हो यह तो निर्विवाद ही है कि सूर आदि द्वारा चित्रित गोपी-कृष्ण-प्रेम-प्रसंग ही रीतिकाल के अत तो क्या आधुनिक काल के आरम्भ तक इस अपरिहार्य प्रभाव का मूल कारण रहा है। प्रेम-वैषम्य की जो स्वीकृति वहाँ भागवत के प्रभाव-वश थी वही परम्परित रूप मे घनआनन्द आदि स्वच्छन्द प्रेमियों द्वारा गृहीत हुई। श्रीमद्‌भागवत, ब्रह्मवैवर्तपुराण आदि में प्रेम लक्षणा भक्ति का स्वरूप देखा जा सकता है जहाँ कृष्ण के प्रति मधुराभाव की भक्ति का निदर्शन करते हुए पुराणकारो ने गोपिकाओ मे अहम् का सर्वथा लोप तथा आत्म-चेतना की पूरी विस्मृति दिखाई गई है। अहम् के लोप के बिना भक्ति की सच्ची भूमिका मे पहुँचा ही नही जा सकता। उद्धव ऐसे ज्ञान के अहंकारी को भक्त के रूप मे पर्यवसित करने के उद्देश्य से ही भागवत मे तथा सूरसागर आदि में गोपियो की इतनी प्रेम-व्यथा और प्रेम-विषमता का विधान किया गया है। उद्धव के अहकार का दलन जरूरी था क्योकि इसके बिना भक्ति अथवा प्रेम मे लीनता संभव ही नही। घनआनदादिको के प्रणय काव्य मे प्रेम-वैषम्य की प्रवृत्ति अंशतः इसी स्रोत से आई है परन्तु प्रेम की विषमता और भक्ति की विषमता मे थोड़ा अंतर है। प्रेमपात्र को कठोर, निष्ठुर, क्रूर, उपेक्षापूर्ण आदि कहा गया है परंतु भक्ति के आलबन को ऐसा नही कहा गया है बल्कि उसे करुणा का सागर, दया का आगार आदि कहा गया है। कृष्ण को जो छली, कपटी आदि कहा गया है वह भक्ति में प्रेम के तत्व के आ मिलने के कारण। भागवत के भ्रमर गीत प्रसंग में कृष्ण की कठोरता आदि का कथन हुआ है। इस प्रेम लक्षणा भक्ति के साथ साथ एक दूसरा और संभवतः तीव्रतर प्रभाव इन स्वच्छन्द प्रेम की तरंग वाले कवियों पर

पड रहा था, वह था सूफी कवियो का तथा समसामयिक फारसी शायरी का प्रभाव: जहाँ इश्क की व्यजना वैषम्य के बिना सभव ही न थी। बोधा, आलम, रसखानि, घन आनद सभी कवि फारसी की शायरी तथा उसकी परपरा से वाकिफ थे। इनकी भाषा और जगह-जगह इनकी शैली सबूत के रूप मे पेश की जा सकती है। भाषा शैली तो अलग छोडिये इनके अनेकानेक ग्रथो के नाम ही इनकी फारसी की खासी जानकारी के प्रमाण है, उदाहरण के लिए बोधाकृत 'इश्कनामा', घनआनंदकृत 'इश्कलता' आदि। ब्रज भाषा के साथ ही साथ मध्यकाल मे फारसी की शायरी की परंपरा मुगल-दरबारो मे, राव-उमरावो मे तथा देहली और अवध ऐसे केन्द्रो मे चल ही रही थी। उनको नाजुक खयाली और अतिशयोक्ति-परायणता रीतिकालीन काव्य पर अपनी अमिट छाप छोड गई है। बिहारी, रसलीन, रसनिधि, 'इश्कचमन' के रचयिता नागरीदास आदि पर यह प्रभाव अचूक रूप से देखा जा सकता है। यही बात आलम, बोधा, घनआनद, रसखान आदि के विषय मे भी समझनी चाहिए। इन कवियो पर सूफी प्रभाव पडा यह निर्विवाद है। इश्कमजाजी से इश्कहकीकी की प्राप्ति के आदर्श, माधवानल कामकंदलादि आख्यान तथा स्वच्छंद प्रेमियो की प्रेम पीर सूफी प्रभाव के प्रमाण है। उधर फारसी शायरी मे जो प्रेम-विषमता दिखाई जाती है उसकी बड़ी ही लंबी परपरा है जो आज भी चली चल रही है, उर्दू शायरी तो इसके असर से लबालब है। वहाँ प्रेम-विषमता प्रेमी के प्रेम को परखने का निकष है। प्रिय की ओर से जितनी लापरवाही और बेफिक्री दिखाई जायगी प्रेमी की ओर से उतनी ही तड़पन और लगाव। प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का मत है कि स्वच्छद काव्य में प्राप्य प्रेम-विषमता श्रीमद्भागवत तथा कृष्ण-भक्तों के काव्य के प्रभाव स्वरूप उतनी नही है जितनी समसामयिक फारसी और उर्दू की शायरी के प्रभाव के कारण—

'स्वच्छन्द कवियों की कृति मे यह वैषम्य कृष्ण भक्तों की रचना से ही सीधे उतर आया हो ऐसा प्रतीत नही होता। भक्ति की साधना में प्रेमगत वैषम्य भक्ति की ऊँची और गहरी अनुभूति उद्भावित करने के लिए नियोजित है, प्रिय की वास्तविक कठोरता उसका प्रतिपाद्य नहीं। पर स्वच्छन्द कविता मे प्रिय की वास्तविक कठोरता का वर्णन विस्तार के साथ और प्रतिपाद्य रूप मे स्वीकृत है। यह निश्चय ही फारसी की कविता का प्रभाव है, जहाँ प्रिय की योजना इसी रूप में की जाती है। एक पक्ष तटस्थ रहता है और दूसरा अनुराग रस से संपृक्त। संस्कृत-कवियों के विरह मे इस प्रकार का क्रूर प्रिय पक्ष नहीं है। इसलिए इस कठोरता या उदासीनता का मूल स्रोत फारसी की काव्य धारा ही है जहाँ प्रधान काव्य वस्तु (थीम) यही है और जो उर्दू की रचना पर अपना दीर्घ-

कालीन प्रभाव डाल चुकी है। हिन्दी के बहुत से मध्यकालीन कवि इस विषमता के वर्णन में लगे।'[1]

वियोग की प्रधानता—वियोग का प्राधान्य इन स्वच्छन्द कवियो की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता है। प्रेम का निखार विरह मे ही होता है। विरह मे ही प्रेम रग लाता है। विरही ही अनन्य प्रेम का पुजारी होता है। प्रेम विरह मे ही अपनी परकाष्ठा को पहुँचता है। इस सिद्धान्त को स्वच्छन्द धारा के कवियो ने एकमत हो कर स्वीकार किया है। इन कवियो के लिए प्रेम ही जीवन था फलतः विरह उसका अविच्छेद्य अग है और इसलिए विरह का चित्रण उन्होने विशेष अभिनिवेश से किया है। रीतिमुक्त काव्य धारा के कवियो मे यह असाधारण विस्तार से वर्णित है। रसखान और द्विजदेव मे यह अपेक्षाकृत कम है, आलम और ठाकुर मे विशेष तथा बोधा और घनआनंद मे तो असाधारण रूप से अधिक। अतिम दो कवियो के काव्य से यदि विरह बहिर्गत कर दिया जाय तो फिर उनके काव्य में देखने लायक कुछ रह जायगा इसमे संदेह है। हमारे कहने का आशय यह है कि स्वछन्द कवियो मे वियोग-भावना की प्रधानता या आतिशय्या है। यह अतिशय्य दो कारणो से है। एक तो यह कि इनका प्रेम इनके अतःकरण से निकला हुआ आवेग है, रीतिबद्धो की तरह आरोपित नही। दूसरे इनमे से प्रत्येक ने स्वानुभव द्वारा यह निष्कर्ष कर लिया था कि विरह ही सच्चा प्रेम है। जिसने विरह-व्यथा का अनुभव नही किया वह प्रेम-पथ का सच्चा पथिक नही। हृदय और बुद्धि दोनो से वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे। इनमे से प्रत्येक के निजी जीवन मे जिस प्रेम का दीपक जला वह कालान्तर मे गुल हो गया। आगत अधकार मे पुराना प्रकाश ही पाथेय रहा और उसी की पुनर्प्राप्ति मे इन कवियो ने अपना जीवन होम कर दिया। प्रकाश रूप प्रिय फिर मिला या नही और यदि मिला तो किस रूप मे यह तो हर एक के जीवन की व्यक्तिगत बात है और इसी कारण उपलब्धि के भिन्न-भिन्न रूप मिलेगे पर इतना सच है कि विरह सबने झेला, उसकी आँच मे सब तपे और इसीलिए शृगार-काल मे इन वियोग-भोक्ताओं और अनुभावकों का काव्य प्रेम की सच्ची काति से दीप्त है। विरह का ताप जिसने जितना सहा है उसका काव्य उतना ही उन्नत हुआ है। इस काल के कवियो को परखने के लिए मैं साहसपूर्वक यह कसौटी आपके सामने रखना चाहता हूँ और मुझे इस दृष्टि से घनआनंद और बोधा श्रेष्ठतर लगते है। विरह की तडप उनमे जितनी है औरों में

---

[1]देखिये वही पृ० ३८

फारसी उर्दू का यह प्रभाव प्रेम-विषमता के अतिरिक्त शृगार के अंतर्गत बीभत्स व्यापारो के विधान मे भी दिखाई पडता है जैसे बिहारी और रसनिधि की कविता मे।

नही इसीलिए उनके काव्यो मे जो भगिमा और प्रभाव की तीव्रता है वह औरो मे उतनी नही । मै रसखान, आलम, ठाकुर और द्विजदेव के महत्व को कम नही कर रहा । लक्ष्य मात्र इतना ही है कि इस दृष्टि विशेष से देखने पर इनकी अपेक्षा बोधा और घनआनंद मे अधिक रमणीयता है ।

यह कोई संयोग की बात नही कि इन कवियो मे लगभग समान रूप से विरह का आधिक्य मिलता है । यह उनकी जीवनार्जित धारणा है, सच्चे प्रेम से उत्पन्न निष्ठा है जो विश्व के महाकवियों द्वारा स्वीकृत निष्ठा के मेल मे है । कविवर शेली ने कहा था कि हमारे मधुरतम गीत वे हैं जिनमे करुणतम भावनाएँ प्रतिबिंबित होती हैं (Our sweetest songs are those that tell of saddest thoughts) और महाकवि भवभूति ने भी दुखोद्रेक-मूलक वृत्ति को काव्य की मूल वृत्ति माना था । 'एको रसः करुण एव निमित्त भेदात् भिन्न पृथक् पृथगिवश्रयते विवर्तान् । आवर्त बुद्बुद्तरङ्गमयान्विकारान्मो यथा सलिलमेव तुतत्स-मस्तम् ॥' ये कवि भी मानते थे कि सच्चे प्रेमी की मूल स्थिति सयोग नहीं अपितु वियोग ही है । सयोग समस्त कामनाओ की परिसमाप्ति है । वियोग ही चिरंतन कामना है । जीवन का आनद तृप्ति मे नही, तृषा में है । जितनी तृषातुरता होगी प्रेम उतना ही दिव्य, भव्य और परिपक्व होगा । प्रेम के इसी आदर्श का गोस्वामी तुलसीदास ने भी स्वीकार किया था । उनका मत तो यह था कि चातक जो वर्ष भर मे सिर्फ एक बार स्वाति नक्षत्र का एक बूंद जल पीकर तृप्त हो जाता है उसे वह भी न पीना चाहिये क्योकि प्रेम की तृषा का बढ़ना ही भला, तृप्ति पाकर तृषा के कम होने मे प्रेमो की मान-मर्यादा कम होती है —

> चातक तुलसी के मते स्वातिहु पियै न पानि ।
> प्रेम तृषा बाढति भली बाट घटेगी कानि ॥

सिद्धान्त रूप मे रीतिमुक्त बहुत कुछ इसी ढग से सोचा करते थे । अपने जीवन के विचारशील क्षणो मे जब उद्वेग का ज्वार शात हो जाया करता था वे अपनी विरह की उद्विग्न कर देने वाली स्थिति से समझौता कर सके थे—

'जाहि जो जाके हितू न दई वह छोड़े बनै नहीं ओढने आवत ।' (बोधा)

प्रिय का दिया हुआ विरह उन्हे शिरोधार्य था । महत सुख प्राप्त करने के लिए महत दुख झेलना ही पडता है । यह ससार का नियम है—

'चाहिये सुख तो लहिये दुख को इगवार पयोनिधि मे बहिये । (बोधा)

घनआनद की विरहिणी भी अपनी विरह-व्यथा-व्यग्र स्थिति मे पूर्णतः संतुष्ट है जिस विरह मे पड कर सोना ऐसा सोना नही और न जागने ऐसा जागना । ससार का कौन-सा सताप है जो विरहिणी को नही झेलना पडता फिर भी वह अपने मन को समझाती है—

'तेरे बाँटे आयो है अँगारनि पै लोटिबो ।'

अपनी दुरवस्था का दोष वह अपने प्रिय के मत्थे नही मढती, यह तो भाग्य की बात है —

'इत बाँट परी सुधि रावरे भूलनि, कैसे उराहनो दीजिये जू ।' (घनआनँद)

प्रेम के लिये ये लोग बडे से बडा त्याग करने को तैयार है—

जो विशेष जग माहिं एक बेर मरने परै ।
तो हित तजिये नाहिं इश्क सहित मरिबो भलो ।। (बोधा)

व्यथा और पीडा अपनी निरंतरता के कारण इन प्रेमियो के जीवन का एक स्थायी तत्व हो गई है । सुख की कामना मे जिधर चलते है उधर सुख चाहे न मिले दुःख को इनसे इतना लगाव हो गया है कि वह अवश्य मिलेगा—

दिशि जेहि चल्यौ सुख चित चाय । तित दरद सनेही मिलत आय ।। (बोधा)

पीडा को इनसे स्नेह हो गया है, इन्हे पीडा से । ऐसी प्यारी पीडा को भला ये क्योकर छोड़ने लगे । यह वियोग, यह व्यथा इनके जीवन मे इस कदर घुल-मिल गई थी कि वह इन्हें छोडती न थी । ये भी उसे छोड कर सुखी न रह सकते थे इसीलिए इन्हे अपनी व्यथा और तडपन पर बहुत गर्व भी है । ससार के प्रसिद्ध प्रेमियों मीन और शलभ के प्रेम का ये तिरस्कार करते है क्योकि इन प्रेमियो मे वह साहस और सहिष्णुता कहाँ जो सच्चे प्रेमी में होनी चाहिये । प्रेम की रीति नही समझते, प्रेम मे जलना होता है और तडपना होता है और जलते-तडपते जीना होता है । ये प्रेमी तो कायर हैं और असहनशील है जो ज्वाला और तडपन से भयभीत हो अपने प्राण ही विसर्जित कर देते है ।[1] मृत्यु का अर्थ है दुखो की समाप्ति, तात्पर्य यह हुआ कि मीन और पतग बिछुड़न की व्यथा न सह सकने के कारण मृत्यु का वरण कर लेते है पर घनआनंद और बोधा सरीखे प्रेमी साहसपूर्वक जीवित रहते है और प्रणय की पीडा सहते है जिसे

---

[1] हीन भए जल मीन अधीन कहा कछु मो अकुलानि समानै ।
नीर सनेही कों लाय कलंक निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानै ।।
प्रीति की रीति सु क्यौं समुझै जड़ मीन के पानि परे को प्रमानै ।
या मन की जु दसा घनआनँद जीव की जीवनि जान ही जानै ।। (घनआनन्द)

मरिबो बिसराम गनै वह तौ यह बापुरो मीत-तज्यौ तरसै ।
वह रूप छटा न सहारि सकै यह तेज तवै चितवै बरसै ।।
घन आनंद कौन अनोखी दसा मति आवरी बावरी ह्वै थरसै ।
बिछुरे मिलें मीन पतंग दसा कहा मो जिय की गति कों परसै ।। (घनानंद)

देखकर प्रिय का कठोर हृदय भी पिघल उठता है। अपनी वेदना सहने की इस शक्ति पर इन्हे नाज भी कम नही—

> आसा गुन बाँधि कै भरोसो-सिल धरि छाती
>
> पूरे पन-सिधु मैं न बूडत सकायहौं।
>
> दुख दव हिय जारि अंतर उदेग आँच
>
> रोम रोम त्रासनि निरंतर नचायहौं॥
>
> लाख लाख भाँतिन की दुसह दसानि जानि
>
> साहस सहारि सिर आरे लौं चलायहौं।
>
> ऐसे घन आनन्द गही है टेक मन माहिं
>
> एरे निरदई तोहि दया उपजायहौं॥ (घनानन्द)

यह ललकार रत्नाकर की गोपिका की इस ललकार से मिलती-जुलती है—

> नेम व्रत सजम कै आसन अखंड लाइ
>
> साँसनि कौ घूँटिहैं जहाँ लौं गिलि जाइगौ।
>
> कहै रतनाकर धरैंगी मृगछाला अरु
>
> धूरि हू दरैंगी जऊ अंग छिलि जाइगौ।
>
> पाँच आँचि हू की झार झेलिहैं निहारि जाहि
>
> रावरौ हू कठिन करेजौ हिलि जाइगौ।
>
> सहिहैं तिहारे कहैं साँसति सबै पै बस
>
> एती कह देहु कै कन्हैया मिलि जाइगौ॥ (रत्नाकर)

प्रेम और प्रेमी की महत्ता प्रेम-व्यथा के सहन करने मे है उससे डर कर मृत्यु का वरण करने में नही।

सूफी शायरों के प्रेम की पीर तथा फारसी कवियों की वेदना विवृत्ति का प्रभाव—स्वच्छद कवियो का प्रेमविषयक दृष्टिकोण ऐसा पीडा-परक था कि 'प्रेम की पीर' इनके काव्य मे उमड पडी है। पहले भी कहा जा चुका है कि स्वच्छद कवियो की प्रेमकथा सूफियो के 'प्रेम की पीर' का प्रभाव है तथा फारसी शायरी की परपरा का भी जो उस युग मे मुगल राजदरबारो मे चल रही थी। बोधा पर तो यह प्रभाव बहुत ही स्पष्ट है, घन आनद पर भी। इन प्रभावो की चर्चा भी पहले की जा चुकी है और यह भी बताया जा चुका है कि घनआनन्द और रसखान ने सूफी प्रभाव को बडे निजी ढंग से अपनाया है, हाँ बोधा ने उसे जरूर बिना आत्मसात किये हुए स्वीकार किया है। उन्होने लौकिक प्रेम द्वारा अलौकिक प्रेम की प्राप्ति की बात का ढिढोरा तो बार-बार पीटा है—

> (क) इश्क मजाजी में जहाँ इश्क हकीकी खूब।

(ख) इश्क हकीकी है फुरमाया। बिना मजाजी किसी न पाया॥
(ग) सुन सुभान यह इश्क मजाजी। जो दृढ़ एक हक्क दिल राजी॥

परतु प्रेम-पंथ की जो गंभीरता है उसे बोधा सँभाल नही पाए है। उनकी प्रेम-वर्णना शुद्ध लौकिक है। वासना-प्रवणता भी उनके समान औरो मे नही। वे तो मजाजी इश्क (लौकिक प्रेम) में ही अटक कर रह गए, हकीकी इश्क तक वे पहुँच नही सके। रसखान और घन आनन्द जरूर उस उच्चतर सोपान पर पहुँच गए थे जिसे अलौकिक प्रेम या इश्क हकीकी कहा गया है पर उन्होने इसकी डुग्गी न पीटी थी। बोधा के सदृश स्पष्ट रूप से इस सूफी आदर्श का उन्होने उल्लेख नही किया है। उनका यह भाव कृष्ण-प्रेम या कृष्ण-भक्ति के आवरण मे छिप गया है। बाहरी या विदेशी प्रभाव आत्मसात होकर काव्य मे आया है। बोधा सूफी प्रेमादर्शों को अपना निजी रंग न दे सके। स्वच्छंद धारा के प्रतिष्ठित समीक्षको पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और डा० मनोहरलाल गौड ने भी स्वच्छंद कवियो मे वियोग की प्रधानता का कारण सूफी काव्य धारा और समसामयिक फारसी काव्यधारा का प्रभाव माना है। मिश्र जी कहते हैं कि स्वच्छद कवियो मे सामान्यतः तो लौकिक प्रेम का वर्णन हुआ है जो फारसी काव्य की वेदना-विवृति से प्रभावित है तथा जहाँ अलौकिक प्रणय-भावना का वर्णन हुआ है वहाँ वह सूफियो के प्रेम की पीर से। 'प्रेम की पीर' सूफी कवियो का प्रतिपाद्य विषय है। स्वच्छन्द कवियो ने भी 'प्रेम की पीर' को सिद्धान्त रूप मे ग्रहण किया है फलतः यह 'प्रेम की पीर' सूफियो से ही आई है। सूफियो का विरह-वर्णन प्रसिद्ध है। जायसी के पद्मावत मे यह प्रेम की पीर प्रतिपादित हुई है। सूफी सिद्धान्त के अनुसार संत या साधक या प्रेमी सारी सृष्टि में विरह के दर्शन करता है, समग्र सृष्टि को विरह के बाणो से विद्ध मानता है; समूची सृष्टि परमात्मा के विरह मे उसे पीडित प्रतीत होती है। सूफियो की यही विरह-भावना और प्रेम को पीर, स्वच्छन्द कवियो ने फारसी काव्य की वेदना की विवृति के साथ ग्रहण किया है। यही कारण है कि उनके काव्य मे भी वियोग का आधिक्य आ गया है।[1] डा० गौड ने भी स्वच्छंद कवियों पर सूफी प्रभाव को स्वीकार करते हुए लिखा है कि 'सूफियो का विरह मानव मात्र के चित्त मे ही सीमित न रह कर समस्त प्रकृति मे व्याप्त हो जाता है। दूसरे उस विरह में रहस्य भावना का अश भी रहता है। घन आनन्द के विरह मे वह व्याप्ति तो नही पर रहस्य भावना की झलक कही-कही अवश्य आ गई है जो सूफियों से मिलती है।[2]' सूफी और फारसी कवि दोनो ही वियोग को प्रमुखता देते है। सूफियों

---

१. घनआनन्द ग्रन्थावली, वाङ्मुख पृ०४०-४१)
२. घनआनन्द और स्वच्छन्द काव्य धारा : पृ० २६१

का वियोग तो उनकी निष्ठा है। यह विरह शाश्वत है। कभी-कभी चेतनावस्था में क्षण भर के लिये सयोग सुख मिलता है। फारसी के कवि भी प्रेम की एकनिष्ठता और अनन्यता दिखाने के लिये प्रिय को कठोर तथा निर्मोह दिखाते है। इसलिए विरह की प्रधानता आ जाती है। स्वच्छन्द धारा के कवियो ने विशेषत: घनआनन्द ने फारसी काव्य पद्धति से प्रिय की कठोरता और सूफी कवियो से प्रेम की पीर की प्रेरणा ली है। फलत: उनकी रचनाओ मे वियोग का प्राधान्य स्वाभाविक है। इस प्रकार स्वच्छन्द कवियो का प्रेम-वर्णन निश्चय ही एक सीमा तक सूफी कवियो की प्रेम-भावना से प्रभावित है। सूफी कवियो द्वारा वर्णित प्रेम की पीर का प्रभाव बडा व्यापक था। वह कबीर आदि निर्गुण ज्ञानमार्गियो और कृष्ण-भक्त कवियो तक पर पडा। नागरीदास (सावन्तसिह) कुन्दनशाह आदि मे यो यह प्रेम की पीर इस रूप मे आई है कि उसका विदेशीपन साफ झलकता है।[१] सूफियो की प्रेमभावना की मूल विशेषता है लौकिक प्रेम द्वारा अलौकिक प्रेम के उच्चतर सोपान पर पहुँचना, इश्क मजाजी द्वारा इश्क हकीकी की उपलब्धि। प्रेमगति यह सूफी सिद्धान्त घनआनन्द, रसखान और बोधा मे विशेष मिलेगा। घनआनन्द और रसखान का जीवनगत लौकिक प्रेम उत्कर्ष प्राप्त कर अलौकिक प्रेम मे पर्यवसित हो गया था। सूफियो का यह प्रेम सिद्धान्त बोधा के जीवन मे तो घटित नहीं हुआ किन्तु उनके द्वारा प्रतिपादित अवश्य हुआ है—'**इश्क मजाजी में जहाँ इश्क हकीकी** खूब।' बोधा की भाषा-शैली और भावना पर अवश्य यह प्रभाव एक सीमा तक स्पष्ट है। प्रेम के उक्त सिद्धान्त को रसखान और घन आनन्द ने बहुत ही निजी ढंग से कह है रसखान ने कहा है—यह बात गाँठ बाँध लेने की है कि संसार मे प्रेम के बिना आनन्द का अनुभव नही हो सकता, प्रेम चाहे लौकिक हो चाहे अलौकिक—

> **आनन्द अनुभव होता नहिं बिना प्रेम जगजान।**
> **कै वह विषयानंद कै ब्रह्मानन्द बखान ॥**

इसी आशय को घनआनद यो व्यक्त करते हैं—

> **प्रेम को महोदधि अपार हेरि कै, विचार**
> **बापुरो हहरि बार ही तें फिर आयौ है।**
> **ताही एक रस ह्वै बिबस अवगाहैं दोऊ,**
> **नेही हरि राधा जिन्हैं देखें सरसायौ है।**
> **ताकी कोऊ तरल तरंग संग छूट्यौ कन,**
> **पूरि लोक लोकनि उमगि उफनायौ है।**

---

१. घनआनन्द ग्रन्थावली : वाङ्मुख पृ० १४

सोई घन आनंद सुजान लागि हेत होत,
ऐसे मथि मन पै सरूप ठहरायौ है ।।

प्रेम के अपार महासागर मे राधा और कृष्ण अहर्निश एकरस क्रीड़ा करते रहते हैं। उनके प्रेमानन्द की एक चञ्चल लहर से समग्र विश्व प्रेम से परिपूर्ण हो रहा है और उसी प्रेम-तरंग के एक कण से घनआनन्द के हृदय मे सुजान के प्रति इतना प्रगाढ अनुराग आ गया है। इस प्रकार घनआनन्द और सुजान का लौकिक या मजाजी प्रेम राधा और कृष्ण के अलौकिक या हकीकी प्रेम का एक कण मात्र है। वही सूफी प्रेम तत्व है पर कितने निजीपन के साथ कहा गया है, कितने आत्मसात रूप मे अभिव्यक्त हुआ है।

दूसरा प्रभाव फारसी काव्य की वेदना विवृति का है। घनआनन्द ने 'इश्क-लता', 'वियोग बेलि' आदि फारसी की शैली पर ही लिखी है। उपर्युक्त विवेचन से अब यह बात निश्चित हो जाती है कि स्वच्छन्द कवि सूफी प्रेम-पीर और फारसी कवियो की विरह व्यंजना प्रणाली से प्रभावित थे। इन कवियों पर फारसी भाषा-शैली का प्रभाव दिखाने के लिए संप्रति दो उदाहरण काफी है—

नशा कधी न खाते है। आये हम इश्क मद माते हैं ।।
गये थे बाग के ताईं। उतै वे छोकरी आईं ।।
उन्हीं जादू कछू कीन्हा। हमारा दिल कैद कर लीन्हा ।।
अचानक भया भटभेरा। उन्होंने चरम टुकफेरा ।।
कलेजा छेद कर ज्यादा। भया मन मारु में मादा ।।
इश्क दिलदार सों लागा। हमने दिलदर्द अनुरागा ।।
(बोधा : बिरह बारीश)

यारॉ गोकुलचन्द सलोने दिया चस्म दा धक्का है।
ढोरि दिया घनआनंद जानी हुसन सराबी पक्का है।
सैन-कटारी आसिक-उर पर तैं यारां झुक झारी है।
महर-लहर व्रजचंद यार दी जिद असाडा न्यारी है ।।
(घन आनंद : इश्कलता)

विरह वर्णन : रीतिबद्ध कवियों से भिन्न—प्रेम के क्षेत्र मे वियोग संबंधी अपनी विशिष्ट धारणा के कारण स्वच्छन्द कवियो का विरह-वर्णन रीतिबद्ध कवियो से भिन्न है। इस भिन्नता का पहला कारण तो आभ्यातरिकता या अनुभूति-प्रवणता ही है। रीतिमुक्त कवि जहाँ अपनी व्यथा का निवेदन करते हैं वहाँ रीतिबद्ध कवि पराई व्यथा का। किसी की कल्पित या आरोपित व्यथा का राधा आदि की, व्यथा का निवेदन करते हैं। वह पीड़ा जिसे कवि अपने ही हृदय मे अनुभव करता है

उस पीड़ा से कही तीव्र हुआ करती है जिसका उदय दूसरे के हृदय में होता है, किन्तु कल्पना और सहानुभूति द्वारा कवि जिसे अपने मन मे उतारता है। यही अन्तर इन दोनो प्रकार की व्यथाओ की अभिव्यक्ति मे भी मिलेगा। रीतिबद्ध कवियो की व्यथा आरोपित हुआ करती थी, रीतिमुक्तो की स्वानुभूत।

दूसरी बात यह है कि रीतिमुक्त कवि अपनी व्यथा का निवेदन स्वयं किया करते थे जबकि रीतिबद्ध कवि की कल्पित व्यथा का निवेदन अधिकतर सखी, सखा या दूती आदि किया करते थे। इसके कारण भी अभिव्यक्ति अथवा भावना की तीव्रता मे बड़ा अतर आ जाया करता है। विरह-व्यथा के पारपरिक अथवा परपरामुक्त निवेदनों को आमने-सामने रखकर यह अतर सहज ही देखा जा सकता है। बोधा और घनआनद के विरह के उद्गारो की आतरिक टीस और व्यथा की समकक्षता विहारी, देव, मति-राम और पद्माकर के दूतियो के कथनों मे नही ढूँढ़ी जा सकती। मन, प्राण और आत्मा की वह बेचैनी जो घनआनद के इस सवैये मे व्यक्त हुई है रीतिवद्ध कलाकारों के बस की बात नही—

> अंतर हौ किधौं अंत रहौ दग फारि फिरौं की अभागनि भीरौं।
> आगि जरौं अकि पानी परौं अब कैसी करौं हिय का विधि धीरौं॥
> जौ घन आनंद ऐसी रुची तौ कहा बस है अहो प्रानति पीरौं।
> पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्है धरनी में धसौं कि अकासहिं चीरौं॥

रीतिबद्ध कवियों के नायक-नायिका कुटुब और गाँव की मर्यादाओ में बँधे थे इसलिए उनके हर्ष और विषाद लुका-छिपी करते रहते थे। स्वच्छन्द कवियों ने खुद प्रेम किया था और विरह की वेदना सही थी। उन्हे किन्हीं मर्यादाओ की परवाह न थी। उनका जीवन ही प्रेम के लिए उत्सर्ग हो चुका था फलतः मनोवेगो का अकुठ प्रवाह उनकी लेखनी से संभव हुआ है। इसी कारण उनके विरह की तीव्रता और कवि नहीं पा सके हैं। बोधा और घनआनंद की विरह-व्यंजना मे जितनी और जैसी व्यथा है उसके लिए उनका काव्य ही प्रमाण है—

> (क) ऊतर सँदेसो मिलें मेल मानि लीजत हो
> ताहू को अँदेसो अब रह्यो उर पूरि कै।
> उठी वै उदेग आगि जीजै कौन आस लागि,
> रोम रोम परि पागि डारी चिंता चूरि कै॥
> निपट कठोर कियौ हियो मोह मेटि दियौ,
> जान प्यारे नेरे जाय मारौ किंत दूरि कै।
> तरफौं बिसूरि कै बिथा न टरै मूरि कै,
> उड़ायहौं सरीरै घनआनँद यौं धूरि कै॥

(ख) तपति बुझावन आनँदघन जान बिन
होरी सी हमारे हिये लगियै रहति है।

(ग) अंतर आँच उसाँस तचै अति अंग उसीजै उदेग की आवस।
ज्यौ कहलाय मसोसनि ऊमस क्यौहूं कहूँ सुधरै नहि थ्यावस ॥
—— (घनानंद)

(घ) रोवत बाल बिरह मदमाती। ताके रोवत विरह न छाती ॥
अब कहु सखी करौं मैं कैसी। भई दशा माधो की ऐसी ॥
गिरी तें गिरौ मरौं विष खाई। तनु तजि मिलौं माधवै जाई ॥
मरौं मिटै दुख मेरो प्यारी। कैसेहू प्राण कढ़ै इहिं बारी ॥
—— (बोधा)

(थ) बोधा कवि भवन मे कैसेहू रह्यो न जाय
बिरह दवागि ते न जायो जाय बन को।
शरद निसा में चन्द निश्चर ऐसो ताकी
चाँदनी चुरैल सो चबाए लेत तन को ॥ (बोधा)

———

(ङ) बरुनीन मैं नैन झुकैं उझकैं मनौ खजन प्रेम के जाले परे।
दिन औधि के कैसे गिनौं सजनी अँगुरीन के पोरन छाले परे।
कवि ठाकुर ऐसी कहा कहिए निज प्रीति करे के कसाले परे।
जिन लालन चाह करी इतनी तिन्हैं देखिबे के अब लाले परे ॥
(ठाकुर)

विरह-वर्णनसबंधी तीसरी विशेषता जो इन कवियो मे जगह-जगह पाई जाती है वह यह कि अनेक बार इन्होंने अपनी व्यथा को मौन मे छिपा रक्खा है। लोक मे यह उक्ति प्रसिद्ध भी है कि अक्सर खामोशी भी बड़ी व्यजक हुआ करती है (Silence is the best eloquence)। इन कवियो ने भी अनेक बार कुछ न कहकर बहुत कह दिया है, उस मौन मे भी इनकी पीड़ा फूट कर ही रही है। इनके हृदय में बार-बार यह बात आई है कि अपने मन की व्यथा मन में ही रक्खी जाय। बार-बार व्यथा इनके मन ही मन घुटती रही है और ये व्यथा मे घुटते रहे हैं—

(क) कहिए मुख मौन भई सो भई अपनी करी काहू सों का कहिए। (बोधा)
(ख) आवत है मुख लौं बढ़ि कै पुनि पीर रहै हिय ही मैं समाई कैं। (बोधा)
(ग) मुँदते ही बनै कहते न बनै तन में यह पीर पिरैबो करैं। (बोधा)
(घ) पहिचान हरि कौन मो से अनपहचान कों।
त्यौं पुकार मधि मौन। कृपा-कान मधि नैन ज्यौं ॥ (घनआनन्द)

चौथी विशेषता इनके वियोग-वर्णन मे ऊहात्मकता या दूरारूढ कल्पना का अभाव है, इसके मूल कारण का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इनकी अभिव्यक्ति अंतःप्रेरित रही है इसी कारण भावुकता से असपृक्त उक्तियो का विधान इनमे बहुत कम मिलता है। रीतिकारो की-सी विरह सबधिनी उपहासास्पद उक्तियाँ इन कवियों में अपवाद स्वरूप ही मिलेगी। स्वच्छद काव्य के विरहियो के गाँव मे माघ महीने की रात्रि मे विरह-ताप-जन्य ऐसी लूये नही चलती जिसमे सखियो को गीले कपडे ओढकर नायिका के पास जाना पड़ता हो। ये विरही ऐसी आहे नही भरते जिससे इनका विरह-दुर्बल गात्र साँस लेने और छोडने मे छ-सात हाथ पीछे या आगे हट-बढ़ जाता हो। इनका देह विरह मे ऐसी भट्टी नही बनने पाया है जिसके ऊपर गुलाब जल की भरी शीशी उलट दी जाने पर भी गुलाब जल मात्र भाप के ही रूप में दिखाई देता हो तथा जुगनुओ को देखकर इन विरहियो को अग्नि-वर्षा का भ्रम नही होता। विरह-ताप की ऐसी अनूठी नाप-जोख ये कवि नही कर सके क्योकि इनका विरह सच्चा था, निजी था, भुक्तभोगी का कथन था। आलम की निम्नलिखित युक्ति अथवा ऐसी कुछ उक्तियाँ स्वच्छंद धारा की वियोगमूलक काव्य राशि मे अपवाद स्वरूप ही मिलेगी—

> **अब कत पर घर माँगन है जाति आगि,**
> **आँगन में चाँदु चिनगारी चारि झारि लै।**
> **साँझ भई भौन सँझबाती क्यौं न देती है री,**
> **छाती सों छुवाय दिया बाती आनि बारि लै ॥**

आलम की यह युक्ति कि साँझ हो गई है और दिया जलाने के लिए आग नही मिलती तब विरहिणी कहती है अपनी सखी से कि देख मेरा यह हृदय विरह के कारण जल रहा है, दिया बत्ती ले आ और मेरी छाती से उसे छुआ कर जला ले। उक्ति-चमत्कार की यह कल्पना समसामयिक रीतिबद्ध काव्य और फारसी उर्दू की अतिशयोक्ति प्रधान शैली के प्रभाव स्वरूप अथवा प्रतिस्पर्धा मे की गई जान पड़ती है। स्वच्छन्द कवियो मे ऐसी भाव-विच्छिन्न कल्पना बहुत कम मिलेगी। उसका कारण यही है कि इन कवियों ने हृदय की सच्ची व्यथा को मुखर किया है।

आभ्यातरिक और हृदय-प्रसूत होने के कारण इनका विरह-वर्णन रीति ग्रथों में कथित शास्त्रीय पद्धति पर नही हुआ है, उसमे विरह के नाना भेदोपभेदो (अभिलाषा हेतुक, ईर्ष्या हेतुक, विरह हेतुक, प्रवास हेतुक, शाप हेतुक और मान हेतुक) तथा विभिन्न स्थितियो और कामदशाओ (अभिलाषा, चिंता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मृति) का बंधा बंधाया स्वरूप देखने को नही मिलता। ये भेद और कामदशाएँ इनके काव्य मे ढूँढ़ी तो जा सकती हैं किन्तु शास्त्रोक्त योजना-

नुसार ये स्वच्छंद कवि चले नही हैं, चल सकते नही थे । ऐसा हो भी कैसे सकता था जब ये अंतर्व्यथा के आवेग मे रचना किया करते थे ।

इनकी वियोगव्यथा की व्याप्ति और निरतरता का तो पूछना ही क्या ! जीवन का कोई क्षण ऐसा न होता था जब बेचैनी न रहती हो । स्वच्छन्द धारा के श्रेष्ठतम प्रतिनिधि घनआनद की तो कम से कम यही स्थिति थी, बोधा का विरह भी बहुत कुछ इसी कोटि का था । विरही घनआनंद को तो रात-दिन चैन न थी—

रैन दिन चैन को न लेस कहूँ पैये, भाग
आपने ही ऐसे दोस काहि धौं लगाइयै ।

प्रिय की मनमोहिनी मूर्ति अपनी नाना छबियो के साथ रात-दिन सामने खडी रहती थी—

'निसि द्यौस खरी उर माँझ अरी छबि रंग भरी मुरि चाहनि की,

यह छबि मन की आँखो के सामने तो सतत विद्यमान रहती थी पर तन की आँखे उसके लिए सदा तरसती रहती थी, उसकी एक झलक भी नसीब न होती थी—

घन आनन्द जीवन मूल सुजान की कौंधनि हू न कहूँ दरसै'

इस प्रकार इनकी वियोग व्यथा विरह मे तो सताती ही रहती थी संयोग मे भी पीछा न छोडती थी—

भोर तें साँझ लौं कानन ओर निहारति बावरी नेकु न हारति ।
साँझ ते भोर लौं तारन ताकिबो तारनि सों इकतार न टारति ।।
जौ कहूँ भावतो दीठि परै घन आनन्द आँसुनि औसर गारति ।
मोहन सोहन जोहन की लगियै रहै आँखिन के उर आरति ।।

वियोग तो वियोग ही था उसका खटका संयोग से भी लगा रहता था कि कही वियोग न हो जाय—

अनोखी हिलग दैया बिछुर्‌यो पै मिल्यौ चाहै,
मिले हू पै मारै जारै खरक बिछोह की ।

औरो के लिए भले अचरज की बात हो पर सच तो यह था कि इनका हृदय वियोग सहते-सहते विरह का इतना अभ्यस्त हो चला था कि संयोग की सुखद स्थिति मे भी चैन नही मिलने पाता था—

कहा कहिये सजनी रजनीगति, चन्द कढ़ै कि जियै गहि काढ़ै ।
अमीनिधि पै विष-सार स्रवै, हिम जोति जगाय कै अंगनि डाढ़ै ।।
सु या पति संग न जानति है घन आनंद जान बियोग की गाढ़ै ।
बियोग में बैरनि बाढ़ति जैसो, कछू न घटै, जु सँजोग हूँ बाढ़ै ।।

यह कैसो सँजोग न जानि परै जु बियोग न क्यौं हूँ बिछोहत है ।

ऐसी दारुण स्थिति थी कि संयोग मे भी वियोग से वियोग नही होने पाता था—

दिशि जेहि चल्यो सुख चित्त चाय। तित दरद सनेहो मिलत आय ॥
(बोधा)

विरह की आँच में तप कर इन प्रेमियों का प्रेम पवित्र हो गया था। इनकी वृत्तियाँ उदात्त हो गई थी, अनेक कवि तो भगवदोन्मुख भी हो चले थे। मन की वासनाओ का सस्कार हो चला था। वियोग इन्हे प्रेम के उच्च आदर्शों की प्रतिष्ठापना मे सहायक हो सका था। वासना और कामुकता के निर्बन्ध उद्गार केवल बोधा मे मिलेगे, कही-कही आलम मे, शेष कवियो की कृतियाँ तो पवित्र प्रेम की व्यजनाएँ है। उन्होने शरीर सुख की कामना नही की। मात्र मिलन और सान्निध्य की अभिलाषा व्यक्त की है विगत घटनाओं की स्मृति की है प्रिय के लाख-लाख गुणों का स्मरण उसकी साप्रतिक अवहेलना पर उपालभ तथा लक्ष विधि आत्म निवेदन। प्रणय की ऐसी दिव्य और तीव्र अनुभूतियों को उन्होने वासना से पंकिल नही होने दिया है। प्रेम की व्यथा जरूर व्यक्त की है पर वासना से मुक्त और दिव्य प्रेम की आभा से मंडित—

(१)　जब ते सुजान प्रान प्यारे पुतरीनि तारे,
　　　　आँखिन बसे हौ सब सूनो जग जोहियै।

(२)　जब तें निहारे इन आँखिन सुजान प्यारे,
　　　　तब तें गही है उर आन देखिबे की आन।
　　रस भीजै बैननि लुभाय कै रचे है तहीं'
　　　　मधु-मकरन्द-सुधा नाबौ न सुनत कान ॥
　　प्रान प्यारी न्यारी घनआनन्द गुननि कथा
　　　　रसना रसीली निसिबासर करत गान।
　　अंग अंग मेरे उनही के संग रंग रँगे,
　　　　मन सिंघासन पै बिराजै तिन हां को ध्यान ॥ (घनआनंद)

इनके विरह वर्णनो में आसक्ति की तीव्रता है इसी से इनका प्रणय इतना प्रगाढ है। एक ओर तो वासना का तिरस्कार दूसरी ओर रीझ या आसक्ति का आतिशय्य। इमी रीझ के हाथ मे बिके हुए हैं—

दौरीं फिरै न रहै घन आनंद बावरी रीझ के हाथनि हारिये।

आसक्ति जितनी तीव्र होगी अप्राप्ति में प्रिय प्राप्ति की लालसा उतनी ही बलवती। यही कारण है कि ये कवि विरह का आत्यंतिक चित्रण कर सके है। इनकी आसक्ति और तज्जन्य विरह कोरी बुद्धि की उपज न थी, वह सब इनके हृदय द्वारा अनुभूत थी इसी से इनकी अभिव्यक्तियाँ भी इतनी मार्मिक हो सकी हैं। उनमे जो नवलता है वह

इसी ह्रार्दिकता की लपेट के कारण । इन कवियो की व्यंजना-शैली मे भी जो वैशिष्ट्य है वह इसी व्यक्तिनिष्ठता के कारण, प्रणय भावना की आतरिकता के कारण ।

इसी विरह प्रसग मे दो-एक और बाते भी प्रासगिक रूप से निवेदनीय हैं। एक तो यह कि इन कवियो ने मात्र नारी के विरह का ही चित्रण नही किया है पुरुष के विरह का भी वर्णन किया है जैसा रीतिबद्ध काव्य मे कम मिलता है। संभव है यह सूफी प्रभाव हो । बोधा ने माधवानल कामकंदला मे 'माधव' का विरह स्थान-स्थान पर विस्तारपूर्वक दिखलाया है । यही बात आलम के भी आख्यान मे है और गोपी घनश्याम के व्याज से वर्णित सारा गोपी विरह मूलतः तो घनआनद की स्वीय प्रीति-व्यथा की अभिव्यक्ति है । इसका कारण एक बडी हद तक स्वानुभूति का प्रकाशन भी है । दूसरी बात यह है कि प्रबध की धारा में कथा की आवश्यकता के अनुसार जगह-जगह भिन्न-भिन्न स्थितियो में विरह का जो वर्णन किया गया है, विशेषतः अपने आख्यानो मे बोधा और आलम के द्वारा, उसका स्वरूप भी पर्याप्त गंभीर है। मैं समझता हूँ कथाकाव्यो मे परिस्थिति के संघात से विरह की वर्णना विशेष चमत्कार-पूर्ण और प्रभावोत्पादक हो जाती है । विरह-चित्रण की यह गभीरता और सुन्दरता बोधा के काव्य मे सर्वोत्कृष्ट रूप मे सुलभ है । मुक्तको मे भाव की वह गभीरता इतनी सरलता से नही लाई जा सकती जो पूर्वा-पर सबधो से युक्त प्र बन्ध काव्यो में सहज विन्यस्त हो सकती है । तीसरी उल्लेख्य बात यह है कि जगह-जगह विरह का चित्रण करते हुए इन कवियो ने उस विरहोन्माद का भी चित्रण किया है जो हमे परंपरा से प्राप्त रहा है जिसमे पड कर ये विरही जड-चेतन का भेद भूल जाते है तथा कभी वृक्षो से, कभी लताओं से, कभी पक्षियो से अपने प्रिय का समाचार पूछते है और कभी वायु से अथवा मेघ से अपनी व्यथा का निवेदन करते है और उसे प्रिय तक पहुँचाने का आग्रह भी । चौथी बात यह है कि ये कवि भी आवश्यकतानुसार ऋतुओं और प्रकृति की परिवर्तनशीलता मे विरह के उत्तेजित स्वरूप का चित्रण परपरानुमोदित रूप मे कर गए हैं । नियमित रूप से रीतिकारो की भाँति तो षड्ऋतु वर्णन किसी ने नही किया है पर वर्षा और वसंत ऐसी ऋतुओं में विरह की स्थिति का चित्रण अवश्य हुआ है । बारहमासा तो बोधा ने ही लिखा है ।

रहस्यदर्शिता का अनुभव—स्वच्छन्द कवियों का काव्य रहस्यात्मक नही क्योकि उसमे वर्णित प्रेम मूलतः लौकिक प्रेम है। कभी-कभी ऐसा अवश्य हुआ है कि लोक में प्रेम की असफलता प्राप्त होने पर वही वृत्ति भगवदोन्मुख हो गई है। वह प्रेम-वृत्ति ईश्वर के सगुण रूप श्री कृष्ण मे समा गई है । यदि निर्गुण निराकार के प्रति वह आसक्ति निवेदित की गई होती तो रहस्यमयता के लिए गुजाइश भी होती । सूफियों का रहस्यवाद प्रसिद्ध है। इन पर सूफियो का प्रभाव था फिर भी ये रहस्य-

वादी न बन सके। घनआनंद आदि मे कही रहस्यात्मकता की झलक मिलती है, उदाहरण के लिए इस प्रकार के दो-चार कथनो मे—

मन जैसें कछू तुम्हें चाहत है सु बखानिये कैसें सुजान ही हौ।
इन प्राननि एक सदा गति रावरे, बावरे लौं लगिये नित लौ॥
बुधि औ सुधि नैननि बैननि मैं करि बास निरंतर अंतर गौ।
उघरौ जग छाय रहे घन आनँद चातिक त्यौं तकियै अब तौ॥

अंतर हौं किधौं अंत रहौ दृग फारि फिरौं कि अभागनि भीरौं....आदि।
परन्तु वह इन कवियो की स्थायी वृत्ति कभी नही रही। काव्य के क्षेत्र मे रहस्य-भावना का प्रसार और विस्तार निर्गुण को स्वीकार करके चलने में संभव होता है किन्तु स्वच्छन्द कवियो ने विरह-वर्णन के लिए गोपी-कृष्ण के प्रेमवृत्त का सहारा लिया, कृष्ण को यदि ईश्वर के रूप मे स्वीकार किया तो भी उनकी व्यक्त सत्ता के चिंतन और ध्यान मे रहस्य-भावना, गुह्य या गोप्य का ध्यान और चिंतन के लिए अवकाश न था। फलस्वरूप उनका प्रेम या विरह-वर्णन रहस्यात्मक नहीं होने पाया है। गोपियो का विरह-निवेदन उन्होने अत्यत विशद रूप मे किया है परन्तु सगुण स्वरूप वाले श्रीकृष्ण के संदर्भ मे रहस्य दर्शन और गुह्य चिंतन के लिए गुंजाइश न थी। बात यह है कि रहस्यात्मक प्रवृत्ति का मेल जितना अधिक निर्गुण साधना से बैठता है उतना अधिक सगुण साधना से नही। कही-कही जैसा कि उपर्युक्त अवतरणों से तथा अन्यत्र की गई विवेचनाओ एव उदाहरणों से पता चलेगा रहस्य की झलक भर आ गई है। भारतीय भक्ति मे यों भी रहस्यात्मकता का समावेश कभी नही रहा।[1] रहस्य की जो झलक यत्र-तत्र प्राप्त है उसे पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने फारसी साहित्य और सूफी साधना के प्रवाह से संबद्ध रूप में देखा है।[2] यह झलक घनआनंद, रसखान और बोधा तथा आलम मे तो मिल सकती है क्योकि इन पर थोड़ा बहुत सूफी प्रभाव था फिर भी यह झलक है बहुत ही कम। ठाकुर और द्विजदेव मे तो रहस्य की झलक बिल्कुल ही न मिलेगी क्योकि ये कवि शुद्ध भारतीय प्रेम पद्धति को लेकर चले हैं। इनकी प्रेम-भावना बिल्कुल भारतीय ढग की है।

स्वच्छन्द कवि मूलतः भक्त नही प्रेमी थे—स्वच्छन्द धारा के कवियो की गणना भक्त कवियो मे न की जाकर प्रेमी कवियो मे की जायगी क्योकि ये प्रेम की उमंग के कवि थे। घनआनंद ने निम्बार्क संप्रदाय मे दीक्षा ली थी। संप्रदाय

---

1. घनआनद ग्रन्थावली : वाङ्मुख, पृ० ४१
2. घनआनंद और स्वच्छंद काव्य धारा : परिचय, पृ० ६

विशेष की भक्ति अंगीकार करने तथा भक्तिपरक साहित्य की सर्जना करने के अनंतर भी वे प्रेमियो की मंडली के ही शोभा बने, साहित्य में वे 'प्रेम की पीर' के ही कवि रूप मे बहुश्रुत हुए। आलम, ठाकुर, बोधा और द्विजदेव शृंगार के ही कवि माने गए। कुछ छन्दो में किन्ही देवी-देवताओ की स्तुति लिखने के कारण इन्हे भक्त नही कहा जा सकता। सूर-तुलसी और मीरा की श्रेणी मे इन्हे नहीं बिठाया जा सकता। रसखान उत्कट कृष्णानुराग के कारण अवश्य भक्तों मे गिने जाते है परन्तु उनका भी चरम काम्य प्रेम ही रहा है। वे प्रेम की निर्बाध महिमा के गायक रहे हैं—

(क) प्रेम अयनि श्री राधिका, प्रेम बरन नदनंद।
प्रेम बाटिका के दोऊ माली मालिन द्वंद ॥

(ख) प्रेम अगम अनुपम अमित सागर सरिस बखान।
जो आवत एहि ढिग बहुरि जात नहीं रसखान ॥

(ग) शास्त्रनि पढ़ि पण्डित भए कै मौलवी कुरान।
जु पै प्रेम जान्यौ नहीं कहा कियो रसखान ॥

(घ) जेहि पाये बैकुंठ अरु हरि हू की नहिं चाहि।
सोइ अलौकिक सुद्ध सुभ सरस सुप्रेम कहाहि ॥ (प्रेमवाटिका)

इस प्रकार रसखान भी प्रेम की महिमा का अखंड संकीर्तन करते हुए प्रेमियो के शिरमौर हो गए हैं। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र लिखते हैं कि 'जिस प्रकार ये रीति से अपने को स्वच्छन्द रखते थे उसी प्रकार भक्ति की साप्रदायिक नीति से भी अतः ये भक्तिमार्गी कृष्ण भक्तो, प्रेममार्गी सूफियो, रीतिमार्गी कवियो—सबसे पृथक् स्वच्छन्दमार्गी प्रेमोन्मत्त गायक थे। कोई इन्हे इनकी भक्तिविषयक रचना के कारण भक्त कहता हो तो कहे, पर इतने व्यतिरेक के साथ कहे कि ये स्वच्छन्द प्रेममार्गी भक्त थे तो कोई बाधा नही है। स्वच्छन्दता इनका नित्य लक्षण है। यही कारण है कि इन्होंने काव्य-शैली की दृष्टि से भी भक्तों से प्रस्थानभेद सूचित किया।[३] रसखान के विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी कहा है कि वे "आरंभ से ही बडे प्रेमी जीव थे। प्रेम के ऐसे सुन्दर उद्गार इनके सवैयो मे निकले कि जनसाधारण प्रेम या शृंगार संबंधी कवित्त-सवैयो को ही 'रसखान' कहने लगे। इनकी कृति परिमाण मे तो बहुत अधिक नही है पर जो है वह प्रेमियों के मर्म को स्पर्श करने वाली है। दूसरे रसखान ने कृष्णभक्तों के समान गीति काव्य का आश्रय न लेकर कवित्त सवैयो में अपने सच्चे प्रेम की व्यंजना की है।"[४] ये कवि कृष्ण के साथ अन्यान्य देवी-देवताओं का नामो-

३. घनआनंद ग्रन्थावली : वाङ्मुख, पृ० ४३
४. हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १७७

ल्लेख, भजन या कीर्तन करते थे। कृष्ण का ही प्रधान रूप से उल्लेख इनके काव्यो में कृष्णभक्ति के कारण नही वरन् इसलिये कि उनसे अधिक प्रेमोपयुक्त पात्र अथवा प्रेम का देवता कोई दूसरा न था। रीतिमुक्त या रीतिबद्ध कवियो देव, दास, पद्माकर, बिहारी, सेनापति आदि ने भी विभिन्न देवी देवताओ की स्तुति में छन्द रचना की है पर यह इनकी भक्ति का लक्षण नही। भगवद्भक्ति मे सूर, तुलसी और मीरा की सी निमग्नता इनके काव्यो मे नही। ये स्वच्छन्द कवि लौकिक प्रेम के पुजारी थे पर यह लौकिक प्रेम स्थूल भोगवासना प्रधान न होकर मानसिक और आंतरिक अधिक था। जहाँ-तहाँ स्थूल ऐन्द्रिकता भी थी, इसका निषेध नही किया जा सकता। कृष्ण लीला इनकी उस प्रेम व्यजना के साधन रूप मे स्वीकृत है, इनकी भक्ति का आधार नही। यह पहले ही बता चुके हैं कि इन कवियो का निजी जीवन ऐहिक प्रीति-रस से सिक्त था। सरल सादा प्रेम मार्ग जिसमें बुद्धि की चतुराई और वक्रता के लिए कोई गुजाइश न थी इनका प्रिय मार्ग था—

अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चलैं तजि आपुनपौ झझकैं कपटी जे निसाँक नही ॥ (घनआनद)

ये उसी 'सयानप रहित' और 'अवक्र' मार्ग पर चलने वाले पथिक थे; हृदय का अर्पण ये जानते थे बुद्धि की चतुरता से भरी कतर-ब्यौत से इनका वास्ता न था। ये हृदय को आगे करने वाले थे रीझ पर मरने वाले थे। बुद्धि की चातुरी इनकी सादगी पर पानी भरा करती थी—

रीझ सुजान सची पटरानी बची बुद्धि बापुरी है करि दासी। (घनआनंद)

स्वच्छन्द कवियों की रचनाओं के तीन स्थूल विभाग—स्वच्छन्द कवियों की समस्त रचनाओ के मोटे तौर से तीन खड किये जा सकते हैं। ये खंड या विभाग रचनागत प्रवृत्ति की दृष्टि से है। पहले प्रकार की रचनाएँ वे हैं जो रीति से प्रभावित हैं जिसमें रीतिबद्ध रचना पद्धति की छाप है। यह छाप आलम और द्विजदेव की काव्य शैली पर विशेष है। इनकी वर्णन शैली, उपमान योजनाएँ आदि किसी सीमा तक रीतिबद्ध अथवा रीति सिद्धकर्ताओ के मेल मे हैं। नेत्रो को लेकर बाँधी गई उक्तियाँ, खंडिता के कथन आदि जो इन तथा अन्य स्वच्छन्द कवियो मे समान रूप से मिलते हैं रीति के प्रभाव के ही सूचक है हाँ विपरीत रति और सुरतात के चित्र बोधा को छोड किसी ने नही प्रस्तुत किये। बोधा पर यह बाजारी प्रभाव विशेष था। नायिका-भेद किसी ने नही लिखा। खडितादि के जो वर्णन हैं उनमें प्रिय के ऊपर प्रिया के संसर्ग अथवा रमण-चिह्नो का सविस्तार वर्णन कम, हृदय की भावनाओ का चित्रण विशेष है। नीचे एकाध उदाहरण देकर यह दिखाने का यत्न किया जा रहा है कि ये रचनाएँ किस प्रकार रीतिबद्धकर्ताओं की कृतियों के मेल मे हैं—

(१) कैधौं मोर सोर तजि गए री अनत भाजि
कैधौं उत दादुर न बोलत हैं ए दई।
कैधौं पिक चातक महीप काहू मारि डारे
कैधौं बकपाँति उत अन्तगति ह्वै गई॥
आलम कहै हो आली अजहूँ न आए प्यारे
कैधौं उत रीति बिपरीति बिधि ने ठई।
मदन महीप की दोहाई फिरिबे ते रही
जूझि गए मेघ कैधौं दामिनी सती भई॥ (आलम)

(१) तेरोई मुखारबिन्द निंदै अरबिन्दै प्यारी
उपमा को कहै ऐसी कौन जिय मैं खगै।
चपि गई चन्द्रिकाऊ छपि गई छबि देखि
भोर को सो चाँद भयो फीकी चाँदनी लगै॥ (आलम)

(३) आलम कहै हो रूप आगरो समातु नाहीं
छबि छलकति इहाँ कौन की समाई है।
भूषन को भारु है किसोरी बैस गोरी बाल
तेरे तन प्यारी कोटि भूषन गोराई है॥ (आलम)

(४) जावक के भार पग परत धरा पै मंद
गंध भार कुचन परी हैं छुटि अलकैं।
द्विजदेव तैसियै विचित्र बरुनी के भार
आधे आधे दृगनि परी हैं अध पलकैं॥
ऐसो छुबि देखि अंग अंग की अपार
बार बार लोचन सु कौन के न ललकैं।
पानिप के भारत सँभारत न गात लंक
लचि लचि जात कच भारत के हलकैं॥ (द्विजदेव)

हो सकता है किसी-किसी कवि मे इस प्रकार की रचनाएं काव्यारंभ काल की हों। स्वच्छंद कवियो पर समसामयिक काव्य पद्धति का बिल्कुल ही प्रभाव न होता यह बहुत ही कठिन बात थी। वस्तु और भावतत्व पर कम शैली पर यह प्रभाव अवश्य है। दूसरे प्रकार की रचनाएँ वे हैं जिनमे भक्ति भावना के दर्शन होते हैं। ये प्रभाव रसखान और घनआनंद पर विशेष है इस प्रकार की पंक्तियाँ—

(क) या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
(ख) काग के भाग कहा कहिये हरि हाथ सों लै गयो माखन रोटी।
(ग) सेस महेस गनेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं....आदि

लिखकर जहाँ रसखान ने अपनी अनन्य भक्ति का परिचय दिया है वहाँ घनआनंद ने भी नाम माधुरी ब्रज स्वरूप, गोकुल विनोद, ब्रज प्रसाद, पदावली आदि कृतियों के द्वारा अपनी भक्तिपरायणता का परिचय दिया । यह भी पूर्ववर्त्तिनी और सम-सामयिक भक्ति प्रवाह का ही परिणाम था जो इस प्रकार की रचनाओ से स्पष्ट है—

(१) गोपाल तुम्हारेई गुन गाऊँ ।
करहु निरंतर कृपा कृपानिधि बिनती करि सिर नाऊँ ।
टरत न मोहनि मूरति हिय ते देखि देखि सुख पाऊँ ।
आनंदघन हौ वरसौ सरसौ प्रान पपीहा ज्याऊँ ।। (घनानंद)

(२) कौन पै गावत गनत बनै हो ।
गुन अनंत महिमा अनंत नित निगमौ अगम भनै हो ।
जो जाको अनुमान जानमनि मानत मोद मनै हो ।
चातक चोंप चटक त्यों चितैबो उचित आनंदघनै हो ।। (घनानंद)

तीसरे प्रकार की और सब से महत्वपूर्ण रचनाएँ वे है जिन्हे हम स्वच्छन्द या रीतिमुक्त कहते है, जिनकी विशेषताओ का ऊपर सविस्तार विश्लेषण किया गया है, तथा जिसकी परपरा निरपेक्षता ने उसे मध्ययुग की इतनी प्रधान काव्यधारा का रूप दिया है ।

शैली-शिल्प या कला-पक्ष—अतिम महत्वपूर्ण विशेषता है रीति स्वच्छन्द कवियों की शैली । ये कवि शैली के क्षेत्र मे भी रीति परंपरा से मुक्त रहे हैं । ये मुक्ति एक तो इस बात मे है कि सभी स्वच्छन्द कवि अपनी भाषा-शैली के बल पर पहचाने जा सकते है चाहे उनकी कृतियो से उनके नाम निकाल दिये जायँ । रसखान, घनआनन्द, बोधा और ठाकुर तो अपनी शैली-वैशिष्ट्य के कारण छिपाए नही छिप सकते । यह शैलीगत वैशिष्ट्य इस बात का द्योतक है कि ये कवि रचना पद्धति के क्षेत्र मे भी किसी निर्दिष्ट पथ पर नही चले बल्कि सभी ने अपनी लीक अलग बनाई । इन कवियो की शैली, अलंकृति, छन्द और भाषा सबंधिनी जो स्वतन्त्र विशेषताएँ हैं उनका सविस्तार व्याख्यान यहाँ सभव नही । रसखान की सादगी और भावुकता, घनआनंद का विरोधाश्रित भाषा-शिल्प, ठाकुर की लोकोक्तिप्रधान तथ्यगर्भित शब्दावली, बोधा की विरहोन्मत्त वाणी सभी अलग है । आलम का भाव और शैली विषयक संतुलन और द्विजदेव की धाराशैली भी विशिष्ट है । दूसरी जो महत्वपूर्ण बात लगभग सभी कवियो मे समान रूप से पाई जाती है वह है रीतिकारो की अतिशय अलंकारप्रियता के प्रति उदासीनता । आलंकारिक चमत्कार के निदर्शन का लक्ष्य लेकर कोई भी काव्य रचना में प्रवृत्त न हुआ । बोधा, ठाकुर और द्विजदेव के लिए अलंकार बहुत कुछ अनपेक्षित ही था । इनकी कृतियो में सहजता और आयासहीनता का वैशिष्ट्य है । किन्हीं-किन्ही की कृतियों मे तो अलकार खोजने पडते है । तीसरी बात जो लगभग समान रूप से सब में प्राप्य है वह है अंतःप्रेरित भाषा और अभिव्यजना । इनकी

भाषा और शैली स्वतः प्रसूत है, भावप्रेरित है अतः आयास रहित और निजत्व संपन्न। चौथी विशेषता यह है कि भाषा की शक्ति को इन सभी कवियो ने समृद्ध किया है। इनमे भाषा के प्रति दृष्टि की संकीर्णता न थी। सस्कृत, अरबी, फारसी के साथ बुन्देली, पंजाबी, राजस्थानी, भोजपुरी, अवधी आदि के देशज शब्द स्वतंत्रतापूर्वक इन्होंने ग्रहण किये है। किसी भी भाषा के शैलीकारो की यह विशेषता सदा से रही है। भाषागत किसी कट्टरता या अनुदारता की नीति इन्होने कभी नही अपनाई। प्रयोगो द्वारा प्रचलित शब्दो मे नया अर्थ भरने का काम भी इन्होंने सफलतापूर्वक किया है। लक्षणा और व्यंजना की शक्तियो को इन्होने असाधारण रूप से सम्पन्न किया है। भाषा को लचीली बना कर उसमे प्रयोग सौन्दर्य के साथ-साथ अर्थ की संपदा भरने का भी इनका प्रयत्न श्लाघनीय है। मुहावरे और लोकोक्तियो से इनकी शैली सजीव बनी है। छन्द के क्षेत्र मे इन्होने कोई नया माध्यम नही स्वीकार किया। युग के सर्वप्रिय छन्द कवित्त-सवैया मे ही इन्होने अपनी वाणी का विलास निर्दशित किया है। घनआनन्द ने अनेक अतिरिक्त छन्दो का भी प्रयोग किया है तथा भारी सख्या मे पदो की रचना भी की है। बोधा मे छन्दो की प्रचुरता है क्योकि वे प्रमुख रूप से प्रबन्ध रचना मे लीन हुए। उर्दू के छन्द और रेखते आदि भी इन कवियो ने प्रयुक्त किये हैं। अभि-व्यंजना या वर्णन शैली के क्षेत्र मे कोरी अतिशयोक्तियों से ये दूर रहे है। अतिशियो-क्तियाँ इन्होने की है पर भाव से सपृक्त।

इस प्रकार ये कवि प्रकृत्या स्वच्छन्द थे। न तो कृष्णभक्तो-सी इनमे साम्प्र-दायिक भक्ति थी न सूफियो सी रहस्यमयी ब्रह्म साधना और न रीतिबद्ध काव्याचार्यों-सा रीति और शास्त्र का आग्रह। प्रेम की दिव्य मदाकिनी मे निमग्नामग्न रहने वाले ये स्वच्छन्द कवि अपनी शैली मे भी स्वच्छन्द थे। इनका हृदय जहाँ लौकिक प्रेम मे आपूर था वही इनकी अभिव्यंजना भी आतरिकता की ज्योति से कात थी। इन स्वच्छन्दमार्गी प्रेमोन्मत्त गायकों के लिए भक्ति कुछ नही थी, साप्रदायिकता त्याज्य थी और रीतिमार्ग व्यर्थ। लीको से अलग हट कर चलना—स्वच्छन्दता—इनकी मूल वृत्ति थी जो और तो और वर्णन शैली मे भी प्रत्यक्ष है। इन्ही विशिष्टताओ के कारण समूचे मध्ययुग में इन प्रेमी गायको की स्वच्छन्द काव्यधारा का स्थान अत्यंत विशिष्ट है। रीतिकाल में रचना बाहुल्य और आग्रहपूर्वक रीति को पकड कर चलने के कारण जो महत्व रीतिबद्ध काव्य का है उससे अधिक महत्व रीति के आग्रह से मुक्त हो अपनी प्रेम की उमंग पर थिरकने के कारण इन प्रेमोन्मत्त गायको के काव्य का है। परिमाण की दृष्टि से, कोरी कला और चमत्कार की दृष्टि से, आग्रहो मे बद्ध रहने की दृष्टि से नहीं गुण की दृष्टि से, भावुकता की दृष्टि से और निर्बन्ध शैली मे काव्य रचना करने की दृष्टि से इनका स्थान रीतिकारो से निश्चय ही श्रेष्ठतर है।

शृङ्गारेतर काव्य : अन्य काव्य धाराएँ

वीर काव्य धारा—हिन्दी साहित्य के प्राचीन इतिहास ग्रंथो में रीतियुग के वीर काव्यो का पृथक और विस्तृत विवेचन नही मिलता ।[1] इधर के इतिहास ग्रथों मे वीर रस के काव्य की रीतिकालीन प्रवृत्ति को पकडने और पृथक् करने की चेष्टा अवश्य दिखाई पड़ती है। सन् १९३१ मे डा० रसाल ने अपने इतिहास मे रीति-कालीन वीर काव्य का आकलन 'जयकाव्य' शीर्षक के अतर्गत सबसे पहले किया था। इधर आकर डा० भटनागर[2] तथा डा० भगीरथ मिश्र[3] के इतिहास ग्रंथो में क्रमशः 'चारण काव्य' तथा 'वीर-काव्य धारा' के अतर्गत रीतिकालीन वीरकाव्य का परिचय दिया गया है। अपेक्षाकृत अधिक विस्तार और प्रामाणिकता के साथ रीतिकालीन वीर काव्यधारा का विवेचन डा० धीरेन्द्र वर्मा द्वारा सपादित, 'हिन्दी साहित्य'[4] में उपलब्ध होता है किन्तु इस ग्रन्थ मे वह 'रासो काव्य धारा' और 'वीर काव्य' नामक दो पृथक् अध्यायो मे विवेचित हुआ है। वस्तुतः 'रासो' ग्रथ एक शैली विशेष मे लिखित 'वीर काव्य' ही है अतएव इनका अध्ययन 'वीर काव्य' शीर्षक के अंतर्गत होना चाहिए। रीतिकाल की इस काव्य धारा के सागोपाग अध्ययन मे सबसे बड़ी कठिनाई पं० रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास ने उपस्थित की। बहुत सारी आलोचनाएँ और बहुत सारे इतिहास ग्रन्थ हिन्दी मे आचार्य शुक्ल को नकल पर लिखे गये। रीति काल के वीर रसात्मक काव्यो का शुक्लजा ने 'प्रबन्ध या कथाकाव्य' नाम से संकेतित किया, बस फिर क्या था परवर्ती इतिहास लखको ने आँख मूँद कर 'प्रबन्ध काव्य' या 'प्रबन्ध धारा' या 'कथात्मक प्रबन्ध' नाम पकड़ लिया। स्वतन्त्र चिन्तन ऐसा कुठित हुआ कि लगभग दो दशाब्दियो तक वीरकाव्य धारा का स्वरूप ही स्वतन्त्र रूप से स्पष्टतः किसी के द्वारा प्रतीत न कराया जा सका। 'रासो', 'कथा' या 'प्रबन्ध' रचना की शैलियाँ हैं; 'वीर' शब्द रचना के भाव या रस तत्व का बोधक है। काव्य के अध्ययन का मूलाधार काव्य का आभ्यांतरिक पक्ष है अतएव मुझे वीर काव्य अथवा वीर काव्य धारा नाम ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

---

[1] 'शिवसिंह सरोज' और 'मिश्र बन्धु विनोद' को तो छोडिये पं० रामचन्द्र शुक्ल और डा० श्यामसुदर दास के इतिहासो मे भी काव्य की अन्यान्य प्रवृत्तियो के विशद विश्लेषण की प्रवृत्ति लक्षित नही होती है। डा० रसाल का इतिहास अपवाद स्वरूप समझिये।

[2]. डा० रामरतन भटनागर—हिन्दी साहित्य (सन् १९४८)

[3]. डा० भगीरथ मिश्र—हि० सा० का उद्भव और विकास (सन् १९५६)

[4]. हिन्दी साहित्य (द्वितीयखंड) सं० डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० ब्रजेश्वर वर्मा (सन् १९५९)

हिन्दी का वीर काव्य अपने समय की परिस्थितियो से उत्पन्न है। विक्रम की ११वीं शताब्दी के मध्य से लेकर १५वीं शताब्दी के मध्यकाल तक देश की राजनीतिक स्थिति अव्यवस्थित-सी थी। किसी सुदृढ विकसित एकच्छत्र राज्य के अभाव मे देश के टुकडे-टुकडे हो गये थे तथा पारस्परिक ऐक्य का नाम-निशान तक नही रहा। छोटे-छोटे राजे थे और अपने क्षुद्र अहंकार के वशीभूत हो आपस मे ही लडते रहते थे। उनका दंभ उन्हे मिलकर विदेशी आक्रमणकारियो का सामना करने की सद्बुद्धि भी नही प्रदान करता था फलतः आपस मे लडकर वे अपनी शक्ति तो क्षीण किया ही करते थे नवागंतु विदेशियो की शरण मे भी जाना उन्हे प्रिय लगने लगा था। दुर्बुद्धि का ऐसा उदर्य इस देश मे पहले कभी नही देखा गया था। ये राजे अपने राज्य का विस्तार करने के लिए, किसी सुन्दरी का अपहरण करने के लिये, अपने को स्वतत्र करने, दूसरो को नीचा दिखाने के लिये युद्ध किया करते थे। इसी कारण हिन्दी साहित्य का आदि या वीर काल इन्ही राजाओ के दम, ऐश्वर्य, विलास एव शौर्यप्रदर्शन के वर्णनो से ओत-प्रोत है। वीरता या उत्साह, रोष या क्षोभ के भावों तथा रुद्र पराक्रम और युद्ध आदि के विस्तृत वर्णन इस युग के काव्य में मुख्यतः उपलब्ध है। वीर काव्य की यह धारा कालान्तर मे धर्म एवं भक्ति के प्रवेगपूर्ण प्रवाह मे विलीन हो गई। रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य, स्वामी रामानन्द एव महाप्रभु वल्लभाचार्य ऐसे दार्शनिको एव भक्तो की प्रेरणा से तथा नामदेव, कबीर, दादू, जायसी, तुलसी, सूर, मीरा तथा दक्षिण के संत तुकाराम और समर्थ रामदास आदि के माध्यम से उत्तर भारत मे भक्ति की जो लहर एक छोर से दूसरे छोर तक लहराई वीर काव्य उसके आवेग मे तिरोहित-सा हो गया किन्तु फिर धार्मिक आवेश के शिथिल पड़ जाने पर एवं मुगल साम्राज्य की सुदृढ स्थापना के अनंतर पराधीनता की भावना से प्रेरित होने पर एव हिन्दुत्व के पतन की प्रतिक्रिया स्वरूप हिन्दी काव्य क्षेत्र में वीरता की लहर फिर से आ गई और हिन्दी के कवि अपने आश्रयदाताओ को लक्ष्य कर वीर-रसात्मक काव्यो की रचना मे प्रवृत्त हुए। इसमे सन्देह नही कि सभी आश्रयदाताओ की वीरता के वर्णन लोकप्रिय नही हुए किन्तु लोकनायक आदर्श वीर पुरुषो को लेकर जो प्रशस्तियाँ अथवा वीर काव्य लिखे गए वे सचमुच स्मरणीय रहे चाहे प्रबंध के रूप मे लिखे गये चाहे स्फुट रूप में। ऐसे काव्यो मे नायक ईश्वरीय गुणों से युक्त हिन्दुओं का रक्षक, गो-ब्राह्मण-पालक, धर्म-दया-दान और युद्ध आदि मे परम वीर दिखलाया गया है। इन काव्यों में शिवाजी तथा छत्रसाल ऐसे देशप्रसिद्ध नायकों तथा समाज के पूज्य हितकारी वीरो के ही वीरतापूर्ण कार्यों का विवरण मिलेगा।

उत्तर मध्यकाल में मुगलशासन अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच कर ह्रासोन्मुख

होने लगा था। उत्तरी भारत मे मुसलमानों का राज्य था और लगभग सम्पूर्ण भारत मे उनका दबदबा था फिर भी राजस्थान और बुंदेल खंड दो ऐसे भूभाग थे जहाँ स्वतन्त्रता की वह्नि उस काल मे भी अमन्द थी। औरंगजेब के समय मे लोक-नायक शिवाजी ने हिन्दू-स्वातन्त्र्य की रक्षा की। कहने का तात्पर्य यह है कि उत्तर भारत मे राजस्थान के अतर्गत मेवाड, मारवाड़, चित्तौड, बूँदी, जयपुर, भरतपुर, नीमराणा तथा बुन्देलखंड के अतर्गत महोबा, पन्ना, छत्रपुर आदि हिन्दू राज्य केन्द्रों मे वीर-साहित्य निर्मित होता रहा।

मात्र आश्रयदाता की प्रशंसा मे लिखे गये काव्य 'वीरस्तवन-काव्य' न होकर मात्र 'स्तवन काव्य' ही रह गये। मात्र स्तुति या प्रशस्ति रूप मे लिखी गई विविध आश्रयदाताओ की प्रशस्तियाँ लुप्त या अप्रसिद्ध ही रही। सच्चे वीरो को लेकर लिखे गये आख्यानो में ही सच्चा कवित्व अपनी प्रौढता और सुन्दरता के साथ देखा जा सकता है। इस युग मे लिखा गया वीर काव्य दो प्रकार का है :—

(१) **वीर देवस्तवन काव्य**—रस की रचना के नायक रूप में कवियों ने देवी देवताओ को भी ग्रहण किया। हनुमान, दुर्गा ऐसे वीर देवी-देवताओं की प्रशंसा तथा उनके कार्यों का वर्णन इस प्रकार के काव्यो मे उपलब्ध होता है। ऐसी रचनाओ में वीरता के साथ भक्ति का भाव भी मिला हुआ है।

(२) **वीर पुरुष स्तवन काव्य**—वीर रस के काव्य बीर नरेशो को लेकर लिखे गये तथा उसमें उनके कार्यों का प्रशसात्मक वर्णन किया गया। वीर पुरुषो को लेकर जो रचनाएँ लिखी गईं उनमे दो प्रकार के नायकों का वर्णन आया है। एक तो साधारण आश्रयदाताओ का जिन्होंने अपने दरबार मे कवि रख छोडे थे। ऐसे आश्रयदाताओं की विरुदावली मात्र गाई गई है। भाट-वृत्ति से विरुदावली गायन करने वालो मे सूदन और पद्माकर भी थे जिन्होंने 'सुजान-सागर' और 'हिम्मत बहादुर-विरुदावली' नामक ग्रन्थ लिखे। दूसरे प्रकार के नायक वे हैं जो लोक-मगल के कार्यों मे सचमुच प्रवृत्त हुए। ऐसे वीरों की प्रशस्ति करने वाले कवि हैं भूषण, लाल, जोधराज, चन्द्रशेखर आदि जिन्होंने क्रमशः शिवाजी, छत्रशाल और हम्मीर देव ऐसा वीरों का यश गायन किया है। इन कवियो द्वारा प्रणीत शिवराज भूषण, शिवाबावनी, छत्रसालदशक, छत्र प्रकाश, हम्मीर रासो, हम्मीर हठ आदि इस युग की प्रसिद्ध कृतियाँ हैं।

वीर गाथा काल की वीर रसात्मक रचनाएँ जहाँ प्रेम का साहचर्य लिये हुए थी वहाँ रीतिकालीन वीर काव्य प्रेम से असंपृक्त अपने शुद्ध रूप मे ही लिखा गया। ये वीर काव्य प्रबन्ध और मुक्तक दोनो रूपो में लिखे गये। प्रबन्ध रूप मे लिखित काव्य भी स्वरूप भेद से महाकाव्य एवं खण्डकाव्य दोनो रूपो मे लिखे मिलते हैं।

महाकाव्यो में केशवदास कृत वीरसिंह देव चरित, मान कवि कृत राजविलास, गोरेलाल कृत छत्र प्रकाश, सूदन कृत सुजान चरित्र तथा जोधराज कृत हम्मीर रासो प्रसिद्ध हैं। इन काव्यो मे अपभ्रंशकालीन रचना पद्धति का अनुसरण करते हुए काव्य के नायक के जीवन की अधिकाधिक घटनाओ का विवरण, नायक तथा उससे सम्बन्धित अन्य पात्रो की अतिशियोक्तिपूर्ण प्रशंसा, उनकी दानशीलता, शूरता आदि का अत्यधिक विस्तारपूर्ण वर्णन किया गया है जिससे कथानक तथा महाकाव्य के अन्य तत्वो को आघात भी पहुँचा है। विविध व्यक्तियो और वस्तुओं के वर्णन मे जब वर्ण्य की लम्बी सूची पेश की जाती है तब पाठक के धैर्य की परीक्षा हो जाती है। अतिशियोक्तियो के कारण अनेक वर्णन ऊहा-प्रधान हो गए हैं। 'राजविलास' और 'हम्मीर रासो' मे इस प्रकार के दोष विशेषतया द्रष्टव्य हैं। अनेक ग्रन्थों में ऋतुवर्णन, प्रकृतिचित्रण, धार्मिक उपदेश, नदो-वर्णन, अलौकिक घटनाओ तथा ऊब पैदा करने वाले विस्तृत राजनीतिक सवादों की इतनी प्रचुरता है कि कथा का प्रवाह अवरुद्ध हो गया है। कथानक को निर्दोष एवं उसकी वास्तविकता अथवा ऐतिहासिकता को सुरक्षित रखने की दृष्टि से 'वीरसिंह देव चरित' एव 'छत्र प्रकाश' उल्लेखनीय है।

महाकाव्यो मे मिलने वाली अनेक बाते खण्डकाव्यो मे भी देखी जा सकती हैं उदाहरण के लिए कथा घातक विस्तृत वर्णन, अस्वाभाविक आकस्मिक एवं विस्मय, पूर्ण घटनावली का विधान, कोरी प्रशंशा या नामावली-परिगणन आदि के कारण कथानक नीरस हो गए है। 'गोरा बादल की कथा' श्रीधर कृत 'जंगनामा', पद्माकर कृत 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' ऐसे ही दोषो से परिपूर्ण रचनाएँ है। 'जंगनामा' मे तो सयुक्ताक्षरो एव नादात्मक वर्णो का विधान ऐसी अधिकता से किया गया है कि वह खलने लगता है।

सफल कथानक-रचना की दृष्टि से कुछ रासो शैली के खण्डकाव्य महत्वपूर्ण है—'रासो भगवत सिंह' मे युद्ध का और 'करहिया को रास' मे वीरों की गर्वोक्तियों एवं युद्ध का सुन्दर चित्रण हुआ है।

रासो शैली के काव्य भी रीति युग मे लिखे गए जिनका आविर्भाव हिन्दी साहित्य के आदि काल में हो चुका था। रासो ग्रन्थो की दो अलग परंपराएँ अपने साहित्य में अपभ्रंश काल से मिलती है--

(१) नृत्यगीतपरक रासो।

(२) छन्द वैविध्यपरक रासो।

पहली परम्परा नृत्यगीतपरक रासो ग्रन्थो की है जिनका सम्बन्ध जैन धर्म से ही विशेष रहा है। इनमें अधिकतर जैन महात्माओ, संघाधीशो, तीर्थोद्धारकों के

चरित्रो का वर्णन तथा जैनो का धर्मोपदेश ही मिलता है। 'वीसलदेव रासो' इसी परम्परा की चीज है। उसका वर्ण्य इस परम्परा के वर्ण्य से अपवाद रूप मे ही भिन्न है। दूसरी परम्परा मे विभिन्न विषयो का विविध छन्दों मे काव्य कौशलपूर्ण ढंग से वर्णन मिलता है जैन धर्म सम्बन्धी अपवाद रूप मे भी नही मिलती। रीतिकाल मे लिखे गए रासो ग्रन्थ दूसरी परम्परा के ही हैं। 'रास' या 'रासो' ग्रथ तत्वतः एक ही हैं—यह धारणा कि प्रथम मे कोमल एवं द्वितीय मे उग्र भावो का चित्रण होता है भ्रामक है। इतर विषयो का भी इसमे वर्णन होता है उदाहरण के लिये कान्ह कीर्ति सुन्दर कृत 'माकण रासो' (र० का० संवत् १७५७) को लिया जा सकता है। यह रचना कुल ३६ छन्दों की है जिसमे ५ भिन्न छन्दो का प्रयोग किया गया है तथा इसमे मत्कुण अर्थात् खटमल के चरित्र का वर्णन किया गया है। जो हो छन्द-वैविध्य परक रासो ग्रंथ काव्यत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। इन ग्रथो मे नृत्यगीतपरक रासो ग्रन्थो की भाँति भाषा अपभ्रंश बहुला न होकर ब्रज अथवा पुरानी हिन्दी रही है जो उस काल मे बोल-चाल की भाषा थी। चारित काव्यो अथवा प्रबन्ध काव्यो के ही समान हिन्दी साहित्य में रासो शैली की काव्य-धारा भी पर्याप्त समृद्ध रही है।[1] इसका गम्भीर अध्ययन अपेक्षित है।

मुक्तक रूप मे भी प्रचुर मात्रा मे वीर काव्य लिखा गया। मुक्तक रचना रीतिकाल की प्रधान प्रवृत्ति थी। सभी प्रकार के काव्य अधिकतर (निर्बन्ध और अपने आप मे ही पूर्ण) स्फुट एवं मुक्तक रूप मे ही लिखे गए। इस प्रकार की रचना करने वालो मे भूषण का नाम प्रथम लिया जायगा जिन्होने शिवराज भूषण, शिवा बावनी, छत्रसाल दशक आदि मुक्तक संग्रह ही बनाये। इस काल के मुक्तक वीर काव्यो मे बुन्देला छत्रसाल, लोकनायक शिवाजी सरीखे वीरो की प्रशस्तियाँ की गई हैं, उनके वीरतापूर्ण कार्यों, जीवन के विविध उत्साहवर्धक प्रसंगो का विशद वर्णन किया गया है। वीर रस का सुन्दर परिपाक उपस्थित करने वाले शौर्य, वीरत्व, साहस, प्रताप,

---

[1] न्यामत खाँ 'जान' कृत 'कायम रासो' (सं० १६६१); राव डूंगरसी कृत 'छत्रसाल रासो' (स० १७१०), कान्ह कीर्ति सुन्दर कृत 'माकण रासो' (सं० १७५७), गिरिधर चारण कृत 'सगतसिह रासो' (सं० १७५५), जोधराज कृत 'हम्मीर रासो' (सं० १७८५), दलपति विजय कृत 'खुमाण रासो' (१८ वी शती के अन्तिम काल मे रचित), सदानन्द कृत 'रासा भगवन्त सिह का रासौ' (सं० १७६३), गुलाब कवि कृत 'करहिया कौ रास' (स० १८३४), शिवनाथ कृत 'रासा भइया बहादुर सिह का, (सं० १८५८) तथा 'रायसा' (सं० १८५३), महेश कवि कृत 'हम्मीर रासो' (स० १८६१), अलिरसिक गोविन्द कृत 'कलिजुग रासो' (सं० १८६५)। हिन्दी साहित्य द्वितीय खंड पृ० १३०-१३५।

युद्ध, आतक, कृपाण आदि के ओजस्वी वर्णनों से यह काव्यधारा परिपूर्ण है। केशव की प्रसिद्ध 'रतन बावनी' भी इसी परम्परा की चीज है। इन वीर कवियो के सामने चारण काव्य की परम्परा तो थी ही, रीति की परम्परा से भी ये प्रभावित हुए। भूषण ऐसे हिन्दुत्वप्रेमी एवं वीरोपासक कवि को भी 'शिवराज भूषण' ऐसा अलंकार ग्रन्थ लिखना पडा। अनेक वीर काव्यो की रचना धन-वैभव के लोभ से भी हुई किन्तु ऐसी रचनाओ को विशेष स्थायित्व न प्राप्त हो सका। केवल रूढि के अनुसार आश्रयदाता से धन प्राप्ति का उद्देश्य ले कर लिखी जाने वाली रचनाएँ लुप्त हो गईं। पौराणिक वीरो पर लिखे गए काव्य भी यथेष्ट लोकप्रिय हुए। आश्रयदाताओं की प्रशसा मे फुटकर रूप से लिखी जाने वाली रचनाओ मे वीरता के अधिकतर दो रूप ही अधिक वर्णित हुए—युद्धवीरता और दानवीरता। ये रचनाएं तीन रूपो मे प्राप्य हैं—

(१) रस ग्रन्थों मे वीर रस के उदाहरण स्वरूप (रसिकप्रिया)

(२) अलंकार ग्रन्थो में अलंकारो के उदाहरण स्वरूप (शिवराज भूषण, कवि-प्रिया)

(३) स्वतन्त्र रचनाओं के रूप में (शिवा बावनी, रतन बावनी, छत्रसाल दशक)

वीर-रसात्मक काव्य का जो उत्थान वीर गाथा काल में हुआ उसकी धारा धार्मिक अथवा भक्तिमूलक काव्यधारा के प्रवेगपूर्ण प्रवाह के सामने क्षीण पड गई परन्तु भक्ति-प्रवाह के क्षीणबल होते ही पुनः वेगवान हो उठी, इसी कारण रीतियुग मे वीर रसात्मक काव्य का द्वितीय उत्थान प्रारम्भ होता है।[१] रीतियुग मे वीररस का कितना साहित्य सृष्ट हुआ इसका अन्दाजा निम्नलिखित सूची से लगाया जा सकता है[२]—

ग्रन्थ संख्या कवि	ग्रन्थ	रचना काल	विवरण
१. दलपति मिश्र	जसवन्त उद्योत	१६४८ ई० (?)	जोधपुराधीश जसवन्तसिंह के आश्रित
२. गंभीरराय	एक ग्रन्थ	१६५० ई०	मऊ के जगतसिंह और शाहजहाँ के युद्ध का वर्णन
३. डूंगसरी	शत्रुसाल रासो	१६५३ ई०	राव शत्रुसाल हाडा की वीरता का वर्णन

[१]वीर रस की रचनाओं का तृतीय उत्थान आधुनिक काल में दिखलाई पड़ता है जिसमें देश तथा प्राचीन वीर नायकों को लेकर वीर रस का काव्य लिखा गया।

[२]हिन्दी साहित्य : द्वितीय खण्ड—संपादक डा० धीरेन्द्र वर्मा और डा० ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० १८०-१८४।

ग्रंथ संख्या	कवि	ग्रन्थ	रचनाकाल	विवरण
४.	रामकवि	जयसिंह चरित्र	१६५३ ई०	मिर्जा राजा जयसिंह के आश्रित
५.	रत्नाकर	स्फुट कविता	१६५५ ई०	शाहशुजा की प्रशंसा
६.	मतिराम	ललित ललाम	१६६१-६२ ई०	बूँदीपति भावसिंह के परिवार की प्रशसा के कुछ पद।
७.	कुलपति मिश्र	रस रहस्य	१६७० ई०	ग्रंथारभ मे रामसिंह प्रथम (जयपुर) की प्रशसा।
	"	संग्रामसार	१६७६ ई०	महाभारत के द्रोण-पर्व का पद्यानुवाद।
६.	सुखदेव मिश्र	फाजिल अली प्रकाश	१६७१ ई०	नृप यश वर्णन आदि
१०.	भूषण	शिवराज भूषण	१६७३ ई०	शिवाजी यश वर्णन।
		शिवा बावनी	——	५२ छंदो मे शिवाजी का गुणगान।
		छत्रसाल दशक	——	१० छंदो मे छत्रसाल बुन्देला का यश वर्णन।
		फुटकर छन्द	——	विभिन्न आश्रयदाता विषयक छन्द।
१४.	श्रीपति भट्ट	हिम्मत प्रकाश	१६७४ ई०	सैयद हिम्मतखाँ (बाँदा) के आश्रित।
१५.	कुम्भकर्ण	रतन रासौ	१६७५ ई०	औरगजेब के उत्तराधिकार युद्धमे रतन सिंह की वीरता का वर्णन।
१६.	घमश्याम शुक्ल	स्फुट कविता	१६८०ई० १७७८ ई०	रीवाँ नरेश की प्रशसा।
१७.	रणछोड	राजपट्टन	१६८० ई०	मेवाड के राजघराने का इतिहास।
१८.	निवाज तिवारी	छत्रसाल-विरुदावली	१६८० ई०	नवाब आजमखाँ के आश्रित।
१६.	महाराणा जयसिंह	जयदेव विलास	१६८१-१७०० ई०	उदयपुर के महाराणा।

ग्रंथ संख्या	कवि	ग्रंथ	रचनाकाल	विवरण
२०.	सती प्रसाद	जयचंद बंशावली	——	जयचद के वंश का परिचय।
२१.	मान	राजविलास	१६७७-८० ई०	महाराणा राजसिंह की वीरता का वर्णन।
२२.	दयाल दास	राणारासौ	१६८०-६८ ई०	मेवाड का इतिहास वर्णन।
२३.	हरिनाम	केसरीसिंह समर	१६८३-६७ ई०	राजा केशरी सिंह (खडेला)का यशवर्णन।
२४.	उत्तमचंद	दिलीप-रंजिनी	१७०३ ई०	दिलीप सिंह के वंश का वर्णन।
२५.	वृन्दकवि	वचनिका	१७०५ ई०	आश्रयदाता का वर्णन।
२६.	”	सत्यस्वरूप	१७०७ ई०	बहादुरशाह के उत्तराधिकार युद्ध मे राजसिंह (किशनगढी) की वीरता का वर्णन।
२७.	लाल कवि (गोरेलाल)	छत्रप्रकाश	१७१० ई०	छत्रसाल बुन्देला का गुण गान।
२८.	श्रीधर (मुरलीधर)	जंगनामा	१७१३ ई०	फर्रुखसियर और जहाँ-दारशाह का युद्ध वर्णन।
२६.	मूक जी	खीची जाति की वंशावली	१७१८ ई०	खीची राजाओ का वर्णन।
३०.	केवल राम	वाणी-विलास	१७२६ ई०	जूनागढ के नवाबो को प्रशंसा।
३१.	गञ्जन	कमरुद्दीनखाँ-हुलास	१७२८ ई०	कमरुद्दीनखाँ की प्रशंसा तथा रस-वर्णन।
३२.	हरिकेश	स्फुट पद	——	वीर रस की उत्तम रचना
३३	”	जगत दिग्विजय	१७२५ ई०	जगत सिंह चरित्र (जयपुर) तथा अन्य राजवशों का वर्णन।
३४.	”	ब्रजलीला	१७३१ ई०	छत्रसाल तथा हृदयशाह की प्रशंसा के उपरान्त कृष्ण-राधा मिलन-वर्णन।

ग्रंथ संख्या	कवि	ग्रंथ	रचनाकाल	विवरण
३५.	रसपुञ्ज	कवित्त श्री माता जी रा	१७३३ ई०	अभय सिंह (जोधपुर) के आश्रित।
३६.	सुजानसिंह	सुजान-विलास	१७३३ ई०	करौली राजपरिवार से सबधित।
३७.	श्रीकृष्ण भट्ट (काव्य कला) (निधि)	साँभर युद्ध	१७३४ ई०	सवाई जयसिंह और सैयद भाइयो का युद्ध वर्णन।
३८.	"	जाजव युद्ध	——	———
३९.	"	बहादुर विजय	——	———
४०.	"	जयसिंह गुण-सरिता	——	महाराजा जयसिंह का यशोगान।
४१.	सदानन्द	रासा भगवंत सिंह।	१७३५ ई०	भगवंतराय खीची (असोथर) युद्ध का वर्णन।
४२.	शाहजू पंडित	बुँदेल बंशावली	१७३७ ई०	लक्ष्मणसिंह (टहरौली) के आश्रित।
४३.	"	लक्ष्मणसिंह प्रकाश	१७३७ ई०	
४४.	कुँवर कुशल	लखपति-यश-सिंधु।	१७३९ ई०	लखपतिसिंह (कच्छभुज) की प्रशंसा।
४५.	हम्मीर	लखपत पिंगल	१७३९ ई०	लखपतिसिंह (कच्छभुज) गुणगान।
४६.	अनन्त फंदी	स्फुट रचना	१७४३ ई०	महाराष्ट्र के कवि; नाना फडनवीस की प्रशंसा में हिंदी कविता।
४७.	महताब	नखशिख	१७४३ ई०	हिन्दूपति की प्रशंसा।
४८.	नन्दराम	शिकारभाव	१७४३ ई०	महाराणा जगतसिंह (मेवाड) के शिकार का वर्णन।
४९.	"	जगबिलास	१७४५ ई०	आश्रयदाता की प्रशसा।
५०.	देवकर्ण	वाराणसी बिलास	१७४६ ई०	ग्रन्थारंभ में मेवाड़ का इतिहास वर्णन।
५१.	शंभुनाथ मिश्र	अलंकार दीपक	१७४९ ई०	भगवन्तराय खीची का यश वर्णन।

ग्रन्थ संख्या	कवि	ग्रन्थ	रचनाकाल	विवरण
५२.	शम्भुनाथमिश्र	रस कल्लोल	१७५० ई०	आश्रयदाता का यशोगान एव नायिका भेद निरूपण
५३.		रस तरंगिनी	——	यश वर्णन और नायिका भेद निरूपण।
५४.	तीर्थराज	समरसार	१७४९ ई०	अचलसिंह (डोडियाखेरे) के आश्रित।
५५.	सोमनाथ	सुजान विलास	१७३३-५३ ई०	बदनसिंह आदि (भरतपुर) की ग्रथारभ में प्रशंसा।
५६.	सूदन	सुजान-चरित्र	१७५३ ई०	सूरजमल (भरतपुर) का यशोगान।
५७.	प्रतापसाहि	जयसिंह-प्रकाश	१७५५ ई०	महराजा जयसिंह की प्रशंसा।
५८.	बिहारीलाल	हरदौलचरित्र	१७५८ ई०	——
५९.	दत्तू(देवद्रत्त)	ब्रजराज पंचाशा	१७६१ ई०	राजा ब्रजराजदेव की चढ़ाई का वर्णन।
६०.	गुलाब कवि	करहिया को रायसौ	१७६७ ई०	प्रमारो (आंतरी) और जवाहरसिंह (भरतपुर) का युद्ध वर्णन।
६१.	मण्डन भट्ट	राठौड़ चरित्र	(१७७३ ई० जन्म)	जयसिंह तृतीय (जयपुर) के आश्रित।
६२.		रावल चरित्र	——	——
६३.	”	जयसाह-सुजस प्रकाश	——	आश्रयदाता-यश-वर्णन।
६४	लालकवि (बनारसी)	कवित्त,	१७७५ ई०	चेतसिंह के आश्रित, काशी नरेशो का यशोगान।
६५.	लालझा मैथिल	कनरपी घाट की लड़ाई	१७८० ई०	नरेन्द्रसिंह (दरभंगा) के आश्रित।
६६.	गणपति भारती	वीरहजारा	१७७८-१८०३ ई०	सवाई प्रताप सिंह (जयपुर) के आश्रित।

ग्रंथ संख्या	कवि	ग्रंथ	रचनाकाल	विवरण
६७.	उत्तमचन्द भण्डारी	रतना हमीर की बात	१७८०-१८०७ ई०	मानसिंह (जोधपुर) के आश्रित।
६८.	श्रीकृष्णभट्ट	आलीजा प्रकाश (?)	१७८३ ई०	—
६९.	मानकवि	नरेन्द्र भूषण	१७८८ ई०	रणजौर सिंह का यश वर्णन।
७०.	शिवराम भट्ट	प्रताप पचीसी	१७९० ई०	विक्रमादित्य (ओड़छा) के आश्रित।
७१.	,,	विक्रम-विलास		
७२.	पद्माकर	हिम्मत बहादुर	१७९२ ई०	हिम्मत बहादुर और अर्जुनसिंह नोने का युद्ध वर्णन।
७३.	पद्माकर	जगद्-विनोद	—	जगतसिंह (जयपुर) की ग्रंथारंभ मे प्रशंसा।
७४.	पद्माकर	आलीजाह प्रकाश (आलीजा-सागर)	१८२१ ई०	दौलतराव सिंधिया की ग्रथारंभ में प्रशसा।
७५.	पद्माकर	प्रतापसिंह विरुदावली	—	सवाई प्रताप सिंह(जयपुर) का यशोगान
७६.	चण्डीदान	वंशाभरण	१७९१-१८३५ ई०	बूँदी दरबार के आश्रित
७७.	,,	विरुद-प्रकाश		,,
७८.	मान (खुमान)	समरसार	१७९५ ई०	विक्रमशाह (चरखारी) के

ग्रंथसंख्या	कवि	ग्रंथ	रचनाकाल	विवरण
				आश्रित, राजकुमार धर्मपाल सिंह की वीरता का वर्णन।
७९.	शिवनाथ	रासा भैया बहादुरसिंह	१७६६ ई०	बहादुर सिंह (बलरामपुर) की वीरता का वर्णन।
८०	दुर्गा प्रसाद	अजीतसिंह फत्ते (नायकरासो)	१७९६ ई०	रीवाँ के सैनिकों और मराठों के युद्ध का वर्णन।
८१.	जोधराज	हम्मीर रासौ	१८२८ ई०	चन्द्रभान (नीमराणा) के आश्रित। हम्मीर और अलाउद्दीन का युद्ध वर्णन।

इतने अधिक परिमाण में वीर काव्यो के लिखे जाने का कारण सृजनकालीन राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियो मे देखा जा सकता है। देश का छोटे-छोटे राज्यो में विभक्त होना, आपसी एकता का अभाव, उत्तेजित स्वाभिमान, पारस्परिक विग्रह, व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के समक्ष समूचे राज्य को तुच्छ समझने की मनोवृत्ति आदि कारणों से ये राजे शात नही रह पाते थे। उन्हे लड़ने के लिए एक न एक उखंग चाहिये ही था। राजपूतों और ठाकुरों में चली आती हुई वीरत्व की परंपरा युद्ध माँगती थी। शक्ति के साथ उद्धत दर्प का जब संगम होता था तो खग खनखना उठती थी।

नीति काव्य धारा

हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने इस बात को एक मत से स्वीकार किया है कि रीतिकाल में नीति संबंधी काव्य की एक स्पष्ट धारा प्रवहमान थी तथा इस प्रकार

का काव्य प्रचुर परिमाण मे लिखा गया।[1] इसकी परंपरा की प्राचीनता और परिपुष्टता के संबंध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—'नीति सबंधी रचनाओ की परंपरा भी काफी पुरानी है। भर्तृहरि ने एक ही साथ श्रृंगार, नीति और वैराग्य के तीन शतक लिखे थे। संस्कृत के सुभाषितो मे अन्योक्तिच्छल से बहुत अधिक नीति साहित्य का पता चलता है। नीति भारतीय कवियो का बहुत ही प्रिय विषय रह ` हिन्दी मे भी आरभ से ही नीति संबंधी कविताएँ प्राप्त होती हैं। हेमचन्द्र के व्याकरण मे संग्रहीत अपभ्रंश के दोहो मे से कितने ही नीतिविषयक है। तुलसीदास और रहीम के नीतिविषयक दोहो का परिचय हमे मिल चुका है। अकबर दरबार के राजा बीरबल और नरहरि महापात्र के नीतिविषयक पद प्रसिद्ध ही हैं। इस प्रकार नीति का साहित्य हिन्दी मे कभी अपरिचित नही रहा।'[2] प्रश्न यह उठ सकता है 'नीति' क्या है और 'नीति काव्य' किस प्रकार का काव्य है। हिन्दी नीति काव्य के विशेषज्ञ डा० भोलानाथ तिवारी ने इन दोनो शब्दो की परिभाषा इस प्रकार दी है—

नीति—'समाज को स्वस्थ एव सतुलित पथ पर अग्रसर करने एव व्यक्ति को धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की उचित रीति से प्राप्ति कराने के लिए जिन विधि या निषेधमूलक वैयक्तिक और सामाजिक नियमो का विधान देश, काल और पात्र के सदर्भ मे किया जाता है उन्हे नीति शब्द से अभिहित करते हैं।'[3]

नीति काव्य—जिस काव्य का विषय नीति हो या दूसरे शब्दो मे जिस काव्य का प्रधान ध्येय नैतिक शिक्षा देना हो, उसकी सज्ञा नीति काव्य है—That kind of poetry which aims or seems to aim at instruction as its object, making pleasure entirely subservient to this... In the poems generally called didactic, the information or instruction given in the verse is accompanied with poetic reflection, illustrations and episodes etc.[4]

रीतिकाल के नीतिकार और उनकी कृतियाँ—हिन्दी मे नीति काव्य

---

१. प्रमाण स्वरूप देखिये :—इतिहास: शुक्ल पृ० २३, इतिहास: डा० रसाल पृ० ५१६, हिन्दी साहित्य, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० ३५१, हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास (द्वितीय खण्ड) डा० भगीरथ मिश्र, पृ० ७४, हिन्दी साहित्य की परंपरा: हसराज अग्रवाल पृ० ३१५, हिन्दी नीति काव्य : डा० भोलानाथ तिवारी पृ० २३।

२. हिन्दी साहित्य : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ३५१।

३. हिन्दी नीति काव्य : डा० भोला नाथ तिवारी पृ० ४।

४. वही पृ० ६।

थोडे बहुत परिमाण मे आदि काल से ही मिलने लगता है तथा आधुनिक युग मे भी इसकी परंपरा विलुप्त नही होने पाई है। फिर भी इस प्रवृत्ति की विशेष समृद्धि रीति काल में ही देखी जा सकती है। इस धारा के प्रमुख उन्नायक वृन्द, गिरिधर, दीन-दयाल गिरि, घाघ, भड्डरी, बैताल, सम्मन इसी युग के नीतिकार कवि है। जो नीति कवि इस काल मे हुए उनकी नामावली और रचनाएँ नीचे दी जा रही है:—

सं० कवि	रचनाएं
१. सुन्दरदास (१५९६-१६८९ ई०)	नीति के फुटकर छन्द
२, बिहारी (१६०३-१६६३ ई०)	'बिहारी सतसई' के नीति के दोहे
३. मतिराम (जन्म लगभग १६१७ ई०)	'मतिराम सतसई' के नीति के दोहे
४. गुरु तेगबहादुर (जन्म लगभग १६२२ ई०)	उपदेश तथा नीति के दोहे तथा पद
५. जिनहर्ष (र० का० १६५० ई० के लगभग)	'उपदेश छत्तीसी'
६. गोपालचन्द्र मिश्र (जन्म १६३३ ई०)	नीति के फुटकर छन्द
७. अहमद (र० का० १७ वी सदी मध्य)	नीति के फुटकर दोहे
८. खेमदास (र० का० १७ वी सदी मध्य)	'नसीहतनामा'
९. रसनिधि (र० का० १६६० ई० के लगभग)	'रतनहजारा' के नीति के दोहे
१०. वृन्द (१६४३-१७२३ ई०)	'वृन्द सतसई'
११. छत्रसाल (ज० १६४९ ई०)	'नीतिमजरी'
१२. कुलपति (र० का० १७ वी सदी उत्तरार्ध)	'कुलपति सतसई' के नीति के छन्द तथा नीति के फुटकर छन्द
१३. भगवतीदास (र० का० १७ वी सदी उत्तरार्ध)	'योगी रासा' तथा 'खीचडी रासा' के उपदेश तथा नीति के छन्द
१४. बीर भान (१७ वी सदी)	उपदेश तथा नीति के दोहे तथा पद
१५. जयदेव (१७ वी सदी)	नीति के फुटकर छन्द
१६. प्राणनाथ (१७ वी सदी)	नीति के फुटकर छन्द
१७. जान (१७ वी सदी)	'सिषसागर पद नामा' 'चेतन नामा', 'सिष ग्रंथ', 'सुधा सिष', 'बुधि दायक', 'बुधि दीप', 'सत्तनामा', 'बर्ननामा', तथा

सं०	कवि	रचनाएँ
		'ग्रंथ पदनामा लुकमान का' के उपदेश तथा नीति के छन्द
१८.	जिनरग सूरि (र० का० १७ वी सदी अंतिम चरण)	'प्रबोध बावनी'
१९.	वीरदास (र० का० १७ वी सदी अंतिम चरण)	'सीख पचीसी'
२०.	जगजीवनदास (१६७०-१७६१ ई०)	उपदेश तथा नीति की कुछ साखियाँ तथा पद
२१.	द्यानतराय (ज० १६७४ ई०)	'उपदेशतक', 'सज्जन गुण दशक', 'दान बावनी' तथा 'पूरण पंचासिका',
२२.	बैताल (ज० १६७७ ई०)	नीति के फुटकर छप्पय
२३.	रघुनाथ (र० का० १८ वी सदी आरंभ)	नीति के फुटकर छन्द
२४.	दयाराम (र० का० १८ वी सदी प्रथम चरण)	नीति के फुटकर छन्द
२५.	श्रीपति (र० का० १७२० के लगभग)	नीति के फुटकर छन्द
२६.	घाघ (ज० १६९६ ई०)	व्यवहार, खेती तथा स्वास्थ्य विषयक छन्द या छन्दांश
२७.	चरनदास (१७०३-१७८२ ई०)	उपदेश तथा नीति के दोहे तथा पद एवं 'ज्ञान स्वरोदय' के शकुन के छन्द
२८.	सहजोबाई (र० का० १८ वी सदी मध्य)	उपदेश और नीति की कुछ साखियाँ
२९.	भूपति (र० का० १८वी सदी मध्य)	'भूपति सतसई' के नीति के दोहे
३०.	जसुराम कवि (र० का० १८ वी सदी मध्य)	'राजनीति'
३१.	गिरिधर (ज० १७१३ ई०)	'गिरिधर की कुण्डलियाँ'
३२.	ब्रजपाल (र० का० १८ वी सदी उत्तरार्ध)	'नीति सग्रह'
३३.	अमृतकवि (र० का० १८ वी सदी उत्तरार्ध)	'राजनीति'
३४.	श्री नाथ शर्मा (र० का० १८ वी सदी उत्तरार्ध)	अन्योक्तिमजूषा
३५.	ठाकुर, असनीवाले (ज० १७३५ ई०)	नीति के फुटकर छन्द
३६.	उम्मेदराम (ज० १७४३ ई०)	नीति के फुटकर छन्द
३७.	तुलसी साहब (ज० लगभग १७५३ ई०)	उपदेश तथा नीति के फुटकर छन्द
३८.	देवीदास (र० का० १७९० ई० के लगभग)	'राजनीति'
३९.	रामचरण (र० का० १७९० ई० के लगभग)	'समतानिवास ग्रथ'

सं०	कवि	रचनाएँ
४०.	खीवडा (र० का० १८०० ई० से पूर्व)	'खीवडा का दूहा'
४१.	चन्दन (र० का० १८ वी सदी अंतिम चरण)	'चन्दन सतसई' के नीति के दोहे
४२.	दयाबाई (र० का० १८ वी सदी अंतिम चरण)	'दया बोध' के नीति और उप-देश के छन्द
४३.	व्यास. (र० का० १८ वी सदी अंतिम चरण)	नीति के फुटकर छन्द
४४.	चतुर्भुजदास (र० का० १८ वी सदी अंतिमचरण)	'मधुमालती के नीति-छद
४५.	बोधा (ज० १८ वी सदी मध्य)	नीति के फुटकर छन्द
४६.	गरीबगिर (र० का० १८०० ई० के पूर्व)	'जोग पावडी' नीति के छन्द
४७.	भैया भगवतीदास (१८ वी सदी)	नीति तथा उपदेश के फुटकर छन्द तथा 'अनित्य पच्चीसिका'
४८.	चेतन (र० का० १८०० ई० के आस पास)	अध्यात्म बारहखडी
४९.	परमानन्द (र० का० १८०० ई० के आस पास)	'नीति सारावली' 'नीति सुधा मंदाकिनी' 'नीति मुक्तावली' तथा 'राजनीति मंजरी'
५०.	बेनीराय रायबरेली वाले (र० का० १८०० ई० के आस पास)	'भॅडौवा सग्रह' के नीति के छन्द
५१.	कृपाराम (र० का० १८०० ई० के आस पास)	नीति के फुटकर सोरठे
५२.	हितवृन्दावनदास (र० का० १९ वी सदी प्रथम चरण)	नीति कुडलियाँ
५३.	दया राम (र० का० १९ वी सदी प्रथम चरण)	'दयाराम सतसई' के नीति के छन्द
५४.	जगदीश लाल गोस्वामी (र० का० १९ वी सदी प्रथम चरण)	'षट उपदेश' तथा 'नीति अष्टक'
५५.	रामसहायदास (र० का० १९ वी सदी प्रथम चरण)	'राम सतसई' तथा 'ककहरा' के नीति तथा उपदेश के छन्द
५६.	सम्मन (र० का० १९ वी सदी प्रथम चरण)	नीति के फुटकर दोहे
५७,	बाँकी दास (१७८१-१८३३ ई०)	'नीति मजरी' 'कृपण दर्पण' 'संतोष बावनी' तथा 'चुगल मुख चपेटिका' आदि
५८.	जैकेहॉर (र० का० १९ वी सदी दूसरा चरण)	'भूप भूषण'
५९.	विश्वनाथ सिंह (ज० १७८९ ई०)	'ध्रुवाष्टक', 'अवाध नीति'

६०. दयाल (र० का० १६ वी सदी दूसरा चरण)	नीति के फुटकर छन्द
६१. रसिक गोविन्द (र० का० १६ वी सदी पूर्वार्घ)	'कलियुगरासो' के नीति छन्द
६२. निहाल (र० का० १६ वी सदी पूर्वार्घ)	'सुनीति रत्नाकर' तथा 'सुनीति पथ प्रकाश'
६३. दीनदयाल गिरि (१८०२-१८५८ ई०)	'अन्योक्ति कल्पद्रुम' तथा 'दृष्टान्त तरगिणी'
६४. लक्ष्मणसिंह (ज० १८०७ ई०)	'नृप नीतिशतक' तथा 'समय-नीतिशतक'
६५. शिवबक्स सिंह (र० का० १८५० ई० के पूर्व)	नीति की कुछ कुडलियाँ
६६. विष्णुदत्त (र० का० १८५० ई० के लगभग)	'राजनीतिचद्रिका'
६७. अम्बुज (र० का० १८५० ई० के लगभग)	नीति के फुटकर छन्द
६८ बिहारी प्रसाद (र० का० १८५० ई० के लगभग)	'नीति प्रकाश'
६९. गोविन्द रघुनाथ थत्ती (र० का० १८५० ई० के लगभग)	'शरण्यनीति'
७०. दीन जी (र० का० १८५० ई० के लगभग)	'अन्योक्ति मजूषा'
७१. पलटू (र० का १८५० ई० के लगभग)	उपदेश तथा नीति की साखियाँ और कुण्डलियाँ
७२. ठाकुर (र० का० १८५० ई० के लगभग)	नीति के फुटकर छन्द
७३. अनीस (र० का० १८५० ई० के लगभग)	नीति के फुटकर छन्द
७४. रामदया (र० का० १८५० ई० के लगभग)	'सभाजीत सर्वनीति'
७५. बुधजन (१६ वी सदी)	'बुधजन सतसई के नीति के छन्द तथा नीति और उपदेश के फुटकर पद
७६ भूधरदास (१६ वी सदी)	'भूधर शतक' तथा 'पार्श्व पुराण' के नीति के छन्द
रामहित सिंह (र० का० १८६० के लगभग)	नीति के फुटकर छन्द
बख्तावर जी (ज० १८१३ ई०)	'अन्योक्ति प्रकाश'
प्रधान (ज० १८१३ ई०)	'कवित्त राजनीति' तथा फुटकर छन्द
रामावतारदास (र० का० १८७० ई० के लगभग)	'सन्त विलास' के नीति के छन्द
मथुरादास (र० का० १८७० ई० के आस पास)	'नीति विलास'
शिवचन्द्र (र० का० १६ वी सदी उत्तरार्घ)	'नीति वाक्यामृत'

८३. मजबूत सिंह (र० का० १६ वी सदी उत्तरार्ध)	'नीति चन्द्रिका'
८४. गुलाबराम राव (र० का० १६ वी सदी उत्तरार्ध)	'नीति मजरी'
८५. ब्रज (ज० १८२२ ई०)	'नीति मार्तण्ड' 'सुतोपदेश' 'नीति रत्नाकर' तथा 'नीति प्रकाश'
८६. गुलाब जी (ज० १८३० ई०)	'नीति सिंधु' 'नीति मंजरी', 'नीतिचन्द्र' तथा 'मूर्खशतक'
८७. गिरिधरदास (१८३३-१८६० ई०)	नीति के कुछ दोहे

रीतिकाल के नीति काव्यकारों के दर्जन, डेढ दर्जन और नाम मिल सकते हैं, जिनके समय का निश्चित ज्ञान नही है। उपर्युक्त सूची से पता चलता है कि रीतिकाल मे नीति काव्य की धारा कितनी प्रबल और पृथुल रही है। उपर्युक्त सूची मे रीति काल के प्रमुख एवं गौण नीतिकार सम्मिलित है।

नीति काव्य संबंधी सामग्री का वर्गीकरण—इस प्रकार की हिन्दी नीति काव्य संबधी समस्त सामग्री का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप मे किया गया है [1]—

१. मुक्तक रूप मे प्राप्त हिन्दी नीति काव्य (जैसे रहीम, वृन्द, गिरिधर, दीन दयाल या भगवानदीन आदि के नीति छन्द) 'क—नीति की फुटकर कविताएँ (जैसे गंग बीरबल, टोडरमल आदि के नीति के छद) ख—नीति की मुक्तक कविताओ के सग्रह (जैसे 'वृन्द सत सई' महात्मा भगवानदीन के नीति के दोहे, 'रहीम दोहावली,' छत्रसाल की नीति मंजरी,' मीर का 'अन्योक्ति शतक' विनययत्ति की 'अन्योक्ति बावनी' केवल कृष्ण शर्मा की 'नीति पचीसी' आदि ग—अन्य विषयक मुक्तक कविताओ के साथ सग्रहीत नीति कविताये (अ) अन्य विषयक मे सतसइयो मे सगृहीत नीति-कविताएं जैसे तुलसी, बिहारी, मतिराम, भूपति, वीर, किसान (निर्भयकृत), स्वदेश (महेश चन्द्रप्रसाद कृत) सतसइयाँ। (आ) अन्य विषयक सतसइयो से बडे सग्रहो मे सग्रहीत नीति कविताएं जैसे शृंगार विषयक रसनिधि कृत 'रतन हजारा', भक्ति विषयक कुलदीप कृत 'सहस्र दोहावली' और मिश्रित विषयो को पाटन कृत 'ज्ञानसरोवर'। (इ) अन्य विषयक सतसइयो से छोटे सग्रहो मे सग्रहीत नीति कविताए जैसे भक्ति और ज्ञान विषयक बनारसीदास की 'ज्ञानबावनी' तथा मिश्रित विषयो के संग्रह 'दुलारे दोहावली, (दुलारे लाल भार्गव कृत) तथा कवि किंकर कृत 'सुधा सरोवर' २. प्रबन्ध काव्यों के अंश रूप मे प्राप्त नीति काव्य (जैसे पृथ्वीराज रासो, रामचरितमानस, पद्मावत या

[1]. हिन्दी नीति काव्य—डा० भोलानाथ तिवारी (१६५८, पृ० २४-२५)

रामचंद्रिका आदि के नीति अश) ३. संस्कृत पंचतत्र तथा पालि के जातको की औपदेशिक कथाओ की शैली पर हिन्दी मे भी कुछ पद्यबद्ध औपदेशिक कथाएँ लिखी गई (उदाहरणार्थ रामनरेश त्रिपाठी कृत 'क्षमा का अद्भुत परिणाम' तथा 'निर्बल' पर लिखी गई पद्यबद्ध कहानियाँ) परन्तु इनकी संख्या बहुत ही कम है। जो हैं वे अधिकाश मे बालोपयोगी है।

हिन्दी नीति काव्य का प्रतिपाद्य—हिन्दी के नीति काव्य मे जिन विषयो का वर्णन या प्रतिपादन हुआ है उनकी सूची विषयक्रम से इस प्रकार है[२]—[क]—धर्म और आचार-धर्म, ईश्वर, साधु, गुरु, समार, शरीर, मन, माया, नामस्मरण, ज्ञान, सत्य, दया, परोपकार, अहिंसा, क्रोध, अभिमान, लोभ, आशा, मोह, राज, द्वेष, काम, मास भक्षण, मादक द्रव्यो का प्रयोग। [ख]—व्यवहार और समाज-समाज, जाति, परिवार, मातापिता, पुत्र, भाई, पडोसी, शत्रु, मित्र, दुष्ट, सज्जन, मनुष्य, बचपन, तरुणाई, बुढापा, मृत्यु, पेट, उद्योग, श्रम, कर्म, नौकर और नौकरी, आय-व्यय, धन, धनी, निर्धन, सूम, दान घूस, ऋण, माँगना, देना, बुद्धि, बुद्धिमान और बुद्धिहीन विद्या, गुण, दोष, बल, सौन्दर्य, स्वभाव, अभ्यास, बान, धैर्य, शील, सन्तोष, क्षमा, सरलता, विनय और नम्रता, लाज, विश्वास, चिन्ता, प्रेम, कपट, ईर्ष्या, हठ निन्दा, चुगली, बदला, धोखा, स्वार्थ, प्रभुता, आत्मश्लाघा, चापलूसी बोलना, हँसी, उपदेश, सुखदुख, फूट और मेल, साग, भाग्य, समय, बीती बात, स्थान, उत्थान और पतन, वीर, कायर, अति, अतिथि।

ग—राजनीति—राजा, साम-दाम-दण्ड-भेद, न्याय, नीति, ज्ञान और गुण, बल और वीरता, धर्म, दान गर्वशून्यता, दया, शत्रु, कर, व्यय, मत्री, दूत, राजा के सबंध में कुछ अन्य बातें।

घ—नारी—सुलक्षनी और कुलक्षनी, नारी और उसके विविध रूप, कन्या, गृहिणी, विधवा, रक्षा, सन्तान, गृहस्थी, परकीया, वेश्या।

ङ—स्वास्थ्य च—खेती छ—व्यापार ज—शकुन

नीति काव्य के रूप—कुछ विद्वान् नीतिकार कवियो को कवि ही नही मानते, सूक्तिकार मात्र कहते है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इस प्रकार का मत रखने वालों मे अग्रणी हैं—'इनको (नीति के फुटकल पद्य कहने वालों को) हम कवि कहना ठीक नही समझते। इनके तथ्यकथन के ढग मे कभी-कभी वाग्-वैदग्ध्य रहता है पर केवल वाग्वैदग्ध्य के द्वारा काव्य की सृष्टि नही हो सकती। यह ठीक है कि कही ऐसे पद्य भी नीति की पुस्तकों में आ जाते हैं जिनमें कुछ मार्मिकता होती है, जो हृदय की अनुभूति से भी सबंध रखते हैं, पर उनकी संख्या बहुत ही अल्प होती है। अतः

---

[२]. वही पृ० १२७-३६३

ऐसी रचना करने वालों को हम कवि न कहकर सूक्तिकार कहेंगे।'[1] इस कथन से स्पष्ट ही नीति काव्य के दो रूप हो जाते है —१. पद्य, २. सूक्ति। सूक्ती भी दो प्रकार की हो सकती है अनुभूति प्रवण और वाग्वैदग्ध्यपूर्ण। यह रूप निर्धारण नीतिकाव्य मे काव्यत्व अथवा काव्य गुण की अन्वेषण की दृष्टि से है। नीति काव्य का निवेचन करते हुए डा० रसाल भी बहुत कुछ इसी निष्कर्ष पर पहुँचे है।[2] उनके मतानुसार नीति काव्य निम्नलिखित रूपो मे पाया जाता है—

१. तथ्य कथन के साथ मार्मिक अनुभूतियो की व्यजना करने वाला काव्य (रसपूर्ण)

२. उक्तिवैलक्षण्य, वाग्वैचित्र्य, चमत्कार-चातुर्य सूचक, कला कौशल सयुक्त (रसरहित)

पहले प्रकार का काव्य सहृदय कवियो द्वारा सृष्ट होता है, दूसरे प्रकार का चमत्कार-वादी सूक्तिकारो द्वारा। पहले प्रकार के रचयिता मनोवृत्तियो को उत्तेजित करते है, दूसरे प्रकार के उपदेश देते है, तथ्यकथन करते है और बोधवृत्ति को जगाते हैं। ये द्विविध काव्य सूक्तिकाव्य के ही उन दो रूपो से मिलते-जुलते है जो आचार्य शुक्ल द्वारा निर्दिष्ट है। डा० रसाल ने मात्र पद्य के रूप मे लिखे गए नीति काव्य की ओर पृथक से सकेत नही किया है। सभवतः तथ्यकथन और उपदेश मात्र मे लिखित मात्र

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल पृ० २९८

[2] रीतिकाल मे 'कई कवियो ने दोहावली शैली से नीति सबधी बाते उक्ति वैलक्षण्य और वाग्वैचित्र्य के साथ चमत्कार चातुर्य सूचक कला-कौशल की पुट देते हुए कही है। इनमे कविता का प्राण (रस 'रसात्मक वाक्य' के अनुसार) नही, काव्य कला के कौशल से इनका कलेवर अवश्य ही सुन्दरता से रचा गया है। हाँ, कही-कही तथ्य कथन के साथ मार्मिक अनुभूति की भी व्यजना अच्छी पाई जाती है। इस प्रकार के कवियों को हम चकत्कारवादी सूक्तिकार कह सकते है।....केवल कुछ सहृदय कवियो को ही छोडकर जो अपनी कल्पना एव प्रतिभा से अन्योक्ति आदि के द्वारा लौकिक पक्ष से अलौकिक की ओर जाते हुए भगवद् भक्ति, प्रेम, ससार से विरक्ति आदि का चित्रण करते है शेष लोग बोध वृत्ति को ही जाग्रत करने का प्रयत्न करते हुए कल्पना-भावनादि-रहित केवल तथ्य कथन ही को उद्देश्य रूप में रखकर कुछ स्वल्प चमत्कार चातुर्य या वाग्वैचित्र्य के साथ (जो उनकी बात को स्पष्ट रूप से हृदयंगम करने मे सहायक हो) रचनाएँ करते हैं। इनका लक्ष्य उपदेश देते हुए तथ्यकथन के द्वारा बोध वृत्ति को ही जगाना रहता है, मनोवृत्ति को ये उत्तेजित तथा इसके उद्रेक कराने का प्रयत्न नही करते।

(हिन्दी साहित्य का इतिहास—डा० रसाल, पृ० ५१६-१७,

पद्यात्मक नीति छन्दो को उन्होने दूसरी श्रेणी (रसरहित) में अंतर्मुक्त कर लिया है। नीति काव्य पर शास्त्रीय दृष्टि से अनुसधानात्मक प्रबन्ध लिखने वाले डा० भोलानाथ तिवारी ने आचार्य शुक्ल द्वारा निरूपित नीति काव्य रूपो को यथावत् स्वीकार करते हुए उसे अधिक व्यवस्थित रूप मे प्रस्तुत किया है[1]—
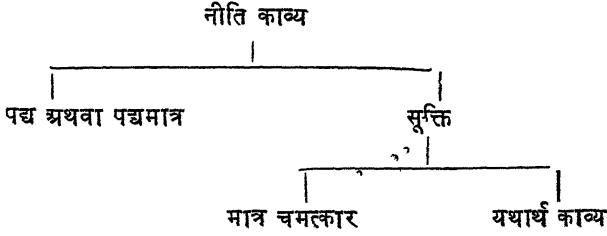
पद्य अथवा पद्य मात्र नीतिकाव्य वह है जिसमे नीति की बाते सीधे सादे शब्दो मे छन्दबद्ध कर दी जाती है। इसमे सिर्फ पद्यात्मकता होती है। इस श्रेणी के अन्तर्गत गिरिधर की अधिकाश कुडलियाँ, संतो की अधिकाश नीति साखियाँ, अन्य भक्तो के अधिकाश नीतिछन्द तथा टोडरमल, बीरबल, गग, घाघ, बैताल तथा भड्डरी आदि का नीति साहित्य आता है। सूक्ति साहित्य मे नीति कथनो के साथ-साथ उक्ति-सौन्दर्य का वैशिष्ट्य होता है। उक्तिगत चमत्कार के कारण सूक्ति अधिक प्रभाव-शालिनी हो जाती है तथा मात्र पद्यात्मक नीति कथनो से उत्कृष्ट श्रेणी मे आती है। यह सूक्ति दो प्रकार की कही गई है :—

१. काव्य के विधायक तत्वो से शून्य (मात्र चमत्कार)

२. काव्य के विधायक तत्वों से युक्त (यथार्थ काव्य)

पहले प्रकार की सूक्ति में चमत्कार या रचनावैचित्र्य ही प्रधान होता है,[2] इसमें काव्य के विधायक तत्वो का अभाव होता है फलतः चमत्कृत करता हुआ भी सूक्ति का यह रूप यथार्थ रसानुभूति नही करा पाता। कबीर, तुलसी, रहीम, वृन्द, दीन दयाल, रामचरित उपाध्याय तथा महात्मा भगवान दीन के बहुत से नीति छंद इसी श्रेणी के है।

इसके विपरीत कुछ सूक्तियाँ ऐसी होती है जिनमे हृदय को भाव-विभोर करने की क्षमता होती है। ऐसी ही सूक्तियो में नीतिकार कवि का सच्चा काव्यत्व झलकता है। तुलसी, रहीम, वृन्द के कुछ नीति दोहे तथा दीनदयाल गिरि की कितनी ही अन्योक्तियाँ इसी श्रेणी की है। हिन्दी नीति साहित्य में यथार्थ काव्य की श्रेणी में

---

1. हिन्दी नीतिकाव्य—डा० भोलानाथ तिवारी, पृ० ६-१२।

2. जग ते रहु छत्तीस ह्वै, राम-चरन छै तीन।
तुलसी देखु विचार हिय है यह मतो प्रवीन॥

आनेवाले नीति छन्द कम हैं। चमत्कारपूर्ण सूक्तियो तथा मात्र पद्य रूप मे लिखित नीति-साहित्य उत्तरोत्तर अधिक है।

हिन्दी नीति साहित्य प्रधानतः इन छन्दो मे लिखा गया है—दोहा, सोरठा, बरवै, छप्पय, सवैया, कवित्त और कुँडलिया। नीतिकाव्य के लिए दोहा, सोरठा और बरवै अधिक उपयुक्त छंद पडते है क्योकि वे सहज ही स्मरण किये जा सकते हैं। अन्य बडे छन्दो मे अतिम चरण मे नीति की आत्मा झलकती है फलतः बडे छन्दो के अतिम चरण ही याद रह जाते है।

उपर्युक्त विवरण से यह तो स्पष्ट ही है कि हमारी सास्कृतिक परपरा के अनुरूप ही अपना हिन्दी साहित्य नीति की रचनाओ से भरा पूरा है। यो तो सभी कवियो की रचनाओ से कुछ न कुछ नीत्योक्तियाँ छाँटी जा सकती है परन्तु इतने के ही कारण कोई कवि नीति कवि नही कहा जा सकता। इस प्रकार की रचना अधिक परिमाण मे करने वाले और नीति तथा उपदेश कथन की वृत्ति रखने वाले कवि ही सच्चे नीति कवि कहे जा सकते है। ऐसे कवियो मे भी वे कवि जो प्रमुख रूप से नीति काव्य लिखनेवाले हैं प्रधान नीतिकार कहे जायँगे जैसे रहीम, वृन्द, घाघ, भड्डरी, बैताल, गिरिधर और दीनदयाल। ये कवि नीतिकवि के रूप मे ही हिन्दी साहित्य मे प्रख्यात है। कबीर, तुलसी आदि की नीतिविषयक रचनाएँ काफी है फिर भी वे प्रमुख नीतिकार नही कहे जा सकते, भक्ति उनका मूल स्वर था, नीति उनके काव्य का सहचर विषय था।

एक बात जो नही भुलाई जा सकती वह यह है कि हिंदी नीति काव्य एक बडी सीमा तक सस्कृत सुभाषित साहित्य से प्रभावित है[1]। इस संबध मे भी डा० भोलानाथ तिवारी का मत यह है कि 'हिन्दी का नीति साहित्य प्रमुखतः हमारे पूर्ववर्ती साहित्यों विशेषत. संस्कृत के नीति के कवियों के अनुभवो पर ही आश्रित है पर इसके लिए हम हिन्दी के नीति के कवियो को अमौलिक या परानुगामी होने का दोषी नही ठहरा सकते। सच पूछा जाय तो भारतीय समाज में नीति के प्रधान विषयो के संबंध मे प्राचीन काल से ही कुछ बँधे बंधाए दृष्टिकोण चले आ रहे है और वे आज भी लगभग उसी रूप एवं अंश मे मान्य है। इनमे से बहुत से तो समान रूप से विश्व के सभी सभ्य राष्ट्रो मे मान्य हैं।'[2]

कला की दृष्टि से भी हिन्दी का नीति काव्य अनुन्नत नही। जन-जीवन पर

---

[1]. 'नीति ग्रन्थ सस्कृत भाषा मे थे, उनके ही आधार पर कुछ न्यूनाधिक परिवर्तन परिशोधन के साथ नीति काव्य की रचना हो चली'—हिंदी साहित्य का इतिहास—डा० रसाल, पृ० ५१७।

[2]. हिंदी नीति काव्य —डा० भोलानाथ तिवारी, पृ० ४१५

उसका व्यापक प्रभाव ही इस बात का प्रमाण है कि इसकी भाषा, शैली, अलंकृति और छन्द-चयन आदि पर्याप्त उपयुक्त हैं तथा लक्ष्य की सिद्धि मे पूर्णत. सहायक भी।

इस नीतिधारा का महत्व अनेक दृष्टियो से है। एक तो इसमे जीवन के अनुभवों का सार या निचोड सचित मिलता है और इस कारण जीवन के लिए इनकी उपयोगिता असाधारण है। ये नीति कथन सामाजिक प्राणियो के लिये पिता, गुरु, हितैषी और बडे भाई के समान हैं जो उसे सही पथ पर चलने की प्रेरणा देते है और पथ के कॉटो से आगाह करते रहते है। जीवन और जगत या प्रकृति मे जो कुछ होता रहता है नीति कवि उसके आधार पर अपने अनुभवो के सहारे कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकालता रहता है। उन्हे ही जब वह मार्मिक रूप से काव्यबद्ध करता है तब वह नीति काव्य कहलाता है। समान अनुभव वाले व्यक्ति ऐसी रचनाओ से मुग्ध होते है और अनुभवहीन लाभ उठाते है। नीति काव्य के अन्तर्गत उसका एक निहित लक्ष्य भी हुआ करता है—वह है ज्ञान वर्द्धन, पथ प्रदर्शन, मनुष्य की बोधवृत्ति को जगाना अथवा उसे उपदेश देना। यह कार्य नीति मुक्तकों द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य होता रहता है। जहाँ उपदेश तत्व प्रधान हो जाता है वहाँ ये कृतियाँ विधि-निषेधमय हो जाती है। जहाँ मात्र अनुभव कथन होता है वहाँ उनमे साकेतिकता अथवा व्यञ्जना की प्रधानता होती है। लक्ष्य को बेधने मे नीति काव्य अर्जुन के शर के समान अचूक होता है। अपने भेदन-कौशल के कारण नीतिकाव्य की प्रभावशालिता अद्वितीय होती है। नीति विषयक अन्योक्तियो के बडे-बडे कमाल सुने गये है। अपने इन्ही गुणो के कारण व्यक्ति और समाज के दैनन्दिन जीवन मे नीत्योक्तियो का महत्व अक्षय है। रोज इनका प्रयोग होता है, जन साधारण रोज इनसे आगाह होता रहता है, प्रेरणाएं पाता रहता है और जीवन मे सतर्कता बर्तता चलता है। उपयोगिता, जनहित अथवा लोक-कल्याण की दृष्टि से नीतिकाव्य का महत्व सदा रहा है और सदा रहेगा। 'कला जीवन के लिए है' जो आलोचक काव्य अथवा कला का सिद्धान्त वाक्य ठहराते है उनके समीप नीति काव्य की महत्ता सर्वोपरि है। हरिऔध जी ने कहा है कि नीतिकार कवियो की 'रचनाओ ने हिन्दी ससार मे नवीनता उत्पन्न की है, अच्छे-अच्छे उपदेशो और हितकर वाक्यो से उसे अलकृत किया है।'[1] इस सम्बन्ध मे डा० भोलानाथ तिवारी ने लिखा है—'इस धारा के महत्व के विषय मे इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि इसकी एक-एक बात जीवन के खरे अनुभवों से सिक्त है और एक ओर यदि वह भूत के अनुभवो का सार है तो दूसरी ओर वर्तमान और भावी समाज की प्रदर्शिका भी है। हमारे समाज के लिए इस नीति काव्य

---

1. हिंदी भाषा और साहित्य का विकास—अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' पृ० ४४६।

के अनेकानेक छन्द छन्दाश लोकोक्ति बन गये है और जीवन के प्राय· सभी क्षेत्रो में वे जनता की समस्याओ को सुलझाते हैं एव उसके कन्धे पर हाथ रखकर दुख-सुख मे उचित मार्ग के अनुसरण की प्रेरणा देते है। इस प्रकार जीवन से उद्भूत और जीवन के लिए होने के कारण हमारे साहित्य की यह धारा अपना अत्यधिक महत्व रखती है। इस क्षेत्र मे भारतीयो का लोहा पाश्चात्य विद्वानो ने भी माना है और भारतीय नीति काव्य को नीति साहित्य के क्षेत्र मे विश्व का सर्वश्रेष्ठ साहित्य घोषित किया है—

In one department of Literature, that of aphorism (gnomic poetry) the Indians have attained a mastery which has never been gained by any other nation. (Winternity : A History of Indian Literature, Vol. I 1957, p 2)'[1]

संत काव्यधारा—हिन्दी साहित्य के मध्ययुग के आरंभ में कबीरदास द्वारा प्रचारित सतमत इस प्रकार बढा, फला और फूला कि शताब्दियो तक उसकी परंपरा चलती रही। यह दूसरी बात है कि यह सतमत नाना मतो और सप्रदायो का रूप लेकर उत्तर भारत मे प्रचलित हुआ किन्तु इतना निश्चित है कि सतो के सामान्य आदर्श लगभग एक-से ही रहे। धर्म, दर्शन और समाज के क्षेत्र मे सतो ने जिस सहज और उदार दृष्टि तथा चेतना का परिचय दिया वह निश्चय ही वरेण्य और महान है। संतसाहित्य का कलापक्ष भले ही हीन और तिरस्करणीय हो किन्तु उसका भाव पक्ष धवल और पुनीत है। संत काव्य निम्नवर्गीय पंक से खिला हुआ कमल है।

सतो का धर्म विश्व-धर्म है। उसमे आडबर और कर्मकाण्ड के लिये रत्ती भर भी गुजाइश नही। मनुष्य का सदाचरण उसकी सात्विकता ही धर्म है जिसकी पहली शर्त है हृदय की शुद्धता और पवित्रता क्योकि जब तक मन का मैल नही कटता परमात्मा की अनुभूति किस प्रकार हो सकती है ? हृदय की इसी पवित्रता और शुद्धि के लिए सतो ने करणीय और अकरणीय का विधान किया है। विधि-निषेधो से, चेतावनी और उपदेश से संत काव्य ओत-प्रोत है। सतो के अनुसार क्षमा, दया, शील, संतोष, औदार्य, निरभिमान, दैन्य, धैर्य, विवेक आदि ग्राह्य हैं और आसक्ति, आग्रह, लोभ, मोह, छल, काम, क्रोध, कर्मकाण्ड, बाह्याडबर, लोकाचार, सामिष आहार, कनक, कामिनी आदि त्याज्य। सन्मार्ग पर लगाने के लिए संतो ने गुरु महिमा का अथक भाव से गायन किया है, गुरु का महत्व परमात्मा से भी अधिक है क्योकि गुरु ही मनुष्य को परमात्मपंथी बनाता है। संतो के इस सहज धर्म मे जप-तप, तीर्थ-व्रत, पाहन-पूजा, छापा-तिलक आदि कर्मकाडो के लिए कोई स्थान नही है। ईश्वरोपलब्धि का साधन

. हिन्दी नीतिकाव्य—डा० भोलानाथ तिवारी, पृ० १

है सत्संग, नाम-स्मरण तथा गुण-श्रवण और कीर्तन। धर्म के ही समान सतो का दर्शन भी अनुभूति से ही उत्पन्न है। वह वेद-शास्त्रो की अपेक्षा नही रखता, किन्ही पुरातन धर्म ग्रथो अथवा पोथियो के रूढ विचारो से वह संबद्ध नही। वह जीवन से पैदा है और उसी के समान जीवंत भी। सतों के अनुसार ब्रह्म रूपाकार से परे है सगुण-निर्गुण के टटे से ऊपर है। वह प्रत्येक कण में है, प्रत्येक श्वास मे है। तीर्थों, मूर्तियो और अवतारो मे उसे खोजना व्यर्थ है। वह शब्दो से परे है 'गूंगे केरी शर्करा' के समान उसका आस्वाद अनिवर्चनीय है। 'सोइ जानै जो पावै' वाली बात है। उसकी प्राप्ति के लिये लौ लगाना होगा, प्रेमपूर्ण समर्पण करना होगा, यम-नियमादि द्वारा योगसाधना करनी होगी। जीव तत्वत: ब्रह्म ही है। पार्थक्य मायाजन्य है। माया अविद्याजनित है। इसी माया के निवारण पर 'ब्रह्मजीवैक्य' सम्भव होता है। आत्मा के समर्पण मे प्रेम और आनन्द की जो अलौकिक अनुभूतियाँ है वे ही रहस्यवाद कहलाती है। सन्तो का ब्रह्मचिंतन अद्वैतवाद के निकट है। सन्त-मत मे माया मनुष्य को भटकानेवाली है। मिथ्या और भ्रमात्मक होते हुए वह मनुष्य को कुमार्ग पर ले जाने वाली है। उसे 'ठगनी' और 'डाकिनी' कहा गया है। ससार मे 'कचन', 'कामिनी' आदि ही उसके रूप रूपान्तर हैं। वृत्तियो को अन्तर्मुखी करके परमात्मा की ओर अभिमुख कर देना ही माया से निवृत्ति का उपाय है। परमात्मासक्ति (अलौकिक के प्रति प्रेम) और सन्तसङ्गति मायानिवृत्ति के उपाय हैं। जगत माया-जन्य है अत: भ्रमात्मक है, नश्वर है। भोग के प्रतीयमान उपकरण अपनी नश्वरता और निस्सारता के कारण व्यर्थ है। प्रेम और योग ब्रह्मोपलब्धि के अनन्य साधन है। सन्तो का धर्म और दर्शन समाजोपयोगी है। पवित्रता, नैतिकता, सदाचार आदि ही सामाजिक जीवन की आधार-शिला है। जाति और वर्ग तथा अर्थगत भेद सन्तो की दृष्टि मे अमान्य है। समाज के निर्माण और विकास तथा नि:श्रेयस की सिद्धि बिना उपरिलिखित साधनो की साधना किये सम्भव नही।

सन्त काव्य की इस धारा से समस्त मध्य युग आप्लावित रहा है। यद्यपि कालान्तर मे सन्तमत कुछ क्षीण पड गया तथा जिन बातो का इस मत मे निषेध था बाद मे किसी सीमा तक वे ही बाते ग्राह्य एव मान्य हो गईं फिर भी शताब्दियो तक उत्तर भारत के एक वृहद जन-समाज पर प्रबल रूप से इस धारा का प्रभाव पडता ही रहा। शृंगार-काल तक आते-आते सन्त कबीर द्वारा प्रवर्तित सन्तधारा का प्रभाव शिथिल पड़ चला, उसमे पहले-सा वेग, शक्ति और प्रवाह न रह गया। मूलवर्ती सन्तधारा अनेक पन्थो और सम्प्रदायो मे विभक्त हो गई तथा अनेक पन्थो एव सम्प्रदायों मे मूर्तिपूजा, अवतारवाद तथा राम कृष्णादि की भक्ति प्रतिष्ठित हो गई। हिन्दी के आदि सन्तो ने जिन बातो का कठोरता से प्रतिवाद किया था वे ही बाते समसामयिक साहित्य, जीवन और समाज के प्रभाव से परवर्ती सन्त साहित्य का

अग बन कर आईं। कृष्ण भक्ति या सगुण भक्ति के समसामयिक प्रबल प्रभाव के कारण अनेक सन्तो मे सगुण भावना, और पूजोपचार तथा समकालीन सूफी कवियो का प्रभाव दिखाई देने लगता है। इस शिथिलता का कारण सन्त साहित्य मे व्यक्तित्व का ह्रास कहा जा सकता है। छोटे-छोटे साधारण सन्तो ने भी अपना-अपना पन्थ चलाया। व्यक्ति मे महत्व-प्राप्ति की स्पृहा जगी। "कबीर ने जिस प्रकार अपना एक नया मार्ग चलाकर अपनी शिष्य परम्परा के द्वारा कबीर पन्थ की जड जमा दी थी, उसी प्रकार उनके शिष्यो ने भी अपने-अपने व्यक्तित्व को प्रधानता देकर अपने-अपने नामो से अपनी-अपनी शिष्य परम्पराओ को प्रचलित करते हुए अपने-अपने स्वतन्त्र पथ चला दिये और इस प्रकार बहुत से पन्थ निम्न श्रेणी के लोगो मे प्रचलित हो गये।"[1] सन्तधारा के सभी सन्त अच्छे ज्ञानी, अनुभवी और विवेकवान न थे। अनेक तो बहुत साधारण श्रेणी के थे किन्तु महत्वाकाक्षावश महात्मा बन गये। सन्त साहित्य का एक बहुत बडा अंश थोथा निष्प्रभ और पिष्टपेषण मात्र है, एक बडी सीमा तक चर्वित-चर्वण मात्र मिलता है। इसी कारण इनका प्रभाव कुलीन अथवा सम्भ्रान्त वर्ग पर, सम्पन्न एव विद्वत्समाज पर बिलकुल नही पडा। हाँ, निम्न श्रेणी के लोग इनसे बराबर प्रभावित होते रहे तथा किसी सीमा तक वे विदेशी धर्मावलम्बन से पराङ्मुख रह सके। उन्हे इनकी बानियो से थोडी बहुत दिलासा और सान्त्वना मिलती रही। कबीरादि प्रधान सन्तो के अनुकरण पर शब्द, रमैनी, साखियाँ, उल्ट-वासियाँ आदि लिखी जाती रही। जन साधारण के धर्म का साहित्य होने के कारण सन्त साहित्य की भाषा सरल और सुगम रही, जन भाषा ही मे यह साहित्य प्रणीत हुआ। सन्तो की पर्यटनशीलता ने सन्त साहित्य की भाषा पर अवधी, भोजपुरी, पञ्जाबी, राजस्थानी आदि का काफी रग चढाया। साहित्यिक उत्कर्ष की दृष्टि से सन्त साहित्य मे हमे निराशा ही हाथ लगेगी किन्तु जन भाषा की प्रभविष्णुता की दृष्टि से सन्त साहित्य का महत्व सदा स्वीकार किया जायगा। वैसे भद्दापन, फूहडपन, भदेसपन या शास्त्रीय शैली मे 'ग्राम्यत्व' इस साहित्य का नित्य दोष है। इतना अवश्य है कि पूर्ववर्ती सन्त साहित्य की भाषा कुछ परिष्कृत है, वह कबीर की-सी 'सधुक्कड़ी' नही है। सुन्दरदास ऐसे अनेक सन्तो ने उसे परिमार्जित और व्यवस्थित किया तथा कुछ साहित्यिकता भी प्रदान की। अधिकाश कवियो की भाषा सधुक्कडी न होकर ब्रज हो गई।

कबीर, नानक, दादू जैसा व्यक्तित्व रखने वाले सर्वमान्य सत बाद मे न हुए। नाना पन्थों का उदय हुआ। कुछ पन्थो का उदय तो भक्तिकाल मे ही हो चुका था, अनेक नये संप्रदायो का आविर्भाव उत्तर-मध्यकाल मे हुआ। भक्ति युग मे ही जिन

[1]. डा० रसाल—हिन्दी साहित्य का इतिहास (सन् १९३१) पृ० ५४४

संप्रदायों का प्रवर्तन एवं प्रचलन हुआ उनकी नामावली इस प्रकार है—कबीर पंथ, नानक पथ, दादू पन्थ, निरञ्जनी संप्रदाय, बावरी पन्थ, मलूक पन्थ आदि । अन्तिम तीन पन्थ रीति युग के आविर्भाव काल के आस-पास स्थापित हुए । जो पन्थ या सप्रदाय विशेष रूप से रीतिकाल मे आते हैं वे है– बाबा लाल्नी, प्राणनाथी, सतनामी, धरनीश्वरी, दरियादासी, शिवनारायणी, चरणदासी, राधा स्वामी और साहेब पन्थ । अनेक पन्थो एव सम्प्रदायो की शाखाएं-प्रशाखाएँ भी स्थापित हुईं । सामान्यतः इन सभी सन्तो का कथ्य एक-सा ही है जैसा कि आरम्भ मे ही हम कह आये है—गुरु महिमा, सत्यनाम, मायाछल, वैराग्य, परमात्मासक्ति, मनःशुद्ध, साधना, उपदेश आदि से संबन्धित बाते न्यूनाधिक रूप मे सभी सन्तो द्वारा कही गई है । जहाँ अनुभूतिप्रेरित कथन है वही उसमे वैशिष्ट्य उपलब्ध होता है अन्यथा अधिकतर चर्वित-चर्वण ही हुआ है । रीतियुगीन सन्तो पर योग साधना, कबीर की साखियो, नाथपन्थ, सूफीमत और सगुण भक्ति धारा का विशेष प्रभाव लक्षित होता है । सन्त-मत की प्रारम्भिक मान्यताएँ कालान्तर मे परिवर्तित हो चली । उदाहरण रूप मे मूर्ति पूजन को ही लिया जा सकता है । जहाँ कबीर आदि इसके घोर विरोधी थे वही हम देखते हैं कि समाधि, पोथी या ग्रन्थ, चित्र और मूर्ति की पूजा शुरू हो गई । पोथी पूजा तो सिक्खो का प्रभाव है तथा चित्र और मूर्ति-पूजा वैष्णव भक्तो के प्रभाव स्वरूप है । सतनामी सम्प्रदाय मे हनुमान की मूर्ति-पूजा तक का विधान है । इसे आप सन्तमत की शिथिलता अथवा ह्रासोन्मुखता कहे चाहे लाक प्रचलित इतर धर्मो के साथ समन्वय या सामञ्जस्य की प्रवृत्ति ।

रीतियुग की सन्तधारा के प्रमुख सन्तो तथा उनकी बानियो का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है —

१. रज्जबदास (जन्म सवत् १६२४ मृत्यु सवत् १७४६)—दादू की शिष्य परपरा के अत्यन्त महत्वपूर्ण सन्त । गम्भीर विद्वान, रचनाओ मे सूफियो-सी मस्ती । दादू-पन्थी सिद्धान्त इन्होने छप्पय छन्दो मे लिखे । रचनाएँ–१. बानी २. सर्वाङ्गी ग्रन्थ ३. अङ्गबधू । बानी मे ५३५३ छन्द है ।

२. मूलकदास (स० १६३१-१७३६) जन्म-स्थान कड़ा जिला इलाहाबाद । बचपन से साधुसेवी और देशाटनप्रेमी । निर्गुण के साथ सगुण के भी भक्त थे । इनका मलूक पन्थ पर्याप्त प्रचलित हुआ, इसकी गद्दियाँ वृन्दावन, पटना, नेपाल, जयपुर, काबुल, गुजरात और पुरी मे स्थापित हुई । इनकी अनेक साखियाँ कबीर के टक्कर की है । रचनाएँ—१. ज्ञान बोध, २. रतनखान, ३. भक्त बच्छावली, ४. भक्त विरुदावली, ५. पुरुष विलास, ६. गुरु प्रताप, ७. अलख बानी, ८. रामावतार लीला, ९. दसरत्न ग्रन्थ ।

३. सुन्दरदास (स० १६५३-१७४६)—जन्म-स्थान जयपुर । दादू पन्थ के

सबसे विद्वान कवि और सन्त । काशी मे दर्शनादि बिषयो का गम्भीर अध्ययन किया। सन्त कवियो मे इनकी कविता सबसे सुन्दर है । १२ वर्ष तक इन्होने योगाभ्यास किया तथा बिहार, बंगाल, उडीसा, गुजरात, मालवा, बदरीनाथ आदि का पर्यटन भी । हिन्दी, संस्कृत, पजाबी, गुजराती, मारवाडी, फारसी आदि भाषाएँ जानते थे। रचनाओ मे अनुभव तत्व और काव्यकौशल प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध है तथा साख्य और अद्वैत दर्शन का भी निरूपण मिलता है । इनके लिखे छोटे बडे ४२ ग्रन्थ कहे जाते हैं । प्रधान है—१. ज्ञान समुद्र और २. सुन्दर विलास ।

४. प्राणनाथ (सं० १६७५-१७५१) 'प्रणामी' या 'धामी' सप्रदाय के प्रवर्तक तथा उच्च कोटि के सन्त एव सार्धक थे । बड़े पर्यटनशील भी थे । सम्वत् १६३१ मे बुन्देलखण्ड मे महाराज छत्रसाल के दीक्षागुरु बने । सत्सङ्गवश अरबी, फारसी, हिन्दी, संस्कृत भाषाओ के जानकार हुए। रचनाएँ—१. रामग्रन्थ, २. प्रकाश ग्रन्थ, ३. षटऋतु, ४. कलस, ५. किरतन, ६. खुलास, ७. सम्बन्ध, ८. खेल बात, ९. प्रकरण इलाही दुलहन, १०. सागर सिंगार, ११. बडे सिंगार, १२. सिंधिभाषा, १३. मारफत सागर, १४. कयामतनामा आदि ।

५. दरियासाहेब (सं० १६६१-१८३७) बिहारवाले मारवाड वाले दरिया सन्त की अपेक्षा अधिक प्रसिद्ध हो गए हैं । इनका निवास-स्थान घरकधा (आरा) था । इनके मत पर कबीर, सतनामी सम्प्रदाय और सूफीमत का विशेष प्रभाव था । निराकार पूर्ण ब्रह्म की उपासना करते हुए उसकी प्राप्ति के लिए 'नाम स्मरण' इनकी दृष्टि मे प्रधान साधना थी । इन्होने भ्रमण अधिक नही किया । इनके लिखे लगभग २० ग्रन्थ कहे जाते हैं जिनमे १. दरिया सागर और २. ज्ञानदीपक प्रधान हैं ।

६. अक्षर अनन्य (सं० १७१० में वर्तमान) सन्तो मे सर्वाधिक ज्ञानी व्यक्ति थे तथा वेदान्त के अच्छे ज्ञाता थे । ये दतिया रियासत के सेनुहरा (स्यौढा) ग्राम के कायस्थ थे । कुछ काल तक ये दतिया नरेश पृथ्वीचन्द के दीवान भी थे। बाद में विरक्ति इन्हें पन्ना ले गई जहाँ ये महाराज छत्रसाल के गुरु हुए । भक्ति और ज्ञान की अपेक्षा राजयोग को इन्होंने विशेष महत्व दिया है । योग और वेदान्त पर कई ग्रंथ लिखे—१. राजयोग, २. विज्ञान योग, ३. ध्यानयोग, ४. सिद्धान्त बोध, ५. विवेक दीपिका, ६. ब्रह्मज्ञान, ७. अनन्य प्रकाश आदि, ८. दुर्गासप्तशती का हिन्दी पद्यानुवाद भी इन्होंने किया ।

७. यारी साहेब (सं० १७२५-१७८०) का पूरा नाम यार मुहम्मद था । ये बावरी संप्रदाय के प्रसिद्ध संत थे । इन पर सूफी सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव था । इनके शिष्य हिन्दू मुसलमान दोनों थे ।

८. जगजीवन दास (सं० १७२७-१८१८) जन्म-स्थान खरदहा (बाराबकी)

बावरी सम्प्रदाय के सन्त बुल्ला साहब और गोविन्द साहब की कृपा से इनकी वृत्तियाँ आध्यात्मिक हुई। इन्होने सतनामी सम्प्रदाय की कोटवा शाखा का पुनर्संगठन किया। कोटवा मे सम्प्रदाय की गद्दी तो है ही इनकी समाधि भी है। जाति-बन्धन का विरोध, निर्गुण ब्रह्म माहात्म्य, अहिंसा, गुरु माहात्म्य, सत्य, वैराग्य आदि इनके काव्य-विषय हैं। रचनाएँ—१ प्रथम ग्रथ, २. ज्ञान प्रकाश, ३. महाप्रलय, ४. शब्द सागर ५. आगम पद्धति, ६. प्रेम पन्थ और ७. ग्रथ विनाश।

६. धरनीदास (जन्म स० १७३३) माँझी या माफी गाँव जिला छपरा के रहने वाले थे इसी से इनकी भाषा भोजपुरी प्रभावित है। इनके काव्य मे ईश्वर का विरह प्रधान रूप से चित्रित है दोहो मे, इन्होने बारहमासा भी लिखा है। कहा जाता है कि इन्होंने कोई पन्थ भी चलाया। रचनाएँ—१. प्रेम प्रकाश, २. सत्य प्रकाश, ३. अलिफनामा (फारसी मे)

१०. शिवनारायण (सं० १७५०—१८४८) जन्म स्थान गाजीपुर, जाति के राजपूत। गाजीपुर में शिवनारायणी संप्रदाय के मठ आज भी है। इनकी रचनाओं की संख्या १७ बताई जाती है जिनमे अनुभव, ज्ञान और उपदेश भरे हुए है। प्रधान ग्रथ है। गुरू अन्यास'।

११. गुलाल (सं० १७५०) जन्म-स्थान भुरकुडा ग्राम, गाजीपुर। इनका सबन्ध किसी सूफी परम्परा से है, किन्तु ये कबीर से भी विशेष प्रभावित जान पडते है। भाषा भोजपुरी प्रभाव से पूर्ण है। इनकी रचनाओ के प्रधान विषय है प्रेम, भक्ति जगत की दशा। साथ ही साथ बारहमासा, हिंडोला, रेखता मंगल, आरती, होली, बसंत आदि पर भी आप की रचनाएँ है।

१२. चरनदास (सं० १७६०-१८३६) जन्म-स्थान देहरा (अलवर)। १४ वर्ष तक इन्होने योगाभ्यास किया। इनका सप्रदाय चरनदासी नाम से चला। इनके मत में योग, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार पर विशेष बल दिया गया है। इनका मत कबीर से प्रभावित था तथा मूर्तिपूजा का उसमे घोर विरोध किया गया है। सेवा पर इनका संप्रदाय विशेष बल देता है। इनके लिखे २१ ग्रंथ कहे जाते है जिनमें १२ विशेष महत्व के है --१. ब्रज चरित्र, २. अमर लोक, ३. अखड धाम वर्णन, ४. अष्टाग योग, ५. धर्म जहाज, ६. योग संदेह सागर, ७. भक्ति पदार्थ, ८. ज्ञान स्वरोदय, ६. पचोपनिषत्, १०. ब्रह्मज्ञान सागर शब्द, ११ भक्ति सागर, १२. मन विकृतिकरण गुटकासार। कहा जाता है कि इन्होने भागवत् और श्रीमद्भागवत् गीता का अनुवाद किया था।

१३. बुल्ला साहेब (आविर्भाव काल सं० १७६० मृ० १८१०) ये एक सूफी थे किंतु इनके विचार निर्गुण संतमत के थे। संतमत के सभी विषय इनकी रचनाओं मे आए हैं। इनका जन्म-स्थान रूम बताया जाता है किंतु इनके उपदेशों का प्रचार

लाहौर के पास हुआ। भाषा पंजाबी से प्रभावित है। इनकी रचनाएँ प्रेम और उपदेश से भरी हुई है। ये ध्यान के लिये हठयोग को महत्वपूर्ण साधन मानते थे।

१४. भीखा साहेब (जन्म सं० १७७०) गुलाल के शिष्य थे। इनकी रचनाओ मे प्रेम परिचय और उपदेश की प्रधानता है।

१५. गरीब दास (जन्म स० १७७४) छुडानी जिला रोहतक मे हुआ, जाति के जाट थे। कबीर पथ का इन पर बहुत प्रभाव था इसी से तत्व दर्शन सबन्धी बाते इनकी कृतियो मे विशेष है। कबीर पथ के आधार पर इन्होने अपने नाम से एक पथ चलाया। सिद्धात और रचनाएँ कबीर से अत्यधिक प्रभावित है। गुरु नामस्मरण आदि पर इन्होने भी विशेष बल दिया है। भाषा मे अरबी फारसी शब्दावली प्रचुर है। इनके लगभग ४००० पद और साखियाँ उपलब्ध है।

१६. रामचरण (जन्म स०१७७५) इन्होने प्रचुर परिमाण मे संत साहित्य की सृष्टि की।

१७. दूलनदास (आविर्भावकाल स० १७८०) का जन्म समैसी (लखनऊ) में हुआ था। इनका झुकाव थोड़ा कृष्ण भक्ति की ओर भी था। प्रेम के पद इन्होंने बड़े सुन्दर लिखे। इनकी रचना मे प्रेम, विनय, चेतावनी और उपदेश विशेष रूप से पाया जाता है।

१८. सहजोबाई (आविर्भाव काल सं० १८०० के आस-पास)—जन्म देहरा राज्य (राजस्थान) मे। ये प्रसिद्ध सत चरणदास की शिष्या थी तथा बाल ब्रह्मचारिणी थी। ये उच्चकोटि की साधिका थी। गुरु महिमा पर इन्होने बहुत लिखा है। इनका प्रसिद्ध ग्रथ 'सहज प्रकाश' है।

१९. दया बाई (आविर्भावकाल स० १८०० के आस-पास) ये भी चरणदास की शिष्या और बाल ब्रह्मचारिणी थी। सहजोबाई और दयाबाई चचेरी बहने थी तथा इनकी रचनाएँ बहुत-कुछ एक-सी है। इनकी भाषा ब्रज है। स्त्री हृदय हाने के कारण इनकी रचनाओ मे प्रेम, भक्ति आदि का प्रकाशन अधिक मार्मिक बन पड़ा है। इनमे तन्मयता अधिक थी तथा गुरुमाहात्म्य के साथ-साथ निर्गुण, निरजन और अजपाजाप पर इन्होने विशेष ध्यान दिया है। इनका ग्रथ 'दयाबोध' नाम से प्रसिद्ध है।

२० तुलसीसाहब हाथरसवाले (सं० १८१७-१८९९) अपने को रामचरित मानसकार गो० तुलसीदास का अवतार मानते थे। 'घट रामायण' मे इन्होने अपने पूर्व जन्म की कथा दी है। इन्होने किसी को अपना गुरु नही बनाया। इनकी रचनाओं में पाण्डित्य के दर्शन होते हैं, 'घटरामायण' में रामकथा नही है। इनके ग्रंथों में निर्गुण ब्रह्म, जन्म मरण, कर्मफल, सृष्टि उत्पत्ति आदि दार्शनिक विषयो की विस्तृत व्याख्या की गई है। विचारों को कहीं-कही संवादों के माध्यम से व्यक्त किया गया

है। जगह-जगह पौराणिक एव काल्पनिक कथाएँ भी विषय निरूपणार्थ सन्निविष्ट की गई है। इनका विषय विवेचन शास्त्रीय है। शब्द योग की साधना का इनकी दृष्टि मे विशेष महत्व है। रचनाएँ----१. घट रामायण, २ शब्दावली, ३. रत्नसागर।

२१. बालकृष्ण नायक (आविर्भावकाल सं० १८२५) ने अनेक ग्रंथ लिखे। १. ध्यान मंजरी और २. नेहप्रकाशिका प्रधान है।

२२. पलटू साहेब (आविर्भाव काल स० १८५०) अयोध्या के रहने वाले थे। वहाँ से ४ मील की दूरी पर इनकी समाधि है जिसे 'पलटू साहब का अखाडा' कहते हैं। आज भी इनके अनुयायी यहाँ रहते हैं। इन्होने बहुत सी कुडलियाँ लिखी हैं जिनमें कबीर की साखियो का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है वैसे इनकी बानियो मे सूफ़ी मत की अनेक बातो—नासूत, मलकत, जबरूत, लाहूत, हाहूत आदि जगत के नाना प्रकारो—का वर्णन मिलता है। इनका अधिकाश काव्य कबीर के निर्गुणवाद के अतर्गत आ जाता है।

२३ शिवदयाल (स० १८७५) आगरे मे इनका जन्म हुआ। लाला शिवदयालसिह "स्वामी जी महाराज" राधा स्वामी सतसग के प्रवर्तक थे। इनके सत्संग का प्रवर्तन आगरे मे उस स्थान पर हुआ जिसे आज 'स्वामीबाग' या 'दयाल बाग' कहते हैं जहाँ इनकी समाधि है और एक अत्यत विशाल तथा सुन्दर मन्दिर सन् १९०४ से अब तक बन रहा है। राधास्वामी सत्सग आज भी विकास पर है तथा उत्तर प्रदेश में इसके काफी अनुयायी भी हैं। योग साधना और सत मत के उपदेशो से पूर्व दो ग्रंथ 'सार बचन' गद्य और पद्य मे उपलब्ध हैं।

इन सतो के अतिरिक्त भी अनेक संत इस युग मे हो गए हैं जिनकी रचनाओ का देश के विभिन्न भागो मे आदर होता है जैसे धनी धरमदास, सुथरादास, वीरभान, लालदास, निश्चलदास, बाबादास, हरिदास, बषान जी, वाजिद जी, सहजानद, गाजीदास, राम सनेही आदि विशेष उल्लेखनीय है।

अनुभूतियो के आधार पर रीतिकाल के निर्गुण शाखा के ज्ञानमार्गी संतो को डा० रामकुमार वर्मा ने चार कोटियो मे विभक्त किया है :—[1]

(१) तत्वदर्शी—सुन्दरदास, चरनदास, गरीब दास, तुलसी साहेब।

(२) भावना सपन्न—जगजीवन दास, गुलाल साहब, दूलनदास, दरिया साहब (बिहार वाले) यारी साहब।

(३) स्वच्छन्द—मलूकदास, सहजोबाई और दयाबाई, धरनीदास, दरिया साहब (मारवाड) गुलाल साहब, भीखा साहब।

---

१. हिन्दी साहित्य : द्वितीय खण्ड (भारतीय हिन्दी परिषद, प्रयाग १९५९ ई०) छठा अध्याय : संत काव्य—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० २१८.

(४) सूफी—बुल्लेशाह, पलटू साहब ।

पंथ अथवा संप्रदायानुसरण की दृष्टि से इस काल के संतो को इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है ।[१]

(१) निरंजनी सप्रदाय का उद्‌भव नाथ संप्रदाय मे ढूँढा जा सकता है । इस प्राचीन सप्रदाय के प्रवर्तक स्वामी निरंजन नाम के एक व्यक्ति कहे जाते हैं जिन्होने निर्गुण की उपासना का उपदेश दिया । दादू पंथ के सत राघौदास कृत 'भक्तमाल' मे १२ निरंजनी महन्तो का उल्लेख हुआ है—जगन्नाथदास, श्यामदास, कान्हडदास, ध्यानदास, खेमदास, नाथ, जगजीवन, तुरसीदास, आनददास, पूरणदास, मोहनदास, हरिदास, सेवादास, भगवानदास भी निरंजनी सत के रूप मे जाने जाते हैं । हरिदास, तुरसीदास और सेवादास का साहित्य परिमाण मे विपुल है । निरजनी सतो की बानियो मे निर्गुण सतो के ही समान ईश्वर, माया, विरह, गुरु महिमा आदि विषयो का ही आकलन मिलता है । निरजनी सत उदार हो गए हैं, सगुणोपासना इन्हें असह्य नही थी । राजस्थानान्तर्गत जयपुर उदयपुर आदि मे निरंजनी सप्रदाय का विशेष प्रचार एव प्रसार रहा । इसे नाथ और निर्गुण सत मत के बीच का सप्रदाय कहा जा सकता है । इस मत के भगवानदास, तुरसीदास, सेवादास आदि सतो का समय सं० १८०० के आस-पास ठहरता है ।

२. दादू पंथ के सतो में उल्लेखनीय है सुन्दरदास, गरीबदास, रज्जब, बषना, जगजीवन, बिसनदास, राघौदास । दादू और सुन्दरदास की बानियाँ काव्य की दृष्टि से भी सुन्दर हैं ।

३. बावरी पंथ का प्रवर्तन करने वाली बावरी साहिबा थी । बीरू साहब, यारी साहब, केशवदास, बुल्ला, गुलाल, भीखा, पलटू आदि इस पंथ के महत्वपूर्ण सत हैं । भुरकुडा, बडा गाँव, जलालपुर आदि मे इस पथ की गद्दियाँ और अखाड़े हैं जहाँ इस पंथ के सतो की बानियाँ सुरक्षित हैं । केशव, भीखा और पलटू की बानियो मे काव्य की दृष्टि से भी विशेष आकर्षण विद्यमान है ।

४. मलूक पंथ का विशेष प्रचार न हो सका । सुथरादास, रामसनेही, कृष्ण सनेही, गोपाल दास आदि इस पंथ के मुख्य सत हैं ।

५ सतनामी संप्रदाय की तीन शाखाएं हैं—नारनौल कोटवा और छत्तीसगढ़ी । नारनौल शाखा के सत औरगजेब का विरोध करने के लिये प्रसिद्ध है क्योकि उन्होने दारा का समर्थन किया था । कोटवा शाखा के सत जग जीवन दास तथा

---

१. डा० भगीरथ मिश्र : हिन्दी साहित्य का उद्‌भव और विकास (द्वितीय खण्ड सप्त

इनके शिष्य दूलनदास, गोसाईंदास और खेमदास प्रसिद्ध हैं । छत्तीसगढी शाखा के प्रधान सत है घासी दास, बालक दास, अगरदास, अजबदास, आदि ।

६. साहेब पथ के प्रवर्तक हाथरस वाले तुलसी साहेब हैं ।

७. राधा स्वामी सत्संग आगरे के लाला शिवदयाल ने प्रारंभ किया ।

सूफी काव्य धारा

भक्ति काल की अन्यान्य काव्य धाराओ की भाँति सूफियो की प्रेमाख्यान-रचना-परंपरा भी रीतिकाल तथा आधुनिक काल के प्रथम चरण तक चलती रही है। सतो, राम भक्तो और कृष्ण भक्तो को काव्य धाराओं मे जिस प्रकार की शिथिलता अथवा प्रवृत्तिगत ह्रास दिखाई देता है वैसा सूफी प्रेमाख्यान धारा मे नही। सूफियो की मौलिक विशेषताएँ लगभग ज्यो की त्यो परवर्ती काव्य परपरा मे देखी जा सकती हैं ।

सूफियो ने जिस इश्क या प्रेम के प्रचार को अपना लक्ष्य निर्धारित किया, ये प्रेमाख्यान उसी की सिद्धि के साधन थे । सूफी प्रेमाख्यान एक प्रकार के 'कथारूपक' हैं वर्णित कथा किसी इतर गूढ़ रहस्य का सकेत देती है और वह सकेत है 'इश्क मजाजी' द्वारा 'इश्क हकीकी' की प्राप्ति । सूफी हिन्दी प्रेमाख्यान अधिकतर हिन्दू राजा-रानियो के प्रेमवृत्तान्त को लेकर चले है क्योंकि उनका उद्देश्य भारतीय जन-समाज को प्रभावित कर अपने मत को उन तक पहुँचाना रहा है उदाहरणार्थ 'नल-दमयन्ती' का प्रेमाख्यान किन्तु इस्लामी परंपरा का 'यूसुफ जुलेखा जैसी प्रेम कहानियाँ भी उन्होने उठाई । प्रेम का उद्रेक चित्र दर्शन, गुण श्रवण, स्वप्न दर्शन, साक्षात दर्शन आदि मे से किसी एक माध्यम से दिखाया गया है । कुछ प्रेमकथाओ में आंशिक ऐतिहासिकता भी मिलेगी जैसे रत्नसेन और पद्मावती, देवलदेवी और खिज्र खाँ, छीता, नूरजहाँ आदि किन्तु ऐसी रचनाओ मे भी कल्पना का पुट बहुत अधिक है । अधिकाश सूफी प्रेमाख्यान उत्पाद्य या काल्पनिक ही है जैसे मधुमालत, चित्रावली, इन्द्रावती, अनुराग बाँसुरी, नूरजहाँ, हस जवाहर, भाषा-प्रेमरस, पुहुपावती, कुँवरावत, ज्ञानदीप आदि । समस्त प्रेमाख्यानो का ढाँचा पात्र और परिस्थिति-भेद से लगभग एक-सा ही रहता है । प्रिय और प्रेमी मे स्वप्न अथवा चित्रदर्शन या गुण-श्रवण वश प्रणय-भाव का उद्रेक होता है । अप्राप्ति और अमिलन प्रणय को प्रगाढ बनाता है । प्रिय प्राप्ति का मार्ग अत्यत दुर्गम और कंटकाकीर्ण है । प्रेमी की सहायतार्थ किसी पक्षी या परी या अन्य शक्ति का विधान किया गया है तथा प्रिय मिलन मे ही कथा की समाप्ति होती है । कथात मे कवि कथा रूपक का उद्घाटन करता है और कहानी के माध्यम से उस आध्यात्मिक संकेत को व्यक्त करता है जो कवि का मूल प्रतिपाद्य है । ऐसी प्रेम कहानियो द्वारा सूफी कवियो ने बड़े कौशल के साथ

जनता की वृत्तियों को परमसत्ता की ओर मोड़ने का प्रयास किया है । इस दिशा मे सूफी सतो की देन अविस्मरणीय है । जनमानस की वृत्तियो के परिशोधन मे ये प्रेमाख्यान असाधारण रूप से सहायक हुए है । नायिका या परमात्मसत्ता के रूप को अत्यंत सौन्दर्यशाली बनाने की चेष्टा की गई है । रचना शैली की दृष्टि से सूफियो के काव्य मसनवी पद्धति पर लिखे गए है फलत. ग्रथारभ मे ईश्वर वदना, सृष्टि-रचना-प्रक्रिया तथा ईश्वर-महिमा-गायन, मुहम्मद साहब तथा तत्कालीन शासक 'शाहेवक्त' की प्रशसा तथा आत्म परिचय आदि दिया जाता है । प्रेम, विरह आदि के विस्तृत विवरण के साथ-साथ हाट, समुद्र, जलक्रीडा आदि प्रसगो का वर्णन किया जाता है । नखशिख, बारहमासा, प्रकृति आदि का भी चित्रण होता है । सूफी काव्य दोहा-चौपाई छदो तथा अवधी भाषा मे ही लिखे गए है । अन्य छदो का प्रयोग अपवाद रूप मे ही मिलेगा । कवियो ने अपनी बहुज्ञता का परिचय भी किसी-न-किसी रूप मे दिया है तथा ऐसा करते हुए उन्होने संगीत शास्त्र, नायिका भेद, काम शास्त्र, मानसशास्त्र, राजधर्म, सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन आदि विषयो पर अपने सुविचारित मतव्य प्रस्तुत किये हैं । इन काव्यों के माध्यम से हमे भारतीय वातावरण, रीति नीतियो, पर्व त्योहार एव उत्सवो और सस्कारो का यथेष्ट परिचय प्राप्त होता है जिससे काव्य मार्मिक और सजीव हो उठे हैं ।

प्रेम ही वह मूल तत्व है जिसका सूफी काव्यो मे इतनी विशदता के साथ व्याख्यान हुआ है । यह प्रेम कोई ऐसा वैसा प्रेम नही है जिसमे मात्र वासना या कामुकता हो । इस प्रेम का राग आतरिक हुआ करता है ऐसा जो मानव हृदय को परिष्कृत करता है, उदार और विशाल बनाता है ।

सूफियो का मत है कि प्रियतम परमात्मा से वियुक्त हमारे जीवन का चरम उद्देश्य उसके साथ पुनर्मिलन ही है । उस ईश्वर से मिलन या प्रेम की वासना सासारिक प्रेम से बहुत भिन्न नही वरन् यह सासारिक प्रेम तो उसी ईश्वरीय प्रेम की सीढ़ी है । सूफियों का प्रियतम अखिल सौन्दर्य की निधि है । विश्व मे जहाँ भी रूप और सौन्दर्य की छटा है उसी प्रियतम की आभा है इसीलिये हमारा मन उधर आप से आप आकृष्ट होता है । उस परमात्मा को पाने के लिये कोरी बौद्धिकता काम न देगी, हृदय का संपूर्ण राग जब हम उसे अर्पित करेंगे, स्वार्थ, वासना, अहकारादि विकारो से हृदय हमारा जब मुक्त रहेगा तब वह दिव्य ज्योति हमे मिले बिना न रहेगी । जब हमारा प्रेम एकनिष्ठ और दृढ़ होगा, प्रिय के लिये सर्वस्व होम कर देने को जब हम प्रस्तुत होंगे, बाधाएँ हमारे साहस और संकल्प को क्षीण न कर सकेंगी परम रूप-निधान परमात्म रूप प्रिय हमें प्राप्त होकर ही रहेगा किन्तु इसके लिये प्रेम की अनन्यता आवश्यक है । प्रेमी को जायसी क रतनसेन की भाँति यह कहने मे समर्थ होना चाहिये—

बहुत रंग अछरी चोर राता । मोंहि दूसर सौं भाव न बाता ॥

सूफियो के अनुसार साधक बार-बार अग्नि मे तपाए जाने वाले स्वर्ण की भाँति होता है। संकट पर संकट पडते जाते है परन्तु साधक उन्हे अविचल भाव से झेलता चलता है। प्रत्येक अग्नि परीक्षा उसमे निखार ले आती है। इसीलिये सूफी प्रेमाख्यानो मे विरह का विस्तार देखा जा सकता है। सूफी प्रेम का मार्ग सरल नही। उसमें विपथ करने वाले कितने अंतराय आ उपस्थित होते है, उन सबसे सच्चा प्रेमी बचता हुआ अपने लक्ष्य की ओर चला चलता है। अत मे 'वस्ल' या सयोग की अतिम स्थिति उसे प्राप्त होती है।

हिन्दी मे जो सूफी साहित्य उपलब्ध है वह प्रधानत: प्रबन्ध अथवा प्रेमाख्यान काव्य के रूप मे उपलब्ध है किन्तु इसके अतिरिक्त कुछ सूफी रचनाएं मुक्तक रूप में भी लिखी गई है।

सूफियो का धार्मिक साहित्य मूलत: उनकी मजहबी ज़बान अरबी मे लिखा गया है। यह साहित्य मुख्यत: तीन रूपो मे प्राप्त है :—

१ **निबंध साहित्य** जिसमे सूफीमत के सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ। 'तसव्वुफ' के स्वरूप और सिद्धान्त पक्ष पर तर्क-वितर्क एव विवेचनात्मक रूप मे गद्य एव पद्य दोनो शैलियो मे लिखा गया यह साहित्य विशेष महत्वपूर्ण है।

(२) **जीवनी साहित्य** जिसमे सूफी संतों एवं साधकों की जीवन कथाएँ तथा उनके 'करामातो' का वर्णन मिलता है। यह साहित्य अरबी और फारसी दोनो भाषाओ मे प्रचुर परिमाण मे उपलब्ध है।

(३) **काव्य साहित्य** सूफियो का अत्यत व्यापक एवं समृद्ध है। इसमें प्रेम अथवा हृदय के रागात्मक पक्ष का अशेष भाव से प्रकाशन हुआ है, तर्क अथवा बुद्धि पक्ष की एकात अवहेलना की गई है। यह काव्य साहित्य दो रूपो मे उपलब्ध है। एक तो मसनवी शैली मे लिखित प्रबन्धो के रूप मे और दूसरा गजलो, रुबाइयो, पदों, दोहो आदि के मुक्तक रूप मे।

भारतवर्ष मे सूफी साहित्य दक्खिनी हिन्दी, उर्दू तथा पंजाबी भाषाओ मे भी मिलता है। हिन्दी मे रीति काल के पूर्व मुल्ला दाऊद का चदायन (सं० १४३४) शेख कुतबन की मृगावती (स० १५६०) जायसी का पद्मावत (सं० १५७७) मझन कृत मधुमालती (स० १६०२) उसमान की चित्रावली (सं० १६७०) जान कवि की कनकावती (स० १६७५) शेख नवी कृत ज्ञानदीप (सं० १६७६) तथा जान कवि के चार अन्य ग्रथ कामलता (सं० १७७८) मधुकर मालती (सं० १६६१) रतनावती (स० १६६१) छीता (स० १६६३) आदि तथा पर्याप्त मात्रा में लिखित मुक्तक साहित्य उपलब्ध होता है। जायसी ने अपने से पहले की जिन प्रचलित प्रेम कथाओ का उल्लेख 'पद्मावत' मे किया है वे है अनिरुद्ध और उषा, विक्रम तथा सपनावति (या चंपावति), सिरी भोज तथा मुगधावति (या खडरावति) राजकुँवर एवं मिरगावति, मनोहर एवं मधुमालती तथा

सुरसरि एव प्रेमावति। इनमे से 'मृगावती' की ही एक खडित प्रति अब तक प्राप्त हो सकी है।

रीतिकाल मे उपलब्ध सूफी काव्य धारा का विवरण इस प्रकार है :—

१, सूरदास कृत 'नलदमन' मसनवी शैली मे लिखा गया है। इसमें शाहेवक्त के रूप में शाहजहाँ की प्रशंसा है। रचना काल अज्ञात है।[1]

२. हुसैनअली कृत 'पुहुपावती' (सं० १७२५) कवि ने रचना मे अपना नाम सदानन्द रक्खा है। वह 'हरिगाँव' निवासी था और कन्नौज के केशवलाल उसके काव्य गुरु थे। प्रकृति से कवि अत्यत विनम्र जान पडता है।

३. दुखहरन दास कृत पुहुपावती (रचनाकाल स० १७२६) ये गाजीपुर निवासी कायस्थ थे। इनका असली नाम मनमनोहर था। ये मलूकदास के शिष्य थे और इन्होंने जायसी के पद्मावत के अनुकरण पर मसनवी शैली मे पुहुपावती लिखी। इन्होने प्रारभ में निर्गुण राम का स्मरण किया है तथा शाहेवक्त के रूप मे औरगजेब का उल्लेख किया है।[2]

४. कासिमशाह कृत 'हंस जवाहर' (स० १७९३) कवि नीच जाति का था, इनामुल्ला इनके पिता थे। ये नगर दरियाबाद जिला लखनऊ के निवासी थे। नीच जाति का होने के कारण कवि की यह आकाक्षा थी कि प्रेम पंथ का सहारा लेकर वह उच्च वर्ग के बीच सम्मान प्राप्त करे। शाहेवक्त के रूप मे उसने दिल्ली के सुलतान मुहम्महशाह की प्रशंसा की है। सलोन नगर के पीर मुहम्मद अशरफ इनके दीक्षा-गुरु थे।

५, नूर मुहम्मद कृत 'इन्द्रावती' (स० १८०१) और अनुराग बाँसुरी (स० १८२१) नूरमुहम्मद का स्थान 'सबरहद' नामक स्थान या गाँव था। इस स्थान को जौनपुर जिले के शाहगज तहसील मे बताया जाता है। पं० चन्द्रबली पाण्डेय के अनुसार कवि अपने अतिम समय मे फूलपुर जिला आजमगढ़ मे आकर रहने लगा था जहाँ उसकी ससुराल थी। नूरमुहम्मद ने 'कामयाब' उपनाम का प्रयोग अपनी रचना में किया है। 'इन्द्रावती मे शाहेवक्त के नाम पर 'मुहम्मदशाह' की प्रशंसा की गई है (जिसका शासनकाल स० १७७३-१८०५ था)। वे फारसी मे 'कामयाब' उपनाम से कविता करते थे किन्तु 'भाषा' में 'इन्द्रावती' की सफल रचना कर लेने के बाद वे इसी दिशा मे अग्रसर हुए। अनुराग बाँसुरी के अतिरिक्त इनकी 'नलदमन' नाम की एक रचना और कही जाती है। ये शिया सप्रदाय के कट्टर मुसलमान थे।

---

[1]. डा० भगीरथ मिश्र : हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास—द्वितीयखंड (१९५६ ई०) पृ० २४।

[2]. वही पृ० २५.

नोट—कोष्ठकों में दिये हुए संवत् रचनाकाल के सूचक हैं।

६. शेख निसार कृत ' यूसुफ जुलेखा' (स १८४७)। अकबर बादशाह के समकालीन किसी शेख हबीउल्ला ने अवध मे शेखपुर नाम का नगर बसाया था। उनके पुत्र हुए शेख मुहम्मद, शेख मुहम्मद के पुत्र हुए गुलाम मुहम्मद । ये गुलाम-मुहम्मद ही शेख निसार के पिता थे। इस शेखपुर को श्री सत्यजीवन वर्मा रायबरेली जिले के अतर्गत मानते है किन्तु परवर्ती शोध से इनकी स्थिति फैजाबाद जिले मे निश्चित होती है। शेख निसार का असली नाम गुलाम अशरफ था, शेख निसार तो उपनाम या कवि नाम मात्र था। कवि जिस समय 'यूसुफ जुलेखा' की रचना करने लगा शाह आलम उस सयय दिल्ली के सुल्तान थे। उक्त ग्रथ के अतिरिक्त इन्होंने ७ अन्य ग्रंथ लिखे जो फारसी तुर्की अरबी आदि भाषाओ मे हैं। इन्हे सस्कृत का भी ज्ञान था। इनके अन्य ग्रथ है—मेहर निगार (आख्यानक काव्य), रसमनोज (शृगार-रसात्मक रीति ग्रंथ), दीबान, अहसन जौहर (फारसी मसनवी), स्रोदी (संगीत ग्रन्थ) नस्र (फारसी गद्य ग्रन्थ), नसाब (सग्रह ग्रन्थ)। शेख निसार अत्यत विद्वान और आशुकवि थे।

७. शाह नजफ अली सलोनी कृत 'प्रेम चिनगारी' (स० १६०० के आस पास) शाह नजफअली के आश्रयदाता रीवा के महाराजा विश्वनाथ सिह थे। ये दोनों आँखों से अंधे थे किन्तु इन्हे दिव्य दृष्टि प्राप्त थी जिसकी कई कहानियाँ हैं। ये 'सलोन' जिला रायबरेली के रहने वाले थे। शाह करीम अता इनके पीर थे। शाह नजफअली की प्रेम चिनगारी का पता हिन्दी जगत को रीवा के दरबार कालेज (बाद में न० रणमत सिह-महाविद्यालय) के इतिहास विभाग के अध्यक्ष प्रो० अख्तर हुसैन निजामो ने दिया। इनकी लिखी एक 'अखरावटी' भी है जिसका रचना काल स० १८६६ है। इनकी मजार रीवा मे ही इमामशाह की दरगाह के बाहर बनी हुई है। ये हाफिज़ थे तथा सपूर्ण कुरान इन्हे कंठस्थ था। सादगी और दानशीलता में ये बहुत आगे थे।

संवत् १६०० विक्रमी के बाद अर्थात् रीतिकाल की सीमा के बाहर आधुनिक काल में आकर भी कई प्रेमाख्यानक काव्य लिखे गए। उदाहरण के लिए ख्वाजा अहमद कृत 'नूरजहाँ' (सं० १६६२), शेख रहीम कृत 'भाषा प्रेम रस' (सं० २६७२), कवि नसीर कृत 'प्रेम दर्पण' (सं० १६७४), किसी अज्ञात कवि की 'कामरूप की कथा' या 'कथा कामरानी' तथा अलीमुराद कृत कुँवरावत। इन प्रेमाख्यान काव्यों का बहुत सुन्दर और विस्तृत अध्ययन हिन्दी मे किया जा चुका है (देखिये डा० सरला शुक्ल का प्रबंध 'जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य)'।

कृष्णभक्ति धारा

भक्ति काल की कृष्णभक्ति-काव्य-धारा रीति युग में भी चलती रही। रीति-युग मे लिखित काव्य का एक बहुत बड़ा अंश कृष्ण सम्बन्धी ही है। रीतिबद्ध

कवियों का काव्य तो कृष्ण को नायक ही मानकर चला है, रीतिमुक्तो के भी कृष्ण सर्वस्व ही रहे हैं किन्तु उभय काव्य धाराओ मे कृष्णभक्ति का स्वरूप उतने प्रबल रूप मे उभर नही सका है। रीतिबद्ध काव्य मे कृष्ण की भगवद्वत्ता की ओर जहाँ-तहाँ जो इगन हुआ है वह अपवाद रूप मे ही समझना चाहिए, अन्यथा मूलतः वे इन कवियो की दृष्टि में रसिक शिरोमणि, राधारमण, गोपीरमण, भोग विलास वृत्ति के प्रधान दैवत, कामुक नायक, छैला और लगर आदि ही रहे है। रीतिमुक्त काव्य मे घनआनन्द ने कृष्ण के प्रति 'रीझ' या आसक्ति ही, अधिक प्रदर्शित की है, भक्ति कम। हाँ अपने जीवन के अन्तिम काल मे वे कृष्ण भक्ति सम्बन्धी निम्बार्क सम्प्रदाय के वैष्णव अवश्य हो गए थे। रसखान मे जरूर भक्ति का भाव प्रगाढ रूप मे प्राप्य है। प्रस्तुत प्रसग मे हमारा अभिप्राय उस काव्य से है जो कृष्ण भक्ति से सम्बन्ध रखता है। भक्ति काल के 'कृष्ण' और 'राधा' रीति काल मे मात्र भक्ति के आलम्बन न रह गये। परिवर्तित राजनैतिक, धार्मिक एव सामाजिक परिस्थितियो मे भक्ति के आवेग के शिथिल पडते ही वे शृंगार के प्रधान आलम्बन हुए तथा उनकी आड मे कवि अपनी शृगारी वृत्ति निर्दशित करते रहे। 'रीति' अथवा 'शृगार काल' जिनके नाम से चरितार्थ है उन कवियो ने तो प्रधानतः काव्य की रचना की थी, अपने अन्तःकरण की तथा राजा और सामन्तवर्ग तथा अधीनस्थ कर्मचारियो की शृगारी वासना की तृप्ति के लिए काव्य को माध्यम बनाया था। राधा और कृष्ण का नाम स्मरण तो उपलक्ष्य मात्र था। भिखारीदास में इस तथ्य की स्पष्ट स्वीकृति है—

> आगे के सुकवि जो पै रीझि हैं तो कविताई नतु
> राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।
>
> (काव्य निर्णय)

फिर भी इस काल मे कृष्ण भक्ति की धारा चलती ही रही, भले ही उसका रूप साप्रदायिक होकर रूढिगत ही रह गया हो। यह भी सच है कि इस काल के कृष्ण भक्तो मे भक्तिकालीन कृष्ण भक्तो-सा आवेश और उन्मेष नही मिलता फिर भी कृष्ण भक्ति की शिखा बराबर जलती रही, वह उतनी मन्द भी नही होने पाई तथा इस काल मे नागरीदास आदि अनेक उच्च कोटि के कृष्णभक्त और काव्यरचयिता हो गए हैं।

कृष्णभक्ति की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। महाभारत, श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता, हरिवश, ब्रह्मवैवर्त, विष्णु, वायु, वामन, पद्म, स्कन्द, मार्कण्डेय आदि पुराणों मे श्रीकृष्ण का आख्यान मिलता है और वे ब्रह्म के रूप में चित्रित किये गये हैं। जयदेव के गीत गोविन्द और मैथिल कोकिल विद्यापति के प्रताप से यह कृष्ण काव्य धारा विशेष लोकप्रिय हुई तथा दक्षिण के वल्लभाचार्य आदि आचार्यों के

प्रभाव से उत्तर भारत के हिन्दी प्रदेश मे जब कृष्ण भक्ति का प्रचार और प्रसार हुआ तो सूरदास, नन्ददास, परमानन्द दास, हितहरिवश, मीरा बाई, स्वामी हरिदास, हरिराम व्यास ऐसे भक्तो और कवियो का प्रादुर्भाव हुआ। रसखान, पृथ्वीराज, नरोत्तमदास आदि इसी परम्परा के वाहक हैं। रीतिकाल के कृष्णभक्त कवियो की प्रेरणा-शक्ति उक्त परम्परा ही है।

यह अवश्य है कि इस काल मे आकर कृष्ण भक्ति के विविध सम्प्रदाय बन गये; उदाहरण के लिए विष्णु स्वामी, टट्टी, राधावल्लभीय, वल्लभ आदि सम्प्रदायो को लिया जा सकता है। कृष्ण भक्ति के सम्प्रदायगत हो जाने से रीति काल के कृष्ण भक्त कवियो मे दृष्टिकोण की सङ्कीर्णता और संकुचितता तथा रूढिबद्धता आ गई। नियमानुसरण तथा सम्प्रदाय विशेष के विधि-विधानो से इन कवियो मे एक प्रकार की जकडन आ गई। फलतः काव्य दृष्टि से भी इन कवियो में वह मौलिकता, प्रतिभा-स्वच्छन्द आवेशशीलता या अनुभूति और अभिव्यक्ति की मार्मिकता दुर्लभ हो गई जो भक्तियुगीन कृष्ण भक्तो का सर्वस्व थी। इस सब के स्थान पर इन कवियो में साम्प्रदायिक भक्ति, काव्यशास्त्र ज्ञान, शृगारिकता आदि तत्व विशेष रूप से सन्निविष्ट मिलते है।

इस काल में कृष्ण भक्ति के अनेक ग्रन्थ सस्कृत ग्रन्थो के अनुवाद रूप में लिखे गए हैं अथवा उनमे पूर्ववर्ती कृष्ण भक्तो की छाया है। भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, पद्म पुराण, महाभारत और हरिवंश पुराण इस काल के कृष्ण भक्तो के प्रमुख उपजीव्य थे। उपर्युक्त कथन का यह आशय नही है कि रीतिकाल के कृष्ण भक्त कवियो का काव्य स्वतन्त्र उद्भावना या अनुभूति या अभिव्यञ्जन क्षमता से एकदम शून्य है तथा इन कवियो मे भक्ति या कवित्व के नाम पर जो कुछ है उच्छिष्ट ही उच्छिष्ट है, उनमे भक्ति और काव्यत्व के स्थायी उपकरण विद्यमान हैं तथा काव्य की दृष्टि से उत्कृष्टता भी उपलब्ध है। रीति काल की यह कृष्ण भक्ति धारा अभी भी अनन्वेषित और अनधीत पड़ी हुई है।

रीतियुगीन कृष्ण भक्ति धारा की सर्वोपरि विशेषता वह शृङ्गारिकता और रसिकता है जो समूचे रीतियुगीन काव्य की प्रधान प्रवृत्ति है। इसका मूल कारण युग का प्रभाव अथवा उसकी माँग के अतिरिक्त और कुछ नही। शृङ्गार भावना के विशेष समावेश से शुद्ध भक्ति का निर्मल रूप इनकी कविता मे झलमलाता नही मिलता। इसी कारण साहित्य के इतिहासकारो ने इन कवियो को दो वर्गों (भक्तकवि और प्रेमी कवि) मे विभक्त करके देखा है।[1] डा० भगीरथ मिश्र ने इस तथ्य को स्वीकार किया है—'इस युग के भक्ति काव्य मे भी शृगारी भावना प्रधानतया मिलती

---

1. डा० रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल' : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५०३

है । श्रृंगारी काव्य मे भक्ति भावना का स्वरूप चलताऊ है, वह श्रृङ्गार का ही उद्दीपक हैं भक्ति का नही ।''''''इस युग के कृष्ण काव्य मे श्रृङ्गार भावना का अधिक समावेश हो गया और शुद्ध भक्ति भावना अपने प्र खर रूप मे कम हो गई । कृष्ण भक्ति के विभिन्न सम्प्रदाय बन गये । इन सम्प्रदायो के अन्तर्गत भी कृष्ण की लीला विलास और श्रृगार सज्जा के क्रिया-कलाप अधिक प्रचलित हुए । सखी और दाम्पत्य भाव के उपासक कुछ सम्प्रदायो मे तो पुरुष अपने को राधा या सखियाँ समझते हुए नारी के समान ही आचरण करने लगे यहाँ तक की इस प्रकार के उपासकों ने अपने नाम भी इसी प्रकार के रक्खे जैसे अलबेली अलि; ललित किशोरी । ये स्त्रियो के नही पुरुषों के नाम हैं । रामोपासक सम्प्रदाय पर भी इसका प्रभाव पडा और मधुर भाव की उपासना प्रारम्भ हुई । स्वामी अग्रदास ने भी अपना नाम अग्रअली रक्खा था । इस प्रकार इस युग की विलासिता और श्रृगार ने समस्त क्षेत्रो को प्रभावित किया ।''[1]

कृष्ण भक्तो मे ऐसे भी अनेक कवि मिल जायँगे जिन्होंने राम अथवा अन्य देवी-देवताओ का श्रद्धापूर्वक स्तवन किया है । इन कवियो का काव्य प्रबन्ध और मुक्तक दोनो रूपो मे प्राप्त है और किसी सीमा तक वर्णनात्मक विशेषताओ से युक्त भी है–कही उसमे कृष्ण की लीलाओ का वर्णन है, कही प्रेम का तथा कही वृन्दावन और ब्रज प्रदेश की प्राकृतिक छटा का । कृष्ण भक्ति धारा मे कथात्मक प्रसुन्ध अथवा प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से गोकुलनाथ, गोपीनाथ, और मणि देव का विविधछन्दात्मक शैली में लिखा गया ब्रजवासी दास का दोहा-चौपाई शैली में लिखित 'ब्रजविलास' विशेष उल्लेख्य हैं । एक अन्य प्रकार की प्रबन्ध रचना भी इस काल मे देखने को मिलती है जिसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वर्णनात्मक प्रबन्ध'[2] तथा डा० रसाल ने 'वर्णनात्मक लीला काव्य'[3] कहा है । उदाहरण के लिए दान लीला, मान लीला, जल बिहार, वनविहार, मृगया, झूला, होली वर्णन, जन्मोत्सव वर्णन, मंगल वर्णन रामकलेवा आदि वर्णनात्मक प्रसंग । सामान्यतया ऐसे प्रसंग बड़े-बड़े प्रबन्ध काव्यो में आते हैं । जिस प्रकार से रस-निरूपक ग्रथो से नखशिख, षट्ऋतु, नायिका भेद आदि छोटे-छोटे रसागो को लेकर रीतिकाल मे छोटी-छोटी किन्तु स्वतन्त्र पुस्तके लिखी गईं तथा उक्त विषयो को स्वतन्त्र विषय का-सा महत्व प्रदान किया गया इसी प्रकार प्रबन्धात्मक रचना के क्षेत्र मे कवियो ने कृष्ण लीला के नाना रसीले प्रसंग उठाए और उनका स्वतन्त्र रूप में वर्णन कर चले । इस प्रकार के वर्णनात्यक प्रबन्धों मे

---

1. डा० भगीरथ मिश्र : हिन्दी साहित्य का उद्‌भव और विकास : द्वितीय खंड, पृष्ट ३३-३४ ।

2. रामचन्द्र शुक्ल : इतिहास, पृ० २६८

3. डा० रसाल : इतिहास पृ० ५०१ ।

कृष्ण लीला के वर्णन तो सरस और रोचक बन पडे हैं उदाहरण के लिए चाचा हितवृन्दावनदास, मञ्चित कवि कृष्णदास आदि के वर्णनात्मक-लीला-काव्यों को प्रस्तुत किया जा सकता है किन्तु जहाँ कहीं मात्र वस्तु-वर्णन की योजना की गई है वहाँ सारा काम बिगड गया है, काव्य पाठक की परिमार्जित साहित्यिक रुचि को गहरा धक्का लगे बिना नही रहता—'जहाँ कवि जी अपने वस्तु परिचय का भण्डार खोलते हैं—जैसे बरात का वर्णन है तो घोडों की सैकडो जातियो के नाम, वस्त्रो का प्रसंग आया तो पचीसो प्रकार के कपडे के नाम और भोजन की बात आई तो सैकडो मिठाइयो, पकवानो और मेवो के नाम—वहाँ तो अच्छे-अच्छे धीरो का धैर्य छूट जाता है।'[1] प्रबन्धात्मक काव्य के अतिरिक्त मुक्तक रूप मे लिखित कृष्ण काव्य तो प्रभूत परिमाण मे है ही। रीतिकालीन कृष्ण भक्ति साहित्य की नीचे दी हुई सूची से उसके परिमाण का बोध हो सकेगा—

१. ध्रुवदास—(र० का०, संवत् १६८०—१७३५) बयालीस लीला, वृन्दावन सत, भजनसत, भजनसिंगार सत, हितसिंगार, मनसिंगार, नेहमंजरी, रहस्य मजरी, सुखमंजरी, रतिमजरी, रस रत्नावली, रस हीरावली, प्रेमावली, रस मुक्तावली, प्रियाजीनामावली, भक्तनामावली, रसविहार, रंग विहार, वनविहार, नृत्य विलास, रगहुलास, ख्याल हुलास, आनददसा, विनोद, रग विनोद, आनदलता, अनुराग लता, रहस्य लता, प्रेमदसा, रसानद, ब्रजलीला, दानलीला, मान रस लीला, सभा-मडल, युगल ध्यान, भजन कुँडलियाँ, भजनाष्टक, आनदाष्टक, प्रीतिचौवनी, सिद्धान्तविचार (गद्यवार्ता), जीवदशा, वैद्यक ज्ञान, मनशिक्षा, बृहदवामन-पुराण भाषा (४३ ग्रथ)।

२. छत्रसाल—(ज० संवत् १७०६) श्रीकृष्ण कीर्तन।

३. नागरीदास[2]—(जी० का० संवत् १७५६—१८२१, र० का० सवत् १७८०—१८१९) सिंगार सार, गोपीप्रेमप्रकाश, पदप्रसंग माला, ब्रजवैकुंठ तुला, ब्रजसार, भोर लीला, प्रातरसमंजरी, विहारचद्रिका, भोजनानदाष्टक, जुगल-रस-माधुरी, फूल विलास, गोधन आगमन दोहन, आनंदलग्नाष्टक, फाग विलास, ग्रीष्म-विहार, पावस पचीसी, गोपी बैन विलास, रासरसलता, नैन रूपरस, शीतसार, इश्क चमन, मजलिस मडन, अरिल्लाष्टक, सदा की माँझ, वर्षा ऋतु की माँझ, होरी की मांझ, कृष्णजन्मोत्सव कवित्त, प्रिया जन्मोत्सव कवित्त, साझी के कवित्त, रास के कवित्त, चाँदनी के कवित्त, दिवारी के कवित्त, गोवर्धनधारन के कवित्त, होरी के

---

[1]. रामचन्द्र शुक्लः इतिहास, पृ० २९८

[2]. 'भक्तवर नागरीदासः उनकी कविता के विकास से संबंधित प्रभावो और प्रतिक्रियाओ का अध्ययन' शीर्षक प्रबंध पर फैयाजअली खाँ को सन् १९५२ मे राजस्थान विश्वविद्यालय ने पी० एच० डी० की उपाधि प्रदान की है।

कवित्त, फाग गोकुलाष्टक, हिंडोरा के कवित्त, वर्षा के कवित्त, भक्ति मगदीपिका, तीर्थानद, फाग बिहार, बाल विनोद, बन विनोद, सुजानानंद, भक्तिसार, देहदशा, वैराग्य बल्ली, रसिक रत्नावली, कलि वैराग्यवल्लरी, अरिल्ल-पचीसी, छूटकविधि, पारायण विधि प्रकाश, शिखनख, नखशिख, छूटक-भक्ति, चचरियाँ, रेखता, मनोरथ मंजरी, रामचरित्र माला, पद-प्रबोधमाला, जुगल भक्त विनोद, रसानुक्रम के दोहे, शरद की माझ, साझी फूल-बीनन सवाद, वसंतवर्णन, रसानुक्रम के कवित्त, फागखेलन, समेतानुक्रम के कवित्त निकुज विलास, गोविंद परचई, वन जन प्रशसा, छूटक दोहा, उत्सवमाला, पदमुक्तावली, वैन विलास, गुप्त-रस प्रकाश (७५ ग्रथ)।

४. चाचा हितवृन्दावनदास[1] (ज० सवत् १७६५) राधावल्लभीय सप्रदायानुयायी। इनको लिखे ४ लाख पदो मे से एक लाख पद अब भी मिलते हैं। कृतियाँ-हिंडोरा, छद्मलीला, चौबीस लीला, ब्रजप्रेमानन्दसागर, श्रीकृष्ण गिरि पूजन मंगल, श्रीकृष्ण मगल, रासरस अष्टयाम, समय प्रबध, भक्त प्रार्थनावली, श्री हितरूप चरितावली।

५. सुन्दरि कुँवरिबाई (नागरीदास की बहिन ज० संवत् १७६१) राधा वल्लभीय सप्रदाय मे दीक्षित) कृतियाँ—नेह निधि, वृन्दावन गोपी माहात्म्य, सकेत-युगल, रसपुज, प्रेम संपुट, सार सग्रह, गभ्भर, गोपी माहात्म्य, भावना प्रकाश, रास रहस्य, पद तथा फुटकर कवित्त।

६. बख्शी हंसराज 'प्रेमसखी'—(सखी संप्रदायानुयायी ज० संवत् १७६६) कृतियाँ—सनेह सागर, विरह-विलास, रायचद्रिका, बारहमासा,, श्रीकृष्ण जू की पाती, श्री जुगलस्वरूप विरह पत्रिका, फागतरगिनी, चुरिहारिन लीला।

७. अलबेली अलि—(विष्णुस्वामी संप्रदाय के महात्मा, र० का० अनुमानतः विक्रम की १८वी शताब्दी का अतिम भाग) कृति—'समय प्रबध पदावली।

८. भगवतरसिक—(टट्टी संप्रदाय के महात्मा, ज० संवत् अनुमानतः १७६५, र० का० स० १८३०—१८५०) इनके लिखे बहुत से पद, कवित्त, सवैया, छप्पय, कुडलिया और दोहे मिलते हैं।

९. श्री हठी जी—(हित हरिवश की शिष्य परंपरा के राधावल्लभीय मतानुयायी भक्त। ज० संवत् १७६७) राधासुधा शतक (र० का० सवत् १८३७)

१०. ब्रजवासी दास—(वल्लभ संप्रदायानुयायी) कृतियाँ—प्रबोधचन्द्रोदय नाटक का भाषानुवाद, ब्रजविलास (मानस के अनुकरण पर दोहा चौपाई शैली में, र० का० संवत् १८२७)।

११. गुमानी मिश्र—कृष्णचन्द्रिका (र० का० संवत् १८३८)

---

[1]. डा० गोपाल व्यास को इस विषय पर पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई है।

१२. मंचित—(सं० १८३६ मे वर्तमान थे) कृतियाँ—सुरभीदान लीला, कृष्णायन (तुलसी की पद्धति पर)

१३. गोकुलनाथ, गोपीनाथ और मणिदेव[1]—ने मिलकर लगभग ५० वर्षों मे महाभारत और हरिवंश का विविध छदो मे सुन्दर अनुवाद किया (र० का० संवत् १८३०—१८८४) गोकुलनाथ कृत गोविन्द सुखद विहार, राधाकृष्ण विलास, राधानुखशिख आदि ग्रंथ भी उल्लेखनीय हैं।

१४. सहचरिशरण 'सखी शरण' (टट्टी सप्रदाय के वैष्णव, समय सवत् १८३७ के आस-पास) कृतियाँ—ललित प्रकाश, सरस मजावली और गुरू प्रणालिका।

१५. रत्नकुँवरि बीबी—(समय स० १८५७ के आस-पास) दोहा-चौपाई छदो मे प्रबध रीति से प्रेमरत्न नामक ग्रथ लिखा जिसमे कृष्णचरित का वर्णन है।

१६. कृष्णदास—(मिर्जापुर के कृष्ण भक्त थे) स० १८५३ मे 'माधुर्यलहरी' लिखी जो ४२० पृष्ठो का वृहदाकार ग्रथ है। इसमे कृष्णचरित ही विविध छंदो मे वर्णित है। भागवत भाषा पाठ्य और भागवत माहात्म्य नामक दो अन्य ग्रंथ इनके लिखे कहे जाते हैं।

१७. गुणमंजरीदास—(ज० सवत् १८८४ मृ० १९४७) कृतियाँ—श्री युगल छद्म, रहस्यपद तथा फुटकल पद।

कृष्णभक्ति की यह परपरा रीतिकाल के अनन्तर भी चलती रही। आधुनिक काल के अग्रदूत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र स्वयं ही एक उच्चकोटि के कृष्णभक्त थे। शाह कुन्दन लाल 'ललित किशोरी' और शाह फुन्दनलाल 'ललितामाधुरी' तथा नारायण स्वामी आदि कृष्ण भक्त[2] इसी परंपरा के आगे आने वाले कवि हैं। ऊपर जिस कृष्ण भक्ति धारा का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है उसके अनुसधान और विशेष अध्ययन की आवश्यकता अभी बनी हुई है।

रामभक्ति धारा

हिन्दी मे रामभक्ति के अनन्य प्रतिष्ठाता तुलसीदास ही है। रामभक्ति साहित्य की परपरा वैसे तो अत्यत प्राचीन है क्योकि वैदिक युग मे न सही वैदिक प्रभाव से परिपूर्ण कुछ बाद के ही युग मे सही वाल्मीकीय रामायण निर्मित हुई थी। उसके

---

१. पं० राममन्द्र शुक्ल का कथन है कि—'कथा प्रबध का इतना बड़ा काव्य हिन्दी साहित्य मे दूसरा नही बना। यह लगभग दो हजार पृष्ठो मे समाप्त हुआ है। इतना बडा ग्रंथ होने पर भी न तो इसमे कही शिथिलता आई है और न रोचकता और काव्य गुण में कमी हुई है। (इतिहास पृ० ३३८)

२. हिन्दी साहित्य : द्वि० खं० सं० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ३६३

पश्चात महाभारत, बौद्ध जातको, जैन साहित्य और पुराणों में राम कथा का सविस्तार विवरण उपलब्ध है। संस्कृत साहित्य मे सामान्यतया उपर्युक्त आधारो पर और विशेषतः वाल्मीकीय रामायण के आधार पर प्रचुर परिमाण में नाटक और काव्य ग्रंथ उपलब्ध होते है। लंका, जावा, बाली, हिन्दचीन, श्याम, ब्रह्मदेश, तिब्बत, काश्मीर, चीन आदि भूभागो मे भी राम कथा नाना रूपो मे विकसित हुई है[1]। हिन्दी मे रामानद, विष्णुदास, ईश्वरदास रामभक्ति परपरा के तथा मुनि लावण्य, जिनराजसूरि, ब्रह्मजिनदास, ब्रह्मरायमल्ल तथा मुन्दरदास जैन—रामकथा की परंपरा के ऐसे रचनाकार हैं जो तुलसीदास के पूर्ववर्ती थे। सूरदास तथा अग्रदास ने भी तुलसी दास से पहले रामभक्तिधारा मे अपना अनुपेक्षणीय योग दिया था। तुलसीदास के बाद उत्तरवर्ती शृंगारकाल मे केशवदास, नाभादास, सेनापति, पृथ्वीराज, प्राणचंद चौहान, माधवदासचरण, हृदयराम और मलूकदास रामभक्तिधारा मे अपना योग देते रहे।

रीतिकाल में लिखे गए रामकाव्य की अनेक प्रवृत्तियाँ अत्यत स्पष्ट हैं। पहली बात तो यह है कि तुलसीदास ऐसे महान् प्रतिभाशाली व्यक्ति के रामकाव्य ने औरो की हिम्मत तोड दी, वे या तो उस दिशा मे गए नही या गए तो गोस्वामी जी के प्रभाव से अछूते न रहे। यह बात एक बड़ी सीमा तक सच है कि तुलसी कृत 'मानस' ने रामकव्य का विकास रोक दिया। तुलसी की रचना-शैली और उनका प्रबन्ध विधान तो इतना उत्कृष्ट और आकर्षक बन पडा है कि स्वय कृष्ण काव्य के अनेक रचयिताओ ने उनका अनुसरण किया।[2] संतोष की बात यह है कि तुलसी के होते हुए भी रामकाव्य की परंपरा चलती रही।

रीतिकालीन रामकाव्य मे सीता और राम के प्रति कवियों और भक्तो का वह पवित्र भाव दुर्लभ हो गया जो भक्तिकालीन रामकाव्य में गोस्वामी जी तथा अन्य कवियो में पाया जाता है। सीता और राम को छिछोरे नायक-नायिका के रूप में चित्रित किया गया और इसकी परिपाटी-सी चल पडी। राम के प्रति दास्यभाव की जिस भक्ति का उत्थान गो० तुलसीदास द्वारा हुआ वह माधुर्य अथवा सखी भाव की उपासना में परिणत हो गई। कही पर सीता को रस की राशि तथा राम की आह्लादिनी शक्ति के रूप मे चित्रित किया गया है तो कही 'अष्टयाम' का वर्णन करते हुए राम और सीता की विलास-चेष्टा, रतिकेलि, विहार आदि का वर्णन किया गया है। सीता के नखशिख का वर्णन करते हुए कटि, नितब और उरोजो तक का वर्णन हुआ है। रामकाव्य मे यह शृंगार-प्रवणता पूर्ववर्ती तथा समसामयिक कृष्ण काव्य

---

[1]. डा० कामिल बुल्के: रामकथा का विकास

[2]. जैसे मंचित कृत 'कृष्णायन', ब्रजवासीदास कृत 'ब्रजविलास', रत्नकुँवरि बीबी कृत 'प्रेमरत्न' आदि

के प्रभाव के कारण ही निष्पन्न हुई है। मात्र प्रेम को लेकर चलने वाले भक्ति पथ में विलासिता और इंद्रियासक्ति का प्रवेश स्वाभाविक है। कृष्णभक्ति में यही हुआ तथा उसी के अनुसरण से रामभक्ति साहित्य भी दूषित हुए बिना न रहा। रामभक्ति-गत मर्यादावाद और दास्यभक्ति का स्थान कृष्ण भक्ति वाली शृङ्गार और माधुर्य भावना ने लिया। रामभक्ति मे प्रवेश करने वाली "इस शृङ्गारी भावना के प्रवर्तक थे रामचरितमामस के प्रसिद्ध टीकाकार जानकीघाट (अयोध्या) के रामचरणदास जी, जिन्होने पति-पत्नी भाव की उपासना चलाई। इन्होने अपनी शाखा का नाम 'स्वमुखी' शाखा रक्खा। स्त्रीवेश धारण करके पति 'लाल साहब' (यह खिताब राम को दिया गया है) से मिलने के लिये सोलह शृंगार करना, सीता की भावना सपत्नी रूप मे करना आदि इस शाखा के लक्षण हुए।....रामचरणदास जी की इस शृगारी उपासना में चिरान छपरा के जीवाराम जी ने थोडा हेर-फेर किया। उन्होने पति-पत्नी भाव के स्थान पर 'सखी भाव' रखा और अपनी शाखा का नाम 'तत्सुखी शाखा' रखा। इस सखी भाव की उपासना का खूब प्रचार लक्ष्मण किला (अयोध्या) वाले युगलानन्यशरण ने किया। रीवाँ के महाराज रघुराज सिंह इन्हे बहुत मानते थे और इन्ही की सम्मति से उन्होने चित्रकूट मे 'प्रमोदवन' आदि कई स्थान बनवाए। चित्रकूट की भावना वृन्दावन के रूप मे की गई और वहाँ के कुज भी व्रज के क्रीडाकुज माने गए। इस रसिक पंथ का आजकल अयोध्या मे बहुत जोर है और वहाँ के बहुत से मदिरो मे अब राम की 'तिरछी चितवन' और 'बाँकी अदा' के गीत गाए जाने लगे हैं। ये लोग सीताराम को 'युगल सरकार' कहा करते है।"[1] रासलीला, विहार, विलास क्रीडा आदि मे राम को कृष्ण से भी आगे बढ़ाने की चेष्टा की गई। रीति युगीन राम साहित्य पर छाई हुई इस रसिकता का इधर अच्छा अध्ययन हुआ है।[2] संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' और 'प्रसन्नराघव' जैसे ग्रंथो मे शृगारिकता पहले ही आ गई थी। रामकाव्य से इस प्रकार मर्यादा और लोक कल्याण के आदर्श धीरे-धीरे तिरोहित होते गए।

रीतियुगीन राम साहित्य आंशिक रूप से वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण आदि के अनुवाद रूप मे लिखा गया है शेष मे भक्तिकालीन रामकाव्य, परवर्ती कृष्णकाव्य, रीतिकाव्य और रसिक सम्प्रदाय आदि का प्रभाव है। जहाँ-तहाँ कुछ स्वतंत्र सृष्टि भी मिलेगी। कुछ कवियों ने तुलसीदास वाली मर्यादा भावना कायम रखी तथा भगवान राम के जीवन के विविध प्रसंगों को लेकर मुक्तक एवं प्रबंध रूप में रचनाएँ प्रस्तुत की। राम तथा हनुमानादि को लेकर थोडा-बहुत वीर

---

[1]. रामचंद्र शुक्लः हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १४१-४२

[2]. डा० भगवती प्रसाद सिंह : राम भक्ति में रसिक संप्रदाय (सं० २०१४) तथा रामनिरंजन पाँडेयः रामभक्ति शाखा (सन् १९६०)

पुरुष या देवस्तवन काव्य भी लिखा गया। किन्ही-किन्ही कवियों मे वर्णनगत वैशिष्ट्य भी मिलेगा फिर भी ऐसी रचनाएँ कम ही हैं जिन्हे पर्याप्त साहित्यिक उत्कर्ष प्राप्त हुआ हो। नीचे दिये हुए विवरण से रीतियुगीन रामभक्ति काव्य के परिमाण का बोध हो सकेगा :—

(१) लालदास कृत 'अवध विलास' (सं० १७००) दोहा-चौपाई मे बडे आकार का राम कथा ग्रंथ।

(२) नरहरिदास चारण कृत 'अवतार चरित्र' (अनुमानतः सं० १७०० के आस-पास) रामचरित वाले अंश पर तुलसी और केशव का प्रभाव।

(३) रामसखे कृत 'राघवमिलन' (सं० १७०४)

(४) रामचद कृत 'सीता चरित्र' (स० १७१३)

(५) बाल कृष्ण नायक 'बालअली' कृत 'ध्यान मजरी' (स० १७२६) और 'नेह प्रकाशिका' (स० १७४६)

(६) गुरु गोविन्द सिह कृत 'गोविन्द रामायण' (सं० १७५० के आस-पास)

(७) रामप्रिया शरण का 'सीतायन' (सं० १७६०) इस ग्रंथ का दूसरा नाम 'सीतारामप्रिया' भी है

(८) यमुनादास कृत 'गीत रघुनन्दन' (विक्रम की १८वी शती मध्य) गीत गोविन्द के अनुकरण पर सीता-राम-केलि सबधी ग्रंथ।

(९) जानकी रसिक शरण कृत 'अवधी सागर' (सं० १७६०) में राम-सीता के अष्टयाम और उनके विहार का वर्णन है।

(१०) प्रेमसखी कृत सीता राम नखशिख (स० १७९१) होरी छन्दादि प्रबंध, कवित्तादि प्रबन्ध (सं० १७९१ के आस-पास)

(११) जनकराज किशोरीशरण कृत तुलसीदास चरित्र, जानकीसरणाभरण, सीताराम सिद्धान्त मुक्तावली, रामरस तरगिणी, रघुवर करुणाभरण। सं० १७९७ मे इनका विद्यमान होना कहा जाता है।

(१२) सरजूराम पडित कृत जैमिनि पुराण (स० १८०५) मे अन्य अवतारो के साथ रामावतार का वर्णन तुलसी की पद्धति पर अवधी भाषा मे दोहा-चौपाई छंदों में किया गया है।

(१३) रसिकअली कृत 'मिथिला विहार, अष्टयाम, होरी और षट्ऋतु पदावली (सं० १८०७ के लगभग)

(१४) भगवन्त राय खीची कृत एक (सातो काण्ड सपूर्ण) 'रामायण' कवित्तों में लिखी कही जाती है। इनकी 'हनुमत पचीसी' का रचनाकाल सं० १८१७ है।

(१५) मधुसूदनदास विरचित 'रामाश्वमेध' (सं० १८३९) को पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'सब प्रकार से गोस्वामी जी के रामचरितमानस का परिशिष्ट ग्रंथ होने के योग्य कहा है।

(१६) मनियार सिंह कृत भाषा-महिम्न (पुष्पदंत के महिम्न ग्रन्थ का भाषानुवाद सं० १८४१) हनुमत छब्बीसी, सुन्दरकाण्ड आदि।

(१७) खुमान कृत 'अष्टजाम' (सं० १८५२), लक्ष्मण शतक (सं० १८५५), हनुमान पंचक, हनुमान पचीसी, हनुमान नखशिख आदि। ये 'मान' उपनाम से कविता करते थे।

(१८) गोकुलनाथ कृत 'सीताराम गुणार्णव' (स० १८७०) इसे अध्यात्म रामायण का अनुवाद कहा जाता है।

(१६) नवलसिंह कृत रामचन्द्र विलास (स० १८७३) आल्हा रामायण, अध्यात्म रामायण, रूपक रामायण, सीता स्वयंबर, रामविवाह खण्ड, भारत वार्तिक, रामायण सुमिरनी, पूर्वश्रृङ्गार खण्ड, मिथिला खण्ड आदि।

(२०) ललकदास कृत 'सत्योपाख्यान' (स० १८७५ के आसपास) मे रामचन्द्र के जन्म से लेकर विवाह तक की कथा बडे विस्तार से वर्णित है।

(२१) गणेश बन्दीजन कृत 'वाल्मीकि रामायण श्लोकार्थ प्रकाश' (समस्त बालकाण्ड तथा किष्किधा के ५ अध्यायो का भाषानुवाद) और हनुमत पचीसी।

(२२) महाराज विश्वनाथ सिंह कृत आनंद रघुनंदन नाटक, संगीत रघुनंदन, आनंद रामायण, रामचन्द्र की सवारी, रामायण, गीता रघुनदन, शतिका गीता रघुनंदन प्रामाणिक (सं० १७६० के आस-पास ये ग्रथ लिखे गए।

(२३) महाराज रघुराज सिंह कृत रघुपतिशतक, रामरसिकावली, रामस्वयंबर, रामाष्टयाम, हनुमत चरित्र।

(२४) रसिकबिहारी कृत मानस प्रश्न, रामचक्रावली, श्रीरामरसायन।

रीतियुग के प्रमुख कवियों के कृतित्व का अध्ययन

रीतिबद्ध कवि

केशवदास—हिन्दी काव्याकाश के ज्योतिर्गमय नक्षत्रो मे सूर और तुलसी के बाद केशव का नाम लिया जाता है और निश्चय ही वे उस पद के अधिकारी हैं। उनका साहित्य वर्ण्य विषय और वर्णन-विधि दोनों दृष्टियो से इतना विविध, पाण्डित्यपूर्ण, कलाभिरुचि-प्रकाशक और उच्च स्तर का है कि प्रतिकूल, दृष्टि दोष से प्रेरित और कटु आलोचनाओ के बावजूद भी लोकमानस मे व्याप्त केशव के प्रति जो आदर का भाव था, वह लेसमात्र भी खर्व न हो सका। केशव के काव्य की दिन-दिन विकास-

शील आलोचनाओं से उनसे काव्य मे निहित महत्वपूर्ण विशिष्टताओ का धीरे-धीरे अधिकाधिक उद्घाटन होता चल रहा है।

जीवनवृत्त– केशवदास जी के ग्रथों से ही उनके संबध मे हमें बहुत-सी प्रामाणिक जानकारी हो जाती है किन्तु अपने जन्म-काल के सबंध में वे मौन है। विद्वानो ने विविध अनुमान किये है, जिसमे सं० १६१२ के आस-पास केशव का जन्म मानना सत्य के अधिक निकट होगा, क्योकि 'रसिक प्रिया' का रचना काल स० १६४८ है और यह ग्रंथ महाराज इन्द्रजीत सिंह की प्रेरणा से लिखा गया था। महाराज इन्द्रजीत सिह जी का जन्म इतिहासकारो ने स० १६२० माना है। 'रसिक प्रिया' की रचना के समय महाराज इन्द्रजीत सिंह की आयु २८ वर्ष की थी। वे केशव का आदर करते थे। अपने युवा आश्रियदाता के लिये 'रसिकप्रिया' से शृङ्गार रसपूर्ण ग्रन्थ की रचना करने वाले केशव की आयु कुछ अधिक रही होगी, अतएव यदि केशव का जन्म सं० १६१२ के आस-पास माना जाय तो वे महाराज इन्द्रजीत सिह से ७-८ वर्ष बडे ठहरते हैं। केशव का जन्म बुन्देलखण्ड के अन्तर्गत बेतवा नदी के तट पर बसी हुई ओरछा नगरी मे हुआ था, वे वही रहते भी थे।[1] बेतवा नदी का वर्णन केशव ने अपनी 'कविप्रिया' में बडे उल्लास से किया है:—

> ओरछै तीर तरंगनि बेतवै ताहि तरे रिपु केशव को है।
> अर्जुन बाहु प्रवाह प्रबोधित रेखा ज्यों राजन की रज मोहै।।
> ज्योति जगै जमुना सो लगै जब लाल बिलोचन पाप विपोहै।
> सूर-सुता सुभ संगम तुङ्ग तुरंग तरंगिणि गंग सी सोहै।।'

केशवदास जी सनाढ्यवशी थे। उन्होंने अपने वश का पूर्ण परिचय 'कविप्रिया' के दूसरे प्रभाव में दिया है जिसके आधार पर पता चलता है कि उनके पितामह कृष्णदत्त मिश्र थे और पिता काशीनाथ मिश्र। इनके पितामह को राजा रुद्र प्रताप ने पुराण की वृत्ति प्रदान की थी और पिता महाराज मधुकर शाह के सम्मानपात्र थे। केशव तीन भाई थे, बडे थे बलभद्र मिश्र और छोटे का नाम था कल्यान। पाण्डित्य और विद्वत्ता केशव को वशपरंपरागत सम्पत्ति के रूप मे प्राप्त हुई थी। इनके यहाँ दास-

---

> [1]नदी बेतवै तीर जहँ तीरथ तुंगारन्न।
> नगर ओड़छो बहु बसै धरणीतल में धन्न।।
> दिन प्रति जहँ दूनो लहैं, जहाँ दया अरु दान।
> एक तहाँ केशव सुकवि जानत सकल जहान।।
>
> —(रसिकप्रिया)

वर्ग भी बोल-चाल मे सस्कृत का ही प्रयोग किया करता था। 'रामचन्द्रिका'[1] में भी यही बात सक्षेप मे कही गई है—

सनाढ्य जाति गुनाढ्य है जगसिद्ध शुद्ध स्वभाव।
सुकृष्णदत्त प्रसिद्ध है महि मिश्र पंडित राव॥
गणेश सो सुत पाइयो बुध काशिनाथ अगाध।
अशेष शास्त्र बिचारि के जिन जानियो मत साध॥
उपज्यो तेहि कुल मंदमति शठ कवि केशवदास।
रामचन्द्र की चन्द्रिका भाषा करी प्रकास॥

(रामचन्द्रिका : प्रथम प्रकाश)

केशव के बाल्यकाल के सबध मे कोई सामग्री प्राप्त नही है। अंतर्साक्ष्य के आधार पर यह अवश्य पता चलता है कि उनका विवाह हुआ था और उनके सन्तान भी थी तथा केशव की प्रौढ़ावस्था मे भी उनकी पत्नी जीवित थी।

'विज्ञान-गीता' मे एक स्थान पर केशव लिखते हैं कि महाराज वीरसिंह देव ने 'विज्ञान-गीता' की रचना से प्रसन्न होकर उनसे अपनी मनोभिलाषा व्यक्त करने को कहा और उस समय केशव ने उनसे यह याचना की थी—

वृत्ति दई पुरखानि की देऊ बालनि आसु।
मोहि आपनो जानि के गंगा तट देउ बासु॥
वृत्ति दई पदवी दई दूरि करो दुख त्रास।
जाइ करौ सकलत्र श्री गगा तट बस बास॥' (विज्ञान गीता)

इन पंक्तियो से सिद्ध है कि केशव को एक से अधिक सतान थी और अधिक आयु तक स्त्री का साहचर्य भी प्राप्त रहा। 'विज्ञान गीता' की रचना उन्होंने लगभग ५२ वर्ष की आयु (सं० १६६४) में की थी। कुछ विद्वानों जैसे प० गौरीशकर द्विवेदी, स्व० बाबू

---

[1]पुत्र भये हरिनाथ के कृष्णदत्त शुभ वेष।
सभाशाह संग्राम की जीति गढ़ी अशेष॥
तिनको वृत्ति पुराण की दीन्हीं राजा रुद्र।
जिनके काशीनाथ सुत सोभे बुद्धि समुद्र॥
जिनको मधुकर शाह नृप बहुत कर्‌यो सनमान।
तिनके सुत बलभद्र शुभ प्रगटे बुद्धि निधान॥
बालहिं ते मधुशाह नृप जिनपै सुने पुरान।
तिनके सोदर द्वै भये केशवदास कल्यान॥
भाषा बोलि न जानहीं जिनके कुल के दास।
भाषा कवि भो मन्दमति तेहि कुल केशवदास।

जगन्नाथदास 'रत्नाकर' पं० चन्द्रबली पाण्डेय ने अनेकानेक तर्कों के आधार पर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि बिहारी, केशव के पुत्र थे। इस सबंध मे उन्हे बिहारी के उन दोहो से बडी सहायता मिली है :—

प्रकट भये द्विजराज कुल सुबस बसे ब्रज आइ।
मेरे हरौ कलेस सब केसव केसवराइ॥
जनम ग्वालियर जानिये, खंड बुन्देले बाल।
तरुनाई आई सुखद, मथुरा बसि ससुराल॥

दूसरे दोहे से बिहारी का बचपन बुन्देलखड मे बीतना, पहले से की गई केशवराय की स्तुति, बिहारी के काव्य में एक स्थान पर छाया हुआ 'पातुर राइ' शब्द (जिसे इन महानुभावो ने 'प्रवीण राय पातुर' का वचन कहा है) केशव के काव्य मे आए हुए भावो, शब्दों, एवं प्रयोगो की 'बिहारी सतसई' के अनेक दोहो पर पडी हुई छाया तथा अन्य अनेक तर्क उक्त मत की पुष्टि मे प्रस्तुत किये गए है किन्तु अद्यावधि ऐसे प्रबल तर्कों एवं प्रमाणो को नही रखा जा सका है, जिसके आधार पर यह कथन निर्भ्रान्त कहा जा सके। एक अन्य कवयित्री बुन्देलखड मे अपने श्वसुर के नाम से विख्यात है— 'केशवपुत्र बधू'। उसके नाम से अच्छे छद मिलते हैं। लोगो का अनुमान है कि वह केशव की ही पुत्रवधू रही होगी।

राज्य का आश्रय केशव को वंशपरंपरा से प्राप्त था।[१] उनके सर्व प्रसिद्ध आश्रयदाता थे महाराज इन्द्रजीत सिंह, जो ओरछा नरेश महाराज रामसिंह के छोटे भाई थे।

महाराज इन्द्रजीत सिंह काव्य, नृत्य, संगीत आदि कलाओ के प्रेमी थे। उनकी राज-सभा मे नर्तकियो एवं कलाकारो का जमघट रहता था। उनके आश्रय मे रहकर केशव ने यथेष्ट सुख और सम्मान प्राप्त किया है—
उनके आश्रय मे रहकर केशव ने यथेष्ट सुख और सम्मान पाप्त किया—

भूतल को इन्द्र इन्द्रजीत राजै जुग जुग
जाके राज केशोदास राज सो करत है।

उन्ही की इच्छा पूर्ति रूप मे केशव ने 'रसिकप्रिया'। नामक ग्रंथ की रचना की।[२] केशव के दूसरे महत्वपूर्ण आश्रयदाता थे महराज वीरसिंह देव जो महाराज इन्द्रजीत सिंह के बड़े भाई थे। उनके जीवन चरित्र का विस्तृत वर्णन केशव ने "वीरसिंह देव चरित्र" नामक ग्रन्थ मे किया है। इसके अतिरिक्त वीरसिंह देव की प्रेरणा से ही

---

१. देखिये कवि प्रिया : प्रथम प्रभाव (कवि प्रिया : दूसरा भाग) नृप-वंश-वर्णन।

तिन कवि केशव दास सों कीन्हों धर्म सनेह।
सब सुख दै करि यों कह्यो रसिक प्रिया करि देहु॥

केशव ने 'विज्ञान गीता' नामक ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ मे भी वीरसिंह देव की दानशीलता और वीरता पर कुछ छद लिखे गए हैं।—

दानिन में बलि से विराजमान जिनि पाहि,
मॉगिबे को है गनित विक्रम तनक से।
सेवक जगत प्रभुदितिन की मंडली में,
देखियत केशोदास सौनक सनक से॥
जोधन में भरत भगीरथ सुरथ पृथु,
विक्रम में विक्रम नरेश के बनक से।
राजा मधुकारशाह सुत राजा बीरसिंह देव,
राजनि के मंडली में राजत जनक से॥

अथवा

'केशोराई' राजा वीरसिंह के नामहिं त्रै
अरि गजराजनि के मद मुरझात हैं। (विज्ञान-गीता)

इसके अतिरिक्त 'कविप्रिया' के ही साक्ष्य से पता चलता है कि जोधपुर नरेश मालदेव के पुत्र महाराज चन्द्रसेन से वे (सं० १६२५ से १६४२ के बीच) किसी समय सम्मानित हुए थे। महाराज चन्द्रकेन की तलवार की प्रशंसा मे वे लिखते हैं —

रजै रज केशवदास टूटत अरुण लार,
प्रतिभटअंकन ते अंकन पै सरतु है।
सेना सुन्दरीन के विलोकि मुख भूषणनि,
किलकि किलकि जाही ताही को धरतु है॥
गाढ़े गढ़ खेल ही खिलौननि ज्यों तोरि डारै,
जग जाय यश चारु चन्द्र को अरतु है।
चन्द्र सेन भुआपाल आँगन विशाल रण,
तेरो करवाल बाललोला सी करतु है॥
(कविप्रिया)

इसी प्रकार महाराणा प्रताप के उत्तराधिकारी राणा अमरसिंह के विषय मे भी केशव का एक छद मिलता है, जिसकी अतिम पक्ति इस प्रकार है—

केशोराय की सौं कहै केशोदास देखि देखि,
रुद्र की समुद्र अमरसिंह रान हैं।

इनसे पता चलता है कि उसी समय के आसपास कभी केशवदास जी मेवाड भी गए होंगे।

केशव की जीवनी का एक ढाँचा किवदतियो के आधार पर भी खड़ा किया गया है। कहा जाता है कि एक बार केशव तुलसी से भेंट करने गए, तब उन्होंने कहलवा भेजा 'कवि प्राकृत केशव आवन दो।' यह सुनते ही केशव लौट गए; और रात

भर मे रामचन्द्रिका की रचना करके दूसरे दिन सबेरे तुलसी दास जी से मिलने के लिए आए। यही बात 'मूल गोसाई चरित्र' मे भी मिलती है, जिसके रचयिता बाबा वेणीमाधव कहे जाते हैं [१], किन्तु यह ग्रन्थ अप्रामाणिक सिद्ध हो चुका है। इसी प्रकार एक और कथा मिलती है कि एक बार तुलसीदास जी ओरछे से चले जा रहे थे कि उन्हे केशव के प्रेत ने घेरा। उस समय गोस्वामी जी की कृपा से केशव प्रेतयोनि से मुक्त हुए और स्वर्ग लोक को गए। केशव दास का बीरबल से मिलना और महाराज इन्द्रजीत सिह पर शहंशाह अकबर द्वारा किया गया जुरमाना माफ कराने की कथा भी प्रसिद्ध ही है। अकबर की कामुकता भी इतिहासप्रसिद्ध ही है। जब उसे पता चला कि इन्द्रजीत के दरबार मे अनिंद्य सुन्दरी प्रवीण राय नामक एक वेश्या है, तो उसने प्रवीणराय को बुलवा भेजा। महाराज इद्रजीत के लिए प्रवीणराय प्रेयसी के समान थी। वह पहले से ही पशोपेश मे पडे थे, किन्तु प्रवीणराय की अनिच्छा देख उन्होने उसे न भेजने का ही निश्चय किया। इस पर रुष्ट हो अकबर बादशाह ने इन्द्रजीत पर एक करोड का जुरमाना कर दिया। इस जुरमाने को माफ करने के उद्देश्य से ही केशव बीरबल से मिले और उनकी प्रशसा मे यह छंद पढ़कर सुनाया—

> पावक, पंछी, पशू, नर, नाग, नदी, नद, लोक, रचे दस चारी।
> केशवदेव अदेव रचे, नरदेव रचे रचना न निवारी ॥
> कै बर बीरबली बलबीर भयो कृत-कृत्य महाव्रत धारी।
> दै करतापन आपन ताहि; दई करतार दुवौ करतारी ॥' [२]

इस छद पर खुश हो बीरबल ने ६ लाख रुपये की हुँडियाँ केशव को इनाम में दीं। तब केशव ने दूसरा छंद पढ़ा—

> कबि केशवदास बड़े रसिया। घनस्याम सुकुल नभ के बसिया ॥
> कबि जानि के दरसन हेतु गये। रहि बाहिर सूचन भेज दये ॥
> सुनि कै जु गुसाई कहैं इतनो। कबि प्राकृत केशब आवन दो ॥
> फिरगे झट केशव सो वनि कैं। निज तुच्छता आपुइ ते गुनि कैं ॥
> जब सेवक टेरेउ गे कहि कै। हौं भेंटिहौं कालिह विनय गहि कैं ॥
> रचि राम चन्द्रिका रातिहि में। जुरे केशव जू असि घाटिहि में ॥
> सतसंग जमी रह रंग मची। दोउ प्राकृति दिव्य विभूति बची ॥
> मिटि केसव को संकोच गयो। उर भीतर प्रीति की रीति रयो ॥
> (मूलगोसाईं चरित)

देखिये मिश्रबंधु कृत 'हिन्दी नवरत्न'

केशवदास के भाल लिख्यो विधि रंक को अंक बनाय सँवार्यो।
धोये धुवै नहि छूटो छुटै बहु तीरथ के जल जाय पखार्यो।।
ह्वै गयो रंक ते राउ तहीं, बीरबली बरबीर निहार्यो।
भूलि गयो जग की रचना चतुरानन बाय रह्यो सुख चार्यो।।[1]

इस पर बीरबल ने अत्यधिक प्रसन्न हो और कुछ माँगने को कहा, तब केशव ने उनसे कृपा भाव की याचना की और उनसे कहकर महाराज इन्द्रजीत सिंह पर किया हुआ जुरमाना माफ करवा लिया। सबसे अधिक प्रसिद्ध और प्रचलित किंवदन्ती केशव के धवल केशोंवाली है। वे किसी पनघट से होकर जा रहे थे, जहाँ अनेक उमंगभरी युवतियाँ पानी भर रही थी। उनमे से जब किसी ने उन्हे अधिक आयु वाला जानकर 'बाबा' शब्द से सम्बोधित किया तब उस हृदयहीन कहे जाने वाले कवि की सारी हृद्गत सरसता अनुताप-व्यंजक इस प्रसिद्ध दोहे मे मूर्त हो उठी:—

'केशव केसनि अस करी, जस अरिहू न कराहिं।
चन्द्र बदनि मृगलोचनी, बाबा कहि कहि जाहिं।।

केशव की कविता के आधार पर कहा जा सकता है कि वे, स्वाभिमानी, उदारहृदय अलोभी, धन की अपेक्षा आदर सम्मान को अधिक महत्व देने वाले, सन्मार्ग-प्रदर्शक एव बुद्धिमान व्यक्ति थे। हास्य एव विनोद की प्रवृत्ति भी यथावश्यक परिमाण मे उनमें विद्यमान थी। साथ ही वे अनुभवी और वचन-विदग्ध भी थे। भावुकता एव सहृदयता का भी उनमे अभाव न था। अपने पाण्डित्य एवं कवित्व पर वे स्वयं रीझे हुए थे। उनका ज्ञान और अनुभव भी बहुत विस्तृत था। सासारिक ज्ञान का कदाचित् ही कोई विषय हो जहाँ केशव की थोडी-बहुत पहुँच न हो। ब्रज भाषा पर केशव का पूर्ण आधिपत्य था, छद शास्त्र का उन्हे अन्य कवि-दुर्लभ ज्ञान था, सस्कृत का पाण्डित्य उनकी पैतृक सम्पत्ति थी तथा अलकार एँव काव्य शास्त्र के वे आचार्य थे। इनके अतिरिक्त भूगोल, ज्योतिष, वैद्यक, वनस्पति विज्ञान, सगीत-शास्त्र, राजनीति, समाज नीति, धर्मनीति, वेदान्त आदि विषयो का भी केशव को पर्याप्त ज्ञान था। केशव दास जी से इन विषयो से सम्बन्ध रखने वाले तथ्यों और बातो का अपने विभिन्न ग्रंथो में समय-समय पर उपयोग किया है।[2]

काव्य-रचना का दृष्टिकोण

विक्रम की पन्द्रहवी शताब्दी के मध्य भाग से सत्रहवी शताब्दी के मध्य भाग तक हिन्दी साहित्य का क्षेत्र भक्तिपूरक काव्य से ही आपूरित रहा। प्रत्येक धारा का कवि

---

१. देखिये मिश्र बन्धु कृत 'हिन्दी नवरत्न'

२. आचार्य केशवदास—डा० हीरालाल दीक्षित (पृ० ५६)

अपने हृदय से ईश्वर का अनन्य भक्त रहा तथा भगवान के प्रति भक्त का अनुराग भी अखंड था। प्रेम रस से स्नात भक्त का हृदय केवल ईश्वर-तादात्म्य का आकाक्षी था। ऐसी स्थिति मे कवि की अन्तरात्मा का उद्‌गार जिस किसी रूप मे व्यक्त हुआ वही उस समय की सच्ची कविता कहलाई और इसमे सदेह नही कि दो सौ वर्षो का यह भक्तिकाव्य अपनी विशालता और गभीरता मे अद्वतीय है।

भक्ति काव्य की इन दो शताब्दियो के अनन्तर हिन्दी साहित्य में एक अभिनव युग देखने मे आया। इस युग को हिन्दी साहित्य के इतिहासकारो ने रीतिकाल के नाम से अभिहित किया। इस नये युग मे प्रवेश कर हिन्दी कविता के रचना-केन्द्र परिवर्तित हुए। कविता लोकाश्रय को छोडकर राज्य प्रश्रय की अधिकारिणी हुई। सामाजिक और राजनैतिक जीवन में शाति एव समृद्धि के लक्षण दृष्टिगत होने लगे। मुगल शासको के राजभवनों की बात ही अलग, हिन्दू नरेशो के राज-प्रासादो मे भी चित्र, सगीत एवं काव्य ऐसी कलाओ के प्रति यथेष्ट सम्मान प्रदर्शित किया जाने लगा। ओडछा दरबार एक ऐसा ही केन्द्र था जहाँ कविता और सगीत का समादर परम्परा से होता चला आता था। भूतल पर इन्द्र के समान यशस्वी इन्द्रजीत सिंह ऐसे महिपालों के राज-प्रकोष्ठ नवरंगराय तथा प्रवीण राय ऐसी कला-कुशल वीरांगनाओं के कला प्रदर्शन की क्रीडा स्थली बने रहते थे। ये वेश्याएँ आज की वेश्यायो के समान ऐहिक सुखोपभोग को ही अपना सर्वस्व समझने वाली न थी। उनमे आत्मिक बल था और वे अकबर ऐसे प्रतापी धराधिप के कुप्रस्तावो को यह कह कर—

बिनती राय प्रवीन की, सुनिये साहि सुजान,
जूठी पातर खात हैं, बारी बायस स्वान।

अस्वीकार करने की क्षमता रखती थी। कला का एकान्तिक प्रेम ही उनका जीवन था। संगीत एवं नृत्यकला में प्रवीण, ये राजनर्तकियाँ काव्य-कला की भी शिक्षा प्राप्त करने के लिए तथा समादृत होने के लिये, कवि-कर्म सीखने के हेतु केशवदास ऐसे आचार्य कवियो के चरणो मे बैठ काव्य-रचना की शिक्षा लिया करती थी।

राजदरबारों में काव्य-कला के समादर की अभिवृद्धि होते देख नये कवियो को तथा काव्य पारखी कहलाने के हेतु स्वत: नरेशों को भी काव्य-कला का अभिज्ञान आवश्यक हुआ तथा उनको पंडित कवियो के शरण में जाना पडा। युग की इस माँग की उपेक्षा केशवदास तो क्या कोई भी व्यक्ति नहीं कर सकता था, फिर केशव तो स्वत: समर्थ विद्वान थे। संस्कृत साहित्य का प्रकाण्ड पांडित्य लिए हुए हिन्दी साहित्य क्षेत्र में वे उस समाज से आए जिसमें रहने वाले भृत्य एवं अनुचर तक संस्कृत से नीचे बात नही करते थे। केशवदास जी के पास संस्कृत के साहित्यिक और शास्त्रीय ग्रंथों का प्रगाढ़ अध्ययन था। कविता से संबंधित चिन्तन से कठिन उनके पास एक अपनी किंवारावली थी जिसे लेकर उन्होंने हिन्दी कविता के क्षेत्र मे प्रवेश किया तथा

रस एवं अलंकार विषयों पर एक-एक पाठ्य ग्रंथ निर्मित किये । 'रसिकप्रिया' की रचना उन्होंने राजप्रेरणा से की तथा कवि-कर्म-शिक्षा प्रदान के विचार से 'कविप्रिया' निर्माण किया । यहाँ इस बात को न भूल जाना चाहिए कि इन ग्रंथो की रचना केशवदास जी ने अपने पाण्डित्य के पूर्ण प्रकाशन का दृष्टिकोण रखकर नही की वरन् इस विचार से कि कविकर्म की शिक्षा तथा रस एवं अलंकार विषय से संबधित कोई महत्वपूर्ण रचना उनके सामने तक न हो पाई थी । अतः पाठ्य ग्रन्थो के रूप मे उन्होने दो ग्रथ इन विषयो पर रच दिए । साधारण रूप में उभय रीति ग्रन्थो का निर्माण करते हुए भी केशवदास काव्यभ्यासियों के सामने आचार्य के रूप मे आए, संभव है केशव के अनुकरण पर अन्यान्य रीतिग्रंथ बने हो पर ऐसे ग्रंथो का अभी तक पता नही चल सका है । जो हो 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' की रचना कर केशवदास ने रीति ग्रंथो के प्रणयन का मार्ग खोल दिया । परवर्ती आचार्यो ने अपने रीति ग्रंथो मे आचार्य केशव के मत एव विचारो का पोषण नही किया । परन्तु इसमे कोई सदेह नही कि वे चले उसी मार्ग पर जिसका प्रदर्शन केशव ने किया था । और इस दृष्टि से केशव का महत्व आज भी अक्षुण्ण है ।

केशव ने अपने समय तक के समस्त हिन्दी साहिन्य की प्रगति एवं विकास को देखते हुए भाषा व्यापकता तथा साहित्यिक उत्कर्ष देने का प्रयास प्रकिया, कविता के विषय तथा काव्य को विकसित करने का यत्न किया । अनेकानेक नूतन शैलियो का प्रयोग कर भावी साहित्यसेवियो के लिए अनुकरणीय कार्य किया, इस दृष्टि से उनकी 'रतन बावनी' तथा 'विज्ञान गीता' का विशेष महत्व है । परन्तु इन सब के अतिरिक्त केशवदास की महान कवित्व शक्ति की परिचायिका हैं, उनकी अमर कृति 'रामचन्द्रिका' । इसकी रचना कर वे सहज ही अन्य रीतिकालीन कवियो मे आगे हो जाते हैं । रामचन्द्रिका के अंतर्गत जो काव्य का कलापक्ष उत्कर्ष की चरम सीमा तक पहुँचा, हुआ दृष्टिगत होता है उसपर हम अन्यत्र विचार करेगे । यहाँ पर इतना कहना ही उपयुक्त होगा कि जिस प्रकार सूर, तुलसी, जायसी, कबीर, दादू और मीरा का भावनात्मक साहित्य अथाह सागर के समान है उसी प्रकार केशव का कलात्मक साहित्य भी अतल और अमान है ।

हृदयहीनता का दोषारोपण कर केशव को आज अपेक्षित, तिरस्कृत कवियो के वर्ग में खडा कर दिया गया है । उनकी कविता को आज समालोचना के पाश्चात्य चश्मे से देखा जा रहा है जिससे केशव का स्वरूप कुछ विकृत-सा दीख पडता है । यह अधिक उपयुक्त होगा यदि केशव के निजी काव्य सम्बन्धी आदर्शों को ध्यान मे रखते हुए आलोचकगण उनके काव्य के सौन्दर्यान्वेषण मे प्रवृत्त हों । इस प्रकार की समालोचनाएँ प्रस्तुत कर देना "केशव को कवि हृदय नही मिला था । उनमें वह सहृदयता और भावुकता न थी जो एक कवि मे होनी चाहिए

यह समझ रखना चाहिए कि केशव केवल उक्ति-वैचित्र्य और शब्द क्रीडा के प्रेमी थे" सहानुभूतिशून्यता का परिचायक है। जिज्ञासा और सहानुभूति तो आलोचक की प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं। ऐसी सहारात्मक समीक्षाओ का प्रतिवाद कब का किया जा चुका है—"केशवदास को हृदयहीन कहकर हम उनके प्रति अन्याय करते हैं क्यो कि एक तो उनकी हृदयहीनता जानी-समझी हृदयहीनता है फिर अनेक स्थलों पर उन्होने पूर्ण सहृदय होने का परिचय दिया है।"

वस्तुतः केशव मौलिक प्रतिभावान एक आचार्य कवि थे। उन्होने हिन्दी साहित्य क्षेत्र मे एक भिन्न दृष्टिकोण को लेकर प्रवेश किया। उनमे शास्त्रीय ज्ञान की प्रधानता थी, अतएव पाण्डित्य ही उनके काव्य का प्राण है। सूर, तुलसी और मीरा के सदृश केशव मे भक्ति का उन्मेष न था। उनमे सूक्ष्म दृष्टि एव बौद्धिक पक्ष की प्रधानता थी। वे भक्त-कवि न होकर प्रधानतया रीतिकवि थे। उन्हे भक्ति भावना का माहात्म्य स्थापित न कर अपने ज्ञान, शास्त्र तथा काव्य-कला का माहात्म्य प्रदर्शित करना था। भाषा पर अधिकार तथा भाव मे गाभीर्य की दृष्टि से केशव का काव्य हिन्दी साहित्य के लिए अनमोल एवं गौरव की वस्तु है।

भावना की अभिव्यक्ति, मार्मिक भावो के चित्रण, आत्मानुभूति-प्रकाशन तथा भक्ति के उद्रेक की दृष्टि से केशव, सूर और तुलसी से अवश्य पीछे रह गये हैं पर काव्य-कला, अलंकार-विधान, छन्द-योजना, भाषाधिकार, श्लेष-कौशल, काव्यरीति की अभिज्ञता, शास्त्रीय ज्ञान आदि की दृष्टि से केशव, सूर और तुलसी से ऊँचे ठहरते हैं और इसी कारण से वे नक्षत्र-उपमित हैं जो साहित्य-गगन के सूर्य और चन्द्र से भी ऊँचे प्रदेशो के अधिवासी हैं।

रामचन्द्रिका को प्रबन्धकाव्य कहा जाता है। उसकी आलोचना करते हुए प्रायः आलोचक उसे असफल प्रबन्ध काव्य कहा करते है। कुछ लोगो को उसमें शुष्क पाण्डित्य-प्रदर्शन की अभिरुचि प्रधान मिलती है तथा कतिपय विद्वज्जन उसे मुक्तकों का एक संकलन-मात्र मानते है। वे यह कहकर कि इसका कथा-क्रम विश्रृंखल है तथा मार्मिक स्थलो के चित्रण का इसमे अत्यन्त अभाव है कवि की हृदयहीनता सिद्ध करना चाहते हैं। प्रयोगो की अशुद्धता, भावाभिव्यक्ति मे असफलता, विशिष्टता आदि दोषों का भी केशव पर आरोप किया जाता है। साथ ही उनसे सहमा हुआ-सा साहित्य-संसार उन्हें आचार्य मानता हुआ उनके पाण्डित्य को भी निःशंक दृष्टि से देखता है।

सच तो यह है कि व्यक्तिगत रुचि ही अभी तक केशव सम्बंधी समालोचना क्षेत्र में प्रबल रही है, तथा साथ ही आंशिक रूप मे सहानुभूतिशून्यता भी काम करती रही है। इसी को देखकर श्रद्धेय अयोध्यासिंह जी उपाध्याय को अपने ग्रन्थ 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' में लिखना पड़ा है—वस्तुतः आलोचकों की रुचि "भी

एक-सी नही होती। रुचि-भिन्नता के कारण किसी को कोई विषय प्यारा लगता है और कोई उसमे अरुचि प्रकट करता है। प्रवृत्ति के अनुसार आलोचना भी होती है इसीलिए सभी आलोचनाओ मे यथार्थता नही होती है। उनमे प्रकृतिगत भावनाओ का विकास भी होता है। केशव की रामचन्द्रिका के विषय मे भी इस प्रकार की विभिन्न आलोचनाएँ है।'' वास्तव मे बात यह है कि केशव के राचन्द्रिका प्रणयन की जो मूल प्रेरणाएँ थी उनकी ओर लोगो का ध्यान कम गया तथा मनमाना दृष्टिकोण लेकर केशव-काव्य की समीक्षा प्रस्तुत की गई। हमे विचार कर यह देखना है कि केशव ने लिखना क्या चाहा।

भक्तिकाल की भक्ति-धारा के वेगपूर्ण प्रवाह मे केशव भी बहे पर केशव सूर-तुलसी ऐसे भक्त न थे जो उस प्रवाह की धार मे सम्पूर्णतया मग्न हो जाते। वे राज्याश्रय मे रहने वाले कवि थे, उन्हे अपने मान और प्रतिष्ठा की सुधि थी, वे पण्डित कवि थे, उन्हे अपने पाण्डित्य का ध्यान था। यही कारण है कि उन्होने राजसिक ऐश्वर्य से राम काव्य को मण्डित किया है तथा उनके पाण्डित्य और ज्ञान का पूर्णतम प्रकाशन ही "रामचन्द्रिका" है।

हमे सूर और तुलसी की भक्ति का उन्मेष तथा भगवद् विषयक तल्लीनता की आशा केशव से नही करनी चाहिये। सूर और तुलसी भक्ति का सबल लेकर काव्य-पथ-पर चले थे जब कि केशव का आधार शुद्ध साहित्यिक ज्ञान था। पांडित्य ही उनके जीवन का मूल था, उनकी राजकीय प्रतिष्ठा का कारण था और वश-परपरा से प्राप्त निधि भी। जिस प्रकार तुलसीदास ने कहा—

"कीन्हें प्राकृत-जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना॥

वैसे ही कवि कोटि निदर्शन करते हुए केशव भी कहते हैं—

"उत्तम मध्यम, अधम कवि, उत्तम हरि रस लीन। (कविप्रिया)

परंतु साथ ही वे अधिक बल देते हैं काव्य के शास्त्रीय-ज्ञान के पक्ष पर और यह बात उनके प्रमुख ग्रन्थो से भली भाँति अवगत होती है। कदाचित् वे उस सिद्धात के मानने वाले थे जिसमे ज्ञान प्रधान वस्तु थी। इसीलिये हमे केशव से साहित्यिक ज्ञान एवं साहित्यिक प्रतिभा की आशा करनी चाहिये। प्रकार की दृष्टि से वे सूर और तुलसी मे भिन्न कोटि के कवि हैं तथा कला के चरमोत्कर्ष काल के आदि आचार्य हैं।

केशव ने रामचरित्र के श्रेष्ठ धागे मे युक्तिपूर्वक काव्य-सुमनों को गूँथा है, इस कारण उनके काव्य मे रामयश का वर्णन तथा इस वर्णन की युक्ति-रीति आदि का प्रयोग देखने मे आता है। युग के प्रवाह से कोई नही बचा है, फिर केशव कहाँ से बच पाते। भक्ति काल की धार्मिक काव्य-रचना को आधार मानकर जहाँ उन्होने एक ओर राम काव्य की परपरा को अपने योग-दान से सबधित किया वही पर दूसरी

और काव्य के एक नए स्वरूप को जन्म दिया—छन्दान्तर शैली मे वर्णनात्मक महाकाव्य—जो साहित्य-ससार मे एक अनुकरणीय वस्तु हो गई।

केशव की रामचन्द्रिका के प्रणयन के उद्देश्य का उद्घाटन करते हुए हरिऔध जी लिखते हैं—"रामचन्द्रिका की रचना पाडित्य-प्रदर्शन के लिये हुई है और मैं यह दृढता से कहता हूँ कि हिन्दी संसार मे कोई प्रबन्ध काव्य इतना पाडित्यपूर्ण नही है।" केशव संस्कृत के पूर्ण विद्वान थे। उनके सामने शिशुपाल-बध और नैषध का आदर्श था। वे उसी प्रकार का काव्य हिन्दी मे निर्माण करने के उत्सुक थे। इसीलिये रामचन्द्रिका अधिक गूढ है। साहित्य के लिये सब प्रकार के ग्रन्थों की आवश्यकता होती है। यथास्थान सरलता और गूढता दोनो वाछनीय है। उनको यही अभीष्ट था कि उनकी एक ऐसी रचना भी हो जिसमे गंभीरता हो और जो पाण्डित्याभिमानी को भी पाडित्य-प्रकाश का अवसर दे अथच उसकी विद्वत्ता को अपनी गभीरता की कसौटी पर कस सके। इस बात को हिन्दी के विद्वानो ने भी स्वीकार किया है।"

इसी उद्देश्य की ध्यान मे रखते हुए केशव के पाडित्य के प्रकाशन और प्रतिभा की काव्यात्मक अभिव्यक्ति की जाँच करनी चाहिये। हमे यह देखना चाहिये कि कवि अपने सकल्प को (रामचन्द्र की चन्द्रिका वर्णत हौ बहु छंद) पूर्ण कर पाता है या नहीं अर्थात् उनके काव्य मे विविध छदात्मकता आई या नही? कवि, जो अलंकारिक चमत्कार को काव्य की आत्मा मानता है उसको अपने काव्य मे यथोचित स्थान दे सका है अथवा नही? क्योकि उसका स्पष्ट मत है—

> जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।
> भूषन बिन न बिराजई, कविता बनिता मित्त॥

केशव की रामचन्द्रिका साहित्य के प्रबंध काव्यो मे गिनी जाती है और ऐसा भी कहा जाता है कि उसमे प्रबधात्मकता का एक प्रकार से अभाव है। इसी प्रकार यह भी कहा गया है कि केशव के प्रबन्ध की शृङ्खला टूटी हुई है, कथा का क्रम ठीक नहीं और यहाँ तक कि उसमे मुक्तक की-सी स्फुटता विद्यमान है। ये सब भ्रामक आलोचनात्मक निर्णय केशव की चन्द्रिका-रचना के उद्देश्य को न पहचानने अथवा उसकी उपेक्षा कर देने के कारण देखने मे आते हैं।

केशव ने प्रायः प्रत्येक क्षेत्र मे मौलिक योगदान किया है। क्या अभिव्यक्ति की शैली हो (छन्द), क्या अभिव्यक्ति का माध्यम (भाषा) और क्या अभिव्यक्ति का विषय (विचार) और इसी कारण अन्य ग्रन्थो की भाँति रामचन्द्रिका भी उनके मौलिकता के प्रभाव से ओत-प्रोत है।

रामचन्द्रिका के अंतर्गत जो काव्य है वह सब का सब राम कथा के धागे से आबद्ध है। यही एक आधार है जिस पर रामचन्द्रिका की रचना हुई ही नहीं। गुलाबराय जी का यह कहना कि 'कथा में न तारतम्य है न अनुपात" ठीक ही है क्योकि कवि

कथा-कथन को नगण्य मानता है और संपूर्ण काव्य मे कही भी इस ओर उसकी प्रवृत्ति नही परिलक्षित होती। अतः हमे कवि से न तो कथा-सौदर्य एवं उसके मार्मिक स्थलो की रमणीयता और न ही चरित्र-विकास की आशा करनी चाहिये। इनके स्थान पर कवि बल देता है, वर्णनो पर, सवादो पर, नवीन काव्योद्भावनाओ पर तथा उनकी चमत्कृत अभिव्यंजना पर, अलकारों के चमत्कृत विधान पर तथा छन्दो की विविधता पर। समग्र रूप से देखने पर यह पता चलता है कि कवि कथा न लिखकर काव्य लिख रहा है। कथा संबंधी प्रत्येक स्थल को यथाशक्ति संक्षिप्त करता हुआ, कवि काव्य-प्रतिभा-प्रकाशन का कोई भी अवसर हाथ से जाने नही देता। कही भी वर्णन का प्रसङ्ग आया कवि कथा को भूल-सा जाता है और वर्ण्य वस्तु के चित्रण मे अपनी समस्त काव्य-प्रतिभा का नियोजन कर देता है। पाठक भूल जाता है कि वह कथा पढ रहा है। कथा मे पाठक कोई रस नही पाता परन्तु फिर भी काव्य से चिपका रहता है क्योकि काव्यप्रेमी पाठक केशव की चन्द्रिका मे एक काव्यमर्मज्ञ का काव्य-कौशल पाता है। वह कवि-प्रतिभा का ऐसा उत्कृष्ट प्रकाशन देख क्षण भर के लिये आश्चर्यचकित हो जाता है, अलंकारों के नवीन प्रयोगो, अपनी नवीन विभाव-नाओ तथा वर्णन वैचित्र्य मे ही डूबने उतराने लगता है। कवि वर्णनो की झडी लगा देता है और पाठक उसके द्वारा अकित चित्रो को मन्त्रमुग्ध-सा देखता ही रह जाता है।

कवि ने प्रायः सभी प्रकाशो मे वर्णनो का प्रचुर समावेश किया है। जिस प्रकाश मे वर्णनो का अभाव मिलेगा उसमे वर्णनो की पूर्ति सवादो द्वारा हो गई है जो हिन्दी के संवादात्मक-साहित्य की अनूठी निधि है। निष्कर्ष रूप मे हम यह कह सकते हैं कि यदि केशव का वश चलता तो वे कथा को अपनी वर्णन मडली से बाहर निकाल देते।

रामचन्द्रिका मे वर्णन की इस प्रधानता एव कवि की वर्णन-प्रियता की मनोवृत्ति की पुष्टि उनके ग्रन्थ कवि-प्रिया से हो जाती है। अलकारवादी केशव अथवा अधिक स्पष्ट शब्दो में अलंकार को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य केशव 'वर्णन' को भी अलकार मानते थे। उनके इस वर्णन के क्षेत्र में काव्यान्तर्गत सभी परिपाटी-विहित वर्णनीय विषय आ जाते थे जिसके स्थूलतया चार अङ्ग उन्होंने निर्धारित किये।

(१) वर्णालंकार वर्णन
(२) वर्ण्यालंकार वर्णन
(३) भूमि-भूषण वर्णन
(४) राज्य श्री-भूषण वर्णन, (कविप्रिया)

इन भेदों के अनेकानेक उपभेद भी उन्होंने प्रस्तुत किये। केशव के अलंकारों को दो मुख्य वर्गों—सामान्य और विशिष्ट में से प्रथम वर्ग के अन्तर्गत 'वर्णन

अलकार' के इन्ही चार भेदों एवं उनके अनेकानेक उपभेदो की व्याख्या एवं उनका वर्णन हुआ है। वर्णन अलंकार की यह व्याख्या कविप्रिया मे प्रभाव ५ से प्रभाव ८ तक मे गई है। इससे स्पष्ट ही है कि केशव काव्य मे वर्णन को कितना महत्व देते थे। यह कहना कदाचित् अनुपयुक्त न होगा कि केशव की रामचन्द्रिका इन विस्तृत वर्णनात्मक अशो से पृथक होकर प्राणहीन काया सदृश हो जायगी। उनका सामान्यालंकार ही जो उनके काव्य का वर्णनात्मक अश है उनके विशिष्टालंकारो की क्रीडा स्थली है, और उन्ही मे केशव अपनी कुशलता की चरम अभिव्यक्ति कर पाते है।

केशव के संवाद, उनकी विविध छदात्मकता और काव्य-प्रवीणता तथा उनकी नूतन उद्भावनाएँ, उनकी काव्य-काया के अन्य चार तत्व है (पाचवाँ तत्व है वर्णन)। वर्णन ही प्राण तत्व है जिससे उनका समस्त काव्य जीवनमय हो गया है।

इस प्रकार आचार्य कवि केशव ने रामकथा को उठाया। उसे महाकाव्य के अनेक गुणो से अभिमडित किया, उसमे मुक्तको-सा लावण्य भरा, विविध रसों की सृष्टि की, काव्य के अन्य आवश्यक उपादानो का सचयन किया तथा विविध छंदात्मकता, चमत्कृत अलकरण एवं वर्णनात्मकता के मौलिक सयोजन से एव नवीन काव्य-स्वरूप को जन्म दिया। विविध छदात्मक शैली में लिखी जाने वाली रामचन्द्रिका के टक्कर का महाकाव्य हिन्दी ससार ने दूसरा नही देखा।

केशव का काव्य

केशवदास के नाम से १६ ग्रथो का उल्लेख मिलता है :—

(१) रसिक प्रिया (२) नख शिख (३) कवि प्रिया
(४) राम चन्द्रिका (५) वीर सिंह देव चरित (६) रतन-बावनी
(७) विज्ञान गीता (८) जहाँगीर-जस-चन्द्रिका (९) जैमुनि की कथा
(१०) हनुमान जन्म लीला (११) बालि चरित्र (१२) आनन्द-लहरी
(१३) रस ललित (१४) कृष्ण लीला (१५) अमी घूँट
(१६) रामालंकृत मंजरी,

किन्तु इनमें से प्रथम ८ ग्रंथ ही प्रामाणिक हैं। स्वभाव के आधार पर केशव के ग्रंथो का अथवा उनके काव्य को तीन भागो मे विभक्त किया जा सकता है—

(१) प्रबंध काव्य (२) रीति काव्य (३) दार्शनिक काव्य।

प्रबंध काव्य—केशवदास जी द्वारा लिखे गए प्रबन्ध-ग्रथों में 'रामचन्द्रिका' सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। यह ग्रंथ बाल्मीकीय रामायण पर आधारित है। कथा के कतिपय प्रसंगों पर अध्यात्म रामायण का प्रभाव है तथा "प्रसन्नराघव" एवं 'हनुमन्नाटक' के अनेकानेक सुन्दर भाव भी रामचन्द्रिका की बहु विधि विशेषताओं एवं महत्व का श्रेय उसके यशस्वी रचयिता को ही है। कथा प्रवाह मे केशव ने अत्यंत

क्षिप्रता दिखलाई है तथा रामकथा के मर्मस्पर्शी प्रसगो और महत्वपूर्ण घटनाओ को भी अत्यंत संक्षेप में चलता कर दिया है, मानो कथा कहना उनका इष्ट ही न हो। इससे प्रबन्ध काव्य की गरिमा को निश्चय ही आघात पहुँचा है। साथ ही अनेक अनावश्यक बाते भी रामचन्द्रिका मे समाविष्ट की गई है यथा दान-विधान-वर्णन, सनाढ्योत्पत्ति-वर्णन, रामकृत राज्यश्री निन्दा जिनका मुख्य कथा वस्तु से कोई अनिवार्य संबध नही है। वास्तव मे रामचन्द्रिका की कथावस्तु के सुश्रृखलित न होने के दो मुख्य कारण हैं। एक तो यह कि कथा को सुन्दर और उपयुक्त रूप देकर कुछ ही समय पूर्व गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस की रचना की थी अतएव उन्ही विशेषताओ से युक्त काव्य-रचना केशव को इष्ट न थी। दूसरा यह कि केशव का उद्देश्य नाम के यश-ऐश्वर्यादि का विशेष रूप से वर्णन प्रचुरता के साथ चित्रण करना था। इसीलिये जहाँ-तहाँ वे कथावस्तु को छोड विविध वस्तुओ एवं दृश्यो के वर्णन मे प्रवृत्त हो जाते है तथा रामचन्द्रिका मे नाना प्रकार के एक से एक सुन्दर वर्णन मिलते हैं जैसे सरयू, अयोध्या, उपवन, गजशाला, राज सभा, आश्रम, सूर्योदय, मिथिला, पंचवटी, दण्डकवन, गोदावरी, वर्षा, शरद, रामराज्य, राजभवन, शयनागार, वसनशाला, जलशाला, गंधशाला तथा उपवन मे कृत्रिम सरिता, पर्वत, जलाशयादि के वर्णन। इस वर्णन-प्रियता के कारण कथा का प्रवाह निश्चय अवरुद्ध हुआ है, किन्तु रामचन्द्रिका मे ही ऐसे बहुत से अश हैं जहाँ कथा का सुन्दर प्रवाह भी दीख पडता है जैसे धनुष यज्ञ, और राम-सीता विवाह का प्रसंग, हनुमान का सीता की खोज मे लका जाना, राम की सेना का दिग्विजय और लव-कुश से युद्ध।

चरित्र-चित्रण पर भी कवि की दृष्टि विशेष नही थी। दूसरे, कथा के विश्रृंखल होने के कारण पात्रो की रूप-रेखा भी पुष्ट और चटक नहीं हो सकी है, फिर भी 'रामचन्द्रिका' के प्रमुख चित्रण अपने रचयिता की निजी विशिष्टताओ से आभूषित अवश्य हो गए हैं। वे भाषा के पडित, व्यवहारपटु और कूटनीतिज्ञ हो गए हैं, उतने आदर्शवादी नही जितने तुलसी के पात्र थे। इससे इतना अवश्य हो गया है कि वे अधिक मानवीय और यथार्थ बन पडे हैं। स्थान-स्थान पर राम के चरित्र मे किंचित उग्रता का चित्रण हुआ है। परशुराम के प्रति राम के इस कथन में—

> 'टूटे टूटनहार तरु वायुहि दीजत दोष,
> त्यों अब हर के धनुष को हम पर कीजत रोष।'
>
> \+ \+ \+
>
> 'होनहार ह्वै रहै मोह मद सबको छूटै।
> होय तिनूकाना बज्र बज्र तिनका ह्वै टूटै।।

भगन कियो भव धनुष साल तुमको अब सालौं ।
नष्ट करौं विधि सृष्टि ईश आसन ते चालौं ।।
+ + +

अति अमलु ज्योति नारायणी, कहि केशव बुझि जाय बर ।
भृगु नंद सँभारु कुठारु मैं कियो सरासन युक्त सर ।।

अथवा लक्ष्मण को शक्तिहत हुआ देख उनका यह कथन—

'करि आदित्य अदृष्ट नष्ट जम करौं अष्ट वसु ।
रुद्रन बोरि समुद्र करौं गंधर्व सर्व पसु ।।
बलित अबेर कुबेर बलिहि गहि लेउ इन्द्र अब ।
विद्याधरन अविद्य करौं बिन सिद्धि सिद्ध सब ।।
निज होहि दासि दिति की अदिति अनिल अनल मिटि जाय जल ।
सुनि सूरज सूरज उवत हीं, करौं असुर संसार बल ।।'

कथन बडे ही मनोवैज्ञानिक आधार पर आधारित हैं और बार-बार राम को मानव रूप में देखने का आमंत्रण देते है । ऐसे स्थलो पर राम तथा अन्य पात्र बड़े ही प्राण-वान हो गए हैं । जैसे उग्रता वैसे ही शृंगारिकता भी राम के चरित्र की एक नई विशेषता रामचन्द्रिका में बन कर आई है । इसी प्रकार सीता का चरित्र भी अधिक प्रकृत धरातल पर अंकित किया गया है । हनुमान, कौशल्या, भरत आदि सभी केशव के इस नए साँचे मे ढले चले जाते हैं । नैतिकता, मर्यादावादिता और आदर्श की दृष्टि से देखने पर ये पात्र अवश्य तुलसी द्वारा प्रस्तुत स्तर से गिरे मिलेंगे, किन्तु इन पात्रों को अधिक स्वाभाविक रूप देना ही सभवतः केशव को इष्ट था,—जो जो तुलसीदास जी कर गए थे, उसी उसी का पिष्टपेषण मात्र नही । केशव की तूलिका ने अनेक स्थलो पर चरित्रो मे बडे ही सूक्ष्म एव सुन्दर मनोवैज्ञानिक रंग भरे हैं । उदाहरण के लिए रावण का राम के चरित्र को दूषित बतलाकर सीता को अपनी ओर आकर्षित करने की चेष्टा और दूत अगद को यह समझाकर अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न कि राम ने हमारे प्रिय मित्र और तुम्हारे पिता बालि की अकारण हत्या की है, तुम्हारे ऐसे सपूत के लिये यह कितनी ग्लानि और लज्जा की बात है, यह लो मेरी सेना और अपने पितृ-घातक को आज ही विनष्ट कर दो । इसी प्रकार राम और रावण के संदेशों के आदान-प्रदान मे भी कुछ कूटनीतिक दाँव-पेंच लगाए गए हैं । यह सब होते हुए भी कहना ही पडेगा कि चरित्रों का समुचित विकास केशव का अभीष्ट न था ।

भावों की व्यंजना के लिये कहा जाता है कि प्रबन्धकार को कथा के मार्मिक स्थलों की पहचान होनी चाहिये किन्तु केशव की भावों की गठरी ऐसे स्थलों पर क्रम

खुली है। उन्होंने रामवन गमन, चित्रकूट मे भरत और राम के मिलन आदि के प्रसंगो पर विशेष भावुकता नही दिखलाई है। इसी अपराध मे उन्हे 'हृदयहीन' की उपाधि दी गई है। लेकिन सीताहरण पर राम के हृदय का दुख, लक्ष्मण के आहत होने पर राम के मन की व्यथा, अशोक वाटिका में सीता की दीन-दशा आदि के चित्रण मे केशव ने पूरी सहृदयता का परिचय दिया है। कविप्रिया और रसिक-प्रिया मे केशव के सरस हृदय का हमे और भी गाढ़ा परिचय मिलता है और रतन बावनी तो वीरता के भावो की व्यंजना की दृष्टि से अत्यंत उत्कृष्ट कृति है। और ग्रथो की बात छोड़िये, नाना मनोभावों की दृष्टि से रामचन्द्रिका को ही उठा लीजिये। वह उतनी हलकी न पडेगी जितनी उसे लोग कहते आए है। देखिये—

(क) विश्वामित्र के साथ राम के चले जाने पर—

राम चलत नृप के युग लोचन। बारि भरित भये बारिद रोचन ॥
पायन परि ऋषि कै सजि मौनहिं। केशव उठि गये भीतर भौनहिं।

(ख) सीता-वियुक्त राम का कथन (चकवे, चकोर और करुणां वृत्ति के प्रति)—

अवलोकत कै जब ही तब हीं। दुख होत तुम्हें तब हीं तब हीं।
वह बैर न चित्त कछू धरिये। सिय देहु बताय कृपा करिये।

× × ×

शशि को अवलोकन दूर किये। जिनके मुख की छवि देखि जिये।
कृति चित्त चकोर कछूक धरो। सिय देहु बताय सहाय करो ॥

× × ×

कहि केशव याचक के अरि चंपक, शोक अशोक भये हरि कै।
लखि केतक केतकि जाति गुलाब ते, तीक्ष्ण जानि तजे हरि कै ॥
सुनि साधु तुम्हें हम बूझन आए, रहे मन मौन कहा धरि कै।
सिय को कछु सोधु कहौ करुणामय, हे करुणा करुणा करि कै ॥

(ग) अशोक बाटिका मे सीता का बाह्य एवं आतरिक चित्र—

धरे एक बेणी मिली मैल सारी। मृणाली मनो पंकते काढ़ि डारी ॥
सदा राम नामैं रटै दीन बानी। चहूँ ओर हैं राकसी दुःख दानी।

(घ) मेघनाथ वध पर रावण की मनोदशा का चित्र—

आजु आदित्य जन, पौन पावक प्रबल, चन्द आनन्दमय भास जग को हरौ।
गान किन्नर करौ, नृत्य गंधर्व कुल, यक्ष विधि लक्ष उर यक्ष कर्दम धरौ ॥
ब्रह्म रुद्रादि दै, देव तिहुँ लोक के, राज को जाय अभिषेक इन्द्रहिं करौ।
आजु सिय राम दै, लंक कुल दूषणहिं, यज्ञ को जाय सर्वज्ञ विप्रहु वरौ।

भावों की व्यंजना और मानसिक प्रतिक्रियाओं के चित्रण की दृष्टि से केशव के सवाद-वाले स्थल अत्यंत उत्कृष्ट है।

वर्णनो की दृष्टि से रामचन्द्रिका अत्यत पुष्ट है । रूप-चित्रण, राज्य-श्री-चित्रण और प्रकृति-चित्रण सभी यथेष्ट परिमाण मे एवं अत्यत सुन्दर रूप में बन पडे हैं । ऐसे स्थलो पर ही कवि को अलकारो की छटा, कल्पना की समृद्धि एवं काव्य-कौशल के प्रकाशन का यथेष्ट अवसर प्राप्त हुआ है । सारी रामचन्द्रिका वर्णनो से आद्योपात परिपूर्ण है, उनके वर्ण्य विषय है—सरयू, अयोध्या, गजशाला, उपवन, बन, नख शिख, सूर्योदय, पलकाचार, पचबटी, दण्डक वन, गोदावरी, गान-वाद्य-प्रभाव, वर्षा, शरद, समुद्र, राजनीति, मत्री, नारी-धर्म, विधवा-धर्म, युद्ध, दान-विधान, सना-ढ्योत्पत्ति, यौवन एवं जरावस्था के दुःख, राम-नाम-माहात्म्य, अभिषेक, रामराज्य, चौगान, श्यनागार, राज महल, संगीत, शैया, प्रभात, भोजन, चन्द्र, शरीराग, कृत्रिम पर्वत, सरिता, जलाशय, जल क्रीडा, सद्यःस्नाता आदि । केशव के प्रायः समस्त वर्णन ऐश्वर्य-व्यंजक हैं और अलकृत शैली मे किए गए है । उदाहरण स्वरूप देखिये—

(क) सीता और उनकी सखियों का स्वरूप वर्णन—

को है दमयन्ती इन्दुमती, रति रात दिन,
होहिं न छबीली छन छबि जो सिगारिये ।
केशव लजात जलजात जातवेद ओप,
जातरूप बापुरो विरूप सो निहारिये ॥
मदन निरूपम निरूपत निरूप भयो
चन्द बहुरूप अनुरूप कै बिचारिये ।
सीता जी के रूप पर देवता कुरूप को हैं,
रूप ही के रूपक तो बारि बारि डारिये ॥

×   ×   ×

मुख एक है नत लोक लोचन लोल लोचन कै हरै ।
जनु जानकी संग सोभिजै शुभ लाज देहहि को धरै ॥
तहँ एक फूलन के विभूषन एक मोतिन के किये ।
जनु छीर सागर देवता तन छीर छींटन को छिये ॥

(ख) अयोध्या एवं मंच वर्णन—

अति उच्च अगारनि बीन पगारनि जनु चिंतामणि नारि ।
बहु शत मख धूमनि धूपित अंगनि हरि की सी अनुहारि ॥
चित्री बहु चित्रनि परम विचित्रनि केशवदास निहारि ।
जनु विश्व रूप के अमल आरसी रची विरंचि विचारि ॥

×   ×   ×

शोभित मंचन की अवली गज दंतमयी छवि उज्ज्वल छाई ।
ईश मनो बसुधा में सुधारि सुधाधर मडल मंडि जुन्हाई ।।
ता महँ केशवदास विराजत राजकुमार सबै सुखदाई ।
देवन स्यौ जनु देव सभा सुभ सीय स्वयबर देखन आई ।।

(ग) प्रकृति-वर्णन (बन एवं सूर्योदय)—

तरु तालीस ताल तमाल हिंताल मनोहर ।
मंजुल बंजुल लकुच बकुल कर नारियर ।।
एला ललित लवंग संग पुङ्गफल सोहे ।
सारी शुककुल कलित चित कोकिल अलि मोहै ।।
शुकराज हस कल हंस कुल, नाचत मत्त मयूर वन ।
अति प्रफुल्लित फलित सदा रहै केशवदास विचित्र बन ।।

× × ×

अरुणगात अतिपात पद्मिनी प्राणनाथ भय ।
मानहु केशवदास कोकनद कोक प्रेममय ।।
परिपूरण सिंदूर पूर कैधौं मंगल घट ।
किधौं शक्र को छत्र मढ्यौ माणिक मयूख-पट ।।
कै श्रोणित कलित कपाल यह किल कापालिक काल को ।
यह ललित लाल कैधो लसत दिगभामिन के भाल को ।।

केशव ने प्रकृति का चित्रण उद्दीपन रूप मे, अलकृत शैली मे, वस्तु परिगणन शैली मे और बिम्ब-ग्रहण करने वाले दृश्य चित्रण के रूप मे किया है तथा उनके अलकार विधान मे भी प्राकृतिक उपादानो का ही ग्रहण विशेष हुआ है ।

रामचन्द्रिका मे सवादो की योजना विशेष मनोयोग से की गई है । उन्हें देखने से हमे कवि की बचनचातुरी, सभा-मर्यादा का ज्ञान एव कुशाग्रता का पता चलता है । इन सवादो से परिस्थितियों एवं चरित्रो का चित्रण भी अधिक सुन्दर बन पडा है । केशव की भाषा-प्रवीणता, व्यवहार-कौशल, प्रत्युत्पन्नमतित्व और सूक्ष्म-मनोविश्लेषण आदि गुण उनकी संवाद-योजना में एकत्र हो गए हैं । रामचन्द्रिका में प्रमुख सवाद हैं—सुमति-विमति सवाद, रावण-बाण संवाद, राम-परशुराम सवाद, राम-जानकी संवाद, राम-लक्ष्मण सवाद, सूर्पणखा-राम संवाद, सीता-रावण संवाद, सीता-हनुमान सवाद, और रावण-अगद संवाद ।

'बीर सिंह देव-चरित' (रचना काल सं० १६६४) की रचना सवाद के रूप मे हुई है । सवाद दान, लोभ और ओरछा की प्रसिद्ध विंध्यवासिनी देवी के बीच होता है । इस कृति मे केशव ने अपने आश्रयदाता का चरित्र ३३ प्रकाशों में वर्णित किया

है। प्रारम्भ में दान और लोभ का स्वात्मप्रतिष्ठामूलक विवाद है। फिर ओरछा नरेशों की वंशावली दी गई है। तदनन्तर सुप्रसिद्ध ओरछा नरेश महाराज मधुकरशाह के पुत्रो की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा एव अकबर की सेनाओ से बीरसिंह देव के अनेक युद्धो का वर्णन किया गया है। अत मे अकबर की मृत्यु पर जहाँगीर सिंहासनारूढ होते है तथा वे वीरसिंह देव को समस्त ओरछा राज्य का उत्तराधिकारी नियुक्त करते हैं। आगे चलकर महाराज बीरसिंह देव के भोग-बिलास, ऐश्वर्य, आमोद-प्रमोद एव दिनचर्या का वर्णन हुआ है। ग्रन्थ मे नगर, वाटिका, शयनागार, नख-शिख, चौगान आदि के विस्तृत वर्णन हैं तथा राजा के कर्तव्यो का भी शास्त्रानुसार निर्धारण किया गया है। यह ग्रन्थ वीर रस प्रधान है तथा इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस काव्य मे प्रबन्ध की धारा का सुन्दर प्रवाह देखने को मिलता है, रचना के उदाहरण स्वरूप मे एक छद यथेष्ट होगा—

> जुद्ध कौ बीर नरेस चढ़े धुनि दुंदुभि की दसहूँ दिसि छाई।
> प्रात चली चतुरंग चमू बरनी अब केशव क्यों हूँ न जाई॥
> जौं सब के तन मानिन ते झलकी अरुनोदय की अरुनाई।
> अंतर तैं जनु रंजन कौं रजपूतन की रज ऊपर आई॥

'रतन-बावनी' मे ओरछेश महाराज मधुकरशाह के पुत्र रतनसेन की असाधारण वीरता का वर्णन है। उसकी वीरता की प्रसंसा अकबर तक ने की थी। इस ग्रन्थ में वीरगाथा काल की अपभ्रंश रचनाओ की शैली का आश्रय लेकर बीर रस एवं उसके स्थायी भाव उत्साह की बडी ही सुन्दर व्यंजना को गई है। रतनसेन अल्पायु में ही अकबर की सेना से लडते-लडते बीर गति प्राप्त करता है। इस युद्ध और किशोर रतनसेन की मृत्यु का मूल कारण यह है कि एक एक बार महाराज मधुकरशाह अकबर के दरबार मे बहुत ऊंचा जामा पहन कर गए; अकबर द्वारा कारण पूछे जाने पर उन्होंने कहा—'मेरा देश काँटो का देश है।' उत्तर मे व्यग्य की गंध पाकर अकबर ने उनके देश को देखने की इच्छा प्रकट की। अकबरी सेना की इसी चढाई में रतनसेन की मृत्यु हुई।

> दीठि पीठि तन फेर पोठ तन इक्क न दिक्खिय।
> फिरहु फिरहु फिर फिरहु करत दल सकल उमग्गिय॥
> ठान-ठान निज शान मुरकि पाठान जु धाये।
> काढ़-काढ़ तरवार तरख ता छिन तठ आये॥
> इक इक्क घाउ घाल्लित सबन रतनसेन रनधीर कहँ।
> जनु ग्वाल बाल होरी हरषि खंदल छोर अहीर कहँ॥

'जहाँगीर जस चद्रिका' (स० १६६६) उद्यम और भाग्य के संवाद-रूप मे लिखी गई है। कौन बडा है, इस बात के निर्णय के लिये दोनो शिव जी के पास जाते हैं और शिवजी उन्हे जहाँगीर के पास आगरे भेज देते हैं। कवि ने आगरे का वर्णन किया है। शहर घूमते-घामते उद्यम और भाग्य जब जहाँगीर की राज सभा में पहुँचते हैं तब दोनों का स्वागत होता है परिचय के अनन्तर समस्या प्रस्तुत की जाती है और जहाँगीर दोनो को समान रूप से महत्वपूर्ण घोषित करते हैं। तदनन्तर सभी लोग जहाँगीर की प्रससा मे छंद पढते है और काव्य समाप्त होता है। यह काव्य साधारण स्तर का ही है। अपने आश्रयदाता बीरसिंह देव के हित मे ही उचित समझकर इस रचना मे केशव ने शाहंशाह जहाँगीर का यश वर्णित किया है—

'माहिन को साहि जहाँगीर साह जू को जश,
भूतल के आस-पास सागर हुलास है।
सागर में बड़ भाग वेष सेषनाग को सो,
सेष जू में सुख दानि विष्णु को निवासु है॥
विष्णु जू में भूरि भावभव के प्रभाव जैसो,
भव जू के भाव में विभूति को विलास है।
विभूति माँझि चन्द्रमा सो चंद्र में सुधा को अंसु,
अंसुन में सोहै चारू चन्द्रिका प्रकासु है॥

रीतिकाव्य—केशवदास जी कवि के साथ-साथ आचार्य रूप मे भी प्रसिद्ध है। वे विद्वानो की वंश परम्परा मे पैदा हुए थे तथा उन्होने प्रभूत परिमाण मे सस्कृत के विवध विषयक साहित्य का अध्ययन किया था तथा भाषा-काव्य की परम्परा एवं समृद्धि को ध्यान में रखते हुए भी इन्होंने 'भाषा' मे काव्य की रचना की। उन्होंने लक्ष्य ग्रन्थो की रचना के साथ-साथ लक्षण ग्रन्थो के प्रणयन की भी आवश्यकता का अनुभव करते हुए 'रसिकप्रिया' एवं 'कविप्रिया' ऐसे साहित्य शास्त्र के महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे। वे काव्य में अलंकार को प्रधान समझने वाले अलंकारवादी कवि थे :—

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुवरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिना न सोभई, कविता बनिता मित्त॥'

वे भामह और दण्डी की परम्परा के आचार्य थे। काव्य मे इसकी आवश्यकता स्वीकार करते हुए केशव ने रसरहित काव्य मे 'रसहीनता' के काव्यगत दोष स्वीकार किया है। रस विवेचन की दृष्टि से रसिक-प्रिया उनकी एक महत्वपूर्ण रचना है। इसमें उन्होंने नवरसों का कथन करके शृंगार को नायकत्व अथवा रसराजत्व प्रदान किया है।

श्रृंगार रस की महत्ता दिखलाकर वे ग्रथ के अत तक श्रृंगार का ही वर्णन करते चले जाते है। श्रृगार के सयोग एव विप्रलभ पक्ष, उनके प्रकाश और प्रच्छन्न भेद, आलबन के अन्तर्गत नायक-नायिका के विस्तृत भेदोपभेद, प्रिय-दर्शन के विविध रूप (स्वप्न, चित्र प्रत्यक्षादि), उद्दीपन विभाव (दम्पत्ति-चेष्टाएँ) अनुभाव (हाव, भाव, हेलादि), मान और मानमोचन के विस्तृत विवरण, नायिका की विभिन्न दशाएँ, उसकी दूतिकाओ आदि के वर्णनो एव रोचक उदाहरणो में ग्रथ लगभग समाप्त-सा हो जाता है। अन्त मे शेष सभी रसो का संक्षिप्त विवेचन किया गया है। केशव ने वीर, रौद्र, करुण, आदि अन्य सभी रसो का श्रृगार के ही अंतर्गत प्रतिपादन किया है। ग्रथ के अंत मे वृत्तियो एवं काव्य दोषो का भी सक्षिप्त विवेचन किया गया है। काव्य-सौदर्य की दृष्टि से भी यह रचना अत्यन्त श्रेष्ठ है। उदाहरण देखिये :—

'सौहैं दिवाय दिवाय सखी
इक बारक कानन आनि बसाये।
जानै को केशव कानन वे कित,
ह्वै हरि नैनन मांझ सिधाये॥
लाज के साज धरेई रहे तब,
नैनन लै मन ही सौ मिलाये।
कैसी करौं अब क्यौ निकसैं री
हरेई हरे हिय मे हरि आये॥'

'कविप्रिया' की रचना कवि ने नवीन काव्याभ्यासियो को कविकर्म की शिक्षा देने के उद्देश्य से प्रेरित होकर की। यह ग्रथ सस्कृत के अलकार शेखर, काव्य कल्पलता-वृत्ति, काव्यादर्श आदि ग्रंथो पर आधारित है किन्तु अनेक विषयो की मौलिक विवेचना भी इसमे लक्षित होती हैं। यह ग्रंथ १६ प्रभावो मे विभक्त है—पहले मे नृपबश वर्णन, दूसरे मे कविवशवर्णन, तीसरे मे काव्य-दोष निरूपण और चौथे मे कवि-भेद, कवि, रीति एव सोलह श्रृगारो का वर्णन किया गया है। केशव ने अलंकारो को अत्यंत व्यापक अर्थ मे स्वीकार किया था, वे अलंकार्य और अलंकार दोनो को ही 'अलंकार' के अतर्गत मानते थे। प्रथम को उन्होंने सामान्यालकार कहा है जिसका वर्णन पाँचवें से आठवे प्रभाव तक चला है। सामान्यालंकार के उन्होंने चार भेद किये हैं—

(१) वर्णालंकार (२) वर्ण्यालंकार (३) भूमि भूषण एवं (४) राज्यश्री भूषण। इस अलंकार के व्यापक निरूपण में आचार्य ने यह बतलाया है कि कवि-परम्परा क्या है और उसमें वर्णन करने का आदर्श रूप क्या है, वर्णन के कौन-कौन से

विषय हो सकते हैं और उन-उन विषयों के वर्णन मे किन-किन वस्तुओं का वर्णन हो सकता या किया जा सकता है । इस प्रकार यह पुस्तक कवि-शिक्षा की पुस्तक हो गई है और उसी ग्रन्थ के आधार पर वे काव्याचार्य के रूप मे हिन्दी जगत में मान्य हुए हैं । नवे प्रभाव से पन्द्रहवे प्रभाव तक इन अलकारो का वर्णन है, जिन्हे हम आज 'अलकार' नाम से पुकारते हैं, किन्तु इन्हे केशव ने 'विशिष्टालंकार' कहा है । सोलहवे प्रभाव मे चित्रालकार का वर्णन है । यह रचना केशव को काव्यशास्त्राचार्य के पद पर प्रतिष्ठित करने मे समर्थ हुई है यद्यपि उनका यह आचार्यत्व अपने प्रायोगिक रूप मे वस्तुतः रामचन्द्रिका मे अवतरित हुआ है । 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' बहुत दिनो तक भाषा कवियो का कठहार बनी रही ।

'नख शिख' वर्णन-रीति पर लिखी गई एक छोटी-सी कृति है जिसमें कवि की परंपरा विहित-रीति पर राधिका जी के नख से शिख तक प्रत्येक अग का वर्णन है। केशव ने दोहो मे एक-एक अग के लिये कवि परंपरागत उपमान निर्धारित किये हैं। तदनन्तर उन्ही उपमानो पर आधारित अंग विशेष का वर्णन कवित्तो मे किया गया है। यह ग्रन्थ भी केशव ने कवियो को नख-शिख वर्णन की शिक्षा देने के लिये ही तैयार किया था। काव्य की दृष्टि से यह ग्रथ प्रौढ़ और ऊँचे स्तर का है। एक ही उदाहरण से यह बात प्रमाणित हो जायगी । कपोल का वर्णन देखिये :—

गोरे गोरे गाल अति अमल अमोल तेरे,
ललित कपोल किधौं मैन के मुकुर हैं ।

दार्शनिक ग्रन्थ—केशव की विचारधारा को समझने मे उनके दो ग्रन्थ अत्यन्त सहायक सिद्ध होंगे—'रामचन्द्रिका' और 'विज्ञान गीता' । यो बीर सिंह देव चरित्र और कविप्रिया के औदाहरणिक भाग भी किसी सीमा तक उनके विचारो से हमे अवगत कराते हैं किन्तु उस दृष्टि से इन सभी ग्रन्थो मे 'विज्ञानगीता' का महत्व विशेष है । विज्ञान गीता (रचना काल स० १६६७) महाराज बीरसिंह देव की प्रेरणा से लिखी गई थी । इस ग्रंथ मे २१ प्रभाव हैं—प्रथम बारह प्रभावो मे विवेक और महामोह के युद्ध का वर्णन है तथा शेष प्रभावो मे शिखीध्वज, प्रह्लाद, तथा राजा बलि का चरित्र बतलाते हुए ज्ञान की बाते कही गई हैं । यह ग्रन्थ एक रूपक है । महामोह और विवेक नामक दो नरेश है, महामोह की रानी है मिथ्या दृष्टि; दासियाँ हैं दुराशा, तृष्णा, निंदा, चिन्ता आदि, दलपति और हितैषी हैं काम-क्रोध, योद्धा हैं आलस्य और रोग तथा दूत हैं छल और कपट । उधर विवेक नायक राजा की पटरानी हैं बुद्धि तथा श्रद्धा, करुणा आदि अन्य रानियाँ हैं, कुटुम्बी हैं शील, सतोष, शम, दम आदि; मंत्री और सभासद हैं विजय, सतसंग और राजधर्म तथा दूत हैं धैर्य । विवेक काशी का राजा है जिसको विजित करने के लिये महामोह उस पर आक्रमण करता है । महामोह के छल-कपट नामक दूत पहले से ही पहुँच कर काशी की प्रजा

को भडका देते है, किन्तु अत मे चतुर्दिक विजयी महामोह विवेक के हाथ परास्त होता है। इस ग्रन्थ मे दार्शनिक विषयो (ब्रह्म, जीव-मुक्तबद्ध और विदेह, सृष्टि, उसकी अनित्यता और दुखपूर्णता, मोक्ष, सत्सग, सम, सतोष, विचार, प्राणायाम, सन्यास, राम भावना आदि) के साथ-साथ सामाजिक विषयो, नारी-धर्म तथा राजनीति आदि पर भी विचार प्रकट किये हैं। विश्लेषित विषयो को काव्य की सरसता और नाटकीय मनोरंजकता के अभिनिवेश द्वारा हृदयग्राही बनाने का प्रयत्न किया गया है। यह ग्रन्थ सस्कृत के 'योग-बाशिष्ठ' और 'प्रबोध-चन्द्रोदय' से प्रभावित है।

इस प्रकार केशव का बहुविध काव्य अपनी भावगत रमणीयता, कलात्मक उत्कर्ष और विचारगत गभीरता के कारण हिन्दी साहित्य का गौरव है

मतिराम

मतिराम सहज, स्वच्छ और अनलकृत काव्य-रचना का आदर्श लेकर चलने वाले कवि के रूप मे प्रसिद्ध है। ये कवित्व की बारीकियो, असगत या दूरारूढ कल्पनाओ के फेर मे नही पडे इसीलिए ये केशव अथवा बिहारी के समान अतिशय ख्याति तो न प्राप्त कर सके फिर भी अपने युग मे तथा बाद भी सुकवि के रूप मे उनकी कीर्ति बनी रही। स्वय रीतियुगीन परवर्ती कृतिकारो ने श्रेष्ठ एव सम्मान्य कवियो मे उनकी गणना की है। मतिराम के जीवन-वृत्त के सबध मे कितनी ही अनसुलझी समस्याएँ रह गई थी जिन पर आधुनिक शोधकर्ताओ ने पर्याप्त विचार किया है[1] जैसे मतिराम और बिहारी का सम्बन्ध, मतिराम, भूषण, चिन्तामणि और नीलकठ का सहोदर होना, मतिराम का वश-गोत्र आदि, उनका जन्म-स्थान, उनके आश्रयदाता, उनके ग्रन्थो की प्रामाणिकता आदि। मतिराम के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थो मे निम्नलिखित ६ ग्रन्थो को प्रामाणिक रूप से उन्ही की रचना बतलाया गया है—१. फूलमजरी (रचना काल स० १६७८ के लगभग), २. रसराज (स० १६९०-१७००), ३. ललित ललाम (स० १७१८-१७२१), ४. मतिराम सतसई (स० १७३८-१७४०), ५. अलकार पचाशिका (स० १७४७), ६. वृत्त कौमुदी (स० १७५८)। स० १६८० से १६९० के बीच इन्होंने कदाचित दो ग्रन्थ और लिखे थे 'साहित्य सार' और 'लक्षण श्रृङ्गार' जो आज प्राप्त नही है। इसके अतिरिक्त भी विभिन्न राज दरबारो मे लिखे गए इनके कुछ स्फुट छंद हो सकते है।

मतिराम का रीति-शास्त्र

फूलमंजरी—फूलमंजरी मतिराम की सर्व प्रथम रचना कही गई है जिसमें किशोर वय सुलभ भावों एवं भाषा के अप्रौढ़ रूप के दर्शन होते हैं। ६० दोहो मे यह

[1] मतिराम-कवि और आचार्य : डा० महेन्द्रकुमार

रचना समाप्त हुई है। इसके प्रणयन का कारण सम्राट जहाँगीर की आज्ञा बताई गई है। साठवाँ दोहा इस प्रकार है—

हुकुम पाय जहाँगीर को नगर आगरे धाम।
फूलन की माला करी मति सों कवि मतिराम ।।

शेष ५९ दोहो मे देश-विदेश के ५९ फूलो का वर्णन हुआ है। जहाँगीर द्वारा आगरे मे लगाए गए 'गुल-ए-आफशा' नामक शाही उद्यान के विभिन्न पुष्पो का ही वर्णन कदाचित इस ग्रन्थ मे हुआ है। सं० १६ ६ के आस-पास मतिराम ने इस ग्रन्थ की रचना कर सम्राट जहाँगीर की कृपापात्रता प्राप्त की। रचनारभ मे किसी प्रकार का मगलाचरण नही है तथा कृति के अतिम दोहे से ही उसके मतिराम कृत होने का पता चलता है। पुष्पो का ही वर्णन होने के कारण रचना का नाम फूलमजरी रक्खा गया है परन्तु पुष्प वर्णन प्रायः प्रणय सदर्भ लिये हुए है जैसे—

(क) कमल नयन लीने कमल कमलमुखी के ठाइँ।
तन न्यौछावरि राज की यहि आवत बलि जाउ ।।

(ख) फूल चमेली को सरस चौसर लीये हाथ।
सरस चाँदनी आज की मेरे रहिये नाथ ।।

(ग) निसि कारा भारी हुती तरसत मेरो जीव।
फूल निवारी को सरस वारी तुम पर पीव ।।

स्पष्टतः तो नही किन्तु परोक्ष रूप मे अवश्य यह भेद नायिका भेद की सरणि को अपनाए हुए है। स्वकीया-प्रेमपरक उक्तियो का इसमे बाहुल्य है और किशोरवय की हृद्गत उमगे ही इसमे विशेष रूप से चित्रित हुई है। प्रणय, कलह, पश्चाताप, विनोद आदि की रसमयी झाँकियाँ और गार्हस्थिक वातावरण के बीच कुछ दाम्पत्य भावना का सुन्दर निदर्शन इस कृति मे हुआ है :—

क) माया गर्ब कोउ जनि करो कहिये की बात सुहात।
कंत कटेरी फूल है पलक माँहि फिर जात ।।

(ख) आकसपेचा माल गुहि पहिराई मो ग्रीव।
हूं निहाल बालमा करी दासी जानिक जीव ।।

अलंकार पंचाशिका—'अलंकार पचाशिका' नामक ग्रन्थ की रचना मतिराम ने स० १७४७ मे कुमायूँ के राजा उद्योतचद्र के पुत्र ज्ञानचद्र के लिए की—

सवत सत्रह सै जहाँ सैंतालिस नभ मास।
अलकार पंचासिका पूरन भयो प्रकास ।।
महाराज उद्योतचन्द जू भयो धरम को धाम।
तपत धरन परपक्ष सम चहूँ चक्क परनाम ।।
तिनके राजकुमार वर ज्ञानचन्द कुलचन्द।
कुवलै कोविद कविन को बरषै सुधा अनन्द ।।

कवि ने किसी या किन्ही संस्कृत ग्रन्थो के आधार पर उदाहरण क्रम मे अलकार पंचाशिका' की रचना की है—

संस्कृत को अर्थ लै भाषा सुद्ध विचार।
उदाहरन क्रम ।ए किए लीनौ सुकवि सुधार॥

इस सक्षिप्त कृति में केवल ५० अलकारो का ही लेखा-जोखा है क्योकि यह ग्रन्थ लक्षण क्रम से न लिखा जाकर सभवतः उदाहरण क्रम से लिखा गया है जैसा कि उपर्युक्त दोहे से भी विदित होता है। राजकुमार ज्ञान चद से सम्बन्धित जितने कवित्त तैयार किये थे उन्ही के क्रम से उनमे आए अलकारो के लक्षण भी किसी सस्कृत ग्रन्थ से ले लिए और एक अलकार ग्रन्थ और तैयार कर दिया। अलंकार ग्रन्थ लिखने की तो प्रथा ही थी राजकुमार के प्रति अपना आदर-सम्मान भी इसी बहाने गाढे रूप में दिखाने का अवसर मिल गया। इस प्रवृत्ति से भी इतना तो स्पष्ट ही है कि मतिराम सरीखे कर्ता प्रमुखतः कवि ही थे आचार्य नही। कवित्व ही उनका लक्ष्य था आचार्य कर्म नही। अलकार पचाशिका उनकी वृद्धावस्था की रचना है तारुण्य काव्य की नही। इसमें शृङ्गारी छदों का पूर्ण अभाव भी उक्त तथ्य का ही एक प्रबल प्रमाण कहा जा सकता है।

अलंकार पंचाशिका में वैसे तो ५० अलकारो का ब्यौरा मिलना चाहिए किन्तु उसमे ४० अलंकारों का ही वर्णन मिलता है। वर्णित अलंकारों का क्रम भी कुछ सगत नही है, कोई अलंकार कही आ गया है तो कोई कही। उदाहरण के लिए उपमा आदि मे तो रूपक बीच मे और उत्प्रेक्षा अत मे। ग्रन्थ मे कुल ११६ छंद हैं जिनमे से प्रथम १० छंद आश्रयदाता एव कवि निवेदन से सम्बन्धित हैं तथा अंतिम छंद रचनाकाल का सूचक है। शेष १०५ छदो मे अलकार निरूपण हुआ है। ग्रन्थ में दोहा, कवित्त और सवैया छदो का व्यवहार हुआ है। ग्रन्थ मे अलंकार निरूपण सबधिनी सामान्य बातो का भी ठीक से विवेचन नही किया गया है हाँ ज्ञानचंद के गुणों की प्रशस्ति जरूर पूरी तरह की गई है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि इस कृति की रचना करते हुए अलकार विवेचन कवि का लक्ष्य नही था वरन अलंकार ग्रन्थों की प्रणयन परम्परा का निर्वाहमात्र कवि की दृष्टि मे था, उसका मूल लक्ष्य आश्रयदाता का प्रशस्ति गायन ही रहा। आश्रयदाता ज्ञानचंद की वीरता आदि का वर्णन कवि ने पूरे आवेश के साथ किया है और स्थायी भाव उत्साह की जगह-जगह अच्छी व्यंजना हुई है। अलंकार पंचाशिका और ललित ललाम नामक अलंकार ग्रन्थो के कर्ता मतिराम एक ही हैं इस संबध में विद्वानों में मतभेद है।

छंदसार संग्रह या वृत्त कौमुदी—छंदसार संग्रह जिसका दूसरा नाम वृत्त कौमुदी भी है मतिराम रचित पिगल ग्रन्थ कहा गया है। इसे भी कुछ विद्वान शृंगार-काल के प्रसिद्ध कवि 'रसराज' और 'ललितललाम' के रचयिता मतिराम की वृति

नही मानते जब कि मतिराम पर शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करने वाले डा० महेन्द्रकुमार ने इस भी 'अलकार पचाशिका' के ही समान रससिद्ध प्रसिद्ध कवि मतिराम की ही कृति स्वीकार किया है। 'अलकार पचाशिका' के ही समान 'छदसार सग्रह' का भी शुद्ध और प्रामाणिक पाठ नही मिलता। 'छदसार सग्रह' का रचना सं० १७५८ मे हुई जैसा कि कवि ने स्वय लिखा है—

सवत् सत्रह सौ बरस, अट्ठावन सुभ साल।
कातिक शुक्ल त्रियोदसी, करि विचार तिहि काल॥ (पंचमप्रकाश)

परपरा से भी यह बात प्रसिद्ध रही है कि मतिराम ने एक पिगल ग्रन्थ लिखा। मतिराम विरचित छद सम्बन्धी ग्रन्थ का नाम शिवसिंह सेगर और मिश्र बन्धुओ ने 'छदसागर पिगल' दिया है परन्तु यह मतिराम रचित पिगल ग्रन्थ का प्रामाणिक नाम नही। उसका प्रामाणिक नाम 'छदसार सग्रह' ही है जैसा कि कवि के अधोलिखित कथन से सिद्ध है

छंदसार संग्रह रच्यौ, सकल ग्रंथ मति देखि।
बालक कविता सीघ को, भाषा सरल विशेषि॥

ग्रन्थ का नाम 'छदसार सग्रह' होने का सगत कारण भी है और वह यह कि कवि ने सस्कृत और प्राकृत के कई पिंगल ग्रन्थो से सामग्री संकलित कर उनका सार अपने ग्रन्थ मे सग्रहीत कर दिया है। यह तथ्य ऊपर के दोहे से भी ध्वनित होता है। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम 'वृत्त कौमुदी' इस बात से प्रमाणित होता है कि इसके अध्यायों के नाम 'प्रकाश' हैं और उनके अत मे 'वृत्त कौमुदी' शब्द का व्यवहार ही बराबर किया गया है।

इस ग्रन्थ मे पाँच प्रकाश हैं। प्रथम प्रकाश मे पहले गणेश और सरस्वती की वदना की गई है फिर आश्रयदाता स्वरूप सिंह बुदेला की दानशीलता का वर्णन है फिर ग्रन्थारंभ प्रसङ्ग वर्णित है। इसी प्रकाश मे वर्णिक गणो तथा उनके स्वरूप, क्रम, देवता, फल, गुण, रस, रग, देश आदि का वर्णन है। इसके बाद मात्रिक गणों की चर्चा है। द्वितीय प्रकाश में १ से लेकर २६ वर्णों तक के १ ७ सम वर्णिग छदों का वर्णन है तृतीय प्रकाश मे ' मात्रा से ३२ मात्रा तक के सममात्रिक छंदो का वर्णन तथा इसके बाद अर्धसम और विषम छदो का विवरण है। इसमे ३५ समछंद और २० अर्धसम और विषम छंद है। चतुर्थ प्रकाश मे प्रत्यय वर्णन है तथा वर्ग और मात्रा के अनुसार प्रत्यय के सभी भेदो (प्रत्यय, प्रस्तार, पताका आदि) का विवेचन है। पचम प्रकाश मे वर्णिक दंडक छंदो का वर्णन है (अभगशेखर, घनाक्षरी और रूप घनाक्षरी) तथा अंत मे कवि ने अपना वंश परिचय दिया है।

भट्ट केदार कृत वृत्त रत्नाकर, हेमचंद्रकृत छदानुशासन और प्राकृत पैंगलम के आधार पर यह ग्रन्थ लिखा कहा गया है। कवि ने अन्य ग्रन्थो का सार संग्रहीत करने की बात स्वयं भी स्वीकार की है इसलिए विशेष मौलिकता की अपेक्षा इस कृति से

नही की जा सकती फिर भी भाषा के पिंगल ग्रन्थो में इस ग्रन्थ का स्थान सम्माननीय रहा है। लक्षण स्पष्ट और सुबोध है और उदाहरण सरस है। अपवाद स्वरूप कतिपय छन्दो का निरूपण सदोष है फिर भी कृति की उपयोगिता और उसका महत्व असदिग्ध है।

रसराज : रस और नायिका भेद विवेचन—'रसराज' शृङ्गाररस निरूपण तथा नायिका भेद विवेचन का अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है और समूचे रीति युग मे सरस उदाहरणो की बहुलता के कारण यह ग्रथ अत्यधिक प्रसिद्ध रहा है। मतिराम के अलङ्कार ग्रथ 'ललित ललाम' की भी इसी कारण विशेष धूम रही है। ये ग्रंथ भावो की सुकुमारता तथा काव्य लालित्य के कारण काव्य रसिको के कठहार रहे है। इस सम्बन्ध मे आचार्य रामचद्र शुक्ल ने लिखा है कि 'रस और अलंकार की शिक्षा मे इनका उपयोग बराबर होता चला आया है। वास्तव मे अपने विषय के ये अनुपम ग्रन्थ है। उदाहरणो की रमणीयता से अनायास रसो और अलंकारों का अभ्यास होता चलता है। रसराज का तो कहना ही क्या है। ललित ललाम मे भी अलंकारो के उदाहरण बहुत सरस और स्पष्ट है। इसी सरसता और स्पष्टता के कारण ये दोनों ग्रंथ इतने सर्वप्रिय रहे हैं। रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों मे पद्माकर को छोड़ और किसी कवि मे मतिराम की-सी चलती भाषा और सरल व्यंजना नहीं मिलती।'

'रसराज' मे समस्त रसो का वर्णन न होकर केवल शृङ्गार रस ही वर्णित हुआ है। शृङ्गार समस्त रसो का राजा मान्य रहा है इसी कारण ग्रन्थ का नाम ही कवि ने 'रसराज' रख दिया है। कवि की दृष्टि इतनी शृगारपरक रही है कि उसने अन्य रसो का सर्वथा त्याग कर दिया है। कवि ने ग्रन्थारम्भ मे गणेश की वंदना की है फिर नायिका नायक वर्णन के माध्यम से उसने राधारमण की लीला का वर्णन और उसका यशोगान करना भी अपने मतव्य रूप मे स्वीकार किया है—

बरनि नायका नायकनि, रच्यो ग्रंथ मतिराम।
लीला राधा रमन की सुदर जस अभिराम॥

शृङ्गार को नायिका-नायक पर आलबित मानकर पहले कवि ने नायिका-नायक का ही वर्णन किया है। पद्माकर ने भी जगद्विनोद का आरम्भ नायिका वर्णन से ही किया है। नायिका का स्वरूप निदर्शन करते हुए कवि उसके भेद-प्रभेद-वर्णन मे प्रवृत्त हुआ है जो इस प्रकार है :—

(१) स्वकीया, (२) परकीया, (३) गणिका। स्वकीया—मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा। मुग्धा—अज्ञात यौवना, ज्ञात यौवना, नवोढा, विश्रब्ध नवोढा। मध्या—धीरा, अधीरा, धीराधीरा। प्रौढा—धीरा, अधीरा, धीराधीरा। ज्येष्ठा, कनिष्ठा। परकीया—ऊढा,

अनूढा। गुप्ता, विदग्धा—वचन विदग्धा, क्रिया विदग्धा—लक्षिता, कुलटा, मुदिता, अनुशयना—पहली, दूसरी, तीसरी। गणिका। अन्य संभोग दुःखिता, प्रेमगर्विता, रूपगर्विता, मानवती। दशनायिका वर्णन—प्रोषित पतिका, खडिता, कलहातरिता, विप्रलब्धा, उत्कठिता, वासक सज्जा, स्वाधीन पतिका, अभिसारिका, प्रवत्स्यत्प्रेयसी, आगतपतिका तथा इनमे से प्रत्येक के पाँच-पाँच भेद (मुग्धा, मध्या, प्रौढा, परकीया और सामान्या या गणिका) तथा अभिसारिका के परकीया के अंतर्गत कृष्णाभिसारिका, चन्द्राभिसारिका और दिवाभिसारिका। अत मे नायिका के ३ अन्य भेदो उत्तमा, मध्यमा और अधमा का लक्षणोदाहरण देकर नायक भेद की ओर उन्मुख हुआ है। नायक के तीन भेद पति, उपपति और वैशिक"। पति चार प्रकार के—अनुकूल, दक्षिण, शठ, धृष्ट। नायक के ३ और प्रकार—मानी, वचन चतुर और क्रिया चतुर। प्रोषित नायक का भी एक भेद मतिराम ने किया है। दर्शन भेद मे प्रेमारम्भ के चार भेद बताए गए है—श्रवण दर्शन, स्वप्न दर्शन, चित्र दर्शन और साक्षात दर्शन।

इस प्रकार शृगार के आलबनो का इनके भेद प्रभेदो का लक्षणोदाहरण प्रस्तुत कर चुकने के उपरान्त मतिराम उद्दीपनो के विवरण मे प्रस्तुत हुए हैं। उद्दीपन मे सहायक होते है प्राकृतिक उपकरण 'चंद, कमल, चंदन, अगर, ऋतु, बन, बाग-विहार' आदि तथा सखी और दूतियाँ। सखी के काम हैं मंडन (शृंगार करना), शिक्षा करण, उपालभ और परिहास। दूतियाँ ३ प्रकार की कही गई हैं—उत्तमा, मध्यमा और अधमा।

इसके बाद अनुभावो का वर्णन है जिसके अन्तर्गत ६ प्रकार के—स्तम्भ, स्वेद, रोमाच, स्वरभग, कंप, वैवर्ण्य, अश्रु, प्रलय और जृम्भा—सात्विक भावो का भी विस्तार दिया गया है। इसके पश्चात् शृ गार तथा उसके संयोग और वियोग दो भेदों का कथन हुआ है। सयोग शृगार के अन्तर्गत व्यक्त होने वाले भावो अथवा १० हावो—लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किल किंचित, मोट्टाइत, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित, विहित—का वर्णन हुआ है। वियोग शृ गार के तीन भेदो—पूर्वानुराग, मान (लघु, मध्यम, गुरु) और प्रवास तथा प्रवासजन्य वियोग की नौ काम दशाओ (अभिलाष, चिता, स्मृति, गुण वर्णन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता) का वर्णन किया है। इस प्रकार नायिका भेद एवं शृ गार रस निरूपण सम्बन्धी यह ग्रथ सम्पूर्ण होता है। रसिको को आनन्द देना ही इस ग्रन्थ का उद्देश्य है—

समुझि समुझि सब रीझि है सज्जन सुकवि समाज।
रसिकन के रस को कियौ नमो ग्रंथ रसराज॥

'रसराज' मे कृति का रचना काल कही नही दिया गया है फलतः इसके रचना काल के सम्बन्ध मे मतभेद है। मिश्र बन्धुओं ने सं० १७६७ में इसकी रचना

होने का अनुमान किया है जबकि याज्ञिक महोदयो ने सं० १७००। इधर के विद्वान सं० १७०० के आस-पास ही इसकी रचना होना स्वीकार करते है। यह ग्रन्थ ललित ललाम से पहले लिखा गया था क्योंकि इसके अनेक उदाहरण ललित ललाम मे भी ले लिए गए हैं। कहा जा सकता है कि ये उदाहरण ललित ललाम से लेकर रसराज मे ही न कही रख दिये गए हो परन्तु इसकी सम्भावना कम ही है क्योकि ललित ललाम अलंकार का ग्रंथ है तथा उसमे रक्खे गए उदाहरण अलकारों के उतने सच्चे उदाहरण नही जितने नायिका भेद अथवा किसी रस प्रसग के। यह ग्रथ कुल ४२७ छदो मे सम्पन्न हुआ है जिसमे कवित्त और सवैयो की अपेक्षा दोहों का आधिक्य है (२७५ दोहे हैं) ग्रन्थकार, उसके आश्रयदाता आदि का कोई भी विवरण इसमे नही दिया गया है। बिना शृंगार की 'रसराजकता' प्रमाणित किये ही कवि शृगार के आलंबनों नायिका-नायक के वर्णन से ही ग्रंथारम्भ कर चलता है। आधी पोथी तो नायिका वर्णन का ही विस्तार है। भानुदत्त की रस मंजरी से ही यह विवेचना शैली गृहीत हुई है तथा इसके लक्षण उसी पर आधारित है परन्तु उदाहरण उनके अपने हैं नितात सरस मौलिक और रमणीय। लक्षणोपयुक्त सुन्दर सरस उदाहरण प्रस्तुत करने मे रीति के अध्येताओ ने मतिराम को श्रेष्ठतम रीति ग्रन्थकारो मे परिगणित किया है हाँ लक्षण रचना मे उनकी कोई मौलिकता या विशिष्ट देन नही है इसीसे आचार्य के रूप में इनका पल्ला हल्का ही माना गया है। इनकी अपेक्षा इनके भाई चिंतामणि बडे आचार्य थे, उनकी दृष्टि अधिक आचार्यत्व लिए हुए थी, इनमे कवित्व शक्ति का स्फुरण विशेष है। नायिका भेद निरूपण मे रसमंजरी का आधार लेते हुए इन्होंने नायिकाओ के वर्णन में तो सरस उदाहरणो की सुन्दर राशि खडी कर दी है जिनसे उनके सरस हृदय और उत्कृष्ट कवित्व-शक्ति का पूरा-पूरा पता चलता है। सुन्दर रमणीय संयत और सुकुमार भावो के एक से एक मनोहर चित्र 'रसराज' मे देखे जा सकते हैं। 'रस सिद्ध' रचना की दृष्टि से मतिराम कृत 'रसराज' रीतियुग के उत्तमोत्तम ग्रन्थो मे परिगणित किया जायगा।

ललित ललाम : अलंकार विवेचन—अपने आश्रयदाता बूंदी नरेश महाराज भावसिंह को प्रसन्न करने के लिए मतिराम ने 'ललित ललाम' नामक अलंकार ग्रन्थ लिखा—

> भावसिंह की रीझ कौं कविता भूषन धाम।
> ग्रंथ सुकवि मतिराम यह कीनौं ललित ललाम।।

ग्रन्थ में तो इसका रचना काल दिया नही गया है परन्तु विभिन्न आधारो पर इसका कृतिकाल सं० १७२० के आस-पास ठहरता है। यह ग्रंथ अलंकार का ग्रन्थ है जिसमें कुल ४०१ छंद हैं। लक्षण दोहो में तथा उदाहरण कवित्त और सवैयों मे लिखे गए हैं वैसे अनेक दोहे भी उदाहरण रूप में रक्खे गए हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ के ५ छन्दों में

गणेश एव कृष्ण की वन्दना है फिर १७ दोहों मे बूँदी वर्णन है फिर १६ छन्दो मे आश्रयदाता भावसिंह के वश का वर्णन है। अलकार निरूपण से पूर्व अलकार ग्रन्थ की रचना का कारण दिया गया है जो ऊपर के दोहे से व्यक्त हो रहा है। अलंकार ग्रन्थ की समाप्ति पर नृप भावसिंह को आशीर्वाद दिया गया।

अलंकार ग्रन्थ का नाम 'ललित ललाम' रखना कवि की अनोखी सूझ-बूझ का परिचायक है। यो तो 'ललित' और 'ललाम' दोनो ही शब्द एकार्थक अथवा सौन्दर्य-वाची हैं परन्तु मतिराम ने इन्हे एक विशेष अर्थ मे प्रयुक्त किया है ऐसा जान पडता है—ललित शब्द विशेषण है और ललाम विशेष्य। ललाम शब्द अलकार के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। इस ग्रन्थ मे केवल अर्थालंकारो का ही विवेचन हुआ है। ललित शब्द उन्ही के लिए विशेषण होकर आया है। मतिराम को संभवतः अभिनव शब्द विधान का शौक था, इसलिए भी अपने अलंकार ग्रन्थ का उन्होने ऐसा नया सा नाम रख दिया था। अप्पय दीक्षित के साक्ष्य से ललित शब्द 'सुकुमारोपयोगी' अर्थ रखता है, उन्होंने अपने लक्ष्य-लक्षण-सग्रह को ललित ही कहा है—ललितः क्रियते तेषां लक्ष्य-लक्षण सग्रहः (कुवलयानद)। इस प्रकार 'ललित-ललाम' का अर्थ सुकुमार बुद्धि के काव्य-पाठको अथवा काव्याभ्यासियों के लिए लिखित अलकार ग्रंथ भी माना जा सकता है।

मतिराम का अलंकार ग्रथ ललित-ललाम भी रसराज के ही समान अपने सरस औदाहरणिक अंश के लिए ही विशेष रूप से द्रष्टव्य है, उन्ही में मतिराम का वास्तविक स्वरूप मिलता है लक्षण कथन तो साधारण चलते ढंग का ही है। मतिराम के निजी काव्यादर्शों पर न तो रसराज से ही विशेष प्रकाश पडता है और न ललित-ललाम से ही। ललित ललाम मे १०० अलंकारो और उनके भेदो का निरूपण हुआ है। निरूपित अलकार अर्थालंकार ही हैं, शब्दालकार नही। उनका चित्र अलंकार ही कहा जा सकता है। उसका विवरण ठीक नही है। अन्य शब्दालकारों की अवहेलना कर इन्होंने परोक्ष रूप मे यह तो सूचित कर ही दिया है कि इनकी दृष्टि मे शब्दालंकार विशेष महत्वपूर्ण नही। शब्दालंकारो का निरूपण न करने का एक और भी कारण है। इनके उपजीव्य ग्रंथ 'कुवलयानंद' मे भी शब्दालकारो का निरूपण नही है, इसी कारण इन्होने भी उन्हे छोड दिया है हालाँ कि यह बात ठीक नही हुई है। मतिराम पर अप्पय दीक्षित के कुवलयानन्द का इतना अधिक प्रभाव है कि इनके लक्षण उनके लक्षणो के अनुवाद मात्र ही कहे जा सकते हैं। अलकार निरूपण मे इन्होंने कुछ सहारा अपनी बुद्धि का भी लिया है तथा कुछ अन्य संस्कृत के आचार्यों के ग्रंथो का भी जैसे चद्रालोक, काव्य प्रकाश, साहित्यदर्पण आदि। फिर भी मतिराम के अलंकार विवेचन का क्रम कुवलयानंद के ही अनुसार है। कुछ अलकारो के तो इन्होंने नाम ही बदल दिये हैं जैसे छलापन्हुति (कैतवापन्हुति), गुप्तोत्प्रेक्षा (प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा), परस्पर (अन्योन्य), हेतुमाला (कारणमाला) आदि। मतिराम ने भाषा-

भूषण के ही समान दोहे के आधे भाग मे ही लक्षण दे दिया है । शेष आधे मे अलंकार एव कवि का नाम दिया है । लक्षणो को स्पष्ट और पूर्ण बनाने की ओर उनका ध्यान विशेष न था, अनेक लक्षण गलत भी है जैसे अप्रस्तुत प्रशसा का लक्षण । उदाहरण सरस, मधुर और सुन्दर होते हुए भी सर्वत्र सटीक ही है ऐसा नही कहा जा सकता । हाँ, वे स्वतत्र रूप में अवश्य अतिशय महत्वपूर्ण है । इससे स्पष्ट है कि रीतिकर्म अथवा आचार्यत्व इनका लक्ष्य न था, ये वस्तुतः कवि थे । आचार्य कर्म इन्होने परम्परा निर्वाह भर के लिए किया था । सस्कृत के जिन ग्रन्थो का सहारा इन्होने लिया उनका भी पूर्ण उपयोग इन्होने नही किया । पूर्ववर्ती हिन्दी अलकार ग्रन्थो का भी इन्होने अवलोकन किया होगा । भूषण और मतिराम के अलकार ग्रन्थो 'शिवराजभूषण' और 'ललितललाम' मे लक्षणो का विशेष रूप से सादृश्य मिलता कहा गया है और इस आधार पर इन दोनो के भाई होने की बात तक प्रमाणित की गई है (और कहा गया है कि ये तिकवाँपुर, जिला कानपुर, निवासी कश्यपगोत्रीय ब्राह्मण थे) । समग्र रूप से यही कहा जायगा कि ललित ललाम अलकार निरूपण का एक साधारण ग्रथ है जिसकी उपयोगिता सरस कवित्तो की दृष्टि से अधिक है । रीति निरूपण की दृष्टि से उतनी नही । यह ग्रथ कवि मतिराम को हिन्दी रीति के श्रेष्ठतम आचार्यों की श्रेणी मे बिठाने वाला नही ।

मतिराम का काव्य

रसराज—मतिराम की 'कविताई' के सम्बन्ध मे सप्रति सक्षेप मे ही कुछ कहना अभिप्रेत है । काव्य के मूल तत्व रस की प्रतिष्ठा की दृष्टि मे मतिराम कृत 'रसराज' ग्रन्थ की उपयोगिता और महत्ता स्वतः सिद्ध है । रसराज मे मतिराम ने शृङ्गार के आलकरो की ही चर्चा की है—नायक, दूती, नायिका आदि को लेकर उनके कार्यों और भेदों के विवेचन रूप मे बहुत सारे छन्द प्रस्तुत किये है । सामान्यतः सरल और स्पष्ट काव्य की रचना करते हुए भी इनके छन्दो मे रीतिबद्ध पद्माकर अथवा रीति मुक्त ठाकुर के कवित्त सवैयों जैसा आकर्षण नही आ पाया है । एक प्रकार की एकतानता (Monotony) से मतिराम कृत 'रसराज' के छन्द ग्रस्त है । कवित्व-परीक्षा की दृष्टि से दोहों को छोडा जा सकता है केवल कवित्त सवैयो को ही ले लीजिये, 'रसराज' ग्रन्थ को देखने से लगता है कि मतिराम ने अपनी कवित्व शक्ति का ठीक प्रयोग नही किया । अच्छी रचना शक्ति पाकर भी लक्षणोदाहरण लिखने मे अपनी शक्ति का जो उपयोग उन्होंने किया वह कुछ बहुत सराहनीय नही कहा जायगा । स्वतन्त्र कवित्वशक्ति के विकास मे यदि वह सामर्थ्य नियोजित हुई होती तो कहीं अच्छा था । अनिवार्य रूप से विविध नायिकाओं का चित्र प्रस्तुत करने में जो शक्ति खर्च हुई है वही यदि स्वच्छन्द पद्धति पर चल कर काव्य-रचना में प्रयुक्त हुई होती तो मतिराम के कवि रूप की आभा कुछ और ही होती । किन्हीं बँधे-बँधाए

साँचो मे उनके कवित्व की मृत्तिका ढाल भर दी गई है। लगता है जैसे कवि को उसमे अपने व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित करने का अवसर नही मिलने पाया है। एक के बाद एक नायिका भेद के छन्द पढते चले जाइये, स्वतन्त्र चेतना और जीवन शक्ति कही दिखाई ही नही देती। शास्त्रोक्त छवियाँ अकित करने मे ही कवि-कर्म का साफल्य मान कर कवि आँख मूँद कर एक निर्धारित ढर्रे पर चलता चला गया है। इसीलिए रस-राज के छन्द हर्षोत्तेजक कम एकतान और एक रस अधिक हो गए हैं जिससे अपेक्षित सरसता का सचार गोचर नही होता। मनोभावो का चित्रण भी दबा-दबा सा और बंधा-बंधा सा हुआ है। रसराज मे विद्यमान काव्य वैभव के निदर्शन की दृष्टि से कतिपय उदाहरणो को लिया जा सकता है। पहले शृङ्गार के नायक और नायिका के रूप सौदर्य को ही देखिये—

मोरपखा 'मतिराम' किरीट मैं कठ बनी बनमाल सुहाई।
मोहन की मुसकानि मनोहर, कुंडल डोलनि मैं छबि छाई॥
लोचन लोल बिसाल बिलोकनि को न बिलोकि भयौं बस माई।
वा मुख की मधुराई कहा कहौं, मीठी लगै अँखियान लुनाई॥

———

कुंदन को रंग फीको लगै, झलकै अति अंगन चारु गुराई।
आँखिन मैं अलसानि चितौन मैं मंजु बिलासन की सरसाई॥
को बिन मोल बिकात नही, 'मतिराम' लहै मुसकानि मिठाई।
ज्यों ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि त्यों त्यो खरी निखरै सी निकाई॥

नायिका के अल्पवय, वयः सधि, उसका चोर मिहीचनी खेलना, उसका नवोढ़ा रूप आदि चित्रित करते हुए कवि उसके विविध भेद प्रभेदो के चित्रण मे प्रवृत्त हुआ है। अल्प-वयस्का लाजवतो नवोढा का प्रिय ससर्ग से भय दिखाने की दृष्टि से इस प्रकार के छन्द दर्शनीय है—

साथ सखी के नई दुलही कों भयो हरि को हियो हेरि हिमंचल।
आय गये मतिराम तहाँ घरु जानि इकंत अनंद ते चंचल।
देखत ही नद लाल को बाल के पूरि रहे अँसुवानि दृगंचल।
बात कही न गई सु रही गहि हाथ दुहू सो सहेली को अचल॥
केलि कै राति अघाने नही दिन हू मैं लला पुनि घात लगाई।
प्यास लगी कोउ पानी दै जाइयौ भीतर बैठि कै बात सुनाई॥
जेठी पठाई गई दुलही हँसि, हेरि हरे 'मतिराम' बुलाई।
कान्ह के बोल पै कान न दीनो, सु गेह की देहरि पै धरि आई॥

चोर मिहीचनी के खेल मे जब एक अज्ञात यौवना और कृष्ण अकस्मात एक ही भवन में जा छिपते हैं उस समय उनके आकस्मिक अंगस्पर्श के कारण नायिका की जो तन-

दशा होती है उसे इस प्रकार अंकित किया गया है—'कंप छुट्यौ, घन स्वेद बढ्यो, तनु रोम उठ्यौ, अँखियाँ भरि आई।' धीरे-धीरे कृष्ण के प्रति गोपिका का प्रेम जब बढ़ जाता है और कृष्ण उसके छोटे से अस्तित्व के अंग ही हो जाते हैं तब वह 'गौरी पार्वती' से यही मनौतियाँ करती है कि जो उसके मन का राजा हो गया है वही उसके जीवन का भी सर्वस्व हो जाय। हृदय की यह मधुर आकाक्षा कितने प्रणत और भक्ति भाव से व्यक्त हुई है देखिये—

गोपसुता कहै गौर गुसाँइनि ! पायँ परौं बिनती सुनि लीजै।
दीन दयानिधि दासी के ऊपर नेक सुचित दया-रस भीजै।
देहिजो ब्याहि-उछाह सो मोहनै, मात-पिता हू को सो मन कीजै।
सुंदर साँवरों नंदकुमार, बसै उर जो वह सो बर दीजै॥

उसकी आकाक्षाएँ निर्बन्ध हुआ चाहती है, गाँव की सीमा उसके लिए सँकरी हो रही है, उसमे उसका प्रेम निबह सकेगा इसमे संदेह ही है। लोक लाज और कुल मर्यादा के बोझ वह कब तक ढोती फिरेगी। इसीलिए उसके हृदयोच्छास इस प्रकार की पंक्तियो मे फूटते हैं—

क्यो इन आँखिन सों निरसक ह्वै मोहन को तन पानिप पीजै।
नेकु निहारे कलंक लगै इहि गाँव बसे कहो कैसे कै कीजै॥
होत रहै मन यों 'मतिराम', कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै।
ह्वै बनमाल हिये लगिए अरु ह्वै मुरली अधरा रस लीजै॥

गाँव-घाट मे आभीर प्रेमी प्रेमिका कही न कही मिल ही जाते हैं। राधा और कृष्ण को एक दूसरे के सम्पर्क में आने के अवसर मिलते ही रहते है, उन्ही के बीच किन्ही-किन्ही छंदो मे प्रेम का विकास दिखाया गया है। राधिका का बछडा कही खो गया है, शाम का समय है और घर मे कोई है भी नही। वह कृष्ण से इसीलिए निवेदन भी करती है कि मैं तो खोजते-खोजते थक गई जरा तुम्ही मेरे खोए हुए बछडे को खोज दो। इस प्रकार की वचन और क्रिया विदग्धाओ का चित्रण करते हुए ज्येष्ठा कनिष्ठा के सग एक साथ ही प्रीति निर्वाह करते हुए चतुर नायक का भी परंपरागत ढंग से चित्रण किया है—

बैठी एक सेज पै सलोनी मृगनैनी दोऊ,
आय तहाँ प्रीतम सुधा समूह बरसै।
कवि 'मतिराम' ढिग बैठे मनभावन जू,
दुहुँन के हीय-अरविंद मोद सरसै।
आरसी दै एक सों कह्यो यों निज मुख देखौ,
जामे बिधु बारिज बिलास बर दरसै।
दरप सौं भरी वह दरपन देख्यौ जौ लौं,
तौ लौं प्रान प्यारी के उरोज हरि परसै॥

इस प्रकार की सीधी-सीधी स्थूल प्रणय वर्णना का जमाना अब लद गया । अब अभिव्यंजना की सूक्ष्मतर पद्धतियाँ आविष्कृत हो चुकी हैं और काव्य की नई भाषा भी सामर्थ्य की दृष्टि से पुरानी पड गई है फलस्वरूप उसमे प्रणय के सरल गूढ़ व्यापारो की, और भी जीवन प्रसंगो की सूक्ष्म विशद व्यंजना सभव हो सकने के कारण ऐसे वर्णन और चित्र अब कुछ स्पृहणीय नहीं रहे । बदले हुए मान्यताओं के इस युग मे यह सीमित और स्थूल प्रणय दृष्टि अब कुछ बहुत सम्मानजनक नही है परन्तु अपने युग के काव्यरसिको का मनोरजन तो इन कवित्तो से हुआ ही होगा और उसी परिप्रेक्ष्य मे हमे इन पर विचार करना है । 'प्रेम गर्विता' अपने प्रिय से मान करने को तैयार नही है क्योकि नायक के अतिशय प्रेम ने उसे सब प्रकार से अभिभूत कर रखा है । तभी तो वह कहती है—

मेरे हमे हँसत है, मेरे बोले बोलत हैं,
मोही कौं जानत तन-मन-धन-प्रान री।
कबि 'मतिराम' भौंह टेढ़ी किए हाँसी हू मैं
छोड़ देत भूषन-बसन-खान-पान री।
मौतैं प्रान प्यारी, प्रान प्यारे कें न और कोऊ,
तासों रिस कीजै कहौ कहाँ की सयान री।
मैन-कामिनी के मैनका हू के न रूप रीझे,
मैं न काहू के सिखाएँ आनौं मन मान री।।

ऐसी ही एक मुग्धा स्वाधीनपतिका का चित्र देखिये जीसके रूप गुण पर रीझ कर प्रिय उसके आधीन बना हुआ है—

आपने हाथ सों देत महावर, आप ही बार सँबारत नीके।
आपुन ही पहिरावत आनि कै हार सँवारि कै मौल सिरी के।
हौं सखी लाजनि जाति मरी, 'मतिराम' सुभाव कहाँ कहौं पी के।
लोग मिलैं, घर घैरु करैं, अबही ते ये चेरे भए दुलही के।।

पति के आसन्न वियोग दुख से दुखित 'मुग्धा प्रवत्स्यतप्रेयसी' की दशा का निदर्शन करते हुए कवि लिखता है कि 'सोवत न रैन दिन रोवति रहित बाल, बूझै तें कहत मायके की सुधि आई है।' इस प्रकार तथा इससे हलके छंदो मे कवि ने अनुशयना, गर्विता, प्रोषित पतिका, कलहातरिता, अनुशयना, विप्रलब्धा, उत्कठिता, वासकसज्जा, अभिसारिका, आगत् पतिका आदि नाना नायिकाओं का विवरण शास्त्रोक्त पद्धति पर प्रस्तुत किया है । हाव भावो; दूत दूतियो के लक्षणोदाहरण यथाक्रम प्रस्तुत करते हुए यह रीति ग्रन्थ समाप्त हुआ है । जैसा हम पहले कह आए हैं ये छंद सरस तो हैं परन्तु इनकी सरसता एक प्रणाली विशेष की सरसता है। कवि वृत्ति की स्वच्छंदता का यदि कही इनमें समावेश हो पाता तो बात दूसरी ही होती । ये छंद एक विशेष

बैण्ड के है और उसी 'रीति-ब्रॅण्ड' के होने मे ही इनकी विशेषता है। 'रस राज' नामक ग्रंथ मे रसराज शृगार के अतिरिक्त अन्य किसी रस की चर्चा नही है।

ललित ललाम—ललित ललाम नामक अलंकार ग्रंथ भी कवित्व की दृष्टि से देखने योग्य ग्रथ है जिसके आरम्भ मे गणेश वन्दना, आश्रयदाता भावसिंह नरेश, बूँदी और नृपवंश का वर्णन हुआ है। कुछ दूर तक तो अलकारो का उदाहरण उपर्युक्त विषयो को लेकर ही प्रस्तुत किया गया है वैसे समूचे ग्रथ मे ही बहुत बडी संख्या मे अलंकारो के उदाहरण रूप मे लिखे गए छदो मे आश्रयदाता नरेश भावसिंह का वर्णन किया गया है। प्राकृत जन के विशद गुण गान से ऐसे अधिकाश छदो मे पाठक की प्रवृत्ति ही नही होती। ललित ललाम मे कई एक छद सरसता और उपयुक्तता के कारण 'रसराज' से भी ले लिये गए है। अनेक अलकारो के उदाहरण तैयार मिल जाने के कारण नए छंदो की रचना का श्रम नही उठाया गया है, बँधी हुई काव्य-लीक पर चलने का यह भी एक परिणाम दिखाई देता है। काव्य रचना मे एक प्रकार की बाध्यता अथवा विवशता का कवि को अनुभव होता है। इस अलकार ग्रन्थ मे लक्षणो के जो उदाहरण है वे या तो आश्रयदाता भावसिंह की प्रशस्तिपरक हैं जिनमे उनके साहस, शौर्य, वैभव, औदार्य आदि का बखान किया गया है या फिर शृङ्गारपरक। शृगारी रचनाओ के आलबन प्रायः कृष्ण राधा और गोपियाँ है। जब तब सामान्य नायक-नायिकाओ को भी प्रीति रीति उनमे वर्णित हुई है। कृष्ण के स्वरूप वर्णन मे सुन्दर प्राकृतिक उपकरणो की सजावट विशेष रूप से दिखलाइ गई है, फूलो के आभूषण, मयूर पक्ष का किरीट, हाथ मे, अरुणपल्लव युक्त पुष्पो की छडी, गुंजो की माला और निकुंजो का वातावरण आदि। उनकी चित्त मे चुभ जाने वाली चितवन और अविस्मरणीय मुसकान को देखकर मुग्ध हुई गोपिका से यही कहते बनता है कि **मैं तौ भई मनमोहन को मुखचंद लखै बिन मोल की दासी।**' उनके आकर्षण के भँवर मे पड़ी एक अन्य गोपिका की उक्ति है—

> आनन-चंद निहारि-निहारि नही तनु औ धन-जीवन वारै।
> चारु चितौनि चुभी 'मतिराम' हिए मति कौं गहि ताहि निकारैं।
> क्यौं करि धौं मुरली मनि कुंडल मोर पखा बनमाल बिसारैं।
> ते धनि जे ब्रजराज लखैं गृहकाज करैं अरु लाज सँभारैं॥

राधिका के सौंदर्य वर्णन मे कवि लिखता है कि उस शोभा-सदन की सृष्टि तो विधाता ने अपने हाथों से की है जिसकी छवि चूराने के लए चन्द्रमा ने जब अपनी किरणों का जाल फैलाया तब विधाता ने रुष्ट होकर उसे दण्ड दे दिया और अब उस चन्द्रमा की यह दशा हो गई है कि '**रातौं दिन फेरै अमरालय के आस पास, मुख मैं कलंक मिसि कारिख लगाय कै।**' यह तो रूप-राशि राधिका के सौन्दर्य वर्णन की बात हुई, सामान्य नायिका का सौंदर्य भी कवि ने असाधारण ही बताया है—उसके जगमग

अनूप रूप के सामने रति, रभा, रमा आदि को कौन याद करेगा। उसके माधुर्य और लावण्य तो नायक और सौतों की आँखो मे क्रमशः अमृत और मान लग कर सुख और पीडा पहुँचाने वाले है, बस वह सिर्फ जरा अपना खोल दे—

तेरे अंग अग मैं मिठाई औ' लुनाई भरी,
'मतिराम' कहत प्रकट यह पाइए।
नायक के नैनन मै नाइए सुधा सो सब,
सौंतिन के लोचनन लौन सो लगाइए॥

ए अधरो पर बिंबा फल, हास पर चद्रिका, अग-रंग पर नागकेसर और पर भ्रमर मुग्ध दिखलाए गए है फिर भला दर्पण उसकी काति को क्या है चद्रमा जिसका चेला है और कमल जिसका दास—'कहा दरपन कैसें दन जोति, चद जाको चेरो, अरबिद जाको दास है।' आलंकारिक किया गया नायिका के रूप-ऐश्वर्य का वर्णन देखिये—

ह्वै कै डह डहे दिन समता के पाऐ बिन,
साँझि सरसिजनि सरमिसिर नायो है।
निसा भरि निसापति करि कै उपाय बिन;
पाएँ रूप बासर बिरूप ह्वै लखायो है।

कुमारता के वर्णन मे बताया गया है कि वह पुष्पित कुसुमो की शैया पर ही रती है कठोर पृथ्वी पर अपने चरण नही देती और भार के डर से वह णीय अगो मे कुकुम, चदनादि अगरागो का लेप नही कराती, वातायन से आतप से उसका वदन-मयक मलिन पड जाता है फिर भला वह घर के स प्रकार आ सकती है। फारसी शायरी की प्रतिस्पर्धा मे ही ऐसी अत्युक्ति क्त का वर्णन समसामयिक हिन्दी कविता मे देखा जा सकता है—'कैसे वह ल बाहर विजन आवै, बिजन बयारि लागे लचकत लक है।' अन्याय छंदो मे ज सभार युक्त, प्रसाधनो से सुसज्जित रूप सौदर्य और वेशविन्यास का गा है जिसमे श्वेत वर्ण के चदनादि अगरागो, दुग्ध-धवल सारी मे परिवेष्ठित को मोतियो के आभूषणो एव कुसुम कलित केशो से युक्त बताया गया की मृदु स्मिति और ज्योत्स्ना सी अग छटा और उसके सौदर्य को और भी ी है। अत्युक्तिपूर्व वर्णनाओ मे कही उसे चाँदनी से एक मेक कर दिया गया कही दिन के प्रकाश से—

सारी जरतारी की झलक झलकति तैसी,
केसरि को अगराग कीन्हौं सब तन मैं।

तीछन तरनि की किरनि तैं दुगुन जोति,
जागति जवाहिर जटित आभरन मैं।
कवि 'मतिराम' आभा अंगनि अंगारनि की,
धूम कैसी धारा छवि छाजति कचन मैं।
ग्रीषम दुपहरी मैं हरि कौं मिलन चली,
जानि जाति नारि ना दवारिजुत बन मैं॥

नायिका के नेत्रो का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है कि ये नेत्र सबके देखते देखते चित्त को चुरा लेते हैं और उन्हे लौटाते नही, फिर कामशर से भी तीक्ष्ण कटाक्षो से छाती को छेद डालते है, खंजरीट-कंज-मीन-मृगादिको की छवि छीन लेते हैं। इतने अवगुणो के होते हुए भी जाने क्यो लोग इनकी बडाई करते हैं। उसके यौवन का वर्णन करते हुए कवि लिखता है—

कुंदन के ऑग माँग मोतिन सँवारि सारी,
सोहत किनारीवारी केसरि के रंग की।
कहै 'मतिराम' मनि मंजुल तरौना छोटी,
नथुनी जराबी गजमुकतन संगको।
कुसुम के हार हियो हरति कुसुंभी आँगी,
सकै को बरनि आभा उरज उतंग की।
जो बन जरब महा रूप के गरब गति
मदन के मद मद मोकल मतंग की॥

राधा और कृष्ण के प्रेम वर्णन सम्बन्धी छंदो मे बताया गया है कि किस प्रकार दोनों एक दूसरे के प्रेम मे आबद्ध हैं जैसे अमृतमय ताल की मनोहर मछलियाँ हों। दोनो प्रेम भरी आँखो से अनिमेष भाव से एक दूसरे को देखते ही रहते हैं मानों प्रणय पालन का प्रण कर लिया हो दोनो ने—'लाल मुख-इंदु नैन बाल के चकोर, बलमुख अरविन्द चंचरीक नैन लाल के।' राधिका कभी कृष्ण को संध्या समय घर ही मे कही खोया हुआ बछडा खोजने को कहती है और कृष्ण कभी चोर मिहीचनी के खेल-खेल मे ही उसकी आँख मूँद लेते है और जब सभी सखियाँ भाग कर छिप जाती हैं उस समय वे किसी हलके से प्रणय व्यापार में प्रवृत्त हो उभय पक्षो मे हर्ष का संचार कर चल देते हैं—

मनमोहन आय गये तित ही, जित खेलति बाल सखी गन मैं।
तहँ आपु ही मूँदे सलोनी के लोचन चोर मिहीचनी खेलनि मैं।
दुरिबे कौं गई सगरी सखियाँ 'मतिराम' कहै इतने छन मैं।
मुसकाय के राधिके कंठ लगाय छप्यौ किहूँ जाय निकुंजजन मैं॥

गोरस दान माँगते हुए कृष्ण उन्हें तंग करते हैं तो कभी खासी फटकार भी गोपियो से पा जाते है—

> ऐसी करौ करतूति बलाइ ल्यौं नीकी बड़ाई लहौ जग जातैं ।
> आई नई तरुनाई तिहारी ही ऐसे छके चितवौं दिन रातैं ।
> लीजिए दान हौं दीजिए जान तिहारी सबै हम जानती घातैं ।
> जानौ हमैं जानि वै बनिता, जिन सौं तुम ऐसी करौ बलि बातैं ।

यह चित्र बहुत ही मार्मिक और जीवंत है, फटकारती हुई गोपी का चित्र सामने खड़ा हो जाता है साथ ही खिसियाए हुए अपराधी कृष्ण की रसभरी और फीकी हँसी वाली मुद्रा की भी कल्पना की जा सकती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी अनेक सूक्ष्म बाते उक्त छंद मे सन्निविष्ट पाई जाती हैं। भरे समाज में भी प्रेमी युगल अपने मतलब-मतलब भर की बाते आँखों ही आँखो मे कर डालते हैं, देखिये कैसे प्रवीण हैं ये—

> लाल सखीनि मैं बाल लखी 'मतिराम' भयो उर आनंद भौनौं
> हाथ दुहूनि सौं चंपक गुच्छनि को जुग छाती लगाय कै लानौं ।
> चंदमुखी मुसकाय मनोहर हाथ उरोजन अंतर दीनौं ।
> आँखिनि मूँदि रही मिसि कै मुख ढाँपि निचोल को अंचल कीनौं ॥

यहाँ क्रियाविदग्धा नायिका हुई। मतिराम ग्रन्थावली के सम्पादक पं० कृष्ण बिहारी मिश्र प्रेमियो की क्रिया-विदग्धता का उद्घाटन करते हुए लिखते हैं—'नायक ने दो चपक पुष्पों के गुच्छों को छाती से लगाकर प्रकट किया कि मैं तेरा आलिंगन करना चाहता हूँ। नायिका ने उरोजो के नीचे हाथ ले जाकर बताया कि तुम हृदय में बसते हो, आँख मूँद कर जाहिर किया कि रात को मिलना (कमल बन्द होने पर) और रात में किस समय मिलना होगा, यह बात मुख पर परदा डाल कर प्रकट की गई अर्थात जब चंद्रमा अस्त हो जाय।' प्रेमियो के जीवन मे ऐसे भी कितने अवसर आते हैं जब अन्य जनो के बीच में उन्हे लज्जा और संकोच धारण करना पड़ता है, वे ऐसे अवसरों पर अपने आप को व्यक्त भी नही कर पाते और अव्यक्त भी नही रख पाते। ऐसा ही एक और भी अवसर आया जब प्रेमिका सहेलियों के बीच थी और प्रिय उधर से होकर निकला, नायिका का प्रेम-भाव उत्साह से हिलोरे लेने लगा। नायिका सखियों की दृष्टि को बचाकर प्रिय को देखती भी है और अपनी प्रीति को सहेलियों पर व्यक्त भी नही होने देती। वह स्वयं अपने हृदय मे बहते हुए आनंद के प्रवाह की थाह नहीं जानती। अपने हृदय के भावो को इस प्रकार वह व्यक्त करती और छिपाती है कि उसके वे ही नेत्र औरो को रूखे मालूम पड़ते हैं और उसके प्रिय को स्नेह से भरे—

मोहन लला कौ मनमोहनी बिलोकि बाल,
कसि करि राखति है उमगे उमाह कौ।
सखिनि की दीठि कौ बचाय कै निहारत है,
आनंद प्रवाह बीच पावति न थाह कौं।
कवि 'मतिराम' और सब ही के देखति ही,
ऐसी भाँति देखति छिपावति उछाह कौं।
वे ही नैन रूखे से लगत और लोगनि कौं
वेई नैन लागत सनेह भरे नाह कौ॥

कभी नायक के किसी आचरण विशेष से रुष्ट हो नायिका उससे सीधे ढग से बात नही करती और प्रकारातर से अपना रोष जनाती है—तुम्हे मना कौन करता है, जहाँ चाहो वहाँ रहो, क्यो बेकार मे कसमे खाते हो, तुम भला क्यो कर अपराध करने लगे। जाने दो, हमे सोने दो, बेकार की बाते क्यो करते हो। जिसका मान होता है उसे ही न मान करने का अधिकार है, यहाँ तो यह सब कुछ भी नही—'मान रह्योई नही मनमोहन, मानिनी होय सो मानै मनायो।' ऊपर के समस्त कथनो का एक वाक्य बहुत ही चुभने वाला है। नायक वाक्‌वाणो की इस वर्षा के सामने ठहर नही सकता। 'ललित ललाम' में कुछ छन्द उद्धव गोपी-प्रसंग के भी है जिनमे गोपियो के कुछ मार्मिक कथन मिलते है जो मुख्यत: 'कुब्जा' और उद्धव के 'योग के संदेशे' को लेकर किये गए हैं। गोपियाँ कहती है कि इस प्रेम का ऐसा फल मिलेगा ऐसा हम नही जानती थी—कृष्ण प्रेम मे इतना बडा धोखा दे डालेगे ऐसा सोचा न था और कृष्ण ऐसी रूप गुणहीन दासी के क्रीतदास हो जायगे यह बात भी हमारी कल्पना के बाहर थी—

यौं दुख दै ब्रजबासिन कौं ब्रज कौं तजि कै मथुरा सुख पैहै।
वै रसकेलि बिलासिनि कौं, बन कुंजन की बतियाँ बिसरैहैं।
जोग सिखावन कौं हम कौ बहुरयौ तुम से उठि धावन ऐहैं।
ऊधो नहीं हम जानत हीं मनमोहन कूबरी हाथ बिकैहैं॥

उद्धव और कृष्ण दोनो की बेतुकी बाते गोपियो के समझ मे नही आती—कहाँ तो ऋषियों और मुनियो की साधना का दुर्गम योग-मार्ग और कहाँ असमर्थ अबलाओ से उसकी साधना का प्रस्ताव! वे कहती है उद्धव जी आप कुछ समझ मे आने लायक बात कहिये तो हम जरूर उसे सम्मानपूर्वक स्वीकार करेगी किन्तु यह योग साधना का उपदेश कैसा—'जोग कहाँ मुनि लोगन जोग कहाँ अबला मति है चपला सी।' ठीक इसी प्रकार रसिकेश कृष्ण और कूबडी के प्रणय सबधो की बात भी उनके गले नहीं उतरती और वे आश्चर्य के अथाह सागर मे डूबती हुई कहती हैं—'स्याम कहाँ अभिराम सरूप कुरूप कहाँ वह कूबरी दासी!' गोपियो की उद्धव के प्रति की

गई वह उक्ति बहुत ही मार्मिक है जिसमे वे उद्धव के योग सदेश को यह कह कर अस्वीकार करती हैं कि यहाँ तो निरतर श्याम का सयोग ही प्राप्त होता रहा है, जब वियोग हो तब न योग का सदेश ग्राह्य होगा ! वह प्रेममग्नता देखिये जिससे पग कर इस प्रकार की वचनावली उनके वाष्परुद्ध कठ से निर्गत होती है—

निसि दिन श्रौननि पियूष सो पियत रहैं,
छाय रह्यौ नाद बाँसुरी के सुर ग्राम को ।
तरनि तनूजा तीर बन कुज बीथिन मै,
जहाँ तहाँ देखति हैं रूप छबि धाम को ।
कबि 'मतिराम' होत हाँतो न हिए ते' नैक
सुख प्रेम गात को परस अभिराम को ।
ऊधो तुम कहत बियोग तजि जोग करौ,
जोग तब करैं, जो बियोग होय स्याम कौ ॥

इस प्रेम-विह्वल भाव-लहरी के आगे उद्धव के सारे तर्क बह जाते है । मतिराम की कविता भी मूलतः शृगारिक ही है । रसराज तो ऐसे ही छदा का संग्रह ग्रन्थ है और ललित ललाम का भी अर्धाधिक औदाहरणिक भाग शृगार-मुक्तको से ही परिपूर्ण है । सभोग शृगार के कुछ वर्णनो की अल्पचर्चा के अनतर 'ललित ललाम' के काव्यत्व की चर्चा समाप्त हो जायगी । प्रिय ससर्ग से अनभ्यस्त नवोढाओ अथवा मुग्धाओ में लज्जातिशय्य और सकोच ही प्रधान रूप से दिखाया जाता है---

पाइ इकंत कैं बाल सो बालम जो रति रूपकला दरसावै ।
नाही कढै मुख नारि के नाह जही हिय सौं हियरा परसावै ।
काम बढौ 'मतिराम' तही अति लाल बिलासनि कौं सरसावै ।
जोवै त्रसै मन मोवे अनंद मैं, रोवै-हँसै रस कौं बरसावै ॥

लज्जा और काम के उभयविध खिचाव मे पड़ी मुग्धा की दशा विचित्र हो जाती है । ऐसी ही एक प्रिया को अपने चित्र पर आसक्त देख नायक जब सहसा उसकी बाँह पकड लेता है उस समय उसकी लज्जा-विकल स्थिति का चित्रण कवि इन शब्दो में करता है---

'गाढ़ै गही लाज मैं न कंठ ह्वै फिरत बैन, मून छ्वै फिरत नैन बारि बरुनीन के ।'

इसी प्रकार स्वप्न संयोग का भी एक चित्र पर्याप्त मार्मिक बन पड़ा है---

आवत मैं हरि कौं सपने लखि नैसुक बाट सकोचन छोडी ।
आगे ह्वै आड़े भए 'मतिराम' चली सुचितै चख लालच ओड़ी ।
ओठनि को रस लैन कौं मोहन, मेरी गही कर कंपत डोड़ी ।
और भट्ट न भई कछू बात, गई इतने ही मैं नीद निगोड़ी ॥

गुप्त रूप से रति-रस लूट कर उसका संगोपन करने वाली 'सुरति गुप्ता' का भी चित्र कम रोचक नही है—

> लैन गई हुती बागहिं फूल अँध्यारी लखे डर बाढ्यौ तहाँई।
> रोम उठे तन कंप छुट्यो 'मतिराम' भई श्रम की सरसाई॥
> बोलन सौं उरझा अँगिया छतियाँ अति कंटनि की छत छाई।
> देह मैं नेकु सम्हार रह्यौ नहीं, ह्याँ लगि भागि मरू करिआई॥

संभोग की अदम्य अभिलाषा और गुरुजन-भय की परस्पर विरोधिनी स्थितियों के बीच मिथ्यालाप का ही मार्ग एक मात्र प्रशस्त मार्ग है बशर्ते वह विदग्ध जनो के बीच चल सके। मतिराम के काव्यत्व की चर्चा करते हुए इसके अतिरिक्त न तो लक्षण निरूपक दोहे ही देखने योग्य है और न 'भावसिंह नरनाह और उनके वंश की विरुदावली' ही।

मतिराम सतसई—भोगनाथ नामक एक गुणी राजा के लिए मतिराम ने भी बिहारी की सतसई की तरह एक सतसई लिखी। ये भोगनाथ कौन थे इस संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ नही कहा जा सकता परन्तु इनके रूप, शील, शक्ति, गुण आदि की मतिराम ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है—'राजा भोगनाथ गुरुजनो का सम्मान करते हैं और बड़े-बड़े विद्वानो की संगति। वे पृथ्वी के इन्द्र है तथा शरणागत के परम रक्षक हैं, दानशीलता और युद्धवीरता मे असाधारण हैं। उन्हे देखते ही गरीबी भाग जाती है वे ऐसे संपदशील और उदार दाता है। कितने ही भिखारी उनसे भीख पाकर राजा हो गए है आदि आदि।' बिहारी के अनेक दोहो का प्रभाव मतिराम पर लक्षित किया जा सकता है तथा मतिराम सतसई के अनेकानेक दोहे स्वयं भी बिहारी के दोहो के समान ही काव्योत्कर्षपूर्ण है। असंभव नही कि बिहारी की सतसई की लोकप्रियता से ही प्रेरित होकर इन्होंने भी सतसई की रचना की हो। बिहारी की सतसई की प्रेरणा से अथवा उसके अनुकरण पर जितनी सतसइयाँ लिखी गईं उनमे मतिराम सतसई का विशेष स्थान है। मतिराम सतसई की रचना सं० १७३८ के आस-पास हुई। रसराज और ललित ललाम के दोहे इसमे संकलित हैं जिससे ऐसा अनुमान होता है कि उक्त दोनो महत्वपूर्ण रीति ग्रन्थो की रचना के बाद इन्होने सतसई की रचना में हाथ लगाया होगा।

मतिराम सतसई का प्रथम दोहा बिहारी के प्रथम दोहे 'मेरी भवबाधा हरौ' वाला भाव लिए हुए है—

> मो मन तम-तोमहि हरौ राधा को मुख चंद।
> बढ़ै जाहि लखि सिंधु लौं नंद-नंदन आनंद॥

उनका दूसरा दोहा बिहारी के इस प्रसिद्ध दोहे के भाव को लेकर लिखा गया जान

पडता है जिसमे वे 'मोर मुकुट, कटि काछनी कर मुरली, उर माल' के एक विशेष बानक में कृष्ण को अपने मन मे बसाना चाहते हैं : —

मुज गुंज के हार उर, मुकुट मोर पर पुंज।
कुंज बिहारी बिहरियें, मेरेई मन-कुंज ।।

इस प्रकार के राधाकृष्ण स्तवनपरक दोहों से सतसई का आरम्भ होता है। राधा और कृष्ण के प्रति अपने अनन्य प्रेम को भी उन्होने अतिशय सुन्दर रूप मे आरम्भ में ही व्यक्त कर दिया है—

राधा मोहन लाल को जाहि न भावत ,नेह।
परियौ मुठी हजार दस तिनकी आँखिन खेह ।।

मतिराम की सतसई भी बिहारी सतसई की ही भाँति मूलतः शृंगार सतसई ही है। गौण रूप से इसमें भक्ति, नीति आदि के भी कुछ कथन सम्मिलित है तथा कृति के अन्तिम शतक में १५-१८ दोहे राजा भोगनाथ के लिए लिखे गए,हैं जो कुछ काल तक इनके आश्रयदाता रहे होंगे। नीति भक्ति आदि के कथन रहीम बिहारी आदि की ही शैली पर हैं यथा :—

(क) अब तेरो बसिबो इहाँ नाहिन उचित मराल।।
सकल सूखि पानिप गयो, भयो पंकमय ताल।।

(ख) दुख दीने हूँ सुजन जन छोडत निज न सुदेस।
अगरु डारियत आगि में, करत सुब सित केस।।

(ग) निज बल के परिमान तुम तारे पतित बिसाल।
कहा भयो जु न हौं तरतु, तुम न खिस्याहु गुपाल ।।

जहाँ तक शृङ्गार वर्णन का सम्बन्ध है 'मतिराम सतसई' का तो आशय ही शृंगाररस के दोहो को उसमें सग्रहीत करता रहा है। 'रसराज' और 'ललितललाम' की अपेक्षा मतिराम को सतसई लिखने मे अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई फलतः कुछ स्वतन्त्र आधार पर अधिक सरस उक्तियाँ वे हमे दे सके है। मध्ययुग के मुक्तक काव्य मे उक्तियो का विशेष महत्व मान्य रहा है। मतिराम के दोहो की सरसता और उक्तियों, भावों, कल्पनाओ की सुन्दरता और साथ ही सहजता माननी पडेगी। नायक-नायिका, कृष्णगोपिका या राधाकृष्ण का प्रेम उन्होने इस ग्रन्थ मे छोटी-छोटी स्वतत्र उक्तियो के रूप मे ही सही बड़े विस्तार से कहा है। जैसा हम कह आए हैं बिहारी इस दोहात्मक पद्धति पर प्रेम-शृंगार की वर्णना का मार्ग पहले ही प्रशस्त कर गए थे, उनके मार्ग पर चलने वाले पीछे मतिराम, रसनिधि, वृन्द आदि कितने ही लोग हो गए। आधुनिक युग मे वियोगी हरि और दुलारे लाल के अलावा भी और बहुत से मुक्तककारों ने अपने इन पूर्वजो से प्रेरणा प्राप्त की है। बिहारी की इस उक्ति का—

कहत सबै बैंदी दिये आँक दसगुनो होत।
तिय लिलारे बैंदी दिये अगनित बढ़त उदोतु। (बिहारी)

प्रभाव मतिराम के निम्नलिखित दोहे पर स्पष्ट ही है—

होत दसगुनो अंकु है दिएँ एक ज्यों बिंदु ।।
दिएँ दिठौना यौं बढ़ी आनन आभा इंदु ।। (मतिराम)

इस प्रकार की प्रभाव परंपरा सतसई शैली की काव्य रचना मे चलती रही है।

आलंबन वर्णन—अब मतिराम सतसई मे वर्णित श्रृङ्गार की भी थोड़ी चर्चा हो जानी चाहिये। नायक कृष्ण की अपेक्षा नायिका या राधा का रूप सौदर्य वर्णन विशेष किया गया है। कृष्ण का सौदर्य तो क्या उसके प्रभाव का वर्णन एक ही छद मे कर दिया गया है—

देखे बानिक आजु की वारौं कोटि अनंग।
भलो चल्यो मिलि साँवरे अंग रंग पट रंग ।।

पर नायिका के रूप सौदर्य वर्णन मे कवि का विशेष अभिनिवेश गोचर होता है। नायिका के रूप-सौदर्य का प्रत्यक्षीकरण सीधे ढग पर नही किया कराया गया है वरन् अनेक स्थितियो मे उसे रख कर और अनेक व्यक्तियो के कथनो द्वारा नायिका के रूप को हमारे समक्ष प्रस्तुत किया गया है उदाहरण के लिए एक सखी कहती है कि अपने माथे पर रोली का तिलक लगा कर तू ऐसी शोभा दे रही है जैसे रूप के भवन मे दीपक की ज्योति जगमग कर रही हो। दूसरी सखी कहती है - हे रूपवती! तेरे रूप-वैभव को देखकर नन्दलाल को प्रणय ऐश्वर्यपूर्ण निशा की प्रतीति होने लगती है और उसका मन तेरे साहचर्य का आकाक्षी हो उठता है। तीसरी कहती है—हे आली! तेरे रूप की समता करने से कमल और चद्रमा को खूब मुँह की खानी पड़ी, किसी के मुँह मे तो धूल पड गई और किसी को कलंक का टीका लग गया। चौथी कहती है कि जब-जब यह नायिका दिन मे अपनी अटारी पर चढ़ती है गाँव वालों को उसका मुख चद्र देख कर रात का भ्रम हो जाता है। यह चौथी उक्ति हास्यास्पद तो हो गई है परन्तु कवि ने नायिका के सौन्दर्यातिशय्य का कथन तो किया ही है और समसामयिक रसिकता ऐसी उक्तियो को न केवल सहर्ष गवारा करती थी वरन् सोत्साह प्रोत्साहित भी करती थी—

(क) बंदन तिलक लिलार में ऐसी मुख छबि होति।
रूप भौन में जगमगै मनो दीप की ज्योति ।।

(ख) नखतावलि नख, इंदु मुख, तनु दुति दीप अनूप।
होति निसा नंदलाल मन लखे तिहारो रूप ।।

(ग) तेरी मुख समता करी साहस करि निरसंक।
धूरि परी अरबिंद मुख, चंदहि लग्यो कलङ्क ।।

(घ) जब जब चढति अटानि दिन चंदमुखी यह बाम।
तब तब घर घर धरत हैं दीप बारि सब गाम॥

कभी यह कहा गया है कि ज्यों-ज्यो नवल बाला के मुखचंद्र की छवि अधिक होती जाती है त्यो-त्यो उसकी सौत का मुख कमल मुरझाता जाता है—चद्र के प्रकाश से कमल का मुरझाना प्रसिद्ध ही है। दोनो व्यापारो की कैसी सुन्दर संगति बिठाई गई है। यह उक्ति सूझ और कल्पना पर ही आश्रित है और नायिका के रूपोत्कर्ष की व्यजक भी—

ज्यों ज्यों छवि अधिकाति है नवल बाल मुख इंदु।
त्यों त्यों मुरझत सौति कौ अमल बदन अरबिंदु॥

कभी उसके चपल रूप-सौदर्य का बिंब इस प्रकार उतारा गया है—'बिहसौंहैं मैं बदन मै लसत नचोहैं नैन' और कभी नायक को ऐसी तरुणी से मान करने पर मूर्ख कहा गया है जिसमे एक सकुमार, सुगन्धित, सरस, विकसित, उज्ज्वल चपक पुष्प के सभी गुण विद्यमान हैं—

सुबरन बरन सुबास जुत, सरस दलनि सुकुमार।
ऐसे चंपक कौं तजै, तैं ही भौंर गँवार॥

रूप-सौदर्य के साथ-साथ तरुणी के सौदर्य और आकर्षण के कारण रूप उसके अन्यान्य अवयवो और गुणो पर भी कवि की दृष्टि गई है जैसे नेत्र, अधर, उरज, अगकाति, देह, वेश भूषा, गति, लज्जा, तारुण्य आदि। नेत्र सबधिनी उक्तियाँ अनेक है जिनमे उनके पानीदार होने, मरणशक्ति सपन्न होने, शिकारी होने, चपल और बलिष्ठ होने, विशाल और मीनवत होने आदि का वर्णन किया गया है। सारा संसार कहता है कि पानी मछली का घर है किन्तु तरुणी के दृग-मीनो मे तो पानी का अपार पारावार लहराता रहता है, यह विरोधाभासात्मक उक्ति बहुत सुन्दर बन पड़ी है—

पानिप मैं घर मीन को कहत सकल संसार।
दृग मीननि को देखियत पानिप पारावार।

तरुणी के नेत्रो मे असाधारण मारक शक्ति है, उसके नेत्रो से आहत व्यक्ति पर जो विष चढ़ता है उसे ये नेत्र ही उतार सकते हैं जैसे विषधर का बिष विषधर स्वयं उतार लिया करता है—

हन्यो मोहि उहि नैन सों नैननि कियो अचेत।
काढ़ि बहुरि विष आपनों ज्यौं विषधर हर लेत॥

कामदेव तरुनी के नेत्रों के माध्यम से स्वयं शिकार करता रहता है। रूप के सागर में तैरती हुई बड़ी-बड़ी मछलियो के समान हैं ये आँखे जो पल भर मे ही मन के जहाज को उलट दिया करती हैं या निगल जाती हैं—

पानिपपूर पयोधि में नेक नहीं ठहराइ।
नैन मीन ए पलक में मन जहाज गिलिजाइ॥

कभी-कभी ये नेत्र रूपी मछलियाँ रूप का जाल फैलाकर नागर नरो को ही फँसा लिया करती हैं। जाल मे फँसाने का यह उलटा क्रम देखिये। लोक मे तो नागर नर ही जाल फैलाकर मछलियो को फँसाते देखे जाते है परन्तु प्रेम-सौदर्य और रूप के लोक का यह उलटा व्यापार देखिये—

पानिप पूर पयोधि मे रूप जाल बगराइ।
नैन मीन ए नागरनि बरबट बाँधत आइ।

मतिराम की इस उक्ति में बिहारी के 'खेलन सिखए अलि भले चतुर अहेरी मार, काननचारी नैन मृग नागर नरन सिकार' वाले दोहे की छाया बहुत स्पष्ट है। नायिका के छोटे से मुँह में बडे-बडे नेत्र विशेष शोभा देते है। खजन, कमल, चकोर, अलि, मीन, मृगादिको की छवि छीन लेने वाले तरुणी के नेत्र भला क्यो न बडाई प्राप्त करें। (अर्थात् उनमें विशालता का होना स्वाभाविक ही है क्योकि उनके कर्म ही ऐसे हैं) नेत्रो के उड़ने, दौड़ने, भागने आदि की तीव्रता को लक्ष्य कर कभी-कभी उन्हें तुरंगवत भी कहा गया है और कभी-कभी उनमे हर्ष आदि के आँसुओ को छलका देखकर उसी सादृश्य को और भी पुष्ट कर दिया गया है—

जब तें मिल बरुनीनि सों अच्छिनि की छबि अच्छ।
जनु अवनीप अनंग के तरल तुरंग सपच्छ।
लसत बूँद अँसुवानि के बरुनिनि छोर उदार।
दृग तुरंग झूलनि मनो, झलकत मुकुत सुढार॥

अधर वर्णन में उनके स्वाद-माधुर्य और सुगंधित होने का ही विशेष रूप से कथन किया गया है—'सुधा मधुर तेरो अधर सुन्दर सुमन सुगंध' कहकर उनकी सरसता का निर्वचन किया गया है, उनकी मिठास के आगे 'जलज' को 'जंबीर' के समान और 'चन्द्रमा' को निःसार बताया गया है—'लगत जलज जंबीर सो चंद चूक सो ताहि।' उरज-वर्णन मे उनकी कठोरता, पीनता, ऊँचाई, उज्ज्वलता आदि का वैशिष्ठ्य दिखलाया गया है—

(क) प्रान पियारो पग परयो तू न लखत यहि ओर।
ऐसो उर जु कठोर तौ उचितै उरजु कठोर॥
(ख) ज्यों ज्यों ऊँचे होत हैं उरज बाल के ऐन।
सब सौतिन के होत हैं त्यों त्यों नीचे नैन॥
(ग) उजियारी मुख इंदु को परी कुचनि उर आनि।
कहा निहारति मुगधि तिय पुनि पुनि चंदन जानि।

नायिका के अंगों में दीपक की-सी दीप्ति और उसके शरीर में स्वर्ण की-सी आभा का

कथन किया गया है। नील कमल दल सज्जित शैया पर शयन करती हुई कुन्दन वर्ण की तरुणी ऐसी प्रतीत होती है जैसे श्याम निकष पर कंचन की रेखा---

नील नलिन दल सेज मैं परी सुतनु तनु देह।
लसै कसौटी मैं मनो तनक कनक की रेह।।

रेशम की सारी और माथे पर लटकता हुआ झूमर आदि उसकी वेशभूषा के विवरण रूप मे कहा गया है। उसकी गति मे मंदता ही विशेष द्रष्टव्य कही गई है—'को न होत गति मंद है लखि तेरी गति मंद।' नायिका की लज्जा का अनेक रूपों और स्थितियो में वर्णन हुआ है—कभी वह 'गोने' की चर्चा सुनकर ही हर्षातिरेक से भर उठती है और आँख बंद करके अपनी माला गूँथती चली जाती है, कभी वह सहज प्रश्नो का भी उत्तर नही देती और लाज से सिर झुका लेती है, कभी नेत्रों और मन के बीच ही लज्जा भाग-दौड़ करती रहती है 'मन तें नैननि कों चली नैननि तें मन काज' और कभी प्रिय के अत्यल्प स्पर्श से भी बीर बहूटी के समान लाज से अपने अंगो को समेट लेती है—

गौने की चर्चा चलें दिए तहाँ चित बाल।
अधमूँदी अँखियान सों गूँदी गूँदति माल।।

———

सहज बात बूझत कछुक बिहँसि नवाई ग्रीव।
तरुन हिये तरुनी दई नई नेह की नीव।।

———

ज्यों ज्यों परसे लाल तन, त्यों त्यों राखति गोइ।
नवल बधू लाजन ललित इंदु बधू सी होइ।।

नायिका के मातृत्व प्राप्त कर लेने पर यह लज्जा इस रूप में अभिव्यक्त होती है—

निसि दिन निदति नंद है, छिन छिन सासु रिसाति।
प्रथम भए सुत को बहू, अंकहि लेति लजाति।।

नायिका के तारुण्य का वर्णन करते हुए नायक के नेह का भी कथन हुआ है। उसमें जितनी ही तरुणाई आती जाती है नायक मे उतना ही स्नेह का आधिक्य होता चलता है, इसी प्रकार नायक का स्नेह जितना ही अधिक होता जाता है नायिका का यौवन भी उतनी ही आभा प्राप्त करता चलता है -

अभिनव जोबन जोति सों जगमग होत बिलास।
तिय के तन पानिप बढ़ै, पिय के नैननि प्यास।।

———

भौंहनि संग चढ़ाइयो कर गहि चाप मनोज।
नाह नेह साथहि बढ्यो लोचन लाज उरोज।

प्रेम वर्णन—प्रणय के आलंबन की चर्चा के साथ-साथ उनके मन की दुनियाँ की भी जानकारी जरूरी है। जैसा हम कह आए हैं इनका प्रेम-वर्णन निजी अनुभूतियों

की व्यक्तिनिष्ठ अभिव्यजना कम परम्परागत रीति पर साहित्यिक कर्म अधिक है फलतः साधारण नायक नायिकाओ का प्रेम गोपीकृष्ण या राधाकृष्ण के प्रेम-वर्णन के साथ जोडकर एक अनोखा रसमिश्रण तैयार किया गया है जिसमे प्रतीति तो राधाकृष्ण या गोपीकृष्ण के प्रणय संबधो की होती रहती है पर वर्णन साधारण नायक-नायिकाओ का रसिक और विलासी प्रियतम प्रियतमाओं का होता रहता है। हाँ जब तब, अनेक बार परम्परा निर्वाह के लिए (या धोखा देने के लिए ?) कृष्ण-राधा आदि का भी नाम ले लिया जाता है और जब तब उनका वर्णन भी कर दिया जाता है क्योकि जैसे भी हो रीतियुगीन शृगार काव्य की केन्द्रीय प्रेरणा-भूमि ब्रज और वृन्दावन का राधाकृष्ण और गोपीकृष्ण का प्रणय विलास संयुक्त वृत्त ही रहा है। राधा और कृष्ण की भावना किये बिना इस काव्य की सरस पृष्ठभूमि को समझा ही नही जा सकता—

सुबरन बेलि तमाल सों घन सों दामिनि देह।
तूँ राजति घनस्याम सों राधे सरस सनेह॥

प्रणय चित्रण मे पहले दो-चार 'पूर्वराग' की मादक स्थितियाँ देखिये। इनमे यही बताया गया है कि कृष्ण के प्रति आसक्त होकर गोपिका सूखने लगी है और सशक भी रहने लगी है परन्तु न तो प्रेम घटता है और न कलंक का भय ही जाता है। इसी नवल नेह मे उसका तन ज्यो-ज्यो सूखता जाता है त्यो-त्यो उसकी काति बढती जाती है। कोई तो उसकी सशकित मुद्राओ से ही उसके प्रेम को भाँप लेती है—'नाहिन जु पै कलक तो कैसे बदन ससंक' और कोई अपनी सफाई इस प्रकार देती है—

झूठे ही ब्रज में लग्यो मोहि कलंक गुपाल।
सपने हूँ कबहूँ हिए लगे न तुम नँदलाल॥

प्रणय प्रवण प्रेमातुरा को उसकी सखियाँ कभी तो हिम्मत बँधाती हुई कहती हैं कि तेरा भाग्य है जो नदलाल से तुझे कलक लगा; झूठ ही सही वे जान तो जायँगे कि तू उनके प्रति इस प्रकार के भाव रखती है—'कत सजनी है अनमनी असुवा भरति ससंक, बड़े भाग नन्दलाल सों झूँठहु लगत कलक।' दूसरी उसे समझाती है कि तू जलशायी विष्णु की पूजा किया कर, तेरे सारे मनोरथ पूर्ण होंगे—

नींद भूख अरु प्यास तजि करती हो तन राख।
जलसाई बिन पूजिहैं क्यों मन के अभिलाख।

प्रणयमयी अपने प्रणय-भाव का गोपन करती है कभी भौंहें टेढी करके और कभी किसी अन्य भाँति परन्तु कदब की माला बनी हुई उसकी रोमाचित काया उसके मनोभावों को साफ कहे दे रही है, आशय यह है कि प्रेम का भाव छिपाने से छिपता नहीं—

सतरौहीं भौहनि नहीं दुरैं दुराए नेह।
होति नाम नँदलाल की नीप माल सी देह ॥

दूसरे के निषेध और वर्जनाओ का भी प्रेमी के मन पर कोई असर नही पड़ता, स्नेह से चिकने हुए चित्त पर दूसरो के निषेधपरक उपदेश पानी की तरह ढलक जाया करते हैं—'नवल नेह चित चीकने ढरकि तोय लौं जात।' तारुण्य के साथ भी स्नेह का सघन सम्बन्ध है। नायिका ज्यो-ज्यो यौवन की दीप्ति से जगमग होती जाती है त्यों-त्यो उसका स्नेह बढता जाता है—'ज्यौं-ज्यौं दीपति जगमगै, त्यौं त्यौं बाढत नेह।'

प्रेम कितना ही काम्य और प्रिय क्यो न हो, उसका मार्ग निरापद नही होता। लोक-लाज प्राथमिक किन्तु असाधारण बाधाओ मे से एक है। गुरुजनो की गालियाँ और समवयस्को की बोली-ठिठोली तो गोपिका को 'लाल' के लिए सहनी ही पड़ती है। प्रणयमयी बार-बार की नामधराई से खीझ उठती है जिसकी बड़ी ही मार्मिक अभिव्यक्तियाँ मतिराम के इन दोहो मे बन पडी हैं—

मोकों तुम क्यों कहति हौ लै गुपाल को नामँ।
रिस मिस नेह गुबिंद को कहति फिरै सब गाउँ॥

——

नर नारी सब जपत हैं घर घर हरिको नाउँ।
मेरे मुख धोखे कढ़त, परत गाज ब्रज गाउँ॥

पहले कथन मे गोपिका कृष्ण के प्रति अपने प्रणय का गोपन करती है और सारे ब्रज के क्रोध को अपने कलक का कारण ठहराती है पर उसी दोहे मे बडी सुन्दरता से उसके कथन की कमजोरी भी छिपी हुई है—वह यह नही बताती या बता पाती कि आखिर ब्रज के लोग उस पर कुपित क्यो हैं? उनकी ऐसी दुश्मनी का कारण क्या है? दूसरी उक्ति मे बहुत ही भोलापन है साथ ही साथ गम्भीर आक्रोश भी।

हजार बाधाएँ हो पर प्रेम बढता ही जाता है। पारिवारिक और ग्रामीण वातावरण के चित्र है अनेक जिनमे ग्राम जीवन की झलक मिले बिना नही रहती। कदाचित पडोस का घर ही उस तरुणी के प्रिय का घर है। वह उसके घर बार-बार जाती है, किसी न किसी बहाने पहुँचती रहती है। नए बहानो या कारणो के अभाव मे पुराने बहानो और कारणो से भी वह अपना काम चला लेती है—और कुछ नही तो दीपक जलाने और आग लेने के लिए ही वह प्रिय के घर बार-बार जाती है—

बार बार वा गेह सों बारि-बारि लै जाति।
काहे तें बिन बात ही बाती आजु बुझाति॥

——

नैन जोरि मुख मोरि हँसि नैसुक नेह जनाइ।
आगि लैन आई, हियें मेरे गई लगाइ॥

नायिका की ये चेष्टाएँ नायक के हृदय मे भरपूर असर डालती हैं। दोनों की प्रणय चेष्टाएँ उनके मनोभावो को एक दूसरे पर ज्ञापित करती है और दोनो एक दूसरे के निकट आते हैं। मिलन और साहचर्य के अनेक योग सघटित कराए गए हैं और प्रणय केलियो की मनोरम भूमि निर्मित की गई है। दोनो किसी दिशा मे घूमने निकलते हैं तो घूमते ही चले जाते है, घर की ओर मुडने या लौटने का नाम ही नही लेते, पारस्परिक दर्शन और प्रीति समन्वित साहचर्य का सुख उन्हे इन अनावश्यक बातो पर विचार करने का अवसर ही ' ही देता—

नेकु न थाकत पंथ में, चलें जु कोस हजार।
चचल लोइनि-हयनि पर भए जात असवार।।

चोर मिहीचनी के खेल मे नायक के कर-स्पर्श से नायिका तुरन्त पहचान लेती है कि उसकी आंखे किसने मूँदी है। नायक कभी-कभी तंग करने के इरादे से अपने हाथ मे कपूर लगा कर नायिका की आँखे मूंद लेता है। इस विनोद मे शालीनता और सुरुचि पर भी हमारी दृष्टि जा सकती है और उसके लिए कवि की सराहना भी की जा सकती है—

लाल तिहारे संग मैं खेलै खेल बलाइ।
मूँदत मेरे नैन हो करन कपूर लगाइ।।

प्रेमोन्मत्त प्रणयी कभी एक दूसरे को भुजा में भरकर भेटते हैं, कभी वन प्रान्तर में नायक नायिका को डरवाता है और कभी कॉटा धँस जाने पर उसके तलवो से काँटा निकालता है। ऐसे अनेक सरस और उन्मादक प्रसग सतसई मे वर्णित हुए हैं जो अनेक बार तो पूरा का पूरा बिब सामने रख देते हैं—

(क) कंटक काढत लाल की चञ्चल चाह निबाहि।
चरन खैंचि लीनो तिया हँसि झूठेकरि आहि।।

(ख) साँझ समै वा छैल की छलनि कही नहि जाइ।
विन डर बन डरपाइ कै लियो मोहिं उर लाइ।

(ग) लपटानी अति प्रेम सों दै उर उरज उतंग।
घरी एक लगि छूटे हूँ, रही लगी सी अंग।।

प्रणय-काल में मनोवृत्ति सब समय एक ही-सी नही रहती। मन रीझता भी है, खीझता भी है। कभी एक दूसरे के किसी कार्य आचरण या व्यवहार से प्रेमी प्रेमिका रुष्ट भी होते हैं, यह वृत्ति अल्पकालिक ही सही परन्तु जब तब जोर मारती ही है, इसे ही 'मान' कहा गया है जो प्रायः नायिकाओ मे ही विशेष रूप से जागृत दिखाई जाती है जिसमें नायक क्षमार्थी होता है और परमदीन रूप मे सामने लाया जाता है। नायिका हर्षित हो उठती है और मान इस तरह दूर भाग जाता है जैसे कभी रहा ही न हो। पद-लुठित नायक की दीन दशा देखकर नायिका साश्रुवदन हो उठती है, उसका

मान छूट जाता है, छलछलाती हुई आँसुओं की बूँदें प्रिय के तन पर बरसने लगती हैं, लगता है जैसे वह प्रेम के रस से ही सीच दी गई हो –

पगनि परयो लखि प्रानपति दियो मुगुध तिय रोइ।
कज्जल छल मन मलिनता ल्याए अँसुवा धोइ॥

वह हर्षातिरेक से भर उठती है, उसे रोमाच हो आता है, वह प्रेम-शिथिल पड़ जाती है, ऐसे अवसर पर कोई-कोई दूती (शायद कवि की ओर से) नायक को इस प्रकार की नेक सलाह भी देती है—

परसत ही थाकी भई तन कदंब की माल।
रह्यौ कहा परि पगनि में क्यों न अंक भरि लाल॥

मानवती नायिका को एक उक्ति मे बहुत ही सटीक ढंग से कवि ने 'इंदु उपल' या चद्रकातमणि के समान बतलाया है जो प्रिय का मुखचद्र देखने से ही द्रवित हो उठता है अन्यथा नही। चद्रकात मणि पर जब चद्रमा की किरणे पड़ती हैं तब उससे शीतल जल रसने (टपकने) लगता है, यही हाल मान करने वाली नायिका का भी है, उसका आधा मान तो प्रिय का मुँह देखकर ही छूट जाता है—

इन्दु-उपल उर बाल कौ कठिन मान मैं होत।
देखे बिन कैसें द्रवै तो मुख इन्दु उदोत॥

मान त्याग करते हुए कभी-कभी नायिका प्रिय से यह कहती हुई पाई जाती है कि हे प्रिय यह तो तुम्हारी सदा की चाल है, पैरो पर गिर कर सिधाई जतलाते हो और बाद मे फिर वक्र हो जाते हो जिससे मुझे मान करना पड़ता है पर यह उक्ति किसी प्रौढ़ा की ही हो सकती है—'पग परिबो मुरि बैठिबो यहै तिहारे काज।'

प्रेमी जीवन मे सुख-दुख, प्रेम-रोष, मिलन-बिछोह आदि की घड़ियाँ आती-जाती रहती हैं। जीवन के इन क्षणो का भी अपना महत्व है। प्रिय के जाने या आने के समय स्त्री-चित्त के क्या मनोभाव होते हैं इसे कवि ने अंकित करने की चेष्टा की है। प्रवत्स्यत्पतिका की मनोवृत्ति की यह निदर्शना तो कुछ अजीब है—

प्यो राख्यो परदेस ते करामात अधिकाइ।
कनक कलस पानिप भरे सगुन उरोज दिखाइ॥

पर आगतपतिका के मनोभावो और उल्लास का वर्णन अच्छा बन पड़ा है—वर्षा बीतने और शरद ऋतु के आने पर प्रिय परदेस से वापस आ गया, ऐसे समय नायिका की खुशी का क्या कहना! उसके अंगों की आभा, आँखो की प्रफुल्लता और मुख की काति को देखिये, वह स्वयं ऋतु-रूप हो गई है—

सरदागम पिय आगमन, लगी जोति मुख इंदु।
अंग अमल पानिप भयो, फूले दृग अरविंदु॥

प्रियागम की सूचना ही उसे हर्षोल्लास से भर देती है, यह हर्षोल्लास इस प्रकार उसके

अग-अंग से व्यक्त होता है जैसे वर्षा के प्रथम जल पडने पर पृथ्वी से सुगन्धि उठती है। बहुत ही सुन्दर और असाधारण सादृश्य है यह, इसमे नवता का सौरस्थ और आकर्षण भरपूर है —

प्रिय आगम सुनि बाल तन बाढ़े हरष विलास।
प्रथम बूँद बारिद उठैं ज्यों बसुमती सुवास।।

प्रिय के परदेश से वापस आने पर वामा का हुलास आत्यतिक हो उठता है, काम भी ऐसे समय खूब अपनी कमनैती दिखलाता है— 'टूक-टूक कंचुकि कियो करि कमनैती काम।'

संभोग शृगार के गाढे और उत्तान चित्र भी अनेक है। रति चिह्नो से मडित नायक नायिकाओ का भी परम्परागत ढंग पर वर्णन आया है। नायक के भाल पर लाल बिंदी लगी होती है जब वह सबेरे अलसाता हुआ उठता है, नायिका तो मारे लाज के गड जाती है पर लोग तो मुस्कराते ही है। उधर नायिका की सुरतात दशा बताते हुए कवि लिखता है कि कत के कधे पर हाथ रखकर वह अटपटी चाल से चली जा रही है, श्रम से शिथिलाग हुई तरुणी अपनी इस चाल से सभी को थका दे रही है, (लोग रुक कर उसकी ओर देखते रह जाते है) । प्रातः होने पर भी आँखो की निद्रा और लाली, तन और वेशभूषा पर अनेक अर्थभरे चिह्न आदि ऐसे वर्णनो मे बराबर बताए गए है। कही-कही रति का गोपन करने वाली 'सुरति गुप्ताएँ' भी आ गई हैं—

जानत खेत कुसुंभ के तेरी प्रीति अमोल।
चुभत करनि कंटकनि तौ कत कंटकित कपोल।।

सतसई की रचना करते हुए मतिराम को रीति की जकडन उतनी अधिक न थी जिसके फलस्वरूप वे रीति की सीमा के बाहर मे दृष्टि, मन और बुद्धि को थोडा बहुत दौडा पाए है और इसका सत्परिणाम यह हुआ कि देश के ग्राम्य जीवन पर भी उनकी नजर थोडा पहुँची है। ग्राम्य जीवन के प्रति दृष्टिकोण तो वही रहा है रीति कवि की रसिकता से भरा हुआ ही पर दृष्टिक्षेत्र का विस्तार जरूर गोचर होता है। इसी कारण कही तो वे नायिका द्वारा पडोस मे जाकर आग माँगने या दिया जलाने की बात लिख सके हैं और ग्रामीण तरुणी की यौवन दीप्ति के लिए ज्वार-बाजरा ऐसी देशी खाद्य सामग्री की बात कर सके हैं और पुराणवाचन सरीखे ग्राम्य मनोरजनों की चर्चा कर सके हैं—

बरषा ऋतु बीतन लगी, प्रतिदिन सरद उदोति।
लहलह जोति जुवार को अरु गंवारि की होति।।
सुत को सुनो पुरान यों लोगनि कह्यो निहोरि।
चाहि चाहि जुत नाह मुख मुसिक्यानी मुख मोरि।।

वह कैसा रोचक प्रसंग हुआ करता है जब कोई अवगुणी स्वय ही उस अवगुण पर भाषण और उपदेश देने लगता है। ऐमा ही प्रसग उपस्थित किया गया है दूसरे दोहे मे जब एक पुराण-वाचक ब्राह्मण की पत्नी पुराण श्रोताओ के बीच बैठी बैठी अपने प्रिय के कथन पर मन ही मन मुस्करा रही है। उसका प्रिय जो पुराण वाचक ब्राह्मण है सतति कामी लोगो को सतति लाभ का उपाय बता रहा है; पत्नी को हँसी इस बात पर आ रही है कि सतति लाभ का मार्ग बताने वाला स्वयं क्यो आज तक निःसतान बना हुआ है ? 'खुद मियाँ फजीहत दीगरा नसीहत' की उक्ति को चरितार्थ करने वाले इन्सानो पर हंसी आना स्वाभाविक है।[1]

विरह-वर्णन—प्रेम की नाना परिस्थितियो का निदर्शन करते हुए मतिराम ने प्रेम को रग और आब देने वाली विरह-दशा का भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया है और नायिका की विरह-दशा को विशेषतः निर्दशित किया है। विरह-वर्णन के अंतर्गत उसका रुदन और अश्रुपात, अगदाह या अगताप और निःश्वास, दशा-निवेदन, स्वप्न, कृशता, विरहोद्दीप्ति आदि का वर्णन हुआ है। नायिका का नया-नया विरह है, पहली बार प्रिय उसे छोडकर परदेस जाता है फलतः क्षण-क्षण उसके आँसू निकलते चले जाते हैं, रुकते ही नही, इस पर कवि की उक्ति बहुत सुन्दर है—लगता है उसके तन मे जो पानी है वह स्रोत का स्रोत उसकी आँखो मे जा लगा है, तभी न इतना जल उसकी आँखो से बह रहा है !

> नए विरह अंसुवानि कौ छिन छिन होत उदोत।
> अंखियन लग्यो अपार वह तन-पानिप कौ सोत ॥

ये आँसू जब उसके कपोलो पर से होकर अनवरत रूप से बहते हैं तो जल चादर का, सा दृश्य उपस्थित करते है। किसी ऊँचे धरातल से पानी जब नीचे को गिरता है और उस धारा के पीछे दीपको की माला प्रकाशित होती रहती है उस समय जो दृश्य उपस्थित होता है उसे जल चादर कहते हैं। यह प्रयोग बिहारी मे भी आया है। मतिराम की उक्ति इस प्रकार है—

> अंसुवा वरुनी ह्वै चलत जलचादर के रूप।
> अमल कपोलनि की झलक झलकति दीप अनूप ॥

यहाँ आँसुओ के पीछे नायिका के कान्त कपोलो की दीप्ति का भी वर्णन हुआ है। विरहिणी के आँसुओ का वर्णन अनुभूति के मार्मिक सस्पर्श के अभाव मे ऊहात्मक भी

---

[1] बिहारी मे भी भाव की प्रकारांतर से अभिव्यक्ति हुई है, असम्भव नही कि मतिराम पर बिहारी के इस दोहे का प्रभाव हो—

> बहु धन लै अहसान कै, पारो देत सराहि।
> बैद-बधू हंसि भेद सों, रही नाह मुख चाहि ॥

हो गया है जहाँ कोरी कल्पना का ही चमत्कार गोचर होता है। नायिका इतना रोती दिखाई गई है कि उसके आँसुओ का सागर ही उमडने लगता है पर गनीमत यह है कि वियोग की जो बडवाग्नि है वह उस अश्रु सागर के समूचे उद्वेग को शान्त कर देती है—

नारि नैन के नीर को नीरधि बढै अपार।
जारे जौन वियोग की बडवानल की झार ॥

दूसरी ऊहा मे यह कहा गया है कि ग्रीष्म ऋतु मे भी नायिका के गाँव मे नदी का जल सूखने नही पाता, ग्रामवासियो को सरिता स्नान और सरिता के आरपार तैरने की सुविधा बनी ही रहती है क्योकि वह नदी विरहिनी के आँसुओं का जो ठहरी, उसमे जल की कमी होने ही नही पाती—

ग्रीषम हूँ रितु मैं भरी दुहूं कूल पैराउ।
खारे जल की बहति है नदी तिहारे गाउं ॥

यह वर्णन उपहासास्पद होते हुए भी रोचक तो है ही। पहली उक्ति का वैलक्षण्य भी इसी प्रकार का है। विरह के कारण उसके शरीर मे बेहद ताप बताया गया है, इस विरह के ताप को समेटे हुए वह सूर्यकात मणि बनी हुई है, चद्रमा आदि की किरणे अपने स्पर्श से उसे शीतल नही करती वरन् और भी दग्ध करती है—

चंद किरन लगि बाल तन उठे अंग अति जागि।
परसत कर दिन कर किरनि ज्यों दरपन में आगि ॥

उसके अंगो की यह ज्वाला अथवा तपन इस हद तक बढ़ी हुई है कि वर्षा ऋतु में भी समीपवर्ती वन प्रदेश के वृक्षादि हरे भरे नही हो पाते ठूंठ ही बने रहते हैं। उसकी एक टक देखने वाली, प्रिय की प्रतीक्षा मे खुली आँखों से विरह की ऐसी ज्वाला फूटती रहती है कि स्वय मृत्यु भी उसे छूने का साहस नही कर पाती। गई मीच परसत पजरि विरहानल की झार। एक सखी तो कहती है कि इसकी दशा और क्या कहे। विरह की आँच में सचमुच इसके अंग अंगार हो गए है,—विरह आँचे भए याके अंग अंगार' वह आग की लपट की तरह हो गई है और जहाँ-जहाँ जाती है वहाँ-वहाँ की सभी वस्तुएं झुलस जाती हैं। ये सारे वर्णन ऊहात्मक पद्धति पर हैं, विरहातिरेक के निदर्शनार्थ रीति कवियो के पास यही एक अतिशयोक्ति मूलक पद्धति थी जिस पर ये कवि चलकर बहुत करतब दिखाते पाए जाते हैं। बिहारी अपनी वियोग वर्णनात्मक ऊहाओं के लिए प्रसिद्ध ही हैं। मतिराम ने भी विरह वर्णन मे वही पद्धति अख्तियार की है, अनुभूति से लिपटे हुए कथन कम किये हैं। ऋतुएँ वसन्तादि—उसकी वेदना को और भी बढ़ावा देने वाली हैं। किंशुक से पुष्पित लाल वन उसे काम के हाथी के लोहू सरीखे लगते हैं और कोयल की कूक उसके देह मे बसने वाले काम को जाग्रत कर देती है—'जाग्यो मैन महीप सुनि पिकबादिनी के बैन।' कुछ छंदों में अश्रु और

विरह और ताप दोनो का एक साथ ही वर्णन हुआ है—विरहिणी विरह की अग्नि में जलती और आँसुओ मे डूबती-उतराती बताई गई है। एक तरफ वियोग की आग कम नही होती बढती ही जाती है दूसरी तरफ नेत्रो की वर्षा भी बंद नही होती :—

जलद निकासी रैन दिन रहै नैन झर लागि ।
बाढ़ति जाति वियोग की विद्युत की सी आगि ॥

उसकी ऊँची-ऊँची निःश्वासो की झोक मे उसका मन इधर-उधर उडता रहता है, उसकी आहो की दीर्घता और मन की बेचैनी इस उक्ति मे मूर्त हुई है—'**मन उड़ात अजहूं रहै, ऊँचां उही उसास।**' आँसुओ मे गलती हुई और ताप मे दग्ध होती हुई विरहिणी यदि कृशता मे क्षीण कनक रेखा-सी प्रतीत होने लगे तो आश्चर्य ही क्या !

नील नलिन दल सेज मैं परी सुतनु तनु देह ।
लसै कसौटी मैं मनो तनक कनक की रेह ॥

कृशता के कारण कामिनी की बाँह के ककण के गिर जाने का वर्णन—'**दुबराई गिरि जातु है कंकन कामिनि बाँह**'—कोई नई चीज नही है। केशवदास तथा अन्यान्य कवियो की भी इसी आशय की उक्तियाँ पहले से ही कवि परपरा मे प्रसिद्ध हैं—

तुम पूछत कहि मुद्रिके मौन होत यहि नाम ।
कंकन की पदवी दई तुम बिन या कहँ राम ॥ (केशवदास)

ये तथा अधिकाश विरहवर्णनात्मक उक्तियाँ इसी प्रकार विरहिणी की वाह्य दशा का सूचन करती है उसकी मनस्थिति के निदर्शक चित्र अपेक्षा कृत कम है। नायिका बार-बार दूती से यह अनुनय-विनय करती दिखाई गई है कि प्रिय का मिलन करा दो। विरह के घनत्व की व्यजना की दृष्टि से यह मनोभाव कुछ बहुत स्पृहणीय नही कहा जा सकता, इसमे एक प्रकार की तुच्छता या हलकापन है। इसकी अपेक्षा यह उक्ति अधिक युक्ति युक्त, अर्थगर्भित और मार्मिक है—

लाज छुटी गेहो छुट्यौ, सुख सो छुट्यो सनेह ।
सखि कहियौ वा निठुर सों, रही छूटिबे देह ॥

कभी-कभी विरहिणी को इस बात का अफसोस होता है कि वियोग की इतनी अग्नि से भरा हुआ उसका पाषाण-हृदय अब तक दुःखातिरेक से विदीर्ण क्यो न हो गया—

चलत लाल के मै कियो सजनी हियो पखान ।
कहा करों दरकत नही भरें बियोग कृसान ॥

यह पश्चात्ताप नितान्त स्वाभाविक पद्धति पर है इसीलिए मार्मिक भी है। रात-दिन प्रिय के सोच मे विकल विरहिणी रात्रि मे कभी प्रिय का स्वप्न भी देखती है पर वह स्वप्न-सुख उसे दुख ही देने वाला होता है। राधिका का विरह तो सर्वथा अनिर्वचनीय ही समझिये, वह तो वायु के झकोरों के बीच प्रकंपित दीपशिखा बनी हुई है, विरह-

वायु-का कोई भी झकोरा उसकी जीवन-शिखा को किसी भी क्षण बुझा सकता है, इस उक्ति मे निश्चयमेव असाधारण मार्मिकता है—

दसाहीन राधा भई सुनिए नंद किसोर।
दीपसिखा लौ देखियत बारि बयारि झकोर।।

निष्कर्ष—सब मिला कर यही कहना पडेगा कि मतिराम सरस काव्य के स्रष्टा है ! रीति के बधनो मे यदि उनकी कविता जकडी न होती तो वे काव्य रचना का और भी अधिक उत्कर्ष दिखा सकते थे। कवि प्रतिभा उनमे भरपूर थी। 'रसराज' और 'ललित-ललाम' के छदो मे जो दोष है वह प्रधानतः उनकी रीतिबद्धता का है, रीति की जकड़न से कविता का गला एक सीमा तक घुँट गया है यह मानना पडेगा फिर भी सरस छन्द वहाँ भी बहुत से मिल जाते है। शृंगार उनका प्रधान वर्ण्य है और नायिका उसका प्रधान आलबन। उसी के रूप-सौदर्य, प्रेम, प्रणय-चेष्टादि के वर्णन मे, उसी के अंतर्बाह्य स्वरूप के दिग्दर्शन मे कवि प्रतिभा का विनियोग हुआ है। इसमे वे सफल भी हुए परन्तु सीमित काव्य दृष्टि जो सभी रीतिबद्ध या रीतियुगीन कवियो मे पाई जाती है उस दोष से मतिराम भी मुक्त नही हैं। बँधे हुए अति सीमित वर्ण्य को लेकर ही इनकी कविता लिखी जा सकी है। मतिराम की 'सतसई' को उनकी अन्य दो प्रधान कृतियो 'रसराज और ललितललाम' की अपेक्षा मै अधिक सरस और उत्कृष्ट कृति मानता हूँ जिसमे उनकी कविता कुछ मुक्ति का अनुभव करती है। वह उनकी रीतिबद्धता की अपेक्षा रीतिसिद्धता का द्योतन करती है और उसकी रचना उन्हें बिहारी और रसनिधि के समीप ला देती है। इसमे तो संदेह ही क्या कि मतिराम अपने युग के कर्ता कवियो में एक महत्वपूर्ण स्थान रखते है परन्तु हमारा विचार है कि यह स्थान उन्हे अपनी सतसई के कारण अधिक प्राप्त होता है। वैसे उनके कवित्त-सवैयो मे जो सरसता है उसका निषेध नहीं किया जा सकता। मतिराम की कविता मे बाहरी तडक-भड़क, दिखावे और चमत्कार की प्रधानता नही, उसमे एक ऋजुता है, सरलता और सीधापन है। भाषा सीधी है वक्र नही, वह अपने सीधेपन की ही विशिष्टता से मंडित है। दिखावा और बनाव-शृङ्गार उनकी प्रकृति मे नही, जो बात है सीधे कही गई है और इसी कारण वह समझ मे भी आने वाली है। परंपरागत काव्य का प्रभाव भी उन पर भरपूर है तथा बिहारी आदि कवियो के भावों की आवृत्ति उनकी कृतियो मे पाई जाती है विशेषतः सतसई मे। यह भावापहरण सामान्यतः तो ठीक बन पडा है परन्तु बिहारी से अधिक उत्कर्ष उनके दोहों मे आ सका है ऐसा नही कहा जा सकता। फिर भी उनके दोहो की मर्मस्पर्शिता असंदिग्ध है। मतिराम हिन्दी कवियों की प्रथम कोटि में नही बिठाए जा सकते परन्तु उनकी द्वितीय कोटि सुरक्षित समझना चाहिये। शृंगार से इतर रचनाएँ अपवाद रूप में ही उनमें मिलती हैं। थोड़ा सा 'प्राकृत-काव्य' भी उन्होंने लिखा है जो वर्ण्य की साधारणता

के कारण विशेष प्रवृत्तिकारी नही है। भक्तिपरक छन्द प्रमुख ग्रंथों के मंगलाचरण में ही आए हैं। उनकी छोटी-छोटी कृतियाँ तो सामान्यतः सुलभ भी नही हैं।

देव

वृत्त

देव कवि का पूरा नाम देवदत्त था तथा ये अपने कवित्त सवैयो मे 'देव' शब्द का ही प्रयोग करते थे जिससे देव इनका उपनाम या कविनाम हो गया। कई बार अपने ग्रंथो के अत मे या उनके परिच्छेदो के अन्त मे इन्होने अपने पूरे नाम 'देवदत्त' का भी प्रयोग किया है। इनके प्रपौत्र भोगीलाल भी इनका नाम 'देवदत्त' ही बताते हैं - 'देवदत्त कवि जगत मे भए देव रमणीय।' इनके जन्म काल, वश और निवास-स्थान आदि का पता इनकी प्रसिद्ध कृति 'भाव विलास' से चलता है—

> शुभ सत्रह सैं छियालिस, चढ़त सोरही व; ।
> कढ़ी देवमुख देबता, भाव विलास सहर्ष ।।
> द्यौसरिया कवि देव को, नगर इटायो बास ।
> जोवन नवल सुभाव रस, कीन्हौं भाव विलास ।।

पहले दोहे के अनुसार सं० १७४६ में ये १६ वर्ष के थे अतएव इनका जन्मकाल स० १७३० ठहरता है। दूसरे दोहे मे देव ने अपने आप को इटावा जिला (उत्तर प्रदेश) का निवासी द्यौसरिया ब्राह्मण बतलाया है। प० रामचन्द्र शुक्ल ने इन्हे सनाढ्य ब्राह्मण बतलाया है जो ठीक नही। द्यौसरिया को धौसरिया पढने के कारण यह गलती उनसे तथा उनके पूर्ववर्ती विचारकों से हुई। धौसरिया सनाढ्य ब्राह्मणो की एक अल्ल होती है और इटावा सनाढ्यो की बस्ती थी अतएव इस भ्राति का फैलना स्वाभाविक था परन्तु यह बात अब सिद्ध हो चुकी है कि देव सनाढ्य ब्राह्मण न थे वरन कान्य-कुब्ज थे जिनकी आज भी इटावे मे कमी नही। वहाँ देव के वशजों के दो-तीन घर अब भी मिलते है ऐसा डा० नगेन्द्र ने लिखा है। देव कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे, काश्यप उनका गोत्र था और दुसरिहा या द्यौसरिया उनकी अल्ल थी। देव के प्रपौत्र भोगीलाल ने अपने रस ग्रंथ 'बखत विलास' मे जो स्ववश विवरण दिया है उससे भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है—

> काश्यप गोत्र द्विवेदि कुल कान्यकुब्ज कमनीय ।
> देवदत्त कवि जगत में भए देव रमनीय ।।

देव के पिता का नाम बिहारीलाल दुबे था तथा देव के दो पुत्र भी थे — भवानी प्रसाद और पुरुषोत्तम जिनके वंशज क्रमशः इटावे और कुसमरा मे अब भी विद्यमान हैं। देव कवि २६-३० वर्ष तक इटावे में रहने के बाद कदाचित् कुसमरा नामक गाँव में जाकर रहने लगे थे। इटावा-फर्रुखाबाद की सड़क पर इटावा से ३० मील की दूरी

पर सडक से दो फर्लाङ्ग अन्दर की तरफ कुसमरा नामक गाँव स्यित है जहाँ उनके वशज मातादीन दुबे का मकान है। यही पर देव जी की बगीची के अवशेष अब भी मिलते हैं। इसी कुसमरा नामक गॉव मे देव की गृहस्थी थी तथा ये विविध आश्रय-दाताओ के यहॉ आया-जाया करते थे।

देव के जीवन के सम्बन्ध मे कुछ विशेष विवरण उपलब्ध नही होते। डा० नगेन्द्र ने अपने शोध प्रबन्ध के सिलसिले मे देव के निवास-स्थान कुसमरा इटावा आदि की यात्रा की तथा देव के वशज मातादीन दुबे से देव के सम्बन्ध मे स्थानीय रूप से प्रचलित कुछ किवदन्तियो की भी जानकारी संग्रहीत की है जिनका सम्बन्ध देव के विद्याध्ययन काल से है तथा भरतपुर एव अलवर नरेशो से भी। इनके आधार पर पता चलता है कि देव एक स्वाभिमानी व्यक्ति थे, किसी की कृपा पर रहना इन्हें नही रुचता था साथ ही धन वैभव का भी इन्हे लोभ न था फलतः अतिम समय में इन्हे आर्थिक विपन्नता सहनी पडी। इनमे वाणी की सिद्धि थी अर्थात इनकी कही हुई बाते प्राय· सत्य ही होती थी। ये निर्भीक और दोटूक बात कहने वाले आदमी थे। सभव है अपनी इसी प्रकृति के कारण ये किसी एक आश्रयदाता के यहॉ जम कर न रह सके। यह तो प्रसिद्ध और सर्वविदित ही है तथा उनकी रचनाओ से भी प्रकट है कि देव कवि किसी भी राज्याश्रय मे अधिक काल तक न रह सके। जगह-जगह आश्रय की खोज मे इन्हे जाना पडा। रीतिमुक्त कवियो मे बोधा की भी यही स्थिति रही है। किसी भी राजा या रईस का आश्रय यथावाछित रूप मे अनुकूल न रहा हो, देव की निजी रुचि किसी आश्रयदाता या स्थान विशेष से पूर्णतः तुष्ट न ही सकी हो, अपने स्वभाव के कारण ये कही अधिक काल तक न खप सके हो, तरुणावस्था मे देशाटन आदि का विशेष चाव रहा हो आदि ऐसा ही कोई न कोई कारण होना चाहिए जिसने देव को इधर-उधर काफी भटकने को बाध्य किया होगा। देव का 'जाति विलास' नाम ग्रथ इनके विशद देशाटन के अनुभवो का ही परिणाम बताया जाता है जिसमे इन्होंने विविध जातियो और प्रदेशो की स्त्रियो (या नायिकाओं) का वर्णन किया है। ये वर्णन सर्वत्र यथार्थ और सटीक ही हो ऐसा नही कहा जा सकता। जो हो, इससे इनकी रसिकता और जीवन-दृष्टि पर विशेष प्रकाश पड़ता है।

आश्रय और प्रतिष्ठा-प्राप्ति के लिए देव जिन-जिन रईसो राजाओ के यहाँ गए उनमें सर्वप्रथम थे औरंगजेब के पुत्र आजमशाह जिन्हे इन्होंने अपने दो ग्रथ 'अष्टयाम' और 'भाव विलास' सुनाये तथा समर्पित किये। आजमशाह काव्यानुरागी व्यक्ति थे, उन्होंने देव की रचनाओ की सराहना की तथा इन्हे प्रोत्साहित भी किया—

दिल्ली पति अवरंग के आजमसाहि सपूत।

इसके बाद ये चर्खी-दादरी के राजा सीताराम के भतीजे भवानी दत्त वैश्य के आश्रय मे रहे तथा उन्ही के नाम पर 'भवानी विलास' नामक ग्रथ लिखा। देव के तीसरे आश्रयदाता थे फफूंद रियासत के राजा कुशल सिह जिनके लिये इन्होने 'कुशल-विलास' नामक ग्रथ की रचना की। मनोनुकूल आश्रयदाता न मिलने के कारण ये बहुत जगह भटकते फिरे और सम्भवतः इसी सदर्भ मे इन्होने देश के विविध भागो की लम्बी-चौड़ी यात्रा भी की। स० १७८३ के लगभग एक अपेक्षाकृत अधिक गुणज्ञ आश्रयदाता इन्हे मिले जिनके लिये इन्होने अन्य आश्रयदाताओ का त्याग करना ही उचित समझा—

पावस घन चातक तजै, चाहि स्वाँति जल बिन्दु।
कुमुद मुदित नहिं मुदित-मन, जौ लौं उदित न इन्दु॥
देव सुकवि तातें तजे राइ रान सुलतान।
'रस विलास' सुनि रीझिहैं, भोगीलाल सुजान॥

भोगीलाल को प्रसन्न करने के लिए ही इन्होने 'रस विलास' नामक ग्रथ लिखा। उसमे इन्होने राना भोगीलाल की प्रशसा इस प्रकार की है—

भूलि गयौ भोज बलि विक्रम बिसरि गए
जाके आगे और तन दौरत न दीदे हैं।
भोगीलाल भूप लाख पाखर लेवैया जिन
लाखन खरचि रचि आखर खरीदे हैं॥

भोगीलाल काव्य-प्रेमी और गुणज्ञ थे परन्तु देव ठहर वहाँ भी न सके। देव की रुचि इनमे से किसी पर भी स्थायी रूप से जम न सकी और न ही कोई आश्रयदाता इन्हे आर्थिक चिन्ताओ से कदाचित आजीवन मुक्त करा सकने की सामर्थ्य रखता था। देव की निर्भीकता और दुर्दयनीय स्वाभिमान भी कारण हो सकता है। इस समय तक ये ५३ वर्ष के हो चुके थे, राजा रईसो के आश्रय का सम्भवतः कुछ बहुत अच्छा अनुभव इन्हे न था, पराधीनता मे सुख कहाँ! तज्जन्य ग्लानिवश इन्होने 'नरिन्दो' को छोड़ गोविन्द की शरण मे जाना अधिक श्रेयस्कर समझा। स्वयं रस-विलास ही इसका प्रमाण है—

बीचु मरीचन के मृग लौं अब धावै न रे सुन काहू नरिन्द के।
इन्दु सौ आनन तू जु चितै अरविन्द से पॉयन पूजि गुविन्द के॥

परन्तु ये गोविन्द की शरण जा न सके। जीवनव्यापी कवि-वृत्ति ने इन्हे वैराग्य न लेने दिया और इन्हें अन्यान्य आश्रयदाताओ की शरण स्वीकार करनी पडी। ये इटावा के समीपस्थ ड्योडिया खेरा के जमींदार मर्दन सिंह के पुत्र उद्योत सिंह वैश्य के यहाँ कुछ समय तक रहे और उनके लिए इन्होने 'प्रेमचन्द्रिका' की रचना की। इसके बाद देव कवि दिल्ली के रईस कायस्थ (नरोत्तमदास के पुत्र) पातीराम के पुत्र

सुजानमणि के आश्रम में भी रहे जो अत्यंत सम्पन्न, काव्यरसिक और दानशील व्यक्ति थे। इनके लिए स० १७६० से १७६५ के बीच किसी समय देव ने 'सुजान विनोद' नामक ग्रथ लिखा। सुजानमणि ने देव को दान-सम्मान द्वारा पर्याप्तरूपेण तुष्ट किया। इसके अनतर देव की जो रचनाएँ प्राप्त होती है—शब्द रसायन, देवमाया प्रपंच, देव-शतक या वैराग्यशतक आदि—वे किसी को समर्पित नही हैं जिससे यह अनुमान होता है कि सं॰ १८०० के आस-पास देव कुसमरा मे ही जाकर रहने लगे थे। वृद्धावस्था मे शातिप्रियता की रुचि स्वाभाविक है। बहुत समय तक अपने गाँव मे शात जीवन-यापन के बाद भी राज-सम्पर्क से इन्हे मुक्ति न मिल पाई। भरतपुर और अलवर की रियासतो के राजाओ से भी इनका थोडा बहुत सम्पर्क हुआ यद्यपि इन संबधो की परिणति कुछ कटुतापूर्ण ही रही। देव के अतिम आश्रयदाता थे पिहानी राज्य के अधिपति अकबर अली खाँ जो एक वीर पुरुष होने के साथ-साथ काव्य-प्रेमी भी थे। स० १८२४ मे देव ने अपना ग्रथ 'सुख सागर तरंग' उन्हे समर्पित किया जिसमें उनकी बहुत-सी पहले की रचनाएँ सग्रहीत हैं। इनके ही कुछ दिनो बाद सं० १८२४-२५ मे लगभग ६४-६५ वर्ष को आयु मे देव कवि का निधन हुआ होगा। कुसमरा मे ही इनकी मृत्यु हुई।

जिस कवि ने बार-बार राजा रईसो के आश्रय के कटु अनुभव के अनंतर नरिन्दो की मृगमरीचिका से मुक्त हो गोविन्द के चरणो को ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की है और चचल मन के हाथ-पैर तोडकर नरनाहो की आज्ञाओ की उपेक्षा कर उसे राधावर के विरद-वारिधि मे डुबोने की अभिलाषा व्यक्त की है, यह परिस्थितियो की ही विडम्बना है कि ८४ वर्ष की वृद्धावस्था मे भी उसे अकबर अली खाँ के यहाँ हाथ जोड़कर खड़ा होना पडा। माया का दुर्निवार बंधन मनुष्य के काटे नही कटता देव का जीवन इस तथ्य का ज्वलत प्रमाण है।

देव को कुछ लोगो ने हित हरिवश, कुछ ने निंबार्क तथा कुछ ने राधावल्लभीय सम्प्रदाय मे दीक्षित बतलाया है परन्तु इस सबध मे अतर्साक्ष्य तो कुछ है नही कोई विश्वसनीय बहिर्साक्ष्य भी उपलब्ध नही होता। देव एक शृङ्गारी कवि थे उनकी शृगार भावना मे कोरी रसिकता का छिछलापन नही है, उसमे प्रेम-निष्ठा की कुछ गहराई भी है। वे प्रेम और भोग के साथ-साथ भक्ति और वैराग्य के प्रगाढ़ भावो के भी कवि हैं। उनमे गाढ़ शृंगारिकता के साथ-साथ सच्चे ईश्वर-प्रेम की भी वृत्ति दिखाई देती है। मगध, अन्तर्वेद, मालवा, केरल, द्राविड भूमि, भूटान, कश्मीर आदि सुदूर भूभागो की यात्रा के कारण इनकी काव्याभिरुचि और जीवन-दृष्टि मे निश्चित विकास हुआ होगा तथा इनमे अनुभव तथा अनुभूतियों की संपन्नता भी विशेष हुई होगी। इनके काव्योत्कर्ष में इनके जीवनानुभवो का सुनिश्चित योग रहा है। उन्होंने जीवन के अनुभवो के साथ-साथ पर्याप्त ज्ञान भी अर्जित किया था—सस्कृत, प्राकृत

और भाषा-साहित्य के साथ-साथ उन्होंने दर्शन, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि का भी अच्छा अध्ययन किया था। इन सभी कारणो से देव हिन्दी के श्रेष्ठतम कवियो मे परिगणित होते हैं।

कृतियाँ

परम्परागत रूप मे यही प्रसिद्ध है कि देव ने ७२ ग्रथ लिखे। किसी-किसी ने इस सख्या को ५२ भी कहा है पर सभी ग्रथो की अद्यावधि उपलब्धि नही हो सकी है। सभव है देव की रचनाओ के किसी अनुरागी को इतने ग्रंथ प्राप्त रहे हो। देव की अनेकानेक कृतियो मे कई छद ऐसे है जो समान रूप से मिल जाते हैं। बात यह है कि नए-नए आश्रयदाताओ को इन्हे ग्रथ समर्पित करना पडता था। नये न लिख सकने की स्थिति मे ये पूर्ववर्ती रचनाओ के छदो को ही जोड-तोडकर या कुछ हेर-फेर के साथ नए ग्रथ तैयार कर देते रहे होगे। डा० नगेन्द्र के मतानुसार आज देव की उपलब्ध कृतियों की सख्या १८-२० से अधिक नही—

१. भाव विलास	२. अष्टयाम	३. भवानी विलास
४. शिवाष्टक	५. प्रेम-तरग	६. कुशल विलास
७. जाति विलास	८. रस विलास	९. प्रेमचद्रिका
१०. सुजान विनोद या रसानंद लहरी	११. राग-रत्नाकर	१२. शब्दरसायन
	१३. देव चरित्र	१४. देवमाया प्रपचनाटक
१५. देव शतक	१६. सुखसागर तरंग	१७. शृंगार विलासिनी

उक्त १७ ग्रथो के अंतर्गत देवशतक मे ही ४ छोटी-छोटी रचनाएँ शामिल हैं—जगद्दर्शन पचीसी, आत्मदर्शन पचीसी, तत्वदर्शन पचीसी, प्रेम पचीसी। इस प्रकार कुल प्राप्त ग्रथों की सख्या २० हो जाती है। इनके अतिरिक्त भी जो ग्रथ देव कृत बताए जाते है उनकी नामावली इस प्रकार है—

१. प्रेम दीपिका	२. सुमिल विनोद	३. राधिका विलास	४. पावस विलास
५. वृक्ष विलास	६. नख-शिख	७. प्रेम दर्शन (या नख-शिख प्रेम दर्शन)	
८. नीति शतक	९. वैद्यक ग्रंथ	१०. सुजान चरित्र	११. सुन्दरी सिंदूर
१२. बखत विलास	१३. बखत विनोद	१४. बखत शतक	१५. वृत्त मंजरी
१६. माधवगीत	१७. कालिका स्तोत्र	१८. नृसिंह चरित्र	१९. प्रज्ञान शतक

देव कृत कुछ संस्कृत ग्रंथ भी कहे गए हैं—

१. श्री रघुनाथ लहरी	२. शक्ति विलास	३. श्री लक्ष्मी नृसिंह पंचाशिका
४. मनोभिनंदिनी	५. महावीर मल्लारि स्तोत्र या देवाष्टक	
६. शिव पंचाशिका	७. साब शिवाष्टक	८. लक्ष्मी दामोदर स्तोत्र
९. शक्ति विलास	१०. राग विलास	११. वरुणाष्टक स्तोत्र
१२. शुक्राष्टक।		

ये सभी ग्रंथ मिलकर (२०+१६+१२)=५१ की संख्या मे हो जाते है परन्तु ये सभी प्रसिद्ध कवि देव के ही है इसमे संदेह है। प्रथम २० ग्रंथो के अतिरिक्त जिन ग्रथों का उल्लेख ऊपर हुआ है उसके नाम ही मिलते है, ग्रथ नही। परम्परा प्राप्त इन नामो से क्या होता है जब तक कि मूल ग्रथ ही प्राप्य न हो। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि देव ने और भी ग्रन्थ लिखे होगे। इस संभावना का निषेध नही किया जा सकता पर वे सब अब प्राप्त नही है। एक सभावना यह भी है कि देव नाम के और जो कवि हिन्दी मे हुए है उन सब के ग्रन्थो को जोडकर एक ही देव के ग्रन्थ किसी ने मान लिए हो और कही लिपिबद्ध भी कर दिया हो और इस प्रकार देव के नाम से ७२ या ५२ ग्रन्थो के लिखे जाने की रूढि बन गई हो। सत्य जो भी हो देव का वही कृतित्व आज हमारे सामने विचारणीय है जो प्रामाणिक रूप से उनका कहा गया है और इस दृष्टि से उपर्युक्त विवरण मे आये २० ग्रन्थो तक ही हमारी गति हो सकती है।

देव के कुछ ग्रन्थो के दो-दो नाम भी प्रचलित है जैसे देवशतक या वैराग्य-शतक, सुजान विनोद या रसानद लहरी, शब्द रसायन या काव्य रसायन।

देव का कृतित्व

रीतियुगीन कवियो मे देव कवि की ख्याति केशवदास, बिहारी और पद्माकर के समान तो नही थी परन्तु उनकी महत्ता सदा स्वीकृत हुई है तथा रीतियुग के उक्त तीन कवियो के अतिरिक्त अन्य कोई कवि देव से अधिक ख्याति प्राप्त कर सकता है ऐसा नही कहा जा सकता। जहाँ तक देव के काव्य के गुणात्मक उत्कर्ष का सवाल है यह वाद-विवाद का विषय भले ही रहा हो परन्तु रीतियुग के कवियो मे देव का सुनिश्चित महत्व कभी भी अस्वीकार नही किया जा सका। रीति युग के महत्वपूर्ण काव्य-मर्मज्ञो-भिखारीदास, सूदन, कालिदास त्रिवेदी, दलपतिराय, बशीधर, प्रतापसाहि गोकुल प्रसाद, सरदार कवि, देव के प्रपौत्र भोगीलाल आदि ने अपने ग्रंथो मे देव कवि का महत्व कथित और स्वीकृत किया है। आधुनिक युग के आरम्भ मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, ठा० शिवसिंह सेगर और पं० बालदत्त मिश्र ने देव के महत्व की प्रतिष्ठा में योग दिया है। ये पं० बालदत्त मिश्र हिन्दी आलोचना जगत मे देव की प्रतिष्ठा करने वाले मिश्र बंधुओ के पिता थे जिन्होंने सं० १९५४ में देव के 'सुखसागर तरग' नामक काव्य संग्रह का प्रकाशन कराया तथा उसकी भूमिका में मध्ययुग के पाँच कवियो को सर्वाधिक महत्वपूर्ण बतलाया—सूर, तुलसी, केशव, बिहारी और देव। उन्होंने अपनी भूमिका में देव कवि के किसी अनन्य भक्त द्वारा लिखा गया देव कवि की महत्ता प्रतिपादित करने वाला यह छंद प्रस्तुत किया था—

सूर-सूर तुलसी सुधाकर नछत्र केसौ,
सेस कबिराजन कों जुगनू गनाय कै।

कोऊ परिपूरन भगति दरसायो, अब
काव्यरीति मो सन सुनहु चित लाय कै ।
देव नभ मंडल समान हैं कबीन मध्य,
जामै भानु सितभानु तारागन आय कै ।
उदै होत अथवत चारों ओर भ्रमत पै,
ताको ओर छोर नहि परत लखाय कै ॥

सूर, तुलसी, केशव आदि को सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र तथा अन्य कवियो को उडगन कहा जा चुका था ऐसी स्थिति मे देव की प्रतिष्ठा बिना किसी ऐसे प्रतिष्ठा ज्ञापक छद की रचना के संभव न थी कम-से-कम लोक-दृष्टि मे। उसी लोक-दृष्टि को आकर्षित और चमत्कृत करने के उद्देश्य से किसी से उक्त छद की रचना करा डाली। हिन्दी समीक्षा के सूत्रधारो मे गण्यमान्य मिश्रबधुओ ने भी इस सूत्र को अपने पिता जी से ही ग्रहण किया और उसे अग्रसर करते हुए हिन्दी नवरत्न में देव की असाधारण प्रतिष्ठा का भरपूर प्रयत्न किया। यह बात है स० १९६७ की। देव हिन्दी के सबसे बडे कवि हैं या सूर और तुलसी के बाद महत्व की दृष्टि से देव का ही नम्बर आता है या देव आकाश तुल्य है जिसका ओर-छोर सूर्य (सूरदास चद्रमा (तुलसीदास) और नक्षत्रादि (केशव आदि) चक्कर खा-खाकर भी नही पा सकते ये सारी बाते चौकानेवाली थी और समीक्षा के अखाडे मे। जो अभी-अभी खोदा और जोडा गया था) खलबली मचा देने वाली थी। इन बातो से हिन्दी समीक्षा के कई पहलवानो मे गर्मी आ गई और वे खम ठोक-ठोक कर अखाडे मे उतर पड़े। 'हिन्दी नवरत्न' के जवाब मे प० पद्मसिह शर्मा का 'सतसई-संहार' और 'सतसई संहार' के मुकाबले मे पं० कुन्ज बिहारी मिश्र की 'देव और बिहारी' और उसके खंडन के लिए लिखी गई लाला भगवान दीन की 'बिहारी और देव' आदि पुस्तके सामने आईं जिनसे तुलनात्मक समीक्षा का मार्ग भले ही प्रशस्त हुआ हो परन्तु एक भद्दा झगडा सामने उपस्थित हो गया। तमाशाइयो के लिये यह रोचक भी रहा। इस झगडे मे हालाँकि ज्यादा तो नही परन्तु एक सीमा तक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ऐसे स्थिरमति और संतुलित समीक्षक को भी अपना सतुलन खो देना पड़ा। (सं० १९८६)। स० २००३ (सन् १९४६) मे देव पर एक स्वस्थ और सतुलित शोध-प्रधान समीक्षा कृति डा० नगेन्द्र ने प्रस्तुत की जो अद्यावधि देव का श्रेष्ठतम अध्ययन कहा जा सकता है।

देव कवि द्वारा निर्मित विशद काव्य त्रिविध है—१. रीतिशास्त्रीय ग्रन्थ, २. श्रृंगारिक काव्य, ३. भक्ति, वैराग्य एवं तत्वचिंतन सम्बन्धिनी कविता। ये तीनों प्रवृत्तियाँ उनमे नितात स्पष्ट लक्षित होती हैं जैसा कि बहुतेरे रीतिबद्ध कवियो मे देखा जा सकता है। श्रृंगारिक काव्य स्वतंत्र ग्रन्थो के साथ-साथ देव के रीति ग्रन्थो में

औदाहरणिक भाग के रूप मे सर्वत्र विद्यमान है अतएव उनके शृंगारी साहित्य के परिशीलन के लिए शुद्ध शृङ्गार वर्णन के लक्ष्य ग्रंथो के साथ-साथ उनके लक्षण ग्रन्थो का भी अध्ययन आवश्यक है। अब हम देव-काव्य की इन्ही तीनो प्रवृत्तियो का अलग-अलग सक्षिप्त अध्ययन करेगे।

रीति शास्त्रीय ग्रन्थ

देव के लिखे जो १८-२० ग्रन्थ उपलब्ध है उनमे से अधिकांश रीति ग्रन्थ ही हैं। भाव विलास, अष्टयाम, भवानी विलास, प्रेम तरग, कुशल विलास, जाति विलास, रस विलास, प्रेम चन्द्रिका, सुजान विनोद या रसानन्द लहरी, राग-रत्नाकर, शब्द रसायन और सुखसागर तरंग।*

भाव विलास— रचना काल स० १७४६) यह देव की प्रथम रचना है जिसे लेकर दूसरी कृति अष्टयाम के साथ ये आजम शाह के दरबार मे प्रतिष्ठा प्राप्ति के लिए पहुँचे थे। भानुदत्त कृत रस तरगिनी (सस्कृत ग्रन्थ) के आधार पर यह ग्रन्थ लिखा गया है। इसमे प्रधानता की दृष्टि से महत्व देते हुए केवल शृगार रस तथा नायिका भेद एवं अलंकारो का वर्णन विवेचन हुआ है। ग्रन्थ मे ५ विलास हैं—पहले मे स्थायीभाव, विभाव और अनुभावो का वर्णन है दूसरे मे संचारियों का वर्णन है। संचारीभावो के दो भेद किये गए हैं—शारीर (सात्विक भाव) और आतर (निर्वेद आदि) आंतर सचारियो की संख्या ३४ है जिसमें ३३ प्रचलित सचारियो के साथ-साथ छल नामक संचारी भाव और बताया गया है। वितर्क नामक संचारी भाव के ४ भेद भी किये गए हैं (विप्रतिपत्ति, विचार, सशय और अध्यवसाय)। तीसरे विलास मे रस का वर्णन है जिसके दो भेद है लौकिक (शृगारादि ९ प्रकार के) और अलौकिक (जिसके ३ भेद हैं स्वाप्निक, मानोरथिक और औपायनिक) शृङ्गार के सयोग वियोग के अतिरिक्त प्रच्छन्न और प्रकाश नामक दो भेद और किये गए हैं। केशव देव के पहले अपनी रसिक प्रिया मे प्रच्छन्न और प्रकाश नामक दो भेद बता गए थे। देव ने सयोग के अतर्गत हावो का तथा वियोग के अतर्गत १० काम दशाओ के साथ-साथ मान का भी वर्णन किया है। चौथे विलास मे शृङ्गार के आलबन रूप नायक-नायिकादि का ही वर्णन है जो परपरागत ढङ्ग का ही है। इसमे विविध जातियो और देशों की नायिकाओ का कथन नही हुआ है। पाँचवे विलास मे अलंकारो का विवेचन है। देव के मत में ३९ अलंकार जिनका उन्होंने वर्णन किया है प्रधान हैं, शेष अलंकार जो औरो द्वारा वर्णित हुए हैं वे इन्ही के अवातर भेद हैं। देव का अलंकार निरूपण अपूर्ण और अपुष्ट है क्योकि उसमें अनेक महत्वपूर्ण अलंकारों को छोड़ दिया गया है तथा कइयों के प्रभेदो की कोई चर्चा नही की है। रसवत, ऊर्ज-स्वल, प्रेम या प्रेयस तथा आशिष जैसे नगण्य अलंकारों को भी ३९ के अंतर्गत सर्वथा अनावश्यक महत्व दे दिया गया है। एक तो यह कवि का बाल प्रयत्न है दूसरे इसमें

अलंकार की अपेक्षा रस और नायिका भेद पर कवि की दृष्टि विशेष है। रस और नायिका-भेद की सारी विवेचना का आधार भानुदत्त की रसतरंगिणी ही है यह कहा जा चुका है साथ-ही-साथ केशवदास का भी थोडा प्रभाव देव पर मानना पडेगा। भाव विलास मे विवेचन और निरूपण का कार्य स्पष्ट है कुछ स्थलों पर वह सदोष भले ही हो तथा लक्षणो को चरितार्थ करने वाले जो उदाहरण हैं वे विशेष रूप से सरस और मधुर हैं।

अष्टयाम (लगभग सं० १७४६) नायिका भेद से ही संबंधित विषय हैं जिसमें तरुण और विलासी नायक-नायिकाओ के आठो पहर के बिविध भोग-विलासो का ही वर्णन हुआ है। यह एक सक्षिप्त एव साधारण कोटि की रचना है।

भवानी विलास (स० १७५०-१७५५ के बीच)—यह ग्रन्थ दादरी नरेश सीताराम के भतीजे भवानी दत्त वैश्य को समर्पित किया गया है। यह रस और नायिका भेद विवेचन का ग्रन्थ है जिसमे रस की अपेक्षा नायिका भेद का विवेचन बहुत अधिक विस्तार से किया गया है। इस ग्रथ के प्रथम विलास मे शृंगार रस की प्रधानता का प्रति पादन करते हुए उसका सम्यक निरूपण किया गया है। देव के अनुसार शृगार मूल रस है, वीर, शान्त आदि अन्य रस इसी मूलरस शृङ्गार से उत्पन्न होते हैं—

भूलि कहत नवरस सुकवि सकल मूल शृङ्गार।
तेहि उछाह निरवेद लै वीर सांत संचार॥

उनका दूसरा उल्लेखनीय कथन यह है कि रसोत्पत्ति के कारण रूप भावो की संख्या ६ है—स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव, सचारी भाव तथा हाव। देव के शृङ्गार निरूपण मे तीसरी विशेषता यह है कि वे सचारी भाव दो प्रकार के मानते हैं; एक कायिक जिसके अतर्गत ८ सात्विक भाव आते है (स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु या कप, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय) क्योकि इनका संबध शरीर से है दूसरा मानसिक जिनका सबध मन से है (इनकी सख्या ३३ प्रसिद्ध ही है)। शृगार रस के पहले वियोग और सयोग नामक दो भेद बतलाते हैं फिर उनके प्रच्छन्न और प्रकाश नामक दो-दो भेद और कहते हैं। शृगार के अतर्गत सयोग और वियोग की स्थितियाँ प्रचलित रूप मे स्वीकार न करके देव उन्हे किंचित मनोवैज्ञानिक आधार पर निरूपित करते हैं। उनके अनुसार संयोग वियोग का क्रम इस प्रकार होता है—पूर्वानुराग, वियोग (और उसकी दस अवस्थाएँ), संयोग, मान, प्रवास और अन्त मे संयोग। इस प्रकार अपने शृङ्गार निरूपण मे कुछ नवीनता लाने की चेष्टा देव मे लक्षित होती है। ग्रन्थ के दूसरे विलास से लेकर सातवे विलास तक नायिका-भेद वर्णित हुआ है। नायिका के नाना भेदों का कथन करते हुए देव ने स्वकीया की महत्ता स्वीकार की है, स्वकीया ही उत्तम नायिका के आठों गुणो—भूषण, यौवन, रूप, गुन, सील,

विभव, कुल और प्रेम से समन्वित अष्टागवती होती है। देव ने स्वकीया, परकीया और सामान्या (गणिका) का अलग-अलग प्रयोजन बताया है। पहली सुख-संतान के लिए, दूसरी प्रेम के लिए तीसरी उत्सवादि के लिए—

सुकिया सुख सन्तान हित प्रेमदरस पर नारि।
सामान्या उत्सव समय मंगल रूप निहारि॥

परकीया प्रेम मे उन्होने सुख की अपेक्षा दुख ही विशेष कहा है। सातवे विलास के अंत मे संक्षेप मे नायक भेद कहा गया है। आठवे विलास मे शृङ्गारेतर रसो का वर्णन हुआ है। शृङ्गार के बाद ये वीर और शात रसो को अधिक महत्व देते है। वे वीर तीन प्रकार के मानते हैं युद्ध वीर, दान वीर और दया वीर। शात के दो भेद बताए गए है शरण्य शात और शुद्ध शात, बाद मे शरण्य के ३ प्रकार कथित हुए हैं—प्रेम भक्ति, शुद्ध भक्ति और शुद्ध प्रेम। हास्य के ३ भेद उत्तम, मध्यम और अधम) तथा करुण के ५ भेद (करुण, अतिकरुण, महाकरुण, लघुकरुण और सुखकरुण) किये गए हैं। जैसा हम कह चुके है शृङ्गार के बाद वीर और शात ही देव की दृष्टि मे महत्वपूर्ण रस है। हास्य और भयानक रस शृङ्गार मे, रौद्र और करुण वीर मे तथा अद्भुत और वीभत्स रस शात मे लीन हो जाते है। अंत मे शात और वीर शृगार मे लय हो जाते है। इस प्रकार प्रधान रस शृङ्गार ही हुआ। इस प्रकार देव का रस विवेचन कुछ अधिक मौलिकता और गभीरतापूर्ण है। भवानी विलास मे रचयिता का काव्य पक्ष कुछ अधिक गभीर हो गया है।

प्रेमतरङ्ग सं० १७६० के आस-पास) यह ग्रन्थ किसी आश्रयदाता को समर्पित नही है। भवानी विलास और कुशलविलास की बहुत सी बाते इसमें ज्यो-की-त्यो आ गई हैं, बहुत से लक्षण हू-ब-हू भवानी विलास से ही उतार दिये गए हैं, औदाहरणिक भाग सर्वथा नवीन है और उसमे देव कवि का विकासशील कवि रूप अपने समुन्नत रूप मे देखा जा सकता है। इस ग्रन्थ में स्वकीया के पति प्रेम का अत्यत विशद वर्णन किया गया है।

कुशल विलास—(लगभग सं० १७६५) फफूंद शुभकर्ण नामक सेगर क्षत्रिय राजा के पुत्र राजा कुशलसिंह के लिये रस और नायिका भेद सम्बन्धी यह ग्रन्थ लिखा गया था। इसमे प्रेमतरग के ३ तरगों की सारी सामग्री प्रथम ५ विलासों मे लगभग ज्यों-की-त्यों रख दी गई है क्योकि जीवन की आर्थिक समस्याओ के समाधान के लिए आश्रयदाता की खोज थी और उसके लिए उपयुक्त काव्य सामग्री तैयार भी थी। ग्रन्थ के प्रथम विलास मे शृगार रस तथा उसके अवयवों का (विभाव, अनुभाव, तन-संचारी, मन संचारी आदि) वर्णन किया गया है शेष ८ विलासो में नायिका-भेद विषय का ही प्रसार है। ग्रन्थ में १६ दोहें तथा २८७ छंद (कवित्त और सवैये) मिलते हैं। इसमें प्रीति निरूपण संबंधिनी एकात अनुभूति-ईरित मार्मिक उक्ति देखिये—

पति की चौविधि रसिकवा विहूँ वैस बढ़ि जात ।
प्रीति प्रौढ़ स्वकियान त्यौं पति सुत हित घटि जात ।।

जाति-विलास—(सं० १७८० के लगभग) इस ग्रन्थ के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि यह देश की लम्बी-चौड़ी यात्रा के परिणामस्वरूप तैयार हुआ ग्रन्थ है। तात्पर्य यह है कि देशाटन करते हुए स्थान-स्थान पर भ्रमण करते हुए कवि ने भले ही इसके छद लिखे हो परन्तु इस ग्रन्थ का सकलन-सपादन यात्रा काल की समाप्ति पर ही हुआ होगा यात्राकाल पर्याप्त दीर्घ रहा होगा, लगभग १०-१५ वर्ष, क्योकि इसमे दूरस्थ भू-भागो की नायिकाओ का वर्णन किया गया है। इसमे जाति-व्यवसाय, निवास-स्थान आदि के आधार पर नायिका-भेद वर्णित हुआ है ।

रस-विलास—(स० १७८३) यह ग्रन्थ रस और उससे भी अधिक नायिका-भेद का ग्रन्थ है जो भोगीलाल नामक देव के सम्भवतः श्रेष्ठतम आश्रयदाता के लिए लिखा गया था और उन्ही को समर्पित भी किया गया था। १३४ दोहो तथा २१६ कवित्त सवैयो मे यह ग्रन्थ सम्पूर्ण हुआ है। रस का वर्णन तो नाम मात्र को है नायिका भेद का ही इसमे समूचा विस्तार समाया हुआ है। भवानी विलास और जाति विलास की बहुत सी सामग्री इसमे समाविष्ट है। रस और नायिका भेद-विषय पर देव कवि ने सम्भवतः सबसे अधिक मौलिकता प्रदर्शित की है। इस ग्रथ मे नायिका के सर्वथा नये और परम्परायुक्त भेद-प्रभेद किये गए हैं उदाहरण के लिए नागरी, पुरवासिनी, ग्रामीणा, वनवासिनी, सैन्या और पथिक वधू । इसके बाद इनके भी उपभेद बताए गए है। व्यवसाय और निवास स्थान पर आधारित नायिकाओं के भेदो का कथन देव की अपनी विशेषता है। रूप-शील-यौवन आदि से सम्पन्न अष्टागवती नायिका का वर्णन किया गया है तथा जाति, कर्म, गुण (सत-रज आदि), देश, काल, वय, प्रकृति (आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार) और सत्व के आधार पर नायिका के भेद-प्रभेदो का विशद वर्णन हुआ है। सयोग स्थिति मे उसके हावो और वियोग के अतर्गत उसकी दस कामदशाओ का भी कथन है तथा उन कामदशाओं में प्रत्येक के कई-कई उपभेद भी बताए गए हैं जो देव की नवीनतानुधाविनी सूझ-बूझ के द्योतक हैं। नायिका के सूक्ष्म अथवा अमूर्त गुणो का देव ने पर्याप्त सुन्दर वर्णन किया है। देव के नायिकाभेद की नवीनता सक्षेप मे निम्नलिखित विवरण से जानी जा सकती है—

जाति कर्म कुल देस अरु काल वयक्रम जानि ।
प्रकृति सत्य है नायिका, आठों भेद बखानि ।

जातिगत भेद—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी, हस्तिनी ।
कर्मगत भेद—स्वकीया, परकीया, सामान्या ।
गुण-भेद—उत्तमा, मध्यमा, अधमा ।

देशगत भेद—मध्य देश, मागध वधू, कोशल वधू, पाटल वधू, उत्कल, कलिंग, कामरूप, बगाल तथा अन्य प्रदेशो की स्त्रियाँ।

वय-क्रम भेद—मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा।

प्रकृति भेद—बात गुणी, पित गुणी, कफ गुणी।

सत्व भेद—देवसत्व, मानुषसत्व, गधर्वसत्व, यक्षसत्व, पिशाचसत्व इत्यादि। देव ने नागरी और ग्राम्या नायिकाओ का वर्णन इस प्रकार किया है—राजपुर नागरी पूजनहारी, द्वारपालिका, रावल नागरी, धाई, दूती, दासी, दरजिन, जौहरी, पटविन, सुनारिन, गधिन, तेलिन आदि। इस ग्रन्थ मे शृंगार से अतिरिक्त रसो की चर्चा नही है। रीति-निरूपण के साथ-साथ कवि-कर्म मे भी विकास ही लक्षित होता है तथा काव्य गुण एक धीर गम्भीर रूप लिए हुए है।

प्रेम चंद्रिका—(स० १७६० के लगभग) इस ग्रंथ में प्रेम तत्व की ही विशद चर्चा है। इसमे काव्य रीति और प्रेम काव्य दोनो मिलता है। यह ग्रन्थ रीति बन्धन और रीति से मुक्ति की आकाक्षा दोनो सग्रथित किये हुए है क्योकि इसमे अशतः रीति निरूपण है और अशतः प्रेम व्यजना जो सर्वथा रीति-निरपेक्ष है। इसमे ५६ दोहे हैं तथा १७१ कवित्त सवैये। ग्रन्थ चार प्रकाशो मे विभक्त है—प्रथम प्रकाश मे साधारण प्रेम का वर्णन है जिसमें प्रेम रस, प्रेम स्वरूप, प्रेम माहात्म्य तथा प्रेम और वैषयिकता का भेद वर्णित हुआ है। दूसरे और तीसरे प्रकाश मे प्रेम के पाँच भेदो मे से प्रथम भेद सानुराग शृङ्गार का विशद वर्णन किया गया है जिसके अंतर्गत मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, परकीया आदि के प्रेम का अत्यंत सरस चित्रण किया गया है। चौथे प्रकाश में प्रेम के अन्य चार भेदों सौहार्द्र, भक्ति, वात्सल्य और कार्पण्य का वर्णन किया गया है तथा उदाहरण रूप मे क्रमशः गोपियो के सौहार्द्र, गोपियो की भक्ति, यशोदा के वात्सल्य और राजा नृग के कार्पण्य को सामने रक्खा गया है। सरस काव्य रचना और उत्कृष्ट एवं तन्मयकारिणी भाव व्यजना की दृष्टि से देव का यह ग्रंथ रस विलास से भी उत्कृष्ट बन पड़ा है। इस उत्तरवर्ती कृतियो मे देव की प्रौढ़तम काव्य-सर्जना का स्वरूप देखा जा सकता है।

सुजान विनोद या रसानंद लहरी (स० १७८५ के लगभग)—यह ग्रन्थ दिल्ली निवासी पातीराम कायस्थ नामक रईस के सुपुत्र सुजान मणि को प्रसन्न करने के लिए लिखा गया था। इस ग्रन्थ का अधिकाश भवानी विलास, रस विलास और प्रेम-चंद्रिका से संकलित हुआ है। इस ग्रन्थ मे ऋतु क्रम से विविध नायिकाओ के आमोद-पमोद, रसकेलि आदि का वर्णन किया गया है। ग्रन्थ मे ८६ दोहे और २३८ छंद हैं तथा वह ७ विलासो मे विभक्त है। अतिम दो विलास जो ऋतु वर्णन से संबंधित हैं उन्हीं में कवि की मौलिकता लक्षित होती है। प्रेम चंद्रिका के ही समान यह ग्रन्थ भी शुद्ध काव्य की दृष्टि से अत्युत्कृष्ट है तथा कवि की गम्भीर भाव-व्यंजना के साथ-साथ

कला कौशल की परिपूर्णता का भी सूचक है। इस ग्रथ में षटऋतु वर्णन को प्रधानता दी गई है ।

राग रत्नाकर – यह संगीत शास्त्र सम्बन्धी ग्रथ है जो दो अध्यायो मे विभक्त है। पथम अध्याय मे ६ रागो तथा उनकी भार्याओ का सविस्तार वर्णन है तथा द्वितीय अध्याय मे १३ उपरागो का साधारण कथन मिलता है। विभिन्न रागों का वर्णन करते हुए कवि ने रागो के स्वरूप, गायन समय, सहायक वाद्यो, उनके वाहन, भूषण तथा स्वर लक्षण आदि का जो कथन किया है उससे देव कवि की बहुज्ञता तथा विस्मयकारी सगीत शास्त्र-निष्णात होने का पता चलता है। राग-भार्याओ का वर्णन भी पर्याप्त आकर्षक है ।

शब्द रसायन—(स० १८०० के लगभग) यह देव का प्रौढतम रीति ग्रन्थ है जिसमे काव्य के समस्त अंगो--काव्य महिमा, काव्य स्वरूप, पदार्थ निर्णय, समस्त रसो, रीति, वृत्ति, अलंकार, पिंगल आदि का निर्वचन हुआ है। इस ग्रन्थ मे एकादश प्रकाश हैं। काव्य को देव कवि अत्यत महत्वपूर्ण कर्म मानते हैं जिससे मनुष्य अमर हो जाता है--

रहत न घर बर, धाम, धन, तरुवर, सरवर, कूप ।
जस शरीर जग मे अमर, भव्य काव्य रस-रूप ।।

काव्य के महत्व और स्वरूप-निर्देश के बाद कवि ने शब्द शक्तियो का विशद विवेचन किया है। इस शब्द-शक्ति विवेचन मे कही भी देव ने अभिधात्मक काव्य को उत्तम काव्य नही कहा है। उनके अधोलिखित दोहे---

अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षना लीन ।
अधम व्यंजना रस कुटिल, उलटी कहत नवीन ।।

को लेकर लोगो ने भूल से यह समझ लिया कि देव कवि व्यंजना शक्ति के विरोधी थे, वास्तव मे व्यंजना को अधम कहकर उन्होंने व्यजना शब्द शक्ति का नही वरन् 'परकीया' नायिका का प्रकारांतर से तिरस्कार किया है। शब्द रसायन के षष्ट प्रकाश में उक्त दोहा आया है नायिकाओ के स्वभाव-भेदादि की चर्चा के सदर्भ मे परन्तु इसे भ्रमवश शब्दशक्ति संबधी कथन मान कर लोगो ने इसके आधार पर यह भावना बना ली थी कि देव व्यंजना के महत्व से अनभिज्ञ थे। भला देव ऐसे सहृदय कवि और अनुभवी आचार्य व्यजना को अधम काव्य कैसे कह सकते थे ? उनके 'अधम व्यंजना रस कुटिल, उलटी कहत नवीन' को ही अभिधा द्वारा नही वरन् व्यंजना द्वारा समझने की जरूरत थी। अब तो देव की व्यंजना सम्बन्धिनी धारणा पर विवेचको ने काफी प्रकाश डाल दिया है और भ्रम की गुञ्जाइश नहीं रह गई है।[1] तीसरे प्रकाश मे रस

[1]देखिये देव और उनकी कविता : डा० नगेन्द्र (सन् १६४६) पृ० ५६ और शृङ्गार-काल : आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (सं० २०१७) पृ० ४६७--५०० ।

का विशद वर्णन है जो भाव विलास और विलास की ही पुनरावृत्ति है। कुछ अनावश्यक विस्तार हटा दिये गए है तथा रस विवेचन मे कुछ नई बाते जोड भी दी गई है जैसे रसो की मित्रता और शत्रुता, रसो के सरस रस, उदास रस और निरस रस ऐसे भेद है तथा उनके भी प्रभेद एव रसो के स्वमुख-विमुख स्वनिष्ठ-परनिष्ठ रूपों का विवेचन हुआ है। रसो का विवेचन पूर्ण है परन्तु उसी के पश्चात् कैशिकी, भारती, सात्वती और आरभटी नामक वृत्तियो का वर्णन इतना पूर्ण नही बन पडा है। इसके बाद नायिकाओ का सक्षिप्त कथन और द्वादश रीतियो का वर्णन है— अर्थ, श्लेष, प्रसाद, सम, मधुर भाव, सुकुमार, अर्थव्यक्ति, समाधि, कान्ति, ओज और उदार तथा इनमे से प्रत्येक के नागर और ग्रामीण नामक दो-दो उपभेद। इसके पश्चात यमक और अनुप्रास पर आधारित चित्रालकार का और तत्पश्चात ४० मुख्य एव ३० गौण अलकारो का निरूपण हुआ है तथा उपमा का प्राधान्य देव ने स्वीकार किया है। अतिम दो अध्यायो मे पिंगलशास्त्र का स्वच्छ निरूपण है। समग्र रूप से कहना पड़ेगा कि 'शब्द रसायन' देव की अत्यन्त महत्वपूर्ण रीतिशास्त्रीय कृति है जिसमें काव्य के समस्त अगो का पर्याप्त स्वच्छ सरस और उपयोगी विवेचन है। व्यवस्थित निरूपण, सरस उदाहरण तथा भेद-प्रभेद की नवीनता ग्रन्थ की प्रमुख विशेषताएँ हैं जिनके आधार पर देव सरस कवि और रीति के समर्थ आचार्य दोनो रूपो मे हमारे सामने आते है।

सुख सागर तरंग—(स० १८२४) यह ग्रथ पिहानी के अकबर अली खाँ को समर्पित है। यह एक प्रकार से सग्रह ग्रथ है जिसमे देव की पूर्ववर्त्तिनी रचनाओ से छन्द ले लेकर वर्ण्यक्रम से सँजा दिये गए है। यह एक विशाल ग्रन्थ है जिसके १२ अध्यायो मे कुल ८५६ छन्द हैं। देव के काव्य के सर्वोत्कृष्ट अश को विशेषत: उस अंश को जो स्वय देव की ही दृष्टि से श्रेष्ठतम है यदि हम देखना चाहते हैं तो सुख सागर तरग देख लेना पर्याप्त होगा। इस ग्रन्थ का मूल वर्ण्य उनकी अधिकाश अन्य रचनाओ के ही समान शृङ्गार तथा नायिका भेद है। जीवन की विषम आर्थिक स्थिति ने ही कवि को ६४ वर्ष की अवस्था मे किसी आश्रयदाता के यहाँ एक ग्रन्थ तैयार कर उपस्थित होने के लिए बाध्य किया होगा। देव के जीवन का यह पहलू अत्यन्त कारुणिक है, जीवन के अन्तकाल तक उन्हे राज्याश्रय के लिए भटकना पडा था। ग्रन्थ के आरम्भ में आश्रयदाता का परिचय, तत्पश्चात सरस्वती, महालक्ष्मी, गौरी, जानकी, रुक्मिणी और राधिका की वंदना है। इसके बाद शृङ्गार के स्वरूप तथा तत्सम्बन्धी अनेक मांगलिक उत्सवो का वर्णन है फिर इसके अवयवो, षट्ऋतु, अष्टयाम, नखशिख तथा व्यवसाय-भेद से नायिकाओं का वर्णन है। अनन्तर नायिका-भेद का ही प्रसंग आद्यान्त तक असाधारण विस्तार के साथ चला चलता है।

इस प्रकार देव के रीतिशास्त्रीय ग्रन्थो की ही संख्या बहुत बड़ी है जिसमें बार-

बार विस्तार के साथ प्रमुख रूप से नायिका भेद और शृङ्गार रस का ही विवेचन हुआ है। इस विवेचन मे जहाँ-तहाँ नवीनता और सूझ-बूझ भी देव कवि ने दिखाई है जिससे उनके शास्त्रज्ञान और प्रगाढ एव व्यापक अनुभवो का भी पता चलता है; परन्तु संस्कृत के काव्यशास्त्रियो वाली शास्त्रबुद्धि और काव्यशास्त्र निष्णातता देव मे नही मिलती। देव कर्त्ता या कवि के रूप मे ही अधिक सफल और महत्वपूर्ण कहे जायँगे शास्त्राचार्य के रूप मे नही। उस जमाने मे रीति का बन्धन कुछ ऐसा था कि उसमे बंधे बिना सम्भवन. कविकर्म पूर्ण नही होता था पर उसी रूढ़ि की जकड़न में देव भी आ गए अन्यथा कवित्व का वे और भी उपकार कर गए होते। फिर भी सरस छन्दों की बडा भारी राशि वे हमे दे गए है। उनका रीति कर्म भी सामान्यतः अच्छा है तथा नवीनता, सूझ बूझ और मौलिकता की दृष्टि से उनका स्थान हिन्दी के अन्य रीतिशास्त्रियो के बीच अधिक महत्वपूर्ण कहा जायगा। काव्य के समस्त अंगो के विवेचन मे प्रवृत्त होने वाले आचार्यों मे उनकी गणना है।[1] शब्दशक्ति, रीति, वृत्ति, अलंकार, पिंगल, रस, नायिकाभेद आदि सभी पर उन्होने लिखा तथा नख-शिख, अष्टयाम, षट्ऋतु आदि काव्य रूढ़ियो का भी अनुधावन किया। इन सारी बातो से स्पष्ट है कि देव रीतिबन्धन से बेतरह बंधे हुए कवि थे, जहाँ उससे मुक्त होने का उन्होने प्रयास किया है उनकी कविता मे और ही रंगत आ गई है। उनकी रीति-निरपेक्ष रचनाएँ इसका प्रमाण हैं।

शृङ्गार काव्य

रीतियुगीन कवियो का मूल भाव-लोक शृगार रहा है इसी से इस युग को शृंगार काव्य कहना अधिक युक्त है। देव कवि के द्वारा भी शृंगार धारा की विशेष पुष्टि हुई इसमे सदेह नही। उनके काव्य के आलंबन भी परंपरागत काव्य के नायक-नायिका, कृष्ण गोपियाँ, आभीर स्त्रियां आदि ही रहे हैं।

रूप चित्रण—कृष्ण के रूप चित्रण मे देव का वह चित्र ही सर्व प्रथम सामने आता है जिसमे श्रीकृष्ण को 'ब्रज दूलह' कह कर चित्रित किया गया है—

> पायनि नूपुर मंजु बजैं कटि किंकिन के धुन की मधुराई।
> साँवरे अंग लसै पट पीत हिये हुलसै बनमाल सुहाई॥
> माथे किरीट बड़े दृग चञ्चल मंद हँसी मुख चन्द जुन्हाई।
> जै जग मंदिर दीपक सुंदर श्री ब्रजदूलह देव सहाई॥

[1] देव के रीति विवेचन के अध्ययन के लिए देखिये डा० नगेन्द्र कृत देव और उनकी कविता, हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास तथा डा० ओमप्रकाश का हिन्दी अलङ्कार साहित्य।

अन्य-अधिकांश छंद कृष्ण के सौदर्य का प्रभाव बतलाने वाले ही हैं रूप चित्रण करने वाले कम। यह प्रभाव रूप का है, गुणों का है। कृष्ण मुरली बजाते हैं तो गोपियाँ अपने मनोभावो को रोक नही पाती उनकी ओर दौड़ चलती हैं। यमुना तट पर पहुँचती है तो श्रीकृष्ण के रूप रस पर इस कदर मुग्ध हो जाती है कि उनकी इच्छा घर लौटने की नही होती, वे बार-बार अपने घडे भरती है और खाली कर देती हैं और राधिका की तो विशेष कर ऐसी ही दशा है—

> व्रषभानु कुमारि मुरारि की ओर बिलोचन कोरनि सों चितवै।
> चलिबे को घरैं न करै मन नैक, घरै फिर फेरि भरै रितवै॥

कोई कोई गोपिका तो उनके छवि का आसव पीकर बेहोश और मतवाली हो जाती है, उन्हे ही जहाँ-तहाँ खोजती फिरती है और कहती है—

> मंद मुसक्याय लै समाय जी में ज्याय लै रे
> प्याइ लै पियूष प्यासी अधर सुधा की हौं।
> मेरे सुखदाई दै रे देवजू दिखाई नेकु,
> ए रे व्रज-भूप तेरे रूप-रस छाकी हौं।

कोई उन्हे देख कर आत्मविस्मृत हो जाती है। वह जिन फूलो को आँचल मे भर कर ले जाती रहती है वे उसके आँचल से गिर पड़ते है और उसे इस सब की कोई सुध नही रहती। किसी की यह हालत हो जाती है कि श्रीकृष्ण को देखने के बाद दूसरे किसी रूप को देखती ही नही। एक वही रूप, एक वही छटा उसे नगर मे, वन मे सर्वत्र घूमती दिखाई देती है और उसकी आँखो की जो दशा होती है उसका तो कहना ही क्या, वे तो रूप तन्मय हो जाती हैं। रूप के आश्लेष से उसकी आँखे निकल ही नही पाती—

> देव न देखति हौं दुति दूसरी देखे हैं जा दिन तें ब्रजभूप मैं।
> पूरि रही री वहै पुर कानन आनन ध्यानन ओप अनूप मैं।
> ये अँखियाँ सखियाँ हैं हमारी सो जाइ मिलीं जलबूँद ज्यों कूप मैं।
> कोर करो नहिं पाइयै वेहूँ समाइ गयी ब्रजराज के रूप मैं॥

और रूप-छवि की धारा मे धँस कर तो वे मधुमयी हो जाती हैं—

> धार में धाय धँसी निरधार ह्वै जाय फसीं उकसीं न अँधेरी।
> री अँगराइ गिरीं गहिरी गहि फेरे फिरी न घिरी नहि घेरी।
> देव कछू अपनो बस ना रस लालच लाल चितै भईं चेरी।
> बेग ही बूड़ि गईं पँखियाँ अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी॥

और अब देखिये साँवरे लाल के श्यामल रूप को आँखों मे काजल की तरह बसा लेने वाली प्रेमिका क्या कहती है—

देव मैं सीस बसायो सनेह सों भाल मृगम्मद बिंदु कै भाख्यौ ।
कंचुकी मैं चुपर्यौ करि चोवा लगाय लियौ उर कै अभिलाख्यौ ।
लै मखतूल गुहे गहने रस मूरतिवंत सिंगार कै चाख्यौ ।
साँवरे लाल को साँवरो रूप मैं नैननि को कजरा करि राख्यौ ॥

इन प्रभावाभिव्यजक रूप वर्णनात्मक छदों को कोई चाहे तो प्रेमाभिव्यजक भी कह सकता है किन्तु ये अभिव्यक्तियाँ रूप की चोट झेलने वाली गोपिकाओ की ही हैं । इन प्रेममय वचनो के पीछे रूप की ही प्रेरणा है ।

राधा के रूप वर्णन से सम्बन्धित उस छंद पर दृष्टि सबसे पहले जाती है जिसमे उनकी अमद रूप छटा और वर्णाभा का उसकी अशेष उज्ज्वलता का वर्णन किया गया है । रूप के प्रस्तुतीकरण पूर्णतम कथन अवश्य हुआ है—

फटिक सिलानि सों सुधार्यौ सुधा मंदिर,
उदधि दधि कौ सो अधिकाई उमगै अमंद ।
बाहेर ते भीतर लौं भीति न दिखैऐं देव,
दूध को सो फेन फैलो आँगन फरसबंद ।
तारा सी तरुनि तामैं ठाढ़ी झिलमिल होति,
मोतिन की जोति मिली मल्लिका कौ मकरंद ।
आरसी से अंबर मैं आभा सी उज्यारी लगै,
प्यारी राधिका को प्रतिबिंब सो लगत चन्द ॥

राधिका जिधर-जिधर जाती है सभी की दृष्टि उसी पर पडती है और जो ही उसे देखता है उसके रूप गुण का गायक हो जाता है—कुंजनि कलिनमयी गुंजनि अलिनमयी, गोकुल की गलिन नलिनमयी कै गई ।' राधिका की रूपछटा और अंग विभा का कहना ही क्या । तुलसी दास ने तो लिखा है कि 'मोह न नारि नारि के रूपा' किन्तु देव ने इस क्रम को उलट दिया है और नारी को भी नारी के रूप सौंदर्य पर बेतरह मुग्ध होते दिखाया है—

आई हुती अन्हवावन नाइनि सोंधे लिये कर सूधे सुभाइनि ।
कंचुकी छौरि उतै उबटैबे को ईंगुर से अंग की सुख दाइनि ।
'देव' स्वरूप की रासि निहारति पाँय ते सीस लौं सीस तें पाँइनि ।
ह्वै रही ठौर ही ठाढ़ी ठगी सी हँसै कर ठोढी धरै ठकुराइनि ॥

सामान्य नायिका का रूप का चित्रण तो कम पर उसके सौंदर्य, चपलता, अग-विभा आदि गुणों का वर्णन विशेष किया गया है कही उसका दूल्हन रूप दिखाया गया है जिसमें वह कान में तरौना, नाक मे नथ, मुँह पर घूंघट, माथे पर तिलक या बिंदी, नथ में मोती और नेत्रो की चंचलता के साथ वर्णित हुई है । उस उन्नतयौवना की वेशभूषा अंगप्रत्यंग के आकर्षण आदि का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

जगमगे जोबन जराऊ वखिन कान,
अोठन अनूठे रस हाँसो उमड़े परत,
कचुकी में कसे आवैं उकसे उरोज
बिदु बंदन लिलार बड़े बार घुमड़े परत ।
गोरे मुख सेत सारी कंचन किनारीदार,
देव मनि झुमका झुमकि छुमड़े परत ।
बड़े बड़े नैन कजरारे बड़े मोरी नथ,
बड़ी बरुनीन होंडा होड़ा हुमड़े परत ॥

नायिका का प्रताप, सुहाग, प्रभाव, गुण कवि को सब कुछ बडा ही बडा लगता है उसका मुँह देखने की इच्छा बडे बडे देव-अदेवो की स्त्रियो के मन मे जगा करती है क्योकि वह गुण और सौंदर्य मे विशाल है असाधारण है—

बडी दिल दार, बड़े बड़े हार, बड़े बड़े बार, बड़ी बडी आँखैं ।

नायिका की काति को ही ले कीजिये उसकी सोने जैसी गोराई नायक की पुतलियों की कसौटी पर कचन रेखा सी खिच गई है नायिका को देखे हुए पर्याप्त समय हो गया है फिर भी उसकी वर्णच्छटा आँखो मे बस सी गई है—

अब लगि आँखिनि की पूतरी कसौटिन मैं,
लागी रहै लीक बाकी सोने सी गुराई की ।

बार-बार कवि ने उसके शरीर की छवि की तुलना सोने से की है, मुख की होड़ चन्द्रमा से, वस्त्रो की चाँदनी से आदि आदि । नायिका के चरणो की ही आभा इतनी है कि उससे पृथ्वी पर रँग या लाली की धारा बहने लगती है—'भू पर अनूप रंग रूप विथुर्यौ परै' अथवा सदृश उक्तियाँ प्रमाण हैं । नायिका की अग-काति, रूपाभा आदि का यह जीवत चित्र देखिये —

विद्रुम और बँधूक जपा गुललाला गुलाब की आभा लजावति ।
देव जू कंज खिले टटके हटके भटके खटके गिरा गावति ।
पाँव घरै अलि ठौर जहाँ तेहि ओर तें रंग की धार सी धावति ।
मानो मजीठ की माठ ढुरी एक ओर ते चाँदना बोरति आवति ॥

नायिका के अगो मे पद्मिनी-सी सुरभि का भी वर्णन किया गया है – उसके दुकूलों से फूलों की सुगध और मुख से कमल का-सा बास फूटता रहता है, हँसी से अमृत के बिन्दु टपकते जान पडते हैं । उसके अंगो से सुगधित पदार्थो की महक आती रहती है और निश्वासों की सुरभि भी प्रमत्त करने वाली होती है । उसकी सुरभि से तो गिरि-वन की वायु भी सुवासित रहा करती है । इस भावना को कही-कहीं ऐसा कह कर कि, नायिका का रंग भवन तो उसकी सुगंधि के कारण भौंरो की भीड़ से भरा रहता

है, उपहासास्पद भी बना दिया है। उसके रूप और अंग सौरभ आदि का वर्णन अपने श्रेष्ठतम रूप मे इस प्रकार देखा जा सकता है—

देव जो बाहिर ही बिहरै तौ समीर अमी रस बिंदु लै जैहै।
भीतर भौन बसै बसुधा ह्वै सुधा मुख सूँघि फनिंदु लै जैहै।
जैयें कहूँ इहि राखि गुविंद कै इन्दु मुखी लखि इन्दु लै जैहै।
राखिहौ जौ अरविंद हू मैं मकरन्द मिलै तौ मलिंदु लै जैहै॥

नायिका मे अमृत है, सुगंधि है और इतनी अधिक है कि श्रीकृष्ण की पट्ट दूती को भय है कि कही उसके रस-सौरभ को देवी-अदैवी शक्तियाँ उससे छीन न ले क्योंकि उसमें सभी को मोहित कर लेने की असीम शक्ति है। नायिका बोलती है तो जैसे अमृत निचोड कर रख देती है, वह जहाँ जाती है अपने यौवन और रूप-लक्ष के प्रभाव को फैलाती चलती है और लोगो की मति-गति हरण किये लेती है—

थोरे-थोरे जोबन बिथोरे देद रूप रास,
गोरे मुख भोरे हँसि जोरे लेत हित को।
तोरे लेति रति दुति मोरे लेति मति गति,
जोरे लेति लोक-लाज चोरे लेति चित को॥

उसका सतत चांचल्य भी निरीक्षणीय है—

लोने मुख लचनि नचीन नैन-कोरन की,
उरात न और ठौर सुरति सराहिनै।
बाम कर बार हार अंचल सम्हारो करै,
कैधो छन्द कंदुक उछारै कर दाहिनै॥

उसकी ऐश्वर्यभरी, मदभरी सुकुमारता भरी मद-मथर चाल का यह गत्यात्मक और जीवत चित्रण देखिये। लगता है जैसे कोई अत्यत ऐश्वर्यमय लोक की अपूर्व सुन्दरी अपने सारे ऐश्वर्य के साथ चली जा रही हो—

पीछे परबीनैं बीनैं संग की सहेलों आगे,
भार डर भूषन डगर डारै छोरि-छोरि।
चौंकति चकोरनि त्यौं मोरै मुख मोरनि त्यौं,
भौंरनि की ओर भीरु दैखै मुख मोरि-मोरि॥
एक कर आली-कर ऊपर ही धरे,
हरे-हरे पग धरै देव चलै चित चोरि-चोरि।
दूजे हाथ साथनि सुनावति बचन,
राजहंसनि चुनावति मुकुत-माल तोरि-तोरि॥

किसी-किसी छंद मे कवि ने ऐसी अनुपम रूप-गुण-शील मृगनैनी के अपरिमित सौंदर्य

का रहस्य जानने की चेष्टा की है। रूपशालिनी घर-घर की चर्चा का विषय बनी हुई है तथा उसकी सुखद मुख-सुषमा को देख सौत की आँखे भी सुखी होती है। रूप रसिक कवि नायिका की शोभा का वर्णन करते हुए और भी आगे बढ़ा है और उसके अंगों के सौंदर्य को कुछ अधिक प्रकट रूप मे दिखाने की चेष्टा करता है। सद्यः स्नाता का वर्णन प्रमाण है; जब शशिमुखी संकोच के साथ सरोवर से निकलती है—

पीत रंग सारी गोरे अंग मिलि गई देव,
श्री फल-उरोज-आभा आभासै अधिक सी।
छूटी अलकनि छलकनि जलबूँदन की,
बिना बैंदी बंदन बदन सोभा बिकसी॥

ऐसी रूप गुण यौवना सब प्रकार से माधुर्यमयी है। उसका मन नवनीत सा कोमल है, यौवन दूध-सा पवित्र या उज्ज्वल है, उसकी छवि के सामने चद्रमा छाछ या निःसार-सा है और अमृत सहित पृथ्वी रसहीन है, उसकी आँखो मे असीम स्नेह राशिभूत है और वाणी उसकी वियोग के संताप का शमन करने वाली है फिर भला ऐसी रसीली नायिका मनमोहन को अच्छी क्यो न लगेगी ?

माखन सो मन दूध सों जोबन, है दधि सो अधिकौ उर ईठी।
जा छबि आगे छपाकर छाँछि समेत सुधा बसुधा सब सीठी॥
नैनन-नेह चुवै कवि देव', बुझावत बैन बियोग अँगीठी।
ऐसी रसीली अहीरी अहै, कहौ क्यौ न लगै मनमोहनै मीठी॥

एक स्थान पर कवि ने सीता के सौंदर्य का भी वर्णन किया है – अनुराग के रंगों से सनी हुई अंग-अंग से रूप और आभा की लहरे उठाती हुई, सौभाग्यवती सीता को देखकर सबका हृदय शीतल हो जाता है तथा सभी अपनी-अपनी अटारियो पर चढ़कर उन्हे उतावली से देखने लगती है और उन्हे देखने के लिये तो 'सखियान के आनन इंदुन ते अँखियान की बन्दनवार तनी।'

ऋतु-वर्णन—आलंबन की किंचित चर्चा हो चुकने पर उस प्राकृतिक प्रेरणा भूमि की भी चर्चा आवश्यक है जो रति भाव का उत्तेजक है। रीति कवियो मे प्रकृति और ऋतुओ का ग्रहण इसी रूप मे हुआ है। ऋतु वर्णन मे वसन्त और वर्षा की ही चर्चा अधिक है। वसन्त वर्णन मे कवि ने या तो ऋतुराज मे व्याप्त उल्लास और विभव का वर्णन किया है या फिर ऋतु की विरहोत्तेजकता का। वसन्त ऋतु की शोभा और श्री का वर्णन करने वाला देव कवि का यह छन्द प्रसिद्ध है—

डार द्रुम-पालन, बिछौना नव पल्लव के
सुमन झिंगूला सोहै तन छबि भारी दै।
पवन झुलावै, केकी-कीर बतरावैं 'देव',
कोकिल हलावै-हुलसावै कर तारी दै।

पूरित पराग सों उतारो करै राई नोन,
कंजकली नायिका लतान सिर सारी दै।
मदन महीप जू को बालक बसंत ताहि,
प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दै।।

किन्तु विरहिणी के लिए तो वसंत साक्षात अंतक के ही समान है, अनार की फूली डालो को देखकर, सघन रूप से विकसित आम्र मंजरियो को देखकर, कचनारो को देखकर और पिकी की कूक सुनकर वियोगिनी के प्राणो पर जो कुछ बीतता है उसे तो उसके सिवा और कोई क्या जान सकता है? कवि ने ऋतुराज-जन्य व्यथा का आभास मात्र कराया है—

को बचिहै यह बैरी बसंत पै आवत जो बन आग लगावत।
बौरत ही करि डारत बौरी, भरे विष बैरी रसाल कहावत।
होत करेजन की किरचैं कवि देव जू कोकिल बैन सुनावत।
बीर की सौं बलबीर बिना उड़ि जायँगे प्रान अबीर उड़ावत।।

वसन्त ऋतु मे ही आता है हिन्दू जीवन का परम उल्लासमय त्यौहार जिसे होली कहते हैं, तरुण जन जिसमे उन्मत्त हो उठते हैं। गोपियाँ लाल और गुलाल दानो के ही रंग मे भीगने की अभिलाषा से भर उठती हैं—'लाल के रंग मैं भींजि रहौं, सो गुलाल के रंग मैं चाहति भीज्यौ।' होली मे तरुणियो के अरमान मिटाए नहीं मिटते—

लोग-लोगाइन होरी लगाई मिला-मिली-चाउ न भेंटत ही बन्यो।
देव जू चंदन-चूर कपूर लिलारन लै-लै लपेटत ही बन्यो।
वे यही औसर आये इहाँ समुहाय हियो न समेटत ही बन्यो।
कीनी अनाकिनियो मुख मोरि पै जोरि भुजा भटू भेंटत ही बन्यौ।।

होली में तरह-तरह से नायक नायिकाओं या कृष्ण और उनकी प्रेमिकाओं की प्रणय क्रीडाएँ दिखाई गई हैं -

लाल गुलाल सों लीन्ही मुठी भरी बाल की भाल की ओर चलाई।
वा द्रिग मूँदि उतै चितई इन भेंटी इतै वृषभान की जाई।।

होली वर्णन मे ऐसी ही बातों का आधिक्य मिलेगा।

वर्षा के वर्णन में कवि ने घटाओ, हवा के झकोरों, हरियाई हुई वनस्पतियो, चातक-मयूर, झूला हिंडोला आदि का वर्णन किया है। नायिका को सखियाँ इतनी जोरो से हिंडोले पर झुलाती हैं और हवा का झोका भी इतनी जोर से लगता है कि नायिका का देह दूभर हुआ जाता है, उसका चंचलांचल हवा में इधर-उधर उड़ता रहता है और उसकी इस छवि को देखकर श्री कृष्ण भी आनन्द-दोल में दोलायित होने लगते हैं -

आली झुनावति झूर्कान सों झुकि जाति कटी झननाति झकोरे।
झूलत है हियरा हरि को हिय माँह तिहोर हरा के हिंडोरे॥

राधा और कृष्ण के वर्षा काल मे हिंडोला झूलने का वर्णन पर्याप्त गत्यात्मक है साथ ही साथ चित्रात्मक भी—

सहर-सहर सोधौं सीतल समीर डोलै,
घहर-घहर घन घेरि के घहरिया।
झहर-झहर झुकि झीनी झरि लायौ 'देव,'
छहर-छहर छोटी बूँदन छहरिया।
हहर-हहर हँसि-हँसि के हिंडोरे चढ़ी,
थहर-थहर तन कोमल थहरिया।'
फहर-फहर होत पीतम को पीतपट,
लहर-लहर होत प्यारी की लहरिया॥

एक जगह वर्षा की छटा तथा घटाओ और विपिन स्थली की शोभा देखकर मुग्ध हुए कृष्ण के बनोपवन मे विचरण करने का अत्यन्त सरस वर्णन आया है; इस वर्णन मे वर्षा ऋतु का सौदर्य भी सक्षेप मे किन्तु अत्यन्त सुन्दर रूप से दिखलाया गया है—

सुनि कै धुनि चातक मोरन को चहुँ ओरन कोकिल कूकनि सों।
अनुराग भरे हरि बागन में सखि रागन राग अचूकनि सों।
कबि देव घटा उनई जु नई बन भूमि भई दल दूकनि सों।
रँगराती हरी हहराती लता झुकि जाती समीर के झूकनि सों॥

वर्षा के बाद शरद ऋतु का कवियों ने प्राय. वर्णन किया है जिसमे रस की चादरों का आकाश में ऊपर ही ऊपर उडना, पृथ्वी भर मे स्वच्छता का छा जाना, निर्मल चन्द्रमा का आकाश मे उदित होना, सरोवरो मे मरालो का क्रीडन, पुष्पो का प्रसन्न विकास, पौधो की उज्ज्वलता, दिशाओं का प्रकाशित रहना आदि वर्णित हुआ है तथा शुभ्र चाँदनी तो ऐसी लगती है जैसे आकाश के शुभ्र शिखर से गगा सहस्र धार होकर पृथ्वी पर फैल गई हो—

सरद-जोन्हाई-जन्हुजाई धार सहस,
सु धाई सोभा सिंधु नभ सुभ्र गिरवर ते।
उमड्यो परत जोति मंडल अखंड,
सुधा मंडल मही मैं बिधु-मंडल बिबरते॥

प्रेम वर्णन (संयोग)—देव ने जीवन में प्रेम का, इसी लौकिक प्रेम का, असाधारण महत्व बताया है। भौतिक जीवन में भी प्रेम करने से बडा सुख दूसरा नही। सभी सम्पदा हो किन्तु दाम्पत्य जीवन के अभाव में व्यर्थ है, दाम्पत्य जीवन हो

किन्तु प्रेम-प्रतीति न हो तो बेकार। प्रीति के लिए तरुण युगल हो और उनकी अमृतमय वाणी हो। इसी प्रकार काव्य मे भी श्रेष्ठतम आनन्द शृंगार रस की कविता से ही मिलता है। ये सब बाते देव ने इस सवैये मे बडी सुन्दरता से कही हैं—

'देव' सबै सुखदायक संपति, सपति कौ सुख दंपति जोरी।
दंपति दीपत, प्रेम-प्रतीति, प्रतीति की रीति सनेह-निचोरी॥
प्रीति तहाँ गुन रीति बिचार, बिचार की बानी सुधा रस बोरी।
बानी को सार बखान्यौ सिंगार, सिंगार को सार किसोर-किसोरी॥

इसी प्रकार देव उसी स्त्री को सच्ची स्त्री ठहराते हैं जिसकी आँखो पर प्रगाढ़ पति-प्रेम-का परदा पडा हो, हृदय मे पतिव्रत धर्म का सजग पहरुआ बैठा हुआ हो, जिसने कीर्ति की चादर ओढ रखी हो तथा जिसका हृदय इधर-उधर न भटकता हो चाहे पति कायर, क्रूर, कलंकी, कोढी कुछ भी हो, कुल लाज और आँखो की लाज जिसने बना रक्खी हो

तेई बधू जिनके दृग द्वार परी परदा प्रिय-प्रेम की पोढी।
देव पतिव्रत पौरिया कै उर कीरति की सिर चादर ओढ़ी॥
अंतर अंत रमै भरमै नहिं कायर क्रूर कलंकी कि कोढ़ी।
ना खिन डोलि सकै कुल लाज से आँखिन में दिढ़ लाज की ड्योढ़ी।

यहाँ पर सिर्फ इतना ही कहने की आवश्यकता रह जाती है कि बहु स्त्री अनुरक्त नायको का तो इन कवियो ने डटकर वर्णन किया है और पुरुष के एक पत्नीव्रत होने पर तो कोई बल नही दिया है पर स्त्री को धर्म, कुल, लोक, लाज आदि का बडा भारी पाठ पढ़ाया है। अच्छा होता यदि सच्चरित्रता की एक ही कसौटी स्त्री और पुरुष दोनो ही के लिए बनाई गई होती। एक जगह देव ने कहा है कि लाखो भाँति मै अपने अन्तःकरण को टटोलता हूँ तो देखता हूँ कि उसमे एक ही अभिलाषा विद्यमान है और वह यह कि यह मन जिसके प्रति अनुरक्त हो उसके प्रति सर्वतोभावेन अनुरक्त हो, दूसरे की इच्छा का लेश भी मन मे न रहे और वह प्रेम कभी छीजे नही, लाख-लाख विपदाओ को झेलकर भी अटल रहे, प्रेम मे अभिमान न आवे और प्रेम के घर मे हम अच्छी तरह गड़कर पहुँच जायँ! प्रेम सम्बन्धी इस आदर्श के विषय मे मतभेद की गुञ्जाइश नही—

पाँचन के आगे आंच लागे ते न लौट जाय,
साँच देइ प्यारे की सती लौं बैठि सर मैं।
प्रेम सों कहत कोऊ ठाकुर न ऐंठौ सुनि,
बैठो गड़ि गहिरे तौ पैठो प्रेम घर मैं॥

प्रेम का वर्णन करते हुए पूर्वराग भी कवि ने दिखाया है। 'जब ही ते कुँवर कान्ह रावरी कला निधान कान परी वाके कहूँ सुजस कहानो सी' वाले कवित्त में केवल गुण श्रवण से उत्पन्न असाधारण प्रीति का कथन हुआ है और नाना विध अनुभाव योजना द्वारा कृष्ण के हाथो उसकी बिकी हुई दशा का वर्णन किया गया हैं। पहले तो कृष्ण को कानो ने अपना बनाया फिर आँखे और हृदय उन्हे अपना बनाने को आकुल है, लज्जा उधर अलग अवरोध पैदा करती है, ऐसी मनस्थिति का आगे चलकर कवि ने वर्णन किया है। फिर कभी अचानक भेट भी होनी है और सुजान श्याम के समक्ष पहुँचकर भी तरुणी से उनकी ओर देखते नही बनता। लोभ और लज्जा की खीच-तान मैं बेचारी सकटग्रस्त हा जाती है—'लालच लाज चितौत लग्यौ; ललचावत लोचन लाज लजौहें।' प्रेम मे दीवानी प्रेमिका कभी साँवरे लाल के सॉवरे रूप को कभी तो अपनी आँखो मे अजन लगाती है और कभी लाल की ओर देखकर उनके रूप की धारा मे निराधार हो गिर पडती है और मधु मे आसक्तिवश गिरकर जा फँसने वाली मधु की मक्खी-सी उसकी दशा हो जाती है। प्रिय का आकर्षण कुछ साधारण नही होता, प्रिय की मोहिनी छवि देखकर नायिका को अपनी सुध-बुध भूल जाती है। एक बार देखकर बार-बार उन्हे देखने की अभिलाषा जगती है, उनकी छवि का चषक पीकर बार-बार उसे पीने का अरमान लिए हुए गोपिका गोकुल मे कहाँ-कहाँ उन्हे नही ढूँढती और प्रिय से मिलन की अभिलाषा में भरकर इस प्रकार चीख उठती है —

मंद मुसक्याय लै समाय जी मैं ज्याय लै रे,
प्याइ लै पियूष प्यासी अधर सुधी की हौं।
मेरे सुखदाई दै रे देव जू दिखाई नेकू,
ए रे ब्रजभूप तेरे रूप रस छाकी हौं॥

यहाँ पर प्रिय-संसर्ग की तडप व्यक्त हुई है। लेकिन यह सयोग जब तक भावना के स्तर पर रहता है तभी तक, जब वास्तव मे संयोग का अवसर आता है तब लज्जा आ घेरती है। एक तरफ दर्शन और मिलन की ललक है दूसरी तरफ लाज की दुर्निवार बाधा! कभी तो नायिका दरवाजे की आड़ से प्रिय को देखती है और कभी झरोखे से उन्हे जी भरकर देखने भी नही पाती। उनकी मधुर वाणी सुनते ही उसका हृदय अमृत वाणी की-सी शीतलता का अनुभव करता है लेकिन आँखो में जो लाज की घटा भरी हुई है वह उसे देखने भी नही देती —

मूरति जो मनमोहन की मन-मोहनी के थिरु ह्वै थिरकी सी।
'देव' गुपाल के बोल सुने छतियाँ सियराति सुधा छिरकी सी।
नीके झरोखनि झाँकि सकै नहिं, नैनन लाज-घटा घिरकी सी।
पूरन प्रीति हिये हिरकी, खिरकी-खिरकीन फिरै फिरकी सी॥

बहुत बडी बाधा के रूप मे लज्जा आ खडी होती है, वह कही जा नही सकती, किसी को देख नही सकती। प्रिय एक नजर उसको देख क्या लेता है चवाइयाँ (चुगलखोरिने) गाँव मे शोर मचा देती हैं। नायिका मे यौवन क्या आ गया जैसे पाप पीछे लग गया हो जिधर ही वह जाती है उधर ही उसे कलक लगता है। उसके इस कथन में कितनी पीडा और मानसिक व्यथा भरी हुई है—

जोबन आयो न पाप लग्यो कवि देव रहैं गुरु लोग रिसौहैं।
जी मैं लजैये जु जैये कहूँ, तित पैगे कलक चितैयें जु सौहैं।।

इसीलिए वह लज्जा को ही सम्बोधित करती हुई कहती है कि हे लज्जा! तू मुझे मेरे प्राणप्रिय से मिलने नही देती, हे अकाजिन लज्जा! तुझे लज्जा भी नही आती!

प्रान से प्रानपति सों निरंतर अतर अतर पारत हे री।
देखन दै हरि को भरि नैन घरी छिन एक सरीछिन मेरी।

लज्जा परिवार के लोगो की भी होती है सिर्फ आँख की ही नही। एक बार क्या हुआ कि सखियो और गुरुजनो के बीच नायक ने नायिका का हँसी-हँसी मे हाथ छू दिया, नायिका बेचारी नवोढा ठहरी! उसने रो-रो कर सारा घर अपने सिर पर उठा लिया—

सखी के सकोच गुरु सोच मृग लोचन,
रिसानी पिय सों, जु उन नेकु हँसि छुयो गात।
'देव' वै सुभाय मुसकाय उठि गए, यहि
सिसकि सिसकि निसि खोई, रोय पायो प्रात।
को जानै री बीर बिनु बिरही बिरह-बिथा,
हाय-हाय करि पछिताय न कछू सोहात।
बड़े-बड़े नैनन सों आँसू भरि भरि ढरि,
गोरो-गोरो मुख आजु ओरो सों बिलानो जात।।

लज्जा आदि का चाहे जितना भी और चाहे जिस प्रकार वर्णन किया गया हो प्रेम उस लाज की, कुल की या लोक की बाधा के कारण छीजता नही। परिवार के भरे-पुरे वातावरण के बीच भी उसका पालन होता है—सास को देखकर प्रेमिका अपनी हँसी छिपा लेती है, ननद को देखकर भय का अभिनय करती है, सौतों से ऐंठती है और जिठानी के प्रति आदर प्रदर्शित करती है, दासियो की उपेक्षा नही करती वरन् उनके प्रति सद्भाव रखती है और अपने प्रियतम से वह इस प्रकार अपना प्रेम बढाती रहती है। धाय से वह विनय की बाते करना सीखती है और सखियों से सुहाग की रीति। कुल, लोक और लज्जा की परवाह आखिर वह कब तक करती रहेगी।

इतनी लगन और प्रीति की परिणति प्रिय सयोग में क्यों न होती। प्रियतम से मिलन होता है और सयोग की स्वच्छन्द क्रीड़ाएं चलने लगती हैं घर में भी बाहर

भी। संयोग के आलिंगन के, स्पर्श के सुरति के अनेकानेक चित्र देव ने अंकित किये हैं। अनेक बार तो श्लीलता और शालीनता की सीमा को लाँघकर भी।

आगे धरि अधर पयोधर सधर जानि,
जोगवर जघन सघन लरे लचि कै।
बार-बार देती बकसीसैं जेतवारनि कौं
बारनि को बाँधै जे पिछारैं दुरे बचि कै।
उरुन थुकूल दै उरोजनि को फूल माल
ओठनि उठये पान खाइ खाइपचि कै।
'देव' कहै आजु मनौ जीत्यौ है अनंगरिपु,
पी के संग संगर सुरति-रंग रचि कै।

एक बार रंगभवन में दीपक का प्रकाश मन्द करके सखी दूल्हे को कही छिपा देती है और नायिका को जबरन उस प्रकोष्ठ मे पहुँचा देती है, इसके बाद का चित्र देव के ही शब्दों में—

अंक भरि लीन्हीं गहि अंचल को छोरु देव
जोरु कै जनावै नवयोवन के जोम सो।
लाल के अधर बाल अधरनि लागि-लागि,
उठी मैन आगि पघिलान्यौ मन मोम सों॥

ऐसा ही एक चित्र वर्षा ऋतु मे कुन्ज मिलन का भी देखिये—

आजु गई हुती कुंजनि लौं बरसैं उत बूँद घने-घन घोरत।
देव कहै हरि भीजत देखि अचानक आइ गए चित चोरत॥
पोटि भटू तट ओट कुटी कै लपेटि पटी सौं कटी पट छोरत।
चौगुनो रंग चढ्यौ चित मैं चुनरी के चुचात लला के निचोरत॥

छंद की अंतिम पंक्ति मे गूढार्थ निहित है। रतिक्रीडा आदि के कितने ही चित्र देव ने मुक्त भाव से अंकित किये हैं। यह ध्यान रखने की बात है कि ये सारे चित्र किसी-न-किसी रसावयव, नायिका भेद आदि के उदाहरण रूप में ही प्रस्तुत हुए है। इस रीतिबद्धता से ही देव की समूची शृगारी रचना बंधी मिलेगी। प्रणय संसर्ग के लिए जो आकुल रहती है वही कभी मानिनी बनने का भी सुयोग प्राप्त करती है, सखियाँ उसे यह कह कर मनाती हैं और प्रिय संयोग के लिए तत्पर करती हैं कि तुम्हारे बिना रंगभवन सूना लगता है, तू वहाँ चल कर अपनी सौत के मुख में कालिख पोत दे तथा 'पावस ने उठि कीजिये चैत, अमावस ते उठि कीजिये पूनो।' अभिसारिका के वर्णन में चाहे वह श्यामाभिसारिका हो चाहे शुक्लाभिसारिका वही परंपरागत बातें बार-बार कही गई हैं। कृष्णाभिसारिका अर्धरात्रि में घर के और पड़ोस के लोगों को

सोया जान कर धीरे से उठती है और छिप कर किवाड खोलती है और बाहर पग रखती है उस समय का वर्णन देखिये—

सूझत न गात बीति आई अधरात,
अरु सोए सब गुरुजन जानि कै बगर के।
छिपि कै छबीली अभिसार को कंवार खोले
खुलिगे खजाने चारु चन्दन अगर के।
देव कहै भौंर गुंजि आए कुज कुंज नि रें,
पूँछि-पूँछि पीछे परे पाहरु डगर के।
देवता कि दामिनी मसाल किधौं जोतिजाल,
झगरे मचत जागे सिगरे नगर के॥

कृष्ण पक्ष की अभिसारिका तो प्रिय मिलन के लिए अर्धरात्रि के सघन अंधकार में बाहर निकलती है किन्तु उसकी सुरभि और अंग दीप्ति से भ्रमर-समूह जुट आते हैं, प्रकाश फैल जाता है, सारे सोने वाले जग उठते हैं और शोर मच जाता है। उसका सौंदर्य उसके प्रिय मिलन में अभिशाप स्वरूप आ उपस्थित होता है। शुक्ल पक्ष में तो वह कुदनवर्णी चंद्र चन्द्रिका की छवि और आभा को क्षीण कर देती है और जहाँ जाती है वहाँ के वातावरण को सुरभित बना देती है किन्तु यहाँ भी उसका प्रिय संसर्ग निरापद नहीं रहने पाता क्योंकि उसके सुगंधित लेपों, अंगवास और सुरभित निःश्वासों के कारण दूर-दूर के भ्रमर खिंच-खिंच कर रंगभवन में भर आते हैं—

सोंधे की सुबास अंग बास औ उसास बास,
आस पास बासि रहा सुखद समीर सों।
कुंज तजि गुंजत गभीर गिरि तीर-तीर,
रह्यौ रंग भौन भरि भौंरन की भीर सों॥

ऐसे वर्णन रीतिबद्ध और परंपराप्राप्त तो हैं ही आज अस्वाभाविक और उपहासास्पद भी प्रतीत होते हैं, हाँ ये एक युग विशेष की कल्पना सरणि का सूचन अवश्य करते हैं। खंडिता, उत्कंठिता आदि के वर्णन भी इसी प्रकार हैं। खंडिता के रोष की अभिव्यक्ति देखिये—

गात ते गिरत फूल पलटे दुकूल,
अनुराग अनुकूल भाग जाके बड़ भाग के।
अंजन अधर बीच नख-रेख लाल,
लालि जावक तिलक-भाल सघन सुहाग के।
भौंहें अलसौंहें पल सोहैं पगे पीक रस,
रगमगे नैन रैनि जागे लगे लाग के।
काहे को लजात जलजात से बदन,
मोहि महासुख देव आए देत पैंच पाग के॥

पीक भरी पलकैं झलकैं, अलकैं जु गड़ी सु लसैं भुज खोज की।
छाय रही छबि छैल की छाती मैं, छाप बनी कहूँ ओछे उरोज की।
ताहि चितौति बड़ी अँखियान ते, ती की चितौनि चली अति ओज की।
बालम ओर बिलोकि के बाल, दई मनौ खैंचि सनाल सरोज की।।

सहेट या संकेत स्थल पर प्रियतम के न आने से दुखित नायिका उत्कंठिता कहलाती है। श्याम के काम सदेशो को पाकर प्रेमिका सहेट स्थल पर पहुँची तो किन्तु वहाँ श्याम न मिले, वह एक क्षरण के लिए दुःख से स्तब्ध रह जाती है, ईषत रोष भी जगता है और भीषरण विषाद भी। पान की बीरी जो उसने दाँतो मे थोडी दी ही थी ज्यों-की-त्यों कुछ काल के लिए रखी जाती है– 'देव कछू रद बीरी दबी सी, सु हाथ की हाथ रही मुख की मुख।' बहुत दिनो के बाद प्रिय परदेस से लौट रहा है, इस बात की बधाइयो सहित सूचना पावे ही नायिका की मनोदशा जैसी कुछ हो जाती है उसका अत्यत उल्लासमय और सटीक चित्रण अधोलिखित छंद मे किया गया है—

धाई खोरि-खोरि ते बधाई पिय आवन की,
सुनि कोरि-कोरि रस भ मिनि भरति है।
मोरि मोरि बदन निहारती बिहार-भूमि,
घोरि-घोरि आनन्द घरी सी उघरती है।
देव कर जोरि-जोरि बन्द सुरन,
गुरु लोगन के लोरि लोरि पाँयन परति दै।
तोरि-तोरि माल पूरै मोतिन को चौक,
निवछावर को छोरि-छोरि भूषन धरति है।।

इस प्रकार देव की समूची शृङ्गारी कविता रीति की छाप लिए हुए है। उससे नायक-नायिका, गोपी-कृष्ण, राधाकृष्ण आदि सभी का समावेश है। कही पर गोपी का, कृष्ण का राधा का नामोल्लेख सहित समावेश है कही पर बिना नामोल्लेख के ही। गोपीकृष्ण का जहाँ उल्लेख नही है वहाँ भी प्रेम वर्णन का सारा वातावरण वही है ब्रजभूमि का ही। साधारण नायक-नायिकाओ का शृगार वर्णन पढते हुए भी यही प्रतीत होता रहता है जैसे ये गोपीकृष्ण के ही प्रणय सम्बन्धो की चर्चा हो रही है तथा गोपीकृष्ण भी साधारण नायक-नायिका के स्तर पर ही प्रेम-व्यापार करते पाए जाते हैं। गोपीकृष्ण प्रेम-वर्णन करते हुए गोरसदान, रास आदि के प्रसंगो का भी चित्रण आया है। दधिदान का एक चित्र इस प्रकार है—

ग्वालि गई इक झाँकी वहाँ,
मग रोकी सु तौ मिसु कै दधि दान को।

वा वौ भट् वह भेंटी भुजा भरि,
नावौ निकासि कछू पहिचान कौ।
आई निछावर कै मन मानिक,
गोरस दै रस लै अधरान कौ।
वाही दिना ते हिये में गड़ौ,
वह ढीठ बड़ौ री बड़ी अँखियान कौ ॥

रास प्रसग के वर्णन मे कृष्ण की मुरलिका के नाद पर गोपियाँ किस प्रकार अपना सब कुछ छोड कर—'चूल्हे चढ़े छाँड़े उफनात दूध भाँड़े उन, सुत छाँड अंक पति छाँड़े परजंक मे'—कृष्ण की ओर दौडती है, वन-पथ की निर्जनता, मार्ग की पकिलता या कटकाकीर्णता आदि का वे विचार भी नही करती; वे मृदु-चरण गोपियाँ शीघ्रता मे वस्त्र उलटे ही पहने चल देती हैं, आभूषण कही के कही डालती हैं इस प्रकार की उनकी मिलन की आतुरता हैं। रासक्रीडा के बीच कृष्ण जब-जब अतर्धान हो जाते है गोपियाँ उन्हे कालिंदी तट पर, मल्लिका, मालती, नेवारी जूही की क्यारियो के बीच, आम्र-वकुल-कदम्बादि वृक्षो के समीप खोजती और ताली दे-देकर टेरती फिरती हैं, भावोन्माद मे वे तमाल वृक्षो से भ्रमवश लिपट-लिपट जाती हैं। जिन गोपिकाओ को प्रेम-संयोग का इतना सारा सुख मिल चुकता है या मिलने की संभावना रहती है वे यदि भाव विभोर हो या प्रेम की लगन से भर कर इस प्रकार कह उठे तो आश्चर्य ही क्या ?

कोऊ कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रंकिनि कलंकिनि कुनारी हौं।
कैसो परलोक, नरलोक, बर लोकन मैं,
लीन्हीं मैं अलीक लोक-लोकन ते न्यारी हौं।
तन जाहि मन जाहि देव गुरुजन जाहि,
जीव किन जाहि टेक टरत न टारी हौं।
वृन्दावन वारी बनवारी की मुकुट वारी,
पीतपटवारी वाही मूरति पै वारी हौं ॥

यहाँ पर उसकी उद्विग्नतामयी प्रेम-निष्ठा अत्यत जीवंत रूप मे व्यक्त हुई है।

जिन छन्दो मे राधा और कृष्ण के प्रेम का कथन हुआ है उनमे तो प्रेम की और भी प्रगाढ़ सरस एव आह्लादकारिणी अभिव्यक्तियाँ हुई हैं। राधा और कृष्ण दोनों मे ही एक दूसरे के लिए अपार आकर्षण दिखलाया गया है। दोनों एक दूसरे की आँखों मे आँखें डाल कर एक दूसरे को देखते हैं मुस्कराते है हँसते हैं और एव पर निछावर होते हैं—

लोयन लोयन लागे अनूप दुहूँ के दुहूँ रसरूप छुभै कै ।
मंद हँसी अरबिन्द ज्यौं बिंद अँचै गये दीठि खुभै कै ।।

और इसके बाद—

दुहुन को रूप-गुन दोऊ बरनत फिरैं,
घर न थिरात रीति नेह की नई-नई ।
मोहि मोहि मोहन को मन भयो राधिका मैं,
राधा मन मोहि मोहि मोहन मई मई ।।

कृष्ण और राधा के प्रेम-व्यापार चलने लगते है । कृष्ण सबेरे ही सबेरे किसी दिन राधिका के भवन मे पहुँचते है, वह अत्यन्त झीनी चादर ओढ़ कर सोती रहती है । अकस्मात आलस्य मे उसकी एक बाँह खुल जाती है, उस स्वर्णवर्णी का कुन्दन वर्ण देख कर कृष्ण दिन भर बेचैन फिरते रहते है ।

भोरहीं भोरहीं श्री वृषभानु के आयो अकेलोई केलि भुलान्यों ।
देव जू सोवत ही उत भावती झीनों महा झलकैं पट तान्यों ।
आरस ते उघरी इक बाँह भरी छबि हेरि हरी अकुलान्यो ।
मीड़त हाथ फिरै उमड़ो सो, मड़ो ब्रज बीच फिरै मड़रान्यो ।।

राधिका एक दिन शरारत करती है । राजपौरिया का रूप बना कर वह कृष्ण के दरवाजे पर आती है और कहती है—हे कान्हा ! चल तुझे कंस बुला रहे हैं । किसके कहने से तुम दधिदान लेते हो । साथी-सगी तो भाग जाते हैं किन्तु डरे हुए से कान्हा पकड़ मे आ जाते हैं लेकिन राधिका अपना कृत्रिम रूप सँभाल नही पाती । कृष्ण को भयभीत देख कर उसका छल छूट जाता है भौहो की कडाई समाप्त हो जाती है और उसकी लज्जायुक्त मुसकान उसके बनावटी वेश का भडाफोड कर देती है—'छूटि गयो छल सो छबाली की बिलोकनि मै, ढाली भई भौहं वा लजीली मुसकान मै ।' इसी प्रकार के एक से एक उन्मादक प्रेम-प्रसगो के बीच राधा का प्रेम पल्लवित होता है । कालातर मे यह प्रेम राधिका के हृदय मे इस प्रकार उमड़ता है जिसका कोई हिसाब नही, उसे अपनी चेतना नही रहती, कृष्ण के प्रेम मे जैसे बिक गई हो । गुरुजनो को जैसे किसी अनिष्ट की आशंका होने लगती है और राधिका है कि पागल बनी हुई है कृष्ण के प्रेम मे ! ज्यो-ज्यो सखियाँ उसे सँभालती है चैतन्य दिलाना चाहती हैं वह बावली इस प्रकार की बाते बकती जाती है—'राधिका प्यारी हमारी सौं तू कहि काल्हि की बेनु बजाई मैं कैसो ?' इस प्रकार की प्रेममग्नता का श्रेष्ठतम उदाहरण देव का निम्नलिखित छंद है—

राधिका कान्ह को ध्यान धरै तब कान्ह ह्वै राधिका के गुन गावै ।
त्यौं अँसुवा बरसै बरसाने को पाती लिखै लिखि राधिकै ध्यावै ।

राधे ह्वै जात तही छिन मै वह प्रेम की पाती लै छाती लगावैं।
आप मै आपुन ही उरझै-मुरझै बिरुझै समुझै समुझावै॥

प्रेम योग के अन्तर्गत भावना की यह परमोच्च स्थिति है जहाँ प्रेमी और प्रिय एक हो जाते है। ऐसे भावयोग की दशा का वर्णन विद्यापति, सूरदास आदि पहले कर चुके है तथा 'प्रिय कै ध्यान गही-गहीं रही वही है नारि' वाले दोहे मे बिहारी ने भी इसी भाव-दशा को व्यक्त किया है।

प्रेम-वर्णन (वियोग)— वियोग-दशा के वर्णन मे ही प्रेमी चित्त की दशा का वास्तविक स्वरूप प्रत्यक्ष हो पाता है। मिलन दशा के चित्रण मे नही हो पाती। पति को परदेस जाने से कौन ऐसी प्रिया होगी जो न रोके? रीतिबद्ध कवि देव की एक नायिका प्रियतम को रोकने के अनोखे ठाठ उठाती है। वह अपनी अभिनव तथा विचित्र रूप और वेशसज्जा द्वारा वसत ऋतु को वर्षा ऋतु मे परिणत करने के लिए कृत सकल्प है जिससे प्रिय अपना विदेश जाना स्थगित कर दे—

नील पट तन पै घटान सी घुमाय राखौं,
दन्त की चमक सों छटा सी बिचरति हौं।
हीरन की किरनै लगाइ राखौं जुगुनू सी,
कोकिला पपीहा पिकबानी सों टरति हौं।
कीच अँसुवन की मचाउँ कवि 'देव' कहै,
पीतम विदेश को सिधारिबो हरति हौं।
इन्द्र कैसो धनु साजि बेसरि कसति आजु,
रहु रे बसन्त तोहि पावस करति हौं॥

यह सारी कल्पना हास्यास्पद भी कही जा सकती है परन्तु एक प्रेमिका के चित्त की ऐसी भी तरग हो सकती है कलात्मक और साहित्यिक बस इसी का इसमे वैशिष्ट्य है। विरह होता है और उस समय प्रिय नही उसकी याद विरहिणी का साथ देती है। याद और बेमुधी यही उसका जीवन हो जाता है, वह प्रेम का नशा पीकर मतवाली बनी हुई है—

'प्यालो भरि दै री मेरी सुरति-कलारी, तेरी
प्रेम-मदिरा सों मोहि मेरी सुधि भूली है।'

प्रिय के ध्यान मे व्यस्त-व्यग्र नायिका की जो अकथ व्यथा दशा है उसकी अनुभाव योजनामूलक यह विवृत्ति देखिये --

वैरागिनि कीधौं अनुरागिनि सोहागिनि तू,
देव बड भागिनी लजाति औ लरति क्यों।
सोवति जगति अरसति हरखाति,
अनखाति बिलखाति दुख मानति डरति क्यों।

चौंकति चकति उचकति औ बकति,
बिथकति औ थकति ध्यान धीरज धरत क्यों।
मोहति मुरति सतराति इतराति,
साइचरज सराहि आइचरज मरति क्यों ।।

विरहिणी नाना प्रकार से आत्मदशा निवेदन करती है—हे प्रिय ! तुम मेरे हृदय मे बसते हो फिर भी मेरी पुकार पर दया नही करते ? मेरे तन-मन मे और कौन है जो सदा समाया हुआ है ? मैं ऊँचे चढ़-चढ कर रोती हूँ और तुम्हे लेश मात्र भी करुणा नही आती । हे निरमोही गात की आड मे बैठकर सुनते नही, मेरे अन्दर बसते हुए भी मुझे ही तरसा और तडपा रहे हो, क्या यह तुम्हारे लिए लज्जा की बात नही—

ऐसे निरमोही सदा मोही में बसत अरु,
मोही ते निकरि फेरि मोहीं न मिलत हौ।

नायिका प्रिय की सतत प्रतीक्षा में है और निष्ठुर प्रिय है कि लौटता ही नही । वसंत की ऋतु है, अपने संपूर्ण विकास मे वनस्पतियाँ लहरा रही हैं, कुंजो मे हरियाली और सुरभि की बहार है, भ्रमरो का गुंजन चल रहा है, नदनीरो के तट पर वृक्षों की सघन छाया मे शीतलता का अखण्ड साम्राज्य है पिकी के शोर से सारा प्रकृति देश गूंज उठा है किन्तु भोली किशोरिका का मुँह कुम्हलाया हुआ है—

ऐसे मे किसोरी भोरी फोरी कुम्हिलाने मुख,
पङ्कज से पाँय धरा धीरज सौ धरि जात ।
सोहै घनस्याम मग हेरति हथेरी ओट,
ऊँचे धाम बाम चढ़ि आवति उतरि जाति ।।

वसंत की मादक ऋतु मे विरहिणी की प्रिय संबंधिनी व्यग्रता का निदर्शन पर्याप्त स्वाभाविक और चित्रात्मक है । भारी प्रतीक्षा के बाद भी प्रिय नही आता—विरहिणी की अश्रुवर्षा रुकने का नाम नही लेती, पान, पान, भोजन, स्वजन, गुरुजन किसी का उसे ध्यान नही, जाने कौन-सा पाप उस वियोगिनी के पीछे लग गया है कि एक पल के लिए भी उसे चैन नही, वह सोचती है इस समय तो मेरा चैतन्य ही मुझे मारे डाल रहा है, यदि मैं अज्ञान अथवा जड़ होती तो कम से कम ऐसी व्यथा तो न व्यापती—

होतो जो अजान तौ न जानतो इतीक बिथा,
मेरे जिय जान तेरो जानिबो गरे परो ।।

विरह में वह अपने दिन किस प्रकार व्यतीत करती है इसे उसके सिवा और कोई नहीं जानता । प्रिय का स्मरण, रूप-ध्यान, उसके लिये रोना, उसी के गुण गाना आदि कामों में यदि वह व्यस्त न होती तो आज वह विरह के इस दुर्भर काल में जीवित न रहती—

आँसुन के सलिल सिरावती न छाती जो,
उसास लागि कामागि भसम होतो ही ततो।
कोकिला के टेरत निकरि जातो जीव,
जो तिहारे गुन गनत उधेरत न बीततो ।।

विरहिणी किस कदर रोते-राते रात-दिन एक किये दे रही है इसकी तो चर्चा ही मत कीजिये उसके दोनो नैन सावन-भादो बने हुए हैं। एक जगह कवि ने उसकी अश्रु-वर्षा पर सहृदयतापूर्वक कोई बात कहने के बजाय एक सूझभरी उक्ति इस प्रकार की है—हे कृष्ण तुम्हारा रूप जो उसने आँखो से अपरिमित परिमाण मे पी रक्खा है वही अब आधिक्यवश गिरा पड रहा है—'रावरो रूप पियो अँखियान भरयो सु भरयो उबरयो सुढरयो परै।' जो रूप उसकी आँखों द्वारा पीकर पचाया जा सका वह तो भीतर ही रहा और जो अधिक हो गया, पच न सका वह बाहर ढला पड रहा है। इस उक्ति मे सहृदयता की जगह सूझ का ही वैशिष्ट्य माना जा सकेगा। अतिशय विरह की स्थिति राधिका के अन्दर आत्म-दैन्य के साथ-साथ स्वकर्मों पर पश्चात्ताप व्यक्त करने को बाध्य कर रही है—

राधे कही है कि तैं छमियो ब्रजनाथ किते अपराध किये मैं।
कानन तान न भूलत ना खिन आँखिन रूप अनूप पिये मैं।
आपने ओछे हिये मैं दुराइ दयानिधि देव बसाय लिये मैं।
हौं ही असाध बसी न कहूँ, पल आध अगाध तिहारे हिये मैं।।

स्मृति, स्वकीय अपराधो पर आत्मग्लानि और अपना दुर्भाग्य, इन सब बातो को इस छंद मे मार्मिकता के साथ कहा गया है। नायिका या प्रेमिका की विरहजन्य कृशता का वर्णन परंपरागत काव्य की ऊहात्मक या अतिशयोक्तिमूलक पद्धति पर चल कर किया गया है। यहाँ भी चमत्कृति का ही विशेष प्राधान्य गोचर होता है जब कवि कहता है कि प्रवासो लाल के वियोग की अग्नि मे जलकर बाला सूख गई है; भोजन-पान, प्रेम-चर्चा सब कुछ छूट गई है तथा प्रियागम की अवधि भी व्यतीत हुई जा रही है—

देव जू आजु हीं ऐबे की औधि सुबीतति देखि बिसेखि बिसूरी।
हाथ उठायो उड़ाइबे को उडि काग गरे परी च रिक चूरीं ।।

इसी प्रकार वियोग के दुख मे नायिका इस प्रकार सूख गई है कि सेज पर वह पड़ी हुई है ऐसा नही जान पडता। कृशता इतनी अधिक है कि प्रतीत होता है जैसे मनोज रँगरेज ने सेज पर एक सुन्दर सी सोने की बेल बना दी हो—

सो दुख दूखि परो तन सूखि मरैं कि जियै सु परै न जनाई।
सेज पै ज्यों रंगरेज मनोज सलोनी सी सोने की बेलि बनाई ।।

दीर्घ कालक्षेप के अनतर अपनी प्रेम-वियोगिनी के पास श्रीकृष्ण स्वयं तो नही आते

हाँ एकाध पत्र अवश्य भेजे देते है। उसे पाकर उसके हृदय मे भावो का जो ज्वार उठता है उसकी सुन्दर विवृत्ति देव कर सके है, उस भावावेग मे विरहिणी बह जाती है, संज्ञासून्य हो जाती है—

औचक अगाध सिंधु स्याही को उमडि आयो,
तामैं तीनों लोक बूड़ि गये एक संग मैं।
कारे कारे आखर लिखे जु कारे कागर,
सु न्यारे करि बाँचै कौन जाँचै चित भंग मैं।
आँखिन मैं तिमिर अमावस की रैनि जिमि,
जम्बु रस बुन्द जमुना जल तरंग मैं।
यों ही मन मेरो मेरे काम को न रह्यौ माई,
स्याम रंग ह्वै करि समान्यौ स्याम रंग मैं॥

पत्र आवे पर प्रिय न आवे, उसके आने की अवधि बढती ही जाय तो जीव किसके सहारे जिये, कभी-कभी स्वप्न भी होता है जिसमे प्रिय मिलता है, यह स्वप्न संयोग क्या कुछ सुख दे पाता है? नही, इससे तो दुःख ही द्विगुणित होता है। जो हो, ये स्वप्न-संयोग-चित्र हैं बहुत मधुर—

हौ सपने गई देखन को कहूं नाचत नन्द जसोमति को नट।
वा मुसकाइ कै भाव बताइ कै मेरोई खैंचि खरो पकरो पट।
तौ लगि गाइ बगाइ उठी कहि देवबधूनि मथ्यौ दधि को घट।
जागि परी तो न कान्ह कहूँ न कदम्ब न कुंज न कालिंदी को तट॥

इसी प्रकार एक बार और गोपिका स्वप्न देखती है कि वर्षा की ऋतु है और श्याम उसके पास आकर भूला भूलने के लिए चलने का प्रस्ताव करते हैं, जीवन का समस्त माधुर्य जैसे उस क्षण उसके चरणो पर लोटने लगता है किन्तु उसके ऐसे भाग्य कहाँ कि वह उस राशिभूत सुख का लेश भी भोग कर सके—

झहरि झहरि झीनी बूंद है परति मानों,
घहरि घहरि घटा घेरी है गगन मैं।
आनि कह्यौ स्याम मो सों चलौ झूलिबै कों आज,
फूली ना समानी भई ऐसी हौं मगन मैं।
चाहत उठ्योई उठि गई सो निगोडी नींद,
सोय गए भाग मेरे जागि वा जगन मैं।
आँख खोलि देखौं तौ न घन है न घनस्याम,
वेई छाई बूँदैं मेरे आँसू ह्वै दृगन मैं॥

वियोगिनी अपने इस अतिशय व्यथामय जीवन के लिए कभी खुद को धिक्कारती है, कभी प्रिय से प्रार्थना करती है, कभी उन तक अपनी दशा का संदेशा भिजवाती है।

अपने मन को सबोधित करते हुए वह कहती है कि हे मन ! तेरा कहना मान कर इस जीव या प्राण को हमने इतना दग्ध किया है पर तूने इसकी सँभाल न की। तेरे कहने से ही प्रिय को देख लेने के बाद पलको ने लगना बन्द कर दिया; उनकी बेचैनी का भी तूने कोई इलाज न किया। ऐसे निरमोही से तेरे ही कहने से स्नेह के बँधन मे बधी किन्तु उसने विपत्ति के समुद्र मे हमे बेसहारा छोड दिया—हे मन ! तूने इस प्रकार हमे असख्य दुख दिये हैं अब तेरे ऐसे कुकृत्य के लिए मै तुझे क्षमा नही कर सकती—

> ए रे मन मेरे तैं घनेरे दुख दीन्हें अब,
> ए केवार दै कै तोहि मूँदि मारौं एक बार।

देव की उक्त पक्ति को हमे उन्ही का इस उक्ति की याद दिलाती है—

> भारी प्रेम पाथर नगारो दै गरे सौं बाँधि
> राधा बर बिरद के बारिधि मैं बोरतो।

पद्माकर ने देव की ही देखादेखी यह उक्ति की होगी—

> एरे दगादार मेरे पातक अपार तोहि
> गगा की कछार मैं पछारि छार करिहौं।।

कभी उसकी दशा का विवरण कोई सखी जाकर श्रीकृष्ण को देती है कि वह विरह-जर्जर हो अस्थि-पजर मात्र हो गई है, मनोज उसे व्यथित किये दे रहा है, वस्त्रादिको की संभाल अब वह नही कर पाती। आँसुओ का प्रवाह और निःश्वासो की दीर्घता उसे क्षण-क्षण खाए डालते हैं और क्षीण किये देते हैं, उसकी आँहे थम नही रही और हे कृष्ण तुम ऐसे निर्दय हो कि तुम्हे किसी की पीडा ही नही व्यापती—

> 'देव' घरी पल जाति लुटी अँसुवानि के नीर उसास-समीरन।
> आहन जाति अहार अहै तुमै कान्ह कहा कहौं काहू की पीर न।।

वह स्वय अपनी दशा का निवेदन और पिय की कृपा की याचना इन शब्दो मे करती है—

> बरुनी बघम्बर मैं गूदरी पलक दोऊ,
> कोए राते बसन भगौहैं भैष रखियाँ।
> बूडी जल ही मैं दिन जामिनि हूँ जागैं,
> भौंहैं घूम सिर छायो बिरहानल बिलखियाँ।
> अँसुवा फटिक-माल लाल डोरे सेली पैन्हि
> भई हैं अकेली तजि चेली संग सखियाँ।
> दीजिये दरस 'देव' कीजिये सँयोगिनि ये,
> जोगिनि ह्वै बैठी हैं वियोगिन की अँखियाँ।।

और भी तरह-तरह से देखने विरहिणी की तीव्र वेदना का, तडप का चित्रण किया

है। उसके तडपने का अधोलिखित चित्रण अत्यन्त सजीव और हृदयग्राही है । इस हृदयग्राहिता मे शब्दावली का योग ध्यान देने योग्य है—

बालम विरह जिन जान्यौ न जनम भरि,
बरि बरि उठैं ज्यौं ज्यौं बरसै बरफराति ।
बीजन डुलावत सखीजन सो सीत हू मैं,
सौतिन-सराथ तन-तापनि तरफराति ।
'देव' कहै सांसनि सों अँसुवा सुखात,
मुख निकसै न बात ऐसी सिसकी सरफराति ।
लौटि लौटि परति करौट खटपाटी लै लै,
सूखे जल सफरी लौं सेज पै फरफराति ।।

इस प्रकार देव का विरह-वर्णन एक अश मे ऊहात्मक और चमत्कार प्रधान होते हुए भी पर्याप्त मार्मिक बन पडा है । अनेक उक्तियाँ चमत्कारपूर्ण होते हुए भी पर्याप्त मार्मिक और व्यंजक हैं उदाहरण के लिए—

'देव' जू देखिये दौरि दसा ब्रज पौरि बिथा की कथा बिथुरी है ।
हेम की बेलि भई हिमरासि घरीक मै घाम सों जाति घुरी है ।

अथवा

साँसन ही सों समीर गयौ अरु आँसुन ही सब नीर गयौ ढरि ।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तन की तनुता करि ।
'देव' जिये मिलिबेई की आस कि आसहु पास अकास रह्यौ भरि ।
जा दिन से मुख फेरि हरे हँसि हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि ।।

इन पंक्तियो मे विरहिणी की अतिम कामदशा मूर्च्छा या मरण का निदर्शन हुआ है ।

भक्ति, वैराग्य एवं तत्व-चिन्तन—देव कवि की कुछ कृतियाँ ऐसी हैं जो स्पष्ट ही शृगार-भावना से मुक्त हैं तथा जिन्हे रस-दृष्टि से हम शात रस के अतर्गत रख सकते हैं । दीर्घ जीवन काल के उत्तरार्ध मे कवि ने भक्ति, वैराग्य और आध्यात्मिक आशयो को भी काव्यबद्ध करना आवश्यक समझा जिसके परिणाम-स्वरूप देव चरित्र, देव माया प्रपंच नाटक, देव शतक ऐसी रचनाएँ सामने आती हैं । इनके भी पहले देव सं० १७५५ में शिवस्तुतिपरक एक साधारण रचना शिवाष्टक लिख चुके थे जिसमे ८ छन्द हैं । देवचरित्र की रचना कवि ने लगभग ७० वर्ष की अवस्था मे सं० १८०० के लगभग की । इसमे लगभग १५० छंद हैं जिनमे श्री कृष्ण-जन्म, ब्रज-सौभाग्य, बकी और तृणावर्त वध, छठी, नामकरण, कृष्ण का शिशु-रूप, माखनचोरी, वृन्दावन गमन, बकासुर, कालबन, कालिया और प्रलंब नामक असुरो का विनाश, चीरहरण, गोबर्धन लीला, रास लीला, अक्रूर का आगमन, कृष्ण का मथुरा प्रस्थान, कृष्ण द्वारा रजक का दण्डित होना, कुब्जा का

उद्धार, कंसवध, कृष्ण का द्वारिका प्रस्थान, रुक्मिणी स्वयम्बर, सत्याभामा, सोलह हजार रानियो को भौमासुर की आधीनता से मुक्ति तथा उनको अपने महल की रानी बनाना, प्रद्युम्न जन्म, पाडवो की सहायता आदि प्रसगो का वर्णन है तथा कृष्ण माहात्म्य के कथन एव उनकी-स्तुति गान से ग्रथ की समाप्ति होती है। आश्चर्य है कि कृष्ण के जीवनव्यापी इस वृत्त कथन प्रधान काव्य को डा० नगेन्द्र ने खड काव्य कह दिया है। देवमाया प्रपंच एक पद्यबद्ध नाटक है जिसकी शैली का आधार सस्कृत का प्रबोध चन्द्रोदय बताया जाता है। कथा इस प्रकार है—परम पुरुष नामक व्यक्ति की दो स्त्रियाँ है प्रकृति और माया जिनसे क्रमशः बुद्धि और मन नामक सततियाँ होती है। मन माया के वशीभूत हो अपने पिता (परम पुरुष) विमाता (प्रकृति) और बहन (बुद्धि) तीनो से विद्रोह कर बैठता है जिसके परिणामस्वरूप परम पुरुष बन्दी बना लिये जाते है और बुद्धि भाग जाती है। बुद्धि भटकते-भटकते सत्सगति से मिलती है। इसके बाद धर्म और अधर्म के उभय पक्षो मे युद्ध होने लगता है। उधर तर्क की सलाह से मन माया के फंदे से मुक्त हो जाता है और अपने पिता से मिल कर क्षमा याचना करता है। अधर्म की पराजय होती है, परम पुरुष माया के बन्धन से छूट जाता है। इस प्रकार अत मे प्रकृति, मन और बुद्धि सभी का परम पुरुष से आनन्ददायक मिलन होता है। इस प्रतीक पद्धति पर रीतियुग मे कई प्रबन्ध लिखे गए थे। केशव विज्ञान गीता पहले ही लिख चुके थे तथा आधुनिक युग मे प्रसाद की कामायनी और पन्त के लोकायतन मे अपनाई गई प्रतीक शैली को कोई सर्वथा नई शैली नही कहा जा सकता। मूल्यवान अभिप्रायो से पूर्ण यह एक अच्छा रूपक है। देवशतक चार पचीसियो का सग्रह है—जगद्दर्शन पचीसी, आत्मदर्शनपचीसी, तत्वदर्शन पचीसी और प्रेम पचीसी जिनमे क्रमशः संसार की असारता, जीव की भ्रमित स्थिति तथा उसकी भर्त्सना और ब्रह्म तत्व का निरूपण किया गया है। प्रेम पचीसी मे ईश्वर प्राप्ति का मार्ग बताया गया है जो प्रेम ही है, प्रेम ही जीवन का सारभूत साधन है जिससे परमसत्ता की प्राप्ति सभव है। भक्ति, वैराग्य और तत्वचितन प्रधान इन रचनाओ मे पर्याप्त अनुभूति प्रवणता और गभीरता है।

ये रचनाएँ जीवन के अनुभवो से ओत-प्रोत हैं और कवि के वार्धक्य मे लिखी गई होगी। ऐसी अनुभूतिगर्भित उक्तियो के मूल मे जरूर ही लौकिक आसक्तियो से उत्पन्न अतृप्ति और अशाति रही होगी। देव कवि आजीवन धन-वैभव और सुखद आश्रय की तलाश मे भटकते रहे, लौकिक आश्रयदाताओ की मृगमरीचिका उन्हें बहुत काल तक छलती रही और विषय-वासनाओं ने मन को बेतरह लोभी, चंचल और विषयासक्त बना रक्खा था—

हाय कहा कहौं चंचल या मन की गति में मति मेरी भुलानी।
हौं समुझाय कियो रस-भोग न देव तऊ तिसना बिनसानी॥

दाडिम दाख रसाल-सिता मधु ऊख पिये औ पियूष से पानी ।
पै न तऊ तरुनी तिय क अधरान के पीवे की प्यास बुझानी ।।

विषयो की प्यास बुझती नही कितना भी उसे बुझाया जाय वह और भी तीव्र होती चली जाती है । यही हाल देव का था । कोई भी राज्याश्रय इन सासारिक आकाक्षाओ की अभिलषित परिमाण मे पूर्ति न कर सका बस इसी कारण कवि ने तरुणी के रूप पर मुग्ध हुए चित्त को ईश्वर के चरण-कमलो पर समर्पित कर दिया होगा । कवि के मनोजगत के इस सत्य का आभास देने वाली बहुतेरी पंक्तियाँ मिलती है—

बोजु मरीचन के मृग लौं अब धावै न रे सुन काहे नरिंद के ।
इन्दु सौ आनन तू ज्यु चितै अरविन्द से पाँयन पूजि गुविंद के ।।

भोगैष्णाओ मे आतिशयिक प्रवृत्ति पर उनका पश्चात्ताप इस प्रसिद्ध छन्द मे व्यक्त हुआ है—

ऐसो जो हौं जानतो कि जैहै तू विषै के सग,
ए रे मन मेरे हांथ पाँव तेरे तोरतो ।
आजु लौं हौं कत नरनाहन की नाही सुनि,
नेह सों निहारि हारि बदन निहोरतो ।
चलन न देतो देव चंचल अचल करि,
चाबुक चितावनीन मारि मुँह मोरतो ।
भारो प्रेम-पाथर नगारो दै गरे ते बाँधि,
राधाबर बिरद के बारिधि मे बोरतो ।।

यह हम बार-बार कह चुके हैं कि रीति कवियो मे भक्ति-भावना-विषयक संकीर्णता अपवादस्वरूप ही मिलेगी । देव ने शिव स्तुति-सम्बन्धी शिवाष्टक भी लिखा और कृष्ण-भक्ति के छन्द भी कहे । मन उनका कृष्ण-भक्ति मे विशेष रमता था ऐसा प्रतीत होता है । जिस राधाकृष्ण और गोपीकृष्ण के प्रेम-सम्बन्धो का विशद वर्णन उन्होंने किया उसे प्रेम के दैवत पर उन्होने अपनी भक्ति भी निछावर की । कृष्ण के जन्मोत्सव, स्वरूप-सौदर्य और लीलाओ की मनोहारिता का वे बडी मग्नता से गायन करते पाये जाते हैं—

(क) सूनो के परम पदु, ऊनो कै अनंत मदु,
दूनौ कै नदीस-नदु इन्दिरा फुरै परी ।
महिमा मुनीसन की संपति दिगीसन की,
ईसन की सिद्धि व्रज बीथिन बिथुरै परी ।
भादौं की अँधेरी अधराति मथुरा . के पथ,
आई मनोरथ 'देव' देवकी दुरै परी ।

पारावार पूरन अपार पर ब्रह्मरासि,
जसुदा के कोरें एक बारक कुरे परी ।।

(ख) पायनि नूपुर मन्जु बजै कटि किंकिनि के धुन की मधुराई ।
साँवरे अंग लसैं पट पीत हिये हुलसै बनमाल सुहाई ।
माथे किरीट बड़े दृग चचंल मन्द हँसी मुखचंद जुन्हाई ।
जै जगमंदिर दीपक सुन्दर श्री ब्रजदूलह देव सहाई ।।

कृष्ण की भक्तवत्सलता के विविध दृष्टान्तों का भी कवि स्मरण करता है – ब्रज की गलियों मे दौडना, नन्द की गोद मे खेलना, गोपियों की भीड़ मे नाचना, अर्जुन का रथ हाँकना, हिरण्यकशिपु का वक्ष विदीर्ण करना, गज को ग्राह के मुँह से छुडाना, बिदुर की भाजी, भिल्लनी के बेर और सुदामा के चावल खाना आदि । भक्त भगवान के ऐसे कर्मों का स्मरण कर बहुत बल का अनुभव करता है । श्री कृष्ण के साथ-साथ श्री राधा जी की भी स्तुति देव ने की है —

(क) श्री राधे ब्रजदेवि जै सुन्दर नन्द किसोर ।
दुरित हरो चित के चितै नैसुक दै दृग कोर ।।

(ख) दूजो नहि देव 'देव' पूजौं राधिका के पद
पलक न लाऊँ धरि लाऊँ पलकनि पै ।।

भक्ति की सच्ची लहर विराग से ही प्रेरित हुआ करती है । स्वार्थों के लिए की जाने वाली भक्ति भक्ति नहीं । वह तो सासारिकता का ही पल्लवन है । देव में समय-समय पर वैराग्य का भाव जागृत हुआ था और उसकी तीव्र अभिव्यक्ति उन्होने बार-बार की है जैसा कि हम पहले कह चुके है । सासारिक विषयैष्णाओं की तीव्र प्रतिक्रिया-स्वरूप उनकी कविता मे वैराग्य और भक्तिसबधी भाव आए है । ग्रथो के मगलाचरण आदि के रूप मे कृष्ण राधा, यशोदा, नन्द या देवी देवताओं की स्तुति और प्रशसा के जो छन्द है वे तो परपरा पालन मात्र हैं ।

देव के काव्य मे दार्शनिक विचारो की भी प्रचुरता मिलती है । ये दार्शनिक विचार हमारे चिर परिचित और परम्परागत ही है परन्तु काव्य के आवरण मे वे सरसता के साथ-साथ अपना अलग प्रभाव लेकर आए हैं । देव कहते है कि ससार का यह सारा प्रसार माया का ही जाल है चौदहो लोक उसी माया के विकार है । इस सृष्टि मे दृश्यमान जो कुछ भी सुख और ऐश्वर्य है, सौंदर्य और गौरव है, महत्ता और प्रतिष्ठा है वह सब माया का ही पचडा है और जो कुछ मायामय है वह सभी नश्वर है और इसीलिए त्याज्य भी । धन-वैभव, स्त्री-पुत्र सभी ससार से बाँधने वाले उपकरण हैं । ये एक से एक शक्तिशाली साधन हैं मन को वशीभूत करने के परन्तु इनके वशीभूत होकर अभिमान से उद्धत होकर संसार में कभी कोई बडा नही हुआ । एक मात्र

सत्कर्म, औदार्य, निष्कपटता, दया, निरभिमान आदि गुणो से ही कोई इस संसार सागर से तर सकता है—

जगत प्रवाह पथ अकथ अथाह देव,
दया के निबाह कहूं कोई तरि जातु है।
केते अभिमानी भए पानी के बबूला, कोई।
बानी बोजु धरम धरा पै धरि जातु है॥

इस माया-मोह की दुनियाँ मे, इस व्यावसायिक सृष्टि मे जो खरा दाम देकर पक्का माल (गुरु उपदेश) नही खरीदेगा उसका उद्धार ही नही हो सकता, मनुष्य-जन्म बार-बार मिलने वाला नही इसलिए अपनी आकबत इसी जन्म मे बना लेने के सिवा हमारे पास दूसरा चारा नही है। इस व्यावसायिक जगत के लिए देव का यह संदेश पर्याप्त मूल्यवान है—

आवत आयु को द्यौस अथौत गए रवि यों अंधियारिए ऐहै।
दाम खरे दै खरीदु खरो गुरु, मोह की गोनी न फेरि बिकैहै।
देव छितीस की छाप बिना, जमराज जगाती महादुख दैहै।
जात उठी पुर देह की पैठ, अरे बनियै बनियै नहिं रैहै॥

इस नश्वर संसार की ओर कवि ने बार-बार इशारा किया है और कहा है कि बडे से बडे वीर और प्रतापी पुरुष इस ससार मे आ-आकर चले गए, रूप-गुण-शक्ति-सपदा कुछ भी टिकाऊ नही—

देव अदेव बली बलहीन चले गए मोह की हौंस हिलाने।
रूप कुरूप गुनी निगुनी जे जहाँ उपजे ते वहाँ ही बिलाने॥

फिर तुच्छ मनुष्य किस बात का अभिमान कर सकता है? उसका तो अपना ही तन अत्यन्त दुर्बल, रोगग्रस्त और नश्वर है। विनाश के ज्वालामुखी पर तो वह खुद बैठा हुआ है—

बागो बन्यो जरपोस को तामहि ओस को तार तन्यो मकरी ने।
पानी में पाहन पोत चल्यो चढ़ि, कागद की छतुरी सिर दीने।
काँख मैं बाँधि कै पाँख पतंग के देव सुसंग पतग को लीने।
मोम के मन्दिर माखन को मुनि बैठ्यो हुतासन आसन दीने॥

ऐसे नश्वर संसार मे कौन किसका साथ देता है, धन-वैभव, साथी-सगी, मित्र-कलत्र सब साथ छोड़ देता है, हमे सिर्फ अपना और अपने कर्मों का ही सहारा रह जाता है—

काम परयो दुलही अरु दूलह चाकर यार ते द्वार ही छूटे।
माया के बाजने बाजि गए परभात ही भातखवा उठि बूटे।
आतसबाजी गई छिन में छुटि, देखि अजौं उठि कै अंख फूटे॥
देव दिखैयन दाग बने रहे बाग बने ते बरोठेई लूटे॥

ऐसे असार और नश्वर ससार में हमे एकमात्र अपना ही भरोसा रह जाता है। गुरु के उपदेशों को श्रमपूर्वक सार्थक करने वाला जीवधारी ही ससार मे अमर होता है, उसी की यशःकाया दिक्-काल की सीमाओं का अतिक्रमण करती हुई जीवित रहती है— 'सबद रसायनि के अरथ उपायनि, अमर तरु कायान अमर करि जातु है।' यश की यह अमर काया किस प्रकार बन सकती है ? देव का कहना है कि इसे सत्कर्मों से, सदाचारो से, उच्चाशयी होकर निर्मित किया जा सकता है। जीवन को तपाना पड़ता है, ठीक रास्ते पर ले चलना पडता है, वृत्तियो का परिष्कार करना पडता है तभी अमरता प्राप्त होती है। गुरु का उपदेश मन मे जब तक दृढ नहीं होता, विवेक का प्रयोग जब तक नही किया जाता, मानव मात्र के प्रति प्रेम जब तक जाग्रत नही होता, क्षमा, दया आदि भावो का व्यापक रूप से आविर्भाव नही होता तब तक जीवन अकारथ हो जाता है और मूर्ख मनुष्य अज्ञानवश अपने जीवन को व्यर्थ ही गँवाता रहता है—

गुरुजन जामन मिल्यो न भयो दृढ़ दधि,
मथ्यो न विवेक रई देव जो बनायगो।
माखन मुकुति कहाँ छाँड्यो न भुगुति जहाँ,
नेह बिनु सिगरे सवाद खेह नायगो।
बिलखत बच्यो मूल कच्यो सच्यो लोभ-भाँड़े,
तच्यो कोप-आँच पच्यो मदन सिरायगो।
पायो न सिरावन सलिल छिमा-छींटन सों,
दूध सो जनम बिन जाने उफनायगो॥

इस सासारिकता के नाश का एकमात्र मार्ग है सद्बुद्धि का उदय, आत्मज्ञान और ईश्वर-प्रेम। देव का विश्वास सद्वृत्तियो के विकास मे था, धर्म का आडम्बर प्रधान रूप उन्हे न इष्ट था और न प्रिय। वे उसकी अनेक बार कुत्सा करते पाये जाते हैं बहुत कुछ आधुनिक बुद्धिवादियो की तरह या कबीर की तरह। व्रतोपवास का आत्म-पीड़ाकारी मार्ग उन्हे ठीक नही लगता था और न ढोंगियों के झूठे प्रचार। इनकी उन्होंने खुलकर भर्त्सना की है—

(क) मूढ़ कहैं मरि कै फिरि पाइये ह्याँ जु लुटाइये भौन भरे को।
ते खल खोइ खिस्यात खरे अवतार सुन्यो कहुँ छार परे को।
जीवत तौ व्रत भूख सुखौत सरीर महा सुररूख हरे को।
ऐसी असाधु असाधुन की बुधि साधन देत सराध मरे को॥

(ख) पापु न पुन्य न नर्क न सर्ग मरो सुमरो फिरि कौने बुलायो।
मूढ़ ही बेद पुराननि बाँचि लबारनि लोग भले भुरकायो॥

(ग) जो कुछ पुन्य अरन्य जलस्थल तीरथखेत निकेत कहावै।
पूजन जाजन औ जपदान अन्हान परिक्रम गान गनावै।
और किते ब्रत नेम उपास अरंभु कै देव को दम्भु दिखावै।
है सिगरे सरपंच के नाच जु पै मन मै सुचि साँच न आवै।।

मन मे सत्य प्रतिष्ठित हो जाय यही सबसे बडा पुण्य है, सबसे बडा धर्म है, इसी से अभीष्ट-सिद्धि का मार्ग प्रशस्त हो चलता है। मन मे सत्य की प्रतिष्ठा हो और प्रेम-प्रतीति हो बस फिर सारे जग-जाल और भवभ्रम छूट जाते है। ईश्वर धार्मिकता के शत-शत दिखावटी कार्य व्यापारो मे कहाँ है, वह तो सर्वत्र व्याप्त है और प्रीति-प्रतीति से ही प्राप्य है—

कथा मैं न, कंथा मैं न, तीरथ के पंथा मैं न,
पोथी मै, न पाथ मै, न साथ की बसीति मै।
जटा मैं न, मुंडन न, तिलक त्रिपुंडन न,
नदी-कूप-कुंडन अन्हान दान-रीति मैं।
पैठ-मठ-मंडल न, कुंडल कमंडल न,
माला दण्ड मैं न, देव देहरे की भीति मै।
आप ही अपार पारावार प्रभु पूरि रह्यौ,
पाइये प्रगट परमेसुर प्रतीति मै।।

ईश्वर प्रेम में जब भक्त रम जाता है और प्रेम रस की जब वर्षा होने लगती है तब मनुष्य की सारी सांसारिकता बह जाती है, वह दिव्य और ईश्वरीय हो जाता है—

देव घनस्याम-रस बरस्यो अखंड धार
पूरन अपार प्रेम-पूर नहि सांह परयौ।
विषै बन्धु बूड़े, मद-मोह-सुत दबे देखि,
अहकार मीत मरि, मुरझि महि परयौ।
आसा त्रिसना सी बहू-बेटी लै निकसि भाजी,
माया मेहरी पै देहरी पै नहि रहि परयौ।
गयौं नहि हेरो लयो बन में बसेरो, नेह,
नदी के किनारे मन-मंदिर ढहि परयौ।।

उसे सर्वत्र ईश्वर ही ईश्वर दिखाई देना है, कण-कण में वह एक ही सत्ता के दर्शन करता है—

मिलि गयौ मूल-थूल, सूच्छम समूल कुल,
पंचभूत गन अनुकन मैं कियौ निकेत।
आप ही ते आप ही सुमति सिखराई 'देव'
नख सिख राई में सुमेरू दिखराई देत।।

मनुष्य प्रीति-प्रतीति से पवित्र हो आत्मज्ञ हो उठता है, स्वयं प्रकाश हो जाता है। जगत का सत्य उसे गोचर होने लगता है। सर्वत्र वह ईश्वरीय सत्ता की ही प्रतीति करने लगता है।

मूलतः शृंगारी कवि होते हुए भी अपनी ढलती आयु मे देव ने जो भक्ति, वैराग्य और तत्वज्ञान की बाते लिखी उनकी प्रेरणा जीवनानुभव भी रही होगी। प्रकृत्या वे भक्ति के कवि न थे पर संसार की लोभ-लिप्साओ, भोगैषणाओ मे लिप्त रह कर, भोगवासनामय जीवन का अनुभव प्राप्त कर यदि उनमे ससार से विरक्ति और ईश्वर-भक्ति का भाव जागृत हुआ हो तो इसमे अनौचित्य ही क्या। संसार की असारता, उससे विरक्ति, जीव की नश्वरता, एक मात्र सत्य ईश्वर के प्रति रुझान आदि बाते तो ऐसी हैं जो प्रत्येक भारतीय के मन मे सस्कार रूप मे ही विद्यमान पाई जाती है, देव तो फिर भी अत्यन्त सजग प्राणी थे। वे दर्शन आदि विषयो का पर्याप्त ज्ञान रखते थे इसका प्रमाण 'देवमाया प्रपच' पर्याप्त परिमाण मे प्रस्तुत करता है। इस प्रकार कुछ अनुभूति की प्रेरणा से, कुछ बौद्धिक प्रेरणा से, कुछ तत्वज्ञान की पुस्तको के अध्ययन से और कुछ परम्परागत रूप मे देव भक्ति, वैराग्य और दर्शनप्रधान कृतियो के प्रणयन मे दत्तचित्त हुए।

देव ने लिखा है कि यह ससार माया का प्रसार है, सृष्टि मे जो कुछ भी दृश्यमान है वह सभी माया के प्रभाव मे है। मनुष्य जानकर भी माया की दासता से मुक्त नही हो पाता। ससार की नश्वरता और क्षणिकता देखते हुए भी वह बलात माया का शिकार बन जाता है और विषयो की ओर उन्मुख होता रहता है। उसके मन की आशाकाक्षाएं पूरी भी नही होने पाती कि यह नश्वर जीव काल का ग्रास हो जाता है—

मन की मिटी न तौ लौं आप हो मिटि रह्यौ।

ऐसे मूर्ख प्राणी को कवि चेतावनी देता है, कहता है कि हे मनुष्य तूने खुद ही अपने आपको इस मकडी के जाले (माया) मे फँसा रक्खा है। तू यह क्यो भूलता है कि तू ही सृष्टि का केन्द्र है और विधाता की विलक्षण और श्रेष्ठतम सृष्टि। तेरे अन्दर अशेष सामर्थ्य है फिर भी तू दीन होकर इन्द्रियों की दासता मे क्यो पडा हुआ है। जरा उठ! और अपनी आँखो से अज्ञान का परदा हटा दे। कपट के दरवाजे खोलकर अपने ही अन्दर झाँक, वही तुझे आत्मदर्शन होगे और उसी आत्मदर्शन मे तुझे सृष्टिदर्शन और ब्रह्मदर्शन सभी कुछ लब्ध होगा—

तेरे अधीन अधिकार तीनो लोक को,
सु दीन भयो क्यों फिरै मलीन घाट बाट हैं।
तो मैं जो उठत बोलि ताहि क्यों न मिलै डोलि,
खोलिए हिय में दिए कपट कपाट हैं॥

देव तत्वज्ञ होकर भी ज्ञान और वैराग्य की अपेक्षा प्रेम और भक्ति के कायल थे। ज्ञान और वैराग्य की महत्ता स्वीकार करते हुए भी उन्होंने प्रेम की लगन और भक्ति को ही महत्व दिया है—

शान्त रस सु निर्वेद बढ़ि होत ज्ञान वैराग।
रौच तुच्छ सु हैं बिना प्रेम भक्ति की लाग॥

इसी प्रेम-पंथ का अनुधावन करते हुए उन्होने श्याम रग मे समा जाने की अभिलाषा व्यक्त की है—'श्याम रग ह्वै कार समान्यो श्याम रंग मैं' ईश्वर के दिव्य और सर्वव्यापी स्वरूप के कायल होकर भी वे अपनी भक्ति के लिए उन्हे विराट रूप गुण शील पुरुष के रूप मे ही देखते है—

देव नभ मंदिर में बैठारयो पुहुमि पीठ,
सगरे सलिल अन्हवाय उमहत हौं।
सिकल महीतल के मूल-फल फूल-दल,
सहित सुगंधन चढ़ावन चहत हौ।
अगिनि अनंत, धूप दीपक अनंत ज्योति,
जल थल अन्न दै प्रसन्नता लहत हौं।
ढारत समीर चौर, कामना न मेरे और,
आठौ जाम राम तुम्हें पूजत रहत हौं।

पद्माकर

वृत्त और कृतियाँ

अकबर के राज्यकाल मे (वर्तमान) मध्यभारत मे नर्मदा नदी के तट पर गढा-पत्तन नामक एक छोटा सा राज्य था, जिसका शासन महारानी दुर्गावती के हाथ मे था। सं० १६१५ मे मधुकर भट्ट नाम के एक तैलग ब्राह्मण लगभग ७५० दाक्षिणात्य लोगों के साथ जीवन की सुविधाओं के आकर्षण से महारानी के राज्य मे आ बसे और बाद में समग्र उत्तर-भारत मे फैल गए। मधुकर भट्ट अपने निकट सबधियो के साथ ब्रज मे आकर बस गए। समयान्तर में ये लोग भी यत्र-तत्र बिखर गए। मधुकर भट्ट की पाँचवी पीढी मे जनार्दन भट्ट हुए जो बांदा मे रहा करते थे। इनके पुत्र मोहन लाल भट्ट हुए जो संस्कृत, हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान तथा मंत्रशास्त्र के बहुत अच्छे ज्ञाता हुए। अपनी विद्वत्ता के कारण ये नागपुर के भोंसला घराने के अप्पा साहब रघुनाथ राव, हिन्दूपति महाराज पन्ना नरेश तथा जयपुर नरेश सवाई महाराज प्रतापसिंह द्वारा सम्मानित हुए। पद्माकर भट्ट इन्ही मोहनलाल भट्ट के पुत्र थे। पद्माकर जी का जन्म सं० १८१० में सागर (मध्य-भारत. में हुआ। इनके पिता और पितामह

ब्रज भाषा मे अच्छी कविता किया करते थे, अतः इनका वश ही 'कवीश्वर वश' के नाम से प्रख्यात हो गया। इनके वश का राजन्य वर्ग पर बहुत प्रभाव था।

पैतृक सपत्ति के रूप मे पद्माकर जी को काव्याभ्यास के साथ-साथ मत्रसिद्धि भी मिली। सबसे पहले सुगरा (बुन्देलखड) निवासी नोने अर्जुनसिह पवार ने इन्हे अपने यहाँ आदरपूर्वक निमन्त्रित किया तथा एक लाख चंडी पाठ (लक्षचडी अनुष्ठान) के द्वारा अपने खड्ग की सिद्धि करवा कर उन्हे धन-धान्य मे प्रसन्न कर अपना मंत्रगुरु बनाया। तब से आज तक पद्माकर के वशज उम कुल के मत्र-गुरु होते रहे हैं। पद्माकर ने अपनी कविता द्वारा अर्जुनसिह का यशोगान भी किया है तथा ऐसा कहा जाता है कि इन्होंने 'अर्जुन रायसा' नामक एक वीर काव्य भी लिखा। वहाँ से ये दतिया नरेश पारीक्षित के दरबार मे गए जहाँ इनके एक छन्द पर प्रसन्न होकर महाराज ने इन्हे जागीर भेट कर दी (देखिए छन्द ४९)। तत्पश्चात् वे गोसाई अनूपगिरि हिम्मत-बहादुर के यहाँ गए जो स्वय कविता करते थे तथा कवियो का सम्मान करते थे। उनकी प्रशसा मे भी पद्माकर जी ने अनेक कवित्त रचे (देखिए छन्द ५०)। सं० १८४९ मे नोने अर्जुन सिह और हिम्मत बहादुर मे एक युद्ध हुआ। यह युद्ध अजयगढ़ और बनगाँव (बुन्देलखड) के मध्यवर्ती क्षेत्र मे हुआ, जिसमे अर्जुनसिह वीरता से युद्ध करते हुए मारे गए। इस समय पद्माकर जी हिम्मत-बहादुर के यहाँ थे तथा उन्होंने उनकी प्रशंसा में एक वीर कथा-काव्य 'हिम्मत बहादुर-विरुदावली' भी लिखा। किन्तु अपने पहले आश्रयदाता अर्जुन सिह की मृत्यु पर पद्माकर जी ने जो उद्गार (देखिए छन्द ५१) प्रकट किए हैं, उनसे पता चलता है कि सच्चे वीर की प्रशसा मे इनकी वाणी कभी पीछे नही रही।

सं० १८५६ में जब रघुनाथ राव को सागर की गद्दी मिली, उन्होने पद्माकर जी को अपने यहाँ बुलाया। रघुनाथ राव के दान और कृपाण की प्रशंसा में लिखी गई उक्तियाँ प्रसिद्ध हैं (देखिए छन्द ५२)। यहाँ से लौटकर पद्माकर जी बादा आए और वहाँ से स० १८५८ मे जयपुर गए। उस समय वहाँ सवाई महाराज प्रतापसिंह राज्य करते थे। वे बडे गुणग्राही थे, अतः उन्होंने पद्माकर जी की प्रतिभा पर मुग्ध हो उन्हें अपना राजकवि बना लिया। पद्माकर जी ने उनकी प्रशंसा मे बहुत से छन्द बडी ही ओजपूर्ण भाषा मे लिखे हैं (देखिए छन्द ५३-५४)। महाराज ने भी इन्हे अपने जीवनकाल तक अपने पास रखा। उनकी मृत्यु के पश्चात् ये बादा लौट आए। अनुमान किया जाता है कि 'पद्माभरण' की रचना पद्माकर जी ने इसी समय की, क्योकि एक तो वह किसी राजा-महाराजा के नाम पर नही लिखा गया है, दूसरे उसमें आए हुए किसी भी छन्द का किसी शासक से कोई संबंध नही। कुछ समय पश्चात् ये फिर जयपुर गए, क्योकि सवाई महाराज प्रतापसिंह के समय मे इन्होंने वहाँ जो आन्दोलन मे योग दिया था उसकी स्मृति इन्हे

रोक न सकी। इस समय उनके पुत्र जगतसिंह गद्दी पर थे। उन्हे भी कविता से अपार प्रेम था। पद्माकर उन तक पहुँच न पाते थे। एक बार महाराज जगतसिंह तथा उनके गुरु एक समस्या के चक्कर मे पडे हुए थे, जो किसी भी प्रकार पूरी न हो पाती थी। समस्या थी—'सारे नभमडल मे भारगव चन्द्रमा' ये किसी प्रकार उनके समीप पहुँचे तथा इन्होने अपनी समस्यापूर्ति (देखिए छन्द ५५) दिखलाई, जिसे सुनकर वे आश्चर्य-चकित हो गए। ये वेश बदल कर गए थे और पूछने पर इन्होने अपने को पद्माकर कवि का साईस बतलाया तथा दूसरे दिन अपने स्वामी को राजसभा मे उपस्थित करने का वचन दिया। राजसभा मे इन्होने एक छन्द मे अपना परिचय प्रस्तुत किया, जिससे इनकी प्रतिभा पर रीझ कर महाराज ने इन्हे अपना राजकवि बना लिया। महाराज जगतसिंह भोग-विलास मे मस्त रहने वाले जीव थे। उनके घोडो तथा तीतर बटेरो तक का वर्णन पद्माकर ने किया है। उनकी आज्ञा से पद्माकर जी ने 'जगद्विनोद' नामक नायिकाभेद का प्रसिद्ध ग्रंथ बनाया। स्व० लाला भगवानदीन का कहना है कि इस ग्रथ पर कवि का १२ हाथी १२ ग्राम तथा १२ लाख मुद्रा पारितोषिक मे मिला। पद्माकर जी धन-धान्य से खूब सपन्न हो गए थे और जहाँ जाते थे इनके साथ पूरा लाव-लश्कर जाता था। एक बार जब ये जयपुर से बाँदा जा रहे थे, इनके लाव-लश्कर को देखकर बूदीवालो ने समझा कि कोई राजा चढाई करने के लिए चढ आया है, तब उन्हे अपनी रचना पढ़कर लोगो को समझाना पडा—

नाम पद्माकर डराउ मत कोउ भैया,
हम कविराज है प्रताप महाराज के।

तब बूदी नरेश ने इनका यथेष्ट स्वागत किया और कहा जाता है कि 'राम-रसायन' नामक ग्रन्थ उन्ही के आग्रह मे बना। जयपुर-नरेश जगतसिंह की मृत्यु (स० १८७५) के अनन्तर ये तत्कालीन ग्वालियर-नरेश दौलतराव सिंधिया के यहाँ गए। उनके नाम पर इन्होने 'आलीजाह प्रकाश' नामक नायिकाभेद का एक अन्य ग्रथ तैयार किया, जो 'जगद्विनोद' से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। इसका रचना-काल स० १८७८ है। अन्त मे इनकी इच्छा उदयपुर जाने की हुई तथा ये वहाँ गए भी। तत्कालीन महाराज भीमसिंह से भेट भी हुई। मेवाड प्रान्त मे चैत शुक्ल चतुर्थी को गनगौर का मेला बडे धूमधाम से होता है, इसका वर्णन भी इन्होने अपनी कविता मे किया है। कहा जाता है कि जयपुर मे निवासकाल मे ही पद्माकर जी का किसी सुनारिन से अनुचित प्रेम-संबंध हो गया था तथा कुष्ठ रोग से भी ये विपीडित हुए, जिसके प्रायश्चित्त मे 'राम रसायन' तथा 'प्रबोध-पचासा' की रचना हुई। ग्वालियर मे इन्होने दौलतराव के एक सभासद 'ऊदोजी' के कहने से सस्कृत के 'हितोपदेश' का भाषानुवाद भी किया था। सं० १८८३ मे महाराज रतनसिंह चरखारी की गद्दी पर बैठे। अपनी प्रकृति के अनु-

सार ये उनसे भी मिलने के लिए गए, पर इनके पाप की कथा सुनकर उन्होंने इनसे मिलना स्वीकार न किया। इस पर इन्हे कुछ ऐसी ग्लानि हुई कि घर न लौट कर इन्होंने पतित पावनी गगा की शरण पाने के लिए कानपुर की ओर प्रस्थान किया। मार्ग मे ही 'गगा-लहरी' रची गई, जिसके अतिम छंदो से पता चलता है कि कवि गगा के समीप ही पहुँच गया है। कानपुर पहुँचने पर कवि का कुष्ठ रोग भी बहुत नष्ट हो गया। ८० वर्ष की अवस्था में सं० १८६० मे वही उनकी मृत्यु हुई।

पद्माकर जी का जीवन-वृत्त देखने से पता चलता है कि ये आजीवन दर-दर भटकते ही रहे। अर्थ का अभाव इन्हे न रहा होगा किन्तु अर्थ का लोभ इन्हे विशेष रहा होगा। इनकी कवित्व-शक्ति का उपयोग कितने ही राजा-रईसो की प्रशसा मे हुआ। जिसके भी दरबार मे गए, उसकी अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशसा करने लगे। परिणाम-स्वरूप इनकी प्रतिभा का स्वच्छन्द और पूर्ण विकास देखने को न मिल सका। नर-काव्य का सृजन करना उस युग की परिपाटी थी, ये उसके निर्वाह मे ही लगे रहे। अपने समय और समाज से ऊपर उठन की शक्ति तथा उसका निर्माण करने की भावना पद्माकर मे न थी। इनके जीवन का स्वाभाविक विकास तो इस रूप मे दिखाई देता है कि 'नवयौवन मे इन्होने वीर रस को अपनाया, युवावस्था मे श्रृङ्गाररस मे डूबे और ढलती अवस्था मे भक्ति की कविता की' (प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र)। इन्होंने अपनी कवित्व-शक्ति की बदौलत धन भी खूब कमाया। लाला भगवानदीन ने तो लिखा है कि "पद्माकर ने अपनी काव्यशक्ति के प्रभाव से ५६ लाख रुपया नकद, ५६ गाँव और ५६ हाथी इनाम मे पाए थे। उन गाँवो की सनदो मे से कई एक सनदें और स्वयं गाँव अभी तक उनके वशधरों के कब्जे मे हैं।" पद्माकर जी ने स्वयं भी लिखा है—

> हय, रथ, पालकी, गयंद, गृह, ग्राम चारु
> आखिर लगाय लेत लाखन को सामा हौ।

पद्माकर जी भले ही धनार्जन के लिए कितने राज दरबारो मे गए हों, पर उन्हें धन की कमी न थी (देखिए छन्द ५७)। इनका ठाठ-बाट राजसी था तथा इनकी प्रवृत्ति शृङ्गारिक। भक्ति इनके जीर्णावस्था की प्रवृत्ति है।

पद्माकर जी के सबंध मे अनेक किंवदतियाँ भी प्रचलित हैं। पद्माकर के वशधरों की किंवदती के अनुसार यह सुना जाता है कि पद्माकर जी का रघुनाथ राव से इतना निकट का संबंध था कि ये उनके रनिवास तक मे आया-जाया करते थे। एक बार इन्होने रघुनाथ राव की महारानी को लेटे हुए देखा, सावन का महीना था, उनकी हथेली मे विदोदार मेहदी लगी हुई थी तथा वे अपनी हथेली पर मुँह रखकर लेटी हुई थी। इस मुद्रा पर पद्माकर ने यह सवैया लिखा था—

कै रतिरंग थकी थिर ह्वै पलका पर प्यारी परी सुख पाय कै।
त्यौं 'पद्माकर' स्वेद के बुन्द मुकताहल से तन छाय कै।।
बिन्दु रचै मेंहदी के सुलैरु तापर यों रह्यो आनन आय कै।
इन्दु मनो अरविन्दु पै राजत इंद्रबधून के बृन्द बिछाय कै।।

पद्माकर जी समस्यापूर्ति करने मे भी बहुत पटु थे। एक बार महाराज प्रतापसिंह श्रावण मास मे काशी के शंकु उद्धार के मेले मे गए हुए थे। वहाँ गाती हुई गौन-हारिनो पर गुडे लोग छीटे कस रहे थे—'रग है ही रग है'। इसी बात पर पद्माकर जी ने चट से एक छन्द बनाकर अपने महाराज को सुनाया। जयपुर मे एक उद्यान-विशेष में लोग सावन मे झूलने जाया करते थे। उस अवसर पर महाराज प्रतापसिंह ने समस्या दी थी 'सावन मे झूलिबो सुहावनो लगत है।' एक अन्य अवसर पर दरबार मे आए हुए बासुरी वाले की बासुरी सुनकर महाराज द्रवीभूत हुए थे और उन्होने समस्या दी थी, 'बासुरी बजत आँख आँसु री ढरक परै' और पद्माकर जी ने इन सबकी प्रसन्न कर देने वाली पूर्तियाँ प्रस्तुत की थी। इससे उनकी कुशल कवित्व-शक्ति का परिचय मिलता है।

रचनाएँ—(१) हिम्मतबहादुर-बिरदावली, (२) पद्माभरण, (३) जगद्विनोद, (४) प्रबोध-पचासा, (५) गंगा-लहरी, (६) जयसिंह विरदावली, (७) आलीजाह-प्रकाश, (८) हितोपदेश, (९) रामरसायन, (१०) अश्वमेध भाषा। नीचे 'पद्माकर' जी की प्रधान रचनाओ का परिचय दिया जा रहा है।

हिम्मत बहादुर बिरदावली एक वीर काव्य है जो पाँच अंशो मे विभक्त है। पहले अश मे हिम्मत बहादुर के विजय के लिए भगवान श्रीकृष्ण से प्रार्थना की गई है, दूसरे अश मे नायक द्वारा गूजरो के परास्त होने, महाराज छत्रसाल के द्वारा संस्थापित राज्यों पर अधिकार करने, नोने अर्जुन सिंह पर आक्रमण तथा सेना आदि का वर्णन है। तीसरे-चौथे अश मे युद्ध तथा पाँचवे अश मे हिम्मत बहुहार द्वारा नोने अर्जुनसिंह के मारे जाने का वर्णन है। केशवदास तथा सूदन ऐसे काव्यकारों के वीर काव्यों (वीरसिंह देव चरित, सुजान चरित) को सामने रख कर यदि पद्माकर के इस ग्रंथ की तुलना की जाय तो यह सामान्यतया ठीक ही कहा जायगा। किन्तु उच्चकोटि के काव्यो मे गिने जाने योग्य यह ग्रंथ नही है। पद्माकर के वर्णनो में सूची गिनाने वाली भद्दी प्रवृत्ति मिलती है, जमे हुए वर्णन नही मिलते; इसी प्रकार कही-कही वीरो द्वारा ऐसे भाषण कराए गए हैं जिनसे वीरोन्मेष के स्थान पर संसार की असारता का चित्र सामने आता है।

पद्माभरण—यह एक अलकार-ग्रंथ है जिसकी रचना जयदेव कृत चन्द्रालोक के आधार पर हुई है किन्तु कवि ने स्वतत्रता से काम लिया है। इसके लक्षण अवश्य चन्द्रलोक से लिए गए हैं पर उदाहरण कवि के अपने हैं। लक्षणों में कही-कहीं

अस्पष्टता आ गई है, उसके दो कारण हैं—एक तो समास-पद्धति दूसरे छन्द का बधन। यह दोष सभी रीतिकारो मे मिलेगा, फिर भी इस ग्रन्थ मे हिन्दी के अन्य अलंकार-ग्रथो की अपेक्षा सुस्पष्टता और सुबोधता है। विषय की जानकारी के लिए ग्रन्थ पठनीय है।

जगद्विनोद—नायिका भेद संबधी विशद ग्रन्थ है, जिसमे रस का विवेचन भी अत्यन्त सक्षेप मे किया गया है। पद्माकर का नायिका-निरूपण हिन्दी की चली आती हुई परपरा के ही अनुसार है। उदाहरण अत्यन्त मौलिक एव भावपूर्ण हैं। इस ग्रथ के लक्षण एव उदाहरण-सबधी दोनो भाग यथेष्ट एव सफल है। यह कवि का सर्वश्रेष्ठ ग्रथ है, जिसमे उसकी भावना खुल कर खेल सकी है।

प्रबोध-पचासा—कवि के ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति-भावापन्न ५१ छन्दों का संग्रह है। इन कवित्तों मे भावना की सचाई के साथ अद्भुत मर्मस्पर्शिनी शक्ति है। गंगालहरी मे गगा की महिमा एव कीर्ति का वर्णन है तथा राम रसायन वाल्मीकीय रामायण के प्रथम तीन काडो का भावानुवाद है।

पद्माकर जी रीतिकाल के प्रथम श्रेणी के व्यक्तियो मे परिगणित किये जाते-जाते हैं क्योंकि जहाँ वे काव्य-रीति के अच्छे ज्ञाता थे वही रस-सिद्ध कवि भी थे। उनका अलंकार निरूपण, रस निरूपण, नायिका-भेद काफी सुलझता हुआ है। उनकी भावाभिव्यंजना अत्यन्त प्रौढ और प्रगल्भ है। भाव के क्षेत्र मे उनकी कविता बहुत बढी-चढी है तथा उनकी प्रवाहशालिनी भाषा पाठक के हृदय को बरबस आकृष्ट कर लेने वाली है। पद्माकर के कवित्तो की मँजी हुई लय हमे हिन्दी के अन्य किसी भी कवि मे नही प्राप्त होती। यही कारण है कि वे अपने काल के अति प्रसिद्ध कवि हैं।

शृंगार काल के सर्वाधिक प्रशसित एव लोकप्रिय कर्त्ताओ मे छन्द प्रवाह, नाद सौन्दर्य चित्रमत्ता, रस व्यजना आदि दृष्टियो से पद्माकर कवि का स्थान बहुत ऊँचा है। उनके काव्योत्कर्ष-दर्शन एव रसव्यजक काव्यानुशीलन के विचार से हमारा वक्तव्य जगद्विनोद, प्रबोध पचासा, गगालहरी तथा कतिपय प्रकीर्णक पद्यो तक ही सीमित रहेगा क्योकि उक्त दृष्टि से उनके प्रशस्ति—काव्यो हिम्मत बहादुर बिरुदावली, प्रतापसिंह विरुदावली तथा अलकार ग्रन्थ पद्माभरण एव ईश्वर पचीसी या कलि पचीसी ऐसी वैराग्यमूलक रचनाओ का कोई विशेष महत्व नही।

शृङ्गार रसात्मक-काव्य—सर्व प्रथम हम पद्माकर की उस प्रकार की रचनाओ का सौदर्य देखना चाहेगे जिनमे कवि का कवित्व अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच सका है और जिसके कारण उसकी इतनी ख्याति है। हिन्दी की परपरागत काव्य धारा के किसी भी रसज्ञ पाठक से पद्माकर के १०-२० छन्द सुने जा सकते हैं। 'आरस सो आरस सँभारत न सीस पट' से लेकर 'एक पग भीतर और एक देहरी पै धरे; 'एक कर कंज एक कर है किवाँर पर' वाला छंद अथवा 'फाग की भीर

अमीरनि मैं गहि गोविन्द लै गई भीतर गोरी '' नैन नचाइ कही मुसकाई लला फिरि अइयो खेलन होरी' या 'एकै सग धाए नंद लाल औ गुलाल दोऊ' या 'पैरै जहाँई जहाँ वह बाल तहाँ तहाँ ताल मैं होत त्रिवेनी' या 'आनद के कद जग ज्यावत जगत बंद' आदि कितने ही एक से एक सरस सुन्दर छद पद्माकर का नाम आते ही हमारी स्मृति मे घूम-झूम जाते है। हिन्दी काव्य की श्री सपदो के अग्रणी संवर्धक पद्माकर जी की काव्यश्री का विहगावलोकन ही यहाँ हमे अभीष्ट है।

पद्माकर के ग्रन्थो पर दृष्टि डालते ही पहली बात जिसे कहे बिना कोई न रहेगा यह है कि एक बड़ी हद तक उन्होने अपनी कवि-प्रतिभा का अपव्यय किया। उत्कृष्ट कवित्व-शक्ति से सम्पन्न होते हुए भी उन्होने व्यर्थ ही 'राजप्रशस्ति' और 'रीति का अनुसरण' करने मे अपनी प्रतिभा का विनियोग किया। जगत के चित्त विनोदनार्थ लिखी गई रचना 'जगद्विनोद' भी इस दोष से मुक्त न रह सकी। कवि की आर्थिक पराधीनता रही हो चाहे राज्याश्रय के बिना ख्याति की उपलब्धि न हो सकने की समस्या रही हो और चाहे परम्परा पालन के बिना गति ही नही—ऐसी वृत्ति काम करती रही हो, इन कारणो ने मिल कर पद्माकर के काव्य को बेतरह प्रभावित किया है। पद्माकर काव्य रीति के महान अथवा नदीष्ण आचार्य भी न बन सके और न प्रशस्ति गायन के कारण भूषण-सी गौरवपूर्ण लोकप्रियता ही पा सके। यदि कवित्व शक्ति उन्हे न मिली होती तो वे काव्य-जगत मे उपेक्षा के ही पात्र बने रहते। पद्माकर निश्चय ही कही अच्छा रचना कर गए होते यदि कही वे शास्त्र ग्रन्थ लेखन के चक्कर मे न पडे होते। नायिका भेद के सूक्ष्मतम भेद-प्रभेदों के निरूपण मे पडकर उनकी भावना के पख कट जाते हैं फलतः वे उस मुक्त भावाकाश मे उड नही पाते जिसमे उडना किसी भी कवि के लिये श्रेयस्कर हुआ करता है। यही कारण है कि उत्कृष्ट कवित्व शक्ति, असाधारण रूप से सुन्दर भाषा प्रवाह आदि के गुणो से समलकृत होते हुए भी उनकी कविता मे एक जकड़न है, नियमों की अर्गला है और परपरा का बोझ है जिसके नीचे उनकी पीठ झुक गई है और कमर टेढ़ी हो गई है। रीति ग्रन्थो की प्रणाली पूरी करने के लिए उनकी शक्ति का अनावश्यक रूप से व्यय हुआ है। उनके जगद्विनोद को पढकर बार-बार हमें कवि की लाचारी पर तरस आती है। पद्माकर श्रेष्ठ शिल्पी होते हुए भी जागरूक और नव्यता की चेतना से सम्पन्न कवि नही थे। इस दृष्टि से घनआनंद ठाकुर आदि रीतिस्वच्छन्द काव्यकारो का महत्व बढ़ कर ही ठहराना पड़ेगा।

लक्षणानुधावन करते हुए कवि को शत-शत सीमाओं में बँध जाना होता है। 'पद्माभरण' मे तो कवित्व शक्ति विशेष लक्षित नही होती उनकी श्रेष्ठतम काव्यकृति 'जगद्विनोद' में भी वह नियंत्रित एव आहत हुई है इस बात की प्रतीति आपको पदे-पदे

होगी। अन्यान्य रसो के अस्तित्व में विश्वास रखते हुए आलबन एव उसके अतर्गत भी नायिका के चित्रण पर अपना ध्यान विशेषत: केन्द्रित किया है।

नायिका—यह नायिका कौन है ? कह सकना कठिन है। घन आनद की सुजान अथवा बोधा की सुभान तो वह है नही परन्तु फिर भी जिस नायिका के नाना बिम्ब उन्होने अकित किये है वह उनके मन की कल्पना, मनोभिलषित सुन्दरता, मनोवाछित सौकुमार्य आदि का साक्षात स्वरूप तो है ही। इसके साथ ही साथ पद्माकर के द्वारा वर्णित नायिका रीतिशास्त्रीय रसग्रथो अथवा नायिकाभेद ग्रथों मे वर्णित परपरा प्राप्त नायिका भी है जो आयु, लज्जा, यौवन, परिस्थिति आदि नाना आधारो पर शत-शत भेद-प्रभेदो के साथ नाना रूपो मे चित्रित हुई है। स्पष्ट ही वह कोई एक स्त्री नही है जिसमे कवि का सारा अनुराग रागिभूत हो उठा हो। वह कवि की कल्पनाशक्ति की सृष्टि है जिसके सृजन मे शास्त्रोक्तियो का आदेश काम करता रहा है। रमणीय रूप वाली नायिका के अग-अग के, कतिपय अग समूहो के, उसके समग्र सौन्दर्य के तथा जहाँ-तहाँ उसके सौन्दर्य के प्रभाव के चित्र कवि ने अकित किये है।

नायिका के रूप का वर्णन करते हुए नेत्रो पर बहुत सी उक्तियाँ तो पद्माकर ने नही कही हैं परन्तु जो दो चार उक्तियाँ उनकी है उनमे नेत्रो के प्रभाव का कथन हुआ है—नेत्र बिना पैरो के दौडते है बिना हाथो के प्रहार करते है। अग रहित होने पर तो इनकी ये हालत है कही अग-शक्ति सपन्न होती तो ये आँखे न जाने क्या आफत कर डालती ? खजन मीन गजादिको का मान भजन करने वाली प्रिय की आँखे कलेजे मे ही अटकी हुई है—

(क) पाखन बिना हीं करैं लाखन हीं वार आँखे,
पावतीं जौ पाँखैं तौ कहा धौं करि डारती।

(ख) लाज के कटा हित कटाछिन के भाले लिये,
नेजेवार नैना वे करेजे में लगे रहे॥

नायिका के कपोलस्थ तिल का कल्पनाश्रित एव सदेह सश्लिष्ट वर्णन रीतिकालीन सौन्दर्य वर्णन की परिपाटी का एक प्रातिनिधिक उदाहरण कहा जा सकता है —

कैधौं रूप रासि में सिंगार रस अकुरित,
संकुरित कैधौं तम तडित जुन्हाई में।
कहैं 'पद्माकर' किधौं काम कारीगर
नुकता दियो है हेम-फरद सुहाई में।
कैधौं अरविद में मलिद-सुत सोयो आनि,
ऐसो तिल सोहत कपोल की लुनाई में।
कैधौ परयो इंदु में कलिंद-जल बिदु आई
गरक गुबिंद किधौं गोरा की गोराई में॥

राधिका के कपोलो पर जो तिल है वह राधिका की गौरता पर मुग्ध होकर आ अटके हुए मानो श्याम वर्ण गोविन्द है। सलोनी रूपागना के अधरो पर खेलती हुई मुसकान मे जो मिठास है वह ऐसी है जिसमे समग्र सृष्टि का ही माधुर्य लाकर समो दिया गया है। गुलकद, दाख, कलाकद, सुधा, मधु, ईख, छुहारा, बसौधी, मिश्री आदिको की मिठास जैसे वह लूटकर ले आई है और उन्हे उसने अपने अधरो मे भर रक्खा है। उसकी सुकुमारता! उसका तो कहना ही क्या है? 'फर्श मखमल पे तेरे पैर छिले जाते हैं' वाले अशार के वज़न की चीज पद्माकर लिख गए है—

बारन के भार सुकुमार को लचत लंक,
राजै परजंक पर भीतर महल के।
कोमल कमल के गुलाबन के दल के,
सुजात गडि पाइन बिछौना मखमल के।।

नायिका अथवा ब्रजागना की वर्णोज्वलता, उसकी अग-शुभ्रता का यह धवल चित्र देखिये जिसमे वह मनिमन्दिर के आँगन मे खडी दिखलाई गई है—

चैत की चाँदनी में चहुँधा चलि चाइन चंद सी वै रही वै रही।
त्यों 'पद्माकर' बिज्जुछटा छबि कैसो छटा छिते छ्वै रहो छ्वै रहो।
वा मानमंदिर के अंगना में ब्रजगना यों कछु ह्वै रही ह्वै रही।।
चातुरई चतुरानन की मनो चाँदनी चौक मे च्वै रही च्वै रही।

ब्रजागना की शुभ्र वर्णच्छटा का यह चित्र देव कवि के प्रसिद्ध छद 'फटिक सिलानि सों सुधार्यो सुधा मन्दिर' का स्मरण दिला देता है जो उज्ज्वल वर्ण सौंदर्य का चित्रण करने वाला असाधारण छद है। अगद्युति का वर्णन करते हुए सशक्त लेखनी के कवियो ने अगो से आभा की लहरो का उठना वर्णित किया है जैसे 'अंग-अंग तरङ्ग उठै दुति की परिहै मनौ रूप अबै धर च्वै' (घनआनन्द) अथवा 'पग-पग मग अगमन परत चरन अरुन दुतिझूल' (बिहारी)। ऐसी ही अगद्युति और सौन्दर्याभा का वर्णन पद्माकर ने स्नानोद्यत तरुणी का बिम्बग्राही चित्र प्रस्तुत करते हुए किया है—

चौक में चौकी जराउ जरी तिहिं पै खरी बार बगारति सौंधैं।
छोरि धरी हरी कंचुकी न्हान कों अंगन ते उठे जोति के कौंधैं।।
छाई उरोजन की छबि यों 'पद्माकर' देखत ही चक चौंधैं।
भाजि गई लरिकाई मनों करि कंचन के दुहुँ दुंदुभि औंधै।।

अंगो की स्वर्णाभा यहाँ नेत्रो मे चकाचौंध पैदा करने वाली है। वर्णच्छटा और अग-कांति का अत्यन्त चमत्कारपूर्ण सौंदर्य एक छद मे कवि ने संघटित किया है जिस समय वे तन्वंगी का ताल में तैरना वर्णित करते हैं—

जाहिरै जागत सी जमुना जब बूड़ै बहै उमहै वह बैनी।
त्यों 'पद्माकर' हीर के हारन गंग तरंगन को सुखदैनी।
पाइन के रँग सों रँगि जात सी भाँति ही भाँति सरस्वति सैनी।
पैरै जहाँई जहाँ ब्रजबाल तहाँ-तहाँ ताल मे होत त्रिबैनी॥

नायिका के तारुण्य का चित्र उन छंदो मे विशेष रूप से अकित हुआ है जिनमे वयः-सधि या सभोग-व्यापारो की वर्णना हुई है।[१] कतिपय अगो का विकास एव कतिपय का ह्रास निर्दशित करते हुए परम्पराबद्ध शैली पर क्रमिक रूप से यौवनागम का विवरण दिया गया है। अगो मे एक प्रकार की बढाबढ़ो या प्रतिस्पर्धा सी दिखलाई गई है। तारुण्य के आगमन से एक गुण का आगमन और दूसरे का गमन दिखाकर वयः-सधि या बिहारी की भाषा मे पुण्य सक्रमण काल का चित्रण किया गया है। 'एवलि या तिय के अधरानि मै आनि चढ़ी कछु माधुरई सी' या थापति सी चातुरी सरापति सी लंक अरु आफत सी पारत अरी अजानपन मे' या 'ए अलि हमै ता बात गात की न बूझो परै' अथवा 'आली री अनूप रूप रावरो रचत रूप' आदि छदो मे तारुण्य-विकास के गुदगुदाने वाले चित्र प्रस्तुत किये गए हैं। राधिका की गति का चित्रण करते हुए पद्माकर ने एक ऐसी छवि उरेह दी है जो कुछ काल के लिए हृदय पर अमिट हो जाने वाली है—

हूले इते पर मैन महावत लाज के आँदू परेजऊ पाइन।
त्यौं पद्माकर कौन कहै गति माते मतंगन की दुखदाइन।
ये अँग अंग की रोसनी में सुभ सोसनी चीर चुभ्यो चित चाइन।
जाति चली ब्रज ठाकुर पै ठमकौं-ठमकौं ठुमकी ठकुराइन॥

चरणात के अन्तिम चार-छः शब्द जैसे राधिका के चलने के चार-छः डगों का गत्यात्मक चित्र हमारे समक्ष उपस्थित कर देते हैं।

कुछ छदो मे नायिका की वेशभूषा के अत्याकर्षक विवरण उपस्थित किये गए हैं।[२] ये चित्र प्रायः संभोग अथवा अभिसार के सदर्भ मे ही अकित हुए हैं। इनमे रूप की रोशनी को छिपाने के लिए चेष्टाशील 'सोसनी' (ललाई सहित नीले) दुकूलो का, बूटेदार घाँघरे के घेरदार घुमावो का, तग पडने वाली अंगिया और उसकी तनी का, घूँघट का, जवाहिर जटित झूमको और भूमि तक झूम जाने वाले झिलमिल झालरों का, हीरकहारो और भुजभूषणो का और तरुणी के अगो मे बसे हुए खुशबू के खजानों का वर्णन हुआ है। स्वर्णाभरणो के भार से लदी हुई समस्त शृंगारो से मंडित एक तरुणी तो अपने भाल पर लाल टीका लगाकर अपनी सपत्नियो का मुँह फीका करती हुई दिखाई गई है —

१. जगद्विनोद—छंद ९२, ९३, ९६, ९४, ९९,

२. वही—छंद २११, २३५, ४०६।

भूषन भार सिंगारन सों सजी सौतिन को जु करै मुख फीको ।
जोति को जाल बिसाल महा विय भाल पै लाल गुलाल को टीको ।।

रमणी के समूचे सौंदर्य को भी जहाँ-तहाँ रूपायित करने की सफल चेष्टा कवि ने की है। वाम ने झरोखे से उझक करके झाँका और श्याम उसे दिख भी गए। वह श्याम स्वरूप पर मुग्ध है और कवि उसके झाँककर देखने की इस मुद्रा पर। चैत्र की चन्द्रिका के समान उसके अंगो की उज्ज्वल आभा फैल गई है, उसके श्वासो की सुरभि समग्र वातावरण को आपूर कर उठी है और उसके सुन्दर रूप का एक-एक अवयव अपनी छवि की विशिष्टता के कारण कवि को स्तब्ध किये हुए है—

उझकि झरोखा है झमकि झुकि झाँकी बाम,
स्याम कों बिसरि गई छबरि तमासा की ।
कहै 'पद्माकर' चहूँघा चैत चाँदनी सी,
फैलि रही तैसियै सुगंध सुभ स्वासा की ।
तैसी छवि तकत तमोर की तरौनन की,
वैसी छबि बसन की बारन की बासा की ।
मोतिन की माँग की मुखौ की मुसक्यानहू की,
नैनन की नथ की निहारिबे की नासा की ।।

ऐसा ही एक चित्र बिहारी का भी है जो पर्याप्त चमत्कारक तो है किन्तु इतना परिपूर्ण नही—

नावक सर से लाइ कै, तिलक-तरुनि इत ताकि ।
पावक झर सी झमकि कै, गई झरोखा झाँकि ।। (बिहारी)

वेश सजा करके अंग-अंग का शृंगार करके प्रिय मिलन को जाने वाली नायिका के सौंदर्य की क्या व्याख्या की जाय, साक्षात प्रकृति ही उसके अपरूप रूप और असाधारण सौंदर्य की साक्षी है। उसका अनंत सौंदर्य ही चतुर्दिक प्रसार पा रहा है—

सजि ब्रजचंद पैं चली यों मुखचंद जाको,
चंद चाँदनी को मख मंद सो करत जात ।
कहै पद्माकर त्यों सहज सुगंध ही के,
पुंज बन कुञ्जन में कंज से भरत जात ।
धरति जहाँई जहाँ पग है सु प्यारी तहाँ,
मंजुल मजीठ ही के माठ से ढरत जात ।
हारन तें हेरौ सेत सारी के किनारन तें,
बारन तें मुक्ता हजारन झरत जात ।।

नायिका की इस छवि पर कवि इतना मुग्ध है कि इसे उसने अपने जगद्विनोद में दो

जगह प्रस्तुत किया है शुक्लाभिसारिका के उदाहरण रूप मे और आगे चलकर ललित हाव के उदाहरण रूप मे भी। जिस रमणी रूप का कवि ने नाना भाव से नाना अवसरो पर चित्रण किया है उसकी सार्थकता एक ही है प्रिय को भा जाना उसे मोहित कर सकना जैसा कि कालिदास ने भी 'प्रियेषु सौभाग्यफलाहि चारुता' कहकर संकेतित किया है। पद्माकर की नायिका का सौंदर्य इस साधना मे कृत काम हो जाता है क्योकि उस पर मुग्ध हो नायक अपनी सम्पूर्ण सत्ता को इन शब्दो मे उसे समर्पित कर देता है—

> ईस की दुहाई सीस फूल तें लटकि लट,
> लट तें लटकि लटि कंध पै कहरि गो।
> कहै 'पद्माकर' सु मंद चलि कंधहूँ तें,
> भ्रमि-भ्रमि भाई सी भुजा पें त्यों भभरिगो।
> भाई सी भुजा तें भ्रमि आयो गोरी-गोरी बाँह,
> गोरी बाँह हू तें चपि चूरिन में अरि गो।
> हेर्‌यो हरें हरें हरि चूरिन तें चाहौं जौ लौं,
> तौ लौं मन मेरो दौरि तेरं हाथ परिगो।।

उक्त छंद मे नायिका के सौंदर्य का चित्रण प्रभावसूचक पद्धति पर किया गया है परन्तु प्रभावाभिव्यजन करते हुए भी कवि की वर्णन शैली और नायक के क्रमिक रूप से सौंदर्याभिभूत हो जाने का वर्णन अत्यन्त मोहक है।

प्रेम-वर्णन

जैसा हम पहले कह चुके हैं पद्माकर रीति मे बँधकर रचना करने वाले कृती थे इसलिए प्रेम की बहुत अच्छी अनुभूति रखते हुए भी वे स्वच्छन्द वृत्ति के प्रेमोमग के कवि नही बन सके। रीति-निरपेक्ष भाव से यदि वे रचना करने पाते तो उनकी काव्य-विभूति का और भी उत्कर्ष देखने को मिलता। हम पद्माकर के काव्य को यहाँ लक्षण-बद्ध रूप मे नही देख रहे हैं, हम यह देखने की चेष्टा नही कर रहे हैं कि जिस रीति-तत्व का प्रतिपादन उन्होंने लक्षण-निरूपण करते समय किया है उसके लिए वे कितना सटीक उदाहरण प्रस्तुत कर पाए है। हम तो केवल यही देखने की चेष्टा कर रहे हैं कि उनके 'जगद्विनोद' के औदाहरणिक भाग मे (तथा स्फुट रूप में प्राप्त कुछ छंदो मे) सौन्दर्य और प्रेम-भावना का जो चित्र वे अकित कर गए हैं वह कैसा है तथा उनके माध्यम से उनकी प्रेम-भावना का क्या और कैसा स्वरूप व्यक्त हो सका है।

परम्परा प्राप्त गोपी और कृष्ण या कृष्ण और राधा ही प्रेम के मधुर आलंबन हैं तथा गोकुल, वृन्दावन और ब्रज का वही चिर परिचित वातावरण ही प्रणय-चित्रण के लिए उपस्थित किया गया है। समर्थ कवि होने के कारण इस घिसे-पिटे काव्य

विषय को भी पद्माकर ने अभिनव सौन्दर्य से मंडित किया है। बहुत कम कवियो के छन्द पद्माकर की-सी सुन्दरता, सजीवता, चित्रमत्ता और मुग्धकारिणी शक्ति जुटा सके हैं।

प्रेम का उदय—गोपियो मे प्रेम का उदय किस प्रकार होता है ? कृष्ण के रूप-दर्शन द्वारा, उनकी शरारतो के कारण, उनकी बाँसुरी की वजह से। जो कृष्ण को एक बार देख लेती है वह उनकी हो जाती है और वे उसके हो जाते हैं। वह लाख 'ना' करे प्राणो मे उसके कृष्ण ही बसे होते है—'लाज बिराज रही अँखियान मे प्रान मे कान्ह जुबान मे नाही।' कृष्ण की हल्की-हल्की शरारते उसे रिझाने लगती है, वह रीझने लगती है। बहुत तडके उठकर वह गोरस लेने जाती है मनमोहन उससे भी पहले वही जाकर उसके लिए खडे रहते है। ज्यो ही वह गोरस लेकर चलती है सँकरी गली मे वे ककडी मारकर कुछ दूर भाग जाते है और भागकर फिर उसकी ओर देखते हैं। वह भी कुछ विशेष बुरा नही मानती। धीरे-धीरे कृष्ण उसके हृदय के अंदर धँसते चले जाते है। प्रेम जब हृदय मे परिपुष्ट हो जाता है तो लज्जा का क्रमशः तिरोभाव होने लगता है—

> धारत ही बन्यो ये ही मतो गुरु लोगन को डर डारत ही बन्यो।
> हारत ही बन्यो हेरि हियो 'पद्माकर' प्रेम पसारत ही बन्यो।
> वारत ही बन्यो काज सबै अब यों मुखचंद उघारत ही बन्यो।
> टारत ही बन्यो घूँघट को पट नदकुमार निहारत ही बन्यो॥

जो पहले लज्जावश बोल भी नही पाती थी वह धीरे-धीरे पान खिलाने के बहाने ही सही प्रिय के पर्यंक तक जाने लगती है। लज्जा की गाँठ कालातर मे खुल कर ही रहती है—

> जाहि न चाहि कहूँ पति की सु कछू पति सों पतियान लगी है।
> त्यों पद्माकर आनन में रुचि कानन भौंह कमान लगी है।
> देव तिया न छुवै छतियाँ बतियाँन में तौ मुसिक्यान लगी है।
> प्रीत मै पान खवावन कौ परजंक के पास लौं जान लगी है॥

कृष्ण की बातो और शरारतो की ही तरह कृष्ण की मुरली का सम्मोहन भी किसी से छिपा नही है। प्रस्वेद, कप, अश्रु आदि सात्विको का सचार कृष्ण की मुरलिका ही करा देती है और दो ही चार दिन के अंदर गोपिका की मनोदशा क्या से क्या हो जाती है—

> ह्वै धौं कहा को कहा यो गयो दिन द्वैक ही तें कछु ख्याल हमारो।
> कानन में बसी बाँसुरी की धुनि प्रानन में बस्यो बाँसुरी वारो॥

जो सारे शृंगार करके 'माणिक-महल' मे बैठी होती है उसके अग-अंग कृष्ण की वशी-ध्वनि से विलोड़ित हो उठते हैं—

बैठी बनि बानिक सु मानिक महल मध्य,
अंग अलबेली के अचानक थरक परैं ।
कहै पद्माकर तहाँई तन तापन तें,
बारन ते मुकता हजारन दरक परैं ।
बाल छतियाँ तें थकथक ना कढ़त मुख,
बक ना कढ़त कर ककना सरक परैं ।
पाँसुरी पकरि रही साँसु री सँभारै कौन,
बाँसुरी बजत आँख आँसु री ढरक परैं ।।

बाँसुरी प्रणय की किस दशा को नही पहुँचा देती ।

नूतन प्रसंगोद्भावनाए—प्रेम मे भीग कर, प्रेमनद मे डूब लेने पर गोपियों के कृष्ण के साथ प्रेम-व्यापार शुरू होते है । एक से एक मधुर और मनहर प्रसगो की पद्माकर कवि ने कल्पना की है। नवीन प्रसगोद्भावनाओ के लिए पद्माकर का वैशिष्ट्य स्वीकार करना होगा । मध्य युग मे हिन्दी के जिन कवीश्वरो के बल पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के स्वर मे स्वर मिलाकर श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी और श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने यह घोषित किया है कि हिन्दी के कवियो ने एक से एक सरस शृंगार के मनोहर पद्यो का इतना बडा भडार तैयार कर दिया जितना बडा भंडार सस्कृत के समस्त रीति साहित्य से ढूँढकर इकट्ठा किया जाय तो भी तैयार न हो सकेगा उनमे पद्माकर सरीखे अभिनव प्रसगोद्भावक कवियो का नाम सबसे आगे रहेगा । वही ब्रज है, वही यमुना-तट, वे ही कुज और वे ही ऋतुएँ परन्तु अपनी उन्मेषशालिनी प्रतिभा के बल पर पद्माकर ने कितने ही अभिनव प्रसगो की हृदय-ह्लादिनी उद्भावना की है ।

एक अल्पवयस्का गोपी है, वह दही बेचने जाया करती है । कभी-कभी सँकरी गलियो से भी उसे गुजरना पडता है । कृष्ण जब तब उसे उसी सँकरी वीथी में आकर छेडते है और वह आत्मरक्षार्थ भागने भी नही पाती । कृष्ण की छेड-छाड से तग आकर वह दही बेचना बन्द करने वाली है । उसकी विवशता और खीझ की तथा प्रसगगत माधुर्य की कैसी चित्रमयी व्यजना है—

आज त न जैहौं दधि बेचन दुहाई खाउँ,
भैया की कन्हैया उत ठाढ़ोई रहत है ।
कहै 'पद्माकर' त्यों साँकरी गली है अति,
इत उत भाजिबे कौ दाउँ न लहत है ।
दौरि दधिदान काज ऐसो अमनैक तहाँ,
आली बनमाली आइ बहियाँ गहत है ।
भादौं सुदी चौथ को लख्यो मैं मृग अंक यातें,
झूठहू कलंक मोहि लागिबे चहत है ।।

इसी संदर्भ का एक और चित्र है जिसकी गोपिका संभवतः कुछ अधिक वय वाली और प्रगल्भ है। कृष्ण और गोपिका एक अत्यन्त संकीर्ण गली मे अचानक या पता नहीं जानबूझ कर दो दिशाओ से चलकर आ मिलते हैं। रास्ता इतना सँकरा है कि एक समय मे एक ही व्यक्ति उससे होकर सुविधापूर्वक जा सकता है। दोनो बडी साँसत में पड़े हैं अन्त मे गोपिका ही कृष्ण को रास्ता देती है—

त्यों 'पद्माकर' ह्वै तिरछे कढि जाहु लला कर जोरि या माँगत।
खोर ना नंद किसोर तुमै यह खोर तौ साँकरी खोर कों लागत॥

उसकी उक्ति मे कितना अपनाव है कितना स्नेह भरा हुआ है और साथ ही उस अप्रत्याशित (या पूर्वायोजित ही सही) क्षण की कैसी मधुर अनुभूति भी है। दोष इसमे कृष्ण का हो भी तो वह उन पर दोष मढना नही चाहती। भावना का अगाध माधुर्य इस एक उक्ति मे पुजीभूत हो उठा है। एक और प्रसग है जिसमे गोपिका की संपूर्ण रीझ और समर्पणमयी भावना उसके एक ही कार्य व्यापार मे राशीभूत हो उठी है। ग्वालो के कहने से घर और गायो से सबधित कार्यवश श्रीकृष्ण किसी दूर के खेडे (गाँव) में जाते हैं। रात किसी ग्वालिन के घर व्यतीत करते हैं और सबेरे जब चलने लगते हैं तब नैश सुख से अतृप्त और ससर्गजन्य आकाक्षाओ से अभिभूत ग्वालिनी की समर्पणमयी अनुरक्ति देखिये—

गो गृह काज गुवालन के कहें देखिबे कौं कहूँ दूरि को खेरो।
माँगि बिदा चले मोहिनी सों पद्माकर मोहन होत सबरो।
फेंट गही न गही बहियाँ न गरो गहि गोबिन्द गौन ते फेरो।
गोरी गुलाब के फूलन को गजरा लै गुपाल की गैल मे गेरो॥

उसका कंठावरोध, उसकी अबोल स्थिति, उसके बिके हुए मन और अपहृत चित्त की सर्वस्व ग्रासिनी वेदना आसन्न वियोग काल मे उसके एक ही कार्य व्यापार द्वारा मूर्त्त कर दी गई है। बिना असाधारण विभावन-क्षमता के कोई कवि इस प्रकार की मन स्थिति व्यंजना कर ही नही सकता। वह गोरी न तो कृष्ण का फेटा पकडकर उन्हे रोकती है और न उनकी बाँह पकडकर ही जिद्द करती है न ही वह उनके गले मे अपनी बाहो का फदा डालकर न जाने का उनसे अनुनय विनय करती है। वह तो केवल अपना गुलाबो का गजरा प्रियतम के जाने के मार्ग पर डाल देती है। प्रणय-मधुर प्रिया के सत्याग्रह का यह मर्मस्पर्शी स्वरूप गाँधी जी के बहुत पहले ही ईजाद कर गए थे। इस प्रकार के मधुमय प्रसंगो की कुछ उद्भावनाएँ होली के आनंदोल्लास-वर्णन के संदर्भ में भी देखी जा सकती हैं।

होली—होली की उमग और उल्लास के कितने ही उन्मादक चित्र पद्माकर ने अंकित किये हैं। ये कृष्ण और गोपियों की होली है, ब्रज और बरसाने की होली है जहाँ मुक्त भाव से तरुण-तरुणियाँ सोल्लास रग घोलते हैं, एक दूसरे पर डालते हैं,

अबीर उडाते है, कुकुम लगाते है और जाने क्या-क्या करते हैं। होली निर्बन्ध और उन्मुक्त मन का त्यौहार है, कोई किसी भी प्रकार का बंधन नही मानता। एक गोपिका है जो केसरिया रग की ओढ़नी ओढ़े हुए गुलाब कलिकाओ का शृगार किये हुए भाल मे गुलाल लगाए हुए और अगो को भली-भाति भूषित किये हुए चली जा रही है, उसकी सहेलिका उसके इस विशिष्ट शृंगार पर फबती कसने से बाज नही आती, वह कहती है—

> औरन कों छलती छिन मे तुम जाती न औरन सों जु छली हौ।
> फाग मे मोहन को मन लै फगुवा में कहा अब लेन चली हौ॥

ब्रज मे तरुणियो का शृगार ही कुछ दूसरा हुआ करता है। ऋतु और त्यौहार उनके अन्तर्बाह्य को अपने अनुराग के रग से रँग देता है। उनके एक-एक अग से वह मजिष्ठा राग टपका पडता है, देखिए न —

> रंग भरी कंचुकी उरोजन पै तागी कसी,
>   लागी भली भाई सी सुजान कखियन में।
> कहै 'पद्माकर' जवाहिर से अग अंग,
>   ईंगुर से रंग की तरंग नखियन में।
> फाग की उमंग अनुराग की तरंग वैसी,
>   वैसी छबि प्यारी की बिलोकी सखियन में।
> केसरि कपोलन में मुख मे तमोल भरि,
>   भाल में गुलाल नंदलाल अँखियन में।।

होली के खेल शुरू होते हैं, धमार गीतों का गायन आरभ होता है, पिचकारियों से रंग छूट चलते हैं, रग के फौवारो मे तरुण जन भीजते हैं, पृथ्वी रंग से रँग जाती है केसर इतनी घोली और ढोली जाती है कि उसकी कीच-सी फैल जाती है, उधर ग्वाल-बाल हैं जो उसी मे सन जाने मे गर्व का अनुभव करते हैं। गुलाल उडता है, तान छिड़ते हैं साथी सब ताल देते है और कन्हाई हर्षोन्माद मे नाचते हैं। ऐसी परिस्थिति में एक गोपिका दूसरे को उसकाती है तू जा न! एक मूठी गुलाल की डाल न! देख फिर फाग खेलने का सच्चा आनन्द आए बिना न रहेगा।[1] एक गोपिका फाग के इस उन्माद मे आ ही तो जाती है और वह जो कुछ भाव और अरमान अपने मन में सँजोए रहती है उसे पूरा करके ही रहती है—

> फाग के भीर अभीरन तें गहि गोबिन्द लै गई भीतर गोरी।
> भाई करी मन की पद्माकर ऊपर नाई अबीर की झोरी।

---

[1] जगद्विनोद : छन्द ३४०

छीन पितम्बर कंमर तें सु बिदा दई मीडि कपोलन रोरी।
नैन नचाइ कह्यो मुसकाइ लला फिरि आइयौ खेलन होरी ।।

फाग खेलते हुए गोपियाँ केवल केसर या टेसू के ही रग नही डालती, वे अपने हृदय का भी रंग उडेल डालती है, उनके नयनो के भी रग की पिचकारियाँ एक दूसरे पर चलती हैं—

(क) या अनुराग की फाग लखौ जहँ रागती राग किसोर किसोरी।
त्यौं पद्माकर घालि घली फिरि लाल ही लाल गुलाल की झोरी।
जैसी की तैसी रही पिचकी कर काहू न केसरि रंग में बोरी।
गोरिन के रँग भीजि गो साँवरो साँवरे के रंग भीजि गी गोरी ।।

(ख) ये नंद गाँउ ते आए यहाँ उत आई सुता वह कौन हू ग्वाल की।
त्यौं पद्माकर होत जुराजुरी दोउन फाग करी इहि ख्याल की।
डीठि चली इनकी उन पै उनकी इन पै चटी मूठि उताल की।
डीठि सी डीठि लगी इनकें उनके लगी मूठि सी मूठि गुलाल की ।।

इस अनुराग की फाग मे गोपिका की ही दुर्गति होती है, नदलाल तो होशियार हुरिहार ठहरे वे तो आँखो मे अबीर झोककर चल देते है पर जिसकी आँखो मे अबीर घुलती है उसकी दशा अकथनीय हो जाती है। अंतर्दशा का चित्र देखिये और देखिये कि वह क्या कह रही है—

एकै संग धाए नंदलाल औ गुलाल दोऊ,
दृगनि गए जु भरि आनँद मढै नहीं।
धोइ धोइ हारी पद्माकर तिहारी सौंह,
अब तौ उपाइ एकौ चित्त पै चढ़ै नहीं।
कैसी करौ कहाँ जाउं कासों कहौं कौन सुनै,
कोऊ तौ निकासौ जासौं दरद बढ़ै नहीं।
एरी मेरी बीर जैसे तैसे इन आँखिन तें,
कढिगो अबीर पै अहीर तौ कढ़ै नहीं ।।

आँखो मे पडी अबीर तो जैसे तैसे निकल भी जाती है पर उनमे बसी हुई कृष्ण की छवि तो किसी प्रकार भी निकलती नही, वह सतत शूल उपजाती रहती है। इसी संदर्भ मे एक अन्य गोपिका का कथन देखने योग्य है। वह कहती है कि हे कृष्ण तुम खूब सज धज कर या पूरी तैयारी के साथ होली खेलने आए हो तो खेलो, तुम्हारा स्वागत है किन्तु हमारी बस एक ही विनय है—

भाल पै लाल गुलाल गुलाल सों गेरि गौरैं गजरा अलबेलौ।
यों बनि बानिक सों पद्माकर आए जु खेलन फाग तौ खेलौ।
पै इक या छबि देखिबे के लिए मो बिनती कैं न झोरन झेलौ।
रावरे रंग रंगी अँखियान मैं ए बलबीर अबीर न मेलौ ।।

उमग के साथ जो गोपियाँ कृष्ण की अथाई मे होली खेलने जाती हैं उनकी बुरी दशा होती है परन्तु वे त्यौहार के हर्षोन्माद मे उसकी कुछ परवाह नही करती हाँ अपनी दशा का उत्साह पूर्वक विवरण अवश्य देती है—

(क) ऊधम ऐसो मचो ब्रज मे सबै रंग तरंग उमंगनि सीचैं ।
त्यौं पद्माकर छज्जन छातनि छ्वै छिति छाजतीं केसरि कीचैं ।
दै पिचकी भजी भीजी तहाँ परे पीछू गुपाल गुलाल उलीचैं ।
एक ही संग इहाँ रपटे सखि ये भए ऊपर हौं भई नीचैं ।।

(ख) घोरि डारी केसरि मु बेसरि बिलोरि डारी,
बोरि डारी चूनरि चुचात रंगरैनी ज्यौं ।
मोहिं झकझोरि डारी कंचुकी मरोरि डारी,
तोरि डारी कसनि बिथोरि डारी बैनी त्यौं ।।

(ग) नेही नंदलाल की गुलाल की घलाघल में,
यों तन पसीजि घनघोर की घटा भयौ ।
चोरै चखचोटन चलाक चित्त चोर्‌यो गयौ,
लूटो गई लाज कुलकानि की कटा भयौ ।।

एक गोपिका होली मे अपनी लुटी हुई लज्जा को ढूंढ रही है—

फहरि गई धौं फबै रंग के फुहारन मैं
कैधौं तराबोर भई अतर अ्पीच मैं ।
कहै पद्माकर चुभी सी चार चोवन मैं
उलचि गई धौं कहूँ अगर उलीच मैं ।
हाय इन नैनन तें निकरि हमारी लाज
कित धौं हेरानी हरिहारन के बीच मैं ।
उरझि गई धौं कहूँ उडत अबीर रंग
कचरि गई धौं कहूँ केसरि की कीच मैं ।।

होली में यह सब होता है। गोपिका की लाज लुटती है और बाद मे वह उसकी अनुशोध करती है— पश्चात्ताप होगा, स्मृति आती होगी, हर्ष भी होता होगा। एक को होली मे कृष्ण द्वारा किये गए व्यवहार पर क्रोध आता है और वह प्रतिशोध की भावना से भर उठती है—

गइल मैं गाइ कै गारी दई फिरि तारी दई औ दई पिचकारी ।
त्यौं पद्माकर मेलि मुठी इत पाइ अकेली करी अधिकारी ।
सोहैं चबा की करे हौं कहौं यहि फाग को लेहुँगो दाँव विहारी ।
का कबहू मझि आइहौ ना तुम, नन्दकिसोर या खोर हमारी ।।

इसे प्रतिशोध कहें या चसका ! एक बार प्राप्त आनंद को फिर पाने की आकाक्षा ! होली प्रेमोत्पादन और प्रेम-विवर्धन का अद्वितीय पर्व है। कृष्ण मधुर मधुर स्वर में अपनी मुरली बजाते हुए आते हैं, ग्वालो के सग मे आते हैं कामदेव सी छवि लिए हुए आते हैं धमारों की धूम-धाम और अबीर की उड़ती हुई गरद के बीच आते हैं और एक गोपिका विशेष को अपने प्रेम के रग मे भिगो जाते है—

को हौ वह ग्वालिनि गुवालनि क सँग में
अनँग छबिवारो रसरंग भिनै गयो।
वै गयो सनेह फिरि छ्वै गयो छरा को छोर
फगुवा न दै गयो हमारो मन लै गयो।[1]

एकाध जगह पद्माकर जी ने फाग के अवसर पर नायक के चित्त की मुग्धता का भी वर्णन किया है। पतली कमर वाली एक तरुणी की 'बाँकी अवलोकनि' का उसके दिल पर जो असर दिखाया गया है वह थोडा शायराना प्रभाव लिए हुए—

चोरिन गोरिन मैं मिलि कै इतै आई हीं हाल, गुवाल कहाँ की।
जाकौ न को अवलोकि रह्यो पद्माकर वा अवलोकनि बाँकी।
धीर अबीर की धुंधुर मैं कछु फेर सो कै मुख फेरी कै झाँकी।
कै गई कार्टी करेजन के कतरे कतरे पतरे करिहाँ की॥

होली खेलने के बाद के भी कुछ उन्मादक चित्र पद्माकर प्रस्तुत कर गए हैं। उदाहरण के लिए एक नवल किशोरी है जो होली के रग मे भली भाँति भिगोई गई है और सुगंधियाँ जिसे अच्छी तरह चुपड दी गई हैं। होली खेल कर वह लौटी है और स्नान करने जा रही हैं अगो को धोकर रगो को छुडाने की गरज से। उसका वर्णन अतिशय चित्रात्मक है—

आई खेलि होरी घरैं नवल किसोरी कहुँ
बोरी गई रंग में सुगंधन झकोरै है।
कहै पद्माकर इकंत चलि चौकी चढ़ी
हारन के बारन के फंद बंद छोरै है।

---

[1]. फगुवा देने की बात को लेकर अन्यत्र भी ऐसी ही उक्तियाँ पाई जाती हैं—

(क) फाग में मोहन को मन लै फगुवा में कहा अब लेन चली हौ। (पद्माकर)

(ख) इते पै नवेली लाज अरस्यो करै जु, प्यारो
मन फगुवा दै गारी हूँ कौं तरस्यौ करै। (घनानंद)

(ग) ज्यौं ज्यौं पट झटकति हठति, हँसति नचावति नैन।
त्यौं त्यौं निपट उदारहू, फगुआ देत बनै न॥ (बिहारी)

घाँघरे की घूमन सु अरुन दुबीचे पारि,
आँगीहू उतारि सुकुमारी मुख मोरै है ॥
दंतन अधर दाबि दूनर भई सी चापि
चौअर पचौअर कै चूनर निचोरै है ॥

एक दूसरी गोपिका है जो मधुपान करती रहती हैं, श्याम उन्मदिष्णु की भाँति आकर उसका अंचल खींच लेते है और झूठ-मूठ को गुलाल की मूठी मार देते हैं। गुलाल उस पर झोकते नही परन्तु वह मदमत्त तो वे सम्हाल हुए बिना नही रहती और आध घडी तक वह अपने अगो को झाड़ती और अपने वक्ष देश को ही देखती रह जाती है—'राती परी सी रहो धरी आध लौं झारत अंग निहारत छाती।' इसी प्रकार फागुन की यामिनी गोविन्द के सग बिता कर प्रातःकाल वह जिस शोभा को प्राप्त होती है उसका वर्णन देखिए—उसके अधरो पर लाली है, मुख पर ललक जगा देने वाली प्रसन्नता है और—

देहैं भरी आलस कपोल रस रोरीभरे,
नींद भरे नयन कछूक झपैं झलकैं।
भाग भरे भाल औ सुहाग भरे सब अंग
पींक भरी पलकैं अबीर भरी अलकैं ॥

इस प्रकार होली पद्माकर के काव्य मे ऐसे पर्व के रूप मे आई है जो उनका शृङ्गार-परक कविता के लिए असाधारण वर्ण्य का काम कर गई है। प्रणय व्यापारो के मुक्त स्वरूप के निदर्शन के लिए इस सदर्भ मे उन्हे पर्याप्त अवसर मिला है और इसका उन्होंने पर्याप्त उपयोग भी किया है। इसी कारण अन्य कवियो की अपेक्षा उनकी होली के प्रसंग की कविताएँ अधिक मनहर बन पड़ी हैं।

ऋतु एवं प्रकृति—उद्दीपन विभाव के रूप मे मध्य युगीन कवि जन ऋतु प्रकृति आदि का वर्णन करते आए है। अब हम यह देखना चाहेगे कि शास्त्रीय दृष्टि से उद्दीपन सामग्री कही जाने वाली प्रकृति पद्माकर के द्वारा किस प्रकार चित्रित हुई है। पद्माकर ने प्रकृति को विशेषतः ऋतुओ के संदर्भ मे प्राकृतिक उपकरणो का वर्णन किया है और ऐसा करते हुए एक ओर जहाँ उन्होने ऋतु वर्णन की परम्परा का पालन किया है और अपने रीति कर्म का निर्वाह किया है वहाँ कल्पना एव कवित्व शक्ति से संपन्न होने के कारण पद्माकर जी ने प्रकृति के सौंदर्य मे उसके हर्ष-विषाद में अपने अभिनिवेश का भी परिचय दिया है। सर्वथा स्वतत्र प्रकृति वर्णन तो एकाध छंदो में ही मिलेगा। शेष वर्णन मानव-भावनाओं से संपृक्त ही हैं।

ऋतु वैभव की व्याप्ति—अनेक छंदो मे कवि ने यही दिखलाया है कि अमुक ऋतु इन-इन, इन-इन स्थानों पर अपनी पूरी छटा के साथ छहर रही है। उदाहरण के

लिए निम्नलिखित पक्तियो वाले छंदो को लिया जा सकता है जिनमें क्रमशः वसत, वर्षा और शरद की सर्वव्यापकता को ही निर्दशित किया गया है—

(क) कूलन मे केलि में कछु रन मे कुंजन मे, क्यारीन में कलित कलीन किलकंत हैं।
(ख) मल्लिकन मंजुल मलिंद मतवारे मिले, मद मद मारुत महूम मनसाफी है।
(ग) तालन पै ताल पै तमालन पै मालन पै, बृन्दाबन बापिन बहार बंसीवट पै।

एक-एक वस्तु और प्रकृति के एक-एक अग को लेकर उस पर ऋतु विशेष का प्रभाव-सूचन करने मे जहाँ चित्र उतरता चलता है वही दृष्टि के प्रसार और ऋतु के विलास-विस्तार का भी भाव मन मे बँधता चलता है। ऋतुओ का जो आनद है उसके व्यापक प्रसार और कवि के निजी आतरिक उल्लास की भी इस प्रकार के छदो मे अभिव्यजना हो सकी है। वसत ऋतु के आगमन पर प्रकृति मे जो परिवर्तन लक्षित होते है उसे भेदकातिशयोक्ति के सहारे कवि ने बडे ही सुन्दर, सजीव एव चित्रात्मक ढग से उपस्थित किया है—

औरै भाँति कुंजन मे गुजरत भौर भीर,
औरै डौर झौरन पैं बौरन के बैगए।
कहै पद्माकर सु औरै भाँति गलियान,
छलिया छबीले छैल औरै छबि छ्वै गए।
औरै भाँति बिहग समाज मे अवाज होति
ऐसे रितुराज के न आज दिन द्वै गए।
औरै रस औरै रीति औरै राग औरै रंग
औरै तन औरै मन औरै बन ह्वै गए।।

इसी शैली के अनुसरण पर और पद्माकर जी के उक्त छद से ही प्रेरित होकर द्विज-देव ने भी वसंत वर्णन-सबधी कई छद लिखे है।

अनुकूल वातावरण निर्माण—कुछ छंदो मे पद्माकर ने यह बतलाया है कि प्रकृति प्रणय के लिए परम अनुकूल वातावरण उपस्थित करती है, ऐसा वातावरण प्रकृति द्वारा स्पष्ट एवं निर्मित होता है जिसमे प्रेम का सम्यक विकास हो सकता है[1]— बृन्दावन की वीथियाँ, ताल-तमालो के वन, पूनम की रात और कुन्जो मे गोपिका का मनहरन गुपाल से मिलना! कैसे सम्मोहक वातावरण के बीच प्रणय-मिलन आयोजित है। दूती एक प्रणयिनी गोपिका को निश्चिन्त भाव से एक प्राकृतिक सुषमा संपन्न वन कुन्ज मे चलने का निमत्रण दे रही हैं। वह उपवन ही ऐसा मादक है जहाँ प्रेम भावना का अनायास उदय और विकास होगा—

चालौ सुनि चंदमुखी चित में सुचैन करि,
तित बन बागनि घनेरे अलि घूमि रहे।

---

१. जगद्विनोद : छन्द ११२, ११८, २५३, ३८६ तथा प्रकीर्णक, छद ६४, ६६.

कहै पद्माकर मयूर मंजु नाचत है
चाइ सों चकोरिन चकोर चूमि चूमि रहे ।
कदम अनार आम अगर असोक थोक
लतनि समेत लौने लौने लागि भूमि रहे ।
फूलि रहे फलि रहे फैलि रहे फबि रहे,
झपि रहे झालि रहे झुकि रहे झुमि रहे ।।

यहाँ पर प्रकृति का ही जो चित्र अकित किया गया है उसी मे एक मस्ती है, स्वय प्रकृति ही आनद-क्रीडा मे निमग्न है, मन को फिर तन्मय होते क्या देर लगेगी। हिंडोला झूलने का जहाँ वर्णन कवि ने किया है वहाँ भी आह्लादक प्रकृति के पुष्प संसारमय वातावरण का आलेख हुआ—स्वयं हिंडोला, उसकी डोर, उसके खमे, उसकी पटिया, उसके फँदने, उसके झालर, उसकी फुलवारी, उसकी फर्श सभी कुछ तो पुष्पमय है—फूलझरी, फूलभरी फूलजरी फूलन मे फूलई सी फूलति सुफूल के हिंडोरे मे।' जहाँ भौरे गुजार करते है, वनकुजो मे मलारे गाई जाती है, मयूरो का शोर होता है और तमाम झूले पडे होते है। वहाँ विहार करना और हिंडोला झूलना एकान्त सुख का ही कारण हो सकता है—'नेह सरसावन मे मेह बरसावन मे सावन में झूलिबो सुहावन लगत है।' प्रकृति की इसी उन्मादिनी शक्ति के आधार पर तो एक परदेश जाते हुए प्रिय को प्रेमिका के चले जाने की अनुमति दे देती है। वह कहती है कि जरा इन्हे गाँव की सीमा तक पहुँचने ता दो यह मादक ऋतु, ये हवा के झोके से कोइलिया की कूके, ये उलहे वन मे वन-विहार इन्हे आप से आप आगे न बढ़ने देगे। प्रकृति की उन्मादकारी शक्ति पर जिसका ऐसा अटल विश्वास हो उस ऋतु और प्रकृति की विभा का क्या कहना! पद्माकर ने इस प्रकार के छदो मे यही दिखलाने की चेष्टा की है कि प्रकृति स्वय अनुरागवती है, वह स्वय प्रणयमूर्ति है और मानव के प्रेम व्यापारो के लिए तो वह श्रेष्ठतम आश्रय है। उसके क्रोड मे उसी से प्रेरणा पाता हुआ तरुण प्रेमीयुगल अनन्त आनन्द लाभ कर सकता है।

प्राकृतिक उपकरणों की सुखदता—नाना ऋतुओ मे प्रकृति के ही कितने उपकरणो की चर्चा कवि ने आमोद-प्रमोद की सुखद सामग्री के रूप मे की है। उदाहरण के लिए ग्रीष्म ऋतु मे पानो के फौव्वारे, नहरे और नदियाँ हिम, अगूर, गुलाब, पकज की पंखुडियाँ आदि प्रभूत सुख के साधन है। कवि ने इन्हे ग्रीष्म ऋतु की सौख्य सामग्री के रूप मे सुझाया है—

(क) फहरै फुहारै नीर नहरै सी बहै
छहरै छबीन छाम छींटिन की छाटी है।
कहै पद्माकर त्यों जेठ की जलाकैं तहाँ
पावैं क्यों प्रबेस बेस बेलिन की बाटी है।

बारहूँ दरीन बीच चारहू तरफ तैसी
बरफ बिछाय तापैं सीतल सुपाटी है।
गजक अंगूर की अँगूर से उचौहैं कुच
आसव अँगूर को अँगूर ही की टाटी है॥

(ख) ग्रीषम कहल कहा मान के महल बैठो
चंदन चहल थल थलन मचाइ के।
कहै पद्माकर घनेरे घनसार घोर
चार चोरा बोर कै गुलाब छिरकाइ लै।
पंकज को पाँखुरी बिछाइ परजंक पर
फरस फुहारन की फैल सरसाइ लै
कीजिये उताली ह्वै है आनन्द बहाली बन
माली सों लिपट आली लपट बराइ लै॥

इसी प्रकार हेमत और शिशिर मे तरणि का तेज तथा अन्य सदृश वस्तुएं, प्राकृतिक उपकरण अथवा उनसे विनिर्मित वस्तुएँ सुख उपजाने वाली कही गई हैं। इस संदर्भ में उक्त ऋतुओ से संबधित छद देखने योग्य है[1] जैसे 'अगर की धूप मृगमद की सुगंध बर, बसन बिसाल जाल अक ढाँकियतु है' अथवा 'गुलगुली गिलमैं गलीचा है गुनीजन हैं, चाँदनी हैं चिकैं है चिराकन की माला है।' आदि से आरभ होने वाले छद।

उद्दीपन रूप—ऋतु एव प्रकृति वर्णनात्मक छदो का एक समूह ऐसा भी छाँटा जा सकता है जिसमे ये उपकरण मानव मन से अनिवार्यतः सबद्ध कर दिये गए हैं। ऐसे छदो मे भी भावो के नाना स्तरो के दर्शन होते है। प्रकृति प्राणी की भावना के ही अनुरूप कभी बदली-सी नजर आती है, कभी वह अप्रिय लगती है, कभी वह चित्त को अधीर कर देती है और कभी वह चित्तवृत्ति या मानव मनोदशा को अतिशय उद्दीप्त कर देती है। भावना के ये स्तरभेद यो तो सभी प्रकार के भावो के संदर्भ में थोडा बहुत दिखाए जाते हैं या दिखाए जा सकते हैं किन्तु काव्यो के अंदर प्रायः प्रणय की निवृति के संदर्भ में कवियो ने इनका निदर्शन किया है और उसमे भी विशेष रूप से वियुक्ता की दिनचर्या दिखाते हुए पद्माकर ने भी इसी क्रमागत रीति के अनुरूप प्रकृति के स्वरूप मे और उसके प्रभाव मे किंचित भिन्नता का वर्णन किया है—

सुभ सीतल मद सुगंध समीर कछू छल छंद से छ्वै गए हैं।
पद्माकर चाँदनी चंदहु वे कछु और ही ठौरन वै गए हैं।
मन मोहन सों बिछुरे इत ही बनिकै न अबै दिन द्वै गए हैं।
सखि ये हम वे तुम वेई बने पै कछू के कछू मन ह्वै गए हैं॥

---

[1]. जगद्विनोद : छद ३६०, ३६१.

प्रकृति तो वही है पर उसमे गोचरीभूत भिन्नता का कारण मानसिक है। अन्तर्जगत मे जो एक वियुक्तिजनित व्यथा है वही प्रकृति में प्रक्षेपित दिखलाई गई है। इस तथ्य को पहचाने के लिए साधारण अनुभव ज्ञान ही पर्याप्त है कुछ मानसशास्त्र की विशेष अभिज्ञता इसके लिए आपेक्षित नही। स्वय पद्माकर ने भी प्रकृति मे दृश्यमान या प्रतीयमान परिवर्तन का कारण आतरिक वृत्तियो का ही विपर्यय ठहराया है। धन-धाम, चद्र-चन्द्रिका साय-प्रात कुछ अच्छा नही लगता, प्रकृति की सारी रमणीयता तिरोभूत सी प्रतीत होती है—

> घर न सुहात न सुहात बन बाहरि हू
>
> बाग न सुहात जे खुश्याल खुसबोही सों।
>
> रात हू सुहान न सुहात परभात आली
>
> जब मन लागि जात काहू निरमोही सों॥

चेतन प्रिय की अप्राप्ति से प्रकृति की रम्यता अर्थहीन हो गई है। भावना के अब और भी ऊँचे सोपान पर आइये। यहाँ प्रकृति न केवल भिन्न या अप्रिय प्रतीत हो रही है वह दाहक हो रही है और वेदना पहुँचा रही है तथा चित्त इसके कारण विक्षोभ का अनुभव करता है और प्रकृति के उपकरणो को बुरा भला भी कह चलता है। एक गोपिका कृष्ण के पास सदेश भेजती है कि वसत ने बल्लरियो को पत्रहीन कर दिया है, वन कुज यहा पुष्पित नही हैं, पलाशादि के विकास को विकास मत समझो, अग्नि ज्वाल के समान दहक रहे है और हमे भी दग्ध कर रहे है—

> (क) पात बिन कीन्हें ऐसी भाँति गन बेलिन के
>
> परत न चीन्हें जे ये लरजत लुज हैं।
>
> किसुक गुलाब कचनार औ अनारन की
>
> डारन पै डोलत अँगारन के पुंज है॥
>
> (ख) त्यों पद्माकर देखौ पलासन पावकै सी मनौ फूकन लागी।
>
> कारा कुरुप कसाइनो ये सु कुहू कुहू क्वैलिया कूकन लागी॥

वसंत के ही समान वर्षा भी विरही चित्त को बेहद अधीर कर देती है – चंचला की चपलता, लवग लतिकाओ का लरजना समीर का तरजना और घुमडती घटाओं का बार-बार गरजना धैर्य के सुमेरु को भी विचलित कर देता है।[1] बरसते हुए मेघ काम-व्यथा की उद्दीप्ति करते हैं और पपीहे की हूक मे स्वातिजल की प्यास नही किसी वियोगिनी के प्राणो को पी लेने की तृषा है।[2] शरद का चन्द्रमा भी ऐसी ही कुटिलता अख्तियार किये हुए है 'ह्वै के द्विजराज काज करत कसाई को।' प्रकृति की

---

[1]. जगद्विनोद : छद ३८६.

[2]. वही : छंद ३८७.

इन उद्वेग उत्पादिनी क्षमता का बडा ही गत्यात्मक और मनोग्राही बिंब सजल मेघो के आगमन का वर्णन करने वाले अधोलिखित छद मे देखिए—

अंगन अगन माहिं अनंग के तुंग तरंग उमाहत आवैं।
त्यों पद्माकर आमहू पास जवासन के बन दाहत आवैं।
मानवतीन के प्रानन में जु गुमान के गुंबज ढाहत आवैं।
बान सी बुंदन के चदरा बदरा बिरहीन पै बाहत आवैं॥

कुछ छदो मे रीति की परम्परा का अनुसरण करते हुए प्रकृति के उपकरणो को लेकर कुछ रूपक भी खडे किये गए है। अलकृत शैली पर किये गए ये विभाव वर्णन सर्वत्र सुन्दर ही बन पडे हो ऐसी बात नही। कुछ भोडी कल्पनाएँ भी खडी की गई है जिनमे न तो कोई वैशिष्ट्य है और न कोई सरसता।[1]

ऐश्वर्यपूर्ण एव विलासमय वातावरण

पद्माकर का काव्य उस ऐश्वर्यमय वातावरण की कुछ झलक देता है जो रीतियुगीन सामन्तो को सुलभ था और जिसके बीच भोग-विलासमयी जीवनचर्या चली चलती थी। आज भी मुगल काल के भवनो और महलो को देख उस युग के रंगीन वातावरण का स्वरूप मन पर उतरे बिना नही रहता। अत.पुर, मणिमदिर, केलिभवन, चित्रसारी आदि के ऐश्वर्य और वैभव का कहना ही क्या था! सोलहो शृगार करके सहेलियो के साथ नवेलियाँ केलिमदिर मे आती है, समीप ही गुलाबपाश होता था खस का इत्र होता था और अन्यान्य प्रकारो की सुगन्धियाँ रक्खी होती थी, हीरो के हौज गुलाब जल से भरे होते थे, दंपति-मिलन के लिए खूब प्रकाश होता था, चाँदनियों पर चमेली की चार लडो वाली मालाएँ होती थी और चदन की चौकियो पर चगेरियाँ या फूलो से भरी हुई डालियाँ रक्खी होती थी—भोग के ये सारे सरजाम ग्रीष्म ऋतु के लिए एकत्र किये जाते थे। शीत ऋतु मे झुक कर झूमते हुए झालरदार वितान होते थे, मोटे गलीचे और गुलगुले गद्दे होते थे और समग्र केलिमदिर मे ज्योति की जगर-मगर विकीर्ण कर देने वाली दीपावलि होती थी। सुराही, सुरा और चषक होते थे, गरम-गरम खाद्य पदार्थ होते थे और सेज होती थी, तरुणियाँ होती थी और दुशाले होते थे, तेल और तमोल होता था तथा तान की तरगे हुआ करती थी। ये सब सामग्री ऐन्द्रिक सुख के लिए ही हुआ करती थी उसका और कोई प्रयोजन न था। स्पष्ट ही ये चित्र युग की सामती मनोवृत्ति और जीवनचर्या पर प्रकाश डालते है।[2] जब हिम्मत बहादुर जैसे छोटे-छोटे राजा-रईसो की यह हालत थी तब बडे-बडे

---

[1] प्रकीर्णक के अन्तर्गत देखिये वर्षा वर्णन संबधी छद ६२ और ६३।

[2] जगद्विनोद : छंद १७४, १०५, २०६, २१३, २६०, २६४, ३६०, ३६१, ३६२, ४३६, प्रकीर्णक छंद ७६।

रजवाडो और राजमहलो के बेइन्तहा वैभव और ऐश-इशरत का तो कहना ही क्या। प्रिय के आगमन पर उसका स्वागत मामूली ढग से नही होता था—

अगमन कान्ह आगमन के बधाए सुनि
छाए मग फूलनि सुहाए थब थल के।
कहै पद्माकर त्यों आरती उतारिबे कौं
थारन मैं दीप हीरहारन के छलके।
कंचन के कलस भराइ भरि पन्नन के
ताने तुंग तोरन तहाँ ही झलाझल के।
पौरि के दुआरे तें लगाइ केलि मंदिर लौं
पदमिनी पाँउड़े पसारे मखमल के ॥

और भी बहुत कुछ होता था—

कहै पद्माकर सु पन्नन के हौज हो
ललित लबालब भरे हैं जल बास बास।
गूँदि गूँदि गेंदे गजगौहरनि गंज गुल
गुपत गुलाबी गुल गजरे गुलाबपास।
खासे खस बोर्जान सु खौन खौन खाने खुले
खस के खजाने खसखाने खूब खसखास ॥

ग्रीष्म मे सुख की सामग्री इस प्रकार जुटाई जाती थी—

नीर के तीर उसीर के मंदिर धीर समीर जुड़ावन जी रे।
त्यों पद्माकर पंकजपुंज पुरैनी के पात परैं जे न पीरे।
ग्रीषम की क्यों गनैं गरमी गजगौहर चाह गुलाब गँभीरे।
बैठी बधू बनी बागबहार मे बार बगारि सिवार से सिरे ॥

और पद्माकर का शीतोपचार तो साहित्य के क्षेत्र मे प्रसिद्ध ही है—

गुलगुली मिलमैं गलीचा हैं गुनीजन हैं
चाँदनी हैं चिकै हैं चिराकन की माला हैं।
कहैं 'पद्माकर' त्यों गजक गिजा हैं सजी
सेजै हैं सुराही हैं सुरा है अरु प्याला हैं।
सिसिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हैं
जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं।
तान तुक ताला हैं विनोद के रसाला हैं
सुबाला हैं दुसाला हैं बिसाला चित्रसाला हैं ॥

संभोग शृंगार

पद्माकर ने संभोग के चित्र बडे जोश खरोश के साथ अंकित किये हैं। रमणीय नायिका के संग सभोग को कवि ने तरह-तरह से बार-बार वर्णित किया है। संभोग वर्णन मे पद्माकर बहुत आगे बढे हुए हैं। उनसे आगे बढने की ताकत सिर्फ उमगी बोधा मे ही दिखाई देती है।

प्रेमी नायक नायिकाओ का एक दूसरे पर मुग्ध होना बडी ही सुन्दर रीति से दिखाया गया है—जब से दोनो ने एक दूसरे के रूप सौदर्य का वर्णन सुना है तभी से दोनो एक दूसरे के सग रहने लगे हैं। शरीर से न उही मन से तो दोनो एक दूसरे के साथ रहते हैं, दोनो सदा एक दूसरे के ध्यान मे रहने लगे है और उनका मोह इस प्रकार बढा हुआ है कि दो मे से किसी एक को भी दूसरे को छोडकर किसी और चीज की सुध नही रह गई है—

ध्यान में दोऊ दुहून लखै हरषै अंग अंग अनंग उछाही।
मोहन को मन मोहिनी मे बस्यो मोहिनी को मन मोहन माहीं॥

यह तो प्रत्यक्ष साक्षात् के पूर्व की स्थिति है और जब वह सुदिन और मूहुर्त्त आता है जब दोनो के नेत्र एक दूसरे का साक्षात्कार करते है उस समय की उनकी आनंद दशा तो कही ही नही जा सकती—

(क) आजु हौ की दिखा दिखी मे दसा दोउन की नहिं जात कही है।
मोहन मोहि रह्यो कब को कब की वह मोहनी मोहि रही है॥
(ख) देखु दिखा दिखी के सुख मे तनकी तन की न सम्हार रही है।
जानत हौं सखि सापने में नँदलाल को नारी निहारी रही है॥

दोनो प्रेमियों का संबंध जुडता है और साहचर्य के दिन आते हैं। शुरू-शुरू मे तो प्रिय का निकट आना ही प्रिया के लिए बहुत था, उतने की ही लज्जा वह सँभाल नहीं पाती थी—

ज्यौं लखि सुंदरि सुदरि सेज ते यों रिरकी थिरकी थहरानी।
बात के लागे नसीं ठहरात हैं ज्यों जलजात के पात पै पानी॥

रोज ही कन्हाई सूने गैल से जाती हुई गोपिका के निकट आते थे और रोज ही वह उनसे कह देती थी 'साँउरे बाउरे' तैं हमैं छू ना लेकिन यह निषेध कब तक चल सकता था, एक दिन उस निर्जन मार्ग को देख हरि से रहते न बना और न उस गोपिका से ही कुछ कहते बना—

[illegible] हुती नित गोकुल कौं हरि आवैं तहाँ लखि कै मग सूना।
[illegible] कहौं पद्माकर हौं अरे साँउरे बाँउरे तैं हमैं छू ना।
[illegible] यौं कैसी भई सजनी उतवा विधि बोल कढ़योई कहूँ ना।
[illegible] हिये सों हियो भरि आयो गरो कहि आयो कछू ना॥

अब दोनो की प्रेम-क्रीड़ाएँ शुरू हो जाती है। गाय का दुहना दुहाना ही कभी परम मनोहर प्रणय व्यापार का रूप ले लेता है—

> बछरै खरीप्याव गऊ तिहि कों पद्माकर को मन ल्यावत है ।
> दिय जानि गिरैयाँ गही बनमाल सु ऐंचे लला इँग्यो छावत हैं ।
> उलटी करि दोहनी मोहनी की अँगुरी थन जानि कै दाबत है ।
> दुहिबो औ दुहाइबो दोउन को सखि देखत ही बनि आवत है ।

अब ये प्रेमी युगल खुल कर जीवन का सुख लूटते है । पूस की रात मे रंग महल में बैठकर मदपान करते हैं और शीत पर विजय पाकर निर्द्वंद्व भाव से काल यापन करते है । मधु के दौर अखंड भाव से सारी रात चलते है । नेत्रो के मदभरे प्यालो से वे छवि का आसव पीते है और पीते चले जाते है ।[1] कभी वे जलकेलि मे निमग्न होते है और यौवनोन्माद में बहते चले जाते है । जलकेलि की उतावली और उन्मत्तता में जीव रक्षा की चेतना भी नही रह जाती—

> टूटे हरा छरा टूटे सबै सराबोर भई अँगिया रँगराती ।
> को कहतो यह मेरी दसा गहतो न गुबिंद तो मैं बहि जाती ।।

रगमहल मे प्रणय व्यापारो के अनेक दृश्य पद्माकर ने दिखाए है और खुल कर दिखाए हैं—स्पर्श, चुबन, परिरभ आदि । उनके सबध मे विस्तार से कुछ कहना भी ठीक नही और न कहने से पद्माकर के काव्य के एक महत्वपूर्ण अश से काव्य पाठको को अंधकार मे ही रखने का दोष पल्ले पडता है । इसलिए ऐसे प्रसगो को कवि भी भाषा में ही रखना समीचीन प्रतीत होता है—

> (क) अंचल के ऐंचे चल करत दृगंचलनि
> चंचला ते चंचल चलै न भाजि द्वारे कों ।
> कहै पद्माकर परै सी चौंकि चुम्बन में
> छलनि छपावै कुचकुभनि किनारे कों ।
> छाती के छिये पै परै राती सीं रिसाइ
> गलबाही के किये पै करै नाहीं के उचारे कों ।
> ही करति सीतल तमासे तुग ती करिव
> सी करति रति में बसी करति प्यारे कों ।।
>
> (संभोग व्यापार)
>
> (ख) छाक छकी छतिया धरकै दरकै अँगिया उचकैं कुच नीके ।
> त्यों पद्माकर छूटत बारहू टूटत हार सिंगार जे ही के ।

---

[1] जगद्विनोद : छंद ४८६

संग तिहारे न झूलहुँगी फिर रंग हिडोरे सु जीवन जी के।
यों मिचकी मचकौ न हहा लचकै करिहाँ मचकें मिचकी के ॥

(हिंडोला झूलना)

(ग) रति बिपरीति रची दंपति गुपति अति
मेरे जान मान भय मनमथ नेजे तें।
कहै पद्माकर पगी यों रसरंग जामे
खुलिगे सु अंग सब रंगनि अमेजे ते।
नीलमनि जटित सु बेंदा उच्च कुच पै
परयो है टूटि ललित लिलाट के मजेजे ते।
मानौं गिरयौ हेमगिरि सृंग पैं सु केलिकरि
काढि कै कलंक कला निधि करेजे तें ॥ (विपरीत-रति)

(घ) अधखुली कंचुकी उरोज अधआधे खुले
अधखुले बेष नखरेखन के झलकैं।
कहै पद्माकर नवीन अधनीबी खुली
अधखुले छहरि छरा के छोर छलकैं।
भोर जगि प्यारी अध-ऊरध इतै की ओर
झाँखी झिखि झरफ उघारी अध पलकैं।
आँखैं अधखुली अधखुली खिरकी है खुली
अधखुले आनन पै अधखुली अलकैं ॥

(सुरतान्त स्थिति)

इस प्रकार के सभोग शृगार के कितने ही चित्र 'पद्माकर' की कविता मे देखे जा सकते है। सुरतान्त दशा के चित्रो मे खुली हुई बेणी, टूटे हुए मोतियो के हार, आँखो मे रति, अंगो मे शिथिलता और आलस्य, जमुहाई और अँगडाई प्रस्वेद मुक्ताओं का किल मिलाना, पोक भरी पलके आदि ही वर्णित हुए है जो परपरागत रीति पर तो है ही रीति रचना के कारण रीति या रसावभव के उदाहरण रूप में भी लाए गए हैं।[1] अनंग की लहर मे आकर रची गई विपरीत रति के वर्णन भी ऐसे ही है, उनमें भी सारे सेज पर बिखरी हुई मोतियो, वेग और केश को सँभालने की चेतना से रहित नायिका, बजते हुए घुँघरू और कोलाहल रत किंकिणी, उच्छ्वसित श्वासावलि, मुक्त वक्षोदेश, स्वेदकण रंजित, कपोल, साँवले के शरीर पर पडा हुआ श्रमशिथिल तरुणी तन आदि ही कथित हुआ है।[2] इसी प्रकार सभोग के अन्य वर्णनो में कही कृष्ण का

१—जगद्विनोद: छंद ४२३, ४८०, ४८३, ४३२
२—जगद्विनोद: छंद ५३ और प्रकीर्णक: छंद ४८, ४६, ५०

गोपिका बलात हिंडोले पर बिठा कर झुलाने का वर्णन है, कही नायक-नायिका का परिधान परिवर्तन कर सभोग व्यापार मे तन्मय होना वर्णित है और इसी प्रकार के कही-कही अन्याय व्यापार कथित हुए हैं।[१] पद्माकर की सभोग वर्णना पर्याप्त विशद हैं किन्तु नायक-नायिका को जहाँ एकाधिक व्यक्तियो मे अनुरक्त दिखाया गया है वहाँ रसाभास पैदा हो गया है, सभोग का रहा सहा सौंदर्य भी विनष्ट हो गया है।[२]

मानस पक्ष का चित्रण—प्रेम की वर्णना मे वहाँ और भी सौंदर्य दृष्टिगत होगा जहाँ कवि ने स्थूल कायिका सबधो से ऊपर उठ कर प्रणयी युगल के अंतर्तम की छवियाँ अंकित की है, क्योकि मानव व्यक्तित्व की सच्ची मनोहारिता वही देखी जा सकती है। ऐसे छदो मे प्रणय भावना की एक से एक मनोहर मधुर और पवित्र झाँकी देखी जा सकती है। ये मनोभाव अधिकतर प्रेमिका या गोपिका के ही हैं जो उसके नायक अथवा कृष्ण के प्रति प्रभूत अनुराग के परिचायक हैं। जबकि गोपिका का कृष्ण से मिलन भी नही हुआ रहता तभी से उसका प्रेम बरसाती नदी की तरह उमडता हुआ दिखाया गया है। वह अपने अग-अग मे गोविन्द के गुणों को भर लेना चाहती है। प्रियतम के ससर्ग की उसकी दुर्दमनीय आकाक्षा इस छद के शब्द-शब्द से फूटी पड रही है—

> हारन मे बारन में कंचुकी निनारन में
> वे गुन गुबिद हो के गाँज दै री गाँज दै।
> कहै पद्माकर अगार अनखीलिन कौ
> भौंरी भीर भारन कों भाँज दै री भाँज दै।
> आव पद पकज पराग ही लै प्रीतम को
> ये पल क्पोल मेरे माँज दै री माँज दै।
> साँवरी सिरी मै बोरी आँगुरी अहेरी एरी
> मेरी इन आँखिन मैं आंज दै री आँज दै।

अनुरागवती गोपिका नाना प्रकार से अपनी अभिलाषाओ को व्यक्त कर रही हैं—वे 'गनगौर गुसाइँन' से वरदान माँगती है कि हे देवी ऐसा कुछ उपाय कर दो जिससे मैं मोहन की बाँसुरी हो जाऊँ और उनके अधरो का ससर्ग सदा प्राप्त करती रहूँ, मैं मैं वनमाल होकर सदा उनके कठ से लिपटी रहूँ, लकुटी होकर उनके हाथो मे घूमती रहूँ, पीताबर होकर उनकी कटि से बँधी रहूँ। वह उस वनोपवन की मालिन बनना चाहती है जिसमे गोपाल विचरण करते है और इस प्रकार उन्हे विशाल और सघन पुष्पो की माला पहिनाया करेगी, वह उनके मुँह की ओर देख-देख कर आवश्यकता-

---

[१]—जगद्विनोद : छद ५१९, ५१

[२]—जगद्विनोद: छद ७६, १०९

नुसार उन्हे पान समर्पित करने के उद्देश्य से उनकी 'खवासिन' हो जाना चाहती है, वह गुणाकर गोबिंद के घर की चेरी होकर अपने सारे अरमान पूरे करना चाहती है। इन आकाक्षाओ को मन मे लिए हुए वह प्रणयिती नित्य ही तडके उठती है, स्नान करती है, जल भरती है, फूल चुनती है और 'गनगौर गुसाइन' के मदिर मे जाती है।[१] उसकी कैसी-कैसी तो आकाक्षाएँ है और कैसे-कैसे वह उन्हे अभिव्यक्त करती है—

> गोकुल के कुल को तजि कै भजि कै बन बीथिन मे बढ़ि जैयै।
> त्यों पद्माकर कुंज कछार बिहार पहारन मैं चढ़ि जैयै।
> है नँदनंद गुबिंद जहाँ तहाँ नद के मदिर मै मढ़ि जैयै।
> यौं चित चाहत मेरो भटू मनमोहनै लै कै कहूं कढ़ि जैयै।।

नंद गाँव से नदलाल के अपार रूप-रग को देखकर आई हुए एक गोदना गोदने वाली को वह गोपिका सादर निमन्त्रित करती हुई कहती है—आ ! तू तो भली आई है, नंद गाँव से अपार रूपशाली को देख कर आई है, तू तो मुझसे बडो है और बडी बुद्धिमती है, मेरे अंगो मे वही रंग तू अच्छी तरह गोद दे।

> आव तूँ आव दिखाव सुई अँग अंग लगाव दुराव कहा री।
> साँवरे को रँग गोद दै गातनि ए गुदनान की गोदन हारी।।

यह भावना कितनी मधुर और मनोहर है अभिनव और रमणीय है। इस प्रकार प्रिय से भेंटने की उससे मिलने की शतशत इच्छाएँ तरुणी के मनोलोक मे जगती हैं लेकिन जब मिलन की घडी आती है तो अरमानो मे अकथ जडता आ जाती है—वे उसके द्वार पर आते है वह स्वागत के लिए देहली तक पहुँचती है, वे हर्षित होकर उसे देखते हैं वह भी हर्ष भरी उन्हे देखती ही रह जाती है, मुग्धता दोनो की देखने योग्य है पर गोपिका भी विशेष—

> ऐसे मैं न जान्यो गयो मेरी आली मेरो मन
> 　　मोहन वे जाइ धौं परयो है कौन ख्याल मैं।
> भूल्यौ भौंह भाल मैं चुम्यो कै चारु चाल मैं
> 　　छक्यो कै छबि जाल मैं कै बीध्यो वनमाल मे।[१]

रूपासक्ति और हर्षोन्माद का यह अनुपम चित्र है, लज्जा और दर्शनोन्माद के बीच झूलते हुए मन का बहुत ही श्रेष्ठ चित्रण हुआ है। एक ओर अतस्तल में भरा हुआ प्रेम दूसरी ओर रूप का ज्वार, उसके मनकी क्या दशा होती है वह स्वतः नही बखान सकती। लज्जा के कारण, सकोच के कारण, प्रिय के सौन्दर्यातिशय्य के कारण प्रिय जब सामने होता है तब तो देखते नही बनता और जब चला जाता है तो मन मसोस मसोस कर ही रह जाता है, पश्चात्ताप ही हाथ लगता है। वह कहती है अंगो में

---

[१] प्रकीर्णक : छद ७०, ७१, ७२

परिंदों के समान भगवान ने पख क्यो नही दिये, और भी आँखें क्यों नही दी आदि आदि। प्रिय को इन दो असमर्थ आँखो से देखने पर तो लेश मात्र भी जी नही भरता। उसकी बेचैनी देखिये—'कीजै कहा राम स्याम आनन बिलोकिबे कौं, बिरचि बिरंचि न अनत ऑखियॉ दई।'

प्रेमिका या गोपिका के मनोलोक के कुछ और भी चित्र देखिये। एक बार प्रिय का दर्शन हो जाने पर उसकी दो चार झलक मिल जाने पर या यत्र-तत्र एकाध बार भेट हो जाने पर गोपिका के बार-बार उससे मिलने की स्पृहा होती है। वह तरह तरह के बहानो की रोज करती हैं—

> जब लौं घर को धनी आवै घरै तब लौं तौ कहूँ चित दैबो करौ।
> पद्माकर ये बछरा अपने बछरान के संग चरैबो करौ।
> अरु औरन के घर मे हम सा तुम दुनी दुहावनी लैबो करौ।
> नित सॉझ सबेरे हमारी हहा हरि गायें भला दुहो जैबो करौ॥

यह ललक रोज मिलने और देखने तक ही सीमित रहने वाली न थी। उसकी तो हविस बहुत अधिक थी पर पुर और गॉव की धडक भी अतस्तल मे थी, उसे वह कैसे पी जाती! इसीलिए वह कुछ ऐसे ब्यौत की खोज मे आतुर दिखाई देती है जिससे उसके कुल मे कलक भी न लगे और प्रेम विकसित होता चले—

> ए दई ऐसो कछू कर ब्यौंत जु देखे अदेखिन के दृग दागै।
> जामें निसंक ह्वै मोहन को भरिये निज अंक कलंक न लागै॥

धीरे-धीरे वह भी घडी आती है जब प्रेमिका अपनी प्रेम साधना के बल प्रिय को अपना बना लेती है। अब तक तो वह प्रिय पर रीझी हुई थी परतु अब प्रिय ही उस पर अनन्य भाव से रीझा हुआ है। प्रिय उसका बनाव-शृगार करता है, उसे अपने हाथो से पान खिलाता है, उसके तन-वसन को सुगधियो से चर्चित करता है, उसकी बेणी गूंधता है उसके माँग सँवारता है और भी अग-अग के सभार मे प्रवृत्त होता है यहाँ तक कि हृदय मे उसके माला भी डाल कर सँवारता है। ऐसे प्रेमी नायक के प्रति कथित उक्ति मे प्रणयिनी के लज्जासूचक मधुर मनोभाव अतिशय मनोग्राही हैं—

> मो मुख बीरी दई तो दई सु रही रचि साधि सुगंध घनेरौ।
> त्यों पद्माकर केसरि खौरि करी तौ करी सो सुहागु है मेरौ॥
> बेनी गुही तौ गुही मनभाउते मोतिन माँग सम्हारी सबेरौ।
> और सिगार सजे तौ सजौ इक हार हहा हियरे मति गेरौ॥

प्रेमिका ने अपने रूप से, गुण से, आचरण से, स्वभाव से, सब प्रकार से प्रिय को वशीभूत कर लिया है यहाँ तक कि वह अब उसके साथ-साथ ही लगा डोलता है। खाता है तो उसके साथ, पीता है तो उसके साथ, बैठता है तो उसके साथ गरज यह कि उसके बिना कोई काम नही करता और जैसा कि प्रणयिनी ने कहा भी है कि 'मा

बिन माइ न खाइ कछू' उसकी यह दशा हो गई है। ऐसी हालत मे नायिका को और सब सुख है बस दुःख है तो एक और वह यह कि उसका प्रिय उसे 'बीरन' के आने पर भी 'मायके' नहीं जाने देता—'और तौ मोहि सबै सुख री दुख री यहै माइकै जान न देत है।' यहाँ पर प्रेमिका का दु.ख भी कितना मधुर है, यह उक्ति जिस प्रेमगर्व की भावना से प्रेरित है वही यहाँ पर द्रष्टव्य है।

कल जो प्रेमिका थी आज वह कुलवधू बनी हुई है। अब उसे अपने प्रेम की रक्षा के साथ-साथ कुटुब के अन्य प्राणियो के बीच रहते हुए उनकी मर्यादाओ का भी पालन करना पडता है। हिन्दू पारिवारिक जीवन मे दम्पति को सब प्रकार की छूट आज भी नही है, कौटुंबिक मर्यादाओ के पालन न करने पर पारिवारिक जीवन विषाक्त हुए बिना न रहेगा। प्रेमिका यदि चतुर पत्नी और गृहिणी है तो कौटुम्बिक मर्यादाओ का ध्यान अवश्य रखेगी, उसका सुख उसी मे निबद्ध है, वह जिनके घर गई हुई है उनके यहाँ के सभी लोगो से उसे सद्भाव-सबध स्थापित करने पडते है इसके बिना अपर गति नही—

> है नहिं माइकौ मेरी भटू यह सासुरो है सब कौ सहिबो करौ।
> त्यों पद्माकर पाइ सुहाग सदा सखिमानहु कों चहिबो करौ॥

प्रणयिनी की बौद्धिक-प्रवीणता इसी मे है। ऐसे परिगणित वातावरण के बीच भी कुछ चित्र पद्माकर ने उरेहे हैं। प्रिय जब परदेस जाता है तो उससे वापसी संबंधी प्रश्न अत्यत उद्विग्नता से किये जाते है और जब उसके लौटने की घडी निकट आती है तो प्रतीक्षा भी बडी बेसब्री से की जाती है—

> (क) बालम बिदेस तुम जात हौ तौ जाउ पर
> साँचि कहि जाउ कब ऐहो भौन रीते पर।
> पहर के भीतर कै दो पहर ऊपर ही
> तीसरे पहर कैधौं साँझ ही बितीते पर॥
> (ख) एक पग भीतर सु एक देहरी पै धरे
> एक वर कंज एक कर है किवार पर॥

ऐसे मधुर-मनोहर मानस लोक के चित्रो से पद्माकर का काव्य भली-भाँति सौन्दर्यान्वित है।

नायक अथवा प्रेमी मन के चित्र पद्माकर ने बहुत कम या नही के बराबर उतारे हैं। जो दो-चार छंद इस सबध मे ढूँढ़ने से मिलेगे उनमे घोर रसिकता ही छलकती मिलती है—

> (क) काल्हि परौं फिरि साजबी स्थान सु आज तौ नैन सों नैन मिला लै।
> त्यों पद्माकर प्रीति प्रतीति मैं नीति की रीति महा उर सालै।

ये दिन जोबन एतो इते तन लाज इती तूँ करैगी कहा लै।
नेक तौं देखन दै मुखचंद सो चंदमुखी मत घूँघटि वालै ।।
(ग) जग जीवन को फल जानि पर्यो धनि नैनन कों ठहरैयतु है ।
पद्माकर ह्यो हुलसै पुलके तनु सिंधु सुताके अन्हैयतु है ।
मन पैरत सो रस के नद मे अति आनँद मैं मिलि जैयतु है ।
अब ऊँचे उरोज लखे तिय के सुरराज को राज सो पैयतु है ।।

ये भावना किसी सीमा तक बोधा के निकट पहुँची हुई कही जा सकती है । यहाँ पर बोधा के उन छदो का स्मरण किया जा सकता है जिनमे उन्होने छिपकर केलि करने वाले नर नारियो को धन्य बतलाया है अथवा इस प्रश्न का उत्तर देने की कोशिश की है कि ससार मे अमृत कहाँ है ।

विरह

मानस पक्ष के और भी अधिक उद्घाटन का अवकाश प्रेम-जन्य विरह की वर्णना मे हुआ करता है । पति या प्रिय-वियोग की स्थिति मे प्रेमिका की दशा का ही कवि ने भाँति-भाँति से निदर्शन किया है, प्रेमी की मनोव्यथा की टोह मे वह प्रवृत्त नही हुआ है । रीति से बँधकर चलने के कारण प्रायः सभी कवि प्रोषित-पतिकाओ, कलहान्तरिताओ, विप्रलब्धाओ की नानाविध मन-स्थितियो के चित्रण मे तो प्रवृत्त हुए पर तरुण नर हृदय की भावनाओ को मूर्तित करने की चेष्टा इतनी कम हुई है कि वह न के बराबर है ।

प्रिय-वियोग का प्रसग आते ही या उसके प्रवास की चर्चा चलते ही विरहिणी की दुःख की घडियो का आरम्भ होने लगता है । आसन्न वियोग की आशका ही उसके मन को मथने वाली हो जाती है । प्रिय जब जाने को तैयार होता है उस समय वह तरह-तरह से उसे रोकने की चेष्टा करती है कभी गुलाब के गजरे ही उसके रास्ते मे डाल देती है कभी ऋतुओ की दुहाई देती है । अन्त में जब प्रिय जाने का ही निश्चय कर लेता है तो वह उससे पूछती है कि कब वापस आओगे । एक छद में यह उत्कंठा कि जाने वाले प्रिय से मिलन की बेला आएगी अब हास्यास्पद स्थिति तक पहुँच गई है—'सौ दिन को मारग तहाँ कों वेगि माँगि बिदा' वाले छद मे वह गँवार प्रेमिका पूछती है कि कब लौटोगे एक पहर मे कि दो पहर बाद कि तीसरे पहर या चौथे पहर ? रास्ता सौ दिन का है एक ही तरफ का, लौटने मे १०० दिन और लगते हैं प्रवास काल भी कुछ तो होगा ही । फिर भी वह मूर्खा पूछती है क्या चार पहर तक लौट आओगे । प्रत्यक्ष उपहासास्पदता के भीतर उत्कंठा की वह तीव्रता फिर भी दर्श-नीय है जिससे प्रेरित हो सारी चेतनाओ को भूलकर वह ऐसा प्रश्न करती है । यह वह प्रेम प्रमाद है जिसमे लोक भूला हुआ है ज्ञान भूला हुआ है । सच्चे प्रेमी को तो यह

जडता समस्त वेद ज्ञान और लोक ज्ञान से भली लगती है। एक अन्य गोपिका मे यह विरह वेदना इतनी तीव्र हो उठी है कि वह कहती है कि आज यदि वनमाली जायँगे तो मेरे प्राण बचने वाले नही।[१] कोई प्रेमिका ऐसी भी है जो अपना विरह दुख बतलाती भी नही, अदर ही अंदर झेलती है। वह नई दूल्हन है, उसका प्रिय ६ दिन के ही लिए किसी न्यौते मे गया हुआ है पर वह ऐसी दुखी है जैसे १०० दिनों का वियोग हो, अपना मुँह छिपाए रहती है और पूछने पर सहेलियो को अपने दुख का सच्चा कारण नही बतलाती। ऐसी ही एक और भी प्रेमिका है जो इसी प्रकार की वियोग-दशा से घिरी हुई है और दिन-दिन क्षीण होती जाती है और पूछने पर बोलती है कि मेरी पसलियो मे दर्द है। अपने प्रणय को गुप्त रखने वाली लज्जामयी विरहिणियाँ ऐसी ही होती हैं।[२]

शास्त्र कवियो ने पूर्वराग और मान को भी वियोग स्थिति ही माना है क्योंकि मानसिक वियोग इन दशाओ मे भी हुआ करता है। शास्त्रकवि होने के कारण पद्माकर ने भी ऐसी स्थितियो का चित्रण किया है जिसमे प्रेमिका सारे लोकलाज को छोडकर प्रिय का शृगार करने और प्रिय के सुन्दर रूप को देखते ही रहने की अभिलाषा व्यक्त की गई है। जो बाते मिलन मे बाधक है उन्हे त्याग देने पर ही प्रेम का सुख सम्भव है—

> कहै पद्माकर समाज तजि काज तजि
> लाज के जिहाज तजि डारिबोई करिये।
> इन्दु ते अधिक अरबिंद ते अधिक ऐसो
> आनन गोबिंद को निहारिबोई करिये ॥

मान से उत्पन्न वेदना भी वियोग की ही वेदना है जो कम गहरी नही होती। मान की ग्रथि जब नायिका के मन मे बहुत कस कर पड जाती है और नायक के कितने ही प्रयत्नो पर भी खोले नही खुलती तो वह अन्ततः दुख का ही कारण होती है। पैरों पर गिरकर क्षमा याचना करने वाला प्रिय जब चला जाता है तब मानवती मूर्खा को अपने आचरण की कठोरता का भान होता है। अब उसकी ही नीद हराम होती है, उसी के चित्त मे अनचैन छा जाता है और मुँह सूखने लगता है और अन्त मे अपने अविचारित आचरण के लिए पश्चात्ताप ही हाथ लगता है—'प्रानन की हानि सो दिखान सी लगी है हाय कौन गुन जानि मान कीन्हों प्रान प्यारे सों।' वियुक्ति की स्थिति में प्रिय के एक-एक मधुर कर्म और आचरण पर दृष्टि जाती है और मन उसके माधुर्य से भर जाता है—

---

१. प्रकीर्णक : छंद ७९

२. जगद्विनोद : छंद १४६, १५४

हौं हूँ गई जान तित आइगो कहूँ ते कान्ह,
आन बनितान हूँ को झपकि झलो गयो ।
कहै पद्माकर अनंग की उमंगन सों,
अंग अग मेरे भरि नेह को नलो गयो ।
ठानि व्रज ठाकुर ठगोरन की ठेलाठेल,
मेला के मझार हित हेला कै भलो गयो ।
छाँह छ्वै छला छ्वै छिगुनी छ्वै छार छोरन छ्वै,
छलिया छबीलो छैल छाती छ्वै चलो गयो ।।

मन मे प्रिय का प्रेम और दृढीभूत हो जाता है, विरह की यह सबसे बड़ी तासीर है । देखिये न विरहिणी गोपिका इस तथ्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार करती है—

नैननि बसे है अंग अंग हुलसे हैं रोम रोमनि
रसे हैं निकिसे हैं को कहत है ।
ऊधौ बे गुविन्द कोऊ और मथुरा में यहाँ
मेरो तौ गुविन्द मोहि मोही में रहत हैं ।।

बालम विदेश जाता है, उधर उसकी प्रिया की दशा दयनीय हो रहती है । तीन दिन मे ही वह तप जाती है प्रिय के लौटने तक की वह प्रतीक्षा कर सकेगी यह सदेहास्पद ही है । धैर्यवाचक शब्द उसे तीर की तरह चुभते हैं और वह पूछने पर भी नही बोलती तथा चन्द्रोदय हुआ जान वह मुँह नीचा किये अपने घर के अन्दर चली जाती है । विरह-वेदना का यह सीधा-सादा चित्रण कितना मार्मिक है । उसका अरविन्द-सा चेहरा मुर्झा जाता है, वाचा उसकी मौन हो गई है, मन तो मोहन के सग जा चुका है तथा तन की लज्जा मनोज के पाले पड गई है । ऐसी स्थिति मे तरुण विरहिणी की कोई भी दुर्दशा सम्भव है ।[1] जब वियोग काल के प्रारम्भिक दिनो मे उसकी ये हालत है तो आगे उसकी जो दशा होगी उसका तो भगवान ही मालिक है । विरहिणी अपनी दशा कहना चाहती है पर उससे कहते नही बनता—'कंत न मिले को दुख दारुण अनत तिय चाहत कह्यो पै कछू काहू सो कहै नही ।' आँसुओ का कोष आँखो मे ही थमा हुआ है, प्रिय के धोखे मे वह तमाल वृक्ष को ही पकड लेना चाहती है और ढूँढकर भी अपना अवलम्ब वह नही प्राप्त कर पाती है । यह वियोग दुख ऐसा है जिसे एक तरफ तो वह कहना चाह कर कह नही पाती दूसरी तरफ कहे विना उससे रहा भी नही जाता—'साहस हूँ न कहूँ दुख आपनो भाषैं बनै न बनै बिन भाषैं ।' केवल प्रिय की प्रतीक्षा भर आँखो मे रह जाती है । प्रतीक्षा का परिणाम तो कुछ निकलता नही—न प्रिय दिखता है न मिलता है न

[1] जगद्विनोद : छद १४७, १४८

उसकी बाते बस एक चाह भर शेष रहती है। कभी-कभी उसे अपने किये पर पछतावा भी होता है तथा औरो की सलाह न मानने का भी—

सीखन न मानी सयानी सखीन की यौं पद्माकर की अमनैकी।
प्रीति करी तुम सों बजि के सु बिसारि करी तुम प्रीति घनै की।
रावरी रीति लखी इमि साँमरे होनि है संपति ज्यों सपनै की।
साँचहू ताको न होत भलो जो न मानत है कही चार जनै की ।।

यह भावना भी कितनी सुन्दर और स्वाभाविक है।

ऋतुएँ आती हैं पर्व और त्यौहार आते है पर नायिका को उनसे क्या! वे उसे कुछ दे तो जाती ही नही उलटे कुछ उसका ले ही जाती हैं। उसका कुछ सौंदर्य चला जाता है, कुछ रक्त सूख जाता है, रगत कुछ कम हो जाती है, धीरज कुछ लुप्त हो जाता है आदि आदि। यह सब कहाँ जाता है? ऋतुएं ले जाती है और पर्व ले जाते है। वर्षा मे मेघ घिरते हैं, वनस्पतियाँ सब्ज हो जाती है, झिल्लीगण शोर करते है, मोर कूकते है, विरहिणी अनंग पीडा से दग्ध होती है और कहती है कि कितना निष्ठुर हैं विधाता जिसने वर्षा बनाई है। यदि किसी विरहिन की राय माँगता तो वह उसे ऐसी सलाह देती जिससे लोक मे उसका बडा नाम होता, वह दया का सागर कहलाता। सूझ का अनूठापन ही इसे कहा जा सकता है—

काहू बिरही की कही मानि लेतौ जौ पै दई
जग मे दई तौ दयासागर कहाउतो।
बिरह बनायो तौ न पावस बनाउतो
जौ पावस बनायो तौ न बिरह बनाउतो ।।

ऐसी ही मनोदशा मे एक बार विरहिणी कहती है कि विधाता ने कुछ बुद्धिमत्ता से यदि काम लिया होता तो हमारी यह दशा न होती—आँखो से सदा नीर न बहता रहता और न पुष्पोद्यानो के परागसने सुमनो को देख-देख कर यह तन ही अनग ताप से तपता और न चद्रमा ही हमारे इस ताप से सुख मनाता! यदि वियोग देना था तो विधाता को सयोग का ही निषेध कर देना चाहिये था और यदि संयोग ही दिया था तो वियोग स्थापित कर देने की क्या जरूरत थी—'होतो जौ न प्रथम संजोग सुख वैसो वह ऐसो अब यो न तौ बियोग दुख ब्यापतो।' पूरी शीत ऋतु बीत जाने पर भी प्रिय नही लौटा। न आया ही और न पत्र ही भेजा, सारी अभिलाषाएँ मन की मन मे ही रह गईं। पूरे आठ पखवारे बीत गये प्रतीक्षा मे और अब वसन्त ऋतु भी आ गई। वह खीझ कर कहती है कि इस उन्मादिनी वसन्त ऋतु को लेकर क्या करूँ। इसे किसके सामने रक्खूँ? व्यंग्य यह है कि वसन्त की शोभा दुख देती है, शृंगार कर नहीं सकती क्योंकि उसका होगा क्या? उसे सार्थकता देने वाला तो दूर बैठा है और हमारी सुध को भुलाकर।' होली का त्यौहार भी आ गया परन्तु

वियोगिनी को वह क्या सुहाएगा ? होली की मौज बहार देखकर उसके तन में आग, सी लग जाती है। यह आग ईर्ष्याजन्य भी हो सकती है, संतापजन्य भी और काम-जन्य भी—

> कौन करै होरी कोऊ गोरी समुझावै कहा,
> नागरी को राग लग्यो विष सो विराग सों।
> कहर सी केशर कपूर लग्यो काल सम,
> गाज सो गुलाब लग्यो अरगजा आग सो।।[1]

कभी वह व्यथामयी खीझकर कहती है कि हमारे विरहाग्नि की होली यदि प्रिय के आगे ले जाकर जला दी जाय तो कदाचित उन्हे हमारी दशा का ज्ञान हो सकेगा। होली के उन्मादकारी पर्व पर विरहिणी की जो दशा हो रही है उसका बोध वह किसी न किसी प्रकार प्रिय को करा ही देना चाहती है इसी आशय से वह अपनी सहेली से कहती है -'एरी इन नैनन के नीर मैं अबीर घोरि बोरि पिचकारी चितचोर पै चलाइ आउ।' वह जब प्रिय को पत्र लिखती है तो अपनी दशा का निवेदन उनसे यही कहती हुई कहती है कि हे प्रिय प्रस्तुत ऋतु की दावाग्नि से ही समझ लेना कि मेरी विरहाग्नि कैसी है तथा उदास सी बहती हुई हवाओं से मेरी आहो का अन्दाजा लगा लेना, अभग चलती हुई पिचकारियो से मेरी आँखो की दशा का अनुमान कर लेना तथा पीले पत्तो से मेरे शरीर की विवर्णता समझ लेना। इस प्रकार ऋतु-दशा में ही वह आत्मदशा का दिग्दर्शन कराती है।[2] कभी वह यह भी सोचती है कि प्रिय को मेरी दशा का तो ज्ञान होगा ही क्या मेरी दशा की साक्षिणी प्रकृति को देखकर अथवा स्वय प्रकृति की ही दशा देख कर प्रिय को मेरी स्थिति का ज्ञान न हो गया होगा—

> प्रीतम लौं जाई कै पपीहा परमारथिन,
> पीव पीव या रटि सुनाइ तौ दई ह्वैहै।
> कहै पदमाकर सु आँसुन की धार ऐसी,
> झार ऐसी झपटि झलान की गई ह्वैहै।
> ए अलि इतै कहूँ पै मति मनमोहन की,
> नेकहूँ कहूँ न जौ पै दरदमई ह्वैहै।
> ताती पौन लागत इती तौ जानि जैहै घन,
> ताकत तिया के तन तपत भई ह्वैहै।।

इस प्रकार विरह मे नाना प्रकार से ऊब डूब होती हुई विरहिणी चेतना-हत-सी हो

---

1. जगद्विनोद : छंद १५६
2. वही : छंद १५२

जाती है। उसे उन्माद हो आता है—वह स्वय से ही रूठती है और स्वयं को ही मनाती है, कभी तमाल तरु को देखकर उससे भेटने को दौडती है, प्रिय का चित्र देखकर कभी हँसकर उसे अपने पास बुलाती है और अपनी सखियो से कुछ कहना चाहती है किन्तु कह कुछ डालती है, विरहिणी प्रिय मे इस प्रकार तन्मय है कि उसे अपनी ही दशा का ज्ञान नही।[1] भीषण, अकथ्य और दारुण विरह दशा के बावजूद भी विरहिणी मरती नही क्योकि प्रिय मिलन की आशा उसे मरने नही देती—'मिलि बिछुरे है त्यौंही बिछुरि मिलैगे फेरि याही एक आसा पर स्वासा भरिबो करैं।' विरह मे अतिशय क्षीण गात अचेत पडी हुई प्रेमिका की दशा की खबर अन्त मे प्रिय कृष्ण तक पहुँचा दी जाती है जिससे श्रीकृष्ण स्वय आकर उसे देखे और उसकी दशा मे सुधार सम्भव हो सके। पद्माकर कृत दूती द्वारा विरहिणी की दशा का निवेदन करने वाला यह छद 'ए हो नदलाल ऐसी व्याकुल परी है बाल हाल ही चलौ तौ चलौ जोरे जुरि जायगी' बहुत प्रसिद्ध है। विरह-दशा-वर्णन के ये छंद पर्याप्त सरस और हृदयग्राही है। इनमे भावगत सौदर्य के साथ-साथ एक स्वाभाविकता भी है। विरह के अतिशयोक्ति प्रधान ऊहात्मक चित्र पद्माकर मे कम ही है—

दूर ही ते देखति बिथा मैं वा वियोगिनि की
आई भले भाजि ह्यां इलाज मढ़ि आवैगी।
कहै पदमाकर सुनौ हो घनश्याम जाहि
चेतत कहूं जौ एक आह कढि आवैगी।
सर सरितानि को न सूखत लगैगी देर
एती कछु जुलमिनि उवाल बढि आवैगी।
ताके तनताप की कहौं मैं कहा बात मेरे
गातहि छुवौ तौ तुम्हें ताप चढ़ि आवैगी॥

भक्ति और वैराग्य

भक्ति और वैराग्यपरक रचनाएँ थोडा बहुत सभी रीति कवियो मे देखी जा सकती हैं। ऐसी रचनाओ का स्वर बहुत कुछ क्रमागत भक्ति काव्य के मेल मे है। सच तो यह है कि भक्ति भावना के प्रकाशन मे रीति कवि भक्त कवियो से प्रभावित हैं। भक्तो-सा आवेशोन्मेष चाहे न हो परन्तु उनके द्वारा व्यक्त भावनाएँ ही इन कवियो की भक्ति-प्रवण अभिव्यक्तियो मे देखी जा सकती हैं। पद्माकर ने अपनी भक्ति भावना के निवेदनार्थ तीन स्वतत्र रचनाएँ ही तैयार कर दी थी—कलिपचीसी, गगा लहरी और प्रबोध पचासा।

कलिपचीसी—मे २५ लावनियाँ हैं। इसे 'ईश्वर पचीसी' भी कहते हैं।

---

[1] वही : छद ५६४, ६२६

इस रचना के सभी छदो का अतिम चरण एक ही है —'जब बचन बिचार कहै पद्माकर यह ईस्वर की माया है।' यह रचना शैली की दृष्टि मे और भाषा की दृष्टि से भिन्न प्रकार की रचना है। भाषा शैली इतनी भिन्न है कि अनेक विद्वान इसे पद्माकर की रचना मानने से भी अस्वीकार करते है। सच बात तो यह है कि कविता के लिए नई भाषा शैली, नया तर्ज अपनाने की भी जो एक प्रवृत्ति कवि मे होती है और नए विषयो को भी काव्यबद्ध करने की जो स्पृहा होती है उसी के परिणामस्वरूप रीति कवियो ने 'कलिपचीसी' जैसी रचनाएँ प्रस्तुत की है। 'कलिपचीसी' मे प्रस्तुत भावो का स्वर निर्गुण हठयोगियो वाला है। पद्माकर कृष्ण और राम के प्रति भक्ति प्रकट करते है। सगुण और निर्गुण भक्तो की भावनाओ के इस सम्मिलन को देख आश्चर्य नही करना चाहिये क्योकि उत्तर-भक्ति काल मे ये दोनो विरोधी विचार धाराएँ काव्य-व्यवधान प्राप्त कर अपनी उग्रता या तीक्ष्णता खो बैठी और दोनो का सामजस्य हो चला था। स्वय सूर और तुलसी ने ही निर्गुण का विरोध या निषेध नही किया था। इस रचना मे पद्माकर ने मनुष्य की 'इन्द्रिय परायणता' के प्रति क्षोभ और ग्लानि प्रकट की है और शरीर के कुत्सित और घृणित स्वरूप को—जो मास मज्जा, रक्त, चाम आदि से बना है—सामने रक्खा है और ऐसे तन के लिए आसक्ति की नही विरक्ति की आवश्यकता पर बार-बार बल दिया है उन्होने कहा है कि हे मनुष्य तू कफ, बात, पित्त, मल, मूत्र, हाड, नस, मास, रुधिर से बने शरीर के प्रति इतना आकर्षण दिखलाता है। राम तेरे दिल और दिमाग मे नही आता। तू देखता क्यो नही कि यह जितनी खूबसूरती है चाम की ही है। इसके अदर नख से शिख तक घृणा पैदा करने वाली चीजो का ही ढेर लगा हुआ है? ये क्यो भूलता है कि जिस आकर्षण के भँवर मे फँस कर तू 'कछु काटि कपोलनि चाटि अधर को चूमि चखन चित लाया है' तथा 'कछु रुचिर परस रस बिबस' हो तू अपने को इन्द्र का राज्य प्राप्त करने का सा गौरव अनुभव कर रहा है वह सब सत्य नही है। तूने संसार की बडी-बडी शक्तियो को अपने वश मे कर लिया है परन्तु यदि तेरा मन ही तेरे हाथ मे नही है तो सब बेकार। तू अपने कर्मो को तो देखता नही और दूसरों पर दोष पढता है, विष के बीज बोकर अमृत के फल खाना चाहता है। जिस ईश्वर ने गज, गीध, गुह, गणिका, प्रहलाद, अजामिल, व्याध, विराध, गाध का उद्धार किया उसे छोडकर हे मूर्ख तू मनमानी करता फिरता है। अपनी जन्मदा और पोषिका माँ का असम्मान कर पराई कन्या को सब कुछ समझता है। फिर-फिर जन्म-मरण के चक्र मे पडा हुआ अपनी गति नही देखता और ईश्वर को भूला हुआ है। शर्वत्र परिव्याप्त यहाँ तक कि तेरे स्वय मे समाए हुए व्यापक राम को तू नही देखता और पहचानता। आयु बहती जा रही है और तू खडा उस प्रवाह को देख रहा है, काल के विकराल गाल मे खडा होकर भी गाल बजा रहा है। तरुणी को

देख कर तेरा सारा ज्ञान और पाण्डित्य भूल जाता है, मद, मोह, लोभ, काम, क्रोधादि के चक्कर मे पडकर तूने जप, तप, योग को भुला दिया है। अहंकार मे आकर तू कहता है कि हम यह कर डालेगे, वह कर डालेगे परन्तु विकराल काल के सामने भी तेरी कुछ चल सकेगी इस बात को तू नही सोचता। तू पशु हत्या कर तरह-तरह के सुख मानता है परन्तु हरि भजन बिना तुझे क्या चैन मिल सकती है। तन, धन, यौवन का रंग ससार मे हल्दी के रग की तरह ही समझ जो जल्दी उड जाया करता है, ईश्वर ने जिस काम के लिए तुझे नर का स्वरूप दिया उसी लक्ष्यभूत ईश्वर की प्राप्ति को तूने भुला दिया है। तेरे गुनाह ही तेरे अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष के बैरी हो गए हैं। मित्र, बधु पुत्र, कलत्रादि के भरोसे यदि तू हरि की कृपा चाहता है तो वह असभव है, अपने ही कर्मो के बिना या खुद ही लगन लगाए बिना इन पुरुषार्थों की प्राप्ति भला कैसे सभव है! तू इस बात को क्यो नहीं समझता कि लाखो और करोडो कमा कर अथवा शहनाह का-सा जीवन बिता देने मात्र से कुछ नही होता, अत मे सीतापति ही काम आते है। तेरा धन ठग कर खाने वाले मित्र तुझे समृद्धि काल मे घेरे रहते है और दुर्दिन आने पर तुझे छोड चलते है और मूर्ख ठहराते हैं, तू इन्ही के फेर मे पड कर न तो साधुओ का सम्मान करता है और न उनकी सगति और न राम की शरण मे ही जाता है। तृष्णा के चक्कर मे पड कर तू तरह-तरह के नाच नाचता है तथा काम क्रोधादि पच विकारो मे फँसा रहता है। यौवन, शक्ति और संपदा तेरे जीवन मे अल्पकाल के लिए आकर बादल की छाँह की तरह चले जाते हैं और हरि-भजन बिना गए दिनो के लिए हे जड! तू लेश मात्र भी पश्चात्ताप नहीं करता 'जड़ जे दिन गए भजन बिन हरि के तिनहिं न तूं पछताया हे।' जगत के प्रतीयमान सुखो और आकर्षणो के पीछे तू मिहिर मरीचियो का मृग बना फिर रहा है, स्वप्नो की माया को सत्य माने बैठा है इसीलिए-इसीलिए तुझे मैं यह उपदेश विचारपूर्वक कर रहा हूँ कि सर्वत्र परिव्याप्त जो लौकिक आकर्षण है वह कुछ बडे भारी सुख का हेतु नही वह ईश्वर की भ्रमित कर देने वाली मायाजनित भ्रम को हे जीव! तू छोड दे और दिन के आठ प्रहरो मे एक ही प्रहर सही तू प्रेम से राम का भजन कर, व्यर्थ के टंटो को छोड तीर्थाटन आदि कर डाल, इससे तेरी पापमलिन काया भी पवित्र हो जायगी। इस प्रकार कलिपचीसी नामक रचना वैराग्य भावना को उत्तेजित करने वाली है जिसमे ससार के आकर्षणो को फदा अथवा माया बतला कर मानव का उनसे नजात दिलाने की चेष्टा की गई।

गगालहरी

गंगालहरी—मे कुल ५७ छंद है जिनमे ५४ कवित्त हैं शेष दोहे। कवित्तो में गंगा की महिमा का ही मुख्य रूप से कथन किया गया है। कवि कहता है

कि गंगा राजा भगीरथ के कीर्ति की लता है जिसमे चारो फल (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) फले हुए है। गंगाजल के एक बिंदु के पान से समस्त जीवन की तृष्णा शात हो जाती है। महापातकी लोग भी गंगा स्नान कर विष्णुलोक को पहुँच जाते हैं। गंगा की धवलधारा मे धँसने वाला कभी भी सुरपुर से पतित नही होता—

जहाँ जहाँ मैया धूरि तेरी उड़ि जात गंगा
तहाँ तहाँ पापन की धूरि उडि जात है।

गंगा ने ऐसे-ऐसे पापियो को तार दिया है जिन्हे कोई भी तारने को कभी तैयार नही हुआ —

काहू ने न तारे तिन्है गंगा तुम तारे और
जेते तुम तारे तेते नभ मैं न तारे है॥

गंगा को परम मोक्ष प्रदायिनी विशेष रूप से कहा गया है। ऐसे महापापी जिनकी गति मे रौरव नरक लिखा जाता है गगा की कृपा से परमपद प्राप्त करते है—यह सब देखकर चित्रगुप्त जी चित्रवत चकित भाव से देखते रह जाते हैं। अपने विधान मे आमूलचूल परिवर्तन होते देख यमराज अपनी खीझ इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

गंगा के चरित्र लखि भाषै जमराज ऐसें
एरे चित्रगुप्त मेरे हुकुम में कान दै।
कहै पद्माकर ये नरकनि मूँदि करि
मूँदि दरवाजनि को तजि यह थान दै॥
देख यह देव नदी कीन्हें सब देव यातें
दूतन बुलाइ कै विदा के वेगि पान दै।
फारि डारि फरद न राखि रोजनामा कहूँ
खाता खति जान दै बही को बहि जान दै॥

बडी ही भक्तिभावना के साथ कवि ने तरह-तरह से गगा की महिमा का बार-बार गायन किया है। तेरी कृपा से भाषा भूषित होती है, सुयश की लता बढती है, तेरा गुणगान करने से आनद की वर्षा होती है, अधर्म दूर होते हैं, चिताएँ नष्ट होती हैं और दुर्बुद्धि दूर होती है। स्वय शिव की जो इतनी प्रतिष्ठा है वह गगा को ही शिर पर धारण करने के कारण अन्यथा तीन आँखो वाले, अगो में भस्म पोतने वाले, जटाजूट बाँधकर परवतकूट मे बैठने वाले, प्रेतो का सग करने वाले, नंगे को कौन पूछता। वे जो महाकालकूट कंठ मे धारण कर सके वह भी शिरस्थ गगा के ही प्रभाव के कारण --'पीवै नित भंगै रहै प्रेतन के संगै ऐसे पूछतो को नंगै जौ न गंगै सीस धरतो।' पापियो की पक्ति स्वर्गलोक को ही जाती है ऐसा है गंगा का प्रभाव, इन्द्र बेचारे को अपने अभ्यागतो की सेवा से ही फुरसत नही मिलती।

सुरधुनि रावरे उधारे जग जीवन की
छिन छिन सेन सिवलोक कों झिल्लति है।
आसन अरघ देत देत निसिवासर
बिचारे पाकसासन कों साँस न मिलति हैं ।।

गगा की धारा बहती हुई जिधर-जिधर भी जाती है उधर-उधर ही मुक्ति नृत्य करती है। अनेकानेक पापियो की मुक्ति की कथा बडे ही चमत्कारिक ढग से किन्ही-किन्ही छंदो मे कही गई है।[1] गंगा की उदारतापूर्वक मुक्ति प्रदान करने की बढती हुई प्रवृत्ति को देख कभी यमराज उनसे विनय करता है और कभी पापी। यमराज कहता है देवी पापियो के अपकर्मों का कुछ तो विचार करो उधर पापी कहता है हमे शिवलोक मे तो पहुँचा दिया अब यदि हम तुम्हारी भक्ति करे तो किस अपर लोक में ले चलोगी।' गंगा का नाम मात्र ले लेने से पापियो को शिवलोक विष्णुलोक आदि सुलभ हो जाते है। गगा का जलमात्र पी लेने से सब विकार जल जाते हैं सब पाप कट जाते है। उसमें स्नान करके तो चौदहो भुवनो के जीव सीधे विष्णुलोक पहुँच जाते हैं। इसी कारण कवि ने हर दशा मे गगाजी की महिमा गायन का उपदेश किया है, उसे कभी न भूलने की बात कही है। 'गंगा जू को नाम कामतरु तें सरस है' कहते हुए जैसे वे औरो को अपने-अपने पापों के शमन का आवाहन करते है वैसे ही अपने पापों को भी 'गंगा की कछार में पछार कर छार' कर देने का संकल्प प्रस्तुत करते है —

जैसे तैं न मोकों कहूँ नेकहू डरात हुतौ
ऐसौ अब तोको हौहूँ नेकहु हूँ न डरिहौं।
कहै पदमाकर प्रचंड जौ परैगो तौ
उमंड करि तोसो भुजदन्ड ठोंकि लरिहौं।
चलो चल चलो चल बिचल न बीच हीते
कीच बीच नीच तो कुटुंब को कचरिहौं।
ए रे दगादार मेरे पातक अपार तोहि
गंगा की कछार में पछार छार करिहौं।।

कुछ छंदो मे गगा की उज्ज्वल धारा का बडा सुन्दर वर्णन हुआ है[2]—'अघ की अँधेरी कहूँ रहन न पाई फिरै धाई धाई गंगाधार सरद जुन्हाई सी'— और गंगा की महिमा तो इसके प्रत्येक छद मे अंकित है। बानगी के तौर पर एक ही छंद पर्याप्त होगा—

---

१ उदाहरण के लिए देखिए 'गंगा लहरी' छद ५, १८, १६, २३, ३१, ३७, ३८, ५०
२. देखिये 'गंगालहरी' छंद ३, ३२, ४६

विधि के कमन्डल की सिद्धि है प्रसिद्ध यही
हरिपद पंकज प्रताप की नहर है।
कहै पद्माकर गिरीस सीस मंडल के
मुंडन के माल ततकाल अघहर है।
भूषित भगीरथ के रथ की सुपुन्य पथ
जन्हु जप जोग फल फैल की फहर है।
छेम की छहर गगा रावरी लहर
कलिकाल की कहर जमजाल को जहर है।।

प्रबोध पचासा—प्रबोध पचासा मे कवित्त और सवैये मिलाकर कुल ५१ छद है। समूची कृति मे भक्ति और वैराग्य भावना का पोषण करने वाली भावनाएँ मिलेगी। भक्ति के आलबन राम ठहराए गये है। यद्यपि प्रथम छद मे कृपा और उदारता शिव की वर्णित हुई है। इससे एक तो यह विदित होता है कि भक्ति युग के ही समान रीतियुग मे भी भक्तिपरक दृष्टि उदार थी शिव और रामभक्ति मे अविरोध देखा गया। दूसरे सेनापति के ही समान पद्माकर ने भी अपनी शृङ्गारी रचना का केन्द्र तो कृष्ण को बनाया परन्तु भक्ति निवेदन का आधार भगवान राम को स्वीकार किया। वैसे ये कवि राम और कृष्ण मे भी न तो अन्तर करते थे और न विरोध मानते थे। भक्ति की यह उदारतावादिनी वृत्ति भक्ति युग से ही इस युग मे भी अवतरित हुई है। भक्त कवियो ने जैसे भक्ति भाव कहे है लगभग उसी प्रकार की बाते पद्माकर ने भी अपने 'प्रबोध पचासा' मे कही है उदाहरण के लिए यह कि हमे हर समय राम का नाम जपते रहना चाहिए, हमने अपना जीवन ससार मे व्यर्थ गँवा दिया राम का नाम नही लिया। राम तो हमारे ही अन्दर है किन्तु हम ऐसे अज्ञ हैं कि उसे पहचानते नही—

है हम ही मे हमारो महाप्रभु राम इते पै न मैं पहिचाने।
जैसे बिचित्र सुपत्रन में लिखे बेदन भेद न पुस्तक जाने।।

समस्त लोक मे परिव्याप्त जानकी जीवन का यश एक मुँह से किस प्रकार गाया जा सकता है और उनकी सुन्दर कथाओ के समूचे विस्तार को मनोगत करने के लिये करोडो कान कहाँ पाये जा सकते है? दशरथ के पुत्र सर्वतोभावेन समर्थ हैं जो चाहे कर सकते हैं। ऐसे राम के नाम की महिमा लोगो ने तरह-तरह से वर्णित की है फिर शिव जी भी भला पाँचो मुँह से उनका नाम क्यो न ले। हे जड जीव राम-नाम ही समस्त वेद-पुराणो का सार है, माया के सारे प्रपचो को छोड तू इसी का सहारा पकड क्योकि यम के दूतो के फदे मे पडने पर यही राम-नाम तेरे काम आएगा। संसार मे हम किसी से प्रीति करते है किसी से बैर, बूढे हो जाते है दाँत हिलने लगते हैं परन्तु तृष्णा नहीं छूटती तथा राम की भक्ति हृदय मे नही आती। इस कठिन

संसार की गति का कुछ ठिकाना नहीं कि कब क्या हो जाय ! प्रलय पयोनिधि रूप इस संसार मे पडी इस जीवन तरी को किनारे लगाने वाला राम ही है, कम से कम मेरा तो यही विश्वास है—'बहन न पैहै घेरि घाटहि लगैहै ऐसो अमित भरोसो मोहि मेरे रघुरैया को ।' इस चाम के चोले का कोई भरोसा नही कि यह कब धोखा दे जाय-- शरीर के घृणास्पद स्वरूप को कवि ने अधिक उभार कर हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है जिससे मनुष्य को इसके प्रति विराग पैदा हो और उसकी बुद्धि ईश्वर के प्रति झुक जाय[1]—राम-नाम के सहारे ही इस जीवन को, जन्म को, तन को, धन को सार्थक बनाया जा सकता है। धना जाट, सदना, गज-कपि-रिक्ष, शबरी, प्रह्लादादिको का उल्लेख कर कवि लोगो मे भक्ति भावना का उद्रेक कराना चाहता है। जो राम का हो जाता है उसकी वे सदा रक्षा करते हैं। संसार से उद्धार के समस्त साधनो को छोड़कर कवि ने राम नामाश्रय लेने की बात कही है ।[2] सिर पर सवार मौत का डर दिखला कर, रोग-जराजन्य दुर्दशा का वर्णन कर, सांसारिक संबंधो की तुच्छता और अशक्तता घोषित करके पद्माकर ने आत्मोद्धार की एकमात्र युक्ति राम का नाम और उनकी भक्ति ही निर्धारित की है। इस प्रकार राम के नाम का महत्व पद्माकर ने भी तुलसीदास के ही समान अधिकता से वर्णित किया है। जब रावण, शूर्पणखा, गणिक, गिद्ध जैसे पापी और निकृष्ट जन राम का नाम लेकर तर गये तब साधारण पाप करने वाले संसारी लोग तो जरूर ही तर जायँगे। बार-बार और तरह-तरह से पद्माकर अपने प्रबोध पचासा मे एक ही बात कहते है कि राम को भजो और बस इसी से सभी भव-बंधन और पाप कट जायँगे। इस प्रकार की उपदेशपरक उक्तियो मे जहाँ सबके उद्धार का मंत्र बताया गया है वहीं प्रकारान्तर से कवि ने अपनी भक्ति-भावना का भी आख्यान किया है। कुछ छंदो मे भक्तिभावना का यह प्रकाशन और भी सीधे स्पष्ट ढंग से हुआ है। वे कहते है कि जब अपना मन ही अपने हाथ आ गया तब और कुछ आना शेष नही रह गया और जब राम के रूप का ध्यान कर लिया तब और किसी वस्तु का ध्यान करना शेष नही रह गया। हे भगवन् जिस कृपा से तुम गुह गीध-गणिका-गयंद पर कृपावंत हुए थे उसी प्रकार की कृपा तुम हम पर कब करोगे और मेरे मन को अपने चरणो के प्रति अनुरागशील कब करोगे ? कैसी भोली है यह याचना, कैसी निष्कपट है यह वाञ्छा ! एक जगह वे अपने को राम का दासानुदास बताते हैं—

> एक यहै बर माँगत हौ बर दूजो बिरंचि न भूलहू दीजौ ।
> राम को कोऊ गुलाम कहै ता गुलाम को मोहि गुलाम लिखीजौ ।।

---

[1] देखिये प्रबोध पचासा : छंद २३, २६, २७ ।

[2] वही : छंद २८, २९, ३०, ३१, ३२ ।

रीतियुग के कवियो मे सूरदास के विशेष प्रभाव के कारण अथवा प्रगाढ एवं आतरिक निष्ठापूर्ण भक्ति भावना के ह्रास के कारण सख्यभाव की भक्ति अधिक पाई जाती है। पद्माकर के अनेक कवित्त सख्य भक्ति भावापन्न है।[३] वे कहते है कि बडे-बडे पापियों की तुलना मे तो हम ठीक ही ठहरते है इतने पर भी यदि हमे न तारोगे तो हमारा क्या वश है ! हे राम गुह गीधादि के समान मुझ जैसे पापी के उद्धारने मे मत बीधना, मेरा उद्धार करना बहुत कठिन है ! मेरे महापापो का तुम पार भी नही पा सकते, झूठा कलक सुनकर जब तुमने सीता-सी सता को नही अपनाया तब मुझ जैसे वास्तविक कलकी को कैसे अपना सकते हो ! कही-कही अपनी पापाँभिमुखता और राम की कृपालुता की स्पर्धा भी दिखाई गई है। 'जगद्विनोद' मे भी भक्ति और वैराग्यपरक कुछ छद देखे जा सकते है।[४] उनमे भी प्राप्य भाव इसी प्रकार के है।

पद्माकर का रीति कर्म

पद्माकर रीतिकाल के उत्तरवर्ती रीति ग्रथकारो मे थे तथा रीति रचना के क्रम को ढोए बिना वे भी न चल सके। हिन्दी के समर्थ रीतिशास्त्रियो मे उनका नाम नही लिया जाता, हाँ परम्परानुसारी रीति ग्रथ लेखको की नामावली मे उनका नाम अवश्य आता है। उनके लिखे दो रीति ग्रथ है—१. पद्माभरण, २. जगद्विनोद।

पद्माभरण—पद्माभरण अलकार निरूपण सबधी ग्रथ है (रचना काल स० १८६७ के आस-पास) जिसकी रचना का कारण कवि पथानुधावन है जैसा कि कवि ने ग्रन्थ के आदि और अन्त मे स्वय लिख दिया है—

राधा राधा बर सुमिरि देखि कबिन को पंथ।
कवि पद्माकर करत हैं पद्माभरन सुग्रंथ ॥

राधा माधव कृपा लहि लखि सुकविन को पथ।
कवि पद्माकर ने कियो पद्माभरन सुग्रन्थ ॥

इस ग्रन्थ मे अलकारो का समस्त निरूपण अधिकतर दोहा, छद मे ही हुआ है—बीच-बीच मे चौपाइयो का भी व्यवहार मिलता है। कवि ने शब्दालकारो का निरूपण ही नही किया है तथा उपमालकार से ही अलकार-निरूपण आरम्भ किया है। अलकार की परिभाषा आदि के चक्कर मे वह नही पडा है। इन बातो से यह स्पष्ट है कि पद्माकर का ध्यान अलकारो के सम्यक निरूपण पर नही रहा है। अलकारो की मुख्यता के सबध मे उन्होने एक रोचक अभिमत दिया है जिससे सामान्यतया सहमत नही हुआ जा सकता। उनका कहना है कि काव्यगत नाना अलकारो के बीच वही

---

[३] वही : छद १३, १४, १५, १८, ४३, ४८, ५० ।
[४] जगद्विनोद : छद ४७७, ४९१, ४९६, ५०६, ५२२ ।

अलंकार प्रमुख माना जायगा जिस पर कवि की विशेष अभिरुचि होगी । इस मंतव्य को उन्होंने निम्नलिखित दृष्टान्त से व्यक्त किया है —

जा बिधि एकै महल में बहु मंदिर इक मान ।
जो नृप के मन में रुचै गनियत वहै प्रधान ॥

इस ग्रन्थ मे बीच-बीच मे कही कही ब्रजभाषा गद्य मे वक्तव्य की किंचित् व्याख्या भी कर दी गई है जिसे 'वार्ता' कहा गया है । पद्माभरण मे अलकारो का विवेचन तीन प्रकरणो मे किया गया है—१. अर्थालकार प्रकरण २. पचदशालकार प्रकरण ३. ससृष्टि-सकर प्रकरण—जो उत्तरोत्तर छोटे होते गए है ।

इस ग्रथ के लक्षणो एव उदाहरणो मे कोई असाधारण वैशिष्ट्य नही स्वीकार किया गया है तथा समूची कृति को एक सामान्य रीतिग्रन्थ ठहराया गया है । हिन्दी रीतिग्रन्थो के अध्येताओ के मतानुसार 'पद्माभरण' पर तीन पूर्ववर्ती रीतिकारो का ऋण ठहराया गया है -

१. जयदेव का चद्रालोक

२. कुवलयानद

३. महाराज जसवत सिह का भाषा-भूषण

४. बैरी साल का भाषाभरण

पद्माभरण के औदाहरणिक भाग पर जसवत सिह, दूलह, बिहारी, मतिराम आदि कवियो का किंचित् प्रभाव लक्षित किया जा सकता है । कुछ विवादास्पद स्थलो को छोडकर अलकार विवेचन की दृष्टि से पद्माभरण स्पष्ट और सुबोध ग्रन्थ कहा जायगा । अलकार में जो स्वच्छता है उसके कारण यह ग्रन्थ उपादेय ही बन पडा है ।[1] हाँ, प्रकाण्ड पाण्डित्य और आचार्यत्व की प्रतीति जरूर नही हो पाती ।

जगद्विनोद—जगद्विनोद यो तो रस विवेचन सबधी ग्रन्थ है परन्तु उसका मूल प्रतिपाद्य 'नायिकाभेद' ही है । यह एक अत्यन्त विशद ग्रन्थ है जिसमे बडे विस्तार से नायिका के भेद-प्रभेदो का कवि ने मनोयोग पूर्वक वर्णन किया है । पद्माकर का यह ग्रन्थ काव्य-रसिको के बीच विशेष सम्मान पाता रहा है । लक्षण भाग की अपेक्षा इसका औदाहरणिक भाग ही पद्माकर कवि की अखड कीर्ति का सर्वप्रथम कारण ठहरता है । रसिक शिरोमणि साँवरे नदनद की वन्दना अथवा कृपा-याचना से इस काव्य का आरम्भ हुआ है । इसके पश्चात् कवि ने अपने आश्रयदाता जयपुर नरेश आमेर गढाधीश 'जगत सिह' का जयगान किया है । चार-पाँच छंदो में उनकी प्रशस्ति गायन के अनंतर लिखा है कि महाराज जगत सिह की इच्छापूर्ति के निमित्त

[1] पद्माभरण की विशद समीक्षा के लिए देखिये पद्माकर ग्रन्थावली की 'प्रस्तावना' पृ० ६२—७३ तथा हिन्दी अलकार साहित्य—डा० ओम प्रकाश पृ० १८२—१६० ।

ही उन्होने यह रस ग्रन्थ लिखा। सहर्ष कृतज्ञ भाव से महाराज 'जगत सिंह' की इच्छा पूर्ति करना तथा 'जगत के हित' के लिए भी रसग्रन्थ का निर्माण करना ये दो ऐसे कारण थे जिनकी प्रेरणा से पद्माकर ने यह रस ग्रन्थ लिखा। 'जगतविनोद' या 'जगद्विनोद' नाम सब प्रकार से सार्थक ही है। इसके अतिरिक्त रीतिग्रथकारो की परम्परा मे अपने कृतित्व द्वारा अमिट कीर्ति छोड जाना भी पद्माकर की इस रचना का लक्ष्य रहा होगा।

रस ग्रन्थ लिखते हुए लोकप्रसिद्ध मत के अनुसार शृंगार रस को ही शीर्षस्थ रस मानते हुए शृङ्गार के आलबन नायिका वर्णन से ही उन्होने रस चर्चा का श्रीगणेश किया है। नायिका का महत्व इतना अधिक हो गया है कि कवि ने शृगार के स्थायी भाव की चर्चा बाद मे की है तथा आलबन के अतर्गत भी नायक को नही नायिका को ही प्राधान्य देते हुए नायिका-निरूपण का कार्य शुरू कर दिया है। नायिका कौन है इस प्रश्न के उत्तर से ही उनका नायिका-निरूपण प्रारम्भ होता है—

रस सिंगार को भाव उर उपजत जाहि निहारि।
ताही को कवि नाइका बरनत विविध बिचारि।।

नायिका के ३ भेद होते है—१. स्वकीया २. परकीया ३. गणिका।

स्वकीया के अवस्था के आधार पर ३ भेद होते है—मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा। मुग्धा दो प्रकार की—अज्ञात यौवना और ज्ञात यौवना। ज्ञात यौवना के दो भेद—नवोढा और विश्रब्ध नवोढा। प्रौढा के भी दो भेद—रतिप्रिया और आनद सम्मोहिता। मध्या और प्रौढ़ा दोनो के तीन-तीन भेद बताए गए हैं—धीरा, अधीरा और धीराधीरा।

परकीया के दो भेद पहले बताए गए है ऊढा और अनूढा। इसके बाद षड् विध परकीया का भी वर्णन आता है—१ गुप्ता (इसके ३ भेद भूत सुरति सगोपना, वर्तमान सुरति सगोपना, भविष्य सुरति सगोपना) २. विदग्धा (इसके २ भेद वचन-विदग्धा और क्रिया विदग्धा) ३. लक्षिता ४ कुलटा ५. मुदिता ६. अनुशयना (इसके ३ भेद पहली, दूसरी और तीसरी अनुशयनाएँ)।

इसके बाद गणिका का निरूपण किया गया है पर उसके भेद-प्रभेद नही किये गये है। नायिका के ३ भेद (स्वकीया, परकीया, गणिका के अतिरिक्त) फिर किये गये है—

१ अन्य सुरति दुःखिता २. मानिनी ३. वक्रोक्तिगर्विता (रूप गर्विता, प्रेम गर्विता)।

इसके पश्चात् नये सिरे से फिर दशविध नायिकाओं का वर्णन है—१. प्रोषितपतिका २. खडिता ३. कलहातरिता, ४. विप्रलब्धा ५, उत्कठिता ६. वासक सज्जा ७. स्वाधीनपतिका ८. अभिसारिका ९. प्रवत्स्यत्प्रेयसी और १०. आगतपतिका।

इनमे से प्रत्येक के पाँच-पाँच भेद किये गए हैं—स्वकीया मुग्धा, स्वकीया मध्या, स्वकीया प्रौढा, परकीया और गणिका। अभिसारिका के ३ भेद और किये गए हैं—दिवा अभिसारिका, कृष्णा अभिसारिका, शुक्ला अभिसारिका।

नायिका के फिर ३ भेद किये गए—उत्तमा, मध्यमा और अधमा।

इसके पश्चात् आलबन विभाव के अतर्गत आने वाले नायक का निरूपण किया गया है। नायक के भेद इस प्रकार कहे गये है—१. अनुकूल २. दक्षिण ३. धृष्ट ४. शठ। उपपति और वैशिक मानी, वचन चतुर और क्रिया चतुर, प्रोषित, अनभिज्ञ आदि कतिपय अन्य नायक भेदो का भी विवरण दिया गया है। इसी सन्दर्भ मे श्रवणदर्श, चित्रदर्शन, स्वप्नदर्शन और प्रत्यक्षदर्शन का भी वर्णन हुआ है।

आलंबन विभाव की विशद चर्चा के अनंतर पद्माकर ने उद्दीपन विभाव का भी विस्तृत विवेचन किया है जिसके अतर्गत सखा, सखी, दूती और षटऋतु तथा इनके प्रभेदो का वर्णन आया है। सखा चार प्रकार के पीठमर्द, विट, चेट और विदूषक कहे गये हैं। सखी के निरूपण मे उसके चार प्रकार के कार्यों की चर्चा की गई है मंडन या शृङ्गार करना, शिक्षादान, उपालंभ और परिहास। दूतियाँ ३ प्रकार की होती हैं—उत्तमा, मध्यमा और अधमा, इनके दो मुख्य कार्य होते हैं विरह निवेदन और संघट्टन (नायक नायिका का सम्मिलन कराना); इसी सन्दर्भ मे स्वयंदूती का भी वर्णन किया गया है। षटऋतु वर्णन प्रसिद्ध ही है वसंत, ग्रीष्म, पावस, शरद, हेमंत और शिशिर।

इसके अनंतर अनुभावों का पद्माकर ने निरूपण किया है जिसके अन्तर्गत सात्विक भाव और हाव के भेद-प्रभेदो सहित लक्षणोदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। सात्विक भाव ६ प्रकार के कथित हुए है—१. स्तम्भ २. स्वेद ३. रोमाच ४ स्वरभग ५. कंप ६. वैवर्ण्य ७. अश्रु ८. प्रलय ६. जृंभा। हाव के १२ भेद बताए गए हैं—१. लीला २. विलास ३. विच्छित्ति ४ विभ्रम ५. किलकिंचित ६. ललित ७. मोट्टायित ८. विब्बोक ६. विहृत १० कुट्टमित ११. हेला १२. बोधक।

संचारी भावों का जिस क्रम से निरूपण हुआ है उसे पद्माकर ने एक छंद मे ही बता दिया है—

कहि निरवेद ग्लानि संका त्यों असूया मद श्रम
धृति आलस बिषाद मति मानिये।
चिंता मोह सुपन बिबोध स्मृति अमरष
गर्व उत्सुकता अवहित्थ ठानिये॥
दीनता हरष व्रीड़ा उग्रता सुनिद्रा ब्याधि
मरन अपसमार आवेगहु आनिये।

त्रास उनमाद पुनि जडता चपलतनाई
तेतिसौ बितर्क नाम याहि विधि जानिये ।।

इसके पश्चात् ९ स्थायी भावों —१ रति २. हास ३ शोक ४. क्रोध ५. उत्साह ६. भय ७. ग्लानि ८. आश्चर्य और ९. निर्वेद का कथन हुआ है। तदनंतर कवि इन्हीं से उत्पन्न होने वाले ९ रसो —१ शृगार २. हास्य ३. करुण ४. रौद्र ५. वीर ६. भयानक ७. वीभत्स ८. अद्भुत और ९. शात के विधिवत निरूपण मे क्रमशः प्रवृत्त हुआ है।

पद्माकर जी का यह रस-निरूपण तथा रसावयवो का विशद विवेचन पर्याप्त स्पष्ट और प्राजल जान पडता है। वह नितात व्यवस्थित एव क्रमबद्ध है तथा उदाहरण भाग का तो कहना ही क्या ? इसकी व्याख्या पद्माकर ने इस प्रकार की है—

मिलि विभाव अनुभाव अरु संचारिन के बृंद।
परिपूरन थिर भाव जो सुरस रूप आनंद ।।
जौ मन पाइ विकार कछु लखि दृढ होत अनूप।
तौं पूरन थिर भाव कों बरनत कवि रस रूप ।।

पद्माकर जी ने ग्रथारम्भ से ही नायिका, नायक आदि आलंबन एव सखा-सखी-दूती, ऋतु आदि उद्दीपन विभावो, अनुभावो, सचारियो और स्थायी भावो का क्रमशः निरूपण करते हुए इन रसागो की सक्षिप्त परिभाषाएँ भी प्रस्तुत की हैं तथा भेद प्रभेदो के कथन द्वारा उनके लक्षणो एवं उदाहरणो द्वारा अपने वक्तव्य विषय को अधिकाधिक पुष्ट बनाने की कोशिश की है तथा इसमे वे कृतकार्य भी हुए हैं। उनकी कुछ परिभाषाएँ देखिये—

नायिका रस सिंगार को भाव उर उपजत जाहि निहारि।
ताहि को कवि नाइका बरनत विविध बिचारि ।।

नायक सुन्दर गुन मंदिर जुवा जुवति बिलोकैं जाहि।
कविता राग रसज्ञ जो नायक कहिये ताहि ।।

उद्दीपन विभाव जिनहिं विलोकत हीं दुरत रस उद्दीपन होत।
उद्दीपन सु बिभाव है कहत कबिन को गोत ।।

अनुभाव जिनही ते रति भाव को चित मे अनुभव होत।
ते अनुभाव सिंगार के बरनत है कवि गोत ।।

संचारी भाव— स्थाई भावन को जिते अखि मुख रहे सिताब।
जे नव रस में संचरैं ते संचारी भाव ।।
स्थाई भावन में रहैत या विधि प्रकट बिलात।
ज्यों तरंग दरियाब में उठि उठि तितहि समात ।।

स्थायी भाव इस अनुकूल बिकार जो उर उपजत हैं आय ।
थायी भाव बखानही तिनहीं को कविराय ।।
है सब भावन मै सिरे टरत न कोटि उपाय ।
है परिपूरन होत रस तेई थाई भाव ।।

रस निरूपण करते हुए शीर्षस्थ रस शृगार का वर्णन फिर कुछ विस्तार से हुआ है । शृङ्गार के संयोग और वियोग तथा वियोग के फिर त्रिरूपो पूर्वानुराग, मान और प्रवास का विवरण प्रस्तुत किया गया है । मान लघु, मध्यम और गुरु के क्रम से तीन प्रकार का तथा प्रवास भी भविष्यत् प्रवास और भूत प्रवास के क्रम से दो प्रकार का कहा गया है । इसके अनतर वियोग की १० अवस्थाओ का कथन हुआ है—१. अभिलाषा २. गुण कथन ३. उद्वेग ४. प्रलाप ५. चिता ६. स्मृति ७. उन्माद ८. जडता ९. व्याधि और १०. मरण । पद्माकर ने इनमे से प्रथम ४ का तथा एक अन्य मूर्छा का तो लक्षणोदाहरण प्रस्तुत किया है परन्तु चिन्ता से लेकर मरण तक के लक्षणोदाहरण प्रस्तुत नही किये हैं और इसका कारण यह बताया है कि इन ६ विरहावस्थाओ का बखान संचारियो के निरूपण मे किया जा चुका है । इससे स्पष्ट है कि सचारियो के उक्त ६ नाम और ये ६ विरह दशाएँ उनकी दृष्टि मे एक ही है । समस्त रसो का कवि ने पृथक पृथक विवेचन किया है तथा प्रत्येक रस के अवयवो का पृथक-पृथक कथन भी किया है, इसके पश्चात् उनके सरस सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किये गए है । वीर के चार भेद युद्ध, दया, दान और धर्मवीर क्रमागत रूप मे ही कथित हुए है । शृंगारेतर रसो की ऐसी विवेचना तथा उनके ऐसे सरस उदाहरण प्रस्तुत करने वाले कम ग्रन्थ ही मिलेगे । यह ग्रथ भानुदत्त कृत रसमजरी की पद्धति पर लिखा कहा जाता है । ग्रन्थात मे कवि ने लिखा है कि जगत सिह महाराज की आज्ञा से रसिको को वश में करने के लिए मैंने 'जगद्विनोद' की रचना की है । जगद्विनोद का औदाहरणिक भाग निश्चय ही रसिको के लिए वशीकरण मत्र है ।

ग्वाल

ग्वाल कवि वृन्दावन (मथुरा) के निवासी कहे जाते हैं । रीतियुग के अतिम कवियो मे ग्वाल कवि का स्थान विशेष महत्वपूर्ण है क्योकि एक तो इनमे रीति की छाप भरपूर है दूसरे ह्रासशील रीतियुग की प्रवृत्तियाँ इनमे पूर्णतः उभरे हुए रूप में गोचर होती है । अपने युग के तो ये बडे ही प्रसिद्ध कवि हो गए है तथा काव्यरसिकों के बीच इनके कवित्तो का बडा आदर सम्मान रहा है । इनका सारा जीवन काव्य-रचना और दरबारो की सेवा मे ही व्यतीत हुआ । इन्होने देशाटन बहुत किया था तथा जीवन के प्रति मौज-बहार की दृष्टि रखते थे ।

वृत्त

ग्वाल कवि सेवाराम नामक किसी बन्दीजन के पुत्र थे।[1] ग्वाल नाम के एक कवि विक्रम की १८वी शती मे भी हो गए है जिनके छंद कालिदास हजारा मे उपलब्ध हैं परन्तु हमारी चर्चा के विषय ग्वाल कवि विक्रम की १९ वी शती के उत्तरार्ध मे अस्तित्वशील थे। इनका जन्म कुछ लोग सं० १८४८ तथा कुछ सं० १८५९ मानते है। ये जाति के ब्रह्मभट्ट (बदीजन) थे। वृन्दावन मे ये पैदा हुए थे और प्रारंभिक जीवन भी इनका वही बीता पर बाद मे ये मथुरा चले आए थे और वही रहने लगे। कहा जाता है कि विद्याध्ययन के लिए ये काशी गए तथा वहाँ बरेली के किसी खुशहालराम के यहाँ रह कर इन्होने अध्ययन किया। इनके सबंध मे प्रसिद्ध है कि इनके गुरु ने रुष्ट होकर इन्हे अपनी पाठशाला से बाहर कर दिया परन्तु बाद मे ये किसी तपस्वी अथवा फकीर के आशीर्वाद से कुशल कवि बन गए। कथा यों है कि एक मस्त फकीर अथवा कोई सिद्धपुरुष खुशहालराम के यहाँ आया। उसने पीने के लिए शीतल जल माँगा। जल से तृप्त होकर उसने खुशहालराम से कुछ माँगने को कहा। उन्होने अपने शिष्य ग्वाल के लिए अच्छी कवित्व शक्ति माँगी। फकीर ने इसी बात पर खुशहालराम का विशेष आग्रह देखकर धरती पर पडा हुआ एक तिनका उठाया और उसी से ग्वाल की जीभ पर कुछ लिख दिया और इनके सिर पर तीन बार हाथ फेर कर इन्हे कवीश्वर हो जाने का आशीर्वाद दिया। बस उसके बाद से ही इनमे बुद्धि की कुशाग्रता और कवित्व की प्रतिभा दीप्त हो उठी। कवित्व रचना द्वारा इन्हे जब यश प्राप्त होने लगा तो ये पजाब चले गए और वहाँ पहले नाभा नरेश महाराज जसवंत सिंह के आश्रय मे रहे और बाद मे लाहौर महाराजा रणजीत सिंह के दरबार में पहुँचे। लाहौर मे पजनेश कवि के ये अच्छे प्रतिस्पर्धी हुए। महाराज रणजीत सिंह की मृत्यु के अनतर ये उनके पुत्र शेर सिंह द्वारा विशेष रूप से सम्मानित हुए। इन्हे बडी जागीर मिली तथा स्वय राजा शेर सिंह की मृत्यु हो जाने के कारण इनका मन वहाँ न लगा और ये उधर के कुछ पहाडी इलाको का भ्रमण करते हुए तथा कुछेक स्थानो पर बसते बसाते मथुरा लौट आए। पजाब से लौटने पर इनकी ऊंची कवि-प्रतिष्ठा से प्रभावित हो रामपुर रियासत के नवाब यूसुफ अली खाँ ने इन्हे अपने यहाँ आमंत्रित किया। ये उनके दरबार मे गए और कुछ समय तक वहाँ रहे भी। ग्वाल संबधी कुछ वृत्त उर्दू शायर अमीर अहमद मीनाई ने अपने 'इंतखाबे यादगार' मे

---

१. ग्वाल सबधी विशेष जानकारी के लिए देखिये:—

(क) श्री प्रभुदयाल मीतल का लेख 'ब्रजभारती' (वर्ष ९, सख्या ४)

(ख) श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का लेख 'हिन्दी अनुशीलन : धीरेन्द्रवर्मा विशेषाक' (वर्ष १३, अक १-२)

प्रस्तुत किया है जो प्रामाणिक माना जा सकता है क्योकि मीनाई के समय मे ही ग्वाल भी रामपुर दरबार मे कुछ समय तक रहे । स० १६२४ मे मथुरा मे इनकी मृत्यु हुई (कुछ लोगो के अनुसार स० १६२५ मे रामपुर मे ही इनका इन्तकाल हुआ) सारा जीवन इन्होंने काव्य रचना करते हुए और राजदरबारो मे रहते हुए गुजार दिया। प्रकृति से ये मस्तमौला थे, स्वच्छद और तरंगी । रहन सहन मे ये राजाओ का-सा ठाठ-बाट रखतै थे तथा आमोद-प्रमोद सहित मेलजोल पूर्ण भलमनसाहत की जिन्दगी गुजार देने मे ही इनका विश्वास था । जीवन मे जो सुख वैभव प्राप्त कर लोगे यही तुम्हारा है शेष कुछ इस ससार मे रक्खा नही है ऐसा इनका विश्वास था ।

कृतियाँ

ग्वाल के लिखे बहुत से ग्रन्थ बताये जाते है, किसी-किसी ने तो उनकी संख्या ६० से ऊपर तक कह दी है । उनकी प्रमुख कृतियाँ इस प्रकार है—(१) यमुनालहरी (सं० १८७६)—राधा हरि का ध्यान करके सं० १८७६ की कार्तिक पूर्णिमा को इन्होंने यमुना लहरी नामक ग्रन्थ का प्रणयन प्रारम्भ किया जिसके पढने लिखने से आनद प्राप्त होगा और सुर-पथ का पता लगेगा ऐसा इनका कथन है । यही इनकी सर्वप्रथम रचना है । यह ग्रंथ इन्होने पद्माकर कृत गगा लहरी के जोड़ पर लिखा परन्तु उसका-सा सौदर्य इनकी कृति मे नही आ पाया है । यमुना लहरी को विशद ग्रंथ बनाने के उद्देश्य से इन्होने उसमे नव-रस वर्णन और षट्ऋतु वर्णन भी जोड दिया है जिससे इन पर रीति की गहरी छाप का भो पता चलता है । (२) रसिकानद (स० १८७६)—इसमे रस एव नायिकाभेद का विवेचन हुआ है । इनका प्रथम रीतिग्रन्थ यही है । इस ग्रंथ मे 'नेह निबाह' नामक अपनी एक अन्य कृति का भी उल्लेख इन्होने किया है । (३) हमीरहठ (सं० १८८३)—ग्वाल ने यह वीर काव्य चन्द्रशेखर वाजपेयी के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हम्मीरहठ' की देखा देखी लिखा जिसका वस्तुविधान तो लगभग वही का वही है परन्तु वर्णन शैली इनकी अपनी है । इसकी रचना स० १८८३ की कार्तिक अमावस्या को अमृतसर मे हुई जिस समय ये पजाब मे रहा करते थे । (४) कृष्ण जू को नख-शिख (स० १८८४), (५) राधा-माधव-मिलन, (६) राधा-अष्टक (स० १८८६), (७) नेह निबाह—इस रचना का उल्लेख रसिकानन्द मे ग्वाल ने किया है जिससे इसकी रचना उससे पूर्व होनी सिद्ध होती है । नेह-निबाह मे कुल ३२ छद हैं जिनमें रसखान, घनआनन्द, बोधा, ठाकुर आदि स्वच्छन्द प्रेमी कवियो की तरह प्रेम पंथ की विलक्षणताओ का आख्यान किया गया है । इस रचना मे कवि के प्रेम सम्बन्धी विचार एवं आदर्श सरस काव्यात्मक शैली में प्रस्तुत किये गए है, नीरस नीति कथन अथवा उपदेशात्मक शैली में नही । (८) बंसी लीला या बंसी-

(स० १८६१)—इसका दूसरा नाम 'कविदर्पण' भी है, इसमे काव्य-दोषो का विवेचन हुआ है। (१२) **साहित्यानंद** (सं० १६०४), (१३) **रस रंग** (स० १६०४)— रस विवेचन एव नायिकाभेद का ग्रंथ, (१४) **अलंकार भ्रम-भंजन**—यह अलकार विवेचन सम्बन्धी रीति ग्रन्थ है, (१५) **प्रस्तार-प्रकाश**—पिंगल का ग्रथ, (१६) **भक्ति-भावन** (सं० १६१६)—इसका एक छोटा सस्करण 'कविहृदय विनोद' नाम से प्रकाशित हुआ है जिसमे बहुत से स्फुट कवित्त सग्रहीत हैं। भक्ति-भावन इनकी अन्तिम रचना है। इसमे इनकी बहुत सारी भक्ति सबधिनी रचनाएँ सकलित हैं जैसे यमुना लहरी, श्रीकृष्ण को नख-शिख, गोपी पच्चीसी, राधा अष्टक, कृष्ण अष्टक, राम अष्टक, गगा जी के कवित्त, देवी-देवतान के कवित्त, गणेशाष्टक, ध्यानादि के कवित्त, षड्ऋतु वर्णन, अन्योक्तियाँ और मित्रता विषयक रचनाएँ। इस प्रकार यह एक विशाल संग्रह ग्रथ है। 'कविहृदय विनोद' मे इसी की बहुत सारी रचनाएँ मिलेगी। इस ग्रंथ मे ग्वाल की ब्रजभाषा के अतिरिक्त पूर्वी हिन्दी, गुजराती, पजाबी आदि भाषाओ की रचनाएँ भी सग्रहीत है। इस प्रकार ग्वाल का रचनाकाल स० १८७६ से सं० १६१६ तक ठहरता है। लगभग ४० वर्षों तक ये काव्य-रचना में प्रवृत्त रहे।

ग्वाल का रीति-निरूपण

ग्वाल का लिखा साहित्य परिमाण मे प्रचुर है परन्तु ये अपनी कवित्व शक्ति की अपेक्षा अपने रीतिग्रथो के लिये अधिक प्रसिद्ध रहे हैं। इनकी बुद्धि रीति के पीछे-पीछे खूब दौडती थी जिससे ये अपनी सभी रचनाओ मे रीति की रगत जरूर मिला देते थे। नख-शिख, षड्ऋतु, प्रकृति वर्णन आदि सबधिनी रीतिबद्ध रचनाएँ जो इन्होने की वे तो की ही परन्तु इन्होने कई रीति ग्रथ भी लिखे, उदाहरण के लिए रस और नायिकाभेद विवेचन के लिए लिखित इनका 'रसिकानंद' और 'रसरग' अलकारो के विवेचनार्थ लिखा गया 'अलकार भ्रम-भजन', काव्य दोषो के निरूपण के लिये लिखा गया 'दूषण दर्पण' (या कविदर्पण), पिंगल निरूपण से सम्बन्धित ग्रन्थ 'प्रस्तार-प्रकाश' और सम्भवतः सम्पूर्ण साहित्यशास्त्र को लेकर लिखा गया 'साहित्यानन्द'। खेद है कि ग्वाल की सभी कृतियाँ आज सुलभ नही है।

रसिकानंद—इसको कुछ विद्वानो ने ग्रन्थ परिचय के अभाव मे अलकार ग्रन्थ कह दिया है किन्तु जैसा इसके नाम से ही स्पष्ट है यह रस-विवेचन का ग्रन्थ है और इसके अन्तर्गत नायिकाभेद का भी निरूपण हुआ है। उक्त विषयो के निरूपण मे ग्वाल ने अपनी कुछ मौलिकता भी प्रदर्शित की है, उदाहरण के लिये नायिकाभेद के अन्तर्गत नायिकाओ के जो विविध प्रकार से भेदोपभेद किये जाते हैं उसके आधार का इन्होने संकेत कर दिया है जो अन्य नायिकाभेदकारो मे नही मिलता। इन्होने उस

आधार को ही हमारे सामने प्रस्तुत कर दिया है जिसे लेकर नायिकाभेद निरूपण किया जाता रहा है और बताया है कि जाति के आधार पर नायिका के पद्मिनी, चित्रिणी आदि भेद किये गए है। इसी प्रकार अश के आधार पर दिव्य, अदिव्य, दिव्यादिव्य आदि, गुण के आधार पर उत्तमा, मध्यमा आदि, कर्म के आधार पर स्वकीया, परकीया आदि तथा वय के आधार पर मुग्धा, मध्या आदि भेद किये गये हैं। गुण श्रवण, चित्र दर्शन, स्वप्न दर्शन और प्रत्यक्ष दर्शन आदि जो चार प्रसिद्ध भेद दर्शन के बताये जाते है उससे भी अधिक भेद इन्होने वाणी, गुण, पत्र, नादध्वनि आदि के आधार पर कर दिये है और इस प्रकार दर्शन के १६ भेदो की प्रतिष्ठा की है। नायिका के ही समान जाति के आधार पर नायक का भी विभाजन किया है। रस का विवेचन करते हुए भी ये परम्परा से आगे गए है तथा इन्होने भक्ति को भी रस स्वीकार किया है और उसके दास्य, सख्य और वात्सल्य भेदो की भी चर्चा की है। इस सदर्भ मे इन्होने गौड संप्रदायानुयायी आचार्य रूप गोस्वामी के 'भक्ति रसामृत सिधु' का भी उल्लेख किया है। ग्वाल ने थोडा बहुत खडन-मडन का कार्य भी किया है; उदाहरण के लिए इन्होने केशवदास को रसिकप्रिया के आधार पर अभिसारिका के ३ अन्य भेदो—कामाभिसारिका, प्रेमाभिसारिका और मत्ताभिसारिका-को स्वीकार करके उन्हे पुष्ट किया है तथा कुलपति के काव्य लक्षण सम्बन्धी मत का खडन कर दिया है। भाषा और सस्कृत के अनेकानेक रीतिग्रन्थो का इन्होने पर्याप्त उपयोग किया है तथा रुचिपूर्वक रीति-निरूपण मे प्रवृत्त हुए हैं। यह बात रीति के अधिकांश कर्त्ताओ मे नही मिलती। इस प्रकार ग्वाल रीति-निरूपण की सच्ची और असली स्पृहा तथा प्रवृत्ति रखने वाले रीतिकार थे। इन्होने बिना संकोच अन्य कवियों की कविता के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। सस्कृत रीति ग्रन्थो का इनके समान मथन करने वाला तथा इनकी-सी रीतिपरक दृष्टि रखने वाले आचार्य रीति युग मे उँगलियों पर ही गिने जा सकते हैं। रसिकानद नामक ग्रन्थ की रचना स० १८७९ मे हुई जिस समय ये नाभानरेश शालिवाहनवशी महाराज जसवंत सिंह के आश्रित कवि थे। इसके अनुसार इनके पूर्व पुरुषो का क्रम इस प्रकार है—माथुर—जगन्नाथ—मुकुन्द—मुरलीधर—सेवाराम—ग्वाल। इनका 'साहित्यानद' नामक ग्रन्थ सम्भव है 'रसिकानद' से भी विशद हो तथा उसमे शब्दशक्ति आदि अन्य काव्यागो का भी निरूपण हो जैसा कि इनकी प्रवृत्ति से भी पता चलता है और ग्रन्थ के नाम से भी। 'रसिकानद' मे ग्वाल के रीति-निरूपण का वैशिष्ट्य स्पष्ट देखा जा सकता है।

रस रंग—इनका दूसरा महत्वपूर्ण रीति ग्रन्थ है जिसमे रस तथा नायिका-भेद का विशद विवेचन हुआ है। यह एक विशालकाय ग्रन्थ है जो ८ अध्यायो में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय को 'उमग' कहा गया है। रस विवेचन का क्रम इस प्रकार है—पहली 'उमग' मे स्थायी भाव, अनुभाव, सात्विक भाव और संचारी भाव

का विशद निरूपण हुआ है। दूसरी, तीसरी और चौथी 'उमगो' मे नायिका-भेद कथित है। आगे के 'उमग' सखी और दूती वर्णन से संबधित है। अन्तिम 'उमग' में शृंगारेतर रसो का निरूपण हुआ है। शात रस के अन्तर्गत 'गुरूपदेश' एव 'भक्त-पक्ष' शीर्षको मे इन्होने बहुत सी बडी सुन्दर वैराग्य प्रवण रचनाएँ प्रस्तुत की है। इस ग्रन्थ की रचना सं० १६०४ मे हुई जब ये मथुरा मे रहने लगे थे जैसा कि ग्रन्थ से ही प्रकट है—

संबत वेद[४] ख[०] निधि[९] ससी[१] माघव सित पख संग।
पंचमि ससि कौ प्रगट हुअ ग्रंथ जु यह रस रंग।।

रस एवं उसके उपकरणो का विवेचन करते हुए उनका लक्षण दोहों मे दिया गया है जिनमे सक्षिप्तता के साथ-साथ स्पष्टता का गुण विशेष है। भाव, स्थायीभाव, विभाव, सचारी भाव, अनुभाव आदि का अत्यन्त स्पष्ट निरूपण कवि ने किया है तथा उन्हे अपनी रचनाओ से उदाहृत किया है। ग्वाल ने परिभाषा को 'लक्षण' और उदाहरण को 'लक्ष' कहा है। ग्वाल ने एक-एक रस से सबधित अनेकानेक अनुभावो का वर्णन बडे विस्तार से किया है।

ग्वाल के रस विवेचन की कुछ बाते देव के अनुसार हैं जैसे उन्होने देव की ही भाँति सात्विक भावो को अनुभावो के अन्तर्गत स्थान न देकर सचारी भावो के अन्तर्गत रखा है। सात्विक भावो के देव ने दो भेद किये है—कायिक और मानसिक। ग्वाल ने उनको 'तनज' और 'मनज' कहा है। सात्विक भाव 'तनज' हैं सचारी 'मनज'—

पुनि संचारी भाव सो द्विविध होत कवि ईस।
मन सहाय सौ तनज बसु मनज कहत तैंतीस।।

देव के ही समान ग्वाल ने भी कुछ अलग ढग से रस के भेदो का कथन किया है। देव के अनुसार रस दो प्रकार का होता है—अलौकिक और लौकिक। अलौकिक रस तीन प्रकार का—स्वाप्निक, मानोरथिक और औपनयनिक और लौकिक रस ९ प्रकार के जो प्रसिद्ध ही है। ग्वाल ने देव से ही रस-विभाजन के सूत्र को ग्रहण किया है फिर भी देव से कुछ भिन्न ढग से उन्होने रस भेद का कथन किया है—

चिदानन्द घन ब्रह्म सम रस है श्रुति परमान।
दुविधि सुरस लौकिक जु इक, दुतिय अलौकिक जान।।
रस जु अलौकिक है त्रिधा, स्वाप्निक एक विचार।
मनोरथिक सुजानिये, औपनयनिक कहि धार।।
औपनयनेक जो रस लिख्यौ, सो नौ निधि मतिधार।

देव की अपेक्षा ग्वाल का यह रस भेद कथन कुछ उलझा हुआ है।

ग्वाल के रस विवेचन की कोई-कोई बात केशवदास के अनुसार है उदाहरण

के लिये उन्होने केशवदास की ही अनुकृति पर भाव के चार भेद कहे हैं। विभाव, स्थायी भाव, अनुभाव और सचारी भाव—

भाव सु चारि प्रकार है कहियत प्रथम विभाव।
पुनि कहि थाइ भाव को लिखिहौं फिर अनुभाव ।।

यह कथन सही नहीं है विभाव और अनुभाव भावो के अन्तर्गत निरूपित नही किये जा सकते। विभावादि के सम्बन्ध मे उनकी धारणा ठीक न हो यह बात नही। विभाव निरूपण करते हुये आलम्बन और उद्दीपन का उन्होने स्पष्ट पार्थक्य निर्दिष्ट किया है—

हेतु रू। औ वृद्धि कर रस को सो जु विभाव।
दोई भाव की संगना सो विभाव बरनाव ।।

सचारी भाव और स्थायी भाव का अन्तर स्पष्ट करते हुए उन्होने एक बडी ही मार्मिक बात कही है जो लक्ष्य करने की है। बहुत से भाव स्थायी भाव भी हैं और सचारी भी, इन्हे पृथक किस प्रकार किया जाय ? इस सम्बन्ध मे वे कहते है कि जो स्थायी भाव जिस रस का है वह जब तक उसी रस मे है तब तक स्थायीभाव है, अन्य रसो की सीमा मे प्रवेश करते ही वह संचारी या व्यभिचारी भाव हो जाता है—

जिहि रस कौ जो थिति कह्यौ तिहिं रस मैं थिति जान।
वहो भाव पर रस विषै संचारी पहिचान ।।

सात्विक भावो की चर्चा करते हुए उन्होने एक और नई बात कही है। सात्विक भाव ८ माने गये हैं पर ग्वाल का कहना है कि ५ ज्ञानेन्द्रियो मे से प्रत्येक इन आठो सात्विक भावो को व्यक्त कर सकती हैं और इस प्रकार सात्विक भावों की सख्या ४० हो जाती है। यह नवीनता सूक्ष्मात्र की ही है तथ्यपरक कम क्योकि प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय सात्विक भावों को ज्ञापित नही कर सकती।

इस प्रकार बडे मनोयोग से ग्वाल ने रस-विवेचन किया है तथा कई नई बाते भी उसमे सन्निविष्ट की है। उन्होंने नवरसो मे शृगार निरूपण पहले किया है। आलबन वर्णन के अन्तर्गत नायक नायिका भेद आया है। नायिकाभेद मे कुछ नई नायिकाएँ कथित हुई है जैसे सुखसाध्या, दुखसाध्या, बहुकुटुम्बिका आदि। नायक भेद बतलाते हुए नायिकाभेद सम्बन्धिनी पद्मिनी, चित्रिणी आदि जातिगत विभाजनो के ही समान कामशास्त्रीय आधार पर नायक के भी भेद बतलाये गये है। सयोग शृगार के अन्तर्गत सखी, हाव-भाव आदि और वियोग शृगार के अन्तर्गत प्रवास, पूर्वराग, मान तथा वियोग की दस दशाएँ आदि वर्णित हुई हैं। उद्दीपन विभाव के वर्णन में षट्ऋतु वर्णन के अत्यन्त सरस एव काव्यात्मक छंद सग्रहीत है। इनके ऋतुवर्णन में राजसी ठाट-बाट या शाही शान शौकत का पूरा विवरण मिलता है। 'रसरंग' के

अन्तिम उमग मे श्रृङ्गार के अतिरिक्त अन्य आठ रसो का निरूपण हुआ है। ग्वाल का रस-निरूपण रीति की प्रगाढ रुचि का परिचायक है और निरूपण-वैशिष्ट्य की दृष्टि से अपने युग के रीतिकारो मे ग्वाल की महत्ता स्वीकार करनी पडेगी। कोई बहुत बडी या असाधारण रूप से मौलिक उद्भावना उनमे भले ही न मिले और कुछेक साधारण भूले भी उनके रस-निरूपण मे मिल जायँ फिर भी विषय के प्रतिपादन मे स्वच्छता और सुबोधता है। विवादास्पद विषयो या प्रसंगो को ग्वाल ने अधिक स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया है। काम चलता कर देने की प्रवृत्ति उनमे नही। रस-रंग के आधार ग्रथ है भानुदत्त की रसमजरी और रस-तरगिणी जिसे कवि ने स्वय 'छल' सचारी की चर्चा करते हुए स्वीकार किया है—

> भानुदत्त जू नै लिख्यो रस तरंगिनी माँहि।
> नूतन इक औरौ बनत छल सचारी चाहि॥

रसो के स्वनिष्ठ और परनिष्ठ भेद रसतरगिणी के ही आधार पर ग्वाल ने किये है। इसके साथ ही इन्होने श्रमपूर्वक हिन्दी के पूर्ववर्ती रीतिकारो केशव, देव आदि के रीतिग्रथो का भी अनुशीलन किया था। ग्वाल ने रीतिशास्त्र सम्बन्धी पूरे अभिनिवेश के साथ इस ग्रथ का प्रणयन किया है।

अलङ्कार-भ्रम-भंजन—यह अलकार निरूपण करने वाला ग्रंथ है तथा इसमे अलकार सम्बन्धी विवादास्पद बातो को सुलझाया गया है जैसा कि ग्रथ के नाम तथा उसके कर्त्ता की प्रवृत्ति से भी पता चलता है। अनुमान किया जा सकता है कि अलकार निरूपण विषयक यह एक विशद् ग्रंथ होगा। यह साधारणतः सुलभ नहीं है। अंशतः ही यह ब्रजभारती मे प्रकाशित हो चुका है जिसमे अनुप्रास, यमक, चित्र और पुनरुक्तवदाभास नामक चार शब्दालकारो और उपमा, प्रतीप, रूपक, परिणाम और उल्लेख का निरूपण देखा जा सकता है। ग्रंथ के आरम्भ मे कृष्ण की और अलकारो की एक साथ कौशलपूर्वक वन्दना की गई है। उपलब्ध अलकार निरूपण से विवेचन शैली की सूक्ष्मता एवं विशदता का बोध होता है और अलंकार की सम्यक व्याख्या का सहज ही अनुमान हो जाता है। ग्रथ के आरम्भ मे अलकार के महत्व पर भी सुन्दर एव अभिनव ढग से कवि का अभिमत प्राप्त होता है—

> हेमादिक भूषनन को ग्रहन उतारन होत।
> ये भूषन तन मन दियत होत न जुदौ उदोत॥

अलकारो को कविता कामिनी का जो आभरण कहा गया है उस परम प्रसिद्ध उक्ति की नई व्याख्या करते हुए ग्वाल ने कहा है कि कामिनी के आभूषण तो पहने भी जाते हैं और उतारे भी जाते है आशय यह कि धारणकर्त्ता की रुचि स्वर्णाभरणो के प्रति कम भी हो सकती है पर कविता के अलकार तो कविता से कभी पृथक होते ही नही, वे काव्य के तन-मन (शब्द और अर्थ) दानो के उपकारक और आह्लादक हैं।

अलकारों की महिमा के अनन्तर उन्होने उनका लक्षण कुछ नये ढग से कहने की चेष्टा की है—

रस आदिक ते व्यंग तें होय भिन्नता जाहि।
सब्दारथ ते भिन्न हैं सब्दारथ के माहि ॥
होई विषय संबंध करि चमत्कार कौ कर्न।
ताह सों सब कहत हैं अलंकार इम बर्न ॥

ग्वाल का कहना यह है कि रस और व्यंग्य जिस प्रकार शब्द से भिन्न वस्तु हैं, वे व्यग्य है, ध्वनित होते है कथित नही बहुत कुछ उसी प्रकार अलकार भी शब्द तथा अर्थ से कुछ भिन्न ही होता है अपने सौंदर्य एवं चमत्कार के कारण। अलंकार का यह लक्षण तथा ग्वाल की ये मान्यता कुछ नई है जिसके माध्यम से कवि ने अलंकार के महत्व को और भी अधिक बढा दिया है। अलकारो की यह अभिनव व्याख्या वैद्यनाथ सूरि कृत कुवलयानन्द की व्याख्या 'अलंकार चन्द्रिका' के आधार पर हुई है—

अलंकारत्वं च रसादि भिन्न वयंग्यविभन्नत्वे सति शब्दार्थान्तर निष्ठाया।
विषयितासंबंधावच्छिन्ना चमत्कृतिजनकतावच्छेदकता तदवच्छेदकत्वम् ॥

अलंकार लक्षण के अनन्तर उपमान उपमेयादि आधारभून शब्दो की व्याख्या हुई है। तत्पश्चात शब्दालंकारो का विवेचन है। शब्द एवं अर्थ दोनो के अलंकारो की विवेचना करते हुए ग्वाल की दृष्टि सस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थो काव्य प्रकाश, साहित्यदर्पण, चन्द्रालोक और कुवलयानन्द पर रही है। इन्होंने यथाशक्ति काव्यरीति का विवेचन निष्ठापूर्वक किया है इसीलिये इनके रीति ग्रन्थों में विषय प्रतिपादन का अधिक उत्कर्ष भी देखा जा सकता है। ग्वाल ने अपने वक्तव्य विषय को सही रूप में समझने और निरूपित करने की चेष्टा की है तथा यथास्थान उन्होंने संस्कृत के आचार्यों के मतों की परीक्षा भी की है और अपना मत व्यक्त करने का भी साहस किया है। जहाँ-तहाँ ब्रजभाषा गद्य का भी सहारा लेकर इन्होंने अपने मत को स्पष्ट करने की चेष्टा की है और स्थान-स्थान पर सस्कृत आचार्यों के मतों का भी हवाला दिया गया है। इस प्रकार यथासम्भव परिपूर्णता के साथ और पूरी मानसिक तन्मयता के साथ ग्वाल रीतिकर्म में दत्तचित्त हुए हैं फलतः इन्हे हिन्दी के आचार्य श्रेणी के रीतिकारो यथा चिन्तामणि, कुलपति, केशव, भिखारीदास, प्रतापसाहि आदि की कोटि मे गिना जाना चाहिए।

दूषण दर्पण—इसमें काव्य दोषों पर विचार किया गया है तथा ऐसा करते हुए उन्होंने बिहारी आदि भाषा कवियों की रचनाओ के उदाहरण दे देकर उनमें दोष दिखाये हैं। इस प्रकार का समीक्षा कर्म करने वाले रीतिकार रीतियुग मे बहुत नहीं हुए। इन्होंने बिहारी की रचना से दोष के कई उदाहरण प्रस्तुत किये है तथा इनका

दोष विवेचन श्रीपति कृत काव्य सरोज में आये दोष विवेचन की अपेक्षा अधिक विशद एवं प्रशस्त है। ग्वाल ने काव्य के दशांगो का निरूपण तो नही किया (सम्भव है साहित्यानन्द मे किया भी हो) परन्तु जो भी रीति रचनाएँ उनकी प्राप्त हैं उनसे यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाती है कि ग्वाल मे अपने युग को देखते हुए अच्छी तथा पर्याप्त विकसित समीक्षा दृष्टि थी। उनके इस ग्रन्थ से काव्य को निर्मल बनाने में अनेकानेक कवि कीर्तिकामियो को सहायता मिली हो तो कोई आश्चर्य नहीं। दूषण-दर्पण का दूसरा नाम 'कवि दर्पण' है और उस नाम की सार्थकता इस दोहे से सिद्ध है—

जो कवि दर्पन सम सदा निरखय याहि बनाय।
कबिता दर्पन माहि तिहि दोष न दरसय आय ॥

ग्वाल का मत है कि अविचारित काव्य से उतना ही दुख होता है जितना एक रोगी शरीर से। काव्य के सम्बन्ध मे इतनी ईमानदारी हिन्दी कविता के किसी युग में बर्ती गई हो ऐसा दिखाई नही देता—

रोग दोष सम अ'सत कहुँ सुखद काव्य की देह।
बिन बिचार कहुँ कहत हैं अविचारित दुख गेह ॥

ग्वाल का कवित्व

रीति ग्रन्थो के प्रति ग्वाल की असाधारण अभिरुचि देखकर कुछ लोगों ने यह भी कह दिया है कि उनका रीतिकार उनके कवि की अपेक्षा अधिक अच्छा है। ग्वाल की कविता मे जो बाते विशेष रूप से द्रष्टव्य है वे हैं गहरी शृङ्गारिकता, ऋतुवर्णन अथवा प्रकृति चित्रण, कतिपय अनुभव गर्भित उक्तियाँ या नीत्योक्तियाँ आदि। ऋतु-वर्णन भी शृङ्गार के उद्दीपक ही होकर आए हैं हाँ यमुना का वर्णन स्वतन्त्र है जो प्रकृति चित्रण उतना नही कहा जा सकता जितना महिमा गायन। वह एक प्रकार से स्तवनात्मक काव्य का अंग है।

शृङ्गारिक रचनाओ मे जहाँ प्रणय के नानाविध सरस प्रसंग कल्पित एवं वर्णित हुये है वही छिछली मानवी वृत्तियों का प्रकाशन भी बेहिचक किया गया है। शुद्ध आयुष्मिकता का स्वरूप ऐसे छन्दो मे देखा जा सकता है—

गरकि-गरकि प्रेम पारी परजंक पर
धरकि धरकि हिय हौल सो भभरि जात।
ढरकि ढरकि जुग जंघन जुटन देई
तरकि तरकि बंद कंचुकी के करि जात।
'ग्वाल' कवि अरकि-अरकि पिय थामैं तऊ
थरकि-थरकि अंग पारे लौं बिखरि जात।

सरकि-सरकि जाय सेज पै सरोजनैनी
फरकि फरकि केलि फंद ते उछरि जात ।।

इस छन्द मे एक ओर जहाँ पाठक लज्जा से गड जायगा और दाँतो तले उँगली दबा लेगा वही कवि की प्रगल्भता और कुठाहीनता की भी दाद दिये बिना न रहेगा। शुद्ध कवित्वकामियो के लिये तो श्लीलता-अश्लीलता का कोई प्रश्न रहता नही। ऐसे लोगो के बीच ऐसी रचनाएँ विशेष प्रतिष्ठा भी प्राप्त कर ले तो कोई आश्चर्य नही पर काव्य की सामाजिक सदाशयता का विचार करने वाले ऐसी रचनाओ पर आक्षेप किये बिना न रहेंगे।

नायिका का सौंदर्य—नायिका के सौदर्य का वर्णन करते हुये कवि ने उसके तन को वन सा ठहराया है और लाल की आखेटप्रियता को लक्ष्य करके कहा है कि तरुणी के तन से अधिक उपयुक्त और कौन सा वन हो सकता है जिसमे उसकी आखेट की प्रवृत्ति की सम्यक तुष्टि हो सके। वनस्थली का सारा परिपार्श्व तो नायिका के शरीर मे ही अवस्थित है—

नखशिख रूप की झलाझली है सघनाई
जंघ केल नाभि कूप आवै दरशन मैं।
हाथ मैं न अचै कटि केहरि दुबीच तहाँ,
उदर सरोवर अपार है तरन मैं।
'ग्वाल' कवि कुच-कोक दुरे कर वासन तें,
नैन ये न मृग भरैं चौकडी चलन मैं।
जो पै तुम्हें सौख है सिकार हीं सों प्यारे लाल,
तौ पै क्यूँ न खेलौ तरुनी के तन-बन मैं।।

तरुणी के सौंदर्य वर्णन की यह भी एक परिपाटी रही है जिसमे उसके शरीर को वन-उपवन आदि नाना प्राकृतिक उपकरणो के समक्ष ठहरा दिया गया है। समक्ष भी ठहरा दिया गया है प्राकृतिक उपकरण विशेष लेकर साग रूपक का पूरा ठाठ खडा कर दिया गया है जिससे काव्यो में चमत्कार पैदा हो गया है और नायिका के सौन्दर्यातिशय्य की व्यजना भी पूरी-पूरी हो गई है। तरुणी के सौदर्य-वर्णन के ही संदर्भ मे सद्यःस्नाता का चित्र देखिये—

वाल ताल तीर मैं तमाल की तराईं तरैं,
तन तनजेब सों दुरावै गुन गाँसे मैं।
न्हाय के नवेली कढ़ी नाइ के नुकीली नैन,
चैन की चलन मढ़ी मैन-प्रेम-पासे मैं।
'ग्वाल' कवि ऊँचे वे उरोज की अगारिन पै,
लिपटो अलक ताके ललित तमासे मैं।

कंचन के कलस सुधा के भरे जानि,
ससि खैंचि रह्यो मानो नली रेसम के फाँसे मैं ।।

स्नान करके सरोवर से निकली हुई तरुणी की सलज्जता 'न्हाय कै नवेली कढ़ी नाइ कै नुकीले नैन' मे परिपूर्ण सुन्दरता के साथ मूर्त्त हो उठी है साथ ही उरोज मंडल पर लिपटी अलकावली भी सद्यः स्नाता के बिब को परिपूर्णता प्रदान कर रही है ।

नायक का सौन्दर्य—नायिका के समान नायक के रूप-सौदर्य का विशद वर्णन इन्होने नही किया है किन्तु नायक के नेत्रो का वर्णन करते हुए साकेतिक रूप मे उसके समूचे सौदर्य का, उसके पूरे व्यक्तित्व का चित्र अवश्य उतार दिया है । यह वर्णन साकेतिक होते हुए भी बडी धारावाहिकता के साथ किया गया है—

मीन मृग खजन खिसान भरे नैन बान,
अधिक गिलान भरे कंज फल ताल के।
राधिका छबीली की छहर छवि-छाक भरे,
छैनता के छोष भरे, भरे छवि-जाल के।
'ग्वाल' कवि आन भरे, सान भरे, स्यान भरे'
स्यान भरे, कछु अलसान भरे माल के ।
लाज भरे, लाग भरे, लोभ भरे, लाभ भरे,
लाली धरे लाड धरे लोचन हैं लाल के ।।

प्रणय-स्थितियाँ—अब प्रणय भावनाओ को व्यक्त करने वाली स्थितियो को देखिये । चन्द्रबदनी अपनी सास के साथ बैठी है कि जसोमति का बुलावा आता है उसकी सास के पास । ओह ! वह तो मारे खुशी के अन्दर ही अन्दर बावली हो जाती है । सास न्यौते मे जायगी तो उसे अवकास मिलेगा, उसे अवकाश मिलेगा तो उसका प्रिय भी मिलेगा आदि आदि अन्दर के सहस्र-सहस्र भावो को व्यक्त करने वाली अनुभाव-योजना देखिये—

'ग्वाल' कवि तरकि परे री कचुकी के बंद,
अधिक उमंगन तैं अंगहू मरकि परे ।
नीर कन नैननि तें ढरकि परे री मन्जु,
मानौ दल कंज के तैं मुकुता सरकि परे ।।

गोपिकाओ का, गोपवधूटियो का यह प्रेम है । निज पति से नही सारे ब्रज के लावण्य सिंधु श्री कृष्ण से । इस परकीया प्रेम मे जो रस है त्रिलोक मे नही है । उसके लिए उनका पति भी निछावर है सास भी निछावर है, कुल भी निछावर है और लोक भी निछावर है । उन्हे इन सब की वैसे तो कोई परवाह नही परन्तु लोक मर्यादा के नाते थोडी परवाह अवश्य है और इसीलिए ये प्रेमिकाएँ सास को, लोक-लाज को,

कुलशील को जहाँ तक सम्भव है निभाए चलती हैं। गार्हस्थिक वातावरण के बीच यह प्रेम पल्लवित होता है। रात अँधेरी है घर मे जामन की जरूरत है सास अपने बहू को पडोस के घर से माँग कर ले आने को कहती है। बहू सास के इस प्रस्ताव से बहुत खुश है कि उसे इसी बहाने दो क्षण के लिए 'लाल' से मिलने का अवसर मिलेगा पर वह सास को अपने शील का परिचय देने का यह अवसर हाथ से जाने देना नही चाहती। वह जाना भी चाहती है और सास को यह बतलाना भी चाहती है कि उसे अँधेरी रात मे बाहर जाते डर लगता है, रात्रि को उसे बाहर नही निकलना चाहिए आदि जिससे सास उसकी सुशीलता पर विश्वास कर ले उसके मन मे उसकी सच्चरित्रता का भाव दृढ हो जाय। अगर भविष्य में वह रात्रि मे निकल भी जाय तो कोई उस पर सदेह न करे। ऐसी भावनाएँ मन मे बाँध कर ही वह अपनी सास को इस प्रकार उत्तर देती है—

राति है अँधेरी, फेरि द्वारन किवार दैया,
हेरी बहुबेरी, वह राह अति बंक री।
सास! तू पठावै लैन जामन सितावै अब,
जाऐं बनि आवै पर काँपत है अंक री।
'ग्वाल' कबि गैयन की भीर माँह ऐबो जैबो,
दौरे के उठैबो पग, लागत है संक री।
अँगिया मसकि जैहै, बिछुली खसकि जैहै,
तब तू दुखैहै, पैहै नाहक कलंक री॥

'जाऐं बिन आवै' कह कर उसने आज के मौके को भी हाथ से जाने नही दिया है और आगे का रास्ता तो प्रशस्त कर ही रही है। और सचमुच वह बहू अपनी सास का विश्वास प्राप्त कर लेती है। एक बार बुरी दशा मे वह घर लौटती है तो भी उसकी सास उस पर कोप नही करती। वह अहनी बधू को सर्वथा निर्दोष और भोली समझ कर छोड देती है तथा उसकी ही बताई बातों पर बिना तर्क किये विश्वास कर लेती है—

तुम कैसी आई, मैं तौ दधि बेचि आवति हो,
नाहर निकसि आयौ बन बज मारे तें।
वा ने मैं न देखी, मैं अचक भजी चपकी सी,
धँसी मैं करी की कुटी में डर भारे तें।
'ग्वाल कवि' बेंदी गई छूरा फँस्यो आँगि चली,
छिदे ये कपोल, देखो अबि उरझारे तें।
आस ही न जीवन की, राम बे बचाय राखी,
मरु कै बची हौं सास! धरम तिहारे तें॥

'मरु कै बचो हौं सास धरम तिहारे तें' मे बहू ने सास की सारी सहानुभूति और ममता अपनी ओर आकर्षित कर ली है। बधू की इस आत्मीयता पर तो सास का हृदय अवश्य पिघल गया होगा तथा किसी आक्षेप की भावना उसके मन में पनपने के पहले ही दब गई होगी। नायिका धीरे-धीरे ढीठ हो चलती है, लाल से उसका मिलना जुलना जारी है। वह और अधिक नियमित और मुक्त-रूप से उसका साक्षात करने की अभिलाषिणी है। लिजिये! इसके लिए भी उसने आखिर एक रास्ता निकाल ही लिया—

यह लाल चलावनी हाय दैया हर एक को नाहिं छुहावनी है।
सुनि तेरी तरफ मिलावनी की, हित तेरे सुभाल पुहावनी है।
'कवि ग्वाल' चराइ लै आवनी ह्याँ, फिर बाँधनि पौर सुहावनी है।
मनभावनी दैहैं दुहावनी मैं, यह गाय तुही पै दुहावनी है॥

कल से लाल उसके घर 'गाय दुहने' आया करेगे। धन्य है मानव मस्तिष्क जो अपनी सुख-सुविधा के नए-नए मार्ग ढूँढ निकालने मे सदा से ही निपुण रहा है। अपने शील स्वभाव मृदुभाषिता आदि के कारण उस बहू ने घर मे असाधारण स्थिति और प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है। अब वह चाहे तो घर का सर्वस्व लुटा दे उसे रोकने वाला कौन है। उसे दूध दुहने के लिए ग्वाले तो बहुत मिल सकते थे और कम दुहानी देने पर भी वह तो लाल से ही दूध दुहाएगी और दुहावनी भी उन्हे मुँह मांगी देगी। इस बात मे कुछ राज तो होना ही चाहिए।

प्रणय के संयोग के पक्ष का चित्रण करते हुए जहाँ प्रवास से लौटे हुए प्रिय से उसकी प्रियतमा की भेट दिखलाई गई है वहाँ भी वर्णन पर्याप्त सरस और मार्मिक बन पडा है। सखी ने ज्यो ही श्याम के आगमन की सूचना दी उसका विरह जर्जर तन एकाएक प्रफुल्ल हो उठा, उसमें नई प्रभा फूट पडी। और उसका बहिरंतर हरा हो उठा—

'ग्वाल कवि' त्यों ही उठि अंक लगी प्रीतम के,
बदन मयंक जोति जाहिर खरी भई।
मानो जरी जेठ की जलाकन तें बेलि झेलि,
अरसा बिना ही बरसा हरी भई॥

इसी प्रकार के एक अन्य अवसर पर जब प्रिय के परदेस से लौटने की सूचना दूती ने दी वह नायिका अभिनव अग ज्योति से ज्योतित हो प्रिय से मिलने को दौड पडी। उसकी आतुरता बेहिसाब थी और हर्ष! उसका तो ठिकाना ही न था—

'ग्वाल कवि' भेंटति भुजा तें भुजा जोरि जोरि,
आनंद को नीर बह्यो प्यारी नैन सोतैं ही।
मानो ब्याल बिरह वियोग ने डस्यो री हीय,
वाकौ विष झरव मिलाय मंत्र होतैं ही॥

यहाँ यह अभिनव उत्प्रेक्षा असाधारण भावोत्कर्षक्षम सिद्ध हुई है। उसमे स्वतन्त्र चमत्कार भी कम नही है।

नायक की शठता पर एक मानवती खडिता का रोष देखिये —

आए पास कौन के हौ, भूले कौन भौन के हौ,
डगमग गौन के हौ, देह मौज-मॉची है।
पाग पेच ढीले भये, दृग उनमीले भये,
तऊ न लजीले भये, पाठी भली बाँची है।
'ग्वाल कवि' और न उपाय ब्रजराज अब,
जाउ-जाउ जहाँ चाउ, में तो यह जाँची है।
घर की जो मिसरी सो फीकी सो लगन लागै,
मीठौ गुड चोरी कौ कहन यह साँची है॥

वियोग—वियोग के छद ग्वाल ने सम्भवतः कम लिखे है या फिर ऋतु-वर्णनो साथ उन्होने उनका गठबन्धन कर दिया है। उद्धव गोपी प्रसंग से संबंधित कुछ छन्द उन्होंने भी लिखे है जिनमे विरह दशा प्रकारान्तर से व्यक्त हुई है। अधिकाश कथन गोपियों के ही है। जिनमे कही-कही तो कृष्ण पर गहरा व्यग किया है उनके प्रेमाचरण को लेकर और कही गोपियो ने अपनी प्रेम निष्ठा का निर्वचन किया है, वे कहती हैं कि प्रेम तो कुलीन व्यक्तियो से ही निभ सकता है अकुलीनो से प्रेम अन्तोगत्वा विषाद मे ही परिणत हो जाता है। अजीब प्रेमी है वह जिसका प्रेम नित नए रंग बदला करता है। हम सबसे प्रेम करना छोड अब के एकमात्र कुब्जा के ही रसिक हो गए है। हे सखी! विधाता ने भाग्य मे प्रिय तो लिख मारा परन्तु 'कुढगी' और 'बहुरगी' मीत लिखा क्योकि जो अपने मॉ-बाप का ही साथी न हुआ वह भला हमारा साथ क्या देगा। हमारे साथ थे तो खूब रास-विलास के सुख लूटते रहे, जब से अक्रूर लिवा ले गए और कूबरी उनके कान लग गई तब से उनकी मति फूट गई है प्रेम को तो 'बलाए ताक' कर दिया और योग की 'विष-बूटी' हमारे पास भेज दी है—

क—प्रीति कुलीनन सों निबहै अकुलीन की प्रीति मैं अन्त उदासी।
ख—यों कवि ग्वाल ही भाल लिखी हुतो मीत सही पै कुढगी भयो॥
माय न बाप को अंगी भयो सो हमारौ कहौ कब संगी भयो॥

गोपियों की एक उक्ति अच्छी और नई है। वे कहती हैं ऊधो! कृष्ण तुम्हे यहाँ नहीं दिखाई पड़ते इसीलिए तुम 'अलख-अलख' की रट लगा रहे हो किन्तु उनके अस्तित्व का बात तुम हमारे हृदय से पूछो—! हम तो उन्हे नित्य देखती हैं, प्रतिक्षण देखती हैं, प्रति स्थान देखती है फिर भला हमे अलख की बात क्यो रुचिकर लगेगी। गोपियों की प्रीतिनिष्ठा भरी यह युक्ति बडी मार्मिक है—

'ग्वाल कवि' ह्याँ तौ वही जाम धाम धाम बाम,
मूरति मनोहर न नेकौ होत न्यारी है।
कानन मैं कानन मैं प्रानन मैं आँखिन मैं,
अंगन मैं रोम-रोम रसिक बिहारी है॥

ऋतु एवं प्रकृति वर्णन—ऋतु अथवा प्रकृति का सीधा वर्णन तो कवियो ने इस युग मे बहुत कम ही किया है। ग्वाल मे भी यही बात है। प्रकृति की छटा का वास्तविक स्वरूप उपस्थित करने के बजाय उसे वे किसी कलात्मक रूप मे या उद्दीपनकारी रूप मे उपस्थित करते हैं। कभी-कभी महापुरुषो की दासता सी करती हुई प्रकृति उन्हे अवगत होती है जिसके मूल मे कवि की खुद की दरबारदारी और प्रशस्ति गायन प्रवृत्ति झलकती जान पडती है। वसत का वर्णन करते हुए वे ही छंद विशेष मार्मिक बन पडे है जिनमे वसत को विरह का उद्दीपनकारी बताया गया है। कही तो वसंत ऋतु भोग और विलास का वातावरण उपस्थित करती है। यमुना का किनारा है, सगीत के स्वरो का समा बँधा हुआ है, लोग वसती परिधान पहने हुए है और जर्द विछौने बिछे हुए है, कोयलो का कलित रव सुनाई पड रहा है तथा सुखद समीर बह रही है। वसंत की इस बहार मे किंशुक, कुसुम, अनार, कचनार, आदि फैल-फैल कर फूल रहे हैं! इस चित्र मे तथ्यपरकता कम वसत की बहार का काल्पनिक चित्रण अधिक है। एक अन्य छन्द मे कवि कहता है सरसो के खेत बिछे हुए हैं, वासंती चाँदनी खड़ी हुई है, सभी लतालियो ने वासनी वस्त्र पहन लिए हैं, सोनजुही हुलसित हृदय से लहरा रही है ऐसे वातावरण के बीच प्रिय अपनी प्रिया को पुखराज के प्याले भर-भर कर पिला रहा है। यह वर्णन अपेक्षाकृत अधिक बिम्बात्मक, सरल और मनोग्राही है—

'ग्वाल कवि' प्यारौ पुखराजन कौ प्यालौ पूर,
प्यावत प्रिया कों, करै बात बिलसंत की।
राग में बसंत, बाग-बाग मैं बसंत फूल्यो,
लाग में बसंत, क्या बहार है बसंत की॥

यही वह ऋतु है जिसमे होली का उन्मादकारी त्यौहार आता है और ब्रज भाषा काव्य के प्रसिद्ध प्रेमी युगल कवियो के मन की अँगडाई मे रंग-रंग की क्रीडाएँ कर चलते है—'ताल पै तमाल पै गुलाल उड़ि आयो ऐसो, भयौ एक और नन्दलाल नन्दलाल पै' कुछ छदो मे वसत ऋतु के समूचे वैभव को उसकी समस्त मार्मिकता के साथ हमारे अतःकरण मे प्रतिष्ठित करने के बजाय कवि ने प्राकृतिक उपकरणो जैसे वायु, सौरभ, गुलाब, किंशुक, कुसुम, किसलय, भौंरे, कोयल, बाँस, कलियों का चटकना, भ्रमरों का गुंजार, अमराई, कोकिलस्वर, आदि को लेकर तरह-तरह के रूपक खड़े किये हैं और कभी तो वसंत को 'बहुरूपिया' कहा है, कभी नर्तक और कभी कलावंत।

जिस छद मे गोपियो ने ऊधव द्वारा श्रीकृष्ण के पास आत्मदशा सूचक एक छोटा सा सदेश सम्प्रेषित किया है वह बहुत मार्मिक है—

ऊधौ ! ये सूधौ सो सदेसौ कहि दीजो जाय,
स्याम सों सिवावी तुम बिन सरसंत है।
कोप पुरहूत के बचाई पारि धारन तें,
तिन पै कलकी चंद विष बरसत है।
'ग्वाल कवि' सीतल समीर जे सुखद ही, ते
बेधत निसंक, तीर-पीर सरसत है।
जेई विपनागिन तें बरत बचाई तिन्हे,
पारि विरहागिन मै, बारत बसंत है॥

इन उक्तियो की मार्मिकता इस बात मे है कि गोपियाँ कृष्ण को उनके विगत जीवन की स्मृतियो और सम्बन्धो को जगा रही हैं और कह रही है कि जिन्हे तुमने अपने असाधारण प्रीति के कारण इन्द्र के कोप से और दावाग्नि से बचा लिया था उन्हें ही वासंती ऋतु के उपकरण चन्द्रमा, वायु आदि दाहे दे रहे हैं। उस प्रेम मे यदि लेश-मात्र की सत्यता होगी तो कृष्ण अवश्य इन्हे आकर बचा लेगे। ये उक्तियाँ कृष्ण के चित्त में प्रसुप्त प्रणय को उदबुद्ध करने वाली तो है ही, पाठक मात्र के चित्त को द्रवीभूत करने वाली भी हैं। इसी प्रकार का एक और भी सक्षिप्त सदेश भेजा जा रहा है जिसमे प्रेमिका की वसंत ऋतु जनित विरह वेदना ही प्रकाशित की गई है—

वाह-वह ! आप कों, बिहारीलाल प्यार भरे,
बाला बिरहागि नची अब न नचैगी वह।
बानी कोकिला की विषधार सी पचायौ करी,
अब लौं पची सो पची, अब न पचैगी वह।
'ग्वाल कवि' केते उपचारन सच्चाई करौ,
अब लौं सची सो सची, अब न सचैगी वह॥
आयौ पंचबान लै बसंत बजमारौ बीर,
अब लौं बची सो बची, अब न बचैगी वह॥

ग्रीष्म ऋतु के वर्णन मे ग्वाल कवि की दृष्टि जहाँ ऋतुगत ताप के आधिक्य और अभाव के चित्रण पर गई है वही उसके निराकरण के साधनो पर भी ग्रीष्म की तपन का आधिक्य बहुत ही स्वाभाविक पद्धति पर चलकर नितांत यथार्थवादिनी दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है—

ग्रीषम की गजब धुकी है धूप धाम-धाम,
गरमी झुकी है जाम जाम अति तापिनी।
भीजे खस-बीजन झुलै हे न सुखात स्वेद,
गात न सुहात बात, दावा सी डरापिनी।
'ग्वाल कवि' कहै कोरे कुंभन तें, कूपन तें,
लै लै जलधार, बार बार मुख थापिनी।
जब पियौ, तब पियौ, अब पियौ फेर अब,
पीवत हू पीवत बुझै न प्यास पापिनी॥

इस वर्णन में प्रकृति की दशा तो वैसी नही वर्णित हुई है जैसी सेनापति ने 'वृष कौं तरनि तेज सहसौ किरन करि' वाले छंद मे दिखलाई है परन्तु ऋतुजनित ऊष्मा की अधिकता सूचित करते हुए मनुष्य पर पड़ने वाले उसके प्रभाव का ही चित्रण किया है। यह छंद शुद्ध ऋतुसबधी समझा जाना चाहिए प्रभावाभिव्यजक पद्धति पर किया गया भले ही हो। इसमे न तो प्रकृति विलासोपकरण के रूप मे आई है और न उद्दीपनकारी हो कर। गर्मी दावाग्नि-सी दाहक और डराने वाली है, दोपहर मे निकलते नही बनता, ताजे घड़े का शीतल जल, कुएँ का ठंडा पानी आदि पी-पीकर भी प्यास नहीं बुझती। बार-बार पानी पिया जाता है पर पापिनी प्यास बनी रहती है—यह उक्ति बहुत ही सच्ची है हालाँकि 'भीजे खस-बीजन झुलै हैं ना सुखात स्वेद' कह कर कवि ने तनिक सी अत्युक्ति का आश्रय अवश्य लिया है। जो हो लगभग समस्त उत्तर भारत मे ग्रीष्म ऋतु का यही स्वरूप आज भी गोचर होता है। एक अन्य छंद मे पूर्ण प्रचण्ड मार्तण्ड की मयूखो से दह्यमान ब्रह्माण्ड की दशा का कवि ने ऐसा ही वर्णन किया है बल्कि अतिशयोक्ति प्रणाली का सहारा लेते हुए किया है और कहा है कि कितना भी पियो मगर प्यास नही बुझती—'कुंड पिये, कूप पिये, सर पिये, नद पिये, सिंधु पिये, हिम पिये, पौन शौई करिये।' कवि ने यह भी कहा है कि नरम वातास तन को छूती है तो लगता है जैसे बिना धुएँ की आग तन को छू रही हो और जेठ मास की जलाको (लुओ या गर्म हवाओ) का तो कहना ही क्या! चित्त मे प्यास की शलाकाएँ आ अड़ती हैं। ग्रीष्म के ऐसे भीषण ताप के निदर्शन के साथ-साथ ग्वाल ने बहुत से ग्रीष्मोपचारो का भी उल्लेख किया है। यदि शिशिर के कसाले दूर करने वाले मसाले पद्माकर बता गए हैं तो गर्मी का इलाज बताने मे ग्वाल भी पीछे नही रहे हैं। जैसे पद्माकर के नायक-नायिकाएँ शिशिर को चुनौती दे डालते हैं वैसे ही ग्वाल के प्रेमी-प्रेमिका भी दह्यमान ग्रीष्म को ललकारे बिना नही रहते। असंभव नही कि भर्तृहरि के शृंगारशतक आदि का प्रभाव इन कवियो ने ग्रहण किया हो। जिन ग्रीष्मोपचारो का विवरण भिन्न-भिन्न क्रम से ग्वाल ने नाना छंदो मे दिया है उनकी एक तालिका दे देने से कवि की दृष्टि और उसके सुखोपकरणों के परिज्ञान

तथा साथ ही साथ समसामयिक दरबारी अथवा राजसिक वातावरण का पता चल जायगा। अमीर, राजे, नवाब और सामत ग्रीष्म का ताप मिटाने के लिए क्या कुछ वस्तुएँ जुटा लिया करते थे इसकी एक हल्की-सी झलक इस सूची से मिल सकती है—कमल के पत्ते, पुष्परज, फौव्वारे, सुरभित जल, उसीरखाने, सुरा, यमुनातट, गुलाब जल, चदन और कपूर चूर्ण, चमेली, चदबदनी, खास खसखाने, खिलवत खाने, सुगंधियो के कोष, मलय वृक्ष, सघन छाया, शीतल वायु, वर्फ मिश्रित क्षीर, उसीर के बगले गुलाबजल से तर किये हुए, स्वच्छ गुलाब जल के कृत्रिम झरने और फौवारे आदि। इस सूची से सतोष न होने पर इन छदो को देखा जा सकता है जिनमे ग्वाल कवि ने पद्माकर की चाल पर चल कर यह बतलाया है कि ग्रीष्म किसे नही सताता और कौन सी विधियाँ हैं जिन्हे अपना कर उसके कसाले को भाग्यशाली लोग आसानी से काट दिया करते है—

(क) ग्रीष्म न त्रास जाके पास ये बिलास होय,
खस के मबास पै गुलाब उछर्‍यो करै।
बिही के मुरब्बे डब्बे चाँदी के वरक भरे,
पेठे पाक केवरे मे बरफ पर्‍यौ करै।
'ग्वाल' कवि चंदन चहल मे कपूर पूर,
चंदन अतर तर बसन खर्‍यौ करै।
कंज मुखी कंज नैनी, कंज के बिछौनन पै,
कंजन की पंखी कर-कंज सों कर्‍यौ करै।

(ख) बरफ-सिलान की बिछायत बनाय करि,
सेज संदली पै कंज-दल पाटियतु है।
गालिब गुलाब जल-जाल के फुहारे छूटें,
खूब खसखाने पर गुलाब छाँटियतु है।
'ग्वाल कवि' सुन्दर सुराही फेरि, सोरा में,
ओरा कौ बनाय रस, प्यास डारियतु है।
हिमकर-आननी हिवाला सी हिए तें लाय,
ग्रीषम की ज्वाला के कसाला काटियतु है॥

एक छद मे चमत्कारपूर्ण वर्णन शैली का आश्रय लेकर ग्वाल ने यह बताया है कि ग्रीष्म की अधिकता के कारण शीतलता भागती फिर रही है। यहाँ जा रही है वहाँ जा रही है पर कही उसे चैन नही मिलने पाती। मेष और वृष राशि मे आकर सूर्य इतना तप उठा है और त्रासद हो उठा है कि शीतलता तहखानो, सरोवरों, कंजो, चंदन, कपूर, चंद्र, चाँदनी, सोरा, जल, ओला आदि मे क्रम-क्रम से जाकर

अंत मे हिमालय मे छिप गई है। इस छद की प्रेरणा ग्वाल को सेनापति की इन पक्तियो से मिली जान पड़ती है—

भीषम तपत रितु ग्रीषम सकुचि तातैं,
सीरक छिपी है तहखानन मैं जाइ कै
मानौ सीत काल सीतलता के जमाइबै कौं,
राखै है बिरंचि बीच धरा मैं छपाइ कै ॥ (सेनापति)

सेनापति के इस छंद को यदि हम उसके सपूर्ण रूप मे देखे तो उसमे सौंदर्य और भी अधिक समुन्नत और श्रेष्ठ रूप मे गोचर होगा।

वर्षा ऋतु के वर्णन मे भी दो-तीन प्रचलित पद्धतियो का अनुसरण मिलता है। वर्षा की प्रकृति सयोग की मधुर-मादक पीठिका उपस्थित करती है—सावनी तीज मे प्रिय और प्रिया जल की बूंदो मे भीगते है, लाल रग की ओढनी तर-बतर हुई जा रही हैं, दोनो मलार गा रहे हैं, उधर झिल्लियो की झनकार और घन की गरज भी हो रही है। शीतल पवन के झकोरे अलग चल रहे है तथा प्रिय और प्रिया उदारता-पूर्वक विहार कर रहे है। प्रकृति के ऐसे आह्लादक वातावरण के बीच डिडोला झूलते हुए दोनो विलास कर रहे है—'घमक घटान की चमक चपलान की, सुभ्रमक जरी को तामै रमक हिंडोरे की।' कही-कही सखी अथवा दूती द्वारा नायिका को वर्षा के उन्मादकारी वातावरण मे मान से विरत होने की सीख भी दी गई है—लहलही वल्लरियाँ डाल-डाल पर हेलमेल का खेल-खेल रही हैं। बालाएँ लाल को गलबहियाँ डाले छवि बिखेर रही है, बेले अपनी अभिनव अरुणिम प्रभा से मंडित हो उठी है, बूंदे पड़ रही हैं और मेघ हैं, जो घूम-घूम कर, झूम-झूम कर, लूम-लूम कर चंचला को चूम-चूम कर भूमि पर झुक आए हैं। ऐसी बेला सम्मान की ही हो सकती है मान करने की तो नही ही हो सकती चाहे झाँक कर बाहर की दृश्यावली देख ले, मेरे कहने का विश्वास न होता हो तो अपनी आखो की ही प्रतीति कर ले, बात तेरे हित की है और बावन तोला पाव रत्ती सही है—'मान की न बेर सन-मान की है बेर प्यारी, मान कह्यो मेरो झुक झाँकि तौ झमाके सौं।' यह तो सयोगियों की हालत है, वियोगियो को तो वर्षा पीडा ही पहुँचा सकती है। वियोगिनी के पीडा-प्रमत्त-चित्त का उद्गार सुनिये—

मेरे मनभावन न आये सखि ! सावन मे,
तावन लगी है लता लरजि लरजि कै।
बूँदैं कबौं रूँदैं, कबौ धारैं हिय फारैं दैया,
बीजरी हू बारैं, हारौ बरजि बरजि कै।
'ग्वाल कवि' चातकी परम पातकी सौं मिलि,
मोरहू करत सोर तरजि तरजि कै॥

गरजि गये जे घन, गरजि गये हैं भला,
फेर ए कसाई आये गरजि गरजि कै ॥

कहीं-कहीं पर चमत्कार प्रधान अलंकारिक पद्धति पर वर्षा वर्णित हुई है जिसमे कभी तो उसे वेश्या बना कर और कभी रंगीली नर्तकी ठहरा कर शान से रूपक खड़ा किया गया है—

(क) प्यार सों पहरि पिसवाज पौन पुरवाई,
ओढनी सुरंग सुर-चाप चमकाई है।
जग-जोति जाहर, जवाहर सी दामिनी है,
अमित अलापन की गरज सुनाई है ॥
'ग्वाल कवि' कहै, धाम-धाम लखि नाँचै,
राचै, चित वित लेत, मोद माचत सुहाई है।
बंचनी बिरागहू की, अति परपंचनि सी,
कंचनी सी आज मेघ माला बनि आई है ॥

(ख) तरल तिलगन के तुंग तेह तेजदार,
कानन कदब कौ, कदंब सरसायौ है।
सूबेदार मोर, बग-दादुर हवलदार,
जमादार औ तंबूर पिक मनभायौ है।
'ग्वाल कवि' बाढै गरराट घन गहन की,
कंपनी कौं कंपू, झला होय छवि छायौ है।
भूपत उमंगी, कामदेव जोर जंगी, ग्यान,
मुजरा कौं पावस, फिरंगी बनि आयो है ॥

अलंकार-प्रवण वर्षा वर्णन शैली के बीच कवि-कल्पना और सूझ-बूझ का यहाँ अच्छा विकास देखा जा सकता है। इन वर्णनो मे चमत्कृत एव प्रसन्न करने की सामर्थ्य पूरी है। अब निरलकारिक पद्धति पर वर्षा के एकाध चित्र और देख लीजिये जिसमे कवि का ऋतु एवं प्रकृति-प्रेम स्वच्छ और स्वतंत्र रूप मे सामने आता है जहाँ प्रकृति केवल अपने लिए ही वर्णित हुई है। ये वर्णन पर्याप्त बिम्बात्मक हैं और साथ ही इनमें ऋतु के हुलास को देख कर हृद्गत उल्लास फूटा पड रहा है—

(क) झूम-झाम चलत चहूँधा घन घूम-घूम,
लूम-लूम भूमि छ्वै छ्वै धूम से दिखात हैं।
तूल के से पहल, पहल पर उठे आवैं,
महल महल पर सहल सुहात हैं।
'ग्वाल कवि' भनत, परम तम सम केते,
छम छम छम डारैं बूँदें दिन-रात हैं।

गरज गये हे एक गरजन लगे देखो,
गरत आनें एक, गरजत जात हैं ।।

(ख) प्यारी आइ छात पै, निहारि नये कौतुक ये,
घन की छटा ते खाली नभ में न ठौर हैं ।
टेढ़ी सूधी गोल औ चखूंटी, बहु कौन वारी,
खाली, लदी, खुलो, मुँदी, करैं दौरा दौर है ।
'ग्वाल कवि' कारी, धौरी, घुमरारी, घहरारी,
धुरवारी, बरसारी, झुकी तौरा तौर है ।
ये आईं, वो आईं, ये गईं, वो गईं,
और ये आईं, उठि आवत वे और हैं ।।

वर्षा के सूचक सर्वप्रमुख उपकरण मेघों का ही इनमे वर्णन हुआ है। उनकी गति, स्वरूप, शोभा, वर्ण, वर्षण, गर्जन, आवागमन, आकार-प्रकार, सजलता-निर्जलता, मुक्तता-बद्धता, दौडधूप आदि ही इन छंदो मे विशेष रूप से वर्णित हुई है। ऐसे मेघो को देख कर कवि मन का उल्लास भी फूटता दिखता है। कभी-कभी पावस की साँझ मे ऐसा भी होता है कि सूर्य की मद्धिम किरणे पीछे दिखाई देती रहती है और सामने हलकी-हलकी वर्षा होती है। प्रकृति के ऐसे बिरले दृश्यो पर भी जाने वाली दृष्टि को देखकर कवि की सहृदयता का पूरा-पूरा एहसास हुए बिना नही रहता। मेघो की न्यारी-न्यारी छवि हो वर्षा ऋतु मे नित्य का ही व्यापार है। मेघो की नाना प्रकार की वर्णच्छटा से आकृष्ट कवि मन का यह उत्प्रेक्षागर्भित कथन भी उसके प्रकृति-प्रेम का ही परिचय दे रहा है—

'ग्वाल कवि' सूही सेत, चंपकई, नीली-पीली,
धूमरी सिंदूरी बदरी में मंडरात हैं।
मानहु मुसब्बर मनोज कौ मुरब्बा मंजु,
फैलि पर्‌यौ, ताकी तसबीरें उडी जात हैं ।।

मूर्तिमत्ता भी ग्वाल की ऋतु वर्णना की एक उल्लेखनीय विशेषता कही जा सकती है।

शरद ऋतु के वर्णन में ग्वाल ने यही बात विशेष रूप से कही है कि वर्षा के समग्र दोष दूर हो गए हैं और ऋतु तथा प्रकृति मे स्वच्छता आ गई है जैसे मयूरो के कर्कश स्वर अब नही सुनाई पडते और न मेघों की अप्रिय गर्जना ही शेष रह गई है। आकाश, सर, सरिताएँ निर्मल हो चले हैं और पृथ्वी भी कर्दम से रहित हो गई है। चकोरो को विमल चंद्र दर्शन सुलभ होने के कारण विशेष प्रसन्नता प्राप्त होने लगी है और पथिको-प्रवासियो का दुखदर्द भी अब दूर हो चला है और इस सबसे बडी बात जो लोक के चित्त को अनुरंजित करने वाली बन पडी है वह यह कि 'जल पर, थल

पर, महल अचल पर, चाँदी सी चमकि रहा, चाँदनी सरद की।' चाँदनी की यह चारु चमचमाहट समस्त सृष्टि पर एक रूप, एकरस, एकतान होकर छाई हुई है। उसके प्रियतर शीतल और मद प्रकाश मे वस्तुभेद और वर्णभेद मिट-सा रहा है। समूची सृष्टि एक ही-सी एकवर्ण हो चली है। भेद की सत्ता जैसे शरद के मनहर प्रकाश मे लुप्त हो गई है—

> अंबर, अवनि, अंबु, आलऐ, विटप गिरि,
> एक ही से पेखे परं, बनैं परख ते।
> लीपी अबरख तें, कै टीपी पुंज पारद तें,
> कैधौं दुति दीपी, चारु चाँदी के बरख तें॥

हेमत मे शीत की प्रधानता होती है, तुषार का आधिक्य होता है, कडाके का जाडा पडता है तथा बर्फीली हवा चलती है। यह शीत के युवा होने की ऋतु है। इसके वर्णन मे ग्वाल ने एक ओर तो शैत्य की अधिकता का वर्णन किया है दूसरी ओर उसे नेस्तनाबूद कर देने वाले साधनो का भी वर्णन किया है। हेमत के शीत का वर्णन करते हुए ग्वाल ने लिखा है कि नदियो के किनारे तो विशेष शीत होती है, पानी बेहद ठडा हो जाता है, वस्त्र, वस्तुएँ, धरती सभी कुछ मे शीत समा गया है, खूब कुहरा पडता है और कडाके की ठडक मे हवाएँ सनसनाती हुई तीर सी निकल जाती है। विरहिणी को तो यह ऋतु विशेष सालती है। प्रवासी प्रिय का वियोग दूना हो जाता है, फूल सूख जाते है और भौरे दिखाई भी नही देते—

> 'ग्वाल कवि' ऐसे या हिमत में न आये कंत,
> सो तुम्है न दोष सलसंत औरैं ढरि गई।
> सूख गये फूल भौंर भौर उडि गये मानौं,
> काम की कमान की कमान सी उतरि गई॥

पाले, कुहरे की इस ऋतु के वर्णन मे कभी तो ग्वाल ने अपनी आदत के अनुसार शीत की बादशाहत का रूपक खडा किया है और कभी ठिठुरा देने वाले हेमत मे गरीब आदमी की दशा का वर्णन किया है। शीत की बादशाहत कैसी है देखिए—चौमासे की तखत बिछती है, सजल बादलो का छत्र छजता है, जलधारा के चँवर डुलाये जाते है और थहरा देने वाली हवा वज़ीर का काम करती है। वनस्पतियो पर पडे तुहिन विन्दुओ अथवा हिम की बिछायत बिछती है और कटकटा देने वाली ठिठुरन की नौबत बजती है। ऐसी बादशाहत भला और किसे प्राप्त है—

> कातिकादि चारों मास, तखत बिछाय बैठ्यो,
> बद्दल सजल जल छत्र छवि छाई है।
> जब-तब मेह-धार चौंर चारु ढोरियत
> सुरहर पौन की वजीरी सरसाई है।

'ग्वाल कवि बरफ बिछायत कुहर दल,
ठिरनि प्रबल नौकी नौबत बजाई है।
सीत बादसाह सौ न दूजो कोऊ दरम्याय,
पाय बादसाही बाँटै सबको रजाई है ॥

हेमंत मे शीत का आधिक्य रात-दिन सताता है, खेतो मे पत्ते हिम से जमे जाते हैं, सरर-सरर बरफीली हवाएँ बहती है और करर-करर दाँत बजते है। सूती कपडे तो इस शक्ति की प्रबल धारा मे बहे से चले जाते है और ठिठुरते हुए जीव की भीषण दुर्दशा हो जाती है—'जोरि-जोरि जंघन उदर पर धारि-धारि सिकुरि-सिकुरि नर होते हैं करोरा से, ऐसी शीतमयी ऋतु का इलाज क्या है पद्माकर के ही ढर्रे पर चलकर ग्वाल ने भी बता देना जरूरी समझा है। ग्वाल के नुस्खे गरीबों के किस काम के ! वे तो सामंती जीवन की सूझ-बूझ हैं और तदनुरूप प्रकृति, स्थिति और ऐश्वर्य वालो के काम के है। जो हो अपने वातावरण और जमाने की बात ही प्रकारांतर से ग्वाल के ऐसे छदो मे अनायास उतर आई है। हाँ तो अब ग्वाल कवि नुसखो पर ध्यान देना जरूरी है क्योकि उनकी वर्णना के बिना ग्वाल की ऋतु-वर्णना के का प्रसग अधूरा ही रह जायगा—

(क) सोने की अगीठिन मे अगिन अधूम होय,
होय धूम-धार हू तौ मृगमद आला की।
पौन कौ ना गौन होय, भरयौ सु भौन होय,
मेवन कौ खौन होय डब्बियाँ मसाला की।
'ग्वाल कवि' कहै हूर-परी सी मुरंग वारी,
नाचती उमग सों तरंग तान ताला की।
बाला की बहार औ दुसाला की बहार आई,
पाला मे बहार है बहार बडी प्याला की ॥

(ख) गाले अति अमल, भरा ले तौसकों मे फेर,
ऊपर गलीचे बिछवाले जाल वाले अब।
सेजन पै सेजबद खूब कसवाले बनि,
खाले रसवाले जे गजक बनवाले सब।
'ग्वाल कवि' प्यारी कों लगा के लिपटाले अक,
सोइ कै दुस्माले मे, मजा ले अति आले जब।
मंजुल ममाले मिले, सुरा के रसाले पिएँ,
प्याले पर प्याले, मिटै पाले के कसाले तब ॥

शिशिर वर्णन के छद भी बहुत कुछ इसी पद्धति पर है जिनमे कारचोबी (कसीदाकारी) के कीमती परदो से ढके हुए प्रकोष्ठ, उसमे शमादानो की ज्योति, फर्श पर मोटे मोटे गलीचे, बीच मे मसनद, मखमली गुनगुनी तोपको, सुन्दर शय्या, अगरु सुगन्धि, गर्मी

पहुँचाने वाले मसाले, दुशाले आदि का वर्णन करके कवि ने यह बताना चाहा है कि ऐसे वातावरण के बीच संभोग सुख प्राप्त करना ही आदर्श रीति से शिशिर व्यतीत करना है। किसी ऊँचे जीवन धर्म का निदर्शन करती हुई भी ऐसी उक्तियाँ रसिकों का चित भली भाँति बहलाती रही।

इस प्रकार ग्वाल कवि ने विशद रूप से ऋतु वर्णन किया है और उसके वर्णन मे प्रायः सभी प्रचलित रीतियो का समावेश मिलता है :—(१) ग्वाल की ऋतुएँ सयोगी और वियोगी चित्त की भावनाओ को उद्दीप्त करती हैं, (२) प्रेमियों के भोग-विलास हेतु उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत करती है, (३) ऋतु के वैभव का और ऋतु के सूचक उपकरणो का भी कवि ने विशद रुप से चित्रण किया है जो कभी-कभी बडा सुन्दर और बिम्बात्मक भी बन पडा है, (४) कही-कही शुद्ध ऋतु का ही चित्रण नितान्त सहज स्वच्छंद शैली पर किया गया है तथा कोई-कोई दृश्य स्वानुभूति के संस्पर्श की मार्मिकता लिये हुए है। ऐसे छदो मे ऋतु का स्वरूप अच्छी तरह उरेहा गया है, (५) ऋतु के प्रभाव का भी चित्रण ग्वाल ने किया है और किसी-किसी छंद में निर्धन प्राणी पर पडे हुए ऋतु के प्रभाव को चित्रित किया है। ऐसे छंदो मे कवि की मानवी संवेदना का वैशिष्ट्य लक्षित होता है. (६) ग्वाल ने कभी-कभी चमत्कार प्रधान या आलकारिक पद्धति पर चलकर ऋतु वर्णन किया है जिसमे जगह-जगह कल्पना की अच्छी दौड देखने को मिलती है। ऐसे छन्दो मे कवि ऋतुओ का अथवा उनके सूचको प्राकृतिक उपकरणो को लेकर नये-नये रूपक खडे करता है, (७) अतिम और सबसे महत्वपूर्ण पद्धति वह है जिसके द्वारा कवि ने ऋतु की कठोरता के नाशक उपकरणो का आलेख किया है, ऋतुओ की पीडा-प्रदायनी शक्ति को नष्ट करने वाले मसाले या नुस्खे बताए गए हैं। इन छदो में ऋतुगत उपचारो का कथन करते हुए विविध भोग-सामग्री का पृथक्-पृथक् परिगणन कराया गया है।

यमुना माहात्म्य—यह कहा जाता है कि पद्माकर की 'गगालहरी' की देखा देखी ग्वाल कवि ने भी 'यमुनालहरी' तैयार की। गंगालहरी का प्रभाव यमुना लहरी के छदों पर स्पष्ट है। वैसे ही भावो को व्यक्त करने वाले यमुना संबधी छंद ग्वाल ने प्रस्तुत किये हैं। उक्त दोनो रचनाओ का तुलनात्मक अध्ययन रोचक सिद्ध हो सकता है। 'यमुनालहरी' के छंदो मे ग्वाल ने 'तरनि तनूजा' का माहात्म्य ही तरह-तरह से वर्णित किया है। यमुना के गुण गाते हुए नारद, सनक-सनदन, शेष आदि थकते नहीं फिर भी उसके गुणो का अंत नही होता, उसका दर्शन करके इन्द्र भी गौरव प्राप्त करता है फिर साधारण जनो के तो हर्ष और गौरव का ठिकाना ही क्या। उसके जलस्पर्श का आनंद तो अनिर्वचनीय ही समझिये। ऐसी यमुना हम सबके लिए परम मंगलमयी है—'जारक जमेस की, विदारक कलेस की है। तारक हमेस की है तनया दिनेस की।' यमुना की तरल तरंगो की अनूठी आन-बान है, वह पाप के लिए कृशानु

के समान है, यमदूतो को तो दौड-दौडकर सताती और दग्ध करती है किन्तु सज्जनों को परम शीतलता और अमृत तुल्य सुख प्रदान करने वाली है। उसकी तरगे यम मे तो लडती हैं किन्तु अपने भक्तो को परम पद देने को आतुर रहती हैं—'जंग भरी जमते, उमंग भरी तारिबे को, रङ्ग भरी तरल तरङ्ग तेरी जमुना।' पापियों के पाप नष्ट होने की और उनके सीधे विष्णुधाम पहुँचने की रोचक कहानियाँ भी कवि ने पद्माकर की ही तरह छदोबद्ध की है। एक सुरापायी महापापी नीच के मुँह मे ज्योंही-'रविजा' की एक लघु बूँद पडती है, उसका स्वरूप परम निर्मल हो उठता है उसकी भाग्य-लेखा बदल जाती है। दिगाओ को चीरती हुई उसकी कीर्ति सर्वत्र व्याप्त हो जाती है। यमदूतो की मति भ्रष्ट हो जाती है और ब्रह्मा तथा शकर जी के देखते-देखते वह पापी विष्णुरूप हो जाता है। आस्था बुद्धि से लिखी गई ऐसी रचनाएँ अपने युग के लोगो में अवश्य भक्ति और आस्था-बुद्धि जगाती रही होंगी इसमे सदेह नही और श्रोताओ की बुद्धि को विशेष विस्मयविमुग्ध करती रही होंगी—

> अविधि सुरापी घोर तापी नीच पापी मुख,
> रविजा तिहारी बूद लघु अति ह्वै गई।
> ताही छिन पल मैं अमल भलरूप भयो,
> कुठिल कुढंग ताकी रेख-लेख ध्वै गई।
> 'ग्वाल कवि' कीरत सुचीरति दिगान जाति,
> दूतन की चित्र की चलाँकी चित ख्वै गई।
> चार मुख चंद्रधर चाहत चितौव ताहि,
> चारन के देखत ही चार भुज ह्वै गई॥

यमुना की इस पतितपावनी शक्ति के समक्ष चित्रगुप्त हतबुद्धि से खडे रह जाते है। उनकी मति ही विनष्ट हो जाती है, कलम भला कौन पकडे और नाम कौन करे। यमदूतों के विरुद्ध जागृत यमुना के रोष की धारा मे उनकी दवात भी बह जाती है—

> कौन गहै कर मैं कलम कौन काम करै,
> रोस की दवाइति सौं रोशनाई ध्वै गई।
> लेखो भयौ ड्योढा रोजनामा को सरेखो भयो,
> खाता भयो खतम फरद रद ह्वै गई॥

नीत्योक्तियाँ—जहाँ-तहाँ ग्वाल कवि की कुछ नीत्योक्तियाँ भी मिलती हैं जैसी कि प्रायः सभी रीतियुगीन कवियो मे फुटकल रूप मे कुछ न कुछ देखी जा सकती हैं। पहली महत्वपूर्ण उक्ति तो हम आरभ मे ही दे चुके हैं - 'दिया है खुदा ने खूब खुसी करो ग्वाल कवि खाव पियो देव लेव, यही रह जाना है।' जिसमे कवि ने संसार मे मौज से रहने की, खूब घूम-फिर लेने की बात कही है क्योंकि इस 'जिन्दगानी का कोई भरोसा नही, यह संसार अनंत काल के लिए मिलने वाला नहीं—

'आए परवाना पर चलै ना बहाना, यहाँ नेकी कर जाना फेर आना है न जाना है।' इस दुनियाँ के असंख्य लोगो के जीवन का यही तो उद्देश्य-वाक्य है, इसमे संसार के कोटि-कोटि प्राणियो की जीवनाभिलाषा पूरी सच्चाई के साथ व्यक्त हुई है। इसमे ग्वाल क्या समस्त रीति कवियो की जीवनविषयक दृष्टि का बडी खूबी के साथ उद्घाटन हुआ है। एक छद मे कवि ने कमल का उदाहरण देकर बहुत ही सुन्दर ढग से यह बता दिया है कि सुख-सपत्ति जब तक है मनुष्य का सभी लोग साथ देते हे, उसके बाद तो उसका साथ देने वाला कोई नही—

बारिधि तात, बड़े विधि ते सुत, सोम से बंधु सहोदर ओई।
रंभा रमा जिनकी भगिनी, मघवा मधुसूदन से बहनोई।
तुच्छ तुषार, इतौ परिवार, भयो न सहाय कृपानिधि कोई।
सूखि सरोज गयो जल मै, सुख संपति में सब को सब कोई ॥

प्रेम के सदर्भ मे एक बात ग्वाल ने लिखी है कि कुलीन व्यक्ति का प्रेम तो ठीक होता है और निभ पाता है लेकिन अकुलीन से प्रेम करके पछतावा ही हाथ लगता है। यह उक्ति एक गोपी के द्वारा कहलाई गई है —

प्रीति कुलीलन सों निबहै, अकुलीन की प्रीति मैं अंत उदासी।
खेलन खेल गयो अबही, हमै योग पठाय बन्यो अविनासी।
त्यों कवि ग्वाल विरंचि बिचारि, कै जोड़ी जुडाई दई अति खासी।
जैसोई नद को पालक कान्ह, सो तैसियै कूबरी नंद की दासी ॥

गुणी और दुर्गुणी के सबध मे ग्वाल कवि का कथन ही लगता है लोक मे प्रसिद्ध होकर लोकोक्ति बना हुआ है। जिनमें खूबियाँ खूब होती है, सिद्धियाँ होती है उन्ही की सराहना यहाँ भी होती है वहाँ भी होती है। वे इस लोक में भी प्रसिद्ध होवे हैं और परलोक मे भी परन्तु जो निकम्मे है, बदज़ात है उनकी यहाँ-वहाँ सभी जगह निन्दा होती है—

जाकी यहाँ चाहना है ताकी वहाँ चाहना है,
जाकी यहाँ चाह ना है ताकी वहाँ चाह ना ॥

इस प्रकार के कुछ सासारिक सत्य और अपनी जीवन सबधिनी विचारधारा सूक्ष्म रूप से किन्तु पर्याप्त मार्मिक रीति से ग्वाल कवि अकित कर गए है।

स्फुट रूप से यत्र-तत्र प्राप्त ग्वाल की रचनाओ के अवलोकन के अनंतर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि ग्वाल रीति काव्य की उत्तरकालीन परपरा के अच्छे कवि थे। रीति की गभीर रुचि रखने के साथ-साथ अच्छी कवित्व-शक्ति से सपन्न थे। इनका काव्यगत वर्ण्य तो बहुधा वही रहा है जो अन्य परपरागत कवियो का परन्तु उसका प्रस्तुतीकरण इन्होंने अपने ढग से किया है। काव्य रीति के विविधागो के निरूपण के साथ-साथ इन्होने प्रेम के संभोग पक्ष के अनेक जीवंत साथ ही साथ उत्तान शृंगारी

चित्र प्रस्तुत किये है । आंगिक आकर्षण, ऐन्द्रियता, गार्हस्थिक वातावरण और विलास सामग्री का बडा री सरस चित्र ये अपनी शृंगारी कविता मे अंकित करते रहे हैं। ऋतुओ का वर्णन करते हुए इनकी कविता प्रकृति प्रेम और अनुभूति सवलित प्रकृति चित्रण का प्रमाण तो प्रस्तुत करती ही है साथ ही साथ परपरागत पद्धति पर आलंकारिक, सभोगोपयोगी वातावरण निर्मात्री और विरह-उद्दीपनकारी रूप मे भी प्रस्तुत हुई है । हाँ वे वर्णन अवश्य ही विशेष द्रष्टव्य हैं जिनमे कवि ने ग्रीष्मोपचारो अथवा हेमत के कसालो को मिटाने वाले मसालो या नुस्खो की गणना कराई है । यथास्थान भक्ति नीति आदि की कविताएँ भी सुन्दर उक्तियो महित उनकी कृतियो मे देखा जा सकती है जिनमे स्वच्छता और मार्मिकता है । ऋतु-वर्णन और यमुना सबधी कुछ छदो पर समसामयिक कवि पद्माकर का प्रभाव जान पडता है । ग्वाल एक विदग्ध कवि थे जिनकी भाषा मे वाग्वैदग्ध और भाषा प्रवाह का अच्छा रूप गोचर होता है। वे अपने युग के उत्कृष्ट कवियो मे थे इसमे सदेह नही । रीति की अच्छी जानकारी होने के कारण उनकी बहुत-सी रचनाएँ उससे प्रभावित तो है किन्तु स्वतंत्र रूप से पढी जाने पर उनमे रसबाधक उपकरण नही मिलते । काव्य-रीति की मर्मज्ञता से कवित्व की शिखा मद पड गई हो ऐसा ग्वाल के सबध मे कहना युक्ति-युक्त नही जान पड़ता । ग्वाल युगीन काव्यपरपरा के उन्नायको मे आते हैं, उनकी रचनाएँ—शास्त्र कथन और शास्त्र वहन सबधिनी दोनो प्रकार की—उनकी गहरी काव्याभिरुचि की द्योतिका हैं। वे सच्चे अर्थों मे कवि थे और कवित्व के सभार के लिए ही उनका जीवन अर्पित हो चुका था । ग्वाल की कविता का कोई भी अध्ययन अभी तक देखने मे नही आया है । प्रस्तुत अध्ययन एक असपूर्ण अध्ययन है । उसका सम्यक अनुशीलन अब भी अपेक्षित है ।

रीतिसिद्ध कवि

बिहारी

शृङ्गार वर्णन—बिहारी के काव्य का प्रधान वर्ण्य शृङ्गार है । उनकी शृंगार-वर्णना के आलम्बन एक तरफ कृष्ण है, दूसरी तरफ राधा और गोपियाँ । प्रेम-मूर्त्ति राधा और गोपियो का महत्व कृष्ण से अधिक नही क्योंकि अतस्तल मे प्रेम का पोषण जैसा वे करती दिखाई गई है कृष्ण नही । गोपियो के प्रेम मे गाम्भीर्य मिलेगा परन्तु कृष्ण मे लगरैती की भी खासी झलक देखी जायगी । गोपी या राधा और कृष्ण के प्रेम को सामान्य नायक-नायिका के स्तर पर भी उतरा हुआ देखा जा सकता है । प्रेम की ऐसी विवृतियो मे समसामयिक युग की झलक देखी जा सकती है । बिहारी की कविता सम-समायिक युग की प्रतिच्छवि भी प्रस्तुत करती है वह चाहे भक्ति और नीति सम्बन्धिनी हो चाहे शृङ्गार से सपृक्त । पहले हम बिहारी की

उस प्रकार की कविता पर ही एक सरसरी निगाह डालना चाहेंगे जिसके कारण लोक मे उनकी इतनी प्रसिद्धि है ।

कृष्ण – पहले बिहारी के कृष्ण को देखिये । वे शृंगार के देवता हैं, सौंदर्य अपरिमित परिमाण मे उनमे विराजता है । उनकी क्रीडाएँ न केवल गोपियो को बल्कि गोपियो की तरह कवि के मन को भी जमुना-तीर के सघन कुँजो की शीतल मन्द समीर युक्त सुखद छाया-भूमि मे पहुँचा देता है । कृष्ण की पूरी छवि जब सृष्टि मे ही नही समा सकती तो दोहे मे भला क्या समायेगी । बस इसी लिए उस असीम रूप राशि को कुछ दोहो मे जहाँ-तहाँ झलका भर दिया गया है – 'सखि सोहत गोपाल के उर गुँजन की माल', 'सीस मुकुट 'कटि काछिनी कर मुरली उर माल', 'मोर मुकुट की चन्द्रिकनि यो राजत नन्दनन्द', 'मकराकृत गोपाल के कुँडल सोहत कान', सोहत ओढ़े पीत पट स्याम सलोने गात', 'जानति हौं नन्दित करी यहि दिखि नन्दकिशोर' आदि मे उसी सौंदर्य को व्यक्त करने का प्रयास किया गया है । ये रूप संकेत या छवि वर्णनाएँ असम्पूर्ण होते हुए भी कवि-चित्त की अमिट सौन्दर्याभिव्यक्तिया है तथा उनका अपना महत्व है । बिहारी के कृष्ण की बाहरी रूप-रेखा, सौन्दर्य-सज्जा यही है लेकिन अन्दर से वे परम प्रेममय है, मृदुल हैं और रसिक भी –

मोर चंद्रिका स्याम सिर चढ़ि कत करति गुमान ।
लखिबी पायन पै लुठत सुनियत राधा मान ।।

गोपिन सँग निसि सरद की रमत रसिक रस रास ।
लहा छेह अति गतिन की सबनि लखे सब पास ।।

कृष्ण की सम्मोहन शक्ति के और भी कई कारण हैं जिनमे से उनकी मुरली और असीम क्षण शक्ति से सम्पन्न उनकी बलिष्ठ भुजाएँ । रूप और शक्ति की इन अशेष सम्पदाओ ने कृष्ण मे अपार आकर्षण भर दिया है—

प्रलय करन बरषन लगे जुरि जलधर इक साथ ।
सुरपति गर्व हरयो हरषि गिरिधर गिरिधर हाथ ।।

किती न गोकुल कुल बधू काहिन किहिं सिख दीन ।
कौने तजी न कुल गली ह्वै मुरली सुर लीन ।।

राधा, या गोपी नायिका– उधर—शृङ्गार के आलंबन स्वरूप दूसरे पक्ष का भी आकर्षण कुछ कम नही । मेरा अभिप्राय गोपांगनाओ से है और उनकी भी शिरोरत्न राधिका से सुजान श्रीकृष्ण सहज ही जिसके वशवर्ती और अनुचर बने हुए हैं—

अनियारे दीरघ दृगनि किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछू जिहि बस होत सुजान॥

ब्रज दीर्घ कमलायत नेत्रो वाली गोप सुन्दरियो का चिर-विकसित उद्यान है। वहाँ बडी-बडी आँखो वाली कितनी ही गोपियाँ हैं उन्ही के बीच कृष्ण विहार करते हैं, रास-रस लूटते हैं और अपार प्रेमानन्द की धारा वही बहती है। ऐसे मुग्धकर वातावरण की सृष्टि बिहारी ने अपनी कविता मे का है। तारुण्य प्राप्त अथवा तारुण्य मे प्रवेश करने वाली गोपियो का, व्रजागनाओ का और राधा का जो रूप-सौन्दर्य बिहारी ने अपने समय मे अकित किया था वह भी अपनी शैलीगत विशिष्टता के कारण साहित्य मे स्थायित्व प्राप्त कर चुका है। यौवन और रूप का वर्णन करते हुए बिहारी की दृष्टि नायिका के अग-प्रत्यग पर गई है और कवि ने उनका विशद वर्णन किया है। इन सारी रूप एव अंग-प्रत्यंग वर्णनाओ मे कवि ने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षादि के जो सुन्दर-से-सुन्दर प्रयोग किये हैं उनकी चर्चा यहाँ नही की जा रही है। वे चर्चा के स्वतन्त्र विषय हैं। यहाँ हम केवल बिहारी के वर्ण्य-विषय मात्र का ही परिचय कराना चाहते हैं।

यौवनागम—नायिका यौवन मे पदार्पण कर रही है, यह वह पुण्य-सक्रमण काल है जब शिशुता की झलक अभी गई नही और अंगो मे यौवन भी छलकने लगा है। उसके विकसनशाल यौवन को देख उसको सहेलियो मे ईर्ष्या जग-जग उठती है और धीरे-धीरे उसकी मनोदशा भी बदलने लगी है—

भावक उभरौहौं भयो कछुक परयो भरु आय।
सोप-हरा के मिस हियो निस दिन देखत आय॥

तिय तिथि तरनि किसोर वय पुन्यकाल सम दौन।
काहू पुन्यनि पाइयत वैससन्धि सक्रौन॥

धीरे-धीरे नायिका के तन-देश पर जब यौवन नृपति का राज्य छा जाता है तो वह अपने पक्ष के सहायक लोगो की विशेष बढ़ती या तरक्की कर देता है। राजनीति मे ऐसा पक्षपात मामूली बात है। अपने साम्राज्य को सबल और दृढ़ीभूत करने के लिए प्रवीण यौवन नृपति ने भी इसी पक्षपात नीति का सहारा लेना शुरू कर दिया है—

अपने तन के जानि कै जोबन नृपति प्रवीन।
स्तन मन नैन नितंब को बडो इजाफा कीन॥

तरुणी के तन में यौवन की आभा जितनो तेज होती जाती है सपत्नियों के मुख की कान्ति उतनी ही फीकी पड़ती जाती है। अधिकार पा करके हाकिम लोग रुपये पैसो के

हिसाब मे काफी घपला कर दिया करते है। हाकिमे यौवन ने भी नई मिलिकयत पाकर ऐसी ही धाँधली शुरू कर दी है--

नब नागरि तन मुलक लहि जोबन आमिल जोर।
घटि बढ़ि ते बढ़ि घटि रकम करी और की ओर ।।

अंग-प्रत्यंग वर्णन—लहलहाती हुई तरुणाई की चर्चा के बाद कवि तरुणी-तन के अग-अग पर दृष्टि दौडाता है। तरुणी के केशो की सहज चिक्वणता, श्यामता सुकुमारता, अनियन्त्रितता और सुगंधि आदि की चर्चा करते हुए कवि ने चित्त के रीझने और उन्ही केशो मे जा उलझने की बात बार-बार कही है—

कच समेटि कर, भुज उलटि, खए सीस पट डारि
काको मन बाँधै न यह जूरो बाँधि निहारि ।।

———

छुटे छुटावैं जगत मे सटकारे सुकुमार।
गन बाँधत बेनी बँधे नील छबीले बार ।।

कुटिल अलको के मुँह पर छूट पडने से नवयौवना की मुख-कान्ति कितनी अधिक हो जाती है इस बात को बताने वाली बिहारी की 'बंक विकारी देत ज्यों दाम रुपैया होत' वाली उक्ति तो बडी प्रसिद्ध है ही। केशो मे सघनता और विशालता के गुण अपने यहाँ विषेश महत्वास्पद माने गए है। बिहारी ने तो ऐसे केशो के दर्शन में वह सुख और पुण्य माना है जो विकट तीर्थों के परिभ्रमण मे भी असभव है—

ताहि देखि मन तीरथनि बिकटनि जाय बलाय।
जा मृगनैनी के सदा बेनी परसत पाय ।।

नायिका के ललाट पर रत्नजटित टीका तो विशेष रूप से शोभावर्धक होता है और उसके गोरे रग के भाल पर तो लाल, पीली, सफेद, श्याम सभी रंग की विंदियाँ बेहद खूबसूरत लगती है। उधर खुल कर बिखरे हुए केश हो इधर लाल विंदी फिर देखिये रूप की शोभा। चदन चर्चित भाल देश पर लाल बिन्दी नायिका की अरुणिम गौर तन कान्ति के कारण पहले तो दिखाई नही देती लेकिन बाद मे उसकी आभा देखने ही लायक होती है—

मिलि चंदन बेंदी रही, गोरे मुख न लखाय।
ज्यों ज्यों मद लाली चढ़े त्यौं त्यों उघरति जाय।

बिन्दी की ही शोभा के वर्णन के कारण एक जमाने में बिहारी बहुत बडे गणितज्ञ और ज्योतिषाचार्य ठहरा दिये गये थे—

कहत सबै बेदी दिये, आँक दसगुनो होत।
तिय लिलार बेंदी दिये, अगनित बढत उदोत॥

भाल लाल बेंदी ललन, आखत रहे बिराज।
इंदुकला कुज मैं बसी मनो राहुभय भाजि॥

भौंहो के वर्णन मे उनकी कमान सी वक्रता, कँटीलापन या चुभन शक्ति ही विशेष कथित हुई है—'काँटे सी कसकति हिये वहै कँटीली भौंह।' भृकुटियो के धनुप पर चन्दन-खौर का प्रत्यंचा चढा कर काम-बधिक तिलक-शर से तरुण-मृग का शिकार करता फिरता है। अहेरी का यह रूपक भ्रू-धनु के हा सहारे टिका हुआ है—

खौरि पनच भृकुटी धनुष बधिक समर तजि कानि।
हरत तरुन-मृग तिलक-सर, सुरकि भाल भरि तानि॥

नेत्र – नेत्रो का वर्णन बिहारी ने बडे विस्तार से किया हैं तथा उनके नाना गुणो का एक-एक करके वर्णन किया है। नायिका के नेत्र लगते हैं जैसे शृङ्गार रस से नहाए हुए हो। सुन्दरता मे कमलो का और चपलता मे खंजनो का मान नष्ट कर देने वाले नेत्र बिना अजन के ही ऐसे कजरारे है कि उनकी शोभा कही नही जाती। आँखो को बहुत हठीला और चतुर भी कहा गया है। वे अड पर आ जाते हैं तो फिर बल पकड लेते है, टाले नही टलते—'अर ते टरत न बर परे' ऐसा कहा गया है। उनकी मायाविता भी विशेष रूप से चर्चित हुई है—

सायँक सम मायक नयन, रंगे त्रिविध रंग गात।
झखौ बिलखि दुरि जात जल, लखि जल जात लजात।

बड़े-बडे उपमानो का निरादर कराया गया है कमल, मीन, खजन, मृग, कामशर आदि तरुण नायिका के नेत्रो के सामने कुछ नही हैं। कामदेव द्वारा तो उन्हे विशेष रूपसे शिक्षा-दीक्षा मिली है। कामदेव ने ही इन्हे जोरदार अहेरी बना दिया है और परम श्रेष्ठ योगी भी पर मजे की बात तो यह है कि शिष्यत्व ग्रहण करने वाले इन नेत्रों ने अपने गुरु की ही शक्ति ध्वस्त कर दी है—

खेलन सिखये अलि भले, चतुर अहेरी मार।
कानन चारि नयन-मृग नागर नरन सिकार॥
जोग जुगुति सिखए सबै मनौ महामुनि मौन।
चाहत पिय अद्वैतता, कानन सेवत नैन॥

जिन्होने नागर नरो का शिकार करना सिखा दिया और प्रिय से अद्वैत-भाव लाभ करने का योग बता दिया उन्ही महात्मा कामदेव के बाणो की शक्ति को अब ये नेत्र व्यर्थ और निस्तेज करने लगे हैं। सहचरी सहेलियाँ ही अब ऐसा अनुभव करने लगी हैं—

बर जीते सर मैन के ऐसे देखे मैं न।
हरनि के नैनान तैं, हरि नीके ये नैन॥

भौंहो के सग रहने के कारण इनमे कुटिलता भी आ गई है, इनकी चाल तक मे टेढ़ापन समा गया है क्योकि ये लगते तो नेत्रो मे हैं बेधते है हृदय को और व्याकुल करते हैं अन्य सभी अंगो को। इसी गति वैलक्षण्य का निदर्शन कवि ने इस प्रकार किया है—

दृगन लगत बेधत हियो, बिकल करत अंग आन।
ये तेरें सब तें विषम, ईछन तीछन बान॥

कवि ने दृष्टि का, आँखो के इशारो का, आँखो के बातचीत करने आदि का, उनके साहस और निर्दिष्ट लक्ष्य तक पहुँचने के सामर्थ्य आदि का भी कवि ने कथन किया है। नेत्रो को अभिव्यक्ति का अधिक प्रामाणिक माध्यम माना गया है क्योकि मुँह से निकली बात तो झूठी भी हो सकती है पर आँखो से तो सच्चाई ही सदा प्रकट हुआ करती है। निर्मल आरसी के समान हिय की हेत अहेत बता देने वाले नेत्रो की सत्यता सभी ने स्वीकार की है। आँखो की वाचालता बताते हुए कवि ने आँखो ही आँखो मे नायक और नायिका की पूरी बातचीत एक ही दोहे मे करा दी है और इस चतुर वार्तालाप के लिए यह दोहा बहुत प्रसिद्ध भी है—

कहत नटत रीझत खिझत, मिलत खिलत लजियात।
भरे भौन में करत हैं नैनन ही सों बात॥

नेत्रो के विषय मे और जो बातें कही गई हैं वे इस प्रकार है —तरुण नायिका के नेत्र बेहद चंचल हैं, स्थिर रहना तो जानते ही नही। भरी भीड में भी सबकी दृष्टि बचा कर ये नेत्र अपनी दृष्टि प्रिय की दृष्टि से मिला ही लेते हैं। तरुनी की दृष्टि यो तो सभी ओर जाती है पर किब्लानुमा की सुई की तरह आकर अपने प्रिय पर ही टिक जाती है। ये उक्तियाँ वास्तव मे बहुत ही मार्मिक हैं और नेत्रो की वृत्ति की निर्दशिका भी :—

खरी भीरहू भेदि कै, कितहू है उत जाय।
फिरै डीठि जुरि डीठि सों सब की डीठि बचाय॥

सबही तन समुहाति छिन, चलत सबनि दै पीठि।
वाही तन ठहराति यह, किबलनुमा लौं दीठि॥

पहुँचत उठि रन सुभट लौं, रोकि सकैं सब नाहिं।
लाखन हू की भीर में, आँखि उतै चलि जाँहि॥

गड़ी कुटुम्ब की भीर में, रही बैठि दै पीठि।
तऊ पलक परि जात उत, सलज हसौंहीं डीठि।।

इन दोहो मे दृष्टि की सलज्जता, चपलता, एकनिष्टता, साहसिकता आदि गुणो के कथन के साथ-साथ प्रेम की एकनिष्ठता का भी प्रकाशन हुआ है। नेत्रो और दृष्टि की वर्णना के संदर्भ मे एक और युक्ति देखने योग्य है जिसमे कहा गया है कि नायक और नायिका ने अपनी-अपनी अटारियो से दृष्टि की रस्सी इधर से उधर तक बाँध रक्खी है तथा उनके मन नट की तरह उसपर इधर से उधर निडर होकर दौड़ते रहते हैं—तथ्य विशेष्य की व्यंजना और सूझ दोनो ही दृष्टियो से कवि के मानस और बुद्धि उभय पक्षो की सराहना करनी पडेगी—

डीठि बरत बाँधी अटनि, चढ़ि धावत न डरात।
इत उत ते चित दुहनी के, नट लौं आवत जात।।

चंचल नेत्रो की पुतलियाँ तो और भी चंचल हैं। जो पातुरराय की तरह अनत गति लेना सीख गई है। कटाक्षों मे हृदय को आर पार बेध देने की क्षमता बताई गई है। कई एक अनूठे उपमान भी उनके लिए ढूँढकर कवि ले आया है। कभी तो नेत्रो को तुरंग बनाकर उस पर मन को सवारी करते बताया है और कभी कहा है कि ये नेत्र रूपी घोडे लाज को लगाम मानते ही नही, मेरे बस के बाहर हैं और रोकने पर भी प्रिय की ही ओर दौडे चले जाते हैं। कभी इन्हे खुँदी करते हुए घोड़े से भी उपमित किया है।[1] एक दोहे मे इन्हे छोटी जति का बाज या शिकारी पक्षी भी कहा है 'कुही' जो पहले तो नीचे ही नीचे उडता रहता है परतु जब किसी पक्ष पर आक्रमण करना होता है तो बहुत ऊँचे उड जाता है और उस पर अचानक हमला नीचे कर देता है।

नीची पै नीची निपट डीठि कुही लौं दौरि।
ऊठि ऊँचे नीचे दिये मन कुलग झकझोरि।।

आँखों को कही तो हँसीला बताया गया है कही उनको अवगुन्ठन से झलकती हुई चपल सुषमा पर रीझ कर उन्हे गगा प्रवाह मे उछलती हुई मछलियाँ कहा है। उन्हे धनुर्धर कह देना कोई बहुत खास या नयी बात तो नही है पर वह शायराना अदा जरूर क़ाबिले तारीफ है जिसमें उसे पेश किया गया है।

तिय कित कमनैती पढ़ी, बिन जिह भौंह कमान।
चल चित बेझो चुकत नहिं बक बिलोकनि बान।।

बिहारी के इसी तर्जे बयाँ पर द्विवेदी युग के प० पद्मसिह शर्मा ऐसे कितने ही काव्य रसिक सौजान से निसार थे।

---

१ बिहारी बोधिनी : दोहा ७९

अन्य अवयव—अब शरीर के दूसरे अवयवों की वर्णना पर आइये। नासिका का वर्णन करते हुए कवि ने उसके सौदर्य की अपेक्षा उसमे पहने जाने वाले आभूषणो का विशेष वर्णन किया है—सीक, लौंग, बेसर, नथ आदि। नथ पहिनकर नायिका की नाक हँसती सी जान पडती है, लौंग पहन करके तो उसकी नाक चढी-चढी सी लगती है। नथ और बेसर की मोती आदि का भी कवि वर्णन कर गया है जिसमे हल्की और मधुर रसिकता की झलक भली भाँति देखी जा सकती है—

> बेसरि मोती-दुति झलक परी अधर पर आय।
> चूनो होय न चतुर तिय, क्यों पट पोछ्यो जाय॥
> × × × ×
> बेसरि मोती धन्य तू, को पूछे कुल जाति।
> पीबो करि तिय अधर को, रस निधरक दिन राति॥

कपोल का वर्णन करते हुए कवि ने नायिका के कपोलो को गुलाब की पंखुरी से एकमेक कर दिया है—नायिका के गाल पर गुलाब की पखुरी लगी हुई उसमे ऐसी एक रूप हो गई है, वर्ण सुवास और सौकुमार्य की दृष्टि से ऐसी एकमेक हो गई है कि उसकी अलग प्रतीति ही नही होती—

> बरन बास सुकुमारता, सब बिधि रही समाय।
> पँखुरी लगी गुलाब की, गाल न जानी जाय॥

इसी प्रकार कवि ने कान के वर्णन मे तरौने आभूषण का, अधर वर्णन मे पान की पीक और अधरों की लाली का, चिबुक वर्णन मे ठोढी के गड्ढे का या मन के उसमे जा फँसने का, डिठौने के कारण बढे हुए रूपाकर्षण का, मुख के उजास अथवा ओप का, दाँतो की चमक और हँसी की प्रभा का भी वर्णन किया है। शरीर के जिन अन्य अगो का वर्णन हुआ है वे हैं उरज, कटि, जघन, मोरवा, एँडी आदि। अग-अग के वर्णन में कवि ने अपनी रीझ और रसिकता को किसी न किसी रूप मे अवश्य व्यक्त किया है। कटि की क्षीणता, एँडी की अरुणता आदि ही विशेष रूप से वर्णित हुए हैं रूप रग एव अवयवादि का वर्णन करते हुए बिहारी ने पायल, अनवट, बेसर, नथ, तरचौना, (तरकी या मुरासा) खुभी (लौंग के आकार का एक कर्णाभरण) छल्ला (अँगूठी), कर्णफूल, उनमें जडी हुई चुन्नी या माणिक, झिलमिली, घुँघची की माला, माणिक की उरबसी, पँचरंगी नगो की बिन्दी, मुख मे तमोल, आँख मे अजन, पैरो मे महावर आदि का भी वर्णन किया है। जहाँ ऊपर कहे गए आभूषणो का वर्णन हुआ है वही सुगन्धित कचुकी, अँगिया, कुसुभी चुदरी, नीलाचल चीर, श्वेत पचतोरिया (एक प्रकार की बारीक रेशमी साड़ी) चुनौटिया रंग-बिरगी लहरियादार सारी) नीली साडी, जरी के किनारे वाली

सारी आदि का वर्णन किया है। बिहारी जहाँ सौदर्य साधनो से प्रसाधित सौदर्य के रसिक है वही सहज सौंदर्य के भी वे कम प्रशसक नही—

> तीज परब सौतिन सजे, भूपन बसन सरीर।
> सबै मरगजै मुँह करी, वहै मरगजे चीर।।
> × × × ×
> बेदी भाल तँबोल मुख, सीस सिलसिले बार।
> दृग आँजे राजैश्वरी, एही सहज सिंगार।।

रूप और अंग कांति—बिहारी ने नायिका के समग्र रूप, उसकी छवि और अग काति, सलज्जता, सुकुमारता, भावभगी अथवा हाव भावो का वर्णन करते हुए अन्यान्य रूपो मे भी उसके रूप सौदर्य को निहायत खूबसूरत ढंग मे मनोगत कराया है। उसका सब गुणो मे भरपूर रूप ऐसा सलोना है कि उसे जितना भी देखा जाय कम है, उसे अधिकाधिक देखने की प्यास बढती ही चली जाती है। रूपशील कुलवधू छोटे हाथो वाली समझकर श्वसुर ने भिक्षा देने का काम सौप दिया लेकिन यह तमाशा देखिए कि रूपलोभी ससार भिखारी बनकर उसके द्वार पर आने लगा। निराश होने के बजाय भिखारियो की भीड चौगुनी अठगुनी के क्रम से बढने लगी। नायिका के रूप-सुधा आसव को देख कर नायक से मदिरा पीते न बनी – ओंठ प्याले न लगे रह गए और आँखे प्रिय के मुख पर ही टिक रही। नायिका का रूप का तो सारी सृष्टि की सुन्दरता की सीमा है, सारे जगत का रूप लेकर विधाना ने उसे सिरजा है, ऐसे रूप के प्रति आँखो की जो बेचैन है वह कही नही जा सकती। उसके रूप का चित्र बनाने वाले कितने ही चितेरो की चातुरी फीकी पड गई है, कौन है ससार मे जो उसके रूप को चित्राकित कर सके ! उसकी छवि और अगकाति भी अकथ है। उस सोनजुही-सी छवि वाली नायिका पर कौन नही रीझेगा उसके अग-अग के छवि समूह मे पडकर मन भँवर की नाव के समान हो गया है। उसकी अग छटा की बराबरी कोई क्या कर सकेगा—

> केसरि कै सरि क्यों सकै, चपक कितक अनूप।
> गात रूप लखि जात दुरि, जात रूप को रूप।।

पीली चमेली (सोनजुही) की क्यारियो के बीच पहुँचकर तो वह तद्रूप हो जाती है, वहाँ उसके अस्तित्व का भान उसके तन की सहज वासना अथवा सुगधि द्वारा ही संभव हो पाता है। उसकी तन काति का कोई क्या वर्णन कर सकता है जिसके तन नहो वरन् तन की छाया के सामने चाँदनी छाया की तरह जान पडती है। ऐसी अमृतमधुर शीतल प्रभामयी तरुणी की तन-छवि का कौन निर्वचन कर सकता है। उसके तन की द्युति तो भेदीसार * (बरमे) की तरह नायक के चित्त को बेधे देती है। कुमुद, कौमुदी, आरसी जोति (दर्पण प्रभा) आदि उसकी उज्वलता के

समक्ष क्या है, कुछ भी तो नही। उसकी उज्ज्वलता आँखो को उज्ज्वल बना देने वाली है—

कहा कुमुद कह कौमुदी, कितक आरसी जोति।
जाकी उजराई लखे आँखि ऊजरी होति॥

उस केसर वर्ण तरुणी के तन मे लगकर केसर अपना अस्तित्व ही खो बैठती है, केवल उसकी सुगंधि के द्वारा ही लोगो को पता चलता है कि नायिका ने केसर चुपड़ रक्खी है। दीपशिखावत तरुणी-तन के अग-अग नगजटित आभूषणो से जगमगाते रहते है फलस्वरूप अधेरा हो जाने पर भी घर मे प्रकाश की कमी का अनुभव नहीं होता। इस कथन मे छवि और काति का अतिशय्य सूचन ही अभिप्रेत है अन्यथा इसे कल्पना-विलास कहा जायगा। छवि अथवा अग काति के वर्णन मे कवि कुछ अनूठी कल्पनाएँ कर गया है, ऐसी कल्पनाएँ जिनके कारण बिहारी बिहारी कहे जाते हैं। नायिका ने मोतियों की माला पहन रक्खी है जो उसकी अगद्युति से मिलकर कहरुबा की (पीले रग की) माला-सी हो जाती है। अतिशय विचक्षण सखियो को भी भ्रम हो जाता है कि यह माला मोतियो की है या कहरुबा की। अपने भ्रम का निवारण करने के लिए वे उसमे तृण छुआ-छुआ कर देखती हैं क्योकि कहरुवा की माला मे तृण चपक जाया करता है। कहरुवा को कपूरमणि भी कहते हैं—

ह्वै कपूर मणिमय रही मिलि तनदुति मुकुतालि।
छिन छिन खरी बिचच्छनौ लखति छुवाय तिनु आलि॥

चंपे की पीली माला कचन-से शरीर वाली बाला के अग पर पडकर उसके अग के रंग से मिलकर ऐसी एकरूप हो गई है कि जानी ही नही जाती, जब वह कुम्हला जाती है तभी पता चलता है कि उसने माला पहन रक्खी है। केसर, चदन, कस्तूरी आदि अगराग उसके अग की छटा को फीका ही करते हैं जैसे मुँह की भाप से दर्पण की काति नष्ट हो जाती है, कथ्य यह है कि उसकी स्वाभाविक काति ही अधिक स्पृहणीय है। वह इतने गोरे रग की है कि पान की लीक गले से नीचे उतरते हुए उसके कठ देश पर स्पष्ट झलकती दिखाई देती है। अन्य स्त्रियो के बीच घूंघट डाल कर भी जब वह बैठती है तो भी घूंघट के भीतर से उसकी काति फ़ानूस की दीपशिखा-सी स्पष्ट प्रतिबिंबित होती है। स्वर्ण के आभूषण उसके शरीर पर स्पर्श से ही जाने जाते हैं, उसके दर्पण के समान अगो पर आभूषणो के अनेकानेक प्रतिबिंब पडते हैं जिससे उसकी सारी देह आभूषणमय ही प्रतीत होती है, उसके आभूषण दोहरे-तेहरे और चौगुने हो-होकर जनाई देते है। छवि की उठती हुई लपटो के कारण उस कृशागी का शरीर भरा-भरा सा लगता है—

अग अंग छवि की लपट उपटति जाति अछेह।
खरी पातरीऊ तऊ लगै भरी सी देह॥

इसी प्रकार के कल्पना-क्रम मे युक्तियाँ बिठाते हुए कवि ने नायिका के चरणो से अरुणाई की धूल का झरना, उसकी एँडियो मे महावरी की भ्राति होना आदि वर्णित किया है।' इस प्रकार की अतिशय काल्पनिक सृष्टियो के पीछे समसामयिक फारसी शायरी की प्रतिद्वद्विता भी कारण स्वरूप कही जाती है। जो हो, उस युग की रसिको की जीवन-चर्या मे इस प्रकार की रगभरी कविताई जरूर आनन्द की लहर तरगित करती रही होगी। आज भी एक बहुत बडे काव्यपाठको के समाज मे ये रचनाए प्रशसा के दो शब्द तो खीच ही लेती है। प्रबुद्ध और नये युग का काव्यपाठक भी कवि की सूझ-बूझ पर मुग्ध हुए बिना नही रहेगा—

सौकुमार्य—नायिका के सौकुमार्य वर्णन मे कवि लिखता है कि शोभा के ही भार से भला जो सीधे चल नही पाती वह आभूषणादि क्या धारण कर सकेगी ! उस पर बहुत बोझ पड जायगा इसी डर से श्रीकृष्ण अपने हृदय आदि पर कपूर, चंदनादि का लेप नही कराते और बनमाला आदि भी धारण करना छोड दिया है। वह उनके हृदय मे बसती है इसलिए हृदय पर चंदन कपूर पुष्पहार आदि का भार उन्हे सह्य नही। बिछुवो के ही भार से उसकी उंगलियो से लाल रग निचुडने लगता है और गुलाब की पखुरी से उसके शरीर दूखने लगते है। इसीलिए उसके तलवो और एडियो को नाइन अपने हाथो से छूने के बजाय गुलाब के झावे से साफ करना है परन्तु गुलाब की पखुरियो के झावे का प्रयोग करते हुए भी उसका मन सकोच ही मे पडा रहता है।

आलबन के रूप वर्णन के इस प्रसंग को समाप्त करते हुए अब सार रूप मे यही कहना शेष रह जाता है कि बिहारी ने नायक की अपेक्षा नायिका का वर्णन विशेष किया है। नायक के वर्णन के समय तो उनका ध्यान केवल श्रीकृष्ण पर है परन्तु नायिका का वर्णन करते हुए उन्होने केवल राधिका का वर्णन किया है ऐसा नही कहा जा सकता। कही-कही तो राधिका का वर्णन है परन्तु सर्वत्र नही। अनेकानेक रूपवती रमणियाँ वर्णित हुई हैं या फिर किसी कल्पित नायिका का वर्णन है जो रूप सौंदर्य की समस्त विभूतियो से असाधारण रूप से समृद्ध है। उसके एक-एक अग पर रह-रह कर कवि की दृष्टि गई है। जो हो वर्णन अनेकाश मे जहाँ बहुत सुन्दर है वही वे कितनी ही बार कोरी कल्पना या चमत्कृत मात्र पैदा करने वाले है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि कवि की दृष्टि सौंदर्य की नाना प्रकार से अपूर्वता ही देखने दिखाने मे तल्लीन रही है। जिस सौंदर्य का वर्णन उन्होने किया है उसमें कवि की रसिकता तो पूरी टपकती है परन्तु घनआनन्द जैसी आत्म परकता नही मिलती। वह रूप किसी नायिका का है उनकी प्रेमिका का नही।

उद्दीपन वर्णन : ऋतु, चन्द्रिका, पवन आदि—विभाव वर्णन के अतर्गत आलंबन की चर्चा के अनतर उद्दीपन की चर्चा भी अपेक्षित हुआ करती है। बिहारी ने

उद्दीपनातर्गत षट् ऋतुश्रो के साथ-साथ चद्र, चद्रिका श्रौर पवन का भी वर्णन किया है। वसत की मस्ती तो एक ही दोहे मे कथित हुई है जिसमे सौरभ से छका हुश्रा भ्रमर मधु-अध होकर ठौर-ठौर झूमता दिखाया गया है—

छाक रसाल सौरभ सनें, मधुर माधवी गंध।
ठौर ठौर झूमत झपत, भौर झौर मधु अंध॥

'पुलक पसीजे गात' श्रादि का वर्णन करके कवि ने वसत के रोमाचक प्रभाव का भी निदर्शन किया है साथ ही पलाश वनो की अग्निमय प्रभा का वर्णन करके ऋतु की विरहोद्दीपकता भी सूचित की है—

अत मरैगे चलि जरैं, चढि पलास की डार।
फिरि न मरैं मिलिहैं अली, ये निरधूम अँगार॥

विरह की प्रमत्तता इसे मानिये या मात्र उक्ति श्रौर सूझ। उक्ति मात्र ही यदि माना जाय तो भी उसकी विलक्षणता असदिग्ध है। जीती जी ही यदि जल मरना है तो धुएँ की घुटन से तो कम से कम विरहिणी बचेगी ही इसी उद्देश्य से वह दह्यमान पलाश वन की डालो पर चढ जाना चाहती है। ग्रीष्म वर्णन मे अधिक सहृदयता दिखाई देती है। कवि कहता है कि ये चारो तरफ चलने वाली गर्म हवाएँ नही हैं श्रौर न भीषण अग्नि दाह ही है यह जो वातावरण मे ऊष्मा है, गरम लपटे है श्रौर लू के तेज झोके हैं वे वसत के विरह मे निकलने वाली ग्रीष्म की निःश्वासे है। इस भयकर गर्मी ने तो ससार मे कलह को एक दम शात कर दिया है श्रौर उसे तपोवन मे परिणत कर दिया है—साँप श्रौर मोर, मृग श्रौर बाघ जलाशयो के निकट अब एक साथ बसने लगे हैं। ग्रीष्म की प्रचड ऊष्मा मे छाया अब सब जगह बिलबिलाती फिर रही है यह तथ्य पर्याप्त सुन्दरता, मार्मिकता श्रौर चित्रात्मकता के साथ इस दोहे मे कथित हुश्रा है—

बैठि रही अति सघन बन, पैठि सदन तन माहँ।
निरखि दुपहरी जेठ की, छाहौं चाहति छ ह॥

वर्षा तो ग्रीष्म की प्रचड ऊष्मा के बाद परम श्राह्लादिनी ऋतु के रूप मे सामने श्राती है, वह कामिनी मन को श्रौर भी तृष्णाशील तथा स्नेह सरसित करने वाली है—

तिय तरसौं हैं मन किये, करि सरसौंहैं नेह।
धर परसौंहैं ह्वै रहे, झर बरसौंहैं मेह॥

पावस मे अधकार इतना अधिक होता है कि दिन श्रौर रात चकवी-चकवा को देखकर ही जाने जाते हैं (उनकी उपस्थिति से दिन का श्रौर वियुक्ति से रात्रि का बोध हो पाता है), यहाँ भी सूझ का ही वैशिष्ट्य प्रधान कहा जायगा। इस ऋतु के वर्णन मे अंधकार के साथ-साथ बिजली की चमक श्रौर मेघो की घुमड़न का भी यत्किंचित उल्लेख मिलेगा पर उससे भी अधिक नायक नायिका के सयोग-वियोग का कथन हुश्रा है। सयो-

गिनी तो अपने प्रियतम के गले मे भुजाएं डालकर अपनी अटारी पर चढकर कभी मेघो की घटा को देखती है और कभी बिजली की छटा को। वर्षा को विशेष रूप मे उद्दीपन-कारी बताया गया है और माननियो मे बार-बार मान त्याग करने की बात कही गई है क्योकि इस ऋतु मे ससार भर की स्त्रियाँ कोप और मन के कुढग छोड देती है, बूढो मे भी रग-तरगो का सचार हो आता है। वर्षा मे प्रबल से प्रबल मानिनी भी अपने मान की गाँठ को कम नही पाती, संत आदि की गाँठ तो इम ऋतु मे कस जाती है परतु मान की गाठ छूटने लगती है। वर्षा के अभिसार के प्रति सलज्ज और शंकालु नवोढाओ को दूतियाँ ऋतु के वैशिष्ट्य की ही बात बता कर अधिकाधिक प्रोत्साहन देती है और कहती है कि उठ ! चल, इतनी ठक-ठक ठीक नही, यदि तुझे कोई देख भी लेगा तो यही समझेगा कि वर्षा के मेघो के बीच बिजली चली जा रही है। एक ओर ऋतुजनित मनोभावों का दूसरी ओर तन्वगी की रूप-विभा का कैसा आमोद-प्रद चित्रण है —

उठि ठक-ठक एतो कहा पावस के अभिसार।
जानि परैगी देखियो, दामिनि घन अँधियार॥

विरहिणी की तो वर्षा मे बुरी हालत बताई गई है। उसका कहना है कि आग की लपट भली है परन्तु वर्षा की झडी अच्छी नही क्योकि उसके तो स्पर्श होने पर देह जलता है परन्तु इसे तो देखकर ही देह दग्ध हो जाता है। वर्षा के प्रथम पयोद को देखते ही विरहिणी चीख उठती है कि ये बादल नही हैं बल्कि धरती पर चारों ओर उठने वाला धुँआ है जिसका काम ही हम विरहिणियो को जलाना है। वर्षाऋतु मे जुगनुओ को देखकर भी उसे इसी प्रकार का भ्रम होता है—

धुरवा होहिं न अलि उठे धुआँ धरनि चहुँ कोद।
जारत आवत जगत को पावस प्रथम पयोद॥
×   ×   ×   ×
विरह जरी लखि जोगननि कही न वहि कै बार।
अरी आव भजि भीतरै बरसत आजु अंगार॥

पावस मे परदेस जाने वाले प्रिय को अपने लिये 'प्यारी' शब्द का प्रयोग करते देख नायिका की वेदना भडक उठती है, वह व्यग करती हुई कहती है कि हे प्रिय ! तुम्हारे मन और वचन की यह अनेकता ठीक नही। यदि पावस मे तुम हमसे अलग ही होना चाहते हो तो वामा, भामा, कामिनी आदि और भी बहुत से शब्द हैं उनका प्रयोग करो 'प्यारी' ऐसे सुन्दर शब्द को क्यो लज्जित करते हो। जरूर ही बिहारी की यह नायिका उच्चकोटि की साहित्यिक रुचि रखने वाली रही होगी। वर्षा ऋतु आया देख कर ही विरहिणियो की व्यथा और चिंता बढ जाती है। वे कहने लगती हैं कि अब तो परम कामोद्दीपक वर्षा ऋतु आ गई अब कदब पुष्प की सुगन्धि को सँभाल सकना

कोई हँसी खेल नही है । वे उन प्रेमियो के भाग्य को सराहती हैं और उनसे ईर्ष्या भी करती है जो बिना क्षणिक वियोग के पूरी वर्षा ऋतु व्यतीत करते हैं—

वे ई चिरजीवो अमर निधरक फिरौ कहाय ।
छिन बिछुरे जिनकी न यहि, पावस आयु सिराय ।।

यहाँ संयोग की कैसी प्रबल अभिलाषा व्यक्त हुई है । दूसरी किसी भी पद्धति से संयोग की इतनी उत्कट आकाक्षा की आभिव्यक्ति संभव न था । बिहारी की विरहिणी तो वर्षा ऋतु मे बेहोश हो-हो जाती है तथा प्रिय का नाम लेकर और शीघ्र ही उसके आने की अवधि सूचित करके जो सखी उसे होश मे ले आती है उससे भी वह यही कहती है कि तूने व्यर्थ मे मुझे चैतन्य प्रदान किया है, मेरी तप्त आहो को घनीभूत कर दिया है, इससे तो भली मेरी मूर्छा ही थी । वर्षाजनित प्रेमिका-चित्त की यह दशा कितनी दयनीय, दारुण और मार्मिक है । वर्षा ऋतु का वर्णन अपने इसी उद्दीपनकारी स्वरूप को प्रत्यक्ष कराने में विशेष सहायक हुआ है । शरद ऋतु आई और उसने वर्षा के सारे जजाल काट फेके, रास्ते खुल गए, प्रवासी घर लौटे । मेघो का भय जाता रहा । संसार ने चैन की साँस ली । उधर रसिक शिरोमणि शरद चद्रिका मे रास रस मे मत्त होने लगे । शरद बीतने के बाद हेमत ऋतु आती है, इसमे रात बडी होती है और चकवे को विशेष दुःख प्राप्त होता है—'ओक ओक सब लोक सुख कोक सोक हेमन्त ।' यहाँ पर चकवा समूचे विरही समुदाय का प्रतिनिधि है । विरहियो के लिए विहारी ने इस ऋतु को विशेष दुखद और कामोद्दीपक बताया है—अगहन में कामदेव ससार को धनुष बाण के बिना ही जीत लेता है—

कियो सबै जग काम बस, जीते जिते अजेय ।
कुसुम सरहिं सर-धनुष कर अगहन गहन न देय ।।

इसे कवि ने मिलकर बिहार करने की ऋतु कहा है, इसमें वियोग अत्यंत असह्य और मारक बतलाया गया है । शिशिर ऋतु मे शीत अधिक हो जाती है, राते बहुत बड़ी होने लगती हैं और दिन छोटे । सूर्य का प्रताप शिथिल पड जाता है । दिन कब आता है और कब चला जाता है इसका पता ही नही चलने पाता । दिन मान को इस युक्ति द्वारा 'घरजमाई' की तरह दलित मान बतलाया गया है—

आवत जात न जानिये तेजहिं तजि सियरान ।
घरहिं जँवाई लौं घट्यौ, खरो पूस दिनमान ।।

सूर्य की किरणों का ताप चन्द्र किरणो-सा शीतल हुआ बताकर बिहारी एक और भी दूर की कौडी ले आये हैं—चकोरी को सूर्य की किरणें चन्द्रमा-सी शीतल प्रतीत होती हैं फलतः वह रात्रि का सुख दिन' मे ही अनुभव करती हुई माघ के

महीने मे चन्द्रमा के भ्रम मे सूर्य को ही देखा करती है। पद्माकर ने शिशिर का कमाला मिटाने वाले बहुत मे नुस्खे बताये हैं। अपनी गागरी वृत्ति के कारण अधिक न कहकर बिहारी ने एक ही आध नुस्खे दिये हैं पर जो हैं वे बहुत ही तगड़े -

> तपन-तेज तापन-तपन तूल तुलाई माह।
> सिसिर सीत क्यौंहु न मिटै विन लपटे तिय नाह ॥

शिशिर के भास से गर्मी दुर्गम स्थानों को जा छिपती है—

> रहि न सकी सब जगत में, सिसिर सीत कैं त्रास।
> गरमी भजि गढवै भई; तिय-कुच अचल मवास ॥

इस दोहे का व्यग्यार्थ या अभीप्टार्थ इस दोहे से दुगना गूढ है। बस इसी रूप में ऋतुओ का वर्णन बिहारी ने किया है। या तो वह प्रेमी-चित्त के मनोभावो की सवर्धक अथवा उद्दीपनकारिणी शक्ति के रूप मे बताई गई है या फिर कवि ने उसे लेकर अनेकानेक युक्तियाँ प्रस्तुत की है जिनमे बुद्धि का चमत्कार और दूरारूढ कल्पनाओं का वैशिष्ट्य ही देखने योग्य है।

रीतिबद्धता की वृत्ति के कारण बिहारी निर्धारित ऋतु-वर्णन या प्रकृत्ति चित्रण की सीमा के अदर अदर ही घूम-फिर कर रह गए हैं। प्राकृतिक सौंदर्य की व्यापक विभूतियो मे अत्यत परपरित विषयो चन्द्रमा, पवन आदि तक ही उनकी दृष्टि जा सकी है। चन्द्रमा के वर्णन मे उसकी पवित्र और चित्तमोहिनी धवलता; शीतलता आदि का कथन तो दूर बिहारी ने बस यही कह कर सतोष किया है कि अरे नायक तू इस आकाश के चन्द्रमा को क्या देखता है तू अपनी प्रेयसी के उस मुखचन्द्र को क्यो नहीं देखता जो तेरे ही भाग्य से आज उदित हुआ है—'तो भागनि पूरब उग्यो अहो अपूरब चद।' बस इसी उक्ति के माध्यम से बिहारी क्या उनके वर्ग के सभी रीति-बद्ध कवियो की प्राकृतिक वर्णना सबधिनी वृत्ति को जाना-पहचाना जा सकता है। चाँदनी मे उन्हे वह अधकार दिखाई देता है जो समस्त वियोगियो के चित्त मे समाया हुआ होता है—'जोन्ह नहीं यह तम वहै, किये जु जगत निकेत।' वायु का वर्णन भी नाना रूपको के अलकृत आवरण मे लिपट कर आया है। वासती कुज समीर को मद मंद चाल से आने वाला कुजर (हाथी कहा गया है मकरंद कणो के भार से मदता प्राप्त मलयज को परिश्रात पथिक कहा गया है अथवा नवोढा नारी। कभी-कभी खूँदी या उछल कूद करता हुआ तुरग भी उसे बताया गया है।[1]

---

[1] बिहारी बोधिनी—दोहा ५६०. ५६४।

प्रेम-वर्णन

बिहारी ने प्रेम का वर्णन 'बिहारी सतसई' मे असाधारण विस्तार से किया है। उसमे एक बहुत बडी बात यह दिखाई देती है कि एक ओर जहाँ उनके दोहो मे किसी के प्रेम का वर्णन हुआ है वही ऐसा भी लगता है कि वे दोहे प्रेम तत्व का विवेचन या निरूपण भी कर रहे हैं। ऐसे दोहो मे मानो प्रेम के लक्षण भी सूचित कर दिये गए है।

प्रेमिका की दशा—प्रेम मे पडी हुई प्रेमिका स्वय ही अपनी मनोदशा का बखान करती है, अनेक बार कवि की सखियाँ और दूतियाँ भी उसकी स्थिति का वर्णन करती है प्रेमिका कहती है कि करोडो यत्न करने पर भी मेरा मन मोहन के रूप म जो जा फँसा सो जा फंसा, अब वह उससे उसी प्रकार घुल-मिल गया है जैसे पानी मे नमक, उसे करोड़ो प्रयत्न करके भी उनसे अलग नही किया जा सकता। इन आँखो को लगता है प्रेम नही है बल्कि कोई रोग हो गया है जो ये हर समय जल से भरी रहकर भी प्यासो मरी जाती है। हे प्रिय! तेरी चाह रूपी चुड़ैल इस तरह मेरे पीछे पड़ गई है कि क्या बताऊँ उसने मेरी देह को अत्यन्त कृश बना दिया है और मेरे अनेक प्रयत्नो के बावजूद भी वह मेरा पीछा नही छोड़ती। इस अनुरागी चित्त की दशा कोई समझ नही सकता, ये जितना ही श्रीकृष्ण के श्याम रग मे डूबती है उतनी ही उज्ज्वल होती जाती है। मैने तो समझा था कि आँखो के मिलने से आँखे सुख पाएंगी, यह नही सोचा था कि दृष्टि के लिए दृष्टि ही पीडा का कारण हो जाएगी—

> मैं हो जान्यो लोचननि, जुरत बाढि हैं जोति।
> को है जानत डीठ को, डीठि किरकटी होति।।

अजीब है मेरा प्रिय जिसने अपनी छवि की माधुरी पिला कर इन नेत्रो को ठग लिया है और अब ये नेत्र उसी के पीछे लग गए है, उन्हे मुझसे भी कोई मोह नही है। प्रेमिका कहती है कि यह प्रेम की आग अजीब है जो आँखो मे लगती है तो मन तक व्याप्त हो जाती है, इससे तो दूरी ही भली। प्रेम मे ऐसा ही उलटा-सीधा बहुत कुछ हुआ करता है - आँखे किसी से उलझती है नाता किसी से टूटता है, सद्‌भाव कही जगता है दुर्भाव कही उपजता है आदि-आदि—

> को जाने ह्वै है कहा जग उपजी अति आग।
> मन लागै नैनन लगे, चलै न मग लग लागि।।
>
> दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
> परति गाँठ दुरजन हिये, दई नई यह रीति।।

प्रेमिका कहती है कि नशे तो और भी बहुत से हैं पर रूप-सौंदर्य का नशा बहुत गहरा

होता है क्योकि यह उतरता नही, भय, निद्रा और कालातर से भी इस नशे से मुक्ति नही मिलती—

> डर न टरै नींद न परै, हरै न काल विपाक।
> छिनक छाकि उछकै न फिर खरो विषम छवि छाक॥

लोभी नेत्रो को तो प्रेमिका बार-बार कोसती है जिन्होने रूप के लालच में फँसकर उसके मन को बेच डाला है। ये नेत्र ऐसे हठीले हो गए है कि जिधर घूम गए उधर घूम गए, अब वहाँ से हटाए नही हटते दूसरी ओर को मुडते नही। प्रकारान्तर से यहाँ यही बताया गया है कि सच्चे प्रेम मे अनन्यता हुआ करती है –

> ढरे ढार त्योंहीं ढरत दूजे ढार ढरे न।
> क्योंहूँ आनन आन सों, नैना लागत है न॥

सच्चा प्रेम इतना गरजमद होता है कि प्रिय एक बार रोष भी कर ले और न भी बोले तो भी प्रेमिका अपना प्रेम नही छोडती—

> अपनी गरजनि बोलियत कहा निहोरो तोहिं।
> तू प्यारो मो जीव को मो जिय प्यारो मोहि॥

प्रेम मे जितना ही कटाव होता है या बाधा आती है प्रेम उतना ही दृढ होता जाता है और लोग प्रेमियो की जितनी ही निन्दा करते है उतना ही उनका प्रेम बढता जाता है—

> करत जात जेती कटनि, बढ़ि रस सरिता सोत।
> आल बाल उर प्रेम तरु तितो-तितो दृढ़ होत॥

> खल बढई बल करि थके, कटै न कुबत कुठार।
> आल बाल उर झालरी, खरी प्रेम-तरु-डार॥

प्रेमिका कहती है कि प्रेमनगर मे न्याय नही है, यहाँ पर (प्रेम की) मार खाया हुआ जीव बार-बार मार खाता है और मारने वाला (खूनी या कातिल) खुश हो-हो कर घूमता है। इस नगर मे जो आता है वह छूटने नही पाता। भला ऐसे नगर मे कोई किस प्रकार बसे और किस प्रकार उसका निबाह होगा, नीति और न्याय को तो यहाँ तिलाजलि दे दी गई है—

> क्यों बसिये क्यौं निबहियै, नीति नेह-पुर नाहि।
> लगा लगी लोयन करैं नाहक मन बँधि जाहि॥

यहाँ गलती और शरारत आँखो की होती है तो दड मिलता है मन को देह को। प्रिय की आँखो को देखकर तो सारी चतुराई ही गायब हो जाती है, उनके साँवले गात को देखकर तो ये नेत्र उनके ही हो जाते हैं। ये नेत्र ऐसे लोभी हैं कि परम रूपशाली के

रूपमात्र से ही संतुष्ट नही होते उसकी मुस्कान के भी अभिलाषी हैं। ये नेत्र अपना सर्वस्व हार कर भी हँसते रहते है। ये मेरे बस मे नही है और न लज्जा आदि की लगाम ही मानते है, मुँहजोर घोडे की तरह खीचने पर भी आगे को ही बढे चले जाते हैं—

लाज लगाम न मानहीं नैना मों बस नाहिं।
ये मुँहजोर तुरग लौं ऐंचत हूँ चलि जाहि॥

इन तथा अन्यान्य कितने ही रूपो मे प्रेमिका अपनी प्रेम-दशा का वर्णन करती है।

सखी या दूती द्वारा प्रेमिका के प्रेम की व्यजना—प्रेम की व्यजना के लिए बिहारी ने और भी कितने ही माध्यम चुने हैं। घनआनद सरीखी आत्मगत प्रेम विवृति न होने के कारण बिहारी के काव्य मे प्रेम सम्बन्धो के निदर्शन मे मध्यस्थो की भी योजना की गई है जो एक में दूसरे के प्रति अनुराग जगाते है बढाते है। एक का रोष या मान कम करते हैं दूसरे को प्रेम-पथ पर आगे बढने की प्रेरणा देते हैं, संदेशा पहुँचाते हैं, उपहार पहुँचाते हैं, दशा निवेदन करते है, शृङ्गार करते है, सलाह देते हैं, रास्ता दिखाते हैं आदि-आदि। दूत-दूतियो, सखा-सखियो की इस विशद कार्यावली का निदर्शन यहाँ हमारा अभिप्रेत नही, प्रेमिका की प्रेम मे क्या मनोदशा है इसको सखियाँ किस रूप मे प्रस्तुत करती हैं यही दिखलाना सम्प्रति हमारा अभीष्ट है।

सखी नई प्रेमिका की प्रीति का निदर्शन कराती हुई कहती है कि जरा इस नई दही बिलोने वाली की गति तो देखो, पास की दहेडी को छोड कर मथनी मे पानी भर कर उलटी मथानी से ही उसे मथे जा रही है। जरूर ही पास मे कहीं नायक को खडा देखकर प्रेमिका की यह दशा हो गई है। नया प्रेम करोडो यत्न करने पर भी छिपता नही, नायिका की आँखो की बनावटी रुखाई ही कहे देती है कि उसका चित्त स्नेह से चिकना हो गया है—'कहे देत चित चीकनो, नई रुखाई नन।' प्रेम गोपन करने वाली प्रेमिका से ही सखी कहती है कि स्नेह मे सगबगी (शराबोर) तो तू यों ही दिख रही है मिथ्या रोष क्यो जतला रही है, तेरा कटंकित (रोमाचित, गात ही इस कथा को कहे देता है—

पूछे क्यों रूखी परति, सगबगि रही सनेह।
मनमोहन छबि पर कटी, कहै कँट्यानी देह॥

सखी कहती है कि प्रेमिका को लोक और कुल की परवाह नही है, घर-घर मे घैरु (चुगली) चलती है फिर भी वह अपने घर नही ठहरती बार-बार प्रिय के घर की ओर आती-जाती है। नट के बटे अथवा गेंद की तरह कभी तो वह अटारी पर चढ़ती है और कभी नीचे को उतर आती है, दिन भर उसका यही क्रम रहता है, यहाँ से वहाँ, वहाँ से यहाँ चकई की तरह नाचती रहती है। कभी-कभी प्रेम और

लज्जा के दुतरफे खिंचाव के बीच फिरकी की तरह चकराती और बेचैन भी होती है—

नई लगन कुल की सकुच विकल भई अकुलाइ।
दुहूँ ओर ऐंची फिरति फिरकी लौं दिन जाइ॥

उसकी और भी नानाविध प्रेमदशाओं का वे वर्णन करती हैं। वे कहती हैं कि प्रियतम की छवि का नशा पीकर वह बेहोश हो जाती है, रात-दिन वह नशा उस पर सवार रहता है और असयत होकर निःशक भाव से जो जी मे आता है बकती फिरती है। कभी वह जडता की स्थिति को भी प्राप्त करती है और बुलाने पर भी मुश्किल से बोलती है। प्रियतम के ध्यान मे कभी तो वह तद्गत हो जाती है—

प्रिय के ध्यान गही गही रही वही ह्वै नारि।
आपु आपु ही आरसी, लखि रीझति रिझवारि॥

और कभी यहा से वहाँ और वहाँ से यहा दासी (दासी की तरह अधीर होकर डोलती है। कभी वह प्रिय की ओर निहारती है और कभी लज्जा मे भर उठती है। कभी प्रेम लहरें लेता है और कभी गुरुजनो की लज्जा बाधित करती है, कभी प्रेम मे वह जडवत हो जाती है और बुलाने पर रुष्ट होकर बोलती है। सखी कहती है कि प्रिय पास है फिर भी उससे भेंट न होने के कारण उसके मन मे असाधारण व्यथा होती है, इस बात की तो मुझे ही पूरी जानकारी है—

चित तरसत मिलत न बनत बसि परोस के बास।
छाती फाटी जाति सुनि टाटी ओट उसास॥

प्रेमिका के मन में नायक के बारे मे प्रत्येक बात पूरी तरह जान लेने की प्रबल स्पृहा विद्यमान है। इसलिए वह अपनी दूती से पूछती है, बार-बार पूछती है और तरह-तरह से पूछती है कि श्यामलगात प्रियतम ने क्या कहा है, क्या सदेश भेजा है, जब तू उनसे मिली तो वे क्या कर रहे थे और मेरी चर्चा उन्होंने किस प्रकार चलाई आदि आदि प्रेमिका के उत्कठापूर्ण चित्त की यह झाँकी बहुत ही सरस और मार्मिक है। प्रिय सामने हो और वह उसकी रूप-छवि पीती ही रहे यही उसकी अभिलाषा है, मन अपना प्रिय को समर्पित कर देती है और स्वय निश्चेष्ट हो रहती है, प्रीति में उसकी यह दशा है। सखी कहती है कि हे प्रिय तुमने प्रेम से जो व्यजन (पखा) उसके लिए भेजा उससे उसका सताप तो मिटा परन्तु वह पसीना-पसीना हो गई, तुम्हारा नाम सुनते ही उसके तन-मन की दशा ही बदल गई, छिपाने की उसने बहुत चेष्टा की पर मुझसे छिपने न पाई और वह माला जो तुमने उसके लिए भेजी थी उसे वह अपने हृदय पर ही धारण किये रहती है भले ही वह सूख कर निर्गंध ही क्यों न हो गई हो—

नेकौ उहि न जुदो करी हरषि जु दी तुम माल।
उर तें बास छुट्यौ नहीं बास छुटे हू लाल॥

और हे लाल तुम्हारे हाथ का दिया हुआ छल्ला (मुन्दरी या अँगूठी) पाकर तो उसके हर्षोन्माद का वार पार नही है—

छला छबीले लाल को, नवल नेह लहि नारि।
चूमति चाहति लाभ उर, पहिरति धरति उतारि॥

प्रेम मे नायक की दशा—इस प्रकार नायिका की प्रेम-दशा का वर्णन तो बिहारी ने बड़े विस्तार से किया है परन्तु प्रेम मे नायक की दशा क्या होती है इस पर भी उनकी निगाह गई है। प्रेमी नायक मे नायिका के प्रति रूप रसिकता विशेष दिखाई गई है देखिये-नायक जाली के छेद से नायिका की अगदीप्ति की जरा-सी झलक पाकर अपनी दृष्टि उसी जालरध्र पर लगा देता है और सारी दुनिया की तरफ पीठ कर देता है—

.जालरंध्र मग अगनि को कछु उजास सो पाय।
पीठि दिये जग त्यों रहै, डीठि झरोखनि लाय॥

कभी वह नायिका की किसी चाल पर रीझता दिखाया गया है और कभी किसी मुद्रा पर। प्रेमी नायक कहता है कि एक डगडगमगाती हुई चल कर, जरा सा रुक कर, मेरी ओर देख कर वह तो चली गई परन्तु मेरा चित्त मेरे हाथ न रहने पाया। उसे वह चुरा ले गई—

डगकु डगति सी चलि उठकि, चितई चली सँभारि।
लिये जाति चित चारटी, वहै गोरटी नारि॥

चमक, चिकनाई, तेजी और लचकभरी साँवली नायिका मेरे चित्त को नागिन की तरह डस जाती है। इन वर्णनो मे जैमा ऊपर कहा जा चुका है प्रेम की अपेक्षा रसिकता ही अधिक है। नायिका ने नायक को पान दिया बस इसी स्नेहस्निग्ध अवसर पर नायक अपने रसद्रवित चित्त की दशा का वर्णन कर चलता है—प्रेम और सकोच के साथ हर्ष, स्वेद, कंप आदि सात्विक भावो के साथ मुस्करा कर उसने मेरे हाथ मे पान क्या दिये मेरे प्राण उसने अपने हाथ मे कर लिये, रूपा सक्ति और द्रवीभूत चित्त का यह वर्णन भी बहुत हृदयस्पर्शी है—

सहित सनेह सकोच सुख, स्वेद कंप मुसुकानि।
प्रान पानि करि आपने पान धरे मो पानि॥

नायिका उरबसी (माला) के समान नायक के उर में बसी रहती है, उसकी एक-एक चेष्टा निरंतर प्रेमी नायक के हृदय में खटकती रहती है—

चितवनि भोरे भाय की गोरें मुख मुसकानि।
लगनि लटकि आली गरे, चित खटकति नित आनि॥

नायिका की रूपासक्ति इतनी बढ़ी हुई दिखाई गई है कि वह पराग और मधुरहित कली पर ही हर तरह से निसार है। जिस प्रकार नायिका नायक द्वारा भेजे उपहार को पाकर हर्ष से आत्मविस्मृत हो जाती है उसी प्रकार नायक भी। नायिका द्वारा प्रेषित गुलाब के फूल को हाथ मे लेकर कभी तो वह छूता है कभी पोछता है और कभी उसके गालो का ध्यान करके उसकी ओर देखता रह जाता है—'परसत पोछत लखि रहत लगि कपोल के ध्यान।' राधा के लडैते नेत्र तो नायक कृष्ण को बेहाल कर देते है, उनकी दशा ही विचित्र हो जाती है—

कहा लडैते दृग करे, परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली कहुँ पीतपट, कहूँ मुकुट बनमाल।।

प्रेम क्रीड़ाएँ – यहाँ तक तो प्रेम मे पडे प्रेमी नायिका-नायक की मनोदशा का कुछ निदर्शन हुआ अब प्रेम मे होने वाले कतिपय व्यापारों का वर्णन देखिये। इन्हे आप प्रेम की क्रीडाएँ कह लीजिये चाहे प्रेम के खिलवाड। प्रेम की वृत्ति कुछ मन ही मे घनी-भूत नही होती रहती, वह नाना रूपो मे व्यक्त भी तो होती रहती है तथा संयोग की अवस्था मे तो और भी। नायिका नाना हाव-भावो का प्रदर्शन करती हुई नायक को अपनी ओर आकृष्ट करती है, ललचाई हुई नजरो से देखती है, घूँघट की ओट से देखती है और कभी पास से छाया छू कर चली जाती है। कभी वह ढिठाई के साथ हँसती बोलती है और प्रिय उसके रूप का नशा पीकर जड़ हो रहता है, कभी नायक चित्र बनाता रहता है नायिका उसे निहारती रहती है, कभी टटिया फाडकर नायिका नायक को निहारती रहती है और कभी नायक की भेजी हुई माला को पाकर हर्षातिरेक से कटकित हो जाती है। कभी नायक की पतंग की परछाई के पीछे आँगन मे यहाँ से वहाँ वहाँ से यहाँ दौडती रहती है—

गुडी उडी लखि लाल की अँगना अँगना माँह।
बौरी लौं दौरी फिरति छुवति छबीली छाँह।।

कभी नायक के निषेध करने पर भी नायिका मुस्करा कर अपनी गाये नायक की गायो मे मिला देती है, कभी बतरस के लोभ मे लाल की मुरली चुरा दी जाती है, कभी नायक नायिका को जान-बूझ कर बार-बार ककरीली गैल से ले जाता है और उसे तंग करता है—

नाक मोरि सीबी करै जितै छबीलो छैल।
फिरि फिरि भूलि वहै गहै, पिय कँकरीली गैल।।

कभी प्रिय नायिका के पैरो का दर्द के साथ काँटा निकालता है और नायिका को इससे पूर्ण परितृप्ति होती है, कहती है भला हुआ जो पैरों में काँटा गड गया, नायक के प्रेम की प्रतीति तो इससे हुई—

ए काँटे मो पायँ गडि लीन्हों मरत जिवाय।
प्रीति जतावत नीति सों मीत जु काढ्यो आय ॥

कभी प्रेमिका नायक के घर जामन लेने के बहाने जाती है और किसी बहाने उसकी ओर सस्मित दृष्टि से निहार कर उनके हृदय मे नेह जमा आती है – 'आई जामन लन तिय नेहं गई जमाय।' इस प्रकार के बहुसख्यक प्रेम व्यापारो का बिहारी ने विदग्धतापूर्वक चित्रण किया है। दोहे की सकीर्ण सीमा मे ये चित्र उरेहे गए हैं। ये कवि की असाधारण चित्राकन क्षमता का निर्देशन करने वाली बात है। फाग के वर्णन मे ऐसे ही कई सुन्दर चित्र अकित किये गए है—नायिका गुलाल की मूँठ देख कर जितना ही डरती है नायक उतना ही उसे झूठ मूठ मे डराता है, दोनो एक दूसरे को अच्छी तरह रग म तर करके भी एक दूसरे मे दूर नही हटते और इसी प्रकार उदार-चित्त नायक भी रस लिप्सावश फाग मे जल्दी 'फगुआ' देने को तैयार नही—

ज्यौं ज्यौं पट झटकति हठति, हँसति नचावति नैन।
त्यौं त्यौं निपट उदारहू फगुआ देत बनै न ॥

प्रेम के अन्य प्रसंग—'बिहारी सतसई' मे और भी कितनी ही स्थितियो, भावनाओ और प्रेमदशाओ की वर्णना देखी जा सकती है। प्रणय और जीवन के शृंगारिक सदर्भों का ही कथन सतसई का प्रधान वर्ण्य है। लाला भगवान दीन और रत्नाकर जी सरीखे बिहारी साहित्य के मर्मज्ञो ने नायिका भेद ग्रथों के शतशत लक्षणो को सतसई मे घटित किया है। यह एक समीचोन और परपरा प्राप्त दृष्टि रही है जिससे कि बिहारी की कविता का आनद परपरागत काव्य के रसिक लेते रहे है, वह दृष्टि बिहारी के काव्य को ठीक-ठीक समझने मे सहायक रही है परन्तु यदि हम रीति-शास्त्रीय दृष्टि को छोड भी दे तो भी बिहारी के दोहे अपने स्वतत्र अस्तित्व के साथ कम आकर्षक नही लगेगे। कहने का अभिप्राय यह है कि परपरा और शास्त्रज्ञान से तो बिहारी को ठीक-ठीक समझा ही जा सकता है परन्तु उसके बिना भी बिहारी की कविता का रस प्राप्त करने मे काव्य-पाठक को किसी बाधा का अनुभव नही होने पाता। परपरागत काव्य-रीति के पंडितों ने बिहारी सतसई मे रीति ग्रंथोक्त नाना प्रसंगों का निर्देश किया है उदाहरण के लिए प्रिय मिलन, प्रेम-क्रीडा, आँख मिचौनी, मदपान, वन विहार, जल विहार, हिंडोरा, चोर मिहीचनी, सुरतारंभ, नाही वर्णन, रति, विपरात रति, सुरतात, स्नान वर्णन आदि। इसी प्रकार अभिसारिका, रति लक्षिता, मानिनी, खंडिता, क्रिया विदग्धा, प्रेमगर्विता, उत्कठिता, प्रवत्स्यत्पतिका, आगतपतिका आदि नाना नायिकाओ का निर्देश भी उनके बहुत से दोहो को लक्ष्य कर के किया गया है।

नायक और नायिका जब पहली बार मिलते हैं तो दोनो को अभिलाषा के अतिरेक के कारण एक दूसरे से कुछ बोलते नही बनता। कभी नायक नायिका का

प्रथम मिलन किसी सँकरी और अँधेरी गली मे कराया गया है और कभी सूने घर में। सूने घर मे अभिलाषा भरी दृष्टि से प्रणयिनी ने जो निषेध किया और अधेरी गली में जो 'भटभेरा' हुआ वही दोनो की प्रीति की स्थिरता का कारण बन गया। रात्रि का समय ज्यो-ज्यो निकट आता जाता है नायिका झमक-झमक कर (जल्दी-जल्दी) घर के काम निपटाती चलती है और सखियाँ कभी साथ होती है तो पलके झँपा-झँपा कर जम्हाई ले-ले कर इशारे से उनको यह जतला कर कि मुझे नींद आ रही है विदा कर देती है। आँख मिचौनी के खेल और विनोद-व्यापार दोनो का ही कवि ने वर्णन किया है। नायिका ने पीछे से आकर नायक के आँख मूँद लिये, वह उस सुख से वंचित नही होना चाहता इसलिए पहचान कर भी नही पहचानता। नायक ने नायिका की आँखें मूँद ली, उसने अपनी भुजाएँ उलटकर नायक के अगो का स्पर्श किया और स्पर्श द्वारा उसे यह पता चल गया कि आँख मूँदने वाला उसका प्रिय ही है। चोर मिहीचनी का एक चित्र अतिशय उल्लासपूर्ण है—

> दोऊ चोर मिहीचनी खेल न खेलि अघात।
> दुरत हिये लपटाय कै छुवत हिये लपटात॥

कभी-कभी प्रेमी युगल गुत रूप से भी मिलते है और प्रेम की हलकी फुलकी क्रीड़ा कर लेते हैं—

> अँगुरिन उचि भरु भीति है उलभि चितै चख लोल।
> रुचि सो दुहूँ दुहूँन के चुमे चारु कपोल॥

नायक कभी नायिका के हाथ से पान खाता है, कभी उसे आग्रहपूर्वक खिलाता है। नायिका के मदपान का भी वर्णन कवि ने किया है। मुगल विलासिता के वातावरण के प्रभावस्वरूप ही इस प्रकार के वर्णन हिन्दी कविता मे आए कहे जा सकते हैं। वारुणी का सेवन कर करके नायिका खूब हँसती है और झूमती है—झुकति हँसति हँसि-हँसि झुकति, झुकति, झुकि-झुकि हसि-हँसि देय।' अत्यंत लज्जावती नवेली भी जब वारुणी का सेवन कर लती है तो बहकने लगती है और ज्यो-ज्यो वह बहकती है त्यौं-त्यौं प्रियतर लगती जाती है—'त्यो-त्यों अति मीठी लगै ज्यों-ज्यों ढाढ्यो देय।' मदपान करने वाली तरुणी के और भी कुछ चित्र हैं—

> हँसि हँसि हेरति नवल तिय मद के मद उमदाति।
> बलकि बलकि बोलति बचन, ललकि ललकि लपटाति॥
> खलित बचन अधखुलित दृग, ललित स्वेद कन जोति।
> अरुन बदन छवि मद छकी, खरी छबीली होति॥

बन विहार मे यमुना के किनारे के तमाल वृक्षो के साथ लगे हुए मालती कुंजों की प्रणयकेलि का, नायक द्वारा अपने ही हाथ से गुह कर पहराई गई मौलिश्री की माला

का, शिथिलांग तरुणी का और ऊँचाई पर खिले हुए फूल को तोडने वाली नायिका आदि का वर्णन किया गया है—

बढ़ति निकसि कुलकोर रुचि कढ़त गौर भुज मूल।
मन लुटिगो लोटन चढ़ति चूँटत ऊंचे फूल ॥

जल विहार मे नायक नायिका के ऊपर पानी के छीटे डालकर प्रसन्न होता दिखाया गया है और डुबकी लगा कर नायिका को तैरते भी दिखाया गया है। जलक्रीडा के लिए अधीर तरुणी जिधर-जिधर सरोवर मे पहुँचती है उधर-उधर का जल केसर-जल के समान हो जाता है—

लै चुभकी चलि जाति जित जित जलकेलि अधीर।
कीजत केशर नीर से तित तित के सर नीर ॥

'हिंडोरा-वर्णन' मे हिंडोले से जल्दी मे उतरती या गिरती हुई नायिका को सम्हालकर नायक के पृथ्वी पर खडा करने का या नायक के मन करने पर भी नायिका द्वारा हिंडोले को और भी जोर से पेग (गति) देने का वर्णन किया गया है। सुरतारभ, नाही वर्णन, रति, विपरीत रति, सुरतात तथा शैय्या से उठने आदि के भी वर्णन बिहारी कर गए है—

(क) भौहनि त्रासति मुख नटति आँखिन सो लपटाति।
ऐंचि छुड़ावति कर इँची आगे आवति जाति ॥

(ख) सकुचि सरकि पिय निकट तें मुलकि कछुक तन तोरि।
कर आँचर की ओट करि, जमुहानि मुख मोरि ॥

(ग) परयो जोर विपरीत रति, रुपि सुरति रनधीर।
करत कुलाहल किंकिनी, गह्यौ मौन मंजीर ॥

(घ) मेरे बूझे बाल तूँ कत बहरावति बाल।
जग जानी विपरीत रति लखि बिंदुली पिय भाल ॥

(ङ) लहि रति सुख लागिये गरें लखि लजौंहि नीठि।
खुलत न मो मन बँधि रही, वहै अधखुली डीठि ॥

(च) लखि लखि अँखियन अधखुलिन आँग मोरि अँगराय।
अधिक उठि लोटत लटकि आलस भरी जँभाय ॥

(छ) नीठि नीठि उठि बैठि कै प्यौ प्यारी परभात।
दोऊ नींद भरे खरे, गरे लागि गिर जात ॥

'नाहीं-वर्णन' में कवि ने इतना ही लिख दिया है कि समागमारंभ में तिय के मुख से निकली हुई 'नाहीं' भी मीठी लगती है—'तिय-मुख-रति-आरंभ की "नहिं" झूठिये मिठास।' स्नान के अनेक रमणीय और रोमांचक चित्र हैं—न तो नायिका स्नान

करती है और न घर जाती है, नायक को तट पर खडा देख कर वह बडी देर तक शीत के भय से सरोवर मे धँसती हा नही । अपना मुँह धोती है, एँडियो को घिसती है और हँसती है परन्तु वह अनगवती नदी के अन्दर प्रवेश ही नही करती । मुँह धोकर घुटने के बल बैठकर वह खूब अच्छी तरह स्नान करती है और स्नान के उपरात—

बिहँसति सकुचति सी हिये, कुच आँचर बिच बाहि ।
भीजे पट तट को चली न्हाय सरोवर माहि ।।
× × ×
न्हाय पहिरि पट झट कियो बेंदी मिस परनाम ।
दृग चलाय घर को चली, बिदा कियो घनश्याम ।।

एक और भी रोचक चित्र है जिसमे स्नान करके प्रेमी और प्रेमिका सूर्य का जप कर रहे हैं, जप क्या कर रहे हैं एक दूसरे को अपागो मे देख रहे है । भीगे शरीर दोनो काँप रहे हैं पर जप है कि समाप्त होने को नही आता । और भी बहुत से फुटकर प्रसंग हैं जिनका वर्णन बिहारी ने किया है जैसे मान, मुरली, ग्रामीण नायिका, धृष्ट नायक, पडोसिन का प्रेम, सपत्नीक भाव आदि[1] जिन सब का बखान यहाँ सम्भव नही ।

विविध नायिकाएँ—जिन शास्त्रोक्त नायिकाओ का कवि ने वर्णन किया है उनकी सक्षिप्त चर्चा भी यहाँ हो जानी चाहिए । अभिसारिका का वर्णन करते हुए सायकाल या रात्रि की बेला मे नायिका के प्रति दूतियो से कहलाया गया है कि अभिसार हेतु यही बेला उत्तम है । घने अन्धकार मे अभिसार के लिए जाती हुई दीपशिखा-सी नायिका का जाना किसी से छिप नही पाता—

निसि अँधियारी नील पट, पहिरि चली पिय गेह ।
कहौ दुराई क्यों दुरै दीप सिखा सी देह ।।

शुक्लाभिसारिका के मार्ग मे ही चन्द्रास्त हो जाने पर सखी प्रकाश की व्यवस्था के के लिए उससे घूँघट हटा लेने को कहती है और इसी प्रकार कृष्णाभिसारिका को आधे रास्ते मे ही जब चंद्रमा मिलता है तो अनपेक्षित प्रकाश के कारण उसे बड़ी घबराहट होती है, वह तो बड़ा भाग्य समझिये की साथ लगे हुए भौंरो ने घिरकर गैल को पुनः अन्धकारमय कर दिया । यहा कवित्व की अपेक्षा कुछ तमाशा ही अधिक है—

अरी खरी सटपट परी बिधु आगे मग हेरि ।
संग लगे मधुपनि लई, भागन गली अँधेरि ।।

अभिसार के लिए जाती हुई शुक्लाभिसारिका चाँदनी मे इस तरह मिल जाती है कि

[1] बिहारी बोधिनी : छद २०६, २२५, २८७; २०७, १६०; ५६६, ५६७, ५६८; ४६६—४७१; ४७३-४७५, २८१

साथ मे जाने वाली सखी को उसका पता ही नही चलता, वह तो उसके अग की सुगधि है जिसके सहारे वह भी उसके साथ-साथ चली चलता है। पर पुरुष प्रेम को जो गुप्त न रख सकती हो ऐसी रति लक्षिता के वर्णन मे बिहारी ने लिखा है कि सलवटो वाली सारी को देखकर सभी सखियाँ जान जाती है कि नायिका ने सुख की मोट (गठरी) लूट ली है, नायिका के बहुतेरा मना करने पर भी उन्हे उसकी बात का विश्वास नही होता। इसी प्रकार उसके अलसौंहे नेत्रो को देखकर, पूस के महीने में भी उसके तन के प्रस्वेद बिंदुओ को देखकर, उसकी कनीनिकाओ की नई काति देखकर तथा ऐसे ही कितने लक्षणो को देखकर रतिलक्षिता की प्रतीति कराई गई है—

(क) यौं दल मलियत निरदई, दई कुसुम से गात।
कर धर देखो धरधरा, अजौं न उर ते जात ॥

(ख) छनक उघारति छन छुवति, राखति छनक छिपाय।
सब दिन पिय खंडित अधर, दरपन देखत जाय ॥

(ग) कियो जो चिबुक उठाय कै कंपित कर भरतार।
टेढ़ीयै टेढ़ी फिरत, टेढ़े तिलक लिलार ॥

अपने हाव भावो द्वारा अपने मनोभावो का बोध कराने वाली नायिका क्रिया विदग्धा कहलाती है। बिहारी की क्रियाविदग्धा के बोधक हावो को लाला भगवानदीन ने खूब समझाया है—

लखि गुरुजन बिच कमल सों सीस छुवायो स्याम।
हरि सनमुख करि आरसी हिये लगाई बाम ॥

'राधिका को गुरुजनो के बीच देख कृष्ण ने कमल पुष्प से अपना सिर छुवाया (यह जताया कि हम तुम्हारे कमलवत चरणो पर मस्तक रखते हैं)। तब राधा ने भी अपनी आरसी कृष्ण के सम्मुख करके हृदय से लगा ली (यह उत्तर दिया कि मैं भी दर्पणवत स्वच्छ चित्त मे आपको बसाए हुए हूँ)।' एक और चित्र देखिये—

हरषि न बोली लखि ललन, निरखि अमिल सब साथ।
आँखिन ही में हँसि धर्‌यो सीस हिये धरि हाथ ॥

'नायक को देखकर हर्षित तो हुई, परन्तु सब अजनबी सखाओं को साथ में देखकर कुछ बोली नही। (मिलने का सकेत इस तरह बताया कि) आँखो ही मे हँसकर छाती पर हाथ रखकर फिर सीस पर रक्खा। क्रियाविदग्धा की चतुराई के भाव:—(१) हृदय में बसते हो प्रणाम करती हूँ (२) शिव की शपथ अर्धरात्रि को मिलूँगी (३) दोनों पर्वतों के बीच वाली कुज में कृष्णपक्ष की द्वितीया को मिलूँगी (४) यमुना तट पर शिवालय मे मिलूँगी (५) प्रतिज्ञा स्मरण है सूर्यास्त बाद मिलूँगी।' बिहारी बोधिनी देखिये दोहा ४५१ और ३२८) खण्डिता संबधिनी उक्तियाँ अनेक हैं। पर स्त्री संसर्ग

जनित चिह्नों सहित प्रातःकाल अपनी नायिका के पास आने वाले नायक के प्रति नायिका की तरह-तरह की उक्तियाँ देखने योग्य है। नायक के तन पर नायिका का उपटा हुआ हार, लाल आँखे, खिसियाए हुए नेत्र, पलको पर पान की पीक, अधरो पर अंजन, भाल पर महावर, अंगो मे केसर पुष्प के किंजल्क, रदच्छद, नख रेखाएँ, हृदय पर उपटी हुई वेणी का चिह्न, बिना गुन की माला, पुलक प्रस्वेद से भीगा हुआ शरीर आदि नायिका का रोष जगा देने के लिए पर्याप्त है। इन्ही चिह्नो से नायक की धृष्टता का प्रमाण मिल जाता है और नायिका तरह-तरह से उसके प्रति रोष जतलाती हुई दिखाई गई है! कभी वह व्यंग्य करती है, कभी रोष[1]—

(क) मैं तपाय त्रय ताप सौं राख्यौ हियो हमाम।
मकु कबहूँ आवै इहाँ, पुलक पसीजे स्याम।
(ख) दुरै न निघरघटौ दियें, ए रावरी कुचाल।
विष सी लागति है बुरी, हँसी खिसी की लाल।।
(ग) जिहि भामिनि भूषन रच्यो चरण महाउर भाल।
वही मनो अखियाँ रँगी, ओठनि के रंग लाल।।

नायिका अपने रोष को कभी तो कह कर व्यक्त करती है और कभी अपने आचरण द्वारा जाहिर करती है। अनेक दोहो मे मानवती नायिका के 'मान' का भी चित्रण हुआ है जो कभी तो व्यक्त और कभी अर्धव्यक्त रखा गया है। कभी नायक भी मान करता है। रूप-गुण आदि के अहकार मे, पति-पत्नी के अवगुण से मान का जन्म होता है। कभी-कभी दूतियाँ या सखियाँ नायिका को मान करना सिखाती हैं और कभी मान-त्याग का भी उपदेश करती हैं। कभी-कभी नायक नायिका दोनो ही मान कर लेते है और 'प्रणयमान' की स्थिति आ जाती है, परस्पर न कोई किसी को मनाता है और न कोई मान छोडता है—'कौन मनावै को मनै, मान मति ठहराइ।' किसी-किसी नायिका से सहज हँसमुखता के कारण मान करते भी नहीं बनता। एक सखी ऐसी ही नायिका से कहती है कि तू खूब मान किया कर! मैं तुझे मना थोड़े ही करती हूँ बल्कि सौगध दिलाती हूँ पर तू इतना तो बता दे कि तू अपनी सहज हँसने वाली भौहो को सरोष कर भी सकेगी या नही?

मान करत बरजति न हौं उलटि दिवावति सौंह।
करी रिसौहीं जायँगी, सहज हँसौंहीं भौंह।।

अन्त में वह बहुत यत्नपूर्वक मान करती है, रुख मे रुखाई ले आकर बनावटी क्रोध दिखलाती है और रुखे वचन बोलती हैं पर नेह से चिकने नेत्रो मे मान का पानी ठहर नही पाता—

---

[1]बिहारी बोधिनी : छंद ३८२ से ४२३

रुख रूखे मिस रोष मुख, कहति रुखौहैं बैन ।
रूखे कैसे होत ये, नेह चीकने नैन ।।

वह फिर प्रयत्न करती है—कपटपूर्वक भौहे टेढी कर लेती है और सक्रोध वचन कहती है परन्तु इस भय से कि उसकी हँसीली आँखे रोष का भडाफोड़ न कर दे वह अपनी आँखे नायक के सामने नही करती—

कपट सतर भौंहैं करी मुख सतरौहैं बैन ।
सहज हँसौहै जानिकै, सौंहे करति न नैन ।।

कान की पतली नायिकाओ की तो बडी 'बहाऊबानि' बतलाई गई है जो हर समय ही मान किये रहती है, नायक के लाख मनाने पर भी मान नही छोडती, इतने छोटे से तन मे इतना अधिक मान जाने कहाँ से भरा हुआ है । मान त्याग के लिए नायिका के प्रति एक दूती के कैसे सुन्दर वचन है—

हा हा बदन उघारि दृग सुफल करैं सब कोय ।
रोज सरोजनि के परै हँसी ससी की होय ।।

कभी नायिका के रुख मे किंचित् शिथिलता आई देखकर दूतियाँ नायक से ही बार-बार नायिका के पास जाने का अनुरोध करती है। उनके अनुरोध की भाषा इस प्रकार होती है—हे रसज्ञ ! उस रसीली के समीप मान दशा मे भी आपको रस ही प्राप्त होगा जिस प्रकार इक्षुदण्ड की गाँठ भी मिठास से भरी होती है—

अनरसहू रस पाइये रसिक रसीली पास ।
जैसे साँठे की कठिन गाँठौ भरी मिठास ।।

'प्रेमगर्विता' तो प्रिय के गुणो पर इस कद्र रीझी हुई होती है कि वह मान का अवसर ही नही पाती । मोहन को देखकर उसका मन उसके हाथ से निकल जाता है । मान की बात सोचने से भी उसे आत्मग्लानि होती है । 'उत्कंठिता' के चित्त मे वन-माली के न आने की बेचैनी, उसके समाचार आदि जानने की बेताबी ही विशेष दिखाई गई है । जिसका नायक परदेस जाने को तैयार होता है उस 'प्रवत्स्यतप्रेयसी' का वर्णन करते हुए बिहारी लिखते हैं कि नायिका की पलको मे चैन का अब लेश भी नही, ललन ने जाने का जब से निश्चय किया है तब से उसे अपने प्राणो की चिंता हो गई है । कभी तो कोई नायिका अपने प्रिय को प्रातः काल प्रस्थान के लिए तैयार देख वीणा लेकर मलार राग बजाने लग जाती है, किसी को कठावरोध हो आता है, किसी को नायक अपने गले से लगा लेता है तथा दोनो वाष्परुद्ध कठ के कारण बोल नही पाते, ऐसी ही स्थिति मे बडी देर तक बने रहते हैं —

बिनखी डबकौहैं चखनि तिय लखि गमन बराय ।
पिय गहबर आये गरे, राखी गरे लगाय ।।

लाल का चलना सुन एक नायिका की पलको मे आँसू छलक आए, सखियाँ उसका इस

दशा से अवगत न होने पाये इस उद्देश्य मे उसने झूटमूठ की जम्हाई लेने लगी। द्वार तक पहुँचाते-पहुँचाते नायक नायिका अपने हृद्गत प्रेम, आकाक्षा और विरह की जाने कितनी बाते कह डालते है। जरा इसी सन्दर्भ का एक हास्यास्पद वर्णन देखिये जिसमे नायक को परदेश जाते-जाते शाम हो जाती है हालाँ कि मुहूर्त्त सबेरे का ही रहता है—

मिलि मिलि चलि चलि मिलि चलत, आँगन अथयो भानु।
भयो महूरत भोर कं, पौरिहि प्रथम मिलानु ॥

'प्रवत्स्यत्पतिका' की एकाध उक्तियाँ और देखिये—

(क) चलत चलत लौं लै चले, सब सुख संग लगाय।
ग्रीषम-बासर सिसिर निसि, पिय मो पास बसाय ॥

(ख) अजा न आये सहज रँग, बिरह दूबरे गात।
अबही कहा चलाइयत ललन चलन की बात ॥

प्रवासी पति जब घर लौटता है तो उसकी प्रेमिका 'आगत पतिका' कहलाती है। आगत् पतिका के वर्णन मे उसकी उत्कण्ठाओ, हर्षोल्लासो आदि का विशेष वर्णन होता है। उसके मलिन तन वसन और रूप मे प्रियागम की सूचना से नई काति ज्योतित हो उठती है -'पिय आगम औरै चढ़ी आनन ओप अनूप।' हर्षोत्फुल्लता के कारण उसके अगो मे और ही जीवनता आ जाती है—

कहि पठई जिय-भाव न पिय-आवन की बात।
फूली आँगन में फिरै आँग न आँगि समात ॥

'आगतपतिका' अपने शुभ अगो के फडकने मात्र से प्रियागम की प्रतीति कर लेती है और बिना प्रिय के आए ही कपडे आदि बदलने लगती है, उसके हृदय मे उत्साह और तन में प्रफुल्लता भर आती है। उसका यह हर्ष उसकी सहेलियो से छिप नही पाता हालाँकि वह उसे गुप्त रखने की बहुत चेष्टा करती है। प्रिय जब तक परिवार के अन्य लोगो से मिलता रहता है उतने मे तो नायिका की जाने कितनी बुरी गत हो जाती है —

रहे बरोठे मे मिलत पिय प्रानन के ईसु।
आवत आवत की भई विधि की घरी घरीसु ॥

उधर नायक मे भी उत्कण्ठा का आधिक्य कुछ कम नही। तेज रौहाल (घोडे) के द्वारा वह सैकडो कोस बिना विलम्ब लगाए चला आया परन्तु घुडसाल से भामिनी की देहली तक का मार्ग उसे हजार कोस के बराबर हो गया। आगतपतिका के नायक के हृदय से लगने का चित्र और उनके हृदय की दशा का निदर्शन पर्याप्त मार्मिक है —

ज्यौं ज्यौं पावक लैपट सी तिय हिय सों लपटाति।
त्यौं त्यौं छुहा गुलाब सी, छतिया अति सियराति ॥

विरह वर्णन

अब शेष रह जाता है बिहारी का वियोग वर्णन जिसमे उन्होंने विरहिणी की नाना अन्तर्बाह्य स्थितिया का चित्रण किया है। विरह की जो दस-ग्यारह कामदशाएँ बताई गई हैं उन्हे भी बिहारी-सतसई मे ढूँढा जा सकता है। प्रवासी प्रिय की 'स्मृति' मे विरहिणी सतत व्याकुल है, पुरानी बाते एक-एक करके याद आती हैं, प्रिय की सुधि करते हुए वह आत्मचेतना भी विस्मृत कर देती है, प्रिय ही उसकी आँखों में समाया रहता है तथा नीद आती नही। श्याम की स्मृति मे राधिका केवल यमुना की ही ओर देखती रहती है दूसरी कोई बात उसे अच्छी नही लगती। उसमे एक ही चेतना शेष है और कुछ नही—

सोवत जागत सपन बस, रस रिस चैन कुचैन।
सुरति स्याम घन की सुरति, बिसराये बिसरै न॥
ध्यान आनि ढिग प्रानपति, मुदित रहति दिनराति।
पल कंपति पुलकति पलक, पलक पसीजति जाति॥

विरहिणी में एक ही कामना शेष है और उसी एक 'अभिलाषा' से वह ज्वालामुखी के समान दह्यमान होकर भी जीवित है। वह प्रियतम से मिलन की लालसा में अपने सारे सुखों को होम किये दे रही है—

होमति सुख करि कामना, तुमहिं मिलन की लाल।
ज्वालमुखी सी जरति लखि, लगनि अगनि की ज्वाल॥

विरहिणी की व्यथा का नाना रूपो मे चित्रण किया गया है। विरहिणी कहती है कि हे लाल तुम्हारे रूप की यह कौन-सी रीति है कि उसका साक्षात्कार करके ये पलकें एक पल के लिए भी नही लगती। इसी विरह व्यथा मे घुल-घुलकर विरहिणी अति कृशगात हो जाती है। उसकी विरह-व्यथा इतनी दारुण है कि घर बैठे उसकी स्थिति का अन्दाजा लगाया ही नही जा सकता। इसी तथ्य को निरूपित करती हुई दूती नायक से कहती है—

जौ वाके तन की दशा देख्यौ चाहत आप।
तौ बलि नेकु बिलोकिये चलि अचकाँ चुपचाप॥

———

कहा कहौं वाकी दशा हरि प्रानन के ईस।
बिरह ज्वाल जरिबो लखे, मरिबो भयो असीस॥

वियोग की अग्नि में उसका सारा शरीर प्रज्वलित होता रहता है तथा नेत्रों से अश्रु-धारा प्रवाहित होती रहती है और वह दीर्घ निःश्वासें लेती रहती है। विरह ने उत्तरोत्तर दारुण हो-हो कर उसे 'व्याधि' दशा तक पहुँचा दिया है जब वह रह-रह कर

प्रिय का नाम ले-ले कर बर्रा उठती है, कोई भेषज उस पर कारगार नही होता, गुलाब जल के चन्दन और कपूर घिस-घिस कर लगाना उसके लिये बेकार है, इन उपचारो से तो उसकी जलन और भी बढ़ जाती है। समीपी सखियों का तो निश्चित मत है कि विरहिणी के रोग की दवा उसका प्रियतम ही है और कुछ नहीं—

करि राख्यो निरधार यह मैं लखि नारी ज्ञान।
वहै बैद औषध वहै, वहै जु रोग निदान।।

प्रियतम का रस (अर्क, दवा) ही वह इलाज है जिससे उसका रोग जा सकता है—'वाको जुर बलि बैदजू तो रस जाय तू जाय'—नायक के प्रति दूती का इतना ही कहना है। व्याधि के अनन्तर 'प्रलाप' नाम्नी वह विरह दशा भी दिखलाई गई है जिसमे विरहिणी रोगातिशय्य वश एक प्रकार का बेसुधी मे बहुत कुछ बक-झक करती पाई जाती है। जुगनुओ को देखकर समझती है कि अङ्गारे बरस रहे है और इसी कारण सखियो को भीतर भाग जाने को कहती है और चन्द्रमा को देखकर एकदम पागल हो जाती है—

हौं ही बौरी बिरह बस कै बौरो सब गाँव।
कहा जानि ये कहत है ससिहि सीतकर नाँव।।

विरहिणी को ऋतुएँ, सुखद परिस्थितियाँ और उपकरण, प्रकृति आदि विशेष कष्ट-प्रद ही होते हैं। वर्षा काल मे ये 'बदराह बादर' उमड उमड कर विरहिणी के प्राण लिये लेते हैं, मोतियो की चौलरी माला, चन्द्रमा, मन्द वातास आदि दूसरे ही प्रकार का व्यवहार करते हैं और विरहिणी के प्राणो पर आफत के पहाड ढाए देते हैं, चाँदनी उसे बेहोश किये देती हैं और खस की टट्टियों से घिरी अतिशीतल रावटी में भी वह औटाए जाने का अनुभव करती है। वनोपवन के कुसुमित पुष्प उसे ऋतुराज द्वारा विरचित बाणो के तीक्ष्ण पिंजडे के समान प्रतीत होते हैं, बौरे हुए आम तरुओं को देख उसकी दशा और ही हो जाती है तथा कोयलो की कूक अतिशय प्राणघातक प्रतीत होती है—

बन-बाटनि पिक बटपरा, तकि बिरहिन मत मैन।
कुहौ कुहौ कहि कहि उठत, करि करि राते नैन।।

वियोग वर्णन सम्बन्धी अनेक ऐसे दोहे भी बिहारी लिख गए हैं जिनमे अत्युक्तियो की ही भरमार है। ये अत्युक्तियाँ सहृदयता से असपृक्त होने के कारण कोरी उक्ति मात्र हो कर रह गई हैं जिनमे दूर की कौड़ी लाने की चेष्टा की गई है। सिर्फ सूझ के ही आधार पर मर्मस्पर्शी काल की रचना नही की जा सकती। ऐसी ही विरह सम्बन्धिनी उक्तियों और ऊहाओं को लेकर बिहारी की खूब खिल्ली उडाई गई है। ऐसी कुछ उक्तियो और दूरारूढ कल्पनाओ पर दृष्टिपात कीजिये। कवि कहता है कि इसके हृदय मे कुछ और ही तरह की विरहाग्नि लगी हुई है जो गुलाबजल से प्रज्वलित

होती है और नायक की बात (हवा) से बुझती है, अग्नि जल से बुझती और वायु से भड़कती है परन्तु नायिका की विरहाग्नि इससे विपरीत है। विरह की ज्वालाओ से स्नेह की लता लेशमात्र भी नही झुलसती, वह नित्य प्रति हरी होती और फैलती जाती है। विरहिणी की आँखे धूनी रमाए हुए मलंग (योगी या फकीर) की भाँति पडी रहती हैं, उसका आसुओं की बूँदे कौडा है (कौडियो की माला जिन्हे फकीर लोग पहने रहते है), सजल बरौनियाँ जन्जीर है (जिन्हे फकीर लोग कमर मे लपेटे रहते हैं) । इनको धारण किये हुए और मुँह खोले हुए (योगियो की तरह जप मुद्रा मे ये नेत्र स्थिर होकर मलग की भाँति कही एक स्थान पर पडे रहते है —

कौडा आँसू बूँद करि साँकर बरुनी सजल।
कीन्हे बदन निमूँद, दृग मलंग डारे रहत ॥

यहाँ तथा ऐसे ही अन्य दोहो मे व्यथा का मर्मस्पर्शी चित्रण करने के बजाय उक्ति विधान मात्र कवि का अभिप्रेत है—

रह्यो ऐंचि अत न लह्यौ अवधि दुसासन बीर।
आली बाढ़त बिरह ज्यौं, पंचाली को चीर ॥

× × ×

बिरह बिथा जल परस बिन, बसियत मो हिय ताल।
कछु जानत जलथंभ-बिधि, दुरजोधन लौ लाल ॥

ऐसी ही ऊहाएँ अनेक है जो हास्यास्पद तक हो गई हैं और जिनसे प्रमाणित होता है कि कवित्व का सत्य और वास्तविकता से सस्पर्श आवश्यक है। नायिका की कृशता से देखकर उसकी सखियो को चिन्ता होती है कि कही वह कपूर चूर्ण की तरह विलीन हो न हो जाय। पलको, बरौनियो और कपोलो पर तो उसके आँसू किसी प्रकार क्षण भर ठहरते भी हैं किन्तु विरह प्रतप्त छातियो पर गिरकर तो सन्ताप की अधिकता के कारण छन्न से सूख जाते है। विरहिणी हाथ से मसले हुए फूल को तरह ऐसी मुरझा गई है कि सदा समीप रहने वाली उसकी समीपवर्तिनी सखी भी मुश्किल से ही उसे पहचान पाती है। कृष्ण की प्रतीक्षा मे खडी राधिका के आँसू यमुना तट के जल पर गिर कर वहाँ के जल को क्षण भर मे खौला देते हैं—

स्याम सुरति करि राधिका तकति तरनिजा तीर।
अँसुवन करति तरौंस को, खिन खौरौहौं नीर ॥

बिहारी की अन्य ऊहाएँ पर्याप्त प्रसिद्ध है :—

(क) आड़े दै आले बसन जाड़े हू की राति।
साहस कै कै सनेह बस, सखी सबै ढिग जाति ॥

(ख) सुनत पथिक मुँह माह निसि, लुवैं चलत वहि गाम।
बिन बूझे बिन ही कहे, जियत बिचारी बाम ॥

(ग) इत आवति चलि जात उत चली छ-सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे सी रहै लगी उसासन साथ ॥
(घ) औंधाई सीसी सु लखि, बिरह बरति बिललात।
बीचहिं सूखि गुलाब गो, छींटौ छुयौ न गात ॥

इस प्रकार विरहिणी की सार्वत्रिक दुरवस्था का चित्रण करते हुए बिहारी ने उसका जडता, मूर्च्छा, अमृति या मरण आदि सभी कामदशाओ का निदर्शन किया है। ऊहाओं मे हृदय की लीनता कहाँ! हाँ, परम्परा-निर्वाह अवश्य है। 'जड़ता' का चित्रण करते हुए विरहिणी को लोक लाज का डर छोडकर अपलक दृष्टि से एक ही ओर को अवाक् रूप से देखते हुए दिखलाया है। प्रेम भी सभी दुर्दशाये झेल कर भी विरहिणी के प्रेम मे कोई खोट नही आने पाता उसकी प्रेम सम्बन्धिनी निष्ठा और अनन्यता पूर्ववत क्या दृढ़ता ही दिखाई गई है। वह चन्द्रमा की किरणो मे प्रिय संसर्ग की शीतलता ही प्राप्त करेगी या फिर विरह की चिनगारियो को ही चकोर के समान चुग लेगी। वह प्रिय के ध्यान मे भृङ्गी कीट सी निमग्न दिखाई गई है। प्रिय को पाकर उसे नरक का भी भय नही और यदि प्रिय न मिले तो उसे मुक्ति की भी आकाक्षा नही विरहिणी के प्रेम की अनन्यता को इनसे बढ़कर विवृत्ति और क्या हो सकती है—

जो न जुगति पिय मिलन की धूरि मुकुति मुख दीन।
जा लहिये संग सजन तौ धरक नरक हू कौन ॥

उसे विश्वास है कि प्रिय चाहे जहाँ रहे हैं उसकी का 'उड़ी जाउ कित हू जुड़ी तऊ उड़ायक हाथ।' प्रेम के बहुत से सदेशे भी प्रेमियो के द्वारा भेजे और पाए गए हैं जिनमे एक प्रकार की उन्माद' की दशा का चित्रण हुआ है—बिना लिखे ही पत्र भेज दिया गया है और बिना अक्षरो का पत्र बाँच भी लिया गया है। आँसुओ की धारा से पत्र की स्याही इधर-उधर फैल गई है और पत्र अवाच्य हो गया है पर उसमे भी तो दोनो ने एक दूसरे की विरह दशा का पूरा विवरण पा लिया है, प्रिय का पत्र प्रिया के लिए कितना बडा सहारा होता है—

कर लै चूमि चढाय सिर, उर लगाय भुज भेंटि।
लहि पाती पिय की तिया, बाँचति धरति समेटि ॥

विरह की अन्तिम अवस्था 'मूर्छा' अथवा 'मरण' के भी कई दारुण चित्र प्रस्तुत किए गए हैं। नायिका के प्राण विरहातिरेक से अब छूटा चाहते हैं और रोती-धोती सहेलियाँ अन्तिम उपचार के रूप मे प्रिय का नाम लेकर उसकी रक्षा किया चाहती हैं। विपदा आने पर सभी लोग साथ छोड देते हैं इस लोकोक्ति को विरहिणी की दशा पर सुन्दरता से घटित किया गया है —

विरह विपति दिन परत ही तजे सुखनि सब अंग ।
रहि अबलौंऽब दुखौ भये, चलाचली जिय संग ।।

विपत्ति आने पर सुखो ने तो विरहिणी का साथ छोड ही दिया किन्तु प्राणों की चलाचली देख अब दुख भी उसका साथ छोड जाने को तैयार हो गए हैं। इस उक्ति द्वारा विरहिणी की दशा का रूप अत्यन्त करुण और मार्मिक होकर सामने आया है। विरह मे सतत कराहती रहने वाली विरहिणी की कराह जब बन्द हो जाती है और आह भी जब नही निकलती है तो आह और कराह की अभ्यस्त सखियो को उसके मृत हो जाने की आशका हो उठती है—

मरी डरी कि टरी बिथा, कहा खरी चलि चाहि ।
रही कराहि कराहि अति, अब मुख आहि न आहि ।।

दूतियाँ नायक से कहती है कि हे लाल ! इस विरह के 'विषम ज्वर' मे नष्ट होते हुए रत्न 'नायिका' की रक्षा अपने 'सुदर्शन' द्वारा कीजिये और ससार मे यश लीजिये—'जरी विषमजुर ज्याइये आय सुदरसन देहु ।' वैद्यक मे सुदर्शन चूर्ण ही विषम ज्वर की औषधि कही गई है। इसी रोग ज्ञान के आधार पर 'रत्नाकर' जी ने भी यह उक्ति लिखी है—

रस के प्रयोगनि के सुखद सु जोगनि के,
जेते उपचार चारु मंजु सुखदाई है ।
तिनके चलावन की चरचा चलावै कौन,
देत ना सुदर्सन हूँ यौं सुधि सिराई हैं ।
करत उपाय ना सुभाय लखि नारिनि कौं,
भाय क्यौं अनारिनि कौ भरत कन्हाई हैं।
ह्याँ तौ विषम ज्वर वियोग की चढ़ाई यह,
पाती कौन रोग की पठावत दवाई हैं ।। (उद्धव शतक)

विरहिणी की दशा ऐसी करुण रहती है कि प्रत्येक दिन उसके प्राणान्त की आशका उग्रतर होती जाती है परन्तु विरहिणी जब प्रतिदिन बच जाती है तो ऐसा ही अनुमान होता है कि मृत्यु रूपी सचान 'बाज़' विरह-अग्नि की प्रखर लपटो के डर से उसके जीव रूपी हँस पर झपट नही पाता। आशय यह हुआ कि विरह की ज्वाला जो इसे मरण अवस्था तक पहुँचा चुकी है वही उसकी प्राणरक्षा का भी कारण बनी हुई है—

नित संसौ हंसौ बचत, मनहुँ सु यह अनुमान ।
बिरह अगिनि लपटनि सकत, झपटि न मीचु सिचान ।।

ऐसी ही विरह स्थिति की व्यञ्जना एक और दोहे द्वारा की गई है—

गनती गनिबे तें रहे, छन हू अछ्रत समान।
अब अलि ये तिथि औम लौं, परे रहौं तन प्रान ॥

विरहिणी कहती है हे सखी ! अब तो इन प्राणो की ये दशा है कि ये शरीर में पड़े रहकर भी न होने के समान है। विरह ने हमे इस दशा मे लाकर पटक दिया है। अवम वह तिथि है जो पत्रा मे लिखी तो जाती है परन्तु जिसकी गणना नही की जाती ऐसी क्षय तिथि के समान प्राण विरहिणी के तन मे पडे हुए हैं। यह उक्ति बहुत ही मार्मिक है, काव्योपयोगी और व्यथा व्यञ्जक दोनों ही। ऐसी विरहिणी विरह-जनित कृशता के कारण बुझते हुए दीपक की तरह जब जब प्रज्ज्वलित और चैतन्य हो उठती है तभी तब उसके अस्तित्व का बोध हो पाता है अन्यथा नही—

नेकु न जानी परत यों, पर्‌यो विरह तन छाम।
उठति दिया लौं नादि हरि, लिये तिहारो नाम ॥

इस प्रकार बिहारी ने संयोग वियोगात्मक प्रणय के उभय पक्षो का विस्तृत निदर्शन किया है जो अपनी कलात्मकता मे अतिशय कमनीय और मार्मिकता मे अतिशय सवेदनशील बन पडा है। अपनी शृगारी वृत्ति, रसिकता, काव्यगत कौशल और मार्मिक वाग्वैदग्ध्य के कारण बिहारी रीतियुग क्या हिन्दी के अन्यतम मुक्तककार कवियो के बीच प्रतिष्ठित हैं। उनके काव्य की विशद भावविभूति का अत्यल्प विश्लेषण ही यहाँ पर सम्भव हो सका है।

भक्ति भावना

बिहारी हिन्दी साहित्य मे एक शृङ्गारी कवि के रूप मे प्रसिद्ध हैं तथा वे रीति काल के प्रतिनिधि कवि के रूप मे रक्खे जाते है। इसमे सदेह नही कि उनका काव्य-सृष्टि का अधिकाश शृङ्गार ही है किन्तु अन्य विषय भी उसमे मिलते और शृङ्गारेतर विषयो में भक्ति की एक निश्चित धारा उनके काव्य मे मिलती है। यह धारा प्रमुख भले ही न हो किन्तु भक्ति की पुनीत भावना का जल उसमे अवश्य बहता मिलेगा।

जिस युग मे बिहारी अपने दोहो की रचना कर रहे थे वह आस्थावादी युग था। ईश्वर उस काल के मनुष्यो के लिए एक ठोस अवलम्ब था, विशेष रूप से उस काल के कवि तो जीवन भर चाहे जिस रस से नहाते रहे अन्त काल मे उन्हें भगवान ही एक मात्र अवलम्ब के रूप मे मिला करता था। केशव, मतिराम, सेनापति, दास, पद्माकर आदि की रचनाएँ इस बात की साक्षी हैं। दूसरे, मन का प्रेम का जो सहज भूख हुआ करती थी वह जब ससार मे कही भी प्रशमित न हो पाती थी तो उसको शाति के लिये भगवान ही अक्षय कोष के रूप मे मिलता था। तीसरे, यह कि भक्ति की जो पुनीत मंदाकिनी सूर और तुलसी ऐसे भावुक भक्तो की वाणी से स्फुरित हुई उसका प्रभाव उनके समय मे तो पड़ा ही साथ ही वह धारा रीतिकाल के अन्त तक यहाँ तक कि

आधुनिक काल के प्रारम्भ तक चली आई है । अनेकानेक भक्तिकालीन भक्तो की भावनाएँ रीतिकालीन शृङ्गारी कवियो मे भी बहुत कुछ वही उन्मेष लिये हुए मिलती हैं। जैसे मतिराम की यह उक्ति -

मो मन होत रहै मतिराम, कहूँ बन जाय बडो तप कीजै ।
ह्वै बनमाल गरैं रहियै अरु ह्वै मुरली अधरा रसु पीजै ॥

अथवा सेनापति का यह कथन—

बानारसी जाइ मनिकर्निका अन्हाइ,
मोहि शंकर सों राम नाम साँधि बे को मनु है ।

बिहारी भी इसी स्वर मे गाते दिखाई देते है, उनके शृङ्गार का भक्ति से विरोध नहीं है । एक ही मन सासारिक प्रीति मे लिप्त रह सकता है, और ईश्वर के प्रति प्रगाढ प्रेम भी रख सकता है, हाँ यह अवश्य है कि बिहारी तथा सदृश रीति कवियो मे भगवत्प्रीति की वह उच्छल धारा और वैसी शुभ्रता जैसी हिन्दी के भक्त कवीश्वरो मे देखी जाती है, नही मिलती । इसका कारण उस परानुरक्ति का अभाव है जो सूर, मीरा आदि की रचनाओ को प्रेम के उन्माद से भर देती है।

बिहारी सगुण के भक्त थे अथवा निर्गुण के इस बात का निर्णय कठिन नही है । दो-चार दोहे जिनमे उन्होने निर्गुण ब्रह्म के प्रति अपनी आस्था प्रकट की है काफी नही है जिनके आधार पर उन्हे निर्गुनियाँ सन्तो की परम्परा मे गिना जा सके—

दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन बिस्तारन काल ।
प्रगटत निर्गुन निकट ह्वै चग रंग गोपाल ॥

इसमे निर्गुण ब्रह्म की सर्वव्यापकता की ही ओर सकेत है, उसकी विभूति सृष्टि के कण-कण मे समाई हुई है ऐसा तो सूर और तुलसी ने भी कहा है लेकिन जिस प्रकार उन्होने निर्गुण की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी अपने तथा साधारण जीवो के लिये (योग और ज्ञान का पथ जिनके लिये दुष्कर है) अगम और दुष्प्राप्य ठहराया है और कहा है—

रूप रेख गुन जाति जुगति बिनु निरालब मन चकृत धावै ।
सब बिधि अगम बिचारहि ताते सूर सगुन लीला पद गावै ॥

बिहारी भी इसी प्रकार कहते हैं कि अनुमान-प्रमाण और श्रुति-प्रमाण के अनुसार ईश्वर की गति सूक्ष्म और अदृश्य है—

सूछम गति परब्रह्म की अलख लखो नहि जाइ ।

इसीलिए वे भी ईश्वर के सगुण रूप को स्वीकार करते हैं और उसके प्रति भक्ति-भावना से भरकर कहते हैं—

मोहू दीजै मोषु ज्यो अनेक पतितन दियौ ।
जौ बाँधे ही तोष, तौ बाँधौ अपने गुननि ॥

इस प्रकार भक्त बिहारी ईश्वर मे गुणो का आरोप करते है तथा अपने लिए भी यही चाहते है कि ईश्वर की कृपा स मेरे अन्दर भी ईश्वरीय गुण प्रतिष्ठित हो जायँ।

कुछ लोगो ने बिहारी को श्री हित हरिवश द्वारा सस्थापित राधावल्लभीय सम्प्रदाय मे दीक्षित भक्त माना है। उनके काव्य मे अनेक दोहे ऐसे हैं जिनमे श्री राधिका जी के प्रति कवि की अनन्य निष्ठा दर्शनीय है, ऐसा प्रतीत होता है कि यह निष्ठा उन्हे सस्कृत और हिन्दी की काव्य परम्परा मे प्राप्त हुई है। ब्रह्मवैवर्त पुराण, पद्म पुराण, जयदेव का गीतगोविन्द, चण्डी दास की कविताएं, मैथिल कोकिल विद्यापति और सूरदास की रचनाएँ—जिनमे भगवान कृष्ण की अह्लादिनी शक्ति के रूप मे श्रीराधिका जी स्वीकृत हुई है—बिहारी की राधा भक्ति की प्रेरणा का स्रोत मानी जा सकती है सतसई मे बिहारी की हृद्गत भक्ति-भावना कृष्ण के प्रति ही मुख्य रूप से धावित होती हुई दिखाई देती है तथा उनको प्रियतमा होने के कारण अपनी इष्ट देवी के प्रति बिहारी लाल ने यथेष्ट सम्मान प्रदर्शित किया है। अपने आराध्य देव और देवी के प्रति उनकी यह सम्मान भावना इस हद तक मिलेगी कि उन्होने इनके साथ शृंगार हास्य आदि का सयत रूप ही प्रस्तुत किया है। उनके शृगार मे सयम का बन्ध यदि कही टूटा है तो सामान्य नायक-नायिका वर्णन के प्रसगो मे ही। बिहारी ने अपने मगलाचार्य मे राधिका की प्रशसा की है और उनकी पापहारिणी शक्ति के प्रति आस्था रखते हुए अपने लिये भव बन्धन से मुक्ति की याचना की है। एक दोहे मे उन्होने राधा और कृष्ण को अत्यन्त पवित्र रूप मे स्मरण किया है---

> तजि तीरथ हरि-राधिका तन दुति करि अनुराग।
> जिहि ब्रज-केलि-निकुज-मग पग पग होत प्रयाग ॥

एक अन्य दोहे मे उन्होने उनके सौदर्य और श्री का अद्भुत प्रभाव स्वीकार करते हुए कहा है—

> नित प्रति एकत ही रहत बैस बरन मन एक।
> चहियत जुगुलकिसोर लखि लोचन जुगल अनेक ॥

कही पर चाँदनी रात मे राधा और कृष्ण के एक साथ चलने का, कही पर राधिका के मान करने और कृष्ण के उनके पैरो पर गिरने का वर्णन किया है[1]। बिहारी ने अपने आराध्य श्री कृष्ण की छवि का, उनकी लीलाओ का तथा उनकी जनरक्षक प्रकृति का भी चित्रण किया है। भक्ति सम्बन्धी जो दोहे उन्होने लिखे है उनमे एक मे

---

[1] मिली परछाही जोन्ह सो रहे दुहुनि के गात।
हरि राधा इक संग ही चले गली में जात ॥
मोर चन्द्रिका स्याम-सिर, चढ़ि कत करति गुमान।
लखिबी पायनि पै लुठत, सुनियत राधा मान ॥

तो उन्होने बहुत ही स्पष्ट रूप से कह दिया है कि हे भगवान तुम इस रूप में हमारे मन में बसो —

> सीस मुकुट कटि काछनी कर मुरली उर माल।
> इहि बानक मो मन बसो सदा बिहारी लाल ॥

दोहे की संकीर्ण सीमा के बीच भगवान का पूरा स्वरूप खीचने मे बिहारी ने जहाँ अपने चित्राकन कौशल का प्रदर्शन किया है वही अपने को प्रिय लगने वाली भगवान की मुद्रा भी बतला दी है। यह बात भी भक्तो की प्रकृति और भावना के अनुरूप ही है। भक्त जन जिस ईश्वरोय रूप को भावना किया करते है उसको एक छबि विशेष, एक मुद्रा विशेष उनके मन मे सदा घूमती रहती है और उनकी यही सतत अभिलाषा रहती है कि भगवान का वह स्वरूप उनके मन मे सदा अंकित रहे।

बिहारो ने अपने परम प्रिय और आराध्य श्रीकृष्ण की सम्पूर्ण छवि का चित्रण नही किया है जो होना चाहिए था। सूर तुलसी आदि भक्तो ने अपने इष्ट देव के सौन्दर्य का रूप चित्रण द्वारा अनेक स्थलो पर पूर्ण साक्षात्कार कराने की सफल चेष्टा की है। मीरा, रसखान और भारतेन्दु मे भी यही बात है किन्तु बिहारी ने ऐसा नही किया है, उन्होंने अपने परमप्रिय श्रीकृष्ण के स्वरूप की किन्ही विशेषताओ की ओर हमारे ध्यान को आकर्षित भर कर दिया है। श्रीकृष्ण गुँजो की माला पहना करते थे और मुरली लिए रहते थे, मोर पखो का मुकुट उन्हे विशेष प्रिय था। इसी कारण उन्होने समूची सतसई मे केवल चार ही दोहे ऐसे लिखे जिनमे बिहारो के मन मे बसे कृष्ण का रूप स्पष्ट होता है—

> सखि सोहत गोपाल के उर गुंजन की माल।
> बाहर लसत मनौ पिये दवानल की ज्वाल ॥
> सोहत ओढ़े पीत पट स्याम सलोने गात।
> मनौ नीलमणि शैल पर आतप परयौ प्रभात ॥
> अधर धरत हरि केपरत ओंठ दीठ पट-ज्योति।
> हरित बाँस की बाँसुरी इन्द्र धनुष रग होति ॥
> मोर मुकुट की चंद्रिकनि यौं राजत नँद नंद।
> मनु शशि शेखर की अकस किय सेखर सत चंद ॥

इस प्रकार से बिहारी ने पहले तो अपने मन को लोक लगने वाली भगवान की मुद्रा का चित्रण किया है और बाद मे उस मुद्रा के अन्तर्गत आकर्षण रखने वाले उपकरणों को एकत्र करके चित्रित किया है। यह चित्रण अत्यन्त ऐश्वर्य पूर्ण है और साथ ही साथ कृष्ण की असीम शक्ति का प्रकाशक भी। जहाँ बिहारो यह कहते हैं कि सलोने गात वाले श्रीकृष्ण पीत पट ओढ़े ऐसी शोभा देते हैं जैसे नीलमणि शैल पर प्रभातकालीन सूर्य की किरणें अथवा जहाँ वे यह लिखते हैं कि कृष्ण के अधरों पर

बसने वाली मुरली उनके अधरो के अरुण, नेत्रो के श्वेत, श्याम और रतनार तथा पीताम्बर की पीत और स्वयं अपनी हरित वर्णच्छटा से अलंकृत हो इन्द्रधनुष-सी लगने लगती है वहाँ उन्होने अपनी ऐश्वर्यमयी कल्पना-शक्ति का पूर्ण प्रकाशन किया है। साथ ही कृष्ण के रूप का चित्रण करते हुए जहाँ उन्होंने कृष्ण के हृदय पर रहने वाली गुंजो की माला का वर्णन किया है वहाँ इस बात की कल्पना की है कि वह माला मानो कृष्ण के द्वारा पान की गई दावानल की फूटकर बाहर आनेवाली आभा है। जहाँ उन्होने अनेक मयूर चन्द्रिकाओ से अलकृत कृष्ण के रूप की कल्पना की है वहाँ इस बात का सकेत किया है कि कृष्ण चन्द्रमौलि से सैकडो गुना अधिक रूपवान और ओजशील हैं। इन दो चित्रो मे कृष्ण के रूप के साथ-साथ उनकी विविध शक्तियो की ओर भी सकेत मिलता है। इस प्रकार बिहारी ने यद्यपि कृष्ण की किन्ही मुद्रागत विशेषताओ का ही उल्लेख किया है किन्तु जो कुछ भी है वह अत्यन्त प्रभावशाली है। उत्प्रेक्षा के द्वारा उन्होने कृष्ण का रूप चित्रण करते हुए उनके रूप की भावना को उत्कर्ष देने की चेष्टा की है। यदि उन्होने अपने आराध्य के रूप का विशद वर्णन किया होता तो और भी अच्छा होता।

श्रीकृष्ण की कुछ लीलाओ का बडे रोचक ढग से बिहारी ने चित्रण किया है, उदाहरण के लिये गोवर्धन लीला, दान लीला, रासलीला और वेणुवादन लीला।

गोवर्धन लीला—लोपे कोपे इन्द्र लौं रोपे प्रलय अकाल।
गिरधारी राखे सबै जो, गोपी, गोपाल ॥
डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल।
कंप किशोरी दरस ते खरे लजाने लाल ॥

दान लीला — लाज गहौं बेकाज कत घेरि रहे घर जाहि।
गोरस चाहत फिरत हौ गोरस चाहत नाहि ॥

रास लीला — गोपिन संग निसि सरद की रमत रसिक रसरास।
लहाछेह अति गतिन की सबनि लखे सब पास ॥

वेणु लीला — किनी न गोकुल कुलवधू काहि न किहि सुखदीन।
कोने तजी न कुल गली ह्वै मुरली सुरलीन ॥

वास्तव में बिहारी का उद्देश्य भगवान कृष्ण की लीलाओ का चित्रण करना न था जैसा कि भक्त कवि सूरदास का रहा किन्तु बिहारी में श्रीकृष्ण की भक्ति थी चाहे परपरागत काव्य के कारण, चाहे मध्य युगीन भक्ति भावापन्न वातावरण के कारण इसलिए उन्होने कुछ दोहे ऐसे भी लिखे हैं जिनमे उनके आराध्य की लीलाओ का आलेखन हो गया है। लीलाओं का चित्रण करते हुए कवि ने उनकी ओर संकेत मात्र किया है। विशद रूप से कृष्ण लीला का चित्रण उनका उद्देश्य भी नही था। गोवर्धन

धारण लीला चित्रित कर कवि ने कृष्ण की जनरक्षण-शक्ति का आभास कराया है। शेष लीलाओं के चित्रण मे शृङ्गार का अनिवार्य पुट मिलता है। किशोर तथा वय-प्राप्त कृष्ण की मुग्ध कर देने वाली लीलाएँ शृङ्गारावलबित ही है इसी कारण बिहारी की दृष्टि उन तक ही गई। इस क्षेत्र मे हम बिहारी को आगे बढा हुआ नही पाते।

जहाँ तक बिहारी की भक्ति-भावना का प्रश्न है यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि उनके काव्य से उनकी त्रिविध भक्ति-भावना के प्रमाण मिलते है--दास्य, साख्य और माधुर्य। सच्ची भक्ति का अर्थ ही दास्य वृत्ति से होता है जैसा कि भक्तप्रवर तुलसीदास जी ने कहा है 'सेवक सेव्य भाव बिन भव न तरिय उरगारि।' हम जिसकी भक्ति करते है, वह हमसे बडा है, हमारी कल्पना में उससे बडा संसार में दूसरा नही और हम छोटे हैं, इतने क्षुद्र कि हमसे पतित और तुच्छ प्राणी ससार में दूसरा नही। यही भक्ति का प्रथम सोपान है। सभी प्रकार की भक्ति इसी भावना से प्रारंभ होती हैं। बिहारी यह जानते है कि उन्होने अपने जीवन मे पाप किये हैं, हरि-भजन से अपने को दूर रक्खा है और यह उसी का परिणाम है कि आज अपने उद्धार के लिये उन्हे भगवान की शरण मे जाना पड रहा है। उनको विवशता और दीनता उनके इस विनय के दोहे मे देखिए—

> हरि कीजत तुमसे यहै बिनती बार हजार।
> जेहि तेहि भाँति डरो रहौ परो रहौं दरबार॥

यहाँ पर कवि ने भगवान के दरबार मे पडे रहने की आकाक्षा व्यक्त करते हुए एक प्रकार से सालोक्य मुक्ति की कामना की है। भक्त बिहारी के लिये भक्ति के क्षेत्र में आ जाने पर धन-दौलत का कोई मूल्य नही रह जाता—

> तौ अनेक अवगुन भरी चाहै याहि बलाय।
> जौ पति संपति हू बिना रघुपति राखे जाय॥

वे कहते है कि कोई करोडो की सपत्ति जुटाए, कोई हजार लाख की, लेकिन 'मो सम्पति जदुपति सदा बिपति बिदारन हार'। यहाँ पर कवि की निश्छल और सेव्य-सेवक-भाव की भक्ति लक्षित होती है। वे प्रार्थना करते है कि मेरे अवगुणों को मत देखिए और गिनिये, केवल मन मे मेरे लिये करुणा ले आइये। दास्य-भावना वाले भक्त की भाँति बिहारी यह भली भाँति जानते है कि उनके कर्म ऐसे नही है जिन्हे देखते हुए उनका उद्धार हो सके लेकिन उन्हे भगवान की सीमातीत करुणा में विश्वास है—

> निज करनी सकुचौहिं कत सकुचावत यहि चाल।
> मोहूँ से अति विमुख त्यों सन्मुख रहि गोपाल॥

ऐसे भी अनेक दोहे हैं जिनमें बिहारी ने भगवान् को निःसंकोच होकर कुछ भला-बुरा कहा है। उन्होंने जो कुछ कहा है वह प्रेम और प्रतीति में लिपटकर आया है।

ऐसा बिहारीलाल जी इसीलिए कह भी सके है क्योकि उनके हृदय मे कृष्ण के लिए अत्यन्त अनुराग था। कही तो उन्होने ईश्वर के विरद-प्रेम और अकर्मण्यता की ओर इशारा भी किया है और कही ससार की दूषित वायु से प्रभावित बतलाया है तथा कही उन्हे चुनौती भी दी है। श्रीकृष्ण को अपने मित्र के समान मानकर बिहारी ने यहाँ तक कहा है—

मोहिं तुम्हें बाढ़ौ बहस को जीतै जदुराज।
अपने अपने बिरद की दुहुँन निबाहन लाज॥

एक अन्य दोहे मे कवि ने बडी सुन्दरता से कृष्ण के प्रति व्यग किया है—

नीकी दई अनाकनी फीकी परी गुहारि।
तज्यौ मनौ तारन बिरद बारक बारन तारि॥

एक बार भगवान ने गजेन्द्र को मोक्ष क्या दे दिया जैसे हमेशा के लिए अचल कीर्ति का पट्टा लिखा लिया। 'शरणागत को उबारने वाले' की प्रतिष्ठा प्राप्त करके बडप्पन के झूठे मोह मे श्री कृष्ण फूले-फूले फिरते है—इस मिथ्याभिमान की ओर भी कवि ने भगवान का ध्यान बार-बार आकृष्ट किया है और यह भी कहा है कि पहले तो तुम कुछ गुणो पर ही रीझकर कृपालु हुआ करते थे किन्तु अब तो बात ही बदल गई है—

कब को टेरत दीन रट होत न स्याम सहाय।
तुमहू लागी जगतगुरु जग नायक जगबाय॥

ऐसी उक्ति द्वारा बडी ही कुशलता से कवि भगवान कृष्ण का आजकल के-से दानियों की कोटि मे घसीट लाया है—'तुमहूँ कान्ह मनो भए आज कालिह के दानि।' एक मित्र के साथ जैसा व्यवहार हम करते है ठीक वैसा ही व्यवहार इन दोहो में बिहारीलाल जो अपने भगवान के प्रति करते देखे जाते हैं। एकाध स्थल पर तो वे अपनी दुर्वृत्तियो और कुटिलताओ को न छोड़ने तक की बात करते है—

करौं कुबत जग कुटिलता तजौं न दीन दयाल।
दुखी होहुगे सरल चित बसत त्रिभगी लाल॥

अथवा

ज्यौं ह्वैहौं त्यौं होउगौ हौं हरि अपनी चाल।
हठ न करौ अति कठिन है मो तारिबो गुपाल।

बिहारी की इस प्रकार की उक्तियो मे बडा अपनापन है। इनका अर्थ अभिधा में नही किया जा सकता। वास्तव में बिहारी के कहने का आशय यह कदापि नही है कि वे अपने दुर्गुणो को नही छोडना चाहते, इस प्रकार के कथनो मे तो वे अपने सखा भगवान के साथ विनोद या खिलवाड़ करते दिखाई देते हैं और यह खिलवाड़ है भी

मन को मुग्ध कर लेने वाला । इस सम्बन्ध मे बिहारी की स्पष्ट धारणा अन्यत्र देखी जा सकती है जब वे कहते है—

तौ लगि या मन-सदन में हरि आवैं केहि बाट ।
विकट जुटे जौ लगि निपट खुलें न कपाट-कपाट ।।

भक्ति के सम्बन्ध में उनका वास्तविक मत तो यह है किन्तु जैसा पहिले कहा जा चुका है भक्त की ओर से भगवान के लिए हास-परिहास एव विनोदपूर्ण बाते तभी कही जा सकती है जब भक्त के हृदय की पेम-भावना और निष्ठा एक सीमा तक पहुँच गई हो, उस सीमा को बिहारी का हृदय निश्चय ही पहुँच गया था तभी वे सख्य-भावना और भक्ति-रस से ओत-प्रोत ऐसे दोहे लिख सके है—

चिरजीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गंभीर ।
को घटि ए वृषभानुजा वे हलधर के बीर ।।

किन्ही-किन्ही दोहो मे बिहारी की भगवत्प्रीति माधुर्य-भाव मे परिणत हुई दृष्टिगत होती है । कुछ दोहे ऐसे है जिन्हें देखकर ऐसा लगने लगता है जैसे कान्ता-भाव से कवि अपने आराध्य का स्मरण कर रहा हो—

जहाँ जहाँ ठाढ्यो लख्यो स्याम सुभग सिर मौर ।
उनहूँ बिन छिन गहि रहत दृगनि अजहुँ वह ठौर ।।
सघन कुंज छाया सुखद सीतल मद समीर ।
मन ह्वै जात अजौं वहै वा जमुना के तीर ।।
नाच अचानक ही उठे बिन पावस बन मोर ।
जानति हौ नदित करी यहि दिसि नंद किसोर ।।

इस प्रकार के और भी दोहे सतसई से ढूंढे जा सकते है । । मुक्तक काव्य मे पाठक को नए-नए प्रसगो के आरोपण की सुविधा और स्वतन्त्रता रहती है इसीलिए कभी-कभी तो यहाँ तक देखा गया है कि बिहारी के किन्ही दोहो को अर्थकर्ताओ ने विभिन्न प्रसंगो मे ग्रहण करते हुए शृंगार, वात्सल्य, वीर आदि विविध रसो की व्यजना करने वाला बताया है । लेकिन बिहारी की भक्ति-भावना को दृष्टि मे रखते हुए बिना किसी खीचतान के यह तो कहा ही जा सकता है कि बिहारी मे अनेक ऐसे दोहे हैं जिनमे बिहारी ने अपनी प्रीति की प्रगाढ भावना किसी गोपिका की उक्ति के रूप मे प्रस्तुत की है । उसे हम बिहारी की गोपीभाव (माधुर्य भाव या कान्ता भाव) की भक्ति कह सकते हैं ।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे इतना तो स्पष्ट ही है कि बिहारी की कविता में भक्ति का एक छोटा किन्तु निर्मल स्रोत बह रहा है । हम कितनी भी तर्क और शृङ्गार-बुद्धि के साथ बिहारी को पढे उपर्युक्त दोहो मे प्रकट भक्ति की उच्छल

भावना निश्चय ही असंदिग्ध है। सूर और तुलसी के समान बिहारी भी राम और कृष्ण को भिन्न नही मानते। इस कथन के प्रमाण रूप मे निम्नलिखित दोहा पर्याप्त होगा।

यह बिरिया नहिं और की तू करिया वह सोधि।
पाहन नाव चढ़ाय जिन कीन्हें पार पयोधि॥

बिहारी ने अपना भक्ति-भावना का निवेदन मात्र नही किया है। सच्चे भक्तों की भाँति उन्होने कुछ उपदेश भी किया है। अपने जीवन के अनुभवो के बल पर वे भी हमारे समक्ष ससार का मूल तत्व प्रस्तुत करते हुए पाए जाते है—

ब्रजबासिन को उचित धन जो धन-रुचि-तन कोय।
सुचित न आयो सुचितई कहौ कहाँ ते होय॥

बिहारी कभी तो यह कहते है कि दुख मे लम्बी साँसे मन लो और सुख मे ईश्वर को न भूलो, कभी अपकर्मों से दूर हटने और भगवान का भजन करने की बात कहते है, कभी 'तिय-छवि छाया-ग्राहिनी' से बचकर चलने की बात करते है और कभी निष्कपट होकर भगवान से, लौ लगाने की बात करते है। वाह्याडम्बरो के वे वैसे ही विरोधी थे जैसे कबीर—

जप माला छापा तिलक सरै न एकौ काम।
मन काँचै नाचै वृथा साँचे राँचे राम॥

बिहारी ने ससार की करालता का अनुभव करके हमे जो भक्ति का संदेश दिया है उसका स्वर शृगारिकता के आगे मन्द अवश्य है किन्तु वह प्रभावहीन नही। उन्होने द्विधाहीन भाषा मे कहा है—

जमकरि मुँह तरहरि पर्‌यो यह धरि हरि चित लाउ।
विषय तृषा परिहरि अजौं नरहरि के गुन गाउ॥

बिहारी ने भक्ति की है तथा भक्ति के पुनीत पथ पर चलने का उपदेश भी दिया है।

नीति–चर्चा

महाकवि बिहारी के काव्य का महत्व प्रमुख रूप से उनकी शृङ्गारी रचनाओ के कारण ही माना गया है और यह स्वाभाविक भी है क्योकि सात सौ दोहो के बीच केवल सौ से कम दोहे ही ऐसे मिलेगे जिनमे शृङ्गार से इतर विषयों पर कवि की लेखनी चली है किन्तु शृङ्गार से अवशिष्ट इन दोहो पर ध्यान देने मे यह बात भी स्पष्टतया ज्ञात होती है कि बिहारी सुक्ष्मदर्शी थे। कोरी शृङ्गारिकता ही उनके जीवन का सर्वस्व न थी, वे भक्त भी थे और साथ ही जगत और जीवन के सूक्ष्म द्रष्टा। मानव मन और मानव-प्रकृति का उन्हे सच्चा ज्ञान था तथा उनके कहने मे एक अमोघ शक्ति थी जो सुनने वाले को बिद्ध किये बिना न रहती थी। जयपुराधीश जयसिह

का सारा भोगविलास बिहारी ने अपने एक ही बाण से हर लिया था और उन्ही महाराज ने जब कान के कच्चे होकर बिहारी की ओर से अपना मन फेर लिया तो बिहारी ने अपने दूसरे शर का सधान किया था और ऐसा नही कहा जा सकता कि यह बाण व्यर्थ गया होगा। बिहारी और उनके आश्रयदाता के जीवन की इन घटनाओ से बिहारी की काव्य-शक्ति का अनुमान किया जा सकता है। बिहारी के कवित्व-कौशल की बात जाने दीजिए वह तो उनके काव्य की प्राण-शक्ति ही है, रचना चाहे शृङ्गार की हो चाहे अन्य किसी विषय की।

बिहारी की जिन रचनाओ को नीतिपरक कहा जाता है उनमे कतिपय बाते विशेष रूप से द्रष्टव्य है। उन्होने मानव प्रकृति को लेकर बहुत कुछ कहा है। सज्जनो और दुर्जनो, सुसगति और कुसंगति उदार और कृपण, नागरिको और ग्रामीणो, लोभियो और सतोषियो को अपनी रचना के वर्ण्य के रूप मे स्वीकार किया है। गुणी और निर्गुण, योग्य और आयोग्य, कलाविद् और अरसिक, मित्रता और साहचर्य, श्रेष्ठ और हीन, धनी और निर्धन भी उनकी कविता के विषय बने हैं। भले ही ऐसी रचनाएँ परिमाण मे कम हो किन्तु शृङ्गार की संकीर्ण सीमा से बाहर निकलने की स्पृहा के स्पष्ट लक्षण हमे बिहारी मे मिलते है। कुछ बाते सम्भव है सुने सुनाए ज्ञान अथवा प्राचीन साहित्य से गृहीत हो किन्तु अनेक बाते ऐसी भी है जिन्हे बिहारी ने अपने वैयक्तिक जीवन के अनुभवो के भडार से निकाल कर हमे समर्पित किया है और जिनसे सचमुच ही साहित्य की भावनिधि समृद्ध हुई है।—

बिहारी के नीति-काव्य की जब हम बात करते है तो हमारा तात्पर्य यही नही है कि बिहारी ने आचार-शास्त्र प्रस्तुत किया है तथा जीवन के व्यावहारिक नियम की स्थापना की है वरन् अभिप्राय यह है कि जीवन की शाला मे परीक्षित प्रयोगो से प्राप्त सत्यो का उन्होने उद्घाटन किया है। अनेक अवसरो पर उन्होने स्वानुभव-बल से सासारिको को प्रकृति का रहस्य समझा दिया है तथा मानव-मन की नाना वृत्तियो का विश्लेषण भी कर दिया है। इस प्रकार का अनुभवजन्य ज्ञान काव्य के माध्यम से व्यक्त होकर मानव कल्याण का विधायक होता है। कभी-कभी बिहारी लाल जी ने आवश्यकतानुसार उपदेश भी दिये है और बडी ही प्रिय वाणी मे जिन्हे हम आचार्य मम्मट के शब्दो मे 'कान्ता सम्मित' कह सकते है। हम यह भी कह सकते हैं कि बिहारी कवि-कर्म के सच्चे और पूरे जानकार थे तभी तो उन्होंने ऐसी तत्वपूर्ण पक्तियाँ हमें दी हैं—

दयो सु सीस चढाइ लै आछी भाँति अएरि।
जासों सुख चाहत लियो ताके दुखहि न फेरि॥

मानव प्रकृति का विश्लेषण करते हुए बिहारी लाल जी ने बतलाया है कि सद् और असद् ये दो प्रकृतियाँ मनुष्य में काम करती है लेकिन मनुष्य का व्यक्तित्व एक बार

जहाँ बन गया फिर समझिये वह लगभग अपरिवर्तनीय ही हो जाता है। सद् प्रवृत्तियो से परिचालित मनुष्य चकोर की भाँति दृढव्रती होते है—

चित दै चितै चकोर त्यों तीजै भजै न भूख।
चिनगी चुगै अँगार की चुगै कि चन्द मयूख।।

वे या तो अपनी अभीष्ट वस्तु को स्वीकार करते है अथवा उसकी अप्राप्ति मे घोर दु:ख ही सहते है परन्तु वे लक्ष्यच्युत नही होते। किसी अन्य वस्तु से उनका प्रयोजन नहीं हुआ करता। यह बात उनके समूचे व्यक्तित्व मे देखी जा सकती है। यदि वे प्रेम करते है तो उसमे भी एक गम्भीरता होती है, उसमे छिछलापन कभी नही मिलेगा। उनका प्रेम ऐसा सदाजीवी और चटकीला हुआ करता है जैसे चोल या मजीठ के रंग मे रँगा हुआ कपडा[1]। विनीत सज्जन का प्रथम लक्षण है और उसकी श्रेष्ठता का प्रमाण भी—

नर की अरु नलनीर की गति एकै करि जोइ।
जेतो नीचो ह्वै चलै तेतो ऊंचो होइ।।

दुर्जनो की प्रकृति ठीक इसके विपरीत हुआ करती है, यदि वे विनत होते दिखाई दे तो समझना चाहिए कि इसमे भी उनकी कोई चाल या दुष्टता है। उनका विश्वास नही किया जाना चाहिये क्योकि प्रत्यक्षत: नम्र होने पर भी वे घातक हो सकते हैं। ऐसे जीवो से हमे बिहारी लाल जी सचेत करते है—

न ये बिससिये लखि नये दुर्जन दुसह सुभाय।
आँटे परि प्रानन हरैं, काँटे लौं लगि पाय।।

नीच व्यक्ति का कितना ही निरादर हो अथवा उसे कितनी ही यातना दी जाय, उसकी कुटिलता नही छूटती, इस प्रकार जो व्यक्ति प्रकृति से ही नीच है उसके स्वभाव मे परिवर्तन असम्भव है। उसकी तुलना बिहारी ने गेद से की है[2]। यदि निकृष्ट व्यक्ति सुधार या उन्नति के लक्षण प्रदर्शित करे तो भी भ्रम मे न पडना चाहिए, अन्ततोगत्वा वह फिर अपनी ही प्रकृति पर आ जायगा—

कोटि जतन कोऊ करौ परै न प्रकृतिहि बीच।
नल बल जल ऊँचे चढ़ै तऊ नीच को नीच।।

यहाँ पर बिहारी की औपम्य-दृष्टि की सराहना करते ही बनती है 'नर की अरु नल नीर की' वाले दोहे मे भी 'नल जल' की उपमा दी गई है। अपूर्व-कौशल के साथ कवि ने

---

[1] चटक न छाटत घटत हू सज्जन नेह गँभीर।
फीको परै न बरु फटै; रँग्यो चोल रँग चीर।

[2] नीच हिये हुलस्यो रहै, गहे गेंद को पोत।
ज्यों ज्यों माथे मारिये त्यों त्यों ऊँचो होत।।

एक ही उपमा को सज्जन और दुर्जन दोनो पक्षो मे सार्थक कर दिया है। यहाँ उक्ति और युक्ति दोनो का चमत्कार मिलेगा। ऐसे दुष्ट जनो पर किसी भी प्रकार का सद्-प्रभाव डालने की चेष्टा विफल ही होगी। इस बात को कवि ने एक अत्यन्त सुन्दर उदाहरण द्वारा स्थापित किया है—

संगति सुमति न पावही परे कुमति के धंध ।
राखौ मेलि कपूर मैं हीग न होत सुगध ।।

जिन लोगो ने कुमति का पेशा ही अख्तियार कर लिया है उन्हे सत्सगति का असर नहीं ही हो सकता। बिहारी की यह उक्ति रहीम की इस उक्ति के मेल मे है—

चन्दन विष ब्यापत नहीं लपटे रहत भुजंग । (रहीम)

दुष्ट के सम्बन्ध मे बिहारी का अतिम निश्चय है कि दुष्ट दुष्ट ही रहेगा। यह बात उन्होंने अनेक बार अनेक रूपो मे कही है। एक बार वे इसके विपरीत स्थिति की भी कल्पना करते हैं कि कही दुष्ट अपनी प्रकृति बदल दे तो क्या हो ? उस स्थिति में बिहारी का अनुभव यह है कि संसार उसके प्रति सशकित ही रहेगा और इस कथन की पुष्टि मे उनकी सादृश्य विधायिनी बुद्धि ज्योतिष की दुनियाँ से एक सुन्दर उदाहरण ढूंढ करके ले आई है—

बुरौ बुराई जौ तजै तो चित खरौ सकातु ।
ज्यौ निकलक मयक लखि गनै लोग उतपातु ।।

एक अन्य छन्द मे कवि ने श्रेष्ठ और नीच नरो की प्रकृति की विपरीतता एक ही स्थान पर उदाहरण सहित विश्लेषित कर दी है। 'केश तथा श्रेष्ठ पद वाले नर संपत्ति मे नवते हैं, दोनो की एक ही प्रकृति है। पर कुच तथा नीच नर विभव मे तनेने और विभव की हानि मे नरम हो जाते हैं'—

संपति केस सुदेस नर नवत दुहुनि इक बानि ।
विभव सतर कुच, नीच नर, नरम विभव की हानि ।।

यहाँ तक तो दुर्जनों और सज्जनो की बात हुई उनके प्रकृति की कतिपय विशेषताओ का उद्घाटन हुआ। अब हमें यह देखना है कि सामान्य मानव-मन की प्रवृत्तियाँ बिहारी के दोहो मे किस प्रकार विश्लेषित हुई हैं। बिहारी की नीति विषयक रचनाओ मे मानव-मन का विश्लेषण एकागी रूप मे ही हुआ है। धन सपदा के ससर्ग से मनुष्य की आचरण-विधि क्या और कैसी हुआ करती है इसी विषय पर बिहारी ने कुछ कहा है। शृंगार के प्रसंग मे प्रेमपूर्ण नायक और नायिका का मन क्या और कैसा अनुभव करता है अथवा भक्ति के क्षेत्र मे भक्त की भगवान के प्रति क्या भावना होती है तथा उसका चित्रण कैसा हुआ है उसकी चर्चा पहले ही की गई है। वे कहते हैं कि धन के बढ़ने से आदमी का मन भी बढ जाता है। आगे चलकर धन यदि न भी रहे तो मन नही घटता, वह ज्यो का त्यो अधिक ऐश्वर्य-लिप्सु ही रहता है

और यह ठीक भी है। अधिक धन प्राप्त करने से मनुष्य का जीवन-स्तर सामान्यतया उठ जाया करता है, एक बार गरीबी फिर आ जाय तो भी अधिक सुख का अभ्यस्त मन दुःख सहकर मुरझा जाना अधिक पसंद करता है अपेक्षा इसके कि वह दरिद्र का-सा गलित जीवन व्यतीत करे। जिस दोहे मे बिहारी ने जीवन की स्वस्थ विधि का निर्देशन किया है[1] वह उक्त मनोवृत्ति के मेल मे ही है। उक्त कथन की पुष्टि मे कमल की बडी सुन्दर उपमा दी गई है—

बढत बढत सम्पति सलिल मन सरोज बढि जाय।
घटत घटत पुनि ना घटै बरु समूल कुम्हलाय॥

इसी प्रकार एक अन्य दोहे मे वे लिखते है कि धन जब आने लगता है तो मनुष्य धैर्य खो देता है, वह चाहने लगता है कि कौन-कौन उपाय किये जांय जिनसे धन अधिकाधिक मात्रा मे शीघ्र से शीघ्र प्राप्त हो जाय। उसकी दशा ठीक सोने का अण्डा देने वाली मुर्गी के मालिक की भाँति हो जाती है—

जात जात बित होत है ज्यौं जिय मैं सन्तोषु।
होत होत त्यौं होय तौ होय घरी मै मोषु॥

यह कहकर कि धन नष्ट होने या लुट जाने पर मन मे जिस प्रकार धीरे-धीरे आदमी संतोष कर लेता है, उसकी प्राप्ति पर भी यदि वह उसी तरह सन्तोष वृत्ति धारण करे अर्थात उचित अनुचित का ध्यान छोड धन एकत्र करने मे न लगे तो उसका उद्धार हो जाय। कवि ने एक तो मनुष्य के धन-लोभी अधीर मन की व्याख्या की है दूसरी ओर यह उपदेश भी दिया है कि धन पाकर मनुष्य को लोभ पर नियंत्रण रखने की चेष्टा करनी चाहिए अन्यथा उसके कुपथगामी होने की सम्भावना है— बिहारी ने यह भी बताया है कि धन पाकर आदमी बावला हो जाता है[2]।

लोभी और कृपण पर बिहारी की दृष्टि विशेष रूप से गई है। उन्होंने देखा होगा कि संसार मे लोभी व्यक्ति किस प्रकार के होते हैं[3]। जिनकी प्रकृति ही लालची बन गई है वे अपनी आत्मा बेचकर घर-घर दीन बने डोलते है तथा महाक्षुद्र व्यक्ति भी उन्हे बहुत बडा प्रतीत होता है—

---

[1]मीत न नीति गलीत यहै जो धरियै धन जोरि।
खाए खरचे जो जुरै तौ जोरिए करोरि॥

[2]कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय।
वा खाये बौरात है या पाये बौराय॥

[3]इहिं आसा अटक्यौ रहै अलि गुलाब कें मूल।
ऐहैं बहुरि बसंत ऋतु इन डारन वे फूल॥

घर घर डोलत दीन ह्वै जन-जन जाँचत जाय।
दिये लोभ चसमा चखनि लघु पुनि बडो लखाय ॥

इस प्रकार उन्होने अनुभव किया कि लोभ का प्रचलन ससार मे सर्वथा अनुचित है। इससे जडता और मूर्खता को ही प्रश्रय मिलता है। लोभ केवल धन का ही नही हुआ करता। पद का भी लोभ हो सकता है और कभी-कभी यहाँ तक देखा जाता है कि उच्चपद को लोग निरादर सहन करते हुए भी नही छोडते। यह बात एक शृगारिक अन्योक्ति द्वारा बिहारी ने व्यजित की है—

गहै न नेकौ गुन गरब हँसै सकल संसार।
कुच उच्चपद लालच रहै गरे परें हू हार ॥

कृपण व्यक्ति की मनोवृत्ति क्या होती है इस बात को भी कवि बिहारी ने शृगार का एक उदाहरण देकर समझाया है। कृपण व्यक्ति के पास जितना अधिक धन होता जाता है वह उतना ही अधिक क्रूर और कठोर हृदय वाला (कंजूस) होता जाता है—

जेती संपति कृपन कों तेती सूमति जोर।
बढ़त जात ज्यों ज्यो उरज त्यों त्यों होत कठोर ॥

बिहारी के निजी अनुभव ने उन्हे यह बात कहने को बाध्य कर दिया कि संसार मे जो बहुत सारा दुख-दैन्य छाया हुआ है उसका मूल कारण धन है। कुछ लोग धन पाकर कृपण हो जाते है, पद पाकर लोभी हो जाते है निर्दय और अहकारी तक हो जाते हैं, अपनी सीमा ओर मर्यादा मे नही रहते—

अरे परेखो को करै तुही बिलोके बिचारि।
किहिं नर किहिं सर राखिये खरे बढ़े पर पारि ॥

ऐसे ससार को भला बनाने के उद्देश्य से ही बिहारी को सतोष-वृत्ति धारण करने का बार-बार उपदेश करना पडा है। वे हमारे सामने परम संतोषी करोत का आदर्श प्रस्तुत करते है जिसके जीवन की आवश्यकताएँ अत्यन्त सीमित है और जिसके जीवन मे सुख का अचल साम्राज्य रहा करता है[1]। यदि उस क्षुद्र पक्षी से मनुष्य इतना भी सीख ले तो उसका उद्धार हो जाय। सुख में अति प्रफुल्लित और दुःख मे एकदम विचलित होने के भाव का भी बिहारी ने विरोध किया है—

दियो सु सीस चढाइ लै आछी भाँति अएरि।
जापै सुख चाहत लियो ताके दुखहिं न फेरि ॥

इस प्रकार मानवीय प्रकृति का अन्तर्पट खोलते हुए जहाँ आवश्यकता पडी है उपदेश

---

[1] पट पाँखै भखु काँकरै सदा परेई संग।
सुखी परेवा पुहुमि मैं एकै तुही विहंग ॥

के भी कुछ मधुर वाक्य बिहारी लिख गये हैं इससे सिद्ध है कि वे शृंगार मे ही डूबने वाले जीव न थे वरन् उन्हे जगत को भी सूझे था, वे उनके प्रति जागरूक थे, अधे नही।

जिस प्रकार बिहारी ने सज्जन और दुर्जन तथा मनुष्य की धन-लिप्सा, पद-लिप्सा, अहकार, कृपणता आदि को लेकर अपने अनुभवो को शब्दबद्ध किया है उसी प्रकार जगत के विषय मे भी अपने कुछ अनुभव बतलाये हैं। भक्ति के प्रसग में यह बतलाया ही जा चुका है कि बिहारी ने किस प्रकार अपने भगवान को 'जगनाय' से प्रभावित कहा है। उन व्यञ्जनाओ से प्रकट है कि ससार की हालत बिहारी के समय मे अच्छी नही थी, कम से कम बिहारी अपने समय की दुनियाँ से संतुष्ट नही थे। तमाम चुगलखोर भरे हुए थे दुनियाँ मे जो ईर्ष्यावश किसी की बढती न देख सकते थे। स्वय बिहारी को ईर्ष्यालु व्यक्तियो के कारण अपने आश्रयदाता की अपेक्षा सहनी पड़ी जिसका बड़ी सुन्दर व्यजना उन्होने अपनी इस प्रसिद्ध अन्योक्ति में की है—

> स्वारथ सुकृत न स्रमु वृथा देखु बिहग बिचारि।
> बाज पराये पानि पर तू पच्छीनु न मारि॥

उन्होने यह कहा है कि इस ससार मे गँवार ही गँवार तो बसे हैं। अज्ञो की इस दुनियाँ मे पडितो और कलाविदो की कोई कदर नही। इस बात को अत्यन्त बलपूर्वक अनेक बार बड़ी सुन्दर रीति से बिहारी ने व्यक्त किया है—

> सबै हँसत कर तारि दै नागरता के नाँव।
> गयो गरब गुन को सबै बसे गँवारे गाँव॥
> जदपि पुराने बक तऊ सरवर निपट कुचाल।
> नये भये तु कहा भयो, ये मनहरण मराल॥
> अरे हस या नगर में जैयो आप बिचारि।
> कागनि सो जिन प्रीति करि कोकिल दई बिडारि॥

ससार ऐसा हो गया है कि सच्चे गुण की इज्जत करना तो दूर उल्टे उसका निरा-दर और अपमान तक होने लगा है। हस नीर-क्षीर विवेकी है काग विष्ठा-भोजी लेकिन जगत काग के आदर मे लगा हुआ है। काग हँस, कोकिल, बक आदि बड़े सुन्दर-सुन्दर प्रतीक हैं जिन्हें प्रकृति के क्षेत्र से चुनकर बिहारी ने अपने भावो को चुभने वाली शैली मे व्यक्त किया है। अन्य अनेक दोहे ऐसे हैं जिनमे ये ही भाव विविध

विधियो से व्यक्त हुए हैं जैसे गाँव मे गुलाब का फूलना[1] गँधी का गाँव मे इत्र बेचना[2] अथवा गाँव मे हाथियो का व्यापार करना[3] आदि । बिहारी का गाँव या नगर शब्द इस ससार का बोधक है जिसमे मूर्ख और अज्ञानी लोग बसे हुए हैं ।

जगत के सम्बन्ध मे बिहारी के काव्य मे इसी प्रकार की दो-चार अनुभूतियाँ और भी मिल जाती हैं । विहारी का कहना है कि इस दुनियाँ मे जो आदमी भला है और किसी का अनिष्ट नही करता उसमे तो लोग आश्वस्त रहते है और उसकी ओर ध्यान इसलिए नही देते कि वह कर ही क्या सकता है लेकिन जो दोपो और दुर्गुणो से भरे होते है ऐसे दुर्जनो के सामने हम लोग इस भय से झुक जाते है जिससे वे हमारी क्षति न करे । इस आशय के दोहे मे बिहारी ने सज्जनो को शुभ ग्रहो और दुर्जनो को अशुभ अथवा पाप ग्रहो से उपमित किया है—

बसै बुराई जासु तन ताही को सन्मानु ।
भलो भलो कहि छाँडिये छोटे ग्रह जपदानु ।।

ससार मे दो प्रबल शक्तियो का राज्य होना भी विहारी ने अनिष्ट का बहुत बडा कारण बतलाया है । सूर्य और चन्द्र के एक राशि पर आने से अमावस्या को घोर अन्धकार होता है इसी प्रकार एक ही स्थान पर दोहरा शासन होने से लोग विपत्ति मे पड़ जाते है । यह बात सभी जगह देखी जा सकती है—

दुसह दुराज प्रजानु कौं क्यों न बढै दुख दुद ।
अधिक अँधेरौ जग करत मिलि मावस रवि चन्द ।।

इसी प्रकार से नीति की कितनी ही बाते बिहारी सूक्ष्म रूप से समझा गए हैं । जिन युक्तियों मे नीति अथवा बुद्धिमत्ता अथवा जीवन मे व्यवहार करने की चतुरता अथवा जीवनयापन की सुन्दर विधि बतलाई गई है उनमे थोडा-सा उपदेश भी मिलता है । उदाहरण के लिए देखिए—

विषम वृषादित की तृपा जियो मतीरनु सोधि ।
अमित अपार अगाध जल मारौ मूढ पयोधि ।।

इस उदाहरण द्वारा अन्योक्ति पद्धति पर कवि ने हमे यह समझाया है कि हमे अल्प किन्तु उत्तम पदार्थ से काम चला लेना चाहिए तथा अधिक किन्तु अयोग्य पदार्थ

---

[1] वे न यहाँ नागर बडे जिन आदर तो आब ।
फूल्यो अनफूल्यो भयौ गँवई गाँव गुलाब ।।

[2] कर लै सूँघि सराहि कै रहै सबै गहि मौन ।
गंधी गंध गुलाब को गँवई गाहक कौन ।।
करि फुलेल को आचमन मीठो कहत सराहि ।
रे गंधी मति अंध तू अतर दिखावत काहि ।।

[3] चले जाहु ह्याँ को करत हाथिनै को व्यापार ।
नहिं जानत या पुर बसत धोबी ओड कुम्हार ।।

का त्याग कर देना चाहिए। इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर वे जीवन की विधि का सुन्दर निर्देशन करते है—

मीत न नीति गलीत यह जो धरिये धन जोरि।
खाए खरचे जौ जुरै तौ जोरिए करोरि ॥

यह उपदेश उनके नीति के दोहो मे बडी मधुरता से रक्खा गया मिलता है। मित्रता किस प्रकार से स्थायित्व प्राप्त कर सकती है इनका उपाय बतलाते हुए बिहारी उपदेश करते है कि हमे धन की धूल से मित्रता ऐसी चिकनी वस्तु को बचाने को चेष्टा करनी चाहिये। कतिपय अन्य भाव जो बिहारी की नीति के अन्तर्गत आते है, इस प्रकार हैं—

(क) समान शील गुण वालो का ही सग शोभा देता है—

सोहत संग समान को यहै कहत सब लोग।
पान पीक ओठन बनै काजर नैनन जोग ॥

(ख) बिना परिश्रम के फल प्राप्ति सभव नही अथवा बिना त्याग के लाभ संभव नही—

नहिं पावस ऋतुराज यह सुनि तरिवर मत भूल।
अपत भए बिनु पाइये क्यो नव दल फल फूल ॥

(ग) जहाँ जिसका काम निकले वही उसके लिए सब कुछ है—

अति अगाध अति औथरो नदी कूप सर बाय।
सो ताको सागर जहाँ जाकी प्यास बुझाय ॥

(घ) निर्बल को सभी दबाते है—

कहै यहै सब स्रुति सुमृति यहै सयाने लोग।
तीन दबावत निसक ही पातक राजा रोग ॥

इसी प्रकार राजनीति के एक बडे काम का सिद्धान्त है कि राजशासन की बागडोर सुदृढ रखने के लिए योग्य शासक को चाहिए कि वह अपने पक्ष के लोगो का एक दल बना ले और उनका अधिक सम्मान करे यह बात शृंगार का पुट देकर कही गई है—

अपने अंग के जानि कै जोबन नृपति प्रबीन।
स्तन मन नैन नितम्ब को बडो इजाफा कीन ॥

बिहारी लाल जी की नीति विषयक रचनाओ के बीच अनेक ऐसे दोहे भी आ गए हैं जिनमे कुछ सासारिक सत्य कहे गए है उदाहरण के लिए उनका यह कहना कि बड़े लोग कितनी ही बडी गल्ती करे उनसे कोई कुछ नही कह सकता अथवा समय की परिवर्तनशीलता का लक्ष्य करना। सबमे बडी बात जो इन कथनो मे दिखाई देती है इनका चुटीलापन। बडे चुभते हुए ढग से ये बाते कही गई है—

जिन दिन देखे वे सुमन गई सु बीति बहार।
अब अलि रही गुलाब की अपत कटीली डार ॥

अथवा

मरत प्यास पिंजरा परयो सुआ समय के फेर।
आदर दै दै बोलियत बायस बलि की बेर ॥

अथवा

दिन दस आदर पाइकै करि लै आपु बखान।
जौ लौ काग सराध पख तौ लौं तो सनमान।।

इसी प्रकार वे कहते है कि कोई भी व्यक्ति बिना गुण के बडा नही हो सकता। धतूरे को 'कनक' (सोना) तो कहा जाता है किन्तु क्या उससे गहना गढा जा सकता है? अर्क (मदार) के वृक्ष से क्या अर्क (सूर्य) के समान प्रकाश होते सुना गया है?

बहकि बडाई आपनी सो राचति मति भूल।
बिन मधु मधुकर के हिये गडै न गुड़हर फूल।।

मनुष्य के श्रेष्ठ होने का एकमात्र उपाय है गुणसम्पन्नता। बिहारी के मत में मनुष्य को मनुष्य होने के लिए किन्ही गुणो का उपार्जन करना पडता है। उनका मत है, कि वही व्यक्ति ससार से तर सकता है जो (सगीत, काव्य आदि) ललित कलाओ का प्रेमी हो। शेष लोग इस ससार सागर का संतरण नही कर सकते। इस प्रकार से अपने अनेकानेक दोहो मे बिहारी ने बहुत बडी विचार-सम्पदा हमारे सामने प्रस्तुत की है जो उनके जीवन के अनुभवो का निचोड कही जा सकती है, जिसके बलपर यह भी कहा जा सकता है कि बिहारी कोरे शृगारी नही थे। तत्वचिन्तन और जीवन-दर्शन इन दोनो दिशाओ मे बिहारी की बुद्धि धावित हुई थी। समाज और परिस्थिति की बाध्यता से शृगारिक काव्य की रचना के साथ उन्होने जो इतर विषयो को अपने काव्य के माध्यम से हम तक पहुँचाया है उसके लिए भी बिहारी की प्रशसा करनी ही होगी।

रीति मुक्त कवि

रसखान

रसखान प्रेमी जीव थे। बादशाह वश मे पैदा हुए थे पर बृन्दावन और बृन्दावन-प्राण श्रीकृष्ण के आकर्षण की डोर मे बँध कर वे कृष्णभक्त हो गए। कृष्णाराग से परिपूर्ण चित्त की नाना भावमयी अभिव्यक्ति तो उन्होने की ही है अनुराग-तत्व का निरूपण भी उन्होने किया है। इस दृष्टि से उनकी प्रेमवाटिका देखने योग्य है।

प्रेम-निरूपण

'प्रेमवाटिका' मे प्रेम-तत्व का जो निरूपण रसखान ने किया है वह आनुभविक आधार पर हुआ है न कि किसी शास्त्रीय पद्धति पर चल कर। रसखान कहते हैं कि प्रेम का नाम लेने वाले और प्रेमी होने का दावा करने वाले तो बहुत से मिलेंगे परन्तु प्रेम की असल पहचान रखने वाले आदमी बहुत कम मिलेगे। प्रेम स्वयं परमात्मा का ही रूप है उसी के समान है—अकथनीय अनिर्वचनीय। प्रेम परमात्मा से ही उत्पन्न है जिस प्रकार सूर्य से आतप और उसी के समान है—सूक्ष्म और इन्द्रियातीत। प्रेम कमल नाल के ततुओं से भी सूक्ष्म है और कृपाणधारा से भी कठोर और

निर्मम। प्रेम मे सिधाई भी है और टेढापन भी, निकटता भी और दूरी भी। ये ही गुण ईश्वर के भी है। इन कारणो से भी प्रेम ईश्वर स्वय ही हुआ।

रसखान की दृष्टि मे सच्चा प्रेम सासारिक वासना-विकारो से ऊपर की चीज है। वह निरीह और निर्विकार होता है। सांसारिक कामनाओ और संबंधो से भी ऊँची और शुभ्र सत्ता प्रेम की है। प्रेम अकारण होता है--निष्प्रयोजन सासारिक संबंध सप्रयोजन हुआ करते है। प्रेम मे प्रिय ही सर्वस्व हुआ करता है वहाँ वासना नही होती है आत्मोत्सर्ग और सर्वस्वार्पण की वृत्ति ही प्रधान रहा करती है—

इक अंगी बिनु कारनहि, इक रस सदा समान।
गनै प्रियहि सर्वस्व जो, सोई प्रेम प्रमान॥
डरै सदा चाहै न कछु, सहै सबै जो होय।
रहै एकरस चाहि कै, प्रेम बखानौ सोय॥

ऐसा प्रेम कोई आसान चीज नही, उसकी साधना बडी कठिन होती है। उसमें प्राण बेचैनी से तड़पते हैं परन्तु निकलते नहीं, केवल उलटी साँस भर चला करती है—'प्रान तरफि निकरै नहीं, केवल चलत उसाँस।' प्रेम की इसी कठोरता को लक्ष्य करके लोगो ने इसे नेजा, भाला, तीर, तलवार, फाँसी आदि सब कुछ कह डाला है पर प्रेम पर जान कुर्बान करने वाले जाँबाज प्रेम पथ पर आकर पीछे नही हटा करते। प्रेम को पाकर सच्चे प्रेमी मे हरि-प्राप्ति की कामना भी समाप्त हो जाया करती है। प्रेम प्रिय और प्रेमी मे अभेदत्व ला देता है—मैं और तू के निस्सार भावो का प्रेम मे तिरोभाव हो जाया करता है। स्वार्थमूलक प्रेम प्रेम नही, वह अशुद्ध होता है। शुद्ध और सच्चा प्रेम इससे भिन्न कोटि का हुआ करता है—सरस, स्वाभाविक, स्वार्थ-रहित, स्थिर, एकरस और महान्।

रसखान ने प्रेम की कठोरता या कठिनता को ही उसकी सबसे प्रमुख विशेषता कहा है। प्रेम का पथ सीधा नही होता। यह बात बोधा, घनआनदादि तथा औरो ने भी कही है। प्रेम मे जान की बाजी लगानी पडती है, अपना सिर काट कर चढा देना पडता है। तभी दिल का दिल से मेल हो पाता है। सच तो यह है कि प्रेम मार्ग में यदि ऐसी कठोरता न हो तो वह बेमज़ा है। हर कोई प्रेमी के महत्वपूर्ण दर्जे को पा सकता है। प्रेम मार्ग की यह कठोरता ही प्रेमी को अमरत्व प्रदान करती है। जो सर्वस्वार्पण करता है वही जीता है अमर होता है—

प्रेम फाँस में फँसि मरै सोई जियै सदाहि।
प्रेम-मरन जाने बिना मरि कोउ जीवत नाहि॥

सच्चा प्रेम लोक चिंता से मुक्त हुआ करता है,—वेद शास्त्र की मर्यादाओं को, विधि-निषेधों को अतिक्रांत करता चलता है और सबसे बड़ी बात तो यह है कि प्रेम के

मार्ग को जो पकड लेता है उसकी दिशा निर्दिष्ट हो जाती है, उसका मन किसी प्रकार के भ्रम से धूमिल नही होता और उसका प्रणयभाव दिन-दिन रग पकडता जाता है, उसमे किसी प्रकार का फीकापन नही आने पाता—

कबहुँ न जा पथ भ्रम तिमिर, रहै सदा सुखचंद ।
दिन दिन बाढ़त ही रहै, होत कबहुँ नहिं मंद ।।

प्रेम के महात्म्य का कथन करते रसखान थकते नही । वे कहते हैं कि वह सागर के समान अतल और अगाध होता है, उसकी उपमा दी ही नही जा सकती । प्रेम में ज्ञान अर्थहीन हो जाया करता है । प्रेम का अथाह सागर ज्ञान के बोहित के लिए मरुभूमि सिद्ध होता है । ऐसा ही भाव असाधारण सुन्दरता से बिहारी ने एक जगह प्रस्तुत किया है—

गिरि ते ऊंचे रसिक मन बूड़े जहाँ हजार ।
सोइ सदा पसु-नख को प्रेमपयोधि पगार ।। (बिहारी)

ज्ञान सचय मे किया गया अपार श्रम प्रेमास्वाद के समक्ष व्यर्थ और फीका प्रतीत होता है । रसखान ने भी बहुत कुछ कबीर के ही लहजे मे कहा है कि शास्त्र ज्ञान द्वारा पडित हो जाने से क्या होता है, कुरान पढ कर मौलवी बन जाने से फायदा हीक्या यदि मनुष्य ने ससार मे आकर मनुष्य से प्रेम करना ही नही सीखा—

शास्त्रन पढ़ि पडित भए, कै मौलवी कुरान ।
जु पै प्रेम जान्यौ नही, कहा कियौ रसखान ।।
जेहि बिनु जाने कछुहि नहि, जान्यौ जात बिसेस ।
सोइ प्रेम जेहि जान कै, रहि न जात कछु सेस ।।

रसखान ने प्रेम को वेदो, पुराणो, शास्त्रो और स्मृतियो का सार कहा है । उनके मत में प्राचीन भारतीय वाङ्मय की समूची महत्ता का आधार प्रेम ही ठहरता है । ईश्वरोप लब्धि के तीनो प्रसिद्ध मार्ग—ज्ञान, कर्म और उपासना—रसखान की दृष्टि मे विशेष श्रेयस्कर नही क्योकि इन मार्गो के पथिक अहभाव के शिकार होते हैं । प्रेम ही ऐसा मार्ग है जिसका पथिक अहं का विसर्जन कर चुका होता है । प्रेम इसीलिए समस्त धर्मो का सार है । प्रेम के सामने संसार मे और सब तुच्छ है, प्रेम मुक्ति से भी महत्तर है । जो प्रेम के लिए अपनी जान दे देता है वही सदा जीवित रहता है । प्रेम के उदित हो जाने पर ससार के सारे नियम टूट जाते हैं । पूरी की पूरी सृष्टि हरि के आधीन है किन्तु हरि ऐसे अधिनायक भी प्रेम की अधीनता स्वीकार कर उसे महिमा प्रदान करते हैं । प्रेम की महिमा का इससे अधिक ऊँचा व्याख्यान और क्या हो सकता है । प्रेम को पा लेने पर स्वर्ग-अपवर्ग कुछ भी अभिलषित नही रह जाता, स्वयं हरि की प्राप्ति की आकांक्षा भी शेष हो जाती है—

जेहि पाये बैकुंठ अरु हरि हू की नहिं चाहि।
सोइ अलौकिक सुद्ध सुभ सरस सुप्रेम कहाहि ।।

इस प्रेम ने कितनो को ऊँचा उठा दिया है। कितनो को अमर कर दिया है। लैला ने इस प्रेम को जाना था, यशोदा-नद ग्वाल-बाल ने भी इस प्रेम का दिव्य स्वाद पाया था। गोपियो को प्रेम के कारण जो आनद प्राप्त हुआ उसका तो कहना ही क्या? वे तो प्रेम की अनन्य आराधिकाएँ हो गई है। उस प्रेमरस की माधुरी कुछ-कुछ उद्धव को भी मिली पर अब ससार मे दूसरा कौन है जिसे वह दिव्य माधुर्य प्राप्त हो सके। प्रेम की महिमा अपार है, उसका रस अनिर्वचनीय है। इस प्रकार से प्रेम-तत्व का असाधारण विवेचन रसखान ने अपनी प्रेमवाटिका मे किया है। सच पूछिये तो प्रेम-वाटिका का एक एक दोहा प्रेम का एक-एक मधुर वृक्ष है।

कृष्ण-सौन्दर्य वर्णन

रसखान काव्य के तथा रसखान के प्रेम भाव के प्रधान आलबन श्रीकृष्ण हैं, उन्हीं की सर्वत्र चर्चा है। उन्ही के रूप-गुण से बँधी गोपियाँ मुग्ध दिखाई गई हैं। गोपियो की मुग्धता या मुग्धावस्था मानो भावुक रसखान की अपनी ही मुग्धता या मुग्धावस्था है जिसका निदर्शन शत-शत रूपो मे हुआ है। जड और चेतन सभी पर कृष्ण की रूप छटा हावी है। कृष्ण का यह रूप रसखान का जीवन सर्वस्व है जिसका वर्णन उन्होने रूप सौन्दर्य के नाना अवयवो या उपकारणो के माध्यम से किया है—(१) कृष्ण की आँखो की सुन्दरता या चितवन के प्रभाव की व्यजना करते हुए, (२) स्मिति या मुस्कान की वर्णना द्वारा (३) वेशविन्यास वर्णन द्वारा अथवा (४) कृष्ण की छवि चित्रण के बहाने। कृष्ण के नेत्रो तथा उनकी चितवन के प्रभाव को लक्ष्य पर रसखान ने लिखा है कि उनकी मार या चोट बहुत पैनी होती है, तीक्ष्णता मे वे बरछी या तीर के समान है। उनमे घायल करने, चित्त अपहरण करने, उन्मत्त करने, हृदय को बेधने और बेधकर अचेत करने तथा दूसरो को अपनी ओर आकृष्ट करके अनुरक्त बना देने की असाधारण शक्ति है। कृष्ण की आँखे आँखो को जोड़ती हैं, चित्त को मोहती है तथा गृह सबधो का विच्छेद भी कराती है। उनके नेत्र कभी मुस्कराते, कभी हँसते और कभी खुशी के मारे नाचते भी है। उनके नेत्रों की जोहन, विलोकन और अवलोकन गोपियो की सारी सम्हाल या होश को गायब कर देने वाली है। उसमे मारण, मोहन, वशीकरण आदि सभी शक्तियाँ है। कृष्ण की आँखो की इन्ही शक्तियो पर गोपियाँ सब तरह से निसार है। श्रीकृष्ण की मुस्कान देखकर तो वे नही रह जाती। कही गोपियाँ कृष्ण के ईषत् हास के वशीभूत है, कभी कृष्ण की मुस्कान उनके कुल बधन को तोड़ती है, कभी उसके वश हो वे बेसुध हो जाती है आदि आदि। श्रीकृष्ण की मुस्कान के ऊपर शरदकालीन विकसित सरोज, दाड़िम,

बिंबाफल तथा नाना मणियो के अनूठे उपमान निछावर है—वह माधुर्य और प्रसन्नता उनमे कहाँ जो कृष्ण के प्रसन्न भाव से खुले अधरोष्ठो मे है —

> कातिक क्वार के प्रात ही प्रात सरोज किते बिकसात निहारे।
> डीठि परे रतनागर के दरके बहु दाड़िम बिंब बिचारे।।
> लाल सुजीव जिते रसखानि वरंगनि तोलनि मोलनि भारे।
> राधिका श्री मुरलीधर की मधुरी मुसकानि के ऊपर वारे।।

कुछ छन्दो मे रसखान ने संक्षिप्ततः ही कृष्ण की छवि या मूर्ति, उनका समग्र रूप अंकित कर दिया है जिनमे उनकी बडी-बडी आँखो, प्रशस्त कपोल, मधुर वाणी, आनन पर लटकी लटो, अलवेली चितवन और चाल, वृक्ष की डाल पकड कृष्ण के खडे होने तथा उनके अनुरक्त नेत्रो और झूमती हुई गति आदि का वर्णन हुआ है। कृष्ण की छवि या रूप छटा का पूरा साक्षात्कार करना हो तो गोचारण करते हुए कृष्ण का वह चित्र देखिये जिसे अंकित करते हुए रसखान ने कहा है'—गोरज बिराजै भाल लहलही बनमाल, आगे गैयाँ पाछे ग्वाल गावैं मृदु बानि री' लेकिन कृष्ण की वास्तविक छवि तो वह है जिस पर रसखान बेतरह लट्टू है और वह भी गोचारण प्रसग की ही है—

> वह घेरनि धेनु अबेर सबेरनि फेरनि लाल लकुट्टनि की।
> वह तीछन चच्छु कटाछन की छबि मोरनि भौंह भृकुट्टनि की।।
> वह लाल की चाल चुभी चित मैं रसखानि संगीत उघुट्टनि की।
> वह पीत पटक्कनि की चटकानि लटक्कनि मोर मुकुट्टनि की।।

कृष्ण की यह छवि जितनी गोपिका के चित्त में चुभी हुई है उतनी ही रसखान के भी।

कृष्ण की वेशभूषा जानी पहचानी वेशभूषा है। सिर पर मोर पंखी या मयूर चद्रिका, बाँकी कलगी या कसी हुई पाग, भाल पर गोरज या केसर का तिलक, कानो मे सूर्य के समान देदीप्यमान छवि कुण्डल या मकराकृत कुण्डल, स्कध देश पर नया चटकीला दुकूल, फहरता हुआ पीतपट, हृदय स्थल पर लहलही बनमाल या गुजो की माला, अधर पर या हाथो मे मुरली, कटि प्रदेश पर बेंजनी कछनी और कटिबंध, पैरो मे पैंजनी और लाल पाँवरी—यही कृष्ण की रसखान कवि द्वारा भावित वेशभूषा है।

रूप-प्रभाव वर्णन — कृष्ण के रूप-प्रभाव को रसखान ने विस्तार से वर्णित किया है। रसखान प्रेमी जीव थे। वे बादशाही खानदान की ठसक छोडकर आये थे। यह श्री कृष्ण की छवि ही थी जो उन्हें आकृष्ट किये हुए थी, मुसलमान धर्म में ऐसी व्यामोहनी कोई शक्ति उन्हें नही दिखाई दी। उनका हृदय अवलब ढूँढ़ ही रहा था, श्री कृष्ण का मधुर और दृढ़ अवलंब पाकर उन्ही में ठिठक रहा। कृष्ण की परम

व्यामोहक छवि को अपना कर रसखान अपना सब कुछ भूल बैठे थे। उन्होने अपना सर्वस्व कृष्णार्पित कर दिया था। ऐसी स्थिति मे स्वाभाविक था कि कवि अपनी भावना का, प्रिय की सुन्दरता के प्रभाव का शत-शत रूपो मे विशदता से वर्णन करता। केवल रूप-वर्णन के ही नही अन्यान्य प्रसगो के छदो मे भी रसखान की यह आत्माभिव्यक्ति देखी जा सकती है। इस विशिष्ट्य के कारण रसखान की रचना आत्मपरक या आत्माभिव्यंजक हो गई है, वस्तुपरक या वाह्यार्थ निरूपक मात्र नही रहने पाई है। यह रूप प्रभाव वर्णन उतने सीधे ढग से कथित नही हुआ है जितने वैयक्तिक ढग से वह घन आनद मे आया है परन्तु फिर भी रसखान के काव्य का आस्वादयिता इस तथ्य से अनवगत नही कि रसखान के काव्य मे वर्णित प्रेम उधार लिया हुआ नही है और न शास्त्र चालित ही, अपितु वह उनकी अपनी निधि है—अर्जित और पोषित।

कृष्ण के रूप का प्रभाव प्रधानतः तो गोपियाँ स्वय बतलाती चलती है। जिस पर जैसी बीतती है वह आप बीती खुद बताती चलती है। कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि एक गोपी आप बीती बखान कर किसी दूसरी गोपिका की सुसुप्त वासना को जागृत करती है। हर छंद जैसे एक गोपी की अपनी रामकहानी है। किसी-किसी छद में राशि राशि गोपियो पर पडे कृष्ण के रूप के प्रभाव का पता चलता है। एक बात और रूप-प्रभाव निर्देशक अधिकाश छद सक्षेप मे उस प्रभाव को सूचित करते है हालाँ कि इस सक्षिप्तता के कारण प्रभाव-व्यंजना मे लेश मात्र भी कमी नही आने पाई है किन्तु अपवाद रूप मे कुछ छद ऐसे भी मिलेगे जो पूर्णतः प्रभाव व्यजना के लिए ही नियोजित जान पडते है। ऐसे छंद भी दो प्रकार के है—एक प्रभावाभिव्यजक और दूसरे प्रभाव की कथा कहने वाले। इस सबंध में अतिम और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रभाव रूप का हो चाहे रूपधारी के किसी कर्म या गुण का, परिणति उसकी आसक्ति रीझ और प्रणय मे ही होती है। इसी मे रूप की चरितार्थता भी है।

रूप का प्रभाव नेत्रो पर पहले पडता है बाद मे मन पर। सच पूछिये तो नेत्रों के माध्यम से ही रूप हृदयंगम होता है। रसखान की गोपिका कहती है कि श्री कृष्ण को देख कर मेरे नेत्र अब मेरे वश मे नही रहे, वे उन्ही के रूप पर डटे रहते है, हटते नही। वे मोहन की छवि से सबध स्थापित किये रहते है और मुझमे रूठे रहते हैं, मेरी बात नही मानते। ये नेत्र उनके सौंदर्य की लिप्सा मे मछलियो की तरह फँस जाते है। कितने ही छद कृष्ण के अपूर्व सौंदर्य से अभिभूत गोपियो के मन की दशा की सूचना देते हैं। अनेकानेक छदो मे स्पष्ट रूप से मन, चित्त, हृदय, जीव, प्राण आदि शब्दों का प्रयोग करते हुए कवि ने अतःकरण को इन विभिन्न नामो से पुकारी जाने वाली सत्ता पर कृष्ण के रूप का प्रभाव वर्णित किया है। गोपियाँ कहती है कि नद का पुत्र मेरे मन रूपी मणि को चुरा ले गया, अब मन के बिना मै अपने को व्यर्थ पा रही हूँ। इन नेत्र रूपी दलालों ने मन रूपी माणिक को चौहट्टे मे प्रियतम के हाथ

बेच दिया, हृदय और जीव सब एक साथ ही बिक गए। कृष्ण ने अपने रूप का जादू चला कर हमारा चित्त चुरा लिया और शरीर के सारे सुखो का अत कर दिया क्योकि अब रूप का निरतर दर्शन नही होता, कृष्ण की पगडी की मुरेडो या ऐठनो मे मेरा मन मुरेड खा गया है। सारे ग्वाल बालो मे एक कृष्ण ही तो ऐसे है जो समस्त ब्रज-वासियो के हृदय को हर लेते है, कृष्ण का रूप ही ऐसा है जिसे देख कर हृदय अपने आप हुलसित होता है। रसखान लिखते है कि मोहन की छवि मन को भा रही है तथा उनके रूप के सिधु मे मन बेतरह डूब गया है। उधर गोपिका को लाल की कितनी ही चाले चित्त मे चुभ कर कसक पहुँचा रही है। उनका गायें घेरना, लकुटी फिराना, कटाक्ष करना, भृकुटियो का मोड़ना, वेणु बजाना, पीतपट का चमकाना, मोरमुकुट की लटक आदि। उनकी जितनी रूप छटा है वह तो हृदय में चिरकाल के लिए अटक गई है, उनकी चितवन शरीर और प्राण को बेतरह बेधे दे रही है, वह चोट सम्हाले नही सम्हलती पर साथ ही साथ वह चोट ही है जो बधन में बाँधती भी है। कृष्ण के दृग बाण हृदय को ऐसा बेधते है कि कोटि-कोटि गोपियाँ गिर-गिर पडती है, ब्रज मे कृष्ण के रूप की रौर मची हुई है, गोपबालाओ की चेतना अपहृत हो चुकी है और उनका मन कृष्ण के ईषत् हास या स्मिति के हाथों बिक गया है। रूप और छवि की ऐसी निधि थे कृष्ण जो ब्रज की गोपागनाओ के मन, प्राण और शरीर को अपने प्रति आसक्त किये हुए थे, उनमें आनद वर्णन की अपूर्व शक्ति थी, तन की तृषा शान्त करना जिसका साधारण व्यापार था और उनके प्राणो को रिझा लेना उनके लिए खेल था अनेक छदो मे कृष्ण के रूप को उन्मत्त बना देने वाला, गोपियो के लोकलाज को बहा देने वाला कहा गया है। कृष्ण के मुस्कराते हुए रूप मे, उनके उपागो में, कामदेव से भी सुंदर उनके बानक मे और नेत्रो के चपल चालन मे वह शक्ति है जो कोमल हृदय वाली गोपिका के हृदय की लज्जा की गाँठ को खोल कर ही रहती है। इस भाव को एक गोपिका के माध्यम से रसखान ने बडे ही अनूठे ढंग से कहलाया है—'माइ की अँटक तौ लौं सासु की हटक तौ लौं, देखी ना लटक मेरे दूलह कन्हैया को'। जो रूप गोपियो को इस सीमा तक आकृष्ट कर लेता है वह अपनी परम मोहनी शक्ति से उन्हे उतावला और उन्मत भी बना सकता है। आँखो मे कृष्ण का रूप भर कर, बसा कर या पीकर, एक गोपिका ने अपनी आखे बद कर रक्खी हैं। क्यो ? इसलिए कि वह रूप उन नैनो का ही होकर रहे, भाग न जाय या फिर इसलिए कि ऐसी छवि पा लेने के बाद लोक के प्रति आँखो का बद रहना ही अच्छा ! कारण जो भी हो, रूप का यह प्रभाव असाधारण है, सखियो के कहने पर भी वह प्रीतिमना गोपिका अपनी आँखे उघाड़ने को तैयार नही, कृष्ण की रूप छटा प्रमत्तता की दशा तक पहुँचा देने वाली है। रूप-दर्शन से बेसम्हाल हो जाना, आत्मविस्मृति, नेत्रशरों से बिधे हुए प्राणो की सतत दर्शनाभिलाष तथा प्रिय के वियोग की असह्यता, देह-

चेतना का अपहृत हो जाना आदि अनेकानेक प्रभावो का कवि ने वर्णन किया है। प्रभाव चित्रण के उदाहरण स्वरूप एकाध छंद देखिये—

(क) पूरब पुन्यन ते चितई जिन ये अखियाँ मुसकानि भरी जू।
कोऊ रही पुतरी सी खरी, कोउ घाट डरी कोउ बाट परी जू ।
जे अपनै घर ही रसखानि कहै अरु हौसनि जाति मरी जू।
लाल जे बाल बिहाल करी ते बिहाल करी न निहाल करी जू।।

राधिका का सौन्दर्य वर्णन

रसखान ने राधा के सौदर्य का वर्णन तो दो-चार छदो मे किया भी है पर गोपियो के रूप के वर्णन मे वे प्रवृत्त नही हुए। बात यह है कि रसखान स्वय एक गोपी बने हुए थे। कृष्ण के प्रति प्रेम करते हुए उनकी भावना एक गोपिका की-सी हो गई है फलतः गोपी उनके प्रेम-भावना की अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र हो सकी है, उनकी प्रेमाभिव्यक्ति का आलबन नही। राधा की रूप-सुषमा के चित्रण मे किञ्चित प्रवृत्त होने का कारण यह है कि राधा कृष्ण की अनन्य प्रेमिका थी, उसका हृदय भी रसखान के ही हृदय के समान बल्कि उससे भी कही अधिक प्रियतम कृष्ण के दृगवाणो से बिद्ध था—

तन चंदन खौर कै बैठी भटू रही आजु सुधा की सुता मन सी।
मनौ इन्दु बधून लजावन को सब ज्ञानिन काढि धरी गन-सी।
रसखानि बिराजति चौकी कुचौ बिच उत्तम ताहि जरी तन सी।
दमकै दृग-बान के घायन कौ गिरि सेत के संधि के जीवन री।।

कैसा जीता-जागता प्रेमरजित और पुनीति चित्र है राधिका का जो अपनी वर्णोज्वलता और चदन-चर्चित वदन की अमृतोपमता के कारण अमृत की मानस-पुत्री ठहराई गई है। राधिका के सौदर्य की दिव्यता की प्रतीति वहाँ होती है जहाँ कवि कहता है कि राधिका के सौदर्य को देखकर सूर्य और चंद्रमा गति-शिथिल हो जाते है, वायु उसके निःश्वासो से सुरभि समेटने आता है आदि आदि। प्रकृति के सौन्दर्य की पराकाष्ठा का नाम वसत है। इस वसंत के वैभव की ही प्रतिकृति का नाम राधिका है। इस भाव को कवि नाना उपमानो के विधान द्वारा प्रस्तुत करता है—राधिका के दुकूल पुष्प हैं, कुँतल भ्रमर है, गुँजो की माला किसुक-समूह है, मोतियो के आभूषण आम्रमजरियाँ हैं और वाणी कोकिल को भी लज्जित करने वाली है फिर यह क्यो न कहा जाय कि यह राधिका का नही, वसत का आगमन है। अपने शरीर को सँवारती हुई राधिका रति को भी लजित करती है, ऐसी सृष्टि को देखकर विधाता स्वतः विस्मित है, वह इस प्रकार की दूसरी सृष्टि भला क्या रच सकता है। राधिका के इस पुण्य सौन्दर्य-सुधासागर मे रसखान ने दो ही चार डुबकियाँ लगाई है क्योकि उनका प्रेम मूलतः कृष्ण के प्रति था उनके मन मे तो उनका परम काम्य ही बेतरह समाया हुआ था।

राधिका के विषय मे जो दो-चार छद वे लिख गए हैं वह इस कारण कि राधिका कृष्ण की अनन्य अनुरागिनी थी, उस पथ की आदि पथिक थी जिस पर बहुत बाद मे रसखान चले थे।

उद्दीपन वर्णन अथवा वाह्य-दृश्य चित्रण

रसखान के काव्य मे उद्दीपनो का वर्णन न के बराबर है। केवल कृष्ण की प्रेम-क्रीडाओ के सन्दर्भ मे थोडी चर्चा ऋतुओ अथवा प्राकृतिक उपकरणों की मिलेगी और वह भी अत्यन्त सक्षिप्त उदाहरण के लिए जब वे वन मे होने वाली प्रेम-क्रीड़ाओ की चर्चा करते हैं उस समय कुञ्जो का, उनकी संकरी गलियो का, वन-पथ का अथवा वन प्रान्तर का नामोल्लेख मात्र करते है, ब्रज और वृन्दावन की छटा को सामने लाने की चेष्टा विल्कुल नही करते। इसी प्रकार पास-पडोस के गाँवो की चर्चा भी हुई है पर उनका स्वरूप अकित नही हुआ है। वन-क्रीडा के सदर्भ मे भी प्राकृतिक दृश्यावली का कोई वर्णन नही मिलता। एकाध जगह इतना मात्र कह दिया गया है कि 'कुन्जन नन्द कुमार बसै तहाँ मार बसै कचनार की डारन' अर्थात् उस वनस्थली के कचनार वृक्ष ऐसे मादक और मोहक वातावरण की सृष्टि कर देते है जिससे कामोद्रेक हो उठता है। पनघट-क्रीडाओं अथवा रास प्रसगादि के वर्णन मे भी यमुना-पुलिन और रजत-ज्योत्स्ना के मुग्धकर वातावरण की सृष्टि का कोई प्रयास लक्षित नही होता। इससे यह ध्वनित होता है कि कृष्ण का रूप सौदर्य और गोपियो का अनुराग आदि ही उनमे इतना समाया हुआ था कि इतर वस्तुओ की ओर उनकी दृष्टि भी न जाती थी। अपवाद रूप में ही एक छद मे रसखान ने वसन्त की प्राकृतिक सुषमा का वर्णन किया है जो पर्याप्त सरस एव चित्रात्मक है परन्तु वह श्रीकृष्ण के प्रेमपूर्ण सयोग की पृष्ठ-भूमि का निर्माण करने के ही उद्देश्य से विरचित हुआ जान पड़ता है—

> **डहडही बैरी मंजुडार सहकार की पै,**
> **चहचही चुहल चहूकित अलीन की।**
> **लहलही लोनी लता लपटी तमालनि पै,**
> **कहकही तापै कोकिला की काकलीन की।**
> **वहवही रि रसखान के मिलन हेत,**
> **बहबही बानि तजि मानस मलीन की।**
> **महमही मंद मंद मारुत मिलनि तैसी,**
> **गहगही खिलनि गुलाब की कलीन की॥**

रसखान के काव्य मे वियोग का वर्णन नगण्य होने के कारण ऋतुओं आदि को विरहोद्दीपक उपकरण के रूप में प्रस्तुत करने का अवसर नहीं आ पाया।

प्रेम व्यंजना

गोपी-कृष्ण के प्रेम-व्यापारो का जो बहुविध चित्रण रसखान ने किया है उसी मे रसखान की निजी प्रेम-भावना अन्तर्हित समझनी चाहिये। रसखान को सूरदास द्वारा तैयार की गई काव्य-भूमि सहज ही प्राप्त हो गई थी, उस पर उन्होंने अपनी भावना के नाना चित्र अंकित किये है।

रसखान के कृष्ण गोचारण करते हुए अपने सौंदर्य, रूप, माधुर्य एव आचरण द्वारा गोपियो के मन पर अमिट छाप छोड देते हैं। रसखान ने गाय चराते हुए कृष्ण के गाय दुहने, कुजो मे जाने, गायो के घेरने और टेरकर बुलाने, वेणु बजाने, मोहिनी तान से गोधन गाने, गायो के सग बन से लौटने, वेणु बजाते हुए गीत गाने आदि का उल्लेख मात्र किया है। गोचरण-प्रसंग के वर्णन मे सूरदास वाला माधुर्य तो रसखान पैदा नही कर सके है पर उन्होने यह अवश्य दिखलाया है कि गोचारण करने वाले कृष्ण किस प्रकार गोपियो के हृदय देश के अधिपति बन गए हैं। वे उनके हृदय मे समा गए है, एक न दो सारा का सारा व्रज उनके कार्यों एवं गुणो पर मुग्ध होकर जैसे बिक गया है, समस्त व्रजवासी जैसे उनके गुणो के क्रीतदास हो गए हैं। गोचारण करते हुए सम्मोहक रूप और वेश वाले कृष्ण को देख गोपियाँ प्रेम से पसीज जाती हैं वैसे ही जैसे आँच पाकर राँगा पिघल जाता है। गोपियो का समूह का समूह कृष्ण के गोचारण और सग-सग वेणु वादन तथा गोधन गान पर मुग्ध है—'गाइगो तान जगाइगो नेह रिझाइगो प्रान चराइगो गैया।' गाये चराने वाले कृष्ण के रूप-वेश और सौदर्य पर मुग्ध गोपियाँ लोक-लाज नही मानती, वे कृष्ण को दखती है, तृप्त होती हैं और अपने मन की तपन बुझाती है।

कुंज-क्रीडा अथवा कुंजो के अन्दर प्रेम क्रीड़ा का वर्णन विशेष नही है वरन कुन्ज से निकलते हुए मोहक रूप वाले कृष्ण की रूपमाधुरी का गोपियो पर जो मादक प्रभाव पड़ता है उन्ही का वर्णन किया गया है। सच तो यह है कि भक्तमना रसखान को प्रेम के पुनीत और उदात्त रूप का ही चित्रण अभीष्ट था इसीलिए उनकी कुंज लीला प्रेमी मन की मिलन भूमि के रूप मे प्रस्तुत की गई है, उस पुनीत मिलन-भूमि को सामान्यतया भोग-भवन का आमुष्मिक रूप नही प्रदान किया गया है। स्फुट छन्दो मे बार-बार कृष्ण को कुज मे जाते हुए या खडे हुए या मुस्कराते हुए दिखलाकर कवि ने बतलाया है कि भरी हुई भौहे, सुथरी बरौनियाँ और रक्तिम अधरोष्ठ, विशाल नेत्रो से चलने वाले कटाक्ष, खजनादिको का मद चूर करने वाले उन्मद नेत्र, चन्द्रमा से भी सुन्दर मुख, रूप के सिन्धु की अत्यन्त कोमल वाणी, मनोहर वेश और कामदेव से सुन्दर रूप छटा जिसके अधरो पर मुस्कराहट की लहरे उठती है तथा वह मुस्कान जिसकी सारे नगर मे डौडी बजती है—ऐसी रूप विभा वाले कृष्ण गोपियो को रिझाते हैं तथा उनके मन-प्राण को हर लेते हैं। इस प्रकार कुंज-क्रीडा के वर्णन मे कृष्ण के

रूप प्रभाव का चित्रण ही विशेष है जो नाना गोपियो के कथनो द्वारा वर्णित किया गया है।

बहुत कुछ सूरदास आदि के ही ढग पर १०-१२ छन्दो मे रसखान ने दान-प्रसग का भी वर्णन किया है। आभीरो के गॉव ब्रज मे गोरस (दूध-दही-इत्यादि) ही जीवन का आधार हैं। वही खाना, वही बेचना। ब्रज गॉव के ही महर के लाडले कृष्ण है कि गोपियो को नित्य छेडते है और उन्हे तग करते है। कभी उनका रास्ता रोकते है, कभी उनसे दूध-दही माँगते है, कभी उनकी आँखों मे आँखे डालकर अपने मदिर मनोभावो को व्यक्त करते हैं। गोपियाँ है जो तंग होती हैं पर अपना धन्धा नही छोडती हैं। कभी-कभी यशोदा के पास शिकायते लेकर जाती है और कभी-कभी कृष्ण को ही डाँटती-फटकारती हैं। कृष्ण कभी-कभी योजनाबद्ध रूप मे काम करते हैं और ग्वालिनों को बेतरह तग करते है। सब समय कृष्ण की यह छेड-छाड़ गोपियो को नापसन्द ही हो ऐसी बात भी नही। नवयौवनाएँ मुग्ध होती हैं, मुग्धाएँ और मध्याएं पूर्णकाम। सब छेडी जा कर अपनी-अपनी कथा एक दूसरे से कहती हैं। अधिक वयस्काएँ अल्प वयस्काओ को समझाती है कि जमुना के पार मत जाया करो अपने गाँव मे ही दूध-दही बेचो नही तो सारे ब्रजगाँव मे तुम्हारे प्रेम की डौडी बज जायगी, तुम्हारा निकलना फिरना बन्द हो जायेगा। एक दृढ मनोबल वाली गोपिका को कृष्ण ने छेड़ा तो उसने निहायत शराफत से साफ साफ कह दिया कि तुम्हे दूध नही चाहिए और न मक्खन ही। तुम जिस रस के इच्छुक हो उसे मैं भली-भाँति समझती हूँ लेकिन तुम मुँह धो रक्खो वह रस तुम्हे नही मिलेगा—

> छीर जो चाहत चीर गहें अजू लेउ न केतिक छीर अचैहौ।
> चाखन के मिस माखन माँगत खाउ न माखन केतिक खैहौ॥
> जानति हौ जिय की रसखानि सु काहे कौं एतिक बात बढैहौ।
> गोरस के मिस जो रस चाहत सो रस कान्ह जू नेकु न पैहौ॥

एक क्षीण मनोबल वाली सुन्दरी का जब कृष्ण से पाला पडा तो उस पर जो कुछ बीती वह अपनी सहेलियो से आकर इस प्रकार वर्णित करती है—

> आज महूँ दधि बेचन जाति ही मोहन रोकि लियो मग आयौ।
> माँगत दान मैं आन लियौ सु कियौ निलजी रस-जोबन खायौ।
> काह कहूँ सिगरी री बिथा रसखानि लियौ हँसि कै मुसकायौ।
> पाले परी मैं अकेली लली, लला लाज लियौ सु कियौ मनभायौ॥

अपने सर्वस्व हरण में वह अपने अकेलेपन को कारण ठहराती है और सारी घटनावली इस प्रकार कह चलती है जैसे कुछ हुआ ही न हो। जो कुछ उसने ऊपर वर्णित किया है वह उसके दुःख का नही वरन् हर्ष का कारण है।

वन क्रीडा के छन्दो मे वनमार्ग से जाती हुई गोपियों के सग कृष्ण की शरारतो का वर्णन है। बहुतेरी गोपियाँ ऐसी थी जो दही बेचने जाकर कृष्ण को देखे बिना या उन्हे गोरसदान दिये बिना तुष्ट न होती थी। कुछ ऐसी भी थी जो कृष्ण की समीपता तो चाहती थी किन्तु कुल मर्यादा, लोक-लाज आदि के कारण जा नही पाती थी, वैसे दो-चार बार जाकर वे वन-प्रान्तर के सम्मोहक एव उन्मादक वातावरण से परिचित भली-भाँति हो गई थी। एक गोपिका कहती है कि उस वन प्रान्त मे प्रवेश करते ही लज्जा की संभाल मुश्किल हो जाती है, वहाँ लज्जा का त्याग करना ही पडता है क्योकि वन मार्ग के कुंजो मे नन्दकुमार बसते है और उस वनस्थली के कचनार वृक्ष ऐसे मादक एवं मोहक वातावरण की सृष्टि कर देते हैं जिससे कामोद्रेक हुए बिना नही रहता। किसी-किसी छद मे वन प्रान्तर मे राधा और कृष्ण की प्रेम क्रीड़ा का चित्रण हुआ है। उनकी आकस्मिक भेट, फिर वनस्थली का रमणीय सौदर्य और इस सबके ऊपर हृदय से फूटती हुई मनोभव की मधुर निर्झरिणी। इस सब के होते हुए अपार आनन्द की सृष्टि भला कैसे न होगी। वन मे जो मिलन होता है उसके आनन्द का क्या कहना! ग्रीष्म का प्रखर आतप कोई व्यवधान नही डाल पाता, फिर जिसकी आतप से विशेष सुरक्षा होनी चाहिए उसे पुरुष की स्निग्ध छाया भली भाँति प्राप्त होती है।

जलाशयो (पनघटो) के निकट भी कृष्ण और गोपियो के प्रणय-व्यापारो का मनोहर चित्रण रसखान ने किया है, उनमे सूरदास वाला विस्तार तो नही है परन्तु उसका स्वरूप बहुत कुछ वही है कृष्ण यमुना मे जल भरने वाली गोपियो को भी तरह-तरह से छेड़ते थे और गोपिकाएँ थी जो लज्जा वश उनके इस प्रकार के आचरणो का विरोध करती थी परन्तु कृष्ण इन व्यापारो के कारण उनके हृदय से उतरे नही—

> जात हुती जमुना जल कौं मनमोहन घेरि लियौ मग आइकै।
> मोद भरयो लपटाइ लयौ, पट घूँघट टारि दयौ चित चाइकै॥
> और कहा रसखानि कहौं मुख चूमत घातन बात बनाइ कै।
> कैसे निभै कुलकानि रही हिये साँवरी मूरति की छबि छाइ कै॥

ऐसे प्रसगों मे ऐन्द्रिक तृष्णा कृष्ण मे ही विशेष दिखाई गई है। जब ब्रजागनाएँ यमुना मे स्नान करने के लिए जाया करती थी उस समय घात लगा कर नदलाल भी आस-पास फटकने लगते थे। उधर आने के तेरह बहाने उन्हे मालूम थे, और कुछ नही तो वेणु बजाते हुए और तान सुनाते हुए ही आ पहुँचे। एक छद मे कृष्ण द्वारा स्नान करती हुई गोपियों के चीर हरण का भी वर्णन आया है। पुनीत एव अतीन्द्रिय भावो के कवि होने के कारण कवि ने इस तरह के अधिक छद नही लिखे हैं।

रसखान के रास-विषयक छंदो मे वह आनंद नही छलकता है जो सूर के पदो या नंददास की 'रास पंचाध्यायी' मे उमडता दिखाई देता है। रास रचाने वाले श्रीकृष्ण जब वेणु बजाते हैं तो उसके मादक नाद से सारी ब्रज गोपियाँ अचेत हो जाती है। जब उन्हे होश आता है तो वे किसी प्रकार जल्दी-जल्दी अपने वस्त्र ठीक कर वन की ओर जाती हैं जहाँ कृष्ण उनके साथ विलास करते हैं। कोई कहती है कि आज तो महाबन में ग्वाल बालो की मंडली देखने योग्य है। सभी गोपकुमार सजधज कर आये हैं और कामकुमार से सुशोभित हो रहे है। कोई कितना भी शृङ्गार करे लेकिन आँखे घूमफिर कर श्यामल कृष्ण पर ही जा टिकती है। कभी कृष्ण मुरलीबट के समीप भी रास रचते है और नाना हावभावो का प्रदर्शन करते हुए गोपियो के चित्त मे रमण करते है, वे तो उनके सौन्दर्य पर बिक-सी जाती है। जो गोपिका रास मे श्रीकृष्ण का संसर्ग प्राप्त कर लती है वह अपने सौभाग्य पर फूली नही समाती।

कृष्ण की जिस वशी को कवियो ने गोपियो की ईर्ष्या का विषय ठहराया है और जिस भाव परम्परा का अनुगमन करते हुए रसखान की गोपिका ने भी कहा है—

भावतो तोहि मेरो रसखानि जु तेरे कहे सब स्वाँग भरौंगी।
पै वा मुरली मुरलीधर की अधरान धरी अधरा न धरौंगी।।

वही वशी सामान्यतया गोपियो को विमोहित करने वाली कही गई है। कृष्ण की व्यामोहिनी शक्ति मुरली के कारण और भी बढ़ जाती है, कृष्ण जिधर जाते है उनकी मुरली की ध्वनि के कारण गोपियाँ उसी तरफ दौड पडती है। सभी झरोखो से झाँकने लगती है, अटारियो पर चढ जाती हैं। कोई-कोई तो लोक लाज का तिरस्कार कर आँखो-आँखो मे मोल-तोल भी कर लेती है। कृष्ण जिस गली से निकलते है वही गोपियाँ उन पर लहालोट हो जाती है— 'वह बाँसुरी की धुनि कान परे कुल-कानि हियो तजि भावत है।' एक गोपिका तो कहती है—

काननि दै अँगुरी रहिबो जबही मुरली धुनि मंद बजैहै।
मोहनी ताननि सों रसखानि अटा चढ़ि गोधन गैहै तोगैहै।।
टेरि कहौं सिगरे ब्रज लोगनि काल्हि कोऊ सु कितो समुझैहै।
माइ री वा मुख की मुसकानि सम्हारी न जैहै न जैहै न जैहै।।

वेणु का शब्द सुनकर गोपियो की मिलनोत्कठा इतनी प्रबल हो जाती है कि वे अपने वश में नही रहती, उनकी कामाग्नि दहक उठती है, तन-मन की ऐसी दशा उनके लिए जीना मुकिल कर देती है। राधिका पर तो कृष्ण की वशी का जादू इस तरह सवार हो जाता है कि कुछ पूछिये मत। उसका जीवन मरन विधाता के आधीन हो जाता है, उसकी दशा देखकर अन्यान्य गोपियॉ भी बेहाल हो जाती हैं और कहती है---- "राधिका जीहै तौ जीहैं सबै न तो पीहैं हलाहल नंद के द्वारे।" इस प्रकार कृष्ण की बाँसुरी के आकर्षणमे सारा ब्रज बँधा हुआ है, कौन सी गोपिका है जो उस

पर लट्टू नही है। इस प्रभाव की व्यापकता 'दूध दुह्यौ सीरो परयौ' वाले कवित्त मे सुदरता से निर्दशित हुई है जहाँ यह बताया गया है कि कृष्ण की वन्शी का स्वर कान मे पडते ही सारे ब्रज के कारबार रुक जाते हैं, लोगों के अंग ढीले पड जाते हैं, जो व्यक्ति जैसा रहता है वैसा ही रह जाता है, जगत के सारे व्यापार धरे के धरे रह जाते है। कृष्ण की वशी का जादू इस कदर झकझोर देने वाला है कि उसके प्रभाव मे आई हुई गोपिका को लोग आसानी से पहचान लेते है और कहने लगते है कि यह देखो 'पगली आ गई'। कभी-कभी कृष्ण अपनी मुरली मे ही किसी गोपिका का नाम ले लेते हैं, तुरन्त ही उसकी बदनामी होने लगती है लेकिन वह भी सोचती है कि जब बदनामी हो ही गई तो फिर वह प्रेम का रस पाने से क्यो वचित रहे। दुनिया को वह पचडा समझकर छोड देती है और नगाडे की चोट पर कृष्ण को अपना प्रिय स्वीकार करती है। अग-जग का मन मोह लेने वाली वशी प्रीति की उत्पादिनी दिखाई गई है, लोक लाज का निगड टूट जाता है और प्रेम की स्वच्छद धारा प्रवहमान हो उठती है, प्रेम की सकुचाई और बँधी हुई सरिता मे बाढ आ जाती है। वशी का प्रभाव रसखान ने दो रूपो मे दिखलाया है। एक तो गोपिका का मुग्ध होना, प्रेम शिथिल और प्रेमोन्मत होना दिखाकर दूसरे उनमें कामोत्तेजना या प्रबल मिलन लालसा दिखाकर।

होली उन्मत्त मन का पर्व है फिर ब्रज की होली तो प्रसिद्ध है जहाँ स्त्री पुरुष मुक्त हृदय से इस पर्व को मनाते आए हैं। रसखान की गोपियाँ और कृष्ण बडी ही स्वच्छन्द पद्धति से होली खेलते है। गोपी है जो प्रेम से भरकर पूरे मौज के साथ कृष्ण पर केसर, अबीर और रग की बौछार करती है और उनका मन चुराकर मदमत्त भाव से चल देती है। एक नवीन गोपिका के सग कृष्ण का होली खेलना देखिये—

आवत लाल गुलाल लिये मग सूने मिली इक नारि नवीनी।
त्यो रसखानि लगाइ हिये भटू मौज कियौ मन माहि अधीनी।
सारी फटी, सुकुमारी हटी, अँगिया दरकी, सरकी रंगभीनी।
लाल गुलाल लगाई लगाई कै अंक रिझाइ बिदा करि दीनी।।

यह चित्र तरुण रसखान ने चाहे न भी लिखा हो पर तरुण हृदय रसखान की रचना अवश्य है। रीति-स्वच्छन्द शृगारधारा मे नीति, नियम और सयम या ध्यान नही दिया जाता, इन बातों को महत्वहीन समझ कर बलाए ताक कर दिया जाता है। केवल प्रेमी ही नही प्रेमिका भी नियम-संयम, लोक-लाज आदि का अतिक्रम प्रेम के लिए आवश्यक मानती है और विशेषरूप से होली मे—"ताहि मरौ लखि लाख जरौ इहि पाख पतिव्रत ताख धरौ जू।" ऐसी पक्तियो से रसखान के शृगारी मन का परिचय मिलता है। होली मे कौन सी गोपिका है जो निर्मर्याद नही होती—"का सजनी निलजी न भई अरु कौन भट जिहि मान बच्यौ है।" कोई

कितना भी रोके होली के पर्व पर प्रेमी प्रेमिकाओ का उन्माद रुकता नही। होली अनेक अवगुणो का मूल है, रसिक सलोना रिझवार बेहद ढिठाई करता है, हृदयहार तोड देता है, गोपिका के अग-अग मे काम का संचार होता है, रग, गुलाल, कुकुम और बुक्के की धूम मच जाती है, धमार गीतो से सारा वायुमण्डल गूँज उठता है, तरह-तरह के तान छिड़ते है और चाँचरे होती हैं, कृष्ण क्या नही करते और गोपियाँ कौन सा आनद नही लूटती।

प्रेम का वर्णन करते हुए रसखान ने कृष्ण की अपेक्षा गोपियो मे प्रेम भावना का विशेष विकास दिखाया है क्योकि कृष्ण एक थे गोपिया अनेक। एक गोपिका कहती है कि यदि बहुत सी आँखे होती तो गोचारण करते हुए कृष्ण का सारा सौन्दर्य आत्मगत कर लेती, यदि बहुत से कान होते तो उनकी अमृतमयी वाणी अपने कर्णपुटो मे भर लेती। एक अन्य गोपिका सतृष्ण भाव से उस दिन की प्रतीक्षा करती है जब वह घुँघुचियो की माला बनाकर तथा मालती, मल्लिका और कुद के फूलो के हार गूँथ कर किसी कुँज मे अपने प्यारे कृष्ण को पहनाएगी। गोपियाँ नाना रूपो मे कृष्ण के संसर्ग सुख की अभिलाषिणी दिखाई गई है। यदि किसी की बदनामी हो जाती है तो भी उसे कोई पछतावा नही होता, बस वह यही सोचती है कि "को पछतावो यहै जु सखी कि कलंक लग्यो पर अंक न लागो।" गोपियाँ कृष्ण को पाने के लिए सब कुछ करने को तैयार है। ये अभिलाषाएँ तरह-तरह से व्यक्त की गई है। गोपियो के कृष्ण के प्रति आसक्त होने का वर्णन भी विशद रूप से किया गया है। रीझ के वर्णन में रसखान ने लिखा है कि प्रणयिनी गोपियाँ रात दिन प्रियतम के ही ध्यान मे डूबी रहती हैं—

उनही के सनेहन सानी रहैं उनही के जु नेह दिवानी रहैं।
उनही की नैन औ बैन त्यौं सैन सौं चैन अनेकन ठानी रहैं।।
उनही संग डोलन मैं रसखानि सबै सुख सिंधु अघानी रहैं।।
उनही बिन ज्यौं जल हीन ह्वै मीन सी आँखि मेरी अंसुवानी रहैं।।

सच्ची रीझ तो वही है जिसमे एकाग्रता हो, एकोन्मुखता हो और हम देखते हैं कि रसखान की गोपिका की रीझ ऐसी ही है—"और तो रंग रह्यौ न रह्यौ इक रंगरंगी सोइ रंग रह्यौ री।" इस रीझ के मार्ग मे जो भी बाधाएँ है ये रिझवार गोपियाँ उन्हे सहर्ष पार करती है—ताने, व्यग, चुगलियाँ, निंदा, कुल और लोक की लज्जा। प्रेम की दीवानी गोपियो ने प्रिय की छवि को अग-अग मे भर रक्खा था—रूप को आँखों मे, मोहक वचनावली को अपने कानो में, सुगधि को घ्राणेन्द्रिय मे और साँवली मूर्ति को अपने हृदय में। कृष्ण की आसक्ति के बिना वे जग और जीवन सब कुछ व्यर्थ समझती थी। रीझना ही मानो उनका जीवन था, तप था, ध्यान था, योग था, सयम था, सब कुछ था। मानो वे इस संसार मे रीझने के लिए ही पैदा हुई थी।

यह उनका स्वभाव हो गया था जैसा कि उन्होंने कहा भी है—"मेरो सुभाउ चितैबे को माई।" इस रीझ का कारण है प्रिय का प्रेम भरी दृष्टि से देखना, उनकी मुस्कराती हुई रूप छटा, उनका वेणुवादन आदि। कृष्ण की स्निग्ध दृष्टि और मुसकान का बधन सैकडो लौह शृंखलाओ से भी जबरदस्त है। रीझ या आसक्ति का यह मार्मिक एवं विशद निदर्शन उस प्रेमाभिव्यजन का अग ही है जिससे रसखान का समग्र काव्य ओतप्रोत है। स्वच्छन्द धारा के कवियो मे रसखान मनोलोक की पुनीत भावनाओ के चतुर चितेरे है। उनके काव्य मे रूप सौन्दर्य और आगिक आकर्षण के बावजूद भी प्रेम का पुनीत मानसिक पक्ष ही विशेष चित्रित हुआ है, कामोत्तेजक सभोग प्रधान कायिक अनुभूतियो एव आगिक तृष्णादि की चर्चा बहुत कम है। उनमे जो चतुरता है वह गाढ अनुभूति की है किसी काव्यशिल्प या वाग्विधि की नही।

रसखान का समस्त काव्य प्रेमभावना के माधुर्य से ओत-प्रोत है। उन्हे अपने जीवन मे धन वैभव की प्रभूत राशि सुलभ थी किन्तु राजनीति की सिर पर लटकती हुई तलवार का भय निरतर बना रहता था। रसखान ने ऐसे जीवन से फकीरी को बेहतर समझा और वे कृष्ण प्रेम मे मग्न हो ब्रज भूमि चले गए थे। वहाँ कृष्ण के प्रेम मे वे वैसे ही निमग्न हो गए जैसे कि गोपियाँ, रसखान का मन कृष्ण प्रेम से मनोज्ञ हो उठा था। वे ब्रज के मधुर और वासती जीवन का राग गाने वाले कोयल थे, घनश्याम पर रीझने वाले कलापी थे। उनका मन श्याम रंग मे डूब कर उज्ज्वल हो उठा था। वे जीवन के लौकिक प्रणय से विरक्ति रख कर मात्र ईश्वर-भक्त न थे। प्रेम उनकी मूलवर्ती-चेतना थी। उनके काव्य मे कृष्ण प्रेम के केन्द्र अथवा देवता के रूप मे अधिष्ठित है इसके कारण उनकी रचना अति शृंगारिक होने से बच गई है किन्तु उसका (शृङ्गारिकता का) एकदम अभाव नही होने पाया है। इसका मूल कारण यही है कि वे लौकिक मनोभावो को, सहज ऐन्द्रिक अभिलाषाओ की अभिव्यक्ति को स्वाभाविक ईहा मानते थे इसी कारण उनके काव्य मे गोपियो की, कृष्ण की ऐन्द्रिक ईहाओ को आकाक्षा व्यक्त हुई है। इच्छा, उपलब्धि, उपलब्धि का सुख और अनुपलब्धि का दुख यही तो प्रेम है और इन्ही भावनाओ का विस्तार रसखान मे नाना रूपो मे सुलभ है। मन की शत-शत वृत्तिया का सुमधुर प्रकाश रसखान के छंदो से विकीर्ण हो रहा है। मन की ये प्रकाश रश्मियाँ अरुद्ध गति से फूट रही है, इसी कारण उनका प्रकाश प्रत्येक हृदय मे समा जाता है। हृदय की मुक्ति उनके काव्य का सौदर्य है। उसमे असहज और कृत्रिम कुछ नही। जो अदर है वही बाहर है। मन की यही स्वच्छदता और निर्बन्धता स्वच्छद शृगार प्रवृत्ति की पहली शर्त है। रसखान इसे भली भाँति पूरा करते है।

भक्ति भावना

रसखान प्रेम के कवि होने के साथ-साथ उच्च कोटि के भक्त भी थे, उनकी गणना हिन्दी के श्रेष्ठतम भक्तों मे भी की जाती है। उनकी भक्ति के आलंबन थे कृष्ण

जिनकी भावना उन्होने साक्षात् ईश्वर या ब्रह्म के रूप मे की है जिनके ध्यान मे शंकर और ब्रह्मा रात दिन लगे रहते हैं। और भी कितने ही देवी-देवता, योगी-यती लगे रहते हैं। शारदा, शेष, गणेश, सूर्य, इन्द्र आदि भी उनके गुणों का पार नही पाते, वेद जिनका अनादि, अनत, अखड, अछेद, अभेद आदि शब्दो द्वारा आख्यान किया करते हैं तथा नारद, शुकदेव और व्यास जैसे देवर्षि, महर्षि और ब्रह्मर्षि जिनका वर्णन करते हुए अंत नही पाते। रसखान के कृष्ण ऐसी महती विभूति और विराट सत्ता है। नर एव देवता ही नही वरन् देवो, अदेवो और भूलोक की स्त्रियाँ भी जिनपर अपने प्राण निछावर किया करती है। ऐसे कृष्ण ने पृथ्वी तल पर अवतार लिया था। उनकी समृद्धि और सपदा देखकर कुबेर को सकोच होता था, उनके रूप को देखकर अनग लज्जित होता था, उनका आनदोपभोग देखकर इन्द्र ललचाया करता था। इन कृष्ण की वाणी मानों मुक्ति देने वाली तरगिणी थी। इस प्रकार रसखान के कृष्ण में सौदर्य, कृपालुता, रक्षणशीलता और भक्तवत्सलता आदि के कितने ही महान गुण थे। वे साक्षात् ब्रह्म के ही प्रतिरूप थे। उन्होने कितने ही आर्त्तजनो का उद्धार किया था - द्रौपदी, गणिका, गज, गीध, अजामिल, अहिल्या आदि। ऐसे कृष्ण को पाकर रसखान अपने भविष्य के सबध मे निश्चिन्त और आश्वस्त थे, उनकी कृपालुता और रक्षणशीलता पर उन्हे पक्का भरोसा था। ये कृष्ण अपने भक्तो के उद्धार के लिए, उनकी भावनाओ के आदर के लिए पृथ्वी पर नाना रूपो मे अवतार लिया करते थे। उनकी क्रीड़ाओ पर कौन नही मुग्ध होता था—

(क) नदरानी के तनक पय पीबे काज,
तीनि लोक ठाकुर सो ठुनकत ठाढ़ो है।

(ख) काग के भाग कहा कहिये हरि हाथ सों लै गयो माखन रोटो।

ईश्वर का यही मुग्ध करने वाला लौकिक आचरण उसके भक्तो का हृदय हर लिया करता है।

रसखान निश्छल चित्तवृत्ति के भक्त थे, उन्होने कृष्ण के प्रेम मे पागल हो अपना सब कुछ उन पर निछावर कर दिया था। वे कृष्ण की छबि देखकर उनके अनन्य उपासक हो गए थे, उन्होने बडे आवेशोन्मेष के साथ उनके प्रति अपनी उत्सर्ग पूर्ण भक्ति भावना निवेदित की है। वे कृष्ण की लकुटी और कमरी पर तीनो लोको का राज्य, आठो सिद्धियाँ, नवो निधियाँ तथा कोटि-कोटि कलधौत के धाम निछावर करने को तैयार थे। उनकी एक ही अभिलाषा थी—कृष्ण संसर्ग और उन्ही का सान्निध्य। इसके अतिरिक्त वे और कुछ न चाहते थे —'मानुष हौ तो वही रसखानि' वाले छंद में उन्होंने अपने आने वाले जन्मो की भी अभिलाषा व्यक्तकर दी है। वे मोक्ष नही चाहते थे बल्कि उन कुज कुटीरों को झाड़ने-बुहारने की सेवा करना चाहते थे जिनमें श्रीकृष्ण कभी गए हो, वे ब्रजरेणुका पर अंकित कष्ण के चरण-चिह्नों को

सुरक्षित रखना चाहते थे—ऐसी निरीह और भोली आकाक्षाओ वाले भक्त थे रसखान। उनकी भक्ति मे दूसरा मुख्य भाव यह था कि हम चाहे कुछ भी हो जायँ, कितनी ही ऊँची पदवी और कितनी ही विशाल सपदा पा जायें किन्तु हमने यदि पीत पटवारे से प्रेम नही किया तो कुछ नही किया, इसके बिना हमारा जीवन निरर्थक है। भक्ति का यही अनन्य भाव रसखान को महान भक्तो की श्रेणी मे बिठा देता है। वे कहते है कि वही वाणी, कान, हाथ, पैर, प्राण और जीवन सच्चा है जो कृष्ण के गुणो के गायन, श्रवण, उनके स्पर्श, अनुसरण और ध्यान के प्रति समर्पित है।

भक्ति विषयक छदो के ही सदर्भ मे उन्होने कुछ उपदेशपरक पक्तियाँ भी लिखी हैं जिनमे यह कहा गया है कि हमारा जीवन सकल्प, नियम और संकल्प से परिपूर्ण होना चाहिए, उसमे दुर्भाव न होना चाहिए, उज्ज्वल सत्सग होना चाहिए—जीवन यापन की यही सच्ची और पुनीत पद्धति है, यही भक्ति है, यही अर्पण है, यही सेवा है, यही त्याग है और सबसे बडी बात यह है कि गोविन्द का विस्मरण कभी न होना चाहिए—

मिलिये सब सों दुरभाव बिना, रहिये सतसंत उजागर मैं।
रसखानि गुविंदहिं यों भजिये, जिमि नागरि को चित गागर मैं।।

जीवन का यही पवित्र यापन सच्ची ईश्वर भक्ति है। भक्ति अकर्मण्य का नाम जप नही है, वह नाम है सदाचार और सत्यपूर्ण जीवन का, निर्लिप्त और सयत आचरण का, सद्भाव और सत्सगयुक्त आत्म विकास था। ऐसे ही कर्मो से सकुल जीवन के बीच सच्ची ईश्वर भक्ति निहित समझनी चाहिए सभी कर्मो के बीच ईश्वर का ध्यान बना रहना चाहिए उसी प्रकार जैसे डोल खीचती हुई पनिहारिन किधर भी झूमती रहे किन्तु पल भर के लिए भी डोल से उसका ध्यान इधर-उधर नही होता। साधना की अन्य पद्धतियो की अपेक्षा रसखान को भक्ति, सेवा और प्रेम का रुचिर पथ ही अधिक सुगम और प्रिय था। अत्यंत दु:साध्य तथा कष्टपूर्ण साधनाएँ उनके मनोनुकूल न थी—

कहा रसखान सुखसंपति सुमार कहा,
कहा तन जोगी ह्वै लगाए अंग छार को।
कहा साधे पंचानल कहा सोए बीच जल
कहा जीति लाए राज सिंधु आर पार को।
जप बार-बार तप संजम बयार-व्रत,
तीरथ हजार अरे बूझत लबार को।
कीन्हों नही प्यार नही सेयौ दरबार,
चित चाह्यौ न निहारियौ जौ पै नंद के कुमार को।।

रसखान मुसलमान होकर भी कृष्ण के अनन्य भक्त और प्रेमी थे किन्तु उनकी यह अनन्यता अन्य देवी देवताओ के प्रति सम्मान प्रकट करने मे बाधक न थी। वे उदाराशय व्यक्ति थे तथा हिन्दू भक्तो के समान उनके आचार-विचार हो गए थे, वैष्णव धर्म और आदर्शों की उन्होने श्रद्धापूर्वक महत्ता स्वीकार की थी। उनकी रचना से पता चलता है कि वे अन्य देवी-देवताओ को पर्याप्त सम्मान की दृष्टि से देखा करते थे। गंगा जी की महत्ता और गरिमा सूचक तथा शिवस्तुतिपरक एक दो छद भी उनके काव्य मे मिलते है। हरी और शकर को एक ही रूप या मूर्ति मे कल्पित कर रसखान ने इन देवताओ मे तात्विक अभेद दिखलाया है।

आलम

आलम के काव्य की मुख्य भावना शृगार ही है जिसे उन्होने 'आलम केलि' मे मुक्तको के अन्तर्गत तथा 'माधवानल काम कन्दला' और 'श्यामसनेही' मे कथा के माध्यम से अभिव्यजित किया है। आलम मे काव्य के भावपक्ष का विस्तार रसखान, घनआनद, ठाकुर और द्विजदेव की अपेक्षा अधिक ही है। बोधा की अपेक्षा भी। दूसरे उनके काव्य मे एक ओर जहाँ रीतिमुक्त प्रेम प्रवाह मे बहने की प्रवृत्ति लक्षित होती है वही रीतिबद्धता भी सर चढ़ी बैठी नजर आती है। पहले हम उनके मुक्तक काव्य की भाव-भूमि का ही अवलोकन करेगे।

आलम कवि ने अपनी कविता मे मुख्य रूप से नायक-नायिका-प्रेम का वर्णन किया है। स्त्री पुरुष का पारस्परिक सम्मोहन जो सामान्यतया सभी रीति कवियों का प्रधान वर्ण्य रहा है आलम का भी काव्य विषय बना है। नायक नायिका का यह प्रेम कभी गोपी कृष्ण और कभी राधा कृष्ण का प्रेम हो गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि कवि के मन मे ब्रज और कालिदी का वातावरण घूमता रहा है, कृष्ण और गोपी की भावना काम करती रही है। उनका वर्णन करते समय कवि ने कृष्ण गोपी राधिका आदि का नाम सामान्यतया नही लिया है यदि लिया है तो बहुत कम स्थानों पर ही लिया है। इस प्रकार से ब्रज के प्रेम-मडित वातावरण की कल्पना के बीच कवि ने नायक-नायिका का पारस्परिक प्रेम वर्णित किया है।

नायिका का रूप-सौन्दर्य

इस प्रेम और शृंगार के आधार है नायक-नायिका और उनका रूप-सौन्दर्य। आलम कवि की दृष्टि नायिका के सौन्दर्य पर ही विशेष रूप से निबद्ध रही है, उसका वर्णन उन्होने विशेष विस्तार और मनोयोग से किया है और यह उचित भी है क्योकि जिसके अवलम्ब से शृंगार का उद्रेक होता है यदि उसी के स्वरूप की सम्मोहक प्रतिष्ठा

नायिका के सौन्दर्य का वर्णन आलम ने तीन रूपो मे किया है एक तो आलबन रूप मे जिसमे साक्षात् उसी का वर्णन किया गया है दूसरे दूती के माध्यम से जिसमें नायक के समक्ष दूतियाँ नायिका के सौन्दर्य सौकुमार्य आदि का कथन करती है तीसरे नायक को ही नायिका पर रीझा हुआ दिखलाकर।

शृगार के आलबन रूप मे वर्णित नायिका का वर्णन अलकृत शैली मे विशेष किया गया है जिसमे उपमा, प्रतिपाद अलकारो के सहारे उसका रूपोत्कर्ष व्यजित हुआ है। नायिका के अग-अग पर कवि की दृष्टि गई है तथा उनके सौन्दर्य पर कभी कोई उपमा निछावर की गई है और कभी कोई उपमा तिरस्कृत। नायिका के बोल की मिठास, अग की काति, मुख का सौन्दर्य, कटि की क्षीणता, वेणी, छूटी हुई अलके, हँसना, रूठना, अग-अग से छवि का छलकना, अग-अग के आभूषण, दाँत, नाक, आँख सभी पर कवि की दृष्टि दौडी है और इन्ही के अलकृत उल्लेखो से ही नायिका के रूप की सत्ता आलम की कविता मे प्रतिष्ठित हुई है—

(क) हीरा से दशन मुख बारा नासा कीर चारु
सोने से शरीर रचि चली चीर धाम को।

(ख) आलम कहै हो बड़े बार ह संचार भए,
तेरी तरुनाई सु जराइ सी जगति है।
मोतिन को हार हिये हौस ते पहिरै नही,
पोत ही के छरा अपछरा सी लगति है।

ऐसे वर्णनो मे परपरागत विधियो को अपनाकर आलम चले है जहाँ चमत्कार ही प्रधान है, रूप चित्रण नही फिर भी रूप का उत्कर्ष तो व्यक्त हुआ ही है। सौन्दर्य चित्रण करते हुए जहाँ कही भावुकता अथवा सच्ची सहानुभूति आ मिली है वहाँ कविता भी निखर उठी है और रूपसि का रूप भी -

चितवत औरै लागै बोलै औरै जोति जागै,
हँसे कछू औरै रूसे औरई निकाई है।
अंग अंग मोहनी मोहन मन मोहिबे को,
एन-नैनी मानो मैन मोहनी बनाई है।
'आलम' कहै हो रूप आगरो समातु नाही,
छबि छलकति इहाँ कौन को समाई है।
भूषन को भाक ह किसोरी बैस गोरी बाल,
तेरे तन प्यारी कोटि भूषन गोराई है।।

यहाँ वह सौन्दर्य नायिका मे प्रतिष्ठित किया गया है जो प्रतिक्षण परिवर्तित होता हुआ नव्य से नव्यतर होता चला जाता है। यही वास्तविक सौन्दर्य का भारतीय मानदंड भी है। नायिका ऐसी रमणीय और मनोमुग्धकारिणी है कि उसके एक-एक

क्रिया-कलाप से प्रभा के नए-नए द्वार से खुलते जाते है। उसका प्रत्येक आचरण नवीन काति और शोभा का सृजन करता चलता है। ऐसी रूप की राशि भला किसी का मन कैसे न मुग्ध कर लेगी! उसे तो मदन ने अपने विशेष मनोयोग से विसृष्ट किया है। उसके अंगो से तो छवि छलकी पड रही है। उसके अंगो की वर्णच्छटा तो करोडो आभूषणो के समान है।

नायिका के स्वाभाविक सौन्दर्य का वर्णन करते हुए आलम ने एक स्थान पर लिखा है कि तेरे अंग-अंग से तो ऐसी-ऐसी नवीन काति फूट रही है कि जान पड़ता है जैसे तूने किसी रूप और सौन्दर्य के मुल्क को ही लूट लिया हो। तू भला जुही की माला के समान लज्जावनत क्यो हो रही है? तू तो अपने सौन्दर्य के कारण श्रीकृष्ण के हृदय मे चुभ गई है। घने श्यामल केशो के बीच अपने तारुण्य के साथ तू तो जडाऊ गहने के समान दमक रही है। तू अपने हृदय की प्रेम भरी उमग के कारण मोती की हलकी सी माला का भी निषेध किये हुए है और कॉच की गुरियो की छोटी-छोटी सी माला पहन कर भी अप्सरा सी प्रतीत हो रही है। नायिका के रूप सौन्दर्य का यह चित्रण अत्यत प्रभावशाली है। स्वाभाविक सौन्दर्य का हो वर्णन करते हुए एक अन्य स्थान पर आलम ने लिखा है कि तेरे कनक से वर्ण वाले गात मे हीरे की सी उज्वल आभा है। तेरे लिए शृगार के सारे प्रसाधन तो व्यर्थ है, तू तो अपना शृगार स्वय है। स्वर्णकार विधाता ने स्वय तुझे अनुपम शोभा प्रदान कर जडाऊ गहने-सा कान्तिपूर्ण बना दिया है—

ऐसे रूप देस की लुनाई लुटि लई है सु
  नई नई छबि अंग अंग उमगति हैं।
मोतिन को हार हिये हौंस ते पहीरै नहीं,
  पोत ही के छरा अपछरा सी लगति है॥

कही-कही आलम ने नायिका के सौन्दर्य पर मुग्ध हो उसे कामकेलि के सर्वथा उपयुक्त बतलाया है और शरीर के समस्त संतापो को हर लेने वाला कहा है। ऐसी अभि-व्यक्तियो मे आलम भावना की दृष्टि से बोधा के समीप आ गए हैं—

(क) सौरभ सकेलि मेलि केलि ही की बेलि कीन्ही,
  सोभा की सहेली सु अकेली करतार की।
(ख) तपनि हरति कवि 'आलम' परस सीरो,
  अति ही रसिक रीति जानै रस चार की।
सकि हूं को रसु सानि सोने को सरूप लैकै,
  अति ही सरस सो सँवारी घनसार की॥

नायिका के सौन्दर्य-सौकुमार्य आदि का जो अभिव्यंजन कवि ने दूतिकाओं के मुख से कराया है उससे भी कवि की ही सौन्दर्य दृष्टि और सौदर्यानुभूति लक्षित होती है।

प्रयोजन भी नायिका का सौदर्याकन ही होता है, दूतिका मध्यस्थ मात्र रहती है। इस प्रकार से नायक मे नायिका के प्रति रुचि उपजाने अथवा अनुराग जगाने का जो आयोजन किया गया है उसका कारण परम्परा पालन के अतिरिक्त और कुछ नही। इससे आलम की काव्यशक्ति कुठित ही हुई है तथा अनपेक्षित पिष्टपेषण ही हुआ है जिससे स्वतंत्र-कवित्व-शक्ति के ह्रास का भी पता चलता है और साथ ही साथ कामुकता की दुर्गन्धि भी फूटी है उदाहरण के लिए एक ही छंद पर्याप्त होगा—

काम रस माते है करेरी केलि कीन्ही कान्ह,
फूलनि की मालिका हू मीडि मुरझाई है।
'आलम' सुकबि यहि और सी न जानो बलि,
ऐसी नारि सुकुमारी कहौ कौने पाई है।।
कमल को पात लै लै हाथ याको गात छूजे,
हाथ लाये मैली होय गात की निकाई है।
अंचर दै मुख सनमुख तासो बात कीजै,
नातरु उसाँस लागै मुकुर की हाई है।।

अतिम दो चरणो मे सौकुमार्य की जो पवित्र भावना—अतिशयोक्तिमूलक वर्णनशैली मे ही सही—जागृत होती वह पहले दो चरणो के कारण नितान्त मैली हो गई है। दूतिकाओ द्वारा वर्णित नायिका का सौदर्य प्रचुर परिमाण मे उपलब्ध है। वे तरह-तरह से नायिका के सौदर्य का बखान करती है। इस पद्धति से भी आलम की ही रूप कल्पना व्यक्त हुई है। आलम के दिल और दिमाग मे नायिका के सौदर्य और रूप की जो भी कल्पना या भावना रही होगी वही दूतियो के माध्यम से भी अकित हुई है। नायिका के स्वरूप चित्रण मे दूतियो ने उसकी अंगकाति या वर्णच्छटा पर अधिक जोर दिया है उनकी उज्ज्वलता और गोरेपन को लेकर अनेक मनोहर कथन किये हैं—नायिका के अगो मे नई ज्योति है, अनंग-अगना के समान अनिंद्य सुन्दर-श्वेत साडी मे गौरवर्णी उज्ज्वलता को भी उज्ज्वल कर रही है तथा मौक्तिक दाम धारण करके तो वह विकसित चन्द्रप्रभा-सी प्रतीत होती है। उसके देह की गठन, वेश भूषा, आभा आदि को देखकर तो लगता है मानो क्षीर सागर को मथकर के चन्द्रमा निकाल लिया गया हो। रात्रि मे जब वह किसी कुंज मे प्रवेश करती है तब उजेला आप से आप पसरता चलता है। उसकी अगो की जगमगाहट तो रवि रश्मियो के सभार से और भी अनुरजक हो उठती है। चन्द्रमा उसमे है, बिजली की दमक उसमे है। इस प्रकार आलम की प्रेमपुनीत गोपिकाओ मे शारीरिक काति अछोर कही गई है। उसके अग-अंग मे सूर्य और चन्द्रमा की कान्ति है। आभा तो उससे फूटी पड़ रही है। उसके एक अग मे, एक-एक रोम में यौवन और ज्योति पुंजीभूत है। जिस घर मे ऐसी नायिकाएं पहुँच जायँ उसमे देहरी-दरवाजे तक दीपक

की क्या आवश्यकता -'पून्यो ऐसी आनि घर पैठिहै घरी मे बाल, देहरी दुवार लाग दीपकु न चाहिहो ।' इस सदर्भ की कुछ हो पक्तियाँ लीजिये—

(क) ऊजरे की उज्यारी गोरे तन सेत सारी,
 आंतन को जोति सों जुन्हैया मानो बाढी है ।
देह की बनक चाक चार मे चमक छाई,
 छीर निधि माथे किधों चाद चारु काढी है ॥
(ख) जामिनी मे जात सब कुज मे उज्यारी होत,
 दामिनी कहोगे कहै कामना न मानिहौ ।

जिन नायिकाओ की ऐसी अपूर्व शोभा और श्री का बखान दूतियो ने किया है उनका कोई प्रयोजन न हो ऐसी बात नही है । उनका प्रयोजन अनेक छदो मे कहा गया है— जरा चल कर उनकी द्युति देखो तो सही, मैं तो रीझ ही चुकी हूँ जरा तुम भी तो देखो, ऐसी युवती को पाकर जीवन को धन्य समझो, उसे देखने से ही तुम्हारा मन मानेगा आदि । इस प्रकार के कथनो से भी और काति के वर्णन मे वासना की मलिनता प्रवेश कर गई है जो परपरागत चित्रण पद्धति के अनुसरण का स्वाभाविक परिणाम है । वैसे नायिका की तन काति और वर्णोज्ज्वलता का वर्णन अत्यत उत्कृष्ट है इसमे सदेह नहीं ।

नायिका के अग सौन्दर्य का वर्णन करते हुए आलम ने एक-एक अंग-का पृथक-पृथक वर्णन नही किया है वरन एक समूचा चित्र उपस्थित करने के लिए कवि के दृष्टि पथ मे नायिका के जितने अग आ गए है उन्ही भर का वर्णन हुआ है जैसे —

(क) उरज उतग मानो उमगो अनग आवै,
 कसि बैठी आँगी उर गाढो जगिबंद की ।
सुभर नितंब जंघ रंभा के से खभ चलि,
 मद मंद आवै गति मद के गयद की ॥
(ख) आठो अग निपट सुठानि बानि ठानि ठई
 गाँठि स कटोर कुच जोबन की ठेठी है ।
गुन की गँभीर अति भारिये जघन जुग,
 थोरे ही दिनन गोरी रूप रंग जेठी है ॥

यहाँ नायिका के उमग और काम मद भरे सुगठित अगो का वर्णन मिलता है । गठीले अंगो के सौदर्य चित्रण के साथ-साथ उनके प्रभाव की ओर भी जब तब सकेत कर दिया है कि यह नायिका अपने अगो के सौदर्य की भार से मन को मरोड या उमेठ डालेगी अथवा यह विधिकृत यौवन की मतवाली अवश्य ही किसी न किसी मनुष्य के प्राण ले लेगी । कवि के ऐसे अप्रत्यक्ष कथनो को यदि नायिका के रूप और अंग सौदर्य की कल्पना से जनित उसके हृदय की निजी प्रतिक्रिया मान ली जाय तो कोई अनौ-

चित्य नही। आलम ने अधिकतर वर्णन तो अकुंठ चित्त से ही किये है। अति अश्लील प्रसगो मे यह हिचक अवश्य मिलेगी जो स्वाभाविक है और अनुचित भी नही। अंग वर्णन करते हुए कही-कही एक या दो अगो के सक्षिप्त उल्लेख या वर्णन से भी—एक छवि सामने आ गई है यथा —

(क) देह मैं बनक सी है लोक हू ननक सी है,
नूपुर झनक सी है महाछवि बढी है।
(ख) भारी सो लागतु हियो ज्यों ही ऊ ऊँचो होतु,
उगनि भरत कटि टूटिबे डराति है॥

अग वर्णन के साथ कही चलने, तिरछे देखने और मुस्कराने आदि का वर्णन है पर वह आगिक सौदर्य-शोभा के वर्णन को पूर्णता प्रदान करने के उद्देश्य से हुआ है।

सहज शोभा के साथ किये जाने वाले कृत्रिम शोभा विधान सयुक्त स्वरूप चित्रण की अब कुछ बानगी लीजिये—

(क) चन्द की मरिचि भरि सोचे डार्गा साचि रच,
कंचन जडित जनु रतन की पाँते है।
भूषण की आभा अंग सोभ के सुभाइ मिलि,
चाहे चकचौंधे दिनु रवि की सी काति है।
(ख) गोरे गात गहनो जराउ को जगमगत,
ऐसी छवि 'आलम' है जोबन सुभालसी।
दीपति नवीन नग पाँति पट झलने मानो,
कचन के खंभ मे दिपति दीप माल सी॥

नायिका की शोभा और सुन्दरता कुछ अतिरिक्त शृङ्गार से ही अत्यत चमत्कृत रूप में प्रत्यक्ष होती है। नायिका के स्वरूप का निर्माण चन्द्रमा की मरीचियो से किया गया है, उसके आभरण उसकी शोभा-समृद्धि मे योग देते है। जिन वस्त्राभरणो से वह अलकृत है जरा उस पर भी दृष्टिपात कीजिये। वह छविशालिनी अपनी अटा से उतर क्या गई जैसे चाँद ही डूब गया हो—

(क) कुसुंभी पहिरि हिये कुसुम के हार गूँथे,
केसरि कुसुम लखि लागै दग झूलरी।
अछरा ते आछी आछे चच्छु छबि छोरनि सौं,
आछी-आछी काछी आँगी उरज अछूरी।
(ख) पहिरे कुसुंभी सारी सादी सेत आँगी आँग,
छाती छवि छाति फेरि छाँह ही चढ़ति है।
चूडा पाँहू फेरि करि बेसरि सुधारि धरि,
कंकन करनि फिरि मन उमंगति है॥

पट परिधान और आभरण नायिका की शोभा के बाह्य उपकरण हैं, उनका महत्व नायिका के सौदर्य चित्रण मे कम कैसे किया जा सकता है ?

कुछ छंदो मे नायिका का वर्णन आलम ने अलकृत पद्धति पर किया है। कभी 'उल्लेख' का प्रयोग करते हुए वह कहता है कि नायिका चकोरो के लिए चन्द्रमा है, भ्रमरो के लिए कमल की माला है तथा मृगो के लिए नाद सौदर्य से परिपूर्ण है और कही पर रूपकातिशयोक्ति के सहारे इस प्रकार के बधान बाँधता है—'चंपा सिंह सारस, करिनि कोकिला, कदलि, बीज, बिवलीने सब ही को मन बंधु है।' अलकृत शैली मे किये गए सौदर्य वर्णन मे स्वरूप साक्षात्कार तो नही होता किन्तु वर्णित वस्तु के सौदर्य को काल्पनिक उत्कर्ष अवश्य प्राप्त हो जाता है साथ ही साथ कलात्मक चमत्कार की विशेष सृष्टि हो जाती है। इस पद्धति पर नेत्रो के वर्णन से सम्बन्धित आलम का एक छन्द विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नायिका के नेत्रो मे ही समुद्र मथन से निकले चौदह रत्नो की कल्पना की है जिस पर अलकार प्रेम काव्यालोचक लाला भगवानदीन मुग्ध हो कह उठे है कि 'यह कमाल इसी कवि ने दिखलाया है।' वह छन्द इस प्रकार है—

सत संख बिधु जोति अजन जहर मजि,
बक्र धनु अरुन सुमनि सँग लाए है।
प्रेम सुरा सूधे धेनु सुन्दर समान रंभा,
'आलम' चपल हम काम के सधाए है।
प्रीति मधु पूतरी कलप लच्छी पूरन,
धनंतरि सुदिष्टि गज गति पलटाए है।
काहे को समुद्र मथि देवतान श्रम कीनो,
चौदह रतन तिय नैननि मैं पाए हैं॥

समग्र रूप से आलम के रूप-सौन्दर्य-वर्णन पर दृष्टिपात करते हुए कहना पडेगा कि आलम कवि ने सौदर्य-चित्रण के क्षेत्र मे भले ही किसी अभिनव पद्धति का श्री गणेश न किया हो परन्तु उनमे सौदर्य को देखने-परखने और उस पर रीझने की सच्ची शक्ति प्राप्त थी और इसी के कारण उनका रूप सौन्दर्य वर्णन बहुविध है। रूप के प्रभाव और उसके आकर्षण, उसकी रमणीयता और अनूठेपन का जिन नाना रूपो मे उन्होने वर्णन किया है वह उन्हे श्रेष्ठ कवियो की कोटि मे बिठाने मे सहायक हुआ है। रूप के अलकृत और अनलकृत तथा सामूहिक चित्रण में उन्होने विशेष सिद्धहस्तता दिखाई है।

प्रेम-चित्रण

ऊपर आलम द्वारा अंकित उस रूप और सौन्दर्य की कुछ चर्चा हुई जिस पर प्रेम अथवा रति आश्रित हुआ करती है, अब उस प्रेम-भावना का स्वरूप देखिये जिसे रसिकवर आलम ने बड़े मनोयोगपूर्वक अंकित किया है।

संयोग शृङ्गार के अंतर्गत जो प्रणय के चित्र तथा प्रेम की जो भावनाएँ प्राप्त है उनके दो वर्ग पृथक-पृथक किये जा सकते है। एक तो इस प्रकार का प्रेम चित्रण जो सर्वथा स्वतंत्र, निर्व्याज, सहज और स्वाभाविक कहा जा सकता है, दूसरा परंपरा समर्थित रीतिबद्ध शैली का प्रेम चित्रण जिसके अंतर्गत खंडिताओ, मानिनियो, अभिसारिकाओ आदि के शास्त्रोक्त चित्र तो है ही, उत्तान शृंगार के भी अनेक चित्र आ गए हैं।

सहज और स्वच्छन्द शैली के प्रेम चित्रण मे ब्रज भूमि का पावन वातावरण संसृष्ट हुआ है—यमुना, निकुंज और ब्रज बीथियो की चर्चा आई है, मन को मोह लेने वाले प्रेम के कथन है, एक दूसरे के प्रति कहासुनी और उलाहने है, गाँव घाट की बाते है, रूप का आकर्षण है। कोई रूप पर रीझ रही गोपिका तो कोई रंग पर, कोई चितवन पर लट्टू है तो कोई विहँसन पर, कोई उनके वेणुवादन पर विमुग्ध है तो कोई उनकी मोहिनी पर। तात्पर्य यह है कि कृष्ण के पास मोहने वाले उपकरणो की कमी नही और उधर मुग्ध होने वालो का भी कोई अभाव नही। कृष्ण की अचगरी और शरारतो ने किसे तंग नही कर रक्खा है परन्तु मुग्ध वे भी है। उनके उपालंभ और रोष-कथन परिवर्तित रूप मे प्रेम कथन ही हैं। कभी ककड़ी मार कर कृष्ण खिसक गए, गोपिका की आंख बाल-बाल बच गई, कभी किसी गोरस बेचती हुई गोपिका का रास्ता रोक लिया, कृष्ण की शरारतो के यही सब ढंग हैं। इन समस्त वर्णनो मे एक भोलापन है, एक सरल स्वच्छन्दता है जिससे आलम की रचना मे भावगत उत्कर्ष आ गया है।

कृष्ण कम उम्र मे ही एक अधिक वय वाली किन्तु परिपूर्ण यौवना गोपिका से कुछ अपने हृदय की प्रेम पीडा कह चलते है। वह उम्र मे बडी थी और अनुभव मे भी इसलिए एक मीठी सी फटकार सुनाती हुई बढ़ चलती है—

> भोरी बैस राचो जिनि भुरये हौ साँची नही,
> काँची प्रीति जानो जहाँ कहूँ नैना लागे हैं।
> अजौं मसि भीजी नही ऐसी मन बसी बातैं,
> बोली ठोली हाँसी के कन्हाई दिन आगे हैं॥

बढी हुई आयु मे उठने वाली इस प्रकार की प्रतिक्रिया और कृष्ण की रस लोभ भरी शरारतो के लिए दी जाने वाली यह मधुर फटकर शाश्वत है और उसकी यह शाश्वतता ही हमारे मनस्तत्व को स्पर्श करने वाली है। कृष्ण एक गोपिका पर आसक्त हैं, वह गोपिका भी उन पर कम आसक्त नही। अंतर इतना ही है कि कृष्ण लोक का भय छोडे हुए है और गोपिका लिये हुए। वह कृष्ण को समझाती है—मैं जानती हूँ कि तुम्हारा मन तुम्हारे हाथ अब नहीं रहा, तुम निडर होकर मेरे पास खडे रहते हो या अगल-बगल बैठकर उसासे लेते रहते हो या आँसू गिराते हो। प्रेम के पंथ मे तो दुःख

के काँटे रहते ही हैं, उसे पार कर लेने पर हम दोनो का मिलन होना ही है पर अभी एक बात का जरा ध्यान रक्खा करो। मेरे पास जरा कम फटका करो क्योंकि यदि कोई देख लेगा तो लोग हमारे पीछे पड जायँगे—'आँखिन के आगे तुम लागेई रहत नित, पाछे जिन लागो कोऊ लोग लाग होयगो।' यहाँ पर गोपिका के मन मे छिपा हुआ लोकापवाद का भय नितात स्वाभाविक है। एक चित्र है जिसमे एक गोपिका शृगार करके अपने घर से दीपक लेकर नँदभवन मे दीपक जलाने आती है। ज्योति से ज्योति जुडे इसके पहले ही उसकी आँखे कृष्ण की आँखो से जा जुडी। उस मतिमारी और आत्म विस्मृत गोपिका ने बाती की जगह अपनी उँगली ही जला ली। सब कुछ पा लेने पर सब कुछ भूल जाने का यह कैसा प्रेम भरा चित्र है—

जोति सों जुरति जोति आगे नैना जुरे जाइ,
चातुरी अचेत भई चिन्त्यो कन्हाई है।
बाती रही हाती रसमाती छबि छाती पूरि,
पाँगुरी भई है आनि आंगुरी लगाई है॥

इसी प्रकार एक अन्य गोपिका है जिसकी अभी-अभी श्री कृष्ण से प्रीति जुडी है। वह उसे पूर्णतः गुप्त रखना चाहती है पर उसकी सहेलियाँ उसे गुप्त नही ही रहने देती। जब उसे अपने हृदय से लगाकर पूरी आत्मीयता जनाती हुई उसकी धाय ने पूछा कि क्या तुझे प्रेम हुआ है तो भी उसने जाहिर न होने दिया, वह प्रेम के उन बेश कीमती आँसुओं को ही पी गई—

पूछे तिहि अंसुवा कहे हो ? कहे कैसे आँसू,
पलकैं पसारी दई पुतरीनु पी गई।

वह अपने प्रेम के प्रति कितनी सच्ची थी ! प्रेम तो दो के बीच का व्यापार है, उसमें तीसरे की गुँजाइश कहाँ ?

प्रेम मे फँसने का मार्मिक प्रभाव देखिये। गोपिका जब से कृष्ण से अचानक भेंट करके आई है उसकी छाती काँपती रहती है, वह खरिक मे दूध दुहने गई, वहाँ से भी दोहनी फेंक कर प्रकंपित शरीर लिए चली आई। उसके प्रेम से काँपते हुए मन और शरीर का चित्र एक ही पंक्ति मे मूर्त्त हो उठा है—'घायल तराइल सी मानो करसाइल सी, बार-बार बाइल सी घूमति खरिक ते।' प्रेम मे फँसने और रूप पर रीझने की कथा ही कुछ विचित्र हुआ करती है, वह विचित्रता आलम की प्रेम-वर्णना मे भी अपना अनूठापन लिये हुए अवतरित हुई है। जो गोपिका गागर लेकर जल भरने जाती है वह गागर तो छोड आती है पर कृष्ण के रूप रस से अपने नैनों की गागर जरूर भर लाती है—'रूप रस प्यासी भई कान्ह तन डीठि दई, गागरि भरन गई नैना भरि लाई है।' ये गोपियाँ रीझती और आसक्त होती हैं कृष्ण के रूप पर, अग प्रत्यग पर, आचरण और उनके क्रिया व्यापारो पर यहाँ तक

कि हँसने, बोलने, देखने और मुस्कराने पर। कृष्ण की मोहक शक्ति, उनका वेणुवादन, रासलीला और शरारतो से भरी अन्यान्य क्रीडाएँ ही गोपियो के आकर्षण का अवलब है। एक गोपिका का मन तो खडे ही खडे बिक जाता है—कृष्ण आते है तथा जाते-जाते एक बार मुँह मोड कर उसे देख जाते है। बस इतने मे ही तो उनके रूप का विष उसे चढ जाता है, उसके जीव या प्राण को जैसे वे खुरच कर ले जाते हैं-'नेकु मुख मोरि कै करोरि जिय लै गयो।' इस उद्दाम आकर्षण का मूल कारण था कृष्ण की अपार रूपराशि। कृष्ण का असीम रूप सौदर्य गोकुल की कुलीन से कुलीन कन्या के लिए और सती से सती कुलबधू के लिए एक खुली चुनौती था। कृष्ण की मुरली की एक टेर उन्हे 'आर्यपथ' से विचलित करने को काफी थी, उन्हे कुल गली छोडने को बाध्य करने के लिए पर्याप्त थी। यह बात औरो की तो बात हो क्या स्वयं गोपियाँ स्वीकार करती थी। उनका तो कहना था कि हमारा सारा सयानपन या अभिमान तभी तक ठहर सकता है जब तक हम कृष्ण की गली मे नही जाती —

> तब लौं सयानु अभिमानु कवि 'आलम' हौ,
> जौ लौं आली नेकु लागि कान्ह की गली गई।
> वापै तें न आयो जात कीजतु राही को आयो,
> वा नतु निदैय नेकु जनु वाही की भई।।

ये गोपिकाएं आपस मे कृष्ण की शरारतो की चर्चा करती है और कभी तत्परिणाम-स्वरूप होने वाली अपनी मनोदशा का। वे कहती है कि वह नम्बरी शरारती है इसमें सदेह ही क्या? पास चला आता है और धक्का दे देता है ऊपर से हमा से लँगराई (ढिठाई) करता है। हमारा कहना लेश मात्र भी नही मानता, बस अपनी ही करता है और विशेष बात यह है कि डरता किसी को भी नही। अपने शरार को नृत्य की मुद्रा मे चपल करता हुआ समीप आ जाता है, मना करने पर भी दूर नही होता। सहसा मटकी छीन कर फोड देता है और वस्त्र खीचने लगता है। लटे मेरी बिखरकर अस्त-व्यस्त हो जाती है और वस्त्र भी। बस मेरी भुजा पकडकर आँखो मे आँखे टिका देता है तथा एक क्षण इसी प्रकार देखते रहकर सटक चलता है। बस उसकी इतनी सी शरारतों मे मै भी भूल भटक जाती हूँ। परन्तु कृष्ण की इन शरारतो से गोपियो की आसक्ति कम होने वाली न थी, उनकी खीझ मे भी उनकी रीझ अतर्हित है और देखिये इस रीझ को कि जिसके बस हुई गोपिका 'घर देखै बन देखै घरी घरी जाइ देखै, देखिबौ करत सुनु ना देखि ना अघानो है।' गोपिका की आसक्ति ऐसी ही है कि उसका जी ही नही अघाता। इस अतृप्ति मे ही उसके आकर्षण प्रेम और रीझ का वास्तविक सौदर्य निहित है। जब दोष ही प्रेमाधिक्य के कारण गुण प्रतीत होने लगे तब समझ लेना चाहिये कि रीझ अपनी चरम सीमा को पहुँच गई है। रीझ अथवा प्रेम का पंथ कुछ ऐसा ही माना गया है जहाँ इस प्रकार का कुछ निराला-

पन हुआ ही करता है। प्रिय के दुर्गुणो पर प्रेमी ध्यान ही नही देता ! चकोर चन्द्रमा को ही देखा करता है उसे चन्द्रमा के मधुर शीतल प्रकाश के समक्ष सूर्य का इतना तीव्र प्रकाश फीका जान पडता है। भँवरा भी फूल के लोभ मे बेल के काँटो की परवाह नही करता। आलम की एक रिझवार गोपिका भी इसी प्रकार कृष्ण की श्यामता मे उज्ज्वलता के दर्शन करती है, उसे कृष्ण को काला कहने मे गँवारपन-सा लगता है।

कारो कान्ह कहत गवारा ऐसी लागति है,
मोहिं वाकी श्यामताई लागति उज्यारी है।
मन की अटक तहाँ रूप को विचारु कहाँ,
रीझिबे की पैडो तहाँ बूझि कछू न्यारी है ।।

प्रीति का यहाँ कैसा सच्चा और ऊँचा स्वरूप निखरा है।

कृष्ण की चितवन कभी गोपियो के हृदय को बेधती है कभी उनकी बशी के स्वर उन्हे सर्वस्वार्पण के लिए विवश कर देते है। कृष्ण की एक चितवन प्रेम मूर्ति गोपिकाओ के सर्वस्व हरण के लिए पर्याप्त है, इतने में ही उनकी कौन-सी गति नही हो जाती ? वे पूरी तरह उनके आधीन हो जाती है, उनके हृत्स्पंदन की गति महा-तीव्र हो जाती है और उनकी धमनियो का भी धीरज खो जाता है। बहुत कुछ ऐसी ही दशा का कारण कृष्ण की बाँसुरी भी हो जाया करती है। गोपियो को मोहने के लिए मुरली कृष्ण का एक बहुत बडा अस्त्र थी। कभी किसी को नजदीक से दृष्टि डालकर देख लिया फिर दूर जाकर बशी के स्वर लहराने लगे। बस इतन मे ही गोपियो के मन-प्राण ऊब-डूब होने लगते थे। किसी को सुध-बुध भूल जाती थी तो किसी के प्राण कृष्ण मे अटके रहते थे। कृष्ण प्रायः बाँसुरी वन मे बजाया करते थे या वन से लौटते हुए या फिर किसी का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना हुआ तो गलियो से गुजरते हुए घर के झरोखो के आस-पास। यह सब साभिप्राय हुआ करता था। गोपियाँ भी सब काम-धाम छोड एक छण झरोखे पर आ खडी होती थी या न कुछ तो कार्य स्थगित कर दो छण जहाँ की तहाँ मुग्ध हो लेती थी। उनके प्रेम की सूखी हुई सरिता मे बाढ आ जाया करती थी।

गोरस याचन और दान का प्रसग भी प्रणय भावना का अटूट माधुर्य लिए हुए है। दान माँगने की बात है। कृष्ण रास्ता रोक कर अड़ पडे है कि हम तो दूध दही का दान 'गोरस' लेकर ही छोडेगे। गोपियाँ 'गोरस' (इन्द्रियों का रस) न समझती हो सो बात नही। वे भी समझ बूझ कर उत्तर देती है—हे कृष्ण ! हमे रास्ता दे दो हम जायँ, बसेरा हमारा दूर है और फिर हम युवतियाँ हैं, हमे तो वहाँ समय पर पहुँचना ही है (अर्थात शाम होने से पहले)। लो दही पी लो और हमें चली जाने दो, व्यर्थ मत छेडो। तुम जो रस सोचते हो हमे नही मालूम, हम सब आखिर तो गंवार

गूजरी ही ठहरी। तुम जैसे अच्छे छबीले छैल हो वैसी ही अच्छी और छबीली बालाएं अभी पीछे और भी आ रही है, उन पर रीझो, वे तुम पर रीझेगी। स्वय मुक्ति पाने के लिए यह गोपी कैसा सहज सुन्दर और स्वाभाविक बहाना कर रही है और कृष्ण को बहका रही है। इसी से मिलते-जुलते और भी अनेक चित्र है रास्ते की छेडछाड़ के। कभी कृष्ण बाट मे कभी घाट पर रास्ता चलते कंकडी मार देते है, वह भी चुपचाप चली नही जाती। उसकी बतरस-लोलुपता उसे कृष्ण से तरह-तरह की बाते करने को प्रेरित करती हैं, ईषत् रोष प्रदर्शित करती हुई वह कहती है—

बातक सों बरु बैरु बढ़ावत बाटहि घाट अनीति सची है
ताहि सो खेल करौ नँद के सुत जाके हिये यह बात खची है ॥
आलम बादिहि दोषु लगै सब कोऊ कहै यह याहि रची है।
काँकरि यों जु कपोलनि ह्वै गई देखत हौ कैसे आँखि बची है ॥

इसी प्रकार कृष्ण का रास्ते मे रोकना देख कर एक अनर गई हुई गोपिका अपने हृदय का पट इस प्रकार खोलती है—

टोकत हौ मग रोकत हौ सु कहा इन बातनि कान्ह अघैहौ।
हौं उमही जु कह्यौ सो कह्यौ हम का कहिहैं तुम ही पछितैहौ ॥

इन छदो मे प्रेममयी गोपियो के बडे ही मोहक चित्र हैं। उनके मनोजगत का जैसा भव्य और पवित्र चित्र इन चितेरो ने एक-एक कवित्त या सवैये में मूर्त कर दिया है वह हिन्दी साहित्य की बहुमूल्य निधि है। हर छन्द मानों एक मूर्तिमती गोपिका है।

एक दिन गोपिका और कृष्ण एक ही रास्ते चले जा रहे थे, बस इतनी ही बात की चवाई (चुगली) चारो ओर चलने लगी। इस लोक निन्दा ने उसके प्रेम को और दृढ़ कर दिया—'आलम नैननि रीति यहै कुलकानि तजो पुतरी मुँह मांस।' इन गोपियो की 'दिखसाध' बड़ी प्रबल थी। एक की तो यह हालत थी कि उसे कोई कितना ही बुरा भला कहे वह बीस बहाने करके नद भवन हो ही आती थी। कभी दूध या दही माँग लाती थी फिर उसे लौटा कर आग माँगने के बहाने चली जाती थी। रुखाई रोष या उलाहने के स्वर मे यदि कोई कुछ कहता कि तू बार-बार यहाँ क्यो आती है तो इसी लालच मे बीसो बाते बना आती थी कि किसी भी प्रकार कृष्ण को भर आँखे देखने पाती—'कौनहु भाँति कछू छिन कान्हरु जो अँखियाँ भरि देखन पैये।' एसी ही तरसती हुई ब्रज मे कितनी ही गोपिकाएँ थी, कुछ एक दो थोडे ही। बहुतेरी ऐसी भी थी जिन्हे कृष्ण-सपर्क का सपूर्ण सुख प्राप्त था। आँख की देखने की ललक रखने वाली एक गोपिका क्या कहती है दखिये—

मैं सखी रूप की छाहँ छी छ्वै कबहूँ अँखियाँ भरि कान्ह न देखे।
मो तन चाहि उन्हें चितहैं सहिये कैसे माइ ये लोक परेखे ॥

जिसे एक भी बार समीप से भर आँख देखने को ही कृष्ण कभी नही मिले थे वह इस बात को सहर्ष सह सकती थी कि कृष्ण एक बार उसे देख कर अन्य सौभाग्यशालिनी गोपियो को देखने लग जाते लेकिन लोक की निंदा उसे असह्य थी। सही बात है, लोक की निंदा वही सह सकता है जिसे प्रिय के दरस-परस का सुख मिला हो या मिलता रहता हो। एक अन्य गोपिका है जो प्रीति मे पग कर लोक लाज ही छोड चुकी है और 'चबाइयों' के बीच बैठकर अपना उपहास भी सह लेती है। बस उसकी यही लालच है कि आंखो से कृष्ण को जी भर देख तो कुछ अपने दिल के अरमान उन पर जाहिर करना उतना नहीं।

आलम के सहज स्वच्छन्द प्रेम निरूपण मे वह अंश काफी मार्मिक और मोहक बन पडा है जिसमे गोपिया अपने प्रेम को स्वय कृष्ण पर ही व्यक्त करती है। ऐसे प्रेमकथनो में दो प्रकार के भाव विशेष रूप से पाए जाते है एक तो प्रिय की निष्ठुरता से संबंधित दूसरे आत्मदशा निवेदनात्मक। पहले प्रकार के छन्दो मे कुछ अधिक प्रगल्भता है जब कि दूसरे प्रकार के छद अधिक मार्मिक है। आत्मदशा निवेदन करती हुई गोपियाँ कृष्ण का कुछ पुरानी यादे दिलाती है जिनसे मर्मस्पर्श का गुण उनमे अधिक सन्निविष्ट हो सका है। स्मृति प्रवण रचनाओ मे मुग्ध करने की अनूठी ताकत हुआ करती है, वही बात इन छदा मे भी सहज है।

कृष्ण की यह रीति थी कि प्रेम का नाता सभी से जोड़ लेते थे किन्तु निभाते किसी-किसी के ही साथ थे। एक ही पुर मे बस कर भी उन ग्वालिनो की कभी खबर लेते थे जिनका चित्त प्रेम से निहार कर चुरा चुके रहते थे। उनकी इस निष्ठुरता पर गोपियाँ व्यंगाघात किये बिना न रहती थी —

> भली कीनी भावन जू पौरि धारे याहि कोरि,
>
> अनत सिधारे कि बसत याही पुर हौ।
>
> निकट रहत हम एती निठुराई गही,
>
> अब हम जाने तुम निपट निठुर हौ॥

कृष्ण कभी किसी गोपिका से कतरा कर चल देते थे, जब उससे नही रहते बनता तो कुछ कहने का उनसे साहस करती है और कुछ पूछने का भी। कहती यह है कि यमुना से लौटती हुई जबसे तुम्हें यमुना की ओर जाते देखा है यह शरीर अंदर ही अदर दहता रहता है, किसी की पीडा तो समझाकरो, न सही नजदीक से दूर से ही अपना प्यारा मुँह दिखा दिया करो। ये क्या बात है कि ऊपर मुँह उठाकर देखते ही नही, नीचे ही नीचे मुँह किये चले जाते हो—'ऊँचे चितवन नाही नीचे मुसकात जात, ऐसी निठुराई गही कौने बदी कब ते?' कोई इतना ही कह कर चुप हो रहती है कि जब तुम्हारे जी मे इतनी निष्ठुरता आ बसी है कि किसी की पीर नहीं समझते तो फिर भला मेरा क्या बस है। कोई उनकी निष्ठुरता पर यों कहती है कि

मुडकर मुस्कराते हुए तो तुमने हमारा मन ही मरोड दिया तथा मुंह मोडकर और भी मार डाला अब यह दशा हो गई है कि शरीर पीत हो गया है पीले पत्ते की तरह और उसी की तरह प्रतिक्षण काँपता भी रहता है। तुम्हारे प्रेम मे पडना तो मानो फाँसी के फदे मे पडना है—

तेरी घाली ऐसी भई ए हो कान्ह निरदई,
तेरे प्रेम परे भयो फाँसो को परनु।

कभी अतिशय अनुराग के भाव-प्रवाह मे बहती हुई दीन, अधीन और विवश-सी होने पर परमदासता भी अपनी व्यजित करती है और उस समय परिस्थिति और भी अधिक करुण हो उठती है और कृष्ण की कठोरता भी अधिक उवड पडती है—'नैननि के तारे तुम न्यारे कैसे होहु पीय, पायन की धूरि हमै दूरि कै न जानिये।'

जब वे अपनी दशा कृष्ण से बतलाती है तब उनके हृदय मे भावो का आरोह इस प्रकार हुआ करता है—प्यारे! तुम तो मुझे देखकर चले गए, कभी तुमने ख्याल भी न किया होगा कि तुमने एक नजर मुझे भी देखा था पर मेरे लिए तो वही चितवन जीवन-सवरव हो गई है, उसकी साल (पीडा) से मेरी जो हालत है मै ही जानती हूँ। तुम्हारे जी मे मेरे लिए क्या कुछ होना है, तुम्ही जानो। मेरे ऐसे भाग्य कहाँ! जिस दिन से तुमने मुझे देखा लोग मुझे विवर्ण बतलाते हे और कारण पूछते है। हे प्रिय उन्हे मैं क्या कारण बताऊं? अब अपने हृदय की पीडा को भी अव्यक्त रखना है और अन्दर ही अन्दर घुटना भी है। पता नही कब तक मुझे इस प्रकार धैर्य धारण करना पडेगा—

जा दिन ते तुम चाहे लोग कहैं पीरी काहे,
पीरौ न जनैये पल-पल जिव जरिये।
घूंघट की ओट आँसू घूंटिबो करत नैना,
उमगि उसाँस कौ लौ धीरज यों धरिये॥

एक गोपिका कहती है कि हे प्रिय! कृपा दृष्टि से तुमने मेरा चित्त चुरा लिया परन्तु देखने और न देखने दोनो ही दशाओ मे हमे तो दुःख ही भोगना है, मेरी पलकें लगती ही नही, देखने पर टकटकी-सी लग जाती है और न देखने पर प्रतीक्षा मे पलकें खुली रहती है—

देखे टक लागै अनदेखे पलकौ न लागै,
देखे अनदेखे नैना निमिष रहित हैं।
सुखी तुम कान्ह हौ जु आन की न चिंता, हम;
देखेहु दुखित अनदेखेहु दुखित हैं॥

यह कथन आलम ने शब्द भेद से एक अन्य गोपिका द्वारा और भी कराया है—

कछु न सुहात पै उदास परबस बास,
जाके बस हूजै तासों जीते हू पै हारिये ।
'आलम' कहै हो हम दुहूं विधि थकी कान्ह,
अनदेखे दुख देखे धीरज न धारिये ।
कछुवै कहौगे कै अबोले ही रहोगे लाल,
मन के मरोरे कौ लौं मन ही में मारिये ।
मोह सो चितैबो कीजै चित हू की चाह कै जू,
मोहिनी चितौनि प्यारे मोतन निवारिये ।।

हृदय की नानाविध व्यथा उक्त छद मे तीव्रता से फूट पडी है । इस आत्म निवेदन मे अधीन की दु:खपूर्ण दशा अपनी व्यथा, मन की मरोड आदि सब कुछ करने के बाद एक अंतिम बात कही गई है और वह यह कि हे प्यारे ! या तो प्रेम से देखो ही या अपनी दी हुई प्रथम प्रेम दृष्टि का प्रभाव मुझ पर से खीच लो । यही एकमात्र विकल्प है जिसे सपूर्ण सचाई से गोपिका ने प्रस्तुत किया है ।

और भी अनेकानेक छद है जिसमे प्रेम की भावभगिमाएँ पर्याप्त सफाई से अकित हुई हैं । किसी मे आँखो के लगने की और प्रेम के विकास की बात कही गई है तो किसी मे कृष्ण की एक मुस्कराहट पर गोपिका को सर्वस्वार्पण करते दिखाया गया है । कही पर कृष्ण को प्रेम मे दगा देने पर फटकार बताई गई है । और कही पर उदात्त सपत्नीक भाव दिखाया गया है तथा कही पर रासरस की भी चर्चा है । इन विविध छदों मे भावगत कोई एकसूत्रता न होने पर भी प्रेम की सुन्दर निवृति है ।

इस प्रकार प्रेम का स्वच्छन्द रूप से चित्रण करते हुए आलम कवि ने अपने चित्त की स्वच्छन्दता प्रकाशित की है । आलम अनन्य प्रेमी जीव थे इसी से उन्होने प्रेम का खुलकर वर्णन किया है । सहजता, सरलता और स्वच्छदता उसकी विशेषता है पर समसामयिक धारा मे बहते हुए भी उन्होने कुछ प्रेम वर्णना उसी पद्धति पर की । फिर भी आलम का मन एकदम मुक्त था । अकुंठ चित्त से उन्होने जो कुछ कहना चाहा है कहा है । यह अवश्य है कि उन्होंने सीधे कुछ नही कहा है जैसा कि घन आनद ने कहा है । आलम को राधाकृष्ण या गोपी कृष्ण का अवलंब मिल गया जैसा कि समस्त रीतिकालीन कवियो को मिला था पर यह अवलंब पाते हुए भी रीतिकाल मे ऐसे कवि कम थे जिनमे अपने हृदय की ही सच्ची प्रेम की तरंग आकुलता से फूट पडी हो । आलम का शक इसी दृष्टि से श्रेष्ठ है । सहज प्रेम के चित्रण मे आलम ने ब्रजभूमि के वातावरण का सहारा लिया है और गोपी-कृष्ण-प्रेम के बहाने अपने हृदय की मधुर भावना को व्यक्त किया है । आलम के स्वच्छन्द चित्त से प्रसूत काव्य मे भावो की मधुरता और उक्तियो की मिठास विशेष रूप से द्रष्टव्य है । वर्णन शैली मे कुछ

अपनापन है। कृत्रिमता का उनके काव्य मे बहिष्कार है। सहज स्वाभाविकता के कारण उनकी कविता हमारे मर्म के अधिक निकट पहुँच जाती है। यह बात गोपियो की प्रेम-प्रेरित उक्तियो मे भी है तथा समूचे प्रेम वर्णन मे भी।

माधवानल कामकंदला प्रबंध

आलम ने अपनी प्रेम भावना के प्रकाशन के लिए मुक्तक रचनाओ के साथ-साथ प्रबन्ध-रचना शैली का भी आश्रय लिया और दो प्रसिद्ध प्रबंध लिखे। दोनो ही प्रबध प्रसिद्ध प्रेम कथाओ को लेकर रचे गए है जिसमे से पहला और अधिक महत्व-पूर्ण प्रबध माधवानल-कामकदला है। उसकी कथा इस प्रकार है।

पुष्पावती नगरी मे गोपीचद नाम का एक राजा था, उसके यहाँ माधवानल नाम का एक वैरागी था जो समस्त शास्त्रो में निष्णात कामदेव सा रूपवान था। वह राजा के यहाँ पुराण बाँचने शिक्षा देने आदि का काम करता था। उसे देख कर पुरनारियाँ अधीर हो उठती थी उसके वीणावादन से पनिहारिनें बेसम्हाल हो उठती थी और कुल बधुएँ चचल। जब पुरवासियो द्वारा राजा तक उसकी शिकायत पहुँची तो राजा ने परिस्थिति की जाँच की। बीस तरुणदासियाँ कमल पत्र पर बिठा दी गई और माधव के वीणातार के प्रभाव से उनका मदन बह चला और जब वे उठी तो वे कमल पत्र उनके शरीर से चिपक गए थे। राजा ने माधव को राज्य निष्कासन का दंड दिया और फलस्वरूप माधव वीणा बजाता हुआ कामावती पहुँचा। वहाँ का राजा कामसेन था रसिक और कलाप्रेमी। एक दिन उसकी राज सभा मे नृत्य सगीत आदि का विशद आयोजन हुआ। अनाहूत माधव भी वहाँ पहुँचा। पहले तो उसे राजसभा मे प्रवेश ही प्राप्त न हो सका किन्तु उस कलाविज्ञ ने जब रोज सभा के बाहर से ही माधव ने राजा के पास यह कहला भेजा कि तेरी सारी सभा मूर्ख है, १२ मृदंग बादको मे एक जो ७ और ४ के बीच बैठा हुआ है उसके दाहिने हाथ मे ४ ही उँगलियाँ है जिसके कारण सगीत का सारा रस भंग हो रहा है तो राजा और राजसभा के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वह बडे सम्मान के साथ सभा मे बिठाया गया और विपुल धन एवं रत्नाभूषणो की उसे दक्षिणा दी गई, उसका रूप और वेश सबको मुग्ध कर रहा था। अनेक कार्यक्रमो के बाद राजनर्तकी कामकदला का अद्वितीय कौशलयुक्त नृत्य हुआ जिससे माधव अत्यंत प्रभावित हुआ तथा जल भरा कटोरा सिर पर रखकर हाथो से चक्र घुमाते हुए उसने जिस प्रकार का नृत्य दिखलाया और कुचाग्र पर बैठे भ्रमर को जिस प्रकार स्तन स्रोत द्वारा प्रताडित वायु से उडा दिया उसे देखकर तो वह दंग रह गया। उसने समस्त प्राप्त सपदा कदला को भेंट कर दी तथा राजा को अविवेकी सभा को मूर्ख बतलाते हुए उसने कदला के कौशल का वर्णन किया। कामसेन उसके शब्दो से आहत हो उठा उसने माधव को कड़े शब्दो में फटकारा और राज्य से निकल जाने को कहा तथा उसे राज्य मे शरण देने वालों के

लिए दड की घोषणा भी करा दी । कदला राजाज्ञा की उपेक्षा कर परम श्रेष्ठ उस कलाविद् को अपने भवन मे ले जाती है और सभोग व्यापारो मे थक-थककर दोनो बहुत दिन तक चूर होते रहते है । राजाज्ञा-भय से माधव जब भी विदा होने को कहता कदला अनुनय विनय करके रोक लेती थी । अत मे एक दिन वह चल ही देता है और कदला के वियोग मे वन-वन भटकता मरणासन्न सी स्थिति मे दु खहारिणी नगरी उज्जयिनी मे पहुँचता है । वहाँ वह एक ब्राह्मण का आतिथ्य ग्रहण करता है । एक दिन विरही माधव उज्जयिनी के महादेव जी के मदिर के अदर की दीवाल पर आत्मदशा व्यजक एक दोहा लिख देता है ।

कहा करौं कित जाऊँ मैं राजा रामु न आहि ।
सिय बियोग संताप बस रावौ जानत ताहि ।।

परद्राव कातर उज्जयिनी नरेश विक्रमादित्य ने जब यह दोहा पढा तो उन्होने उस विरही को लाने के लिए एक लक्ष मुद्राओ के पुरस्कार की घोषणा करा दी । ज्ञानवती नामक एक दूती के उद्योग से विरही माधव राजा विक्रम की सभा मे लाया जाता है । विक्रम ने उसका पता ठिकाना और इसके कारण आदि की पूछ-ताछ के अनंतर उसे वेश्या प्रेम से विरत होने की सलाह दी उसके प्रेम की जॉच की परन्तु माधव का प्रेम अविचल था । राजा ने उसके विविध शास्त्रो के ज्ञान की भी परीक्षा ली थी उसे परम निष्णात पाया और उसके सुख के लिए नृत्य सगीत आदि की भी व्यवस्था की परन्तु माधव को इससे न संतोष हुआ और न प्रसन्नता । इसके अनतर विक्रम अपनी कटक सजाकर कामावती नगरी के लिए चल पडते है और नगर सीमा पर ही अपना शिविर डालकर कदला के भवन मे यह देखने के लिए पहुँचते है कि जिसके वियोग मे माधवानल की यह दशा है उस कामकदला नायिका की प्रीति कितनी और कैसी है ? राजा ने उसे अत्यत कृशकाय मलिन तन बस माधव के नाम की ही रट लगाते हुए पाया । राजा ने उसके प्रेम की परीक्षा लेने के लिए उज्जैन मे उसकी मृत्यु होने का समाचार दिया जिसे सुनते ही कदला का तो प्राणान्त हो गया । राजा बहुत पछताया तथा उसकी सखियो को धैर्य देकर माधव के पास आया । कदला के प्राणान्त की सूचना जब माधव को दी तब तुरन्त ही माधव ने भी प्राण त्याग दिया अब विक्रम के पश्चात्ताप का ठिकाना न रहा, उसने जीते जी चिता मे जल मरने का निश्चय किया । चिता सजी राजा भी स्वर्णदान आदि करके चिता पर बैठने को उद्यत हुआ । उधर यह समाचार सुनते ही विक्रम का मित्र बैताल स्वर्ग से दौड़ा । राजा के सताप का कारण जानकर बैताल ने सहायता का आश्वासन दिया । उसके द्वारा सुधाकुण्ड से लाए अमृत से माधव और कन्दला के प्राण फिर वापस आ गए । राजा विक्रम ने अब कन्दला को सारा वृत्तान्त बतलाया और आगे का कार्यक्रम भी । माधव और कन्दला के प्रेम की अनन्यता से प्रभावित हो राजा विक्रम ने श्रीपति नामक एक दूत

द्वारा राजा कामसेन के पास कामकन्दला को भेजने का प्रस्ताव प्रेषित किया परन्तु कामसेन ने अपमानजनक समझकर इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया जिसके फल-स्वरूप घमासान युद्ध हुआ जिसमे कामसेन की पराजय हुई। उसने दीन भाव से पश्चात्ताप व्यक्त करते हुए कामकन्दला को समर्पित कर दिया, राजा विक्रम अपना कार्य पूराकर उज्जयिनी चले गए। माधव और कन्दला का चिरप्रतीक्षित मिलन और दोनों सुख पूर्वक रहने लगे।

प्रस्तुत प्रबन्ध के आरम्भ मे परब्रह्म की बन्दना की गई है इसके बाद सम-सामयिक सम्राट अकबर की प्रशसा की गई है और आगरे के स्वामी टोडरमल का भी उल्लेख किया गया है। ग्रन्थ का रचना काल सन् ६५१ हिजरी बताया गया है और वस्तु निर्देश करते हुए प्रबन्ध को वियोग शृगार की कथा कहा गया है। आलम ने कहा है कि कुछ परकृति चुराकर और कुछ अपनी कल्पना मिला कर मैं यह ग्रन्थ लिख रहा हूँ 'कछु अपनी कछु परकृति चोरौ।' किसकी कृति से इन्होने माधवा-नल की कथा चुराई यह ठीक स्पष्ट नही हो पाता किन्तु इतना अवश्य पता चल जाता है कि इन्होने सस्कृत भाषा में लिखित माधव-कन्दला आख्यान सुना था—

कथा संस्कृत सुनि कछु थोरी। भाषा बाँधि चौपही जोरी॥

माधवानल प्रबन्ध की कथा वस्तु परम्परा प्राप्त है परन्तु उसके ग्रहण का मूल कारण यह है कि कवि को अपने प्रेम सिद्धान्त के प्रकाशन के लिए इस कथानक मे अपेक्षित अवसर मिलता है।

आलम प्रबन्ध-रचना मे बहुत पटु थे। उनकी कथा की धारा बिना टूटे चली चलती है, बीच-बीच में आने वाले वर्णन इतने सरस है कि मन उनमे भी मुग्ध होता चलता है और थोड़ी देर के लिए कथा का रुक जाना पता भी नही चलता। जितनी सरसता और धारावाहिक ढंग से वे कथा कहते है उतना ही रुचि उत्पन्न करने वाले ढग से वे वस्तु वर्णन भी करते है। उनके काव्य मे वर्णनो का आधिक्य रहा करता है (माधवानल प्रबध और श्यामसनेही दोनों इसके प्रमाण हैं) फिर भी उनकी कथा की गति अप्रतिहत रहती है। कथावस्तु मे नियोजित तत्वों के अनुपात का उन्हे इतना अच्छा ज्ञान था कि उनके दो प्रबन्धो मे से एक मे भी केशव की रामचन्द्रिका का सा उखड़ापन नही मिलता। ये वर्णन बीच-बीच में आकर जहाँ एक ओर पाठक के मन को रमा लेते हैं वही शीघ्र ही कथा की गति को आगे भी बढा देते हैं। ये वर्णन न बहुत बड़े हैं और न बहुत छोटे उदाहरण के लिए माधवानल के संगीत का प्रभाव-वर्णन, कामावती पुरी का वर्णन, काम कदला का रूप वर्णन, राजा कामसेन की सभा में माधव का रूप सौदर्य और प्रभाव वर्णन, माधव का सगीत वर्णन, कदला का नृत्य वर्णन, रति और सुरतात वर्णन, कंदला-स्नान-वर्णन, उज्जयिनी वर्णन, युद्ध वर्णन आदि। जगह-जगह वर्णनो की अधिकता के बीच कथा की गति मथर हो गई है

पर वर्णन इतने सुन्दर और वर्णित प्रसंग इतने सरस हैं कि वे कहानी के क्षीण पड़ते हुए आनद की पूर्ति कर देते है और पाठक सारे प्रबंध को शब्द-शब्द पढ डालना चाहता है। वर्णनों मे आकर्षण का एक प्रधान कारण उनका अधिकतर शृङ्गारपरक होना भी है।

प्रस्तुत कथानक मे अनेकानेक छोटी-बड़ी घटनाएँ अनुस्यूत है उदाहरण के लिए (१) स्नान के अनतर माधव का वीणावादन और नगर की स्त्रियो का मुग्ध होना, (२) माधव के वीणावादन की परीक्षा और उसका देश निकाला, (३) कामावती नगरी मे माधव का संगीत ज्ञान के कारण सम्मान और फिर देश-निष्कासन, (४) माधव-कदला मिलन और संभोग, (५) माधव का बन बन भटकना, (६) उज्जयिनी के महादेव मडप मे माधव का दोहा लिखना और राजा से भेट, (७) राजा विक्रम द्वारा माधव और कदला के प्रेम की परीक्षा, (८) विक्रम का चित्तारोहण तथा बैताल की सहायता से माधव और कंदला का फिर से जीवित हो उठना, (९) विक्रम का कामसेन से युद्ध जिसके परिणामस्वरूप माधव और कंदला का मिलन होता है। ये घटनाएँ परस्पर सम्बद्ध हैं। और एक के बाद एक घटती चली जाती है। इनके बीच कोई बाधक तत्व नही उपस्थित होता। ये घटनाएँ बडी रोचक और सरस हैं परन्तु इनमे अति मानवीय अथवा दैवी शक्तियो (supernatural elements) का योग भी हुआ है जैसा कि सूफी प्रेमाख्यानो मे प्रायः देखा जाता है। माधव और कदला के प्रेम की परीक्षा राजा विक्रम के लिए बड़ी महँगी पडती है। एक दूसरे की मृत्यु का समाचार सुनकर माधव और कंदला दोनो की मृत्यु हो जाती है। यदि बैताल द्वारा अमृत ले आने का प्रसंग नही जोड़ा जाता तो इस कथा की सुखद परिणति असभव थी। राजा विक्रम के चितारोहण पर देवताओ का बिमान पर चढ़ कर अतरिक्ष मे आना और विक्रम के मित्र बैताल का व्याल रक्षित सुधाकुंड से अमृत ले आना जिनसे माधव और कदला को नव जीवन प्राप्त होता है दो दैवी व्यापार हैं जिनसे कथा की नैसर्गिता को ठेस पहुँची है। मध्य-युगीन कवि ईश्वर और दैवी शक्तियो मे आस्था रखने वाले प्राणी थे। देव शक्तियाँ बार-बार उनके जीवन के व्यापारो मे आ-आकर योग दिया करती है ऐसा उनका विस्वास था। स्वयं तुलसी के ही प्रबध मे अति मानवीय तत्वो की प्रचुरता देखी जा सकती है। अच्छा होता यदि बैताल की सहायता के बिना ही यह प्रबध अपना अभीष्ट सिद्ध करता।

माधवानल-कामकदला कथानक की दृष्टि से एक बडा प्रबध है। किसी महत् उद्देश्य के अभाव से आप इसे महा काव्य भले ही न कहे परन्तु एक अर्थ विशेष को और एक उद्देश्य विशेष को लेकर चलने के कारण हम इसे एकार्थ काव्य अर्थात् एक बड़ा प्रबंध कह सकते हैं। खण्ड काव्य का वृत्त छोटा होता है और उसमें आवातर वृत्त नही होते किन्तु प्रस्तुत प्रबंध मे अवातर प्रसंगो एव कथाओं की भी विनियोजना है।

घटनाएं ही इतनी है जो प्रबंध का विषदता प्रदान करती हैं। वर्णनो का आधिक्य और विविधता भी इसे प्रबध काव्य ही कहने को बाध्य करती है। कथा के बीच-बीच मे जो एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने के वर्णन मिलते है स्थान-स्थान पर ठहरने आदि के ब्यौरे दिये गए है तथा छोटी-बडी विविध घटनाएँ वर्णित हुई हैं उनके कारण यह काव्य कुछ दीर्घकालीन अवधि को भी अपने मे समेटे हुए है। घटनाओ की अधिकता के साथ-साथ अल्प महत्व वाले पात्रो की संख्या भी छोटी नही है। माधव का विरह, कदला का वियोग, ऋतुओ का बीतना, युद्ध, माधव का जगह जगह ठहरना, इधर से उधर सदेश भेजना आदि इतने विविध प्रसग उक्त कथा मे जोड दिये गए है कि रचना प्रबध काव्य-सी लगती है, उसमे एक देशीयता नही रह गई है। वह एक उद्देश्य विशेष को लेकर लिखा जाने वाला विस्तृत प्रबघ काव्य या एकार्थ काव्य हो गया है।

सूफी प्रेमाख्यानो की एक ही बात इस प्रबध मे देखी जा सकती है वह है ग्रंथारंभ मे परब्रह्म की वदना और समसामयिक दिल्ली साम्राट (शाहे वक्त) अकबर की प्रशस्ति। इसमे कथा को निस्सार बता कर किसी अध्यात्मिक आशय को प्रधानता नही दी गई है। हाँ, एक स्थान पर माधव का वर्णन बिल्कुल फारसी शायरी के आशिक की तरह अवश्य किया गया मिलता है—

तन दुर्बल अखियाँ सजल, भरि भरि लेत उसास।
चित उचाट मन चटपटी, विरह उदेग उसास॥
मन उचाट छिन बीन बजावहि। जो रे सुनहि तिहि बिरह सतावहि।
खिन खिन कामकंदला रटई। स्वाति बूंद को चातक चहई॥
मन मारैं बस्तर मलिन, दग भरि ऊँचे साँस।
तन दुर्बल पिंजर झलक, रचक रकत न माँस॥

इस रचना मे प्रेम का स्वरूप भी सूफियाना नही है अर्थात पुरुष प्रेम का आधिक्य चित्रित नही किया गया है, प्रेम का स्वरूप बहुत कुछ सम है—'दोनो तरफ है आग बराबर लगी हुई'। यदि आधिक्य का ही निर्णय करना पडेगा तो निर्णय कंदला के पक्ष मे ही दिया जायगा, इस प्रकार प्रेम का भारतीय स्वरूप इस काव्य मे सुरक्षित है। प्रेम का यही सम-रूप नारी पक्ष मे किंचित प्रधानता लिए हुए श्याम सनेही मे भी दिखाया गया है।

प्रस्तुत रचना मे कवि का उद्देश्य जीवन मे प्रेम की महत्ता प्रतिपादित करना रहा है परन्तु कवि ने अपनी बात को प्रतिपादित करने के लिए कोई सिद्धान्त ग्रथ नही बनाया है। उसने प्रसिद्ध प्रेमियों की ऐसी प्रेम कथा चुनी है जिसके बाचन से ही सहृदय हृदय द्रवीभूत हुए बिना न रहेगा और उसके हृदय पर वर्णित प्रेमियो के प्रेम का गाढ़ा रंग भी चढ जायगा। प्रेम यदि सच्चा है तो कुल और जाति का बधन नहीं मानता, लोक परलोक की उसमें परवाह नही की जाती, मन जिसका हो जाता है

उसी का हो रहता है, प्रेम के बधन को तोड़ने की मजाल ससार की बड़ी सी बड़ी शक्ति भी नही कर सकती परन्तु हाँ वह प्रेम होना बहुत कठिन है। कठिन इस अर्थ में कि उसमे प्राणातक वेदना सहनी पडती है, वियोग होता है, असह्य सताप मिलता है। जो इन्हे झेल सकता हो वही इस अमृत पथ का पथिक कहा जा सकता है। माधव और कदला प्रेम की नाना परीक्षाओ को पार कर ऐसे ही प्रेमी सिद्ध होते है। उनका प्रेम कुल और जाति के बधन को तोड़कर चलने वाला है। एक ब्राह्मण और बार वनिता मे भी प्रेम सभव है। उनकी प्रेम निष्ठा मे कुल, जाति, धर्म, पेशा सब कुछ पवित्र हो जाता है। जहाँ प्रेम मे निष्ठा नही वहाँ प्रेम एक मजाक और छिछली रसिकता से अधिक कुछ नही। वेश्या से महापडित माधवानल का प्रेम दिखला कर कवि ने प्रेम की स्वच्छन्दता का ही परिचय दिया है। सच्चा प्रेम निर्बन्ध होता है, उसमे कैसी लज्जा और किसकी लज्जा ?

श्याम सनेही

'श्याम सनेही' आलम का एक दुर्लभ ग्रथ है जिसका पता भी हिन्दी के विद्वानो को कुछ समय पहले न था। आलम विरचित 'श्याम सनेही' की कथा और कुछ नही रुक्मिणी हरण की ही प्रसिद्ध कथा है जिसमे कुन्दनपुर के राजा भीष्मसेन की अत्यत रूपवती कृष्णानुरागिनी कन्या रुक्मिणी का परिणय उसका उद्धत भ्राता रुक्म अपनी पिता की इच्छा के विरुद्ध अपने मित्र जरासध की राय से चंदेरी नरेश शिशुपाल से करने का निश्चय करता है और तदनुसार विवाह की सारी तैयारी भी करता है किन्तु अपनी सहेलियो के परामर्श से रुक्मिणी एक ब्राह्मण दूत के हाथ द्वारावती के श्री कृष्ण के पास पत्र द्वारा अपनी दीनदशा का निवेदन करती है और अपना प्रेम सदेश भेजती है जिसके फलस्वरूप श्री कृष्ण अविलब कुन्दनपुरी आते हैं रुक्मादि के शत-शत अवरोधो के होते हुए भी रुक्मिणी का हरण कर ले जाते और इस प्रकार उस परम दुःखिनी रुक्मिणी और उसके अत्यत खिन्न एवं विपन्न माता-पिता का सकट से उद्धार करते है।

ग्रन्थ के आरम्भ मे पहले शिव जी की वदना है फिर निर्गुण निराकार निरजन ब्रह्म की। आलम इसके पश्चात श्याम सनेही का स्मरण करते हैं। उनका विश्वास है कि वेदशास्त्रो द्वारा जो ब्रह्म अगम कहा गया है वह आर्त्त जन की पीड़ा देख सदा उसके निकट पहुँचता है। स्वय रुक्मिणी की व्यथा इसका प्रमाण है। इसके बाद कथा प्रारम्भ होती है। दक्षिण मे कुन्दनपुर नामक नगरी के राजा भीष्मसेन थे। शिव कृपा से उन्हे चार पुत्र और एक कन्या की प्राप्ति हुई। कन्या रुक्मिणी सबसे छोटी थी। उसके खेलने, विद्याध्ययन और यौवनावस्था प्राप्त करने तक की कथा बडी क्षिप्रगति से चलती है। यहाँ तक कवि विस्तारों मे नही गया है न घटनाओं के विशद चित्रण मे न वस्तु वर्णन आदि में प्रवृत्त हुआ है पर इसके आगे कथा की गति मंथर

हो गई है, वह धीरे-धीरे चली है सभी आवश्यक वर्णनो और चित्रणो के साथ। यहाँ कथा की गति का मथरत्व दोष नही क्योकि विविध अतरंग और वहिरग वर्णन यहाँ पर आवश्यक थे। सरल हृदय रुक्मिणी की अभिलाषाओ, पिता के वात्सल्य, गौरि मदिर, रुक्मिणी के विवाह की चिंता, सहेलियो की बातो द्वारा रुक्मिणी मे कृष्ण प्रेम का अकुरित होना आदि बाते अच्छी तरह वर्णित हुई है। इसके पश्चात एक दिन रुक्मिणी राम और सीता की कहानी सुनते-सुनते सो जाती है। रात गए वह स्वप्न देखती है कि उसकी पूजा से प्रसन्न हो गौरी उन्हे वरदान माँगने को कहती है। जब वह कृष्ण को वर रूप मे अपने लिए माँगती है तो पार्वती कहती है कि तेरा काम्य तो पूर्व जन्म से ही तेरा साथी है। जब तुम जनक की कन्या थी तब तुम्हारा वर दशरथ के घर का दीपक था। इस जन्म मे वह वसुदेव के घर का चन्द्रमा है। उसके साथ तो तेरा सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर से बँधा हुआ है। तू उसे पावेगी ही, इसमे मेरी कोई बडाई नही है। तुम और कुछ वर माँगो। इस पर रुक्मिणी कहती है कि मेरी कोख से कामदेव का अवतार हो। स्वप्न की यह घटना रुक्मिणी के मन को निश्चित दिशा देती है और दृढता प्रदान करती है। जिस कृष्ण के प्रति सखियो के बार-बार गुणा-नुवाद द्वारा प्रेम जागृत हुआ था स्वप्न की यह घटना उसे अपूर्व रूप मे पुष्ट कर देती है। इस स्वप्न-प्रदत्त दृढता से ही रुक्मिणी आगे की कठिनाइयो का मजबूती से सामना करने मे समर्थ होती है। इसीलिए यह स्वप्न-दर्शन कथानक योजना मे एक महत्वपूर्ण बात है। इस देश का साधारण जन यो भी स्वप्न आदि की बातो का बडा विश्वासी रहा है, स्वप्न-प्रसग द्वारा लोक मानस मे स्थिर विस्वासो को भी कवि ने कुशलतापूर्वक अकित किया है।

राजा भीष्म का अपनी रानी, भाई-बन्धुओ और परामर्शदाताओ को बुलाकर रुक्मिणी के लिए वर निश्चित करने का प्रस्ताव विचारार्थ रखना राजा के पारिवारिक जीवन का एक मनोहर चित्र है। सभी सज्जन एक मत हो कृष्ण को उचित वर निश्चित करते है किन्तु रुक्म उनके सारे किये कराए पर पानी फेर देता है। रुक्म कोरा विरुद्ध मत मात्र नही प्रकट करता। वह सबको डाँट-फटकार देता है और किसी की बात को चलने नही देता। यही से कथा की धारा मे विरोध या अवरोध की स्थिति आ जाती है। उधर रुक्म के निर्णय के अनुसार चदेरी नरेश शिशुपाल रुक्मिणी से विवाह करने की इच्छा से लाव लश्कर लेकर कुन्दनपुर पहुँच जाता है। इधर कुछ काल तक निश्चेष्टता-सी छा जाती है। राजा भीष्मसेन, रानी और उनके हितैषी कुछ नही कर पाते, पडित और ज्योतिषी भी रुक्म की इच्छानुसार बाते करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कपिला गाय अब म्लेच्छ के वश मे पडकर ही रहेगी। यदि रुक्मिणी के अन्तःकरण की वेदना समझने वाली सखियाँ और सहेलियाँ उसे ढाढस न बंधाती, युक्ति न सुझाती तो सारा खेल बिगडा ही था। विषाद के सघन

अंधकार मे उनके उद्योग ही प्रकाश की किरन का काम देते हैं। रुक्मिणी पत्र भेजती है। कृष्ण जब तक पत्र पाकर आने के लिए उत्साहित नही होते तब तक कथानक मे घोर निराशा की स्थिति रहती है। असद् सद पर छा सा जाता है। कृष्ण का रुक्मिणी के उद्धार के लिए निश्चय करना कथा को फिर अनुकूल या अभीष्ट दिशा की ओर मोड देता है। कृष्ण के जिन गुणो और शक्तियो का वर्णन करके सखियों ने रुक्मिणी के हृदय मे कृष्ण का अनुराग जागृत किया था उनका विचार कर, कृष्ण की गुण-समृद्धि और सामर्थ्य को देखकर रुक्मिणी के उद्धार का विश्वास जगता है और पाठक कथानक की सुखद परिणति के प्रति आशावान हो उठता है। बडी कुशलता से पूर्ववर्ती निराशा के अन्धकार मे कवि ने पहले भी एक आशा का सकेत दिया था। वह था शिशुपाल की तैयारी और विवाह के लिए राजाओं की बारात सजाकर चलने के समय देवताओ का हँसना बतलाकर परन्तु इतने मात्र से ही विरोध की स्थिति समाप्त नही हो जाती। सघर्ष बढ़ता ही है। वीर और अनुभवी पुरुष की भाँति कृष्ण भी पूरी सतर्कता बरतते है, यादवो की सबल वाहिनी और बलभद्र सरीखे योद्धा को साथ लेकर आते है। पवन के वेग वाला रथ, उत्तम, आयुध रुक्मिणी के उद्धार की रात्रि मे ही योजना बनाना, प्रातःकाल लोगो को प्रभावित और आतकित करने के साथ-साथ नगर और उसकी चतुर्दिक भौगोलिक स्थिति (topography) के अध्ययन के उद्देश्य से प्रातःकाल नगर-पर्यटन के बहाने कृष्ण का निकलना आदि अर्थगर्भित व्यापार हैं जिनकी कवि ने कुशलतापूर्वक योजना की है। विरोध की स्थिति कैसे उग्र हो जाती है और सघर्ष की सम्भावना कितनी तीव्र हो उठती है जब एक ही उद्देश्य से दो राजा एक तीसरे के राज्य मे आ जाते है। एक आमन्त्रित है दूसरा अनाहूत। एक प्रिय और सम्मान्य है दूसरा अप्रिय, शत्रुवत और दण्डनीय। यहाँ सघर्ष की स्थिति उत्तरोत्तर तीव्र होकर चरम सीमा की ओर बढती दिखाई देती है। कृष्ण के कुन्दनपुरी पहुँचने से शत्रुपक्ष (रुक्म के साथियो) मे भय, क्षोभ और सतर्कता के भाव भर गए। विवाह को निर्विघ्न संपन्न करने के लिए सैनिको की सहायता से स्थान-स्थान की सुरक्षा का सुदृढ़ प्रबध किया गया। रुक्म के सभी वीर साथी, राजे और सैनिक लौह कवचो और अस्त्र-शस्त्रो से लैस थे किन्तु कुशल योद्धा और मेधावी कृष्ण ने सयोग का पूरा लाभ उठाया। जिस समय अतिथि लोग मध्याह्न कालीन जेवनार कर रहे थे, पूजनार्थ गई हुई रुक्मिणी को अपने रथ पर बिठालकर वे ले चले। उनके रूप, शक्ति, पौरुष और व्यक्तित्व की दिव्यता लोग देखते रह गए। यह भी एक प्रकार का दैवी सस्पर्श (Supernatural touch) या दैवी व्यापार है कथाक्रम में अन्यथा अपने जाने हुए शत्रु को देखते हुए भी सतर्क वाहिनी स्तब्ध और निष्क्रिय क्यों खडी रहती ? रुक्मिणी-हरण के इस प्रसंग मे कथा की चरम सीमा है जहाँ रुक्मिणी का अभिलषित प्रिय उसे प्राप्त हो जाता है और खलनायक रुक्म के

सारे के सारे उद्योग घरे के धरे रह जाते है। रुक्म एक बार अपनी सारी शक्ति लगा देता है किन्तु कथा का पाठक 'यत्र कृष्णस्ततो जय.' की बात भली-भाँति मन मे धारण किये रहता है। रुक्म के पक्षधर वीर भारी सख्या मे मारे जाते हैं और रुक्म पकड लिया जाता है, उसके हाथ पैर बाँध दिये जाते हैं। यही फलागम की स्थिति है। कृष्ण रुक्मिणी को लेकर द्वारिका पहुँचते है और वहाँ सुखपूर्वक जीवन यापन करने लगते है। इस प्रकार कथा की योजना बडी सुन्दर है, उसमे कोई बाधक तत्व बीच मे नही आता। वर्णन, सवाद आदि के आधिक्य से कथा बोझिल नही होती। कवि उचित रफ्तार से कथा को उसके लक्ष्य की ओर अग्रसर करता रहता है। कथा मे आरम्भ, विरोध की स्थिति, सघर्ष, चरमसीमा और फल प्राप्ति का विधिवत विधान हुआ है। कौतूहलादि के लिए इस काव्य मे यों गुजाइश नही है कि यह एक सुविख्यात कथा है।

रुक्मिणी और कृष्ण के विशद जीवन का खण्ड वृत्त या एकदेशीय कथा लेकर चलने के कारण यह काव्य 'खण्डकाव्य' कहा जायगा। थोडी सी प्रारम्भिक बाते कुन्दनपुर की ओर पुत्र और कन्या के जन्म आदि की केवल वृत्त को पूर्णता देने की दृष्टि से रक्खी गई हैं। इसमे न तो आवातर कथाएँ हैं और न प्रमुख पात्रो के दीर्घ-कालीन जीवन का पूरा विवरण ही इसमे है। रुक्मिणी के कृष्णानुराग और कृष्ण के हृद्‌गत प्रेम का प्रदर्शन ही मुख्य है जो एक घटना के चित्रण द्वारा सपन्न हो गया है और प्रणयी युगल का मिलन होते ही काव्य भी समाप्त हो जाता है। एक छोटे से उद्देश्य को लेकर चलने के कारण यह खण्डवृत्त 'खण्डकाव्य' ही कहला सकेगा वैसे वर्णनादि की किंचित अधिकता या विशदता के कारण कोई-कोई इसे प्रबन्ध भी कहेगे। प्रबन्धोपयुक्त वर्णन तो इसमे है परन्तु उसके अनुकूल कथा और घटनावली का बिस्तार इसमे नही है।

जैसा कि कवि ने कथा के अंत मे स्वत: स्वीकार किया है उसने यह कथा श्रीमद्‌भागवत का परायण सुनते हुए पहली बार सुनी थी। तभी से रुक्मिणी के प्रेम की यह कथा उसके मन मे बस गई थी। इस कथा में कवि की अपनी प्रेम भावना और कृष्ण के प्रति प्रेम भक्ति अकित हुई है। स्पष्ट ही है कि पौराणिक आधार लेकर अपनी प्रेम-भावना की अभिव्यक्ति के लिए आलम ने यह प्रबन्ध लिखा है।

घनआनंद

रीतिकाल मे लक्षण ग्रंथो की अनिवार्य रूप से रचना करने की जो एक परपरा प्रचलित थी उससे पृथक रहकर भी काव्य रचना करने वालो की एक परपरा बराबर चलती रही जिन्हे साहित्य के इतिहासकारो ने 'रीति मुक्त कवि' कहा है। इन रीति मुक्त काव्यकारो ने निश्छल आत्माभिव्यक्ति की है। इनका काव्य किन्ही काव्यशास्त्रीय लक्षणो की पुष्टि के लिए नही वरन् वह उनके हृदय की सच्ची उमग ही है जो फूटकर कविता बन गई है। अलकारिक चमत्करण, रस-रीति विवेचन, नायक-नायिका भेद निरूपण, शब्द शक्ति, ध्वनि, काव्य दोष, गुणवृत्तिविवेचन आदि इनके काव्य का विषय नही बनने पाया। ऐसे निर्बन्ध और रीतिनिरपेक्ष काव्य-रचना करने वालो मे रसखान, घनानंद, बोधा, ठाकुर और शेख का नाम प्रमुख रूप से आता है। ये सभी प्रेमोन्माद के गायक कवि हैं और लक्षणग्रंथो का अथवा निरूपित कवि रूढियों का लेशमात्र भी ध्यान न रखकर इन कवियों ने अपने हृदय के उद्गार व्यक्त किये। यही इन रीतिमुक्त कवियो का प्रस्थान भेद हुआ।

घनआनंद के सबध मे कहा जाता है कि वे मुहम्मदशाह रँगीले के मीरमुन्शी थे; गायक थे और उनके दरबार की सुप्रसिद्ध वेश्या सुजान के रूप के उपासक थे। उनकी यह लौकिक प्रीति दिन-दिन प्रगाढ होती गई और जब वेश्या सुजान ने एक झटका देकर उस प्रेम के संबंध को तोड दिया तो घनआनद के मन मे संचित वह प्रेम नष्ट न हो सका वरन वह विषाद और विरह व्यथा की गहराइयो मे उतर कर और भी घनीभूत हो उठा। अन्त में चलकर उनकी यही लौकिक प्रीति, जब वे वृन्दावन पहुँचे, तब उनकी अलौकिक प्रीति का कारण बनी। कहा जाता है कि निबार्क सप्रदाय मे दीक्षित भी हुए तथा सखी भाव से उन्होने कृष्ण की उपासना करनी शुरू की। उन्होंने स्वयं लिखा है कि भगवती श्रीराधा जी ने मुझे अपनी सखियों में अच्छा स्थान प्रदान किया और मेरा नाम 'बहुगुनी' रक्खा। इनके जीवन के इस सक्षिप्त इतिवृत्त तथा अन्य अनेकानेक घटनाओं से यह सिद्ध होता है कि घनआनंद प्रेम के ही बने हुए थे। वे प्रेममूर्ति थे।

उनके द्वारा लिखे गए ४० ग्रथो का पता चलता है। इन ग्रंथो में राधा कृष्ण और राधा-कृष्ण से सबंधित वस्तुओ और विषयों का ही वर्णन उपलब्ध होता है। सैकड़ों की सख्या में उनके लिखे पद भी मिलते हैं जो पदावली नाम से संग्रहीत हैं। इन रचनाओ से उनकी अक्षय कृष्ण-प्रीति का द्योतन होता है। कभी वे

यमुना का यश गाते हैं, कभी बृन्दावन की महिमा का बखान करते हैं, कभी रसना की सार्थकता पर प्रवचन देते हैं और कभी प्रेम के सागर मे गोते लगाते हैं।

घनआनद की समस्त काव्य राशि मे दो प्रकार की भावनाएँ देखी जा सकती हैं प्रेम और भक्ति। प्रेम अपनी प्रेमिका सुजान के प्रति भक्ति अपने आराध्य श्रीकृष्ण के प्रति। रसशास्त्र की भाषा मे हम चाहें तो कह सकते हैं कि घनआनद की प्रेम भावना के दो आलम्बन थे। एक सुजान और दूसरे श्रीकृष्ण-एक लौकिक आलंबन था दूसरा अलौकिक। घनआनंद मूलतः लौकिक प्रेमपात्र के रसिक थे इसी से हृद्गत प्रेम की जो लहर उनकी कविता मे है वह अन्यत्र दुर्लभ है। अपनी लौकिक प्रेयसी मुहम्मदशाह रँगीले के दरबार की नर्तकी सुजान नाम्नी वेश्या के प्रति घनआनंद ने जो प्रणय निवेदन किया है वह हिन्दी काव्य की स्थायी सपदा है। वैसा आत्म-निवेदन वैसी प्रेम-पीडा, वैसी विरहानुभूति, वैसी आत्माभिव्यजना वाला काव्य मध्ययुग में लिखा ही नही गया। इतना ही नही समूचे हिन्दी काव्य के सहस्राब्दिक वर्षों के इतिहास मे भी ऐसी प्रेम-व्यथा का चितेरा दूसरा न मिलेगा। आत्मपीडा का ही दूसरा नाम घनआनंद का काव्य है। विरह-निवेदन या प्रेम-व्यंजना की व्यक्तिनिष्ठ शैली हिन्दी मे बहुत कुछ आधुनिक युग की देन है, पुराकाल मे कविजन आत्मव्यथा या उल्लास को गोपीकृष्ण आदि अन्य माध्यमो से मुखर करते रहे है परन्तु लौकिक प्रेम भावना का नितान्त आत्मगत पद्धति पर प्रकाशन घनआनद का ही काम था। हिन्दी काव्य परम्परा मे कदाचित पहली ही बार इतने भावोन्मेष के साथ किसी कवि ने अपने निजी लौकिक प्रणय के ही हर्ष-बिषाद का विशेषतः विषाद का चित्रण इतनी व्यक्तिनिष्ठ शैली मे किया था। घनआनंद के महत्व को चिरकाल तक अक्षुण्ण रखने के लिए उनका एक यही गुण पर्याप्त है। घनआनंद का लौकिक प्रेम और उनकी सुजान के प्रति रीझ मिलन अथवा सयोग मे परिणत न हो सकी, वह चिर वियोग की गाथा हो गई इसीलिए घनआनंद सुजान के नाम की रट लगाते ही रहे और अत तक उनकी यह टेक निभती ही चली गई। कहते है कि जब अहमदशाह अब्दाली का सं० १८१७ मे मथुरा पर दूसरा आक्रमण हुआ जिसमें घनआनद के साथ और कितने ही संत-पुरुष मारे गए मृत्यु के पूर्व घनआनद ने अपने रक्त से जो कवित्त लिखा था उसमे भी वे सुजान का नाम लेना न भूल सके थे—

बहुत दिनान की अवधि आस-पास परे,
खरे अरबरनि भरे है उठि जान को।
कहि कहि आवन छबीले मनभावन को,
गहि गहि राखति ही दै दै सनमान को।
झुठी बतियानि के पत्यान तें उदास ह्वै कैं,
अब ना फिरत घनआनँद निदान को।

अधर लगे हैं आनि करि कै पयान प्रान,
चाहत चलन ये सँदेसो लै सुजान को ॥

पर घनआनंद का यह लौकिक प्रेम दीर्घ काल के अनन्तर कुछ बाह्य प्रभावों (निंबार्क संप्रदाय मे दीक्षित होने आदि) के कारण और कुछ आलबन की निष्ठुरता, वियोग की अनंतता आदि के कारण कृष्ण प्रेम मे परिणत हो गया। लौकिक से अलौकिक हो गया। कृष्णभक्ति को अपनाकर भी घनआनद की भावना मे प्रेम की मधुर वृत्तिही प्रधान रही, श्रद्धाभाव समन्वित पूज्य भावना कम। इसी से घनआनद की भक्ति काता भाव की भक्तिया मधुरा भक्ति कही जायगी। इस प्रेम लक्षणा भक्ति के अनुधावन से उनके भक्ति काव्य मे भी सुजान के प्रेम की झलक मिलती या आती रही। उनका सुजान शब्द कृष्णवाची भी है। इस प्रकार उनके सुजान-प्रेम के काव्य मे कृष्ण प्रेम की भावना और कृष्ण-प्रेम-परक काव्य मे सुजान प्रेम की प्रतीति होती चलती है फिर भी इसमें सदेह नही कि वर्ण्य विषय की दृष्टि से उनके काव्य के दो स्पष्ट विभाग हो जाते हैं एक सुजान प्रेम का काव्य (लौकिक प्रेम का काव्य) दूसरे कृष्ण भक्ति की कविता (अलौकिक प्रेम का काव्य)।

सुजान प्रेम का काव्य कृष्ण प्रेम के काव्य से परिमाण मे बहुत कम है। उनके समस्त काव्य-साहित्य का चतुर्थाश या उससे भी कुछ कम अश सुजान प्रेम से सबंधित है शेष तीन-चौथाई अश कृष्ण प्रेम और कृष्ण भक्ति की भावना से ओत-प्रोत है। 'सुजानहित' मूलतः उनके सुजान प्रेम का स्मारक है यद्यपि इसका भी एक अंश कृष्ण प्रेम से सबद्ध है। शेष ग्रन्थो में कृष्ण के प्रति प्रेम और भक्ति का भाव ही अनुस्यूत मिलेगा। मात्रा मे कृष्णपरक काव्य के आधिक्य के कारण अनेक हैं। एक तो यों भी उस युग के काव्य में प्रेम भावना के प्रकाशन साधनरूप मे गोपी कृष्ण की प्रेम क्रीड़ाओं या लीलाओ या गोकुल और व्रज मे उनके मधुर प्रेममय जीवन को ही ग्रहण किया जाता था दूसरे दीर्घकाल तक वे ब्रज मे रहे फलस्वरूप मध्ययुग का कवि और फिर ब्रजवासी होकर अन्य किसी व्यक्ति को अपनी प्रेम प्रधान कबिता का केन्द्र बना सकता था। तीसरा कारण उनका निंबार्क संप्रदाय में दीक्षित होना है जिसमें कृष्ण ही एक मात्र उपास्य, भजनीय, सेब्य और पूज्य माने गए हैं तथा किसी दूसरे की सेवा-अर्चा व्यर्थ ठहराई गई है। नान्यागतिः कृष्णपदारविन्दात्'।

प्रेम-भावना

घनआनन्द की प्रेम-भावना का सर्वोत्कृष्ट प्रकाशन 'सुजान हित' नामक ग्रंथ मे हुआ है। इसमें सुजान का प्रेम ही मूर्तिमत हुआ है। इसके कवित्त सवैयो मे घन आनद की प्रेम-भावना अपने तीव्रतम रूप में मुखर हुई हैं। इसमे केवल कुछ छन्द ही ऐसे हैं जिनसे यह पता चलता है कि घनआनंद सुजान नाम की किसी स्त्री से प्रेम रखते थे।

शेष सभी छन्द गोपी और कृष्ण के प्रेम की व्याख्या करते हैं। उनमे गोपियो का कृष्ण-प्रेम, गोपियो की कृष्ण के प्रति अविचल और एकनिष्ठ प्रीति, उनका सपूर्ण आत्मसमर्पण कृष्ण की निष्ठुरता, गोपियो के विरह की करुण दशा तथा विरह के आवेग मे उठने वाली अनेकानक भावनाओ का चित्रण मिलता है।

संयोग के चित्र कम मिलते हैं, मिलन की बाते कम होती हैं। संयोग और मिलन तो नाम मात्र के लिए हैं। एकाध स्थलो पर अवश्य इनकी चर्चा हुई है। मुख्य वर्ण्य विषय प्रेम की पीर ही है। प्रेम के आलबन हैं कृष्ण और गोपियाँ, उनके रूप चित्रण का भी विशेष प्रयास नही किया गया है कदाचित इसलिए कि कृष्ण और गोपियो के सौदर्याङ्कन से तो हिन्दी काव्य-साहित्य यो ही ओत-प्रोत है। उनका मुख्य काव्य विषय विरह ही है जिस पर बडी विशदता से उन्होंने लिखा है। आलबन के रूप के चित्रण के जो दो-चार प्रयास किये गए हैं वे निश्चय ही बडे चित्रात्मक, सजीव और हृदयग्राही हैं। नायक अथवा कृष्ण का चित्रण इस प्रकार हुआ है—

चटकीलो भेष धरे मटकीली भाँतिसों ही,
मुरली अधर धरे लटकत आय हौ।
लोचन ढुगय कछू मृदु मुसक्याय नेह,
भीनीं बतियानि लड़काय बतराय हौ॥

या कृष्ण की मुद्रा विशेष का चित्रण जब उनकी रग भरो घूम कर देखने की छवि को कवि मूर्त्त करने का प्रयास करता है। इन स्थलो पर कृष्ण का पूरा स्वरूप झलकाने की चेष्टा नही की गई है वरन् उनके स्वरूप की आंशिक झलक देने का ही प्रयास किया गया है। नायिका के रूप का चित्रण करते हुए भी इस प्रकार के मुद्रा-चित्रण का यत्किञ्चित प्रयास किया गया है। उसकी लाज से लिपटी हुई चितवन, मृदुल मुस्कराहट मे रस का निचुडना, मोतियो के समान दाँतो की उज्ज्वल आभा का फैलना और अंगो से अनग रग का बरसना आदि दिखला कर रूप का बड़ा ही भव्य चित्र चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार के सौंदर्याङ्कन का एक नमूना देखिये—

झलकैं अति सुन्दर आनन गौर छके दृग राजत काननि छ्वै।
हँसि बोलत मैं छबि फूलन की बरषा उर ऊपर जाति है ह्वै॥
लट लोल कपोल कलोल करैं, कलकंठ बनी जलजावलि द्वै।
अँग अँग तरंग उठै दुतिकी, परिहै मनौ रूप अबै भर च्वै॥

इसी प्रकार से कभी आलंबन के किसी अंग पर दृष्टि पड गई और कवि ने उसका चित्रण कर दिया परन्तु कवि रूप चित्रण या वाह्यस्वरूप चित्रण मे प्रवृत्त नही हुआ है।

श्री कृष्ण के वियोग मे गोपियो का तड़पना विशेष रूप से बड़े विस्तार तथा अभिनिवेश के साथ दिखलाया गया है। प्रिय का रह-रह कर स्मरण होता है और हृदय उससे मिलने के लिए बार-बार उद्विग्न हो उठता है। प्रिय का मुस्कराना, बतलाना, हँसना, झूम-झूम कर चलना, दृष्टि निक्षेप करना, अमृत सनी बातें करना, रस-रंग से गोपियों के अंग-अंग को सीचना[1] स्मरण आते ही हृदय उनसे मिलने के लिए उतावला हो जाता है और धीरे-धीरे वियोग का सताप तीव्रतर होने लगता है। विरही की पीड़ा तथा उसके प्राणो की व्यथा को लेकर अनेकानेक छद लिखे गए है। वियोगिनी की उसांसें उसे तपा देती हैं, उसके चेहरे का रंग उड चलता है। व्याकुलता के हाथो पडकर वह एक क्षण के लिए भी सुखी नही रह पाती—

अकुलानि के पानि पर्‍यौ दिन राति सुज्यौ छिनकौ न कहूँ बहरै।
फिरिबोई करै चित चेटक चाक लौं धीरज को ठिकु क्यौं ठहरै।
भए कागद नाव उपाव सबै घनआनंद नेह-नदी-गहरै।
बिन जान सजीवन कौन हरै सजनी! बिरहा बिष की लहरै॥

चिता की आँच मे उसके प्राण फुंके जा रहे हैं। सोने ऐसा सोना नही और जागने ऐसा जागना नही। वियोगिनी के दुखो का कोई वार पार नही—

जियरा उड़यौ सो डोलै हियरा धक्योई करै,
पियराई छाई तन सियराई दौ दहौं।
ऊनो भयो जीबो अब सूनो सब जग दीसै,
दूनो दूनो दुखे एक एक छिन मैं सहौं॥

रात दिन उसकी आँखों से आँसुओं की धार बहती रहती है। उसकी वेदना इस कदर बढ़ गई है, 'बजमारा' विरह उसके पीछे इस तरह पड गया है कि उसके प्राणों को एक क्षण के लिए भी चैन नही। वह कहती है—हमारा हृदय ऐसा विदीर्ण हो गया है कि हम जीवित किस प्रकार हैं इसी पर मुझे आश्चर्य हो रहा है। जान पड़ता है मृत्यु ने भी मुझे अपनाने से अस्वीकार कर दिया है।

इस वियोग का वर्णन करते हुए कभी अन्तर्दाह या प्रेम की आग का वर्णन किया गया है कभी अपनी आँखो का दुखडा रोया गया है। कभी प्रिय की उदासीनता और उसके अन्याय को लेकर कुछ कहा गया है तथा कभी अपने मन को समझाने की चेष्टा की गई है। विरहिनी कहती है कि हमारे तन मे प्रेम की ऐसी आग लगी हुई है कि कुछ कहते नही बनता। यह आग दिखाई नही देती, इसमे धुआँ नही उठता इसमे शरीर जल-जल कर भी ठंडा पड जाता है तथा आह भी नहीं निकलती। इसी अन्तर्दाह को ऊहात्मक प्रणाली का अनुसरण करते हुए कवि ने भावों के इस प्रकार के बंधान बाँधे हैं—

---

[1] देखिये पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा संपादित 'घनआनद कवित्त' छंद ३,४,११,३१

जान प्यारे जौऽब कहूँ दीजियै संदेसो तौऽब
आवा सम कीजियै जु कान तिहि काल हैं।
नेह भीजी बातें रसना पै उर आँच लागें,
जागें घनआनद ज्यौं पुजनि-मसाल हैं॥

वियोगाग्नि की जैसी जलन ये गोपियाँ सहती हैं वैसी और कौन सह सकता है—'दत रहैं गहे आँगुरी ते जु बियोग के नेह तजे परततर'। अपनी आँखों का दुखड़ा रोती हुई गोपियाँ कहती है कि ये आँखे तो ऐसी बरसती हैं जैसी बरसात भी नही बरसती—

नैनउँ धार दिये बरसैं घनआनंद छाई अनोखियै पावस।
अथवा
बदरा बरसै ऋतु मैं घिरि कै नित ही अँखियाँ उघटी बरसैं।

प्रिय के दर्शन न होने पर आँखो के उपवास का भी बडा सुन्दर चित्रण है—

देखियै दसा असाध अखियाँ निपेटिन की,
भसमी विथा पै नित लंवन करति हैं।

आँखो का झडी लगाते रहना, संयोग के मार्ग मे आँसुओ का बाधक होना, सदा भ्रमित रहना आदि बतलाकर उनकी विवशता का चित्रण किया गया है।

अपने दुख का इस प्रकार चित्रण करती हुई गोपियाँ जब प्रिय के आचरण की ओर दृष्टिपात करती है तो उनके दुख का ठिकाना नही रह पाता। प्रिय की उदासीनता और निष्ठुरता भी असाधारण है। विरहिणी के इस कथन मे प्रिय की ओर से किया गया तिरस्कार भी बडे ही जीवित रूप मे मूर्त हो उठा है—

पूरन प्रेम को मन्त्र महापन जा मधि सोधि सुधारि है लेख्यौ।
ताही के चारु चरित्र बिचित्रनि यौं पचि कै रचि राखि बिसेख्यौ।
ऐसो हियो हितपत्र पवित्र जु आन कथा न कहूँ अवरेख्यौ।
सो घनआनद जान, अजान लौं टूक कियो पर बाँचि न देख्यौ॥

बेचारी विरहिणी इन समस्त कष्टो को झेलने और सहने का साहस एकत्र करती दृष्टिगत होती है। इतना ही नही, वह तो यहाँ तक कहती है कि हमने तो मन मे यह संकल्प कर रक्खा है कि हम तेरे मन में दया पैदा करके ही रहेगी। लाखो दुःसह दुखो को सहन करने के लिए वे कटिबद्ध हो उठती हैं। अपने उद्वेगो की आँच मे वह अपने हृदय एवं रोम-रोम को तपाने के लिए तैयार है। दूसरी ओर कभी-कभी वे अपने मन को प्रबोधती हुई भी दिखलाई देती हैं। मन से वे कहती हैं—हे मन! तूने प्रेम को क्या कुछ खेल समझ रक्खा था। तू प्रेम के फदे मे पडा तो ठीक है, ले अब उसकी ज्वाला मे जल! इस प्रकार वियोग दशा का चित्रण करते हुए कवि ने गोपियो के हृदय की नाना वृत्तियो को प्रकाशित किया है। कभी तो वे प्रिय को ही

धिक्कारती हैं कि हम जैसी कामार्त्त दीन-दुखिया पर वियोग के विषम और विषाक्त वाण मारते हुए हे जीवन के आधार तुम्हे दया भी नही आई ! कभी उन्होंने प्रिय के नयन वाणो से अपने विद्ध होने की विषम परिस्थिति का भी चित्रण किया है और कभी अपने हृदय की अनोखी लगन का। वियोग की स्थिति मे तो ये लगन तीव्र रहती है, संयोग मे भी यह पीछा नही छोडती—

अनोखी हिलग दैया, बिछुर्‌यौ तो मिल्‌यो चाहै,
मिलेऊ पै मारे जारै खरक बिछोह की।

अपने प्रेम का वर्णन करती हुई गोपियाँ पहले तो यह कहती हैं कि प्रिय की अनन्त प्रतीक्षा ही हमारा जीवन हो रहा है। गोपियां अपने वर्तमान और अतीत का तुलनात्मक निरूपण करती हुई यह कह कर सन्तोष कर लेती है कि क्या करे हमारे भाग्य मे व्यथा ही लिखी है। किसी को क्या दोष दे !

इत बाँट परी सुधि रावरे भूलनि, कासों उराहनो दीजियै जू।

प्रिय कृपा करे चाहे न करे गोपियों को इसी बात का बडा गर्व है कि उनकी प्रीति कितनी दृढ और पवित्र है। वे अपने प्रेम के सामने संसार के प्रसिद्ध प्रेमियो और प्रेमोपमानो को हेय समझती हैं चाहे वह मीन हो, चकोर हो, पतग हो चाहे चातक। प्रिय की निष्ठुरता की ओर वे सकेत तो करती है पर वे पूर्णरूप से उन्ही को दोषी नही ठहराती[1]। जिन छदो मे उलाहने दिये गए हैं उनमे भी बडे मधुर भावो की अभिव्यक्ति हुई है। कृष्ण से कहा गया है कि तुमने हमेशा लेना ही जाना है देना नही तुम किसी के दुख को क्या समझो—

उजरनि बसी है हमारी अखियानि देखौ,
सुबस सुदेस जहाँ भावते बसत हौ।

तुम तो उलटे अपने प्रेमियो को ही मारते हो, भला इससे तुम्हारी इज्जत क्या बढ़ेगी, तुम तो बहेलियो से भी कठोर हो—

अधिक बधिक ते सुजान! रीति रावरी है,
कपट चुगो दै फिरि निपट करौ बुरी।
गुननि पकरि लै, निपाँख करि छोरि देहु,
मरहि न जियै महा विषम दया छुरी॥
हौं न जानौं, कौन धौं, हौ या मैं सिद्धि स्वारथ की,
लखी क्यों परति प्यारे अंतर कथा दुरी।

---

[1] एक ही जीव हुत्यो सु तौ वार्‌यौ, सुजान। सकोच और सोच सहारियै।
रोकी रहै न दहै घनआनंद बावरी रीझ के हाथनि हारियै॥

रूप की लोभनि रीझि भिजाय कै हाय इतै पै सुजान मिलाई।
प्यास भरी बरसैं तरसैं मुख देखन को अँखियाँ दुखहाई॥

कैसे आसा द्रुम पै बसेरौ लहै प्रान खग,
बनक निकाई घनआनंद नई जुरी।
बधिकौ सुधि लेत, सुन्यौ, हति कै गति रावरी क्यौंहू न बूझि परै।
मति आवरी बावरी है जकि जाय, उपाय कहूँ किन सूझि परै।
घन आनन्द यौं अदनाथ तजी इन सोचनि हीं मन मूझि परै।
दिन रैन सुजान वियोग के बान सहै जिय पापी न जूझि परै॥

वे कहती हैं—हे भगवान! कभी निर्मोही से किसी का मोह न लगे। तुम्हे तो खेल हा जान पडता है पर अपने हृदय की पीड़ा तो मैं ही जान सकती हूँ। तुम तो हमारे दुख को देख सुनकर भी अनदेख और अनसुने रहते हो कही-कही बड़ी व्यथा से भरकर इन गोपियो ने अपना सन्देश भी प्रिय के पास भेजा है—

(क) परकारज देह को धारे फिरौ परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
(ख) एरे बीर पौन तेरो सबै ओर गौन।
बीरी तोसों और कौन मनैं ढरकौही बानि दै।

इस प्रेम अथवा विरह के वर्णन मे कुछ छन्द ऐसे भी हैं जो प्रकृति की भावोत्तेजकता को लेकर लिखे गए हैं। जो चाँदनी कृष्ण के समीप होने पर शीतल किया करती थी वही अब आग की लपटे उगलने लगी है। फूल काँटे की तरह लगता है, जल दाहक प्रतीत होता है, सगीत कर्णकटु लगता है। कोयल मोर पपीहो की कूक प्राण घातक हो रही है[1]। कुछ छद ऐसे भी हैं जिनमें प्रकृति पर ही गोपिका की विरह भावना का आरोप किया गया है। कवि कहता है कि वर्षा काल मे बिजली जो चमक उठती है उसमे विरहिणी के तड़पन भरी हुई है, गोपियो के हृदय की उद्विग्नता को देखकर वायु भी दुख से 'हू-हू' करता फिरता है और यह बूंदे क्या हैं जैसे विरहिणी के हीआंसू हों—

विकल विषाद भरे ताही की तरफ तकि,
दामिनि हूँ लहकि बहकि यौं ज यो करै।
जीवन-अधार-घन-पूरित पुकारनि सों,
आरत पपीहा नित कूकनि कर्‌यौ करै॥
अथिर उदेग गति देखि कै अनंदघन,
पौन बिडर्‌यौ सो बन बीथिन रर्‌यौ करै।
बूँदैं न परति मेरे जान जान प्यारी। तेरे,
बिरही कौं हेरि मेघ आँसुनि झर्‌यौ करै॥

---

1. कारी कूर कोकिला! कहाँ को बैर काढ़ति री,
कूकि कूकि अबही करेजो किन कोरि लै।
बैरी बियोग की हूकनिजारत कूकि उठै अचवाँ अधरातक।
बेधत प्रान, बिना ही कमान सुबान से बोल सों, कात है घातक।

भक्ति-भावना

घनआनंद प्रेमी होने के साथ-साथ परमोच्च कोटि के भक्त भी थे। यह भक्ति उनके उत्तर कालीन जीवन मे परिस्थितियो की विवशता के कारण आई। प्रेम ही उनका जीवन-सर्वस्व था परन्तु उस क्षेत्र मे अपार नैराश्य और कोरे अधंकार ने कालातर मे उनके जीवन की धारा ही मोड दी थी।

वियोग और क्लेश के अतिशय्य से घनआनद मे जगह-जगह वैराग्य का भाव पाया जाता है। जब सारा जीवन वियोग की वेदना का स्तूप मात्र हो रहता है तब अतिम समय मे या बहुत दुःख झेल लने के बाद कवि के मन मे यह भाव आता है कि मन इन चक्करो मे फँसा ही क्यो ? इसमें प्रेम का हल्कापन नही है वरन दीर्घ जीवनकाल व्यापी वेदना की यह तो एक अनिवार्य परिणति-मात्र है। कवि को अपने मूल्यवान जीवन को यो ही विरह मे तडपते हुए बिता देने का कोई खेद नही है पर वह अतिम समय मे निराश हो भगवदोन्मुख हो गया अवश्य लगता है, सुजानहित मे ही उनके जीव को प्रबोधन देने वाले वैराग्य-परक छद मिलते हैं, जिनके पढ़ने से ऐसा लगता है जैसे ये विरक्तिमूलक भाव विरह-व्यथा से उत्पन्न हो। 'सुजानहित' के उत्तरवर्ती अश मे इस आशय के कई छद हैं। उनके द्वारा वैराग्य के साथ भक्ति-भाव-परक छदो के लिखे जाने का भी यही रहस्य है। प्रेम जब लौकिक से हटा तो अलौकिक मे समा गया। आखिर घनआनद के जीवन का सबसे मूल्यवान तत्व प्रेम ही तो था, वे अपनी समूची सत्ता को प्रिय के प्रति अशेष रूप से समर्पित कर देने वाले प्राणी थे। लौकिक प्रिय की अप्राप्ति मे उन्होने अपना सर्वस्व कृष्णार्पित कर दिया था। सुजानहित के अंतिम छदो तक आते आते समूची भावधारा ही बदल गई है, प्रेम कृष्णोन्मुख हो गया है। अलौकिक प्रेम मे यह परिणति असाधारण है। घनआनद का प्रेम उनके जीवन मे ही पूरी तरह व्याप्त था कुछ आरोपित नही। उस ओर सफलता न मिलने से वह अनुराग-भडार कृष्णार्पित हो गया। वे स्वयं लिखते है कि अपने प्रेम को सब ओर से खीचकर कृष्ण मे केन्द्रित करना मेरे लिए आवश्यक हो गया था—

'सब ओर तें ऐंचि कै कान्ह किसोर मैं राखि भलें थिर आस करैं।'

उनकी कृष्ण-भक्तिपरक रचनाएँ सुजान प्रेम वाली रचनाओ से स्पष्ट भिन्न हो गई है। यह अवश्य है कि सुजानहित मे भक्ति-मूलक रचनाएँ परिमाण मे कम है परन्तु अन्य ग्रन्थो मे उनकी भक्ति का स्वरूप और अधिक विकच रूप मे देखा जा सकता है।

निम्बार्क संप्रदाय मे भगवान कृष्ण की चरण सेवा का ही महत्व सर्वोपरि है। ब्रह्मा, शिव सभी उनकी वन्दना करते हैं। अचिंतनीय शक्तियों वाले कृष्ण अपने

भक्तो का दुःख दूर किया करते है। कृष्ण की प्राप्ति भक्ति द्वारा संभव है जो इन पाँचो भावो मे पूर्ण होती है —शात, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा उज्ज्वल। उज्वल-रस के भक्त है गोपी तथा राधा। निम्बार्क सप्रदाय मे उज्ज्वलता अथवा मधुर भाव को सर्वोत्कृष्ट स्वीकार किया गया है। श्री निम्बार्काचार्य ने युगल उपासना के साथ भगवान कृष्ण की माधुर्य एव प्रेमशक्ति राधा की उपासना को विशेष महत्व दिया था। क्योकि उनका विश्वास था कि राधा मे भक्तो की कामनाओ को पूर्ण करने की अक्षय सामर्थ्य है—

> अङ्गेतु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानायनुरूप सौभगाम्।
> सखा सहस्त्रैः परिसेवितां सदा स्मेरम देवीं सकलेष्ट-कामदाम्।।

निम्बार्क मत मे साधको के लिए किसी विशेष भाव को ही स्वीकार करने का आग्रह नही किया गया इसीलिए श्री भट्ट जी तथा श्री हरिव्यास देवाचार्य आदि ने जो माधुर्य रस के ही मान्य उपासक कहे जाते है दास्य वात्सल्यादि भावो से भी भक्ति-निवेदन किया है। भक्ति सबधिनी यह भाव-विविधता घनआनंद मे भी पाई जाती है फिर भी इतना अवश्य है कि इस सप्रदाय मे प्रेम लक्षण अनुरागत्मिका पराभक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया गया है। भक्ति क्षेत्र मे राधा को महत्व देने वाले इस निम्बार्क सप्रदाय से ही वृन्दावन मे राधावल्लभीय एव हरिदासी मतो का उद्भव हुआ। वृन्दावन के सखी सप्रदाय का सबंध स्वामी हरिदास से ही जोडा जाता है। वे भगवत्प्राप्ति के लिए गोपीभाव की भक्ति को ही सर्वोत्कृष्ट साधन मानते थे। उनकी इस भावना का बडा प्रचार हुआ और भक्ति के क्षेत्र मे गोपी या सखी-भाव का पुष्कल साहित्य लिखा गया। घनआनद की भक्ति भावना पर भी गोपी या सखी-भाव की भक्ति की छाप देखी जा सकती है।

घन आनद ने अपनी भक्ति-भावना का निवेदन राधा और कृष्ण के प्रति किया है। ये दोनो एक से एक बढकर भक्ति के आलबन है। जितना भावोन्मेष घनआनंद ने कृष्ण के प्रति भक्ति निवेदन मे दिखलाया उससे कम आवेश राधा के प्रति भक्ति निवेदन मे नही। निम्बार्क सप्रदाय मे भक्ति के सभी भावो के लिए अवकाश था इसी कारण घनआनद के भक्ति-काव्य मे भी एकाधिक भावो की भक्ति देखी जा सकती है। मन जब जैसी वृत्ति कर लेता था तब उस भाव की भक्ति व्यक्त करता था। घनआनद की भक्ति के आलंबन राधा और कृष्ण ही नही उनकी निवास और लीलाभूमि भी है इसीलिए शत-शत रूपो मे कवि ने कृष्ण के ब्रज, गोकुल, वृदावन, राधा के बरसाने आदि के प्रति अत्यंत भक्तिभावापन्न पक्तियाँ लिखी हैं। उसके जीवन मे इस समूचे ब्रज प्रदेश का ही अक्षय महत्व है।

ब्रज के माहात्म्य का, वहाँ के सुख और वैभव का, उस चिर अभिलिषत पावन भूमि के प्रति अटूट प्रेम का वर्णन कवि ने बार-बार अनेकानेक कृतियो मे किया है—ब्रजप्रसाद, ब्रजस्वरूप, ब्रजविलास, धाम चमत्कार, ब्रज व्यवहार आदि मे उक्त भावनाओ का अनूठा प्रकाश देखा जा सकता है। जिस भक्ति भावापन्नता के साथ कवि ने अपने आप को व्यक्त किया है वह सहृदय व्यक्ति को डुबो देने वाली है, बहा ले जाने वाली है, उसके चित्त मे भक्ति की पुनीत भावना का उद्रेक करने वाली है। कवि के हृदय मे ब्रज के प्रति अपार अनुराग और पूज्य भाव है। उन्होने जिस ढंग से इसका वर्णन किया है उसकी ध्वनि यही है कि हर प्राणी को इस ब्रजमण्डल मे आकर रहना और अपने जीवन को सार्थक करना चाहिए। श्री कृष्ण और राधा की इस लीला भूमि के विषय मे काफी कुछ कह लेने पर भी उन्हे यही अनुभव होता रहा है कि यहाँ की शोभा, पवित्रता, महिमा आदि शब्दो मे कथित नही हो सकती—

(क) यह सुख मुख ह्वै को उच्चरै। सुख ही निज सुख बरनन करै ॥

(ख) गोकुल छबि आँखिनि ही भावै। रहि न सकै रसना कछु गावै ॥

(ग) सब ते अगम अगोचर ब्रजरस। रसना कहि न सकति याको जस ॥

ब्रज मण्डल की शोभा के ये वर्णन नितान्त सरल, निर्व्याज, भक्तिभावापन्न, महिमा-गायन की शैली पर किये गए है जिसमे वर्ण्य के स्वरूप को प्रत्यक्ष कराने की अपेक्षा उसकी अनिर्वचनीय महत्ता का भाव मनोगत कराने का प्रयास किया गया है। आसक्त हृदय से उत्पन्न ये वर्णन पाठक के हृदय मे ब्रज देश के प्रति सम्मान भावना और पूज्य बुद्धि जगाने मे समर्थ हैं। प्रगाढ भक्ति-भावना से प्रेरित हो घनआनद ने यमुना का भी यशोगान किया है। यमुना-जल की अपूर्व काति, उसकी मधुरता, स्वाद की अकथ-नीयता, धारा की अगाधता, उसके रूप की रम्यता, लहरों की रुचिरोचता उसके जल की त्रितापहारिणी और परम पद दायिनी शक्ति, चिन्तामणि उपमित, मनकामना, पूरक शक्ति, उसके स्पर्श हर्षोत्तेजकता, उसकी परमार्थ साधन सक्षमता और मगल-कारिणी शक्ति आदि का कवि ने उत्साहपूर्वक वर्णन किया है। गोकुल की महिमा घनआनंद ने वर्णनातीत बताई है जहाँ नदमहर के द्वार पर गोप और ग्वालों की सतत भीड लगी रहती है। वृन्दावन का माहात्म्य-गायन तथा उसके प्रति अपनी पूज्य भावना का प्रकाशन करते हुए घनआनद लिखते हैं कि उस वन मे तो मनोमोहन का मन ही सतत रमण करता रहता है। यमुना के तीर पर ही यह वन बसा हुआ है। वृन्दावन में यमुना की तरल तरंगे शोभा देती है। इसके गुण गान से तो मेरी वाणी सरस हो गई है। गौर-श्याम युगल सतत एक रस हो यहाँ बिहार करते रहते हैं। यहाँ ललित लतालियो के संग रसवलित वृक्ष महामधुर फलों से परिपूर्ण हो शोभा देते हैं, सुखद सरोवर हैं, पवन मह-मह करता हुआ परिमल वहन करता है आदि आदि। इसी

उल्लास के साथ कवि ने गोवर्धन या गिरि पूजन का, 'भागनिभरी रगभिनी' बरसाने की भूमि का, प्राणो मे छा जाने वाली कृष्ण की मुरलिका आदि का भी माहात्म्य-गायन किया है।

घनआनंद ने भक्तो के रग-ढग पर चल कर सूर, तुलसी और मीरा के समान गेय-पदो की रचना की है जो सख्या मे सहस्राधिक हैं। इन पदो मे मुख्यत: तो गोपियों तथा राधा के कृष्ण-प्रेम को ही नाना रूपों मे व्यक्त किया है किन्तु वह कुछ साधारण प्रेम नही, भक्ति की कोटि को पहुँची हुई 'परानुरक्ति' है जिसमे घन आनद की निजी कांताभाव की उज्वल भक्ति-भावना ही सवेदित हुई है। घनआनंद की भक्ति जिन अन्यान्य रचनाओ मे मुखर हुई है उनमे 'कृपाकंद' का स्थान महत्त्वपूर्ण है, इसी प्रकार 'पदावली' भी भक्ति की दृष्टि से देखने योग्य है। हम देखते है कि घन आनद ने दास्य, सख्य और कांता भाव से अपनी भक्ति का निवेदन किया है। कांता, सखी या गोपी भाव की भक्ति निम्बार्क संप्रदाय मे प्रचलित तो हुई परन्तु अन्य भावो से भगवद भजन का निषेध न था इसलिए भक्ति की भावना के क्षेत्र मे ये कवि अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार अपना भाव-निवेदन किया करते थे।

अपनी अनेक कृतियो मे घनआनंद ने राधा के प्रति अपनी भक्ति और अनन्य निष्ठा का परिचय दिया है। निम्बार्क सप्रदाय की भक्ति-भावना के अंतर्गत राधा की अविकल प्रतीष्ठा थी ही क्योकि वे भक्तों के मनोरथ पूर्ण करने की अक्षय शक्ति से सपन्न मानी गई है। कवि ने उनके प्रति अपनी उत्सर्गपूर्ण निष्ठा का बारम्बार प्रकाशन किया है। घनआनद के निंबार्क संप्रदायानुयायी होने की बात विदित ही है, किन्ही शेष ने इन्हे परपरा की रीति का ज्ञान भी करा दिया था तथा सप्रदाय मे प्रचलित सखी भाव की उपासना पद्धति इन्होने अंगीकार कर ली थी। सखी भाव से उपासना करने वाले महात्मा भक्ति साधना का बहुत पथ पार कर चुकने के बाद ही साप्रदायिक सखी नामो से पुकारे जाते है। घनआनद का भी 'बहुगुनी' नाम रक्खा गया था जिससे यह सिद्ध है कि ये भी भक्ति साधना की ऊँची भूमिका पर पहुँच चुके थे तथा महात्माओ की कोटि मे परिगणित होने लगे थे और सप्रदाय मे सखी भाव का इनका 'बहुगुनी' नाम प्रचलित भी हो गया था। साधको और सिद्धो से भी उच्चतर भक्ति-साधना करने वाले घनआनंद सुजानो की कोटि मे ले लिए गए थे। इनकी सखी भाव की भक्ति का प्रकाशन करने वाली राधा भक्ति मूलक रचनाएँ हैं—वृषभानु पुर सुषमा वर्णन, प्रिया प्रसाद और मनोरथ मजरी।

कलासौष्ठव

घनआनंद के काव्य के कलापक्ष पर विचार करते ही सर्वप्रथम हमारा ध्यान उनकी भाषा और शब्द-योजना पर पड़ता है। घनआनद की भाषा रीतिकाल के अन्य

कवियो की भाषा से कुछ पृथक है। यह भेद उनकी कथन विधि अथवा शैली को देखने से और भी स्पष्ट हो जाता है। वे भाषा के प्रयोग मे बडे ही पटु थे। शब्दो मे नई-नई व्यजनाएँ भरना, सूक्ष्म से सूक्ष्म और गहरे से गहरे भावो को शब्दो मे मूर्त्त करना वे भली भाति जानते थे। आवश्यकता के अनुसार शब्दो मे वे लोच, सकोच, विस्तार, वक्रता आदि भी पैदा कर सकते थे। फिर उनकी भाषा कोरी साहित्यिक भाषा भी नही हैं। उसमे व्रज प्रान्त के (Colloqucal) प्रयोग भी मिलते है। ब्रजभाषा के ठेठ रूप की भी झलक उनकी रचनाओ में मिलती है। बहुत से नए शब्द भी उन्होने प्रयुक्त किये है जिनका प्रवेश उनके पूर्ववर्ती ब्रजभाषा काव्य मे नही हुआ था या कम हुआ था जैसे औडी (गहरी), आवस (औस, भाप) उदेग (उद्वेग, बेचैनी), सहारि (सहारे से, सम्भल कर) भभक (ज्वाला) दुहेली (दुख पूर्ण) आवरो (व्याकुल) हेली (खेल करने वाले) दिनदीन (सदा दीन) भोयो (भिगोया हुआ) सौज (सामग्री) चुहल (विनोद या विनोदो) अरसाना (आलस्य) सरचौ (चुक गया) बघूरा (बवडर), बिसारचौ (विषाक्त), आपचारचौ (मनमानी), डेल (ढेला) गुरझनि (गाँठ), बनी (वणिक या वणिज्य), अगिलाई (अग्निदाह), तेह (क्रोध या आँच), परतन्तर (परतत्र), सुततर (स्वतन्त्र) आदि।

कभी-कभी उन्होने 'लगियै रहै' या 'अनोखियै' ऐसे प्रयोगो के द्वारा शब्दो को कुछ खीचकर या टेढाकर उनमे नया जीवन और नया अर्थ प्रतिष्ठित किया है। कभी-कभी मात्रा बिठाने के लिए शब्दो की असाधारण सधियाँ भी की है जैसे यौऽब (यौ+अब), जौऽब (जौ+अब) तौऽब (तौ+अब)। ऐसा करने से छदों मे मात्रा यालय सम्बन्धी दोष नहीं आने पाए है।

घनआनंद जी की उक्तियाँ भी जगह-जगह पर बडी ही अनूठी है जिस पर मुग्ध होकर घनआनंद की कविता के मर्मज्ञ आचार्य प. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है कि घनआनंद जी अपनी कविता को ऐसे-ऐसे पंथो से ले जाने का साहस कर सके हैं जिन पर जाने मे आज के कवि भी झिझक सकते है। शरीर के अगो को लेकर उन्होने बडी सुन्दर उक्तियाँ की है विशेष रूप से आँखो के सम्बन्ध मे उनकी उक्तियाँ देखने योग्य है—

(क) लगियै रहै आँखिन के उर आरति।
(ख) चलत सजीवन सुजान दग हार्थान ते।
(ग) कृपाकान मधि नैन ज्यौं।
(ग) फिरी दग रावरे रूप की दोही।

इसी प्रकार उनके कुछ प्रयोग भी देखिये—रीझि के पानि परयौ दिन-रैन, लाज मे लपेटी हुई चितवन, छके हुए दग, आँसुनि औसर, गारति, बिसास-दगानि-दगी आदि।

किन्ही-किन्ही पक्तियो मे रूप का चित्रण करते हुए अनूठी प्रयोग-भगिमा पैदा की गई है—

(क) हँसि बोलन मैं छबि फूलन की बरखा उर ऊपर जाति है ह्वै ।

(ख) अंग अंग तरंग उठै दुति की परिहै मनौ रूप अबै धर च्वै ॥

प्रिय के एक झलक पाने के लिए उनका यह कथन कितना प्राणवान है—

घन आनद जीवन मूल सुजान की कौंधनि हू न कहूं दरसै ।

घनआनद जी के बहुत सारे प्रयोग तो कोरे विरोध पर ही आश्रित है । उनका सौदर्य असाधारण है । उदाहरणार्थ कुछ प्रयोग लीजिये :—

(क) हा हा न हूजियै मोहि अमोही ।

(ख) निरधार अधार दै धार मॅझार दई गहि बाहँन बोरियै जू ।

(ग) तब हार पहार से लागत हे ।

(घ) जतन बुझै है सब जाकी झर आगे ।

(ङ) सकस्यौ न उकस्यौ बनाव लखि जूरे को ।

(च) विरह विषम दशा मूक लौं कहनि है ।

(छ) प्यास भरी बरसैं तरसैं मुख देखन को अखियाँ दुखहाई ।

कहावतो और मुहावरो से भी घनआनंद की भाषा सजीव हो जाती है । कहावतो की अपेक्षा मुहावरो का प्रयोग घनआनद ने अधिक किया है । कहावत के प्रयोग की दृष्टि से हिन्दी मे ठाकुर के टक्कर का दूसरा कवि नही है । कवि की भाषा मे इसी प्रकार के जो सौदर्य हमारे प्रधान किये कविता घनआनद के कारण दार्शनीय है वह हिन्दो के किसी भी कविता से नही । घनआनद जी के कहावतो का कुछ प्रयोग देखिये—

सुनी है कै नाही यह प्रगट कहावत जू,
काहू कलपाइहै सु कैसें कलपाइ है ।

इसी प्रकार विष घोलना, छाए रहना, हाथो हारना, पाटी पढना आदि कई मुहावरे भी प्रयुक्त हुए है । इन सभी साधनो के प्रयोग के कारण घनआनद की भाषा सप्राण, अर्थ की शक्ति से सपन्न और विशिष्ट हो गई है ।

अलंकारों का प्रयोग घनआनद की कविता मे न हुआ हो ऐसी बात नही । यो इस कारण कि रीतिमुक्त कवियो मे इनका स्थान अत्यत श्रेष्ठ है यह भाव हम भले ही हृदय में ले आवें कि घनआनद की कविता अलकार रहित सरल और अकृत्तिम होगी किन्तु वास्तविकता कुछ और ही है । प्रयोग वैचित्र्य, कथन वक्रता, अभिव्यक्ति वैशिष्ट्य घनआनद की एक स्वभावगत प्रवृत्ति-सी प्रतीत होती है । किसी भी बात को सीधे-सादे ढंग से रख देना उन्हे अभीष्ट नही । उनका प्रत्येक छद किसी न किसी प्रकार का बाँकपन लिए मिलेगा । इस दृष्टि से वे हिन्दी के रीति कवियो के निकट

आ जाते हैं। जगह जगह पर उनकी रचना मे भी चमत्कार की वैसी ही बलवती स्पृहा लहरे मारती और अपने आप को प्रकट करती मिलती है परन्तु जो बात इन्हे फिर भी उन रीतिकाव्यकारो अथवा लक्षण ग्रथकारो से पृथक कर देती है वह है सवेदना और प्रेरणा की भिन्नता। घनआनद के काव्य रचना की प्रेरक शक्ति न तो राजाश्रय या राजप्रेरणा है न किसी का प्रशस्तिगान न किन्ही लक्षणो को (ये लक्षण चाहे अलंकार चाहे रस, चाहे नायिका भेद के हो) दृष्टि में रखकर उदाहरणो को प्रस्तुत करना। यह आधार है जिसपर हम घनआनंद को लक्षण काव्य प्रेमी लोगों से भिन्न कोटि मे रखते हैं। घनआनद की अलकार प्रियता या उनका चमत्कार और वक्रोक्ति प्रेम बहुत कुछ स्वभावगत है। एक बात यह भी है कि अनुभूति जब गहरी होती है, व्यक्ति कुछ भावुक और प्रगल्भ होता है तो अभिव्यक्ति भी ऋजु और सरल न होकर यत्किञ्चित वक्र हो जाती है। यह वक्रता फिर काव्य की शोभा बन जाती है। घन-आनद का काव्य भी कला कौशल को यथेष्ट महत्व प्रदान करता हुआ चलता है। उनका रचना का अनुभूति पक्ष जितना तीव्र, सच्चा और मार्मिक है अभिव्यक्ति पक्ष भी उतना ही सबल। उनका कोई भी अलंकार प्रयोग रीति बद्ध काव्यकार के अलकार प्रयोगों से सर्वथा भिन्न और स्वतंत्र है। घनआनद की शैली ही निराली है क्योंकि घनआनंद की प्रकृति ही कुछ दूसरी थी। उनकी-सी स्वतंत्र भावुकता किसी भी रीतिकार मे नही। रह-रह कर रूपको का ठाठ खडा करना, हर छद मे विरोध का निदर्शन करना और सहज ही मे अनायास अपने प्रयोग कौशल के द्वारा सुन्दर से सुन्दर अलकार का प्रयोग करना उनका एक विशेष गुण है। किसी अलकार को दृष्टि मे रखकर वे छदों की रचना नही करते बल्कि भाव से भरकर जब वे तीव्र अनु-भूति को काव्यबद्ध करने का प्रयास करते हैं। तो भाषा उनकी लेखनी से निकल कर आप ही आप अनूठी और वैचित्र्यपूर्ण हो जाती है।

'जीवगुडी' और 'प्रेम की आग' के रूपक[1] बडे ही आकर्षक है—साग निरंग और परंपरित। विरोधाभास उनकी अपनी चीज है जिसके कुछ उदाहरण इस प्रकार है: –

(क) बदरा बरसै ऋतु मैं घिरि कै नित ही अँखियाँ उघरी बरसैं।
(ख) विरह समीर की झकोरनि अधीर, नेह—
नीर भीज्यौ जीव तऊ गुड़ी लौं उड्यौ रहै।
(ग) झूठ की सचाई छाक्यौ त्यौं हित कचाई पाक्यौ
(घ) देखियै दसा असाध अँखियाँ निपेटिनि की,
भसमी बिथा पै नित लंघन करति है।
(ङ) उजरनि बसी है हमारी अँखियानि देख्यौ,
सबस सुदेस जहाँ रावरे बसंत हौ।

श्लेष और यमक का प्रयोग भी अनेक स्थलो पर हुआ है। श्लेष का प्रयोग सामान्यतः घनआनंद, घनश्याम, सुजान आदि शब्दो को लेकर किया गया है।

---

[1]देखिए 'घनआनँद कबित्त' छंद संख्या १६,१८

इसी प्रकार कुछ रूपक घनआनद को बहुत प्रिय है जिसे उन्होने बारबार प्रयुक्त किया है जैसे दृग चातक, विरहाग्नि, चातक और मेघ, चद और चकोर, नेत्र, मीन पतग आदि को लेकर लिखे गए रूपक। केशव-दास की तरह सभी अलकारो के प्रयोग की चेष्टा घनआनंद नही करते किन्तु जिन अलकारो के प्रयोग उनकी रचना मे हुए है उनमे से प्रमुख अलकार ये है —

तद्गुण—दसनि दमक फैलि हियैं मोती माल होति
विभावना—विरह समीर की झकोरन अधीर नेह—
नीर भीज्यौ जीव तऊ गुडी लौं उड़यौ रहै।
उदाहरण—मोसों तुम्है सुनौ जान-कृपानिधि नेह निबाहिबौ यौं छबि पावै।
ज्यौं अपनी रुचि राचि कुबेर सुरंकहि लै निज अंक बसावै।
अथवा
राग वधू चित चोरन के हित सोधि सुधारि कै तानहिं गावै।
त्यौं ही सुजान तियै घन आनन्द मो हिय बौरई रीति रिझावै ।।
यथासंख्य—बिछुरै लिले मीन पतंग दशा, कहा मो जिय की गति कौं परसै।
अर्थान्तरन्यास—मोहि तुम एक तुम्हैं मो सम अनेक आहि,
कहा कछू चंदहिं चकोरन की कमी है।
अपन्हुति—जारत अंग अंनग की आँचनि, जोन्ह नहीं सु नई अगिलाई।

छद प्रयोग के क्षेत्र मे भी घनआनद का प्रयोग कौशल और प्रयोग विस्तार कुछ कम नही। फारसी छंदो के प्रयोग भी उन्होने किये है। छोटे-छोटे पद जो गीति शैली के लिए उपयुक्त होते हैं, उनकी रचना भी उन्होने बहुत बड़ी संख्या में की है तथा दोहे, सोरठे, चौपाइयाँ, चौपइयाँ, अरिल्ल, छप्पय आदि भी उन्होने लिखे है परन्तु कवित्त और सवैया की समसामयिक प्रचलित शैली मे ही उनकी प्रतिभा विशेष रूप से प्रस्फुटित हुई है। उनके छदो मे कही भी लय, मात्रा, गति और यति के दोष नही। छन्द रचना शक्ति पर उन्हे पूरा अधिकार था। अपवाद स्वरूप ही ऐसी पंक्तियाँ एकाध मिलेगी जिनमे लय कुछ विकृत हो गई हो अथवा वर्ण कुछ घट बढ़ गए हो जैसे—

जब जब आवै तब तब अति मन भावै,
अहा कहा विषम कटाक्ष सेर चौट दै।

समग्र रूप से कहा जा सकता है कि घनआनंद के काव्य का कलापक्ष सबल और कर्ष है, उसमें किसी भी प्रकार की हीनता नही। हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्रेम के ऐसे मर्मी कवि से इतनी चमत्कार-प्रियता की आशा न थी। कही-कही उनका चमत्कार प्रेम भावो की अभिव्यक्ति मे अवरोधक भी हुआ है। कही-कही

घन आनद स्वतः चमत्कार प्रदर्शन के लोभ मे भावो को दबा बैठे है। अनुभूति की तीव्रता अवश्य उनके काव्य की संजीवनी शक्ति है फिर भी चमत्कार और प्रयोग कौशल के प्रति इतना आग्रह अनेक स्थलो पर सहायक नही हुआ है।[1]

एक अन्य प्रकार का दोष भी उनकी रचनाओ मे व्याप्त है और वह है एक ही भाव की प्रकारान्तर से अनेक बार आवृत्ति। इस दृष्टि से सूर का विरह वर्णन घनआनद की अपेक्षा अधिक विशद और व्यापक है। माना कि सूरदास का विरह वर्णन वाह्यार्थ निरूपक (Objective) है और घनआनद का आभ्यतरिक या व्यक्ति निष्ठ (subjective or personal) और इसलिए घन आनद के विरह निवेदन मे अधिक प्रगाढता के लिए अवकाश और अवसर था किन्तु गोपियो की जिस विरहावस्था का वर्णन सूर ने किया उसमे उन्होने अपने आप को अपनी गोपियो से एक मेक कर लिया है। घनआनद की बात दूसरी थी। उनकी अपनी भावना, उनकी अपनी ही अनुभूति जब शब्दबद्ध हो जाती है तब वही विरह-काव्य की सज्ञा प्राप्त करती है किन्तु कथन और प्रतिकथन विधान न कर सकने के कारण भी घनआनंद की रचना मे कुछ मोनाटनी आ गई है। यहाँ यह प्रस्तुत विषय नही, प्रासगिक विषय है फिर भी निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि भाषा और भाव के धनी भावुक और कलाकार कविश्रेष्ठ घनआनद जी समस्त मध्ययुगीन काव्यकारो के बीच निश्चय ही अत्यत ऊँचे स्थान के अधिकारी है। सूर, तुलसी के बाद हम जिन्हे श्रेष्ठ कह सकते हैं घनआनद की काति उनमे से किसी के सामने फीकी न पडेगी। वे जायसी, मीरा, रसखान, केशव, बिहारी, देव, मतिराम और दास किसी से भी पीछे नही।

बोधा

लोक मे स्वच्छन्द वृत्ति वाले प्रेमोमग के बोधा कवि लिखित दो ग्रन्थो की प्रसिद्धि है—१. इश्कनामा २. विरह वारीश। दूसरे ग्रन्थ का दूसरा नाम 'माधवानल काम कदला चरित्र भाषा' भी है। इसमें आलम द्वारा कथित कथा को ही विस्तार-पूर्वक कहा गया है और कवि की निजी प्रेम भावना का योग देकर उसे और भी सरस एव आस्वादनीय बनाया गया है। इश्कनामा अपेक्षाकृत एक छोटी रचना है जिसमें संयोग वियोग की कतिपय अनुभूतियो की मार्मिक अभिव्यक्त के साथ-साथ कवि ने अपने प्रेम अनुभवों का सार एकत्र कर दिया है। मार्मिकता निश्छल अभिव्यक्ति उमंगी बोधा के काव्य की सर्वोपरि विशेषता है और यदि इनके काव्य में निर्बधता न होती तो इनकी विशिष्टता भी नही मानी जा सकती थी। बोधा स्वच्छन्द अभि-व्यक्ति के कवि थे।

---

१. देखिये 'घनआनंद कवित्त' छंद २०, २७, २८, ३०, ३८, ४२, ४६

प्रेम-निरूपण

'इश्कनामा' मे बोधा ने प्रेम तत्व का अनुभवाधारित निरूपण किया है। उनका प्रेम निरूपण न तो किसी व्यवस्थित पद्धति पर ही है और न सागोपाग ही उसे शास्त्रीय विवेचन नही कहा जा सकता फिर भी प्रेमसम्बन्धी अपने अनुभवो का निचोड उन्होने जगह-जगह और बार-बार छदबद्ध किया है। यह उनकी एक विशेष प्रवृत्ति भी कही जा सकती है। अन्य कवियों की अपेक्षा उनके प्रेमतत्व संबन्धी कथन अधिक परिमाण मे उपलब्ध है।

प्रेम पंथ की करालता के सबन्ध मे तो बोधा का अधोलिखित छद हिन्दी जगत मे अत्यंत प्रसिद्ध है—

> **अति छीन मृनाल के तारहु ते तेहि ऊपर पॉव दै आवनो है।**
> **सुई द्वार ते बेह सकीन तहाँ परतीति को टांडो लदावनो है।।**
> **कवि बोधा अनी घनी नेजहुँ ते चढि तापै न चित्त डरावनो है।**
> **यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवार की धार पै धावनो है।।**

बोधा का कहना है कि प्रेम की कोठरी ' ताला लगा हुआ है उसमें सब नही जा सकते। प्रेम का पथ हलाहल है उनके मतानुसार वेद पुराणो का ऐसा ही कहना है। देखिये शकर जी को लोग अपना शीश तक समर्पित कर दिया करते है। प्रहलाद भी ऐसे ही थे। जो त्याग और बलिदान करने को तैयार होता है वही इस मार्ग का सफल पथिक है। एक स्थान पर बोधा ने प्रेम को ऐसा सौदा कहा है जिसमे आदमी लुट या बिक जाता है। प्रेम मे असह्य शारीरिक क्लेश और मानसिक व्यथा सहनी पडती है। विरह प्रेम को परम कठोर बना देता है। 'विरह वारीश' मे एक जगह प्रेम पीड़ा से हारकर प्रेमो को कहना पडा है कि 'हे स्वामी! यदि तू नरदेह दे तो प्रेम मत दे, यदि भाग्यवश प्रेम मिले ही तो प्रिय का वियोग न हो और यदि प्रिय का वियोग ही बदा हो तो प्राणो का विसर्जन भी साथ-साथ ही लिख दे।' प्रेम-वियोग ऐसा असह्य हुआ करता है—'छाती फटि दो टूक न होई। तौ किमि जानब बिछुरा कोई।।'

बोधा की राय मे प्रेमी को अपनी व्यथा किसी और से नही कहनी चाहिये क्योकि संसार के स्वार्थी लोग उसकी पीडा बॉट नही पाते उलटे उसका परिहास करते हैं। ससार विरही की पीडा को समझता नही इसलिए अपना अच्छा बुरा अपने तक ही सीमित रखना चाहिए। हमे जो पीडा होती है वह तो हमारा जीव ही जानता है, औरों को उससे सहानुभूति होती तो दूर उलटे मजा ही आता है। पीडा को मन ही मन पचा रखने की सलाह बडी पक्की है, इसमे सदेह नही—

(क) काहू सों का कहिबो सुनिबो कबि बोधा कहे में कहा गुन पावत ।
जोई है सोई है नेकी बदी मुख से निकसैं उपहास बढ़ावत ॥
(ख) बोधा कहे को परेखो कहा दुनियाँ सब मास की जीभ चलावत ।
बोधा का कहना है कि प्रेम की परिपक्वता विरह मे ही सम्भव है । विरह मे ही प्रेम का असली मजा है, उसी मे वह निखार पाता है । उनका यह कथन अनुभवसिद्ध उक्ति के रूप मे माना जाना चाहिए । वे कहते है कि सच्चा प्रेम एक के ही प्रति होता है—'लगनि वठै थल एक लगि दूजै ठौर बढै न' । अनन्यता प्रेम का मूलमंत्र है । प्रेम जिसके प्रति हो जाता है उससे फिर विमुख नही होता, इसी मे प्रेमकर्ता की महानता है । प्रेम मे दो को छोड तीसरे की अपेक्षा नही । जिसे प्रेमी चाहता है वह न मिले दूसरे सौ-पचास मिले तो प्रेमी को उनसे क्या लेना-देना 'जो न मिले दिलमाहिर एक अनेक मिलै तौ कहा करियै लै ।' प्रेमी उसी को पाना चाहता है जिससे उसका दिल लगता है और जिससे दिल लगता है उसे वह छोड़ना नही चाहता ।

प्रेमी को लोक की लाज या परवाह नही होती । लोक, परलोक, गाँव, घर और शरीर की चिन्ता करने वाला कोई जड ही हो सकता है प्रेमी हृदय नहीं । बोधा का स्पष्ट मत है कि जिसे लोक का भय हो वह भूल कर भी प्रेम के रास्ते पर न चले—

लोक की लाज औ सोच प्रलोक को वारिये प्रीति के ऊपर दोऊ ।
गाँव को गेह को देह को नातो सनेह में हाँतो करै पुनि सोऊ ॥
बोधा सुनीति निबाह करै घर ऊपर जाके नहीं सिर होऊ ।
लोक की भीति डेरात जो मीत तौ प्रीति के पैंडे परै जनि कोई ॥

प्रेम सदा से नियमों और बंधनो को तोडता आया है, नियम और सयम की शृंखलाओ और लोक-लाज की अर्गलाओ को तोडने मे ही प्रेम का मुख उज्ज्वल और महत्वमय होता है । यह बात प्रेमियों के जीवन-दृष्टान्तो और काव्य-परंपरा मे प्राप्त वर्णनो से स्वतः सिद्ध है । जिस समाज मे ये बधन जितने जटिल और रूढ है उस समाज मे प्रेम ने उतनी ही उच्छृङ्खलता से आचरण किया है और सहृदय समाज मे प्रेम की यह मुक्तिकामिता कभी भी हेय दृष्टि से नही देखी गई है । बोधा की गोपिका का यह संकल्प भी इस बंधन की शृंखला को विशृंखल करने के ही उद्देश्य से प्रेरित है—'लाज सो काज कहा बनि है ब्रजराज सों काज बनाइबे ही है ।' बोधा के प्रबंध में भी हम देखते हैं कि लीलावती को लोक की लज्जा नही और परलोक की चिन्ता नहीं, उसने माधवानल तक को लोक-भय की अवहेलना करने की सीख दी थी और अपार दुःखों के झेलने का साहस संकलित करने की सलाह दी थी । प्रेमी निडर होता है, प्रेम की डगर पकड़ लेने पर भले बुरे कुछ की चिन्ता नही करता ।

प्रेम कर लेना तो बोधा के मत मे सरल है पर करके उसे निभाना कठिन है, बडे-बड़े कठिन काम सरलता से किये जा सकते हैं परन्तु प्रेम का निर्वाह बहुत कठिनता से होता है। प्रेम किसी का भी हो, किसी से भी हो सार वस्तु यह है कि प्रेम ऐसा करना चाहिए जो निभ सके, ऐसे ही प्रेमी की ससार सराहना करता है। दुनियाँ मे बहुत सी बडी कही जाने वाली बाते सरल है किन्तु प्रेम करके निभा ले जाना बहुत कठिन है—

है न मुसक्किल एक रती नरसिंह के सीस पै साँग उबाहिबो।
दैवे को कोटिक दान अनेक महेश लौं जोग हिये अवगाहिबो॥
बोधा मुसक्किल सोऊ नही जो सती ह्वै सँभारै सखीन को दाहिबो।
एकहि ठौर अनेक मुसक्किल यारी कै प्यारी सों प्रीति निबाहिबो॥

'विरह-वारीश' मे प्रेम सबधी सुभान के नाना प्रश्नों के उत्तर देते हुए बोधा ने चार प्रकार के प्रेम का होना बतलाया है—आँख, कान, बुद्धि और ज्ञान का प्रेम। इस आधार पर विरही जन क्रमशः चार प्रकार के होते हैं—पतंग, कुरंग, माधवानल और भृ गीकीट। प्रेम के अनेक आधार हुआ करते हैं, कोई रूप के वश होकर प्रेम करता है, कोई गुण के वश होकर कोई धन के वश। यह तो मन की लगन और रीझ की बात है। सूरज और कमल, चन्द्रमा और चकोर, दीपक और पतंग की प्रीति आँख लगाने की प्रीति है। चुम्बक और लौह जैसी जड वस्तुओं मे भी प्रीति देखी जाती है। एक प्रकार का प्रेम श्रुति (कान) के माध्यम से भी होता है जैसे नाद को सुनकर कुरग का प्रेम जो तत्क्षण अपने आपको अर्पित कर देता है। प्रम के ये सभी प्रकार सरस और श्रेष्ठ है, कोई किसी से कम नही। जिसका मन जिस प्रकार के प्रेम मे उलझा है वह उसी मे खुशी रहता है।

बोधा का कहना है कि प्रेम मे विश्वास आवश्यक है। विश्वास या प्रतीति से ही प्रेम पल्लवित होता है उसी प्रकार जैसे यश से मनुष्य इन्द्र पद पाता है, योग से जीवन, दान से दौलत और तप से राज्य।

प्रेम मे अभिमान या गुमान के लिए कोई स्थान नही, प्रेम तो त्याग का ही दूसरा नाम है। जब तक अहकार होता है प्रेम का स्वरूप प्रकट नही होता। प्रेम के बाण से आहत हुआ व्यक्ति निरभिमान हो जाता है। यह बात उन्होने दो मानवती और मगरूर नायिकाओ को सम्बोधित करते हुए असाधारण खूबसूरती से कहा है—

(क) बोधा सुहाग औ सोभा सबै उडि जैबे के पंथ पै पाउँ न दीजै।
मानि लै मेरी कही तू लली अहे नाह के नेह मथाह न कीजै॥

प्रेमी प्रेम से श्रष्ठतर कुछ नही समझता, मुक्ति भी उसके लिए प्रेम के समक्ष हेय और नगण्य है इसीलिए वह कहता है—'दिलदार पै जौ लौ न भेट भई तब लौ तरिबो का कहावतु है।'

प्रेम-भावना

बोधा ने कुछ स्थलो पर अत्यत कामुकतापूर्ण बाते भी लिखी है उदाहरण के लिए उन्होंने एक छद मे गुप्त रूप से की जाने वाली रति और कामकेलि की उत्कृष्टता घोषित की है—

काँपत गात सकात बतात हैं साँकरी खोरि निसा अँधियारी ।
पातहू के खरके धरके धरकै उर लाय रहै सुकुमारी ॥
बीच मैं बोधा रचै रसरीति मनो जग जीति चुक्यौ तिहि बारी ।
यौं दुरि केलि करै जग मैं नर धन्य वहै धनि है यह नारी ॥

ऐसी अनैतिक और कामुकतापूर्ण उक्तियाँ उनकी प्रेमभावना को दाग लगाने वाली सिद्ध हुई है । उनकी ऐसी ही काव्य पक्तियो के आधार पर उन्हे लोगो ने बजारू प्रेम का वर्णन करने वाला कवि कहा है । उनकी यह अति ऐन्द्रिक वृत्ति एक अन्य स्थल पर इस प्रकार परिस्फुट हुई है—

जित बाल तितै खुसी हाल सबै जित बाल नही तित हाल दुखी ।
दुख ठौर सबै विधि और रचे सुख ठौर अकेली सरोज मुखी ।

स्पष्ट ही ये छद नैतिक दृष्टि से बोधा के पक्ष में नही जा सकते । 'विरह वारीश' मे इसी प्रकार के भाव अथवा विचार और भी देखे जा सकते है उदाहरण के लिए उनका यह कहना कि ससार में जिस अमृत की बात लोग करते है वह सब झूठी है, असली अमृत तो तरुणी की रति मे है । इसी प्रकार 'अमृत कहाँ है' का उत्तर देते हुए उनकी यह उक्ति भी उनकी मनोभावना पर खासा प्रकाश डालती है—

उन्नत उरोजन मैं दृगन सरोजन मैं,
भौंहन के चोजन मैं मंद मुसकान मैं ।
रसना दशनहू मैं कंचुकी कसन हू मैं,
अंजन रसन हू मैं बेनी सुखदान मैं ॥
बेंदी के मसकबे मैं नाही के कसकबे मैं,
रोस के ससकबे मैं रस की रिसान मैं ।
भूले कोऊ अंत ही बतावत है बुद्धिसेन,
अमृत बसत है विशेष नबलान मैं ।

इस प्रकार बोधा की कामिनी सबंधिनी यह कामुकतापूर्ण दृष्टि इस बात का द्योतन करती है कि उनकी निगाह मे तरुणी का क्या महत्व था, कदाचित वह कामतृप्ति के साधन से अधिक महत्व न रखती थी ।

बोधा के प्रबंध ग्रथ 'विरह वारिश' को देखने से पता चलता है कि उन पर सूफी प्रभाव भी थोडा अवश्य था । दो-एक जगह उन्होंने 'इश्क मजाजी और इश्क

हकीकी' की चर्चा करते हुए सूफी प्रभावापन्न कुछ बातें लिखी है। सूफी मत मे सांसारिक प्रेम से आगे बढकर ईश्वरी प्रेम तक पहुँचा जाना है, लौकिक प्रेम एक प्रकार से अलौकिक प्रेम का सोपान है। इस प्रसिद्ध सूफी विचारधारा को उन्होंने बहुत स्पष्ट ढग से लिख दिया है —

(क) इश्क हकीकी है फुरमाया। बिना मजाजी किसी न पाया।

(ख) सुन सुभाव यह इश्क मजाजी। जो दृढ एक हक्क दिलराजी ।।

इस सम्बन्ध मे एक बात समझ रखने की है कि बोधा ने इश्क मजाजी और इश्क हकीकी मे से पहले प्रकार के इश्क को अर्थात सासारिक प्रेम को पकड़ लिया था, इश्क हकीकी का तो उन्होने नामोल्लेख मात्र किया है। अलौकिक प्रेम का तो उनके काव्य मे दर्शन तक नही होता, वे शुद्ध सासारिक जीव थे और लौकिक तथा बासनामय प्रेम ही कदाचित उनके जीवन का सर्वस्व था इसलिए मात्र इश्क मजाजी और इश्क हकीकी की चर्चा कर देने से उन्हें सूफीमत का पोषक मान लेना भारी भूल होगी।

रूप-सौंदर्य-वर्णन

बोधा के मुक्तक काव्य मे सुभान और कृष्ण तथा प्रबन्ध ग्रंथ मे कृष्ण, लीलावती, माधव और कदला के रूप सौन्दर्य के कुछ चित्र देखे जा सकते है। अपनी मुक्तक रचनाओ के सग्रह 'इश्कनामा' मे बोधा ने रूप वर्णन विशेष नही किया है यहाँ तक कि अपनी परमप्रिया सुजान के रूप का वर्णन उन्होने पूर्णत: तो क्या अधूरे रूप मे भी नही किया है, केवल उसके रूप की अपारता और सौन्दर्य की अतिशयता का संकेत किया है —

एक सुभान के आनन पै कुरबान जहाँ लगि रूप जहाँ को।
कैयो सतक्रतु की पदवी लुटियै तकि कै मुसकाहट ताको ।।

कभी सृष्टि का सौदर्य उसके रूप पर निछावर किया गया है और कभी उसकी मुस्कराहट पर कितने इन्द्रपद निछावर कर दिये गए है। कभी उसकी मुख छवि को ससार मे अतुलनीय कहकर अपने हृदय की दशा 'सावन के अधे' सी बताई गई है। साक्षात् रूप के चित्रण से कवि ने अपना पल्ला खीच लिया है, हाँ हृदय पर पडे प्रभाव को दिखाकर रूप-छटा का अतिशय्य अवश्य व्यजित किया है। एक छंद में देव दर्शन और पूजन के लिए जाती हुई तरुणी का चित्र है जो पर्याप्त सुन्दरता से अकित हुआ है —

देव दुआरे निहारि खड़ी मृग नैनी करै रवि की छबि छोटी।
भाल मे रोड़ी की बेंदी लसी है ससी में लसी मनौं बीर बहूटी।

यहाँ उसकी कांति पूजा भावना, रूप-सुषमा के साथ-साथ कवि ने अपनी सौंदर्य चेतना का भी अच्छा परिचय दिया है। असम्भव नही कि यह चित्र सुंभान का ही हो पर खेद है कि ऐसे सौदर्य चित्र बोधा मे और नही हैं। 'विरह-वारीश' मे लीलावती के रूप तथा अग सौदर्य का वर्णन संक्षिप्त होते हुए भी पूर्ण और प्रभावशाली है। उसके रूप-लावण्य ने कामदेव के समान बाह्मण माधवानल को मुग्धकर दिया था—

> है द्विजराजमुखी सुमुखी अति। पीन कुचाह गरुरी गररी गति ॥
> है हिरनाक्षय बाल प्रबीनिय। त्यों दुति दामिनी की करि छीनिय ॥
> पन्नग मैचक सी बर बैनिय। कुदन लौं झलकै सुख दैनिय ॥
> है न बडी अति प्रीति भरी त्रिय। तीक्षण भौह कटाक्ष करयौ बिय ॥
> खेलत सी उलटी मग डोलहि। कंचुकी आप कसै अरु खोलहि ॥
> हार उतार हिये पहिरै पुनि। पांव धरै लहि त्यों न उराधन ॥
> हार सिंगार सिंगारहि सुन्दर। क्यों न बसै तिय छैल दिलद्दर ॥
> यों कटि मोरत छाँह निहारत। ओढ़नी बारहि बार सम्हारत ॥ (विरहवारिश)

इन पक्तियों मे अकुरित यौवना लीलावती का चित्र है। उसमे यौवन की चेतना कैसी सजग है और रूप सौन्दर्य एव अंग लावण्य के साथ उसकी आतरिक चपलता का रूप कैसा मोहक है। यहाँ लीलावती का सौदर्य अपने गत्यात्मक रूप मे काव्य पाठक को मुग्ध कर रहा है।

कदला तो बोधा की एक साहित्यिक सृष्टि है, उसका रूप-सौदर्य-व्यक्तित्व-चरित्र सभी कुछ देखने योग्य है। उसके रूप का वर्णन विशेष विस्तार और अभिनिवेश के साथ एक ही स्थल पर किया गया है—कामसेन की सभा में जब माधव की निगाह कन्दला की निगाह से जुड़ जाती है और वह उसे वह देखता ही रह जाता है। इसी प्रसंग मे कन्दला के सोलह शृंगारो और शिखनख का वर्णन आता है। परम रूपवती कन्दला के सौदर्य के भिन्न-भिन्न अगो और उपकरणो का पृथक-पृथक और एक साथ दोनो प्रकार से वर्णन हुआ है। कन्दला के रूप और अग सौदर्य की कुछ रेखाएँ इस प्रकार है—

> नेत्र—दृग-मृग एक रीति सो बखाने वे तो,
> कानन बिहारी येऊ कामन बिहारी है।
>
> बिंदी—लसत बाल के भाल मे रोरी बिन्द रसाल।
> मनो शरद शशि में बसी वीर बहूटी लाल ॥
>
> दांत—चंद मंदकारी प्यारी मंद मुसकान तेरी,
> देखि दसनावलि को दारिम दरकिगो।
>
> कटि—बोधा कवि सून के प्रवान ब्रह्मज्ञान जैसे,
> चलत हलत यों प्रमानियतु है।
> दृष्टि में परै ना यों अदृष्टि कटि तेरी प्यारी,
> ह्वै है तो विशेष उनमाई जानियतु है ॥

इसी प्रसग मे कुछ अगो का वर्णन एक साथ भी किया गया है जिनसे उनका समूचा प्रभाव हृदय पर उतर आता है। कामकन्दला की अग समष्टि का एक दूसरा चित्र इस प्रकार है—

गुरु नितंब अरु गदकारी लखि कदली तरु लाजे।
पिंडुरी गुल्फ सुठार सुल्फ अतिचरण अंगुली लाजै ॥

कदला के तथा अन्य आलम्बनो के रूप सौन्दर्य के बोधा द्वारा प्रस्तुत चित्र परपरागत पद्धति पर है, उनमे कोई विशेष नवीनता नही फिर भी ये सम्पूर्ण काव्य के सौष्ठव को बढाने वाले हैं और आलम्बनो के प्रभाव को पाठक के मन मे घनीभूत करने वाले।

कृष्ण के रूप वर्णन मे हृदय पर पडे हुए उनके प्रभाव को दिखाकर रूप-सौदर्य की असीमता व्यजित की गई है, देखिये प्रभावाभिव्यजक पद्धति पर चलकर गोपिका द्वारा रूप सौन्दर्य का कैसा प्रभावपूर्ण चित्र प्रस्तुत किया गया है —

छुटि जाइंगे चेव के नेव सबै जो कहूँ मुरली अधराधरि है।
मुसकाइ कै बोलै तौ बाट परै नखहू शिख लौं विष सों भरि है ॥
कवि बोधा तिहारे समान सबै सुतौ सूधेई हेरनि मैं हरि है।
तुम्है भावते जानि मने को करै वह जादूगरी बनि कै करि है ॥

बोधाकृत माधवानल प्रबन्ध में कथा की भूमिका या पूर्ववृत्त के अन्तर्गत कृष्ण का जिक्र आता है, उसी प्रसग में उनके रूप का विस्तृत वर्णन कवि ने किया है। कवि कृष्ण के रूप के ब्यौरों के वर्णन मे प्रवृत्त हुआ है—कन्ठ, बाँहु, नख, हृदय-प्रदेश, कटि, नाभि, नितंब और पिंडली। इसी प्रकार से उनकी वेशभूषा के अतर्गत मुक्तामाल गुजमाल, पीताम्बर, पुष्पहार तथा अन्य आभूषण, चंदन के चित्रालेख, कछनी, किकणी, पाँवडी, लकुटी और मुरली। इस विस्तृत और सूक्ष्म विवरणात्मक चित्रण से कृष्ण का समग्रस्वरूप आपके सामने उपस्थित हो जाता है। परम्परागत उपमान विधान के सहारे किये जाने पर भी इस वर्णन मे समग्रता है और उसमे एक विशिष्टता है। उसमे बोधा की अपनी कल्पना और भावना सुरक्षित है। 'विरह-वारीश' प्रबन्ध का नायक माधवानल स्वतः अत्यन्त रूपवान है, वह जहाँ जाता है अपने रूप और बेश के कारण ही समादृत होता है। अनेक अवसरो पर कवि ने उसके रूप का वर्णन किया है। वह सौदर्य और लावर्ण्य से परिपूर्ण शृगार की मूर्ति ही जान पडता है, उसके रूप-वर्णन के साथ-साथ वेशभूषा का बर्णन कवि ने विशेष रूप से कियां है। महाराज गोविन्द चन्द कामसेन और विक्रमादित्य की राज सभाओ मे उसकी मूर्ति के पर्याप्त सरस चित्र खीचे गये है। उसका तेजस्वी और प्रभावशाली रूप राजा-प्रजा, नर-नारी सबको मुग्ध करने की क्षमता रखता था। लीलावती और कामकदला ऐसी रूपराशि स्त्रिआँ उसके प्रेम में पड कर बावली हो जाती है, यह भी उसके सौदर्य की ही महिमा है।

शृङ्गार का संयोग-पक्ष

बोधा के शृगार वर्णन मे परम्परा पालन नही। उसमे न रास के चित्र हैं यमुना-पुलिन और वृन्दावन कुन्जो एव ब्रज बीथियो के वे रमणीय प्रसग है जिनमे बार बार राधाकृष्ण और कृष्ण गोपियो का मिलन दिखाकर सयोग की अच्छी भूमिका प्रस्तुत की जाती है। बोधा लौकिक प्रेम के गायक थे, उन्होने अपने प्रेम को भक्ति का आवरण नही दिया है। उनकी वासना-परक प्रेम भावना का सकेत हम आरम्भ मे कर चुके है। बोधा ने निर्बंध पेम की वकालत की है। बोधा की गोपिका ने लोक बन्धन की शृखलाओ का विशृखल करने के ही उद्देश्य से यह सकल्प किया था—

> छांडि सखीन की सीख सबै कुलकानि निगोडी बहाइबे ही है।
> ह्वै फै लट्टू लपटाइ हिये हरि हाथ तें बंसी छुटाइबे ही है।
> बोधा जरैलुन के उपहास अगेजु कै कुंजनि जाइबे ही है।
> लाज सो काज कहा बनि है ब्रजराज सो काज बनाइबे ही है॥

इस निश्चय की ओर धीरे-धीरे अग्रसर होती हुई एक अन्य गोपिका के हृदय की अधीरता देखिये—वह कहती है कि निगोडी लाज का बन्धन मारे डाल रहा है, अपना नेह निभाने के लिए उस बन्धन को तोडना ही पडेगा। एक छद मे एक ऐसी प्रेमिका के मनोभावो का चित्रण हुआ है जो प्रेम तो करती है किंतु रात-दिन जिसके ऊपर घर वालो का पहरा रहता है, वह कहती है—

> खरी सासु घरी न छमा करिहै निसिबासर आसन ही मरबी।
> सदा भौहैं चढ़ाए रहै ननदी यों जिठानी की तीखी सुनै जरबी॥
> कवि बोधा न सग तिहारो चहैं यह नाहक नेह फंदा परबी।
> बड़ी आँखैं निहारी लगैं ये लला लगि जैहैं कहूँ तो कहा करबी॥

यह एक अतिशय मनोवैज्ञानिक चित्र है, अतस के भीतर पैठकर कवि ने गोपिका का स्वरूप देखा और दिखाया है। एक तरफ बरबस रीझना है दूसरी तरफ उससे मुक्ति पाने का प्रयत्न। वह विवेकमयी है, जानती है कि प्रेम के फन्दे मे पडने को तो पड़ सकती है पर उससे निर्वाह न हो सकेगा क्योकि इसपर कठोर नियन्त्रण है। वह विवेक की तुला पर तौल कर देख लेती है कि क्षणिक मानसिक सुख के लिए कोप और यत्रणा का अपार दु:ख नही सहा जा सकता इसी से वह विवेक बुद्धि से काम लेती है और कृष्ण से कह देती है 'कबि बोधा न सग तिहारो चहैं यह नाहक नेह फँदा परबी' फिर भी यह कौन कह सकता है कि उसकी ललक हमेशा के लिए समाप्त हो गई थी। लेकिन अधिकाश गोपियाँ ऐसी थी जो अपनी प्रेमोन्मत्त स्थिति में घर और बाहर का भेद नही करती, अपने सुख के आगे सुरेश का वैभव भी तुच्छ समझती हैं। प्रेम

के रग मे रंग जाने पर उन्हे कुल मर्यादा की परवाह नही रह जाती, वे तो बिना मद पिये ही मदमयी हो गई है – ब्रजराज को चाहि के आखिर या बिनही मद मतवारी भई।'

कुछ छदो मे बोधा ने अपने निजी प्रेम का भी वर्णन किया है। उन्होने अनेक बार सुभान के प्रति अपनी आसक्ति प्रकट की है—'बस मेरो कछू ना हुतो मन मैं बिन दख तुम्है मनु नानत ना।' गोपी कृष्ण प्रेम वर्णन द्वारा भी प्रायः उन्होने अपने ही हृदय का प्रेम अकित किया है। उनकी प्रेम कि अभिव्यक्ति किसी प्रचलित लीक को पकड कर नही हुई है, नायक-नायिका भेद की चाहारदीवारी मे उनका प्रेमी हृदय क्रीडा के लिए अनुकूल क्षेत्र नही पा सका है। उनकी वृत्ति की स्वच्छन्दता और अभिव्यक्ति की रीति निरपेक्षता देखनी हो तो इस छंद मे देखिये जिसमे उनके दिल की पुकार है और अतःकरण की अभिलाषा—

> प्रेम की पाती प्रतीति कुडी दृढ़ताई के घोटन घोटि बनावै।
> मैन मजेजन म्यों रगरै चित चाह को पानी घनो सरसावै॥
> बोधा कटाच्छन की मिरचैं दिल साफी सनेह कटोरे हिलावै।
> मो दिल होइ खुसी तबही जब रंग मैं भावती भंग पिआवै॥

रीति-मुक्ति का इससे बढकर दृष्टान्त दूसरा न मिलेगा, कैसी निर्बन्ध और उन्मद भाव तरग है! क्या तबियत पाई थी बोधा ने और कहने का कैसा अनूठा ढग उन्होंने निकाला है। बहुत से रूपक बाँधे गए पर हृदय के मुक्त उल्लास से बँधे इस 'भग के रूपक' की बात ही कुछ और है। अभिव्यक्ति का ऐसा रूपकाश्रित कौशल हृदय की इतनी सवेदना के साथ ढूँढने पर भी न मिलेगा।

संभोग के जैसे नग्न चित्र बोधा ने अकित किये हैं वैसे स्वछंद धारा तो क्या समूचे हिन्दी साहित्य मे शायद ही किसी कवि ने अङ्कित किये हो। इस दृष्टि से उनके 'बिरह वारीश' मे आए हुए ऐन्द्रिक सभोग के वे चित्र देखने योग्य है जिनमें माधव-लीलावती तथा माधव-कदला की काम-केलि का वर्णन हुआ है (देखिये तरंग संख्या ७,१५,१६ और २५)।

वियोग पक्ष

बोधा के काव्य मे वर्णित प्रेम आरोपित अथवा भावित नही, वह बहुत कुछ घनआनंद के ही समान व्यक्तिगत प्रेम का प्रकाशन है और उसमे भी विरह का तत्व प्रधान है। लोक मे यह प्रसिद्ध ही है कि बोधा एक आशिक मिजाज जीव थे और पन्ना दरबार की वेश्या सुभान से इनका इश्क हो गया था। इसी के विरह में इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'इश्कनामा' और 'विरह वारीश' लिखे गए थे। सुभान के विरह मे अपनी अतर्दशा का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं कि विरह की वेदना मन ही मन

सहनी पडती है, उस अथाह पीडा को कोई बाँट नही सकता । मन जोगी की तरह भाँवरें देता फिरता है, मुँह से कुछ बोलते नही बनता, आँखो से देखते नही बनता और चेहरे पर हँसी नही आती । ठीक भी है जिस सुभान की आँखे हृदय मे शल्य की तरह धँसी हुई हो उन्हे चैन पड भी कैसे सकता है । बोधा कहते है कि सुभान के लिए हमारे हृदय मे जो प्रेम-वेदना है उसे कोई क्या जाने ! 'पीर हमारी दिलन्दर की हम जानत है वह जानत हारी' उसे हम जानते है या वह जानती है । हाँ यदि किसी ने ऐसी प्रणय की वेदना झेली हो तो वह भी उसे जान सकता है । इस प्राणान्तके पीडा से जीव रक्षा और कोई नही कर सकता, एक सुभान ही इस मर्मान्तिक वेदना की सजीवनी जडी है—'जाते मिटै यह पीर सरीर की है वह मूरि सजीवन सोई ।' बोधा के प्रेम मे उतनी विषमता न थी जितनी घनआनद मे । सुभान के मन मे भी बोधा के लिए पर्याप्त स्थान था, वह उनसे पूर्ण सहानुभूति रखती थी किन्तु कदाचित पन्ना नरेश की इच्छा ही उसके मार्ग की बाधा थी जिसके कारण वह बोधा का साथ न दे सकी । उसकी इस विवशता को बोधा ने भी सही-सही ढग से समझा था और तभी वे लौट कर पन्ना दरबार मे आये भी । उन्हे सुभान के प्रेम पर जरूर विश्वास रहा होगा तभी वे यह कह सके है कि हमारे दिल के अंदर की पीर या तो हम जानते है या वह सुभान ।

सुभान के प्रति बोधा की इतनी आसक्ति यो ही नही थी । वह अत्यत रूपवती थी, उसके ऊपर बोधा सब कुछ निसार करने को तैयार थे । यही कारण है कि उससे वियुक्त होने पर वे अधीर हो उठे । लोगो ने उन्हे बहुत समझाया पर किसी को इनकी वास्तविक अतर्व्यथा का क्या पता हो सकता था । सुजान की प्रेमभरी वह चितवन जो इनके चित्त मे चुभ गई थी उसकी शक्ति, उसके प्रभाव और उसके मूल्य को इनका चित्त ही समझ सकता था । बोधा की विरह पीर की सघनता का यही कारण था कि वे सहृदय और प्रेमी जीव थे तथा सुभान की खूबसूरती पर दिलोजान से फिदा थे । कभी-कभी वियोग दशा मे बोधा ने पुरानी स्मृतियो को जगाया है—नेबारी के फूलो का फूलना और लताबेलो का लहलहाना 'अरवती' त्यौहार का मनाया जाना आदि ।

अपनी विरह व्यथा का निवेदन बोधा ने गोपियो के माध्यम से भी किया है जिसका कारण मुख्यत: परम्परागत काव्य ही है, फिर व्यक्तिगत प्रेम के प्रकाशन की परम्परा भी ठीक से विकसित न हो पाई थी । फलस्वरूप बोधा ने कुछ छन्दो मे अपनी व्यथाभिव्यक्ति का माध्यम गोपियो को बना लिया है पर ऐसे छद भी बोधा की निजी विरह वेदना के कारण रीतिकालीन विरह वर्णनात्मक छन्दो से पृथक दिखाई देते है । कभी गोपियाँ गाँव के देवताओ का ध्यान करती है, उन्हे मनाती है और उनके पैर पडती है । उनसे वे प्रियतम को अंक में भरने की अभिलाषा व्यक्त करती है और अपनी विवशता भी सूचित करती है—

नित गाउँ के नेह के देवता ध्याय मनाय भली बिधि पाउँ परौं।
तिन सों धुनि या बिनती बिनवौ निरसंक ह्वै भाव तो अंक भरौं।
यह चाव न बोधा टरै कबहूँ यह पीर ते बीर दिवानी फिरौं।
परवाह हमारी न जानै कछू मन जाय लग्यौ कहु कैसे करौं।।

अनेक स्थलों पर बोधा ने विरह वेदना के उद्दीप्त स्वरूप का भी चित्रण किया है जहाँ क्रमिक रूप से ऋतुओ के आने तथा प्रकृति मे परिवर्तन होने के कारण विरहिणी की उत्तरोत्तर बढती हुई विकलता का स्वरूप देखा जा सकता है। पावस की श्याम घटाएँ घुमड़ आती है, चित्त अधीर हो उठता है और विरहाग्नि धधक उठती है—

रितु पावस स्याम घटा उनई लखि कै मन धीर धिरातो नही।
पुनि दादुर मोर पपीहन की सुनि कै धुनि चित्त थिरातो नही।
जबसे बिछुरे कवि बाधा हितू तब ते उर दाह थिरातो नही।
हम कौन सों पीर कहै अपनी दिलदार तौ कोऊ दिखातो नही।।

कोई-कोई गोपिका तो वर्षा की काली घटाओ को देखकर मूर्च्छित हो जाती है, कितने उपाय कर-करके हकीम और वैद्य थक जाते है पर वह धैर्य धारण नही कर पाती। दक्षिण दिशा से उठ कर उमडी हुई काली घटाओ को देख उसका हृदय जल कर काला हुआ चाहता है, उसी समय करका पात होता है और वह प्रेमाधिक्य एव वियोग वश मूर्च्छित हो जाती है। कितने ही वैद्य आ-आकर उपचार करते है पर वह धैर्य नही धारण कर पाती। उसकी बेकली मिटती नही और उसकी पीडा को जान सकने वाला भी नही मिलता, प्रियतम के प्रवासी होने के कारण विरहिणी भयकर विरहाग्नि मे जल रही है, वर्षा की अँधेरी रात मे केकी (मयूरी) का कलाप सुन कर उसका हृदय हहर उठता है। अपने प्रिय को स्मरण करता हुआ पपीहा भी शोर मचा रहा है और बेचारी विरहिणी का हृदय इन सब के शोर से आधी रात मे मग्न हुआ जा रहा है। वह कहती है—'तू अपने पिय को सुमिरै सुमिरै हम तेरी जुबान की दापन' पपीहे की तो यह आदत ही पडी हुई है, वह आधी रात 'पी-पी' की रट लगाता है। गोपियाँ कहती है कि उसे अपने ही सुख की पडी है, वह हमारी व्यथा नही देखता, यह नही देखता कि जिस मेघ को देखकर उसके मुरझाये प्राण हरे हो जाते है वही मेघ हमारे हृदय को कितना दग्ध करता है—

पिय प्यारे की बानि पपीहै परी, अधराति कुलाहल गावतु है।
कलकानि न बोधा हमारी लखै, इन्हें आपनोई सुख भावतु है।।

कुछ छंदो मे वसत ऋतु की भी विरह विभावनी शक्ति का भी वर्णन किया गया है—कोयले अमराइयो मे शोर मचा रही है, उनकी टर्र-टर्र क्या अच्छी लगती है? वनो पलाशो के झुँड के झुँड इतरा रहे है, उन्हे देखकर क्या मन को सुख और

धीरज मिलता है ? मनोज के सतापा मे विरहिन का तन रुई की तरह दग्ध हो रहा है। जब कन्त ही नही तो फिर बसन्त के वैभव को लेकर हमे क्या करना—'घर कत नही बिरतन भट्टू अब कै धौ बसत कहा करि है।' वसत मे विरहिणी अधिक कामदग्ध दिखलाई गई है, आम कोयल और पलाश के सहारे वसत का वातावरण प्रस्तुत करते हुए उनकी उद्दीपक शक्ति का बखान किया गया है। विरहिणी कहती है कि हे कोयल! नेह मे भर कर तू कूक मत। तेरी कूक विरहिन की दुर्बल काया को बेध देती है—

(क) क्वैलिया तेरी कुठार सी बान लगे पर कौन को धीरज रहै।
याते मैं तोसो करौं बिनती कवि बोधा तुही फिरि कैं पछितैहै।
स्वारथ औ परमारथ को गथ तेरे कछू मुनु हाथ न ऐहै।
ठौर कुठौर बियोगिनि के कहूँ दूबरी देहन मैं लगि जैहै।।

कोयल का कूकना विरहिणी को ऐसा लगता है जैसे कोई आग जलाकर शरीर से उसका स्पर्श कराए दे रहा हो। प्रकृति और उसके नाना उपकरण—वर्षा, मेघ, दादुर, मोर, पपीहे, वसत, पलाशवन, आम्रतरु और कोयल ये सब विरहिणी का विरह बढ़ाते है, उनके धैर्य की निर्बल रज्जु को क्षीण से क्षीणतर करते हुए काट देते हैं और वह बेसहारा हो जाती है। उनके प्राणो का स्पन्दन तीव्र हो जाता है, कभी वे कोसती है कभी मूर्च्छित होती हैं कभी काम-दग्ध। इन विरहोत्तेजक प्राकृतिक उपकरणो से उनका मन मथित हो उठता है और उनके अतस मे मन्मथ प्रबल हो जाता है। यदि बोधा परपरा की लीक पीटने वाले कवि होते तो वे छओ ऋतुओ का वर्णन अवश्य करते। प्रेम का वास्तविक आनद विरह मे है, विरह मे ही प्रेम परिपक्व होता है और निखार पाता है इस तत्व से बोधा पूर्णतः अभिज्ञ थे। वे स्वय छः महीने या एक वर्ष की वियोगाग्नि मे तपे थे इसी कारण उनके काव्य मे विरह का वर्णन विस्तार से हुआ है। 'विरह-वारीश' नामक प्रबन्ध तो वियोग भावना की ही सृष्टि है। उसमे अकित विशद विरह भावना पर कुछ कहना प्रस्तुत सीमा मे सभव नही इसलिए फिर कभी।

विरह-वारीश

'विरह-वारीश' या 'माधवानल कामकदला चरित्र भाषा' के आरभ मे कवि ने गणेश, श्रीकृष्ण, शिव और सूर्य की वदना की है तथा कथावस्तु का निर्देश किया है। स्वयं कवि के कथनानुसार यह रचना कवि ने अपनी 'सुभान' की स्मृति मे ऊबडूब होते हुए विरह की महादशा मे लिपिबद्ध की है। इसी कारण इसमे शैथिल्य भी मिलेगा और विशेष अर्थवत्ता भी न मिलेगी परतु फिर भी जो सज्जन होगे वे इसे पढकर अवश्य सुख पाएँगे। बोधा ने अपने आश्रयदाता पन्ना-नरेश महाराज खेतसिह का और अपनी निजी प्रीति का सक्षिप्त परिचय एव वृत्त प्रस्तुत करते हुए कहा है कि

इस प्रबध की रचना के पीछे उनकी प्रेमिका सुभान की प्रेरणा थी। रचना सवाद या प्रश्नोत्तर शैली मे लिखी गई है जिसमे प्रेम को लेकर सुभान नाना प्रश्न करती है और माधव उत्तर देते है। इसके बाद उसकी समस्त जिज्ञासाओं के समाधान के लिए वे माधव और कदला नामक प्रसिद्ध प्रेमी युगल की परम्परा-प्राप्त कथा का विस्तृत वर्णन करते है।

कथा के प्रमुख पात्रो माधव, कामकंदला और लीलावती के पूर्व जन्म का वृत्त प्रस्तुत करते हुए कवि पुहुपावती नगरी से कथा का प्रारभ करता है। माधव और लीलावती का शम्भुवाटिका मे प्रथम मिलन और विष्णुदास पडित का पाठशाला मे सहाध्ययन और साहचर्य प्रणय मे परिणत हो जाता है। वे गुप्त रूप से मिलने और प्रेमक्रीडा करने लगते है। तरुण माधव का कामदेव-सा रूप समस्त पुरनारियो को मोहित कर लेता है जिसके परिणाम स्वरूप लोकमत माधव के विरुद्ध हो जाता है और उसे पुहुपावती नगरी छोडना पडती है। लीलावती के विरह मे जगल-जगल भटकता हुआ माधव बाधवगढ और कामदगिरि पहुँचता है। वृक्षो और वनस्पतियो तथा पशु-पक्षियो से अपनी विरह-व्यथा कहता हुआ माधव कामावती नगरी पहुँचता है। बाँधोगढ मे ही एक सुवा उसका हितैषी और सहायक होकर उसका साथ देता है। कामावती के नागरिक उसके रूप गुण के कारण उसका सम्मान करते हैं और एक बरई (तमोली) उसे अपना मित्र और अतिथि भी बना लेता है। अपने संगीत कला नैपुण्य के कारण वह राजसभा मे सम्मानित होता है, वही कदला नाम की नर्तकी से भी उसका प्रेम हो जाता है परन्तु वह राजा कामसेन और उसकी सभा को कला के परखने मे मूर्ख और अज्ञ बतलाने के अपराध मे कामावती से भी निष्कासित कर दिया जाता है। निष्कासित होने के बाद भी कदला उसे बारह दिन तक अपने भवन मे रोक रखती है जहाँ नाद-विद्या के आदान-प्रदान के साथ-साथ दोनो रतिक्रीडा में अहर्निश निमग्न रहते है। अत मे एक दिन माधव कंदला के भवन मे एक पत्र छोडकर और अपने बरई मित्र से आज्ञा लेकर कामावती से बिदा हो जाता है और अपना दुख उस सुवे पर प्रकट करता हुआ वह फिर दर-दर कदला के विरह मे भटकता हुआ उज्जैन पहुँचता है जहाँ महेशमठ के समीप मृगचर्म पडा देख उसे कदला की उन्मादकारिणी स्मृति हो आती है। उसकी पीडा को कम करने के लिए सुवा कंदला के पास जाता है, उसे माधव का सदेश देकर उसका कुशल समाचार ले आता है। इधर माधव की विरह-व्यथा की गाथा सुनकर उज्जयिनी नरेश विक्रम सेना लेकर कामावती नगरी की ओर चल पडते है। नर्तकी कंदला के प्रेम की परीक्षा लेने के लिए जब राजा विक्रम झूठ ही विरही माधव की मृत्यु का समाचार सुनाते हैं तो कन्दला प्राण त्याग देती है और कन्दला की मृत्यु की सूचना पाकर उधर माधव भी

मर जाता हे। पश्चाताप विगलित विक्रम जीते जी जल मरने के लिए चिता तैयार करता हे। स्वर्ग क देवता भी इस दारुण दृश्य को देख नही सकते और यम-प्रेरित बैताल द्वारा लाए गए दो बूँद अमृत से माधव और कदला पुर्नजीवित हो जाते हैं। इसके बाद विक्रम बैताल के द्वारा काममेन के पास कदला को समर्पित करने का प्रस्ताव भेजते हैं परन्तु कामसेन कदला को समर्पित करने की अपेक्षा युद्ध करना स्वीकार करता हे। दिन भर के युद्ध के बाद भी जय-पराजय का निश्चय न हो सकने के कारण विक्रम और कामसेन के पक्ष के असाधारण वीर योद्धाओ रनजोर और मैढामल्ल के बीच युद्ध होता है। विकट युद्ध के पश्चात् विक्रम के पक्ष का वीर विजयी होता है और कामसेन पूर्ण सद्भाव तथा आदर-सत्कार के साथ कदला को समर्पित कर देते है। अब माधव सुखपूर्वक भोग करता हुआ कदला के साथ रहने लगता है। उधर वर्ष भर से अधिक लीलावती माधव के वियोग मे तडपती रहती है। इधर एक दिन स्वप्न मे लीलावती को देख माधव भी विकल हो उठता है। कंदला अपने प्राणप्रिय का दु.ख दूर करने के लिए राजा विक्रम और कामसेन की सहायता उपलब्ध करती है तथा पुहुपावती-नरेश गोविद चद भी माधव का स्वागत करते हैं। माधव और लीलावती का विवाह-मोत्साह सपन्न होता है तथा लीलावती और कामकदला मुखपूर्वक माधव के साथ रहने लगती है।

उक्त कथा शतशत रोचक प्रसंगो, विवरणो और वर्णनों के साथ विस्तार-पूर्वक बोधा के द्वारा अत्यत सरस रीति से कही गई है। 'विरह-वारीश' की कथा का आधार 'सिहासन द्वात्रिंशत्-का' की २१वी कहानी है।जसे अनुराधवती नाम की एक पुतली सुनाती है। इस ओर स्वय बोधा ने ही दूसरे तरग मे सकेत किया है। बोधा का प्रबध उक्त कथा का उल्थामात्र नही है, उसमे बोधा कवि की निजी भावना और कल्पना का योग पर्याप्त है। नख-शिख, बारहमासा, विरह, युद्ध, राग-रागिनी और नृत्य आदि के वर्णन तथा अनेकानेक छोटे-छोटे प्रसग कवि की मौलिक प्रतिभा के परिचायक है और कथा-कथन की शैली, सवाद आदि मे भी बोधा का स्वतत्र कृतित्व देखा जा सकना है। माधवानल की कथा ऐसी है कि जिसे कहने मे बोधा को अपने हृदय की प्रेमव्यथा का प्रगाढ रग घोलने का पूरा अवसर मिला है। इस प्रबध की विशदता, वस्तु-विस्तार, वर्णनाधिक्य आदि को देखकर इसे महत्प्रयत्न कहने मे कोई बाधा नही है। सगीतशास्त्र, काव्यशास्त्र, लोक ज्ञान आदि संबधिना कवि की विस्तृत जानकारी तथा नाना परिस्थितियो और घटनाओं की विनियोजना के कारण प्रस्तुत प्रबंध सभी दृष्टियों से पर्याप्त उत्कर्षपूर्ण बन पडा है।

प्रेमी और प्रेमिका बोधा और सुभान की प्रश्नोत्तरी के रूप मे यह प्रबध लिखा गया है परन्तु कथा-कथन की संवाद या प्रश्नोत्तर शैली का निर्वाह ठीक रूप से आद्यन्त नही हो सका है क्योंकि बीच-बीच में केवल एकाध बार ही सुभान कुछ पूछती

है और बोधा उसका समाधान करके आगे बढ जाते है। बोधा की इस प्रेम-कथा को सूफी प्रेमाख्यानक काव्यो की कोटि मे नही रक्खा जा सकता क्योकि एक तो यह प्रेमोन्माद की व्यंजना का लक्ष्य लेकर चलनेवाली लौकिक गाथा है जिसका कोई अलौकिक या आध्यात्मिक अभिप्राय नही, कथागत लौकिक प्रेम व्यजना को रहस्य (mystify) नही किया गया है और न प्रेम की कथा को किसी रूपक (Allegory) मे अध्यवसित ही किया गया है दूसरे इसकी कथा के आरभ का ढग भी सूफियाना नही है जिसमे मुहम्मद साहब की स्तुति, शाहेवक्त की प्रशसा आदि की गई हो। तीसरी बात यह है कि सूफी प्रेमाख्यान मात्र दोहा चौपाई छदो मे लिखे गए है जब कि बोधा के प्रबध मे छदो की इतनी विविधता है कि यह प्रेमगाथा दोहा चौपाई छंद प्रधान होते हुए भी शैली की दृष्टि से एकदम नवीन हो उठी है। इस प्रेम-कथा मे प्रेम और जीवन की भारतीय मर्यादाएँ पूर्णतः सुरक्षित है। काव्य मे वर्णित प्रेम सम या उभयपक्षीय है, एक पक्षीय नही—जितनी तडप माधव मे कंदला या लीलावती के प्रति है उतनी ही तडप कदला और लीलावती मे भी माधव के लिए दिखलाई गई है। इसी प्रकार प्रेम के वीभत्स और रक्त प्राण चित्रो की विशेषतः विरह प्रसगो मे एकान्त कमी मिलेगी। इस प्रकार इस काव्य का वातावरण, प्रेम पद्धति आदि सब कुछ भारतीय ही है। प्रभाव की बात मैं नही कहता। सूफी कवियो और फारसी-शायरो का थोडा प्रभाव अवश्य है।

बोधा के प्रबध की कथावस्तु ऋजु एव सरल है। कथा-नायक माधव के साथ-साथ कथा भी घूमती है। माधव जिधर-जिधर मुडता है उधर ही उधर कथा की धारा भी मुडती है। माधव के प्रणय सबध से ही कथा का प्रारभ होता है और इसी से अत भी। प्रणय-सबधो की सफलता मे जो बाधाएँ पडती है वे ही सघर्ष की स्थितियाँ है—ऐसी स्थितियाँ कितनी ही बार आती है। जब माधव का प्रेम लीलावती से स्थापित हो जाता है तो पुष्पावती नगरी के राजा गोविन्दचद का मन्त्री रघुदत्त और प्रजा माधव का विरोध करती है जिसका परिणाम होता है माधव का नगर-निष्कासन। स्थान-स्थान पर भटकता हुआ माधव जब कामावती पहुँचता है और कामसेन की सभा मे नर्तकी कदला के रूप और नृत्य पर मुग्ध होता है तथा अपने सगीत से कदला को विमुग्ध और कामार्त्त बना देता है तो उसे राजा कामसेन का कोप सहना पडता है और कामावती नगरी से भी उसे निष्कासन दड भुगतना पडता है। यह उसके जीवन का दूसरा प्रणय सबध है और इसकी पूर्ति मे भी असाधारण बाधाएँ सहनी पडती है। भटकते-भटकते वह उज्जैन पहुँचता है, वहाँ भी थोडी बहुत बाधाएँ आती ही है जैसे विक्रम द्वारा उसके प्रेम की परीक्षा आदि। यही से उन प्रयत्नो का आरभ होता है जिससे कथावस्तु की सुखान्तता का आभास मिलने लगता

है । चौथी और सबसे बड़ी बाधा है कामावती का राजा कामसेन जो स्वाभिमानी है और कदला को सहज अर्पित करने वाला नही । कामसेन और विक्रम की सेनाओ मे युद्ध होता है, दोनो पराक्रमी है—यही पर उत्सुकता अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है । नही कहा जा सकता कि कौन विजयी होगा । दोनो दलो के दो वीरो के युद्ध मे ही माधव की सफलता-असफलता का निश्चय निहित रहता है । मैढामल्ल और रनजोर के द्वंद्वयुद्ध मे, उनके घात-प्रतिघात मे कथावस्तु अपनी चरम सीमा पर जा पहुँचती है । रनजोर की विजय से माधव की सफलता निश्चित हो जाती है । कदला उसे प्राप्त होती है । यह कदला प्रणय-प्रसग इतने मनोयोग और विस्तारपूर्वक लिखा गया है कि पाठक लीलावती को भूलने-सा लगता है किन्तु कवि की ओर से चूक नही होती । कदला के साथ सुख-भोग करते हुए माधव को लीलावती का स्मरण आता है । कदला अपने प्रियतम के सुख को अपना सुख मानती है, उसे लीलावती के सौभाग्य से ईर्ष्या नही होती । वह भी एक बाधा सी पाठक को अनुमित होती है परन्तु काव्य पाठक आश्चर्यान्वित हो यह देखता रह जाता है कि किस प्रकार कदला स्वत: लीलावती की प्राप्ति के लिए उद्यमशील होती है । वह राजा विक्रम को प्रेरित करती है, विक्रम, कामसेन और दोनों राज्यो की सेनासहित पुष्पावती को प्रस्थान करते है । राजा गोविन्दचन्द उभय राजाओ का सहर्ष स्वागत करते है । माधव अपने माता-पिता से मिलकर उन्हें हर्ष पहुँचाता है । कदला का भी उसके घर मे सम्मानपूर्ण स्वागत होता है । गोविन्दचद की अनुमति से मत्री रघुदत्त अपनी कन्या का पाणि-ग्रहण माधव से करा देता है । वैवाहिक धूमधाम के बीच की सुखद समाप्ति होती है । संयोग का भी इस काव्य की कथावस्तु मे एक महत्वपूर्ण स्थान रहा है । उधर लीला-वती बेचैन होती है इधर माधव को सपना आता है और वह लीलावती के विरह मे व्यग्र और विक्षिप्त हो उठता है । लीलावती की प्राप्ति के लिए यही बात एक प्रबल हेतु हो जाती है और इसी से माधव कंदला के मिलन-सुख के अनतर भी कथा समाप्त न होकर आगे बढती है और लीलावती की प्राप्ति के बाद इस प्रेम-कथा का वृत्त पूरा हो जाता है ।

माधवानल प्रबंध मे आधुनिक दृष्टि से अनेक अस्वाभाविकताएँ और अयथार्थ-ताएँ है जो पाठक को खटके बिना न रहेगी । काव्य को रमणीय बनाने के लिए कवि ने स्थान-स्थान पर वर्णनों का सुन्दर सयोजन किया है यथा नगरो का वर्णन, कामदगिरि, मदाकिनी आदि के वर्णन संदर्भ मे प्राकृतिक शोभा का विवरण, माधव-लीला-काम कंदला आदि के रूप सौन्दर्य का वर्णन, कदला के सगीत-नृत्य आदि का मनोग्राही वर्णन तथा युद्ध की घटना का साक्षात् प्रत्यक्षीकरण आदि । प्रबध के अत में हिन्दू संस्कारो के अनुकूल वैवाहिक कार्यक्रमो का विधिवत ब्यौरावार वर्णन भी देखने योग्य है । कथा के बीच-बीच में यथास्थान रोचक एवं रमणीय सवादो की भी

विनियोजना मिलेगी यथा माधव-कामसेन सवाद, माधव-विक्रम-संवाद, विक्रम-कंदला सवाद, मैढामल्ल-रनजोर सवाद आदि। ये सवाद काव्यगत पात्रो के चारित्रिक वैशिष्ट्य के प्रकाशन मे, प्रसगो और परिस्थितियो के प्रभाव को तीव्र करने मे एवं मानव हृदय की नाना वृत्तियो एव भावनाओ की प्रखर व्यंजना करने मे अतिशय सहायक हुए है।

माधव-कन्दला की प्रेम कथा बडी मार्मिक है क्योकि इसमे उन दोनो के प्रेम का निश्छल प्रकाशन हुआ है। इसमे उल्लासजनित सयोग और अतिशय प्रेमजन्य विरह व्यथा की ऐसी तीव्र अनुभूतियाँ अकित है जिन्हें पढकर हृदय एक ओर प्रेमोन्मत्त हो उठता है तो दूसरी ओर विरहकातर। कभी प्रिय और प्रिया के भेजे गए पत्रो मे, कभी मेघ या सुवा द्वारा भेजे गए सदेशो मे उनका हृदय ही प्रत्यक्ष लक्षित होता है विशेष कर वेदना-व्यजक प्रसंगो मे यथा ऋतुकृत उद्दीपन, प्रकृतिजन्य पीडा, स्मृतिजनित कातरता आदि अवसरों पर हृदय को हृदय की पहचान मिलती है। इस प्रकार पूरा काव्य ही विरह की आवेगपूर्ण भावनाओ से ओतप्रोत है।

अब प्रश्न रह जाता है प्रस्तुत रचना की काव्य कोटि का। हम महाकाव्य इसे कह नही सकते क्योकि इसका उद्देश्य कुछ बहुत महत् नही और न व्यापक और विशाल इसकी आधार-भूमि ही है, चरित्रो मे भी विशाल जगत और जीवन को प्रभावित कर समुन्नत करने की क्षमता नही और इसे खण्डकाव्य कहना भी उचित नही क्योकि यह किसी के जीवन का खड चित्र नही प्रस्तुत करता और न अधिक सकीर्ण सीमा मे लिखा ही गया है। दीर्घकाल तक इसकी कथा का प्रसार है और पात्रो के जीवन वृत्त भी कुछ विस्तृत हैं तथा रचना शैली मे वर्णनप्रियता और महाकाव्योचित विस्तार भी है। कथा भी खडकाव्य के लिए अपेक्षित कथा से पर्याप्त वृहद है और कथा का ट्रीटमेण्ट, उसका विधान खण्डकाव्य से कही अधिक बडे पैमाने पर हुआ है, ऐसी दशा मे इसे हम महाकाव्य और खण्डकाव्य के बीच की रचना 'एकार्थ काव्य या प्रबधकाव्य' कहेगे जिसमें किसी एक उद्देश्य विशेष को लेकर विस्तृत कथा का बधान किया जाता है। कथा के बधान मे तो महाकाव्यात्मकता है अर्थात चरित्रो पर विशद रूप से प्रकाश डाला गया है, वर्णन-सवाद आदि की बहुलता है तथा भावो का सूक्ष्म और विस्तृत प्रकाशन है किन्तु उद्देश्य मे खण्डकाव्य जैसी सकीर्णता है।

ठाकुर

ठाकुर नामधारी अनेक कवियो के बीच जैतपुर निवासी जाति के कायस्थ बुन्देलखण्डी ठाकुर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये प्रेम के उन्मुक्त गायक हो गए हैं तथा स्वच्छन्द शैली की प्रेमवर्णना इनके काव्य की सर्वप्रमुख विशेषता है।

आचार्यप्रवर लाला भगवानदीन ने बहुत पहिले सन् १६ ६ मे बडे श्रम और खोज के साथ इन्ही ठाकुर के १६२ मुक्तक छदो का सग्रह 'ठाकुर ठसक' प्रकाशित किया था जिसके आधार पर ही हमे इन ठाकुर कवि का कुछ परिचय मिलता है। ठाकुर नाम से प्रसिद्ध अनेक कवियो की रचनाएँ आपस मे इतनी समान है कि आज उन्हें निर्भ्रान्त रूप से पृथक पृथक घोषित कर सकना असभव ही हो गया है ।

ठाकुर का व्यक्तित्व

लाला भगवानदीन जी द्वारा प्रस्तुत वृत्त के अनुसार ठाकुर के पूर्वज उच्च राजकीय ओहदो के अधिकारी होते आए थे। ओरछे मे स० १८२३ विक्रमी मे इनका जन्म हुआ तथा पुराने ढग से ही ठाकुर को विद्याभ्यास कराया गया। इन्हे गणित मे लीलावती तथा कविता मे अनेकार्थ-नाम-माला, मान मजरी, कविप्रिया, रामचद्रिका आदि पढ़ाए गए। बौद्धिक विकास की दृष्टि से इन्होने कुछ पुराणो के भाषानुवाद भी पढे और थोड़ी सस्कृत भी सीखी। कालातर मे इनके कुल के लोग बुन्देलखण्ड के अतर्गत जैतपुर (बिजावर राज्य) मे बस गए। ठाकुर के किशोर एवं क्रमशः तरुण होते हुए व्यक्तित्व पर बुन्देलखण्ड की काव्य प्रेरणा प्रदायिनी दृश्यमाला का प्रभाव पडा होगा तथा बुन्देलखण्ड मे परपरागत रीति से व्याप्त काव्यप्रेम की भी प्रेरणा रही होगी। काव्य रचना मे प्रवीणता प्राप्त कर ये जैतपुर नरेश केशरीसिह के आश्रित कवि हो गए तथा बिजावर राज से भी इन्हे पर्याप्त दान-सम्मान मिला। केशरी सिंह की मृत्यु के अनतर ये राजा परीक्षित के भी राजकवि रहे। राजकवि की हैसियत से ये अन्य राजदरबारो मे भी जाया करते थे। बाँदा नरेश हिम्मत बहादुर सिह ठाकुर की कविता का बडा आदर करते थे और कभी-कभी वे विनोद मे ठाकुर और पद्माकर की मुठभेड करा दिया करते थे। एक बार पद्माकर के आश्रयदाता हिम्मत बहादुर ने पद्माकर को छेडते हुए कहा—'पद्माकर जी, कहिये ठाकुर की कविता कैसी होती है ?' पद्माकर ने ईर्ष्यालु भाव से कहा— ठाकुर की कविता तो अच्छी होती है परन्तु उनके चरण जरा हलके होत है।' इस पर ठाकुर ने तुरत ही जवाब दिया—'हाँ! इसी से तो हमारी कविता उडी-उडी फिरती है।' ठाकुर की वाक्पटुता, प्रत्युत्पन्नमतित्व, दूरदर्शिता, साहस, स्वाभिमान आदि से सबधित अनेक किवदतियाँ है। एक बार इन्ही हिम्मत बहादुर द्वारा अपने आश्रयदाता तथा स्वयं अपने प्रति उनके अपमानजनक शब्द सुनकर ठाकुर आगबबूला हो गए थे। तथा उन्होने अपनी तलवार म्यान से खीच ली थी। उस समय उन्होंने अपने भाव जिस रूप मे व्यक्त किये वे अधोलिखित छद में दर्ज हैं—

सेवक सिपाही हम उन रजपूतन के
दान युद्ध जुरिबे में नेकु जे न मुरके।
नीति देन वारे हैं मही के महिपालन को,
कवि उनहीं के जे सनेही साँचे उर के।
ठाकुर कहत हम बैरी बेवकूफन के,
जालिम दमाद हैं अदानियाँ ससुर के।
चोजन के चोर रस मौजन के पातसाह,
ठाकुर कहावत पै चाकर चतुर के।।

ठाकुर ने एक ओर जहाँ अपने आश्रयदाता के लिए चेतावनी भरे छंद लिखे वहीं उन्होंने अन्य राज्यों के कलहपूर्ण वातावरण के प्रति भी विषाद व्यक्त किया है। इस सबके साथ ही साथ ठाकुर की प्रेम-प्रवणता और रसिकतासूचक अनेक छंद भी मिलते है जिनसे उनके व्यक्तित्व पर प्रकाश पडता है। पन्ना नरेश महाराज किशोर सिंह के राजदरबार मे फैले हुए स्वार्थ और कलह के वातावरण को लक्ष्य कर उन्होने यह सवैया उनके दरबार मे पढा था—

वे परबीन बिचच्छन लोग बने पै समय कछु आन भयो री।
चीखे सवाद जहाँ अति मीठे सो सीख स्वभाव नयेई नये री।
ठाकुर कौन सो का कहिए अब तो चित चाहबे वे समये री।
वे दिन वे सुख वैसे उदराह सो वे सब बीर हेराय गये री।।

आगे ठाकुर को जब यह पता चला कि इन्ही महाराज की नवोढा वधू महाराज से एकात मे भी अत्यधिक लज्जा करती है और अवगुठन नही हटाती तो ठाकुर ने तुरत ही एक सवैया रचकर महाराज को दिया और अपनी रानी के समक्ष सुनने को कहा। सवैया इस प्रकार था—

यों तरसाइबो कौने बदो मन तो मिलिगो पै मिलै जल जैसो।
कौन दुराव रहो उन सों जिनके संग साथ करौ सुख ऐसो।
ठाकुर या निरधार सुनौ तुम्हे कौन सुभाव परी है अनैसो।
प्राणप्रिया घट में बसि कै हँसि कै फिर घूँघट घालिगो कैसो।।

कहा जाता है कि इस छद ने महारानी के लिए अच्छे नुस्खे का काम दिया तथा खुश होकर उसने भी इन्हे अच्छा इनाम दिया। इसी प्रकार और भी किंवदतियाँ चलती है—कभी ये किसी रूपवती सुनारिन के रूप के पीछे दीवाने हो घूमते रहे और उसके लिए कविताएँ भी लिखा करते थे, कभी किसी दुःशील स्त्री को इन्होंने कविता मे ही फटकार भी बतलाई थी। जैतपुर नरेश महाराज पारीक्षित सायंकाल एक स्थान पर आ बैठते और वही उनके अतरग लोग भी आ जमते। ठाकुर भी उस गोष्ठी मे भाग

लेते । उस रास्ते से प्रसिदिन एक रूपवती किन्तु सुशील श्रेष्ठो वधू आया-जाया करती, वह घूँघट काढकर नित्य उसी राह जाती और भूलकर भी किसी की ओर न देखती। एक दिन एक व्यक्ति ने हंसी ही हँसी मे कहा—ठाकुर ! यदि इस युवती की दृष्टि तुम अपनी कविता से हम लोगो की ओर आकर्षित कर दो तो हम मान लेगे कि तुम्हारी कविता सच्ची कविता है। दूसरे दिन वह युवती जब अपने नियमित ढग से उस रास्ते से निकली तो ठाकुर ने ऊँचे स्वर से यह कविता पढी—

आँख न देखत ध्यान में बोलत नेह बढाये नितै आ नितै जा।
चन्दमुखी यह सोच बिहाय कै मानी खुर्मा अभिमानी कितै जा।
ठाकुर छैल छबीले छिपे कहुँ सौतन माहिं सुहाग जितै जा।
दै जा दिखाई री कै जा निहाल श्रिवै जा वियोग चितै जा चितै जा।।

वह युवती इस छद को सुनकर उस समाज और उस छद के रचयिता ठाकुर की ओर दृष्टिपात करने के लिए विवश हो गई। ठाकुर कवि कृष्णोपासक थे तथापि वे राम और कृष्ण मे भेद नही मानने थे। कहते है एक समय ये किसी रोग से ग्रस्त होकर उसकी पीडा से इतना व्याकुल हो गए कि प्राण बचना कठिन हो गया। महाराज पारीक्षित ने अपने निजी वैद्य को ठाकुर की चिकित्सा के लिए भेजा। वैद्यराज ने औषधि बनाई और कहा कि परसों शुभ दिन से इस औषधि का सेवन करियेगा। ठाकुर रोज की पीडा से व्याकुल थे, धीरज न धर सके और निम्नलिखित कवित्त कह कर उसी दिन औषधि का सेवन करने लगे—

राम मेरे पडित अखंडित सुदिन सोधे,
राम मेरे गुरू जप मेरे राम नाम है।
राम राम गावतहि राम राम ध्यावतहिं,
राम राम सोचत कटत आठौ जाम है।
ठाकुर कहत साँची आस मोहि राम ही की,
राम ही से काम धन-धाम मेरे राम है।
राम मेरे वैद विसराम मेरे राम साँचो,
राम मेरी औषधि जतन मेरे राम है।।

कहते हैं कि औषधि का कोई भी असीमित प्रभाव नही पड़ने पाया और उनकी व्यथा शांत हो गई। उपर्युक्त किवदतियो से ठाकुर के व्यक्तित्व की एक झलक तो हमारे सामने आ ही उपस्थित होती है।

काव्य विषयक दृष्टिकोण

ठाकुर की रचनाओं के अध्ययन से पता चलता है कि वे प्रकृति से मुक्त एवं स्वच्छन्द थे तथा काव्य रचना के क्षेत्र में वे पिटे-पिटाए मार्ग को छोडकर ही चलना

चाहते थे। वे नही चाहते थे कि रीतिकालीन कवियो की अनेकानेक दशाब्दियों से चली आती हुई परपरा की लीक पीटी जाय, वे नही चाहते थे कि काव्य विभूति को खुशामदपसन्द राजाओं-महाराजाओ के चरणो पर लुठित होने दिया जाय, वे नही चाहते थे कि रीति के सँकरे पथो पर ही सँभल-सँभल कर चरण निक्षेप किया जाय और वे नही चाहते थे कि कवि की सौदर्य-भावना केवल सीखे-सिखाए या लिखे-लिखाए सादृश्य विधानो अथवा सौन्दर्यादर्शों पर अवलबित रहे। वे अनुकरणजीवी कवियो पर रुष्ट जान पड़ते थे क्योकि उन्होने ऐसे यत्रनिर्मित कवियो की भर्त्सना या अवमानना भी किञ्चित रोष के साथ की है—

सीख लीन्हों मीन मृग खंजन कमल नैन
सीख लीन्हों यश औ प्रताप को कहानो है।
सीख लीन्हों कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिन्तामनि
सीख लीन्हों मेरु औ कुबेर गिरि आनो है॥
ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात
याको नही भूलि कहूँ बाँधियत बानो है।
डेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच
लोगन कबित्त कीबो खेल करि जानो है॥

और यह सचमुच उस काल के कवियो के लिए स्वस्थ मार्गदर्शन था। जहाँ घिरे हुए विषय-दीवारो के बीच कविता-कामिनी का नृत्य होता था, सौदर्य की एक ही सी झाँकियाँ यत्किंचित परिवर्तन के साथ सभी कवि दिखाते आ रहे थे, अनावश्यक रूप से रस-अलकार-छंद आदि पर साधारण रीतिग्रथो के ढेर लगा रहे थे, लक्षणों का अनुधावन करते हुए उदाहरण प्रस्तुत करने मे ही लोग कवि कर्म की सफलता समझ बैठे थे वहाँ इस प्रकार का नवीनतावादी सकेत एक बडी ही सुन्दर, स्वस्थ एवं महत्वपूर्ण घटना थी जिसका सद्प्रभाव निश्चय ही ठाकुर कवि की समसामयिक एव अनुवर्तिनी कवि प्रतिभाओ पर पडा। अधिक दिन नही बीतने पाये कि ब्रज काव्य की परपरा मे स्वच्छन्द प्रकृति का भारतेन्दु जैसा कवि उदित हुआ तथा आगे भी श्रीधर पाठक, ठाकुर जगमोहनसिंह, मुकुटधर पाण्डेय, सत्यनारायण कविरत्न, राय देवी-प्रसादपूर्ण, रामनरेश त्रिपाठी प्रभृति स्वच्छद वृत्ति के कवि हिन्दी काव्य-जगत में आविर्भूत हुए।

ठाकुर ने भाषा और संस्कृत काव्य का थोडा वहुत अनुशीलन किया था किंतु उनकी दृष्टि बडी तीक्ष्ण और प्राजल थी। भाषा काव्य की गतिविधि का उन्होने भली-भाँति निरीक्षण किया था, रीतिकालीन काव्य के दोषो की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करने वाले घनआनंद के बाद वे ही थे। उनकी अपनी कविता स्वय उन दोषों

से बचकर चलने का प्रयत्न है। भक्ति कालीन काव्य से परिचय प्राप्त कर ही उन्होंने तुलसी के काव्य गुणो की ऐसी सुन्दर समीक्षा की है—

ठाकुर कहत धन्य तुलसी तिहारी बानी
अकथ कहानी रससानी सरसत है।
चंद सी चमेली सी गिरा सी गंगधार कैसी
मघ मेघ मई रामजस बरसत है।।

कविजनोचित भावुकता के साथ-साथ हमे ठाकुर में एक कुशल समालोचक की भी शक्ति दिखाई पडती है। कवियो और उनके काव्य की आलोचना करते हुए ही हम उन्हे नही देखते वरन् काव्य रचना के आदर्श का प्रतिपादन करते हुए भी हम उन्हे नही पाते है—

मोतिन कैसी मनोहर माल गुहै तुकि अच्छर जोरि बनावै।
प्रेम को पंथ कथा हरिनाम की बात अनूठी बनाइ सुनावै।
ठाकुर सो कवि भावत मोहिं जो राजसभा मे बडप्पन पावै।
पंडित लोक-प्रवीनन को जोइ चित्त हरै सो कवित्त कहावै।।

हिन्दी साहित्य के शीर्षस्थानीय समीक्षा गुरू आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल भी ठाकुर की प्रगल्भ आलोचनात्मक उक्तियो से प्रभावित हुए थे तथा उनका भी काव्यादर्श ठाकुर के ही काव्यादर्श के मेल मे था। काव्य की श्रेष्ठता का निर्धारक ठाकुर द्वारा प्रतिपादित यह मानदण्ड हमें काव्य के अत्यत मान्य रससिद्धान्त के ही समीप ले जाता है। रीतिकाल मे केशव, भूषण, सेनापति, देवदास, ऐसे अनेक अलंकारप्रिय एव चमत्कारवादी कवि हो गए थे जिन्होंने भ्रमवश काव्य का जीवन तत्व अलकार-चमत्कार, वक्रोक्ति अथवा रीति मान रक्खा था किन्तु ठाकुर ने एक बार भ्रमजाल मे उलझे कवियो को काव्य का स्वस्थ एवं प्रकृत पथ दिखलाया तथा अपने द्वारा निर्धारित काव्यादर्श मे काव्य के समस्त अगो को उनका उचित स्थान दिया। 'जोइ चित्त हरै' कह-कह ठाकुर हमे पडितराज जगन्नाथ की 'रमणीयता' और विश्वनाथ आचार्य की 'रसात्मकता' का ध्यान दिलाते है। इस चित्तहारिणी रस अथवा प्राण-शक्ति की ओर तो उन्होने हमारा ध्यान आकृष्ट किया ही किन्तु काव्य की रूप सज्जा की शैलियो एव विधियो को दृष्टि मे ओझल नही होने दिया। उन्होंने कहा कि काव्य की शब्दावली या पदावली मे मोतियो की माला के समान मनोहारिता होनी चाहिए तथा लय, छद एवं शब्द मैत्री 'तुक अच्छर जोरि' का भी बराबर ध्यान रखना चाहिए। कहने की शैली मे नवीनता होनी चाहिए 'बात अनूठी बनाइ सुनावै' तथा काव्य का विषय प्रेम अथवा हरिभक्ति होना चाहिए। इस प्रकार ठाकुर की काव्य-रचना के आदर्श ऊँचे थे स्वस्थ और प्रकृत धरातल पर थे, वे किन्ही

पूर्वाग्रहो से आच्छन्न न थे । रीतियुग के कवि मे ऐसी विचारशैली का उद्भव तथा ऐसी स्वच्छन्द काव्यरचना कोई साधारण बात न थी इसीलिए ठाकुर अपने युग के शत-शत कवियो के बीच अपना विशिष्ट स्थान रखते है और रक्खेंगे ।

ठाकुर की कविता मे पवित्रता है, हल्कापन कही नही । प्रेम की सान्द्र गाढ़ विवृत मे कही भी वासना की दुर्गंधि नही । नई-नई वाक्य प्रणालियो मे मन की प्रीति विवेचित हुई है उनकी भी कथन रीतियाँ और वचन भगी भावानुभूति से ही प्रेरित है ।

प्रेम-व्यंजना

ठाकुर की कविता का मुख्य विषय प्रेम है । प्रेम की अनुभूति विना उसकी मार्मिक अभिव्यक्ति सभव नही । यह अनुभव जितना तीव्र प्रगाढ और एकान्तिक होगा अभिव्यक्ति भी उतनी ही मार्मिक होगी । ठाकुर के प्रेम वर्णन गोपीकृष्ण मूलक । गोपीकृष्ण की प्रेम-वर्णना की तह मे हम ठाकुर के प्रेमी हृदय को छिपा हुआ देख सकते है । राधाकृष्ण अथवा गोपी-कृष्ण के प्रेम को लेकर उन्होने भी अभिनव भावो एव प्रसगो की उद्भावना की– उनके रूप, अगोपागो, वाग्विनोद, क्रीडाओ एवं मनोभावो का नाना परिस्थितियो के बीच चित्रण किया ।

आलंबन वर्ण

ठाकुर की कविता के आलबन राधा और कृष्ण है । कभी-कभी राधिका का स्थान गोपिकाएँ ग्रहण कर लेती है । आलबन के रूप रग के वर्णन में ठाकुर कवि कुछ विशेष दत्तचित्त न हुए और काव्य-रचना की स्वच्छन्द वृत्ति रखने के कारण नखशिख की प्रचलित परिपाटी भी उन्होने ग्रहण नही की । कही-कही राधा या कृष्ण के रूप प्रभाव मात्र का वर्णन कर दिया है और इस प्रकार उनकी असाधारण रूप-सुषमा की व्यजना कर गए है—

(क) **ठाकुर को सुखमा बरनै अरे काभ लगै जिनको छबि पाइक ।**
काहे न जाइ सबै ब्रज देखन साँच हूँ साँवरो देखिबे लाइक ।।

(ख) **येई है वे वृषभानु सुता जिन सों मन मोहन मोह करै है ।**
कामिन तौ उन सी नहि दूसरी दामिनि की दुति कों निदरै है ।।

रूप लावण्य की यह प्रभावमूलक व्यजना उसका उत्कर्ष अवश्य व्यजित करती है परतु किसी रूप विशेष का साक्षात्कार नही कराती । '**छोटी नथूनी बड़े मुतियान बड़ी अँखियान बड़ी सुघरै है**' ऐसी एकाध पक्तियो मे रूप का चित्र प्रस्तुत करने का जो प्रयत्न मिलता है वह भी कुछ बहुत प्रौढ चित्रण नही कहा जा सकता । नायक-नायिका के अंग-प्रत्यंग का वर्णन तो ठाकुर ने किया नही परन्तु नेत्रो को लेकर दो एक छद उनके अवश्य है । नेत्रों मे ठाकुर के मत से विशालता, शील, तीक्ष्णता,

चपलता, सुकुमारता, अरुणाई, रसीलापन आदि गुण अपेक्षित है। कटाक्षो के वर्णन मे भी प्रभाव सूचन की ही ओर कवि की दृष्टि रही है। एक जगह वे कहते है कि तलवार, बरछी और वज्र की चोट से आदमी बच सकता है, सर्पदंश, विषपान और मृत्यु से भी एक बार जीवन की रक्षा हो सकती है परन्तु नैन कटाक्षा से घायल हुआ व्यक्ति नही बच सकता 'न जियै इक नैन कटाच्छ को मारा'। बात यह है कि इन नेत्रो मे घातकता बहुत होती है और इनका निशाना भी अचूक होता है--

लागत न दारू उपचार करि हारे बैद
ठाकुर कहत ऐसे हिय मे अरे रहैं।
एक दम सौं लों औ सहस्र लौं कहाँ लौं कहौ
आँखन के मारे कैयो लाखन डरे रहै।।

इस प्रकार ठाकुर कवि का आलंबन वर्णन साधारण ही हुआ है और सामान्यतः प्रभावाभिव्यजक पद्धति पर।

उद्दीपन वर्णन

उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत ठाकुर ने दो प्रमुख ऋतुओ वसंत और वर्षा और क्रमशः इन्ही से सबंधित होली और हिडोरा का वर्णन किया है। दो अन्य व्रतोत्सवो अखती (अक्षय तृतीया) और दशहरा का वर्णन किया है। वसत वर्णन के सभी छद किसी विरहिणी की व्यथा के उत्तेजक रूप मे ही वसत को प्रस्तुत करते हैं उसमे वसत ऋतु का वर्णन या प्रकृति की छबि छटा का निदर्शन कवि का अभीष्ट नही। वसंत ऋतु मे प्रकृति के स्वरूप का किंचित आभास हमें प्राकृतिक उपकरणो के प्रासगिक उल्लेख से होता है—'आम पर मौर देखु मौर पर भौंर देखु, भौंरन पर पंु नौर देखु, गुंजत सुहावने।' ऐसे छन्दो मे विरहिणी की जो कसक अंतर्हित है वही कवि का मुख्य प्रतिपाद्य है। रसाल द्रुमो मे मौर आ गए, पलाश के वृक्षो मे लाल फूल छा गए तथा आठो जाम निर्मम वासती पवन बहने लगी है आदि कहकर कवि ने गोपिका की वियुक्तिजनित रिक्तता और अतर्वेदना ही व्यंजित की है, ऋतु की शोभा नही। प्रायः सभी छन्दो की मूल भावना यही रही है—'लीजिये खबर प्यारे कीजिये गहर निज; अब ऋतुराज की अवाइ आन भई है।' उन्मादिनी वसत ऋतु मे सारी की सारी प्रकृति उस प्रेमिका की दुश्मन बन जाती है कोयल मंजरित आम्र वृक्षों पर चढकर शोर मचाती है और चुप होना नही जानती, मलयज वातास अंगो को विचलित किये देती है, गुन-गुन गुंजार करते हुए भौंरे भी बेकली पैदा किये देते है फिर भी विरहिणी का सदेश प्रिय तक कोई नही ले जाता। प्रिय के दूर रहने पर वसंत का सारा वैभव व्यर्थ है, हाँ वे कुछ असूया मिश्रित भाव से उन स्त्रियो के भाग्य की सराहना अवश्य करती है जिनका विरह वसंतागम पर प्रिय मिलन में परिणत हो जाएगा—'धन्य वनिता हैं सुर

बनिता मराहैं ने जे कन्त घर पाइहै बसंत की अवाइ मै ।' इसी वसंत ऋतु मे हमारा लोकप्रिय होली महोत्सव पडता है । होली के शुभ पर्व की प्रतीक्षा कितनी ललक और उमग से प्रेमियो का समाज किया करता है । वह दिन कुछ ऐसा होता है जब हम अपने आप को निर्बन्ध मानते है, किन्ही भी मर्यादाओ से अपने को घिरा नही समझते । उस एक दिन के लिए तो निर्मर्याद आचरण और व्यवहार भी क्षम्य और वैध समझा जाता है —

डार्यो जो गुलाल रंग केसर को अंग अंग
आन झकझोरयौ मांड्यो दौर मुख रोरी मैं ।
चाहि चितवारी हितवारी नितवारी करी,
काहै कहौ कौन अब जैहै ब्रजखोरी मैं ।
ठाकुर कहत ऐसे रस मै निरस होत
कहा भयौ छाती जो छबीले छुई चोरी मैं ।
अक भरि लीनो तो कलक की न संक कीजै
आज बरजोरी कौ न दोष होत होरी मै ।।

ठाकुर के होली वर्णन के छन्द बहुत सुन्दर है, यो मेरी समझ मे होली के प्रसंग को लेकर मध्यकाल मे बडा ही सुन्दर और प्रीतिजनक काव्य लिखा गया है जिसका पृथक सग्रह एक सराहनीय कार्य होगा । ठाकुर के होली वर्णन मे होली खेलने के कई बडे रमणीय चित्र है । एक मे एक मतवाली ग्वालिन का कृष्ण का लिए-लिये केसर के कीच मे गिरने का वर्णन है—

ठाकुर ऐसो उमाह मचो भयो कौतुक एक सखीन के बीच मैं ।
रंगभरी रसमाती गुवालि गोपालहि लै गिरी केसर कीच मैं ।।

दूसरे मे एक रुष्ट हुई ग्वालिन की कृष्ण को डाँट फटकार है—

होरी की हौंस हमैं ना कछू हम जानती है तुम रार करैया ।
फूलौ न मोहि अकेली निहारि के भूलियौ ना तुम गाय चरैया ।
ठाकुर जो बरजोरी करौ तुम हौं हू नहीं कछू दीन परैया ।
फोरिहौ काहू की आँख लला रहो नोखे गोपाल गुलाल डरैया ।।

फटकार खासी थी जिसमे कृष्ण को उनकी असली औकात बता दी गई थी, फटकारने का ढग कितना स्वाभाविक है और सपूर्ण चित्र कितना अनूठा है । तीसरा चित्र होरिहारों से बचकर भाग निकलने वाली एक गोपी का है ।

ठाकुर दौरि परे मोहि देखत भागि बची जू कछू सुघरी ती ।
बीर जो द्वार न देहुँ केवार तो मैं होरिहारन हाथ परी ती ।

और चौथे मे चारो ओर से गोपियो का दौड कर कृष्ण को घेर लेने का दृश्य है—

दौरी लै गुलाल ब्रजबाल चारयौं ओरन तैं
होरी लाल होरी लाल होरी लाल होरी है ।

पावस का वर्णन कवि ने अपेक्षाकृत अधिक विस्तार मे किया है जिसमे नाना वर्ण के मेघो से आच्छन्न आकाश का, चातक की रट और मयूरो के नृत्य का, इन्द्र-बधूटियो के रेंगने और झिल्लियो के झनकारने का, बगुलो के उडने और चपला के चमकने आदि का वर्णन किया है । ठाकुर कवि का वर्षा वर्णन उनके वसत वर्णन से अधिक बन पडा है क्योकि वर्षा ऋतु मे प्रकृति का जो स्वरूप हो जाता है उसकी झलक दिखाने की भी कवि ने अनेक छन्दो मे सफल चेष्टा की है-- रग-रंग के बादल काले, सफेद, लाल, पीले यत्र-तत्र दिखाई दे रहे है, मेघो की गड गडाहट के बीच बिजली कौध-कौध जाती है, चातको और मयूरो मे उमङ्ग की लहर दिखाई देती है, मन्द मन्द शीतल बयार बहने लगी है । ऐसे वर्णन पर्याप्त यथातथ्यता लिए हुए है—बिजली का दौडना , दमकना, छिपना, और कडकना, मेघो का घिर-घिर कर घहराना और गरजना पिको का पीकना और असाढ का रिमझिम-रिमझिम बरसना बहुत ही चित्रात्मक वर्णन बन पडा है । इन वर्णनो मे कही कही कोरे चमत्कार का विधान है या मात्र कल्पना का ही खिलवाड किया गया है, जैसे कवि का यह कहना है कि रग विरङ्गे बादल आकाश मे क्या छाये हुए हैं मानो वे किसी रंगरेज द्वारा सूखने के लिए डाले गए कपडो के रग-बिरगे थान हैं अथवा मेघो से आच्छादित आकाश के बीच जब-तब दिखाई दे जाने वाले तारे इस प्रकार मद-मद दिखाई देते है जैसे वे चौंधिया कर चन्द्रमा को ढूंढते फिर रहे हो । ऐसी चमत्कारकमूलक उक्तियाँ परम्परा के प्रभाव से ही ठाकुर मे आई जान पडती है अन्यथा दूर की कौडी ले आना ठाकुर की प्रकृति न थी । हाँ, वर्षा प्रणयभावना का उद्दीपन करती हुई अवश्य दिखलाई गई है । संयोग मे वर्षा कृष्ण को कदब के तले अपनी कमली मे छबीली को छिपाने का अबसर प्रदान करती है तो दूसरी ओर विरहिणी के हृदय की दुर्गति किये डालती है । यदि वे सतप्त विरहिनियाँ सयोगिनियो का सुख देखकर किंचित ईर्ष्यालु होकर कहे—'धनी वे धनी पावस की रतियाँ पति की छतियाँ लगि सोवती है' तो स्वाभाविक ही है । हिंडोले का वर्णन भी इसी प्रसंग मे आया है जिसमे राधाकृष्ण के झूला झूलने का मनोरम चित्र प्रस्तुत किया गया है ।

अखती (अक्षय तृतीया, वैशाख शुक्ल तीज) हिन्दू स्त्रियों के बीच व्रत एवं पूजन का एक अत्यंत महत्वपूर्ण पर्व है । बुन्देलखण्ड मे तो यह अत्यन्त उत्साह से मनाया जाता है । जिस किसी में वट वृक्ष के नीचे स्त्रियाँ पुतली की पूजा करती हैं । पुरुष भी सजधज कर पूजा देखने आते हैं । पूजा के उपरान्त स्त्रियाँ पुरुषों से और पुरुष स्त्रियों से अपने-अपने प्रिया और प्रियतम का नाम पूछते है और उत्तर देने में संकोच

करते देख एक दूसरे को गुलाब या चमेली की छड़ियों से मारते है। इस त्यौहार का उल्लेख अथवा वर्णन पद्माकर और द्विजदेव ने भी किया है।

संयोग वर्णन— प्रेम का जो भव्य चित्र ठाकुर ने प्रस्तुत किया है उसके दो विभाग हो जाते है। सयोग चित्रण मे ठाकुर ने पूर्वराग, मिलनोत्कठा, बदनामी की चर्चा, गोपिका की प्रीति की प्रकर्षता और दृढता, चिन्ता तथा मन की कतिपय सूक्ष्म एव सुकुमार वृत्तियो का चित्रण किया गया है। कवि का कोई भी सयोग चित्र वासना के कर्दम से पकिल नही होने पाया है, उसमे हृदय की शुद्ध निश्छल निष्काम प्रीति ही व्यक्त हुई है। जैसा हम प्रारम्भ मे हो कह आए है ठाकुर की प्रेम व्यजना गोपी-कृष्ण के माध्यम से सम्भव हुई है। कृष्ण अकसर एक गोपिका के घर जाया करते थे और अपनी भावनाओ के प्रतीक रूप मे उसके लिए मौलसिरी की माला भी ले जाया करते थे। वह गोपिका कृष्ण की चिर उपकृत थी। पर यह सब लोगो की अनजान मे ही हुआ करता था। वह नित्य डरती ही रहती थी कि कही यह भेद न खुल जाय। अपने ही घर के आस पास के लोगो की निन्दा और भर्त्सना के भय से वह एक दिन कितने स्नेह से कृष्ण को समझाती है—

> हौं हा समै लखि कै उत आइ रहो करिहौं सब रावरे जी को
> बार ही बार न ऐसे इतै यह मेरो कछू है परोस न नीको।
> ठाकुर चाह भरे नित हा तुम हार लै आवत मौलसिरी को।
> कोऊ कहूँ लखि लेय जो याहि तो होय लला मोहिं लील कौ टी को।

वह कृष्ण से अमिलन भी नही चाहती और कृष्ण का अपने मुहाल मे आना भी; फिर कृष्ण की जो इच्छाएँ हैं उसी मे उनके मन की तृषा की भी तृप्ति है। ऐसी दशा मे कलक के टीके से बचने का वह कैसा सुन्दर उपाय निकालती है। आगे से वह कृष्ण से मिलने स्वतः जाया करेगी। नया-नया प्रेम है, उसकी परवरिश के यत्न और उत्कठा के दर्शन कीजिये। प्रिय से मिलने मे सबसे बडी बाधा है लोकनिंदा और बदनामी जिसका डर गोपियो मे विशेष रूप से दिखाया गया है—

> (क) घर ही घर वैर करैं घरहाइनैं नाँव धरैं सब गाँवरी री।
> (ख) चौचदहाई जरैं ब्रज की जे परायो बनो हर भाँति बिगारैं।

इतनी बदनामी से ऊबकर आखिर एक दिन गोपियाँ अपने प्रेम की दृढता से प्रेरित होकर सकल्प करती हैं—

> मूसर चोट की भीति कहा बजि कैजब मूड दियो ओखरी मैं।

तथा

> कवि ठाकुर नेह के नेजन की उर में अनी आन लगी सो लगी।
> अब गाँव रे नाँव रे कोई धरौ हम साँवरे रंग रँगी सो रँगी॥

इस सकल्प का परिणाम यह हुआ कि प्रियमिलन की सभावना बढी और धीरे-धीरे उसके अवसर भी सुलभ होने लगे । लोगो की निंदा की उसे अब परवाह न रह गई । प्रिय का दर्शन या बार-बार साक्षात्कार होते रहने पर थोडी ढिठाई भी मन मे समा चली । वह पानी भरकर लौटते हुए जब प्रिय को जलाशय की ओर जाते देखती है तो अपनी पड़ोसिन का घड़ा लेकर फिर पानी भरने चल देती है । एक अन्य लज्जावती तरुणी की मानोभावना देखिये जिसने प्रीति की डगर मे लगता है अभी-अभी पाँव दिया है—

घर बाहर पास परोस के बैर अकेले कबै कर पैयत है ।
मग माँझ कजाव मिले सजनी तो बिलोकत चित्त डरैयत है ।
कह ठाकुर भेटिबे के उपचार बिचारत धौस बितैयत है ।
बतियाँ न बनै जिनसो कबहूँ छतियाँ तिन्हैं कैसे लगैयत है ।

एक तरफ हौस और दिल की उमग देखिये और दूसरी तरफ सकोच । भला हविस की इस तीक्ष्ण धार के आगे सकोच का परदा टिका रह सकेगा ?

कृष्ण की शरारतो और गोपियो से छेडछाड का वर्णन भी कई छदो मे किया गया है । वे किसी को खिझाते है, उसके सग ढिठाई करते है, घूर-घूर कर देखते हैं और उसका नाम ही अपनी मुरली मे ले लेकर पुकारते है और वह कृष्ण के इस आचरण पर खीझ कर कह उठती है—

यह को हैं कहाँ को न जानिये चीन्हिये नित्तहि मो मग घेरत है ।
ब्रज में यह रीति कुरीति चली यह न्याउ न कोऊ निबेरत है ।
नख ते शिख लौं तन ताकि रहै एजू ऐसे कहा कोउ हेरत है ।
मुरली मे हूं नाम सुनाय सखी मोहि राधिका राधिका टेरत है ।।

परन्तु क्या इन उक्तियो मे अपनी निर्दोषता प्रकट करने वाली सुकुमारी के हृदय की चाह नही झलक रही है ? कृष्ण की प्रीति मे कितनी ही गोपागनाएं बेसुध है—कोई विश्वस्त है कि प्रेम मे भगवान जिसे उलझा देता है उसे सुलझाता भी है जिसके हृदय मे सच्चा प्रेम होता है उसे उसके प्रिय से मिला भी देता है, कोई गोपिका अपने मन की दृढता इन शब्दो मे प्रकट करती है—'प्यारे सनेह निबाहिबे को हम तो अपनो सो कियो अरु कीबो' तथा कोई अपने मन की अभिलाषाएँ ही प्रिय से परोक्ष मे व्यक्त कर रही है कि हे मनमोहन यदि रोज आ सकना सभव न हो तो दूसरे तीसरे पाँचवें सातवें तो भला आया कीजिये क्योंकि 'प्रान हमारे तुम्हारे अधीन तुम्हें बिन देखे कैसे मैं जीजिये ।' वह कहती है कि राह चलते की भेट से क्या होता है, दिन यों ही तरसते हुए व्यतीत करने पड़ते है, अब तो अधिक दूरी सह्य नही होती, हमारे समझ में तो एक ही रास्ता है 'कै हमही बसिये ब्रजगॉव

कि आप ही आय बसौ बरसाने।' इस प्रकार के एक से एक मनोहर छद ठाकुर रच गए है। मन की सूक्ष्म अतर्वृत्तियो के निरूपण मे ठाकुर बड़े प्रवीण थे। अब जो छद हम सामने रख रहे है बहुत सभव है वह ठाकुर ने उस सुनारिन के लिए लिखा हो जिसके रूप के ये परम उपासक हो गए थे—

वा निरमोहिन रूप की रास जऊ उर हेत न मानति ह्वै है।
बारहू बार बिलोकि घरी घरी सूरत तो पहिचानति ह्वै है।
ठाकुर या मन की परतीति है जो पै सनेह न मानति ह्वै है।
आवत है नित मेरे लिये इतनो तो बिशेष कै जानति ह्वै है।।

सयोगजनित प्रीति का चित्रण करते हुए ठाकुर ने बराबर सयम का ध्यान रक्खा है और प्रेम भावना की पावनता को अक्षुण्ण रहने दिया है। प्रेम चित्रण मे उनका भी आदर्श यही था कि ससार मे जो कुछ भी पुनीत है और उज्ज्वल है उसी का नाम प्रेम अथवा शृङ्गार है--- यत्किञ्चिल्लोके शुचिमेध्यमुज्ज्वलं तच्छृङ्गारेणोपमीयते।' सम्मिलन और रूपाकर्षण के भी चित्र जहाँ ठाकुर ने प्रस्तुत किये है वहाँ भी उनकी प्रेमवर्णना ऊर्ध्वगामिनी ही लक्षित होती है उसमे किसी भी प्रकार के छिछलेपन का लेश नही। ठाकुर के प्रेम चित्रण की यह सर्वोपरि विशेषता है फिर चाहे अटा पर चढकर झाँकने वाली प्रियतमा का चित्र हो और चाहे स्वप्न मे पाने वाली अनुरागिनी का। प्रियतम के प्रेम की व्यजना के नाना विधान ठाकुर ने भी ढूढ निकाले थे। उनकी राधिका यह जानकर कि अमुक व्यक्ति ज्योतिषी है उसका बडा आवभगत करती है और फिर कहती है ज्योतिषी जी 'मेरो मन मोहन सों लागत है भाँति-भाँति मोहन को मन मोसों लागिहै बिचारो तो।' तनिक उनका प्रेम मे पगना तो देखिये। उधर ज्योतिषी भी उन्हें निराश नही करता और कहता है कि कृष्ण तेरे लिये ही गली-गली डोलते फिरते है और जब तुझे देख लेते हैं या तेरी बोली भर सुन लेते है तब तो वे अपने घर का रास्ता तक भूल जाते है। तू क्यो अकारण परेशान हो रही है—'जैसी रट तोहि लागी राधे श्याम सुन्दर की तैसी रट वाहि लागी राधे तेरे नाम की।' इसी प्रकार एक अन्य अवसर पर ज्योतिषी से अपने मन की बात सुनकर उनका मन मारे उमग के नाच उठता है। ज्योतिषी पूछता है कि उस दिन तुम मुझे क्या इनाम दोगी जिस दिन मोहन का मन तुझ से लगेगा और तू मन मोहन के हृदय से जा लगेगी? इस प्रश्न का उत्तर जरा अपने हृदय से पूछ करके दे। राधिका मारे हर्ष के पागल हो जाती है, उसका उमग भरा कथन सुनिये—

विप्र की बानी सुने सकुनी कही वा दिन तेरे बिषाद नसैहौ।
रंक ते ह्वैहौ निसंक महा मनमोहन को जब अंक लगैहौ।
ठाकुर मीठो करौ मुख रावरो पाँव परौं जग कीरति गैहौं।
हाथन चूरा गरे मनिमाल सु कानन कों मुकताहल देहौं।।

राधाकृष्ण के प्रेम वर्णन के कुछ बहुत सुन्दर चित्र ठाकुर उरेह गए हैं जो अपनी पवित्रता और मधुरता के कारण मन पर अमिट हो रहते हैं। राधा और कृष्ण की प्रीति इसे कहेंगे या ठाकुर की भावना का रग जो समूचो प्रकृति मे ही परिव्याप्त दिखाई गई है —

> अपने अपने निज गेहन मे चढ़े दोऊ सनेह की नाव पै री।
> अंगनान मैं भीजत प्रेम भरे समयो लखि मैं बलि जाँव पै री।
> कह ठाकुर दाउन की रुचि सो रंग ह्वै उमड़े दोउ ठाँव पै री।
> सखी कारी घटा बरसै बरसाने पै गोरी घटा नंद गाँव पै री॥

वियोग वर्णन—वियोग दशा का वर्णन करते हुए ठाकुर कवि ने वियुक्त की मनोदशाओं का चित्रण ही मुख्य रूप से किया है। उन्होंने रीतिबद्ध कवियों की भाँति ऊहा की शरण लेते हुए दूरारूढ कल्पनाएँ नही प्रस्तुत की है साथ ही वियोग का वर्णन करते हुए जहाँ राधिका अथवा गोपियो का विरह दिखलाया है वही कृष्ण की भी वियोग व्यथा का वर्णन किया है। वियोग के लिए शारीरिक विछोह तो आवश्यक होता ही है किन्तु कभी-कभी मानसिक वैषम्य अथवा विरोध, असहमति अथवा असंतोष भी वियोग व्यथा का उत्तेजक हो जाया करता है। कृष्ण भी प्रियाके विरह मे सारे सुखो स बचित दीन और विपन्न दिखाए गए है, उनके विरहोन्माद का निदर्शन ठाकुर ने इस प्रकार किया है —'घन को निहारै तब वारै होत आपुन पै बीजुरी निहारै तब वारै होत तो पै रो।' वास्तव मे कृष्ण के मन की व्यथा की ओर भी सहृदय समाज का ध्यान आकर्षित कर ठाकुर ने जैसे एक नई दिशा का निर्देश किया है। गोपियो की व्यथा का चित्रण तो अधिक हुआ ही है। जिस प्रेम मे निर्वाह का बाज न हो वह भी कोई प्रेम है! प्रेम मे कितनो को ही धोखा खाते देखा गया है इसी कारण बोधा के ही समान ठाकुर भी प्रेम के निर्वाह पक्ष पर बार-बार जोर देते हुए मिलते हैं। गोपियो के मुख से स्वयं कृष्ण के प्रेम की चर्चा कराते हुए उन्होने बार-बार कहलाया है कि श्रीकृष्ण अत्यत स्वार्थी मित्र हैं, प्रेम करके उस तोडने मे उन्होने तनिक भी विलंब न किया और इधर कुबडी कुब्जा से अलग प्रीति ठान बैठे है —

(क) छोड़ि प्रतिव्रत प्रीति करी निबही नहि आगे सुनी हम सोऊ।
माया मिली नहिं राम मिले दुबिधा मे गए सजनी सुन दोऊ॥

(ख) हरि लाँबो औं चौरो बखानत ते अब गाढ़े परे गुन और कढ़े जू।

(ग) याहि ओर सनेह की आँखिन सों अब तो हरि हेरत हो नहियाँ।

(घ) जु कियो बदनाम सबै ब्रज मैं अब आँखै लगाइ दिखात न आँखिन।

(ङ) कहि ठाकुर कूबरी के बस ह्वै रस मैं बिस बावरो ज्वै गयो है।
मनमोहन को हिलिबो मिलिबो दिन चारिक चैत सो ह्वै गयो है॥

फिर इस प्रम पथ मे कितनी विपदाएँ और ऊपर से आती है। घर घर 'बैर' चलती है, 'घरहाइयो' के कारण मिलना-जुलना, बाहर आना-जाना दूभर हो जाता है, मन की कसक चौगुनी होकर सालने लगता है—

> ठाकुर या घर चौचद को डर ताते घरी घरी ऐयत नाही।
> भेटन पैयत कैसे तिन्हैं जिन्हे आँखिन देखन पैयत नाही।।

कभी-कभी मन को अपरिसीम निराशा भी आतंकित कर लेती है और वियोगिनी को अपने प्रारब्ध अथवा दुर्दैव से समझौता कर लेना पड़ता है—'इन चौचँदहाइन मैं परि कै समयौ यह बीर बरावने है।' धीरे-धीरे उसे यह मान लेना पड़ता है कि यह दुख का समय किसी प्रकार काटना ही पड़ेगा फिर यह वियोग की वेदना भी कुछ ऐसा वैसो नही होती। उसकी दारुण असह्यता का किसी को अन्दाज भी क्या लग सकता है। विरह मे विरही की मनोव्यथा कितनो तीव्र हो जाती है इसके चित्रण में तो घनआनद ही विशेष लगे है और काफी गहराई मे जाकर अपने भावो को मुखर कर सके है, ठाकुर तो इस सबंध मे इतना ही कहकर जैसे सतुष्ट हो गए है कि 'पर बीर मिले-बिछुरे की बिथा मिलि कै बिछुरै सोइ जानतु है।'

भक्ति-भावना

ईश्वर भक्ति तो प्रकारान्तर से समस्त मध्ययुगीन भाषा-कवियो में किसी न किसी परिमाण मे और किसो न किसी रूप मे अवश्य ढूँढी जा सकती है। वह संस्कार वश थी या परम्परागत थी या शृगार के लिए ओट के रूप मे थी इस विषय की विवेचना हम आरंभ मे हो कर आये है। सभी शृङ्गारी कवि एक सीमा तक राधाकृष्ण के भक्त रहे है तथा उनकी भक्ति विषयिणी दृष्टि मे भक्त कवीश्वरो की ही भावना का प्रतिबिंब देखा जा सकता है। इन रीति कवियो की भक्ति भावना मे भी वही उदारता देखी जा सकती है जो इनके पूर्ववर्ती सूर-तुलसी आदि में गोचर होती है। इन कवियों ने भी राम, कृष्ण, शिव तथा इतर देवी-देवताओ गणेश, हनुमान, काली आदि का नाम समान श्रद्धा से लिया है। ठाकुर कवि इस सामान्य एव सर्वव्यापिनी प्रवृत्ति के अपवाद न थे। उन्होने अपनी भक्तिपरक रचनाओ मे कही तो बालक कृष्ण, राम, राधिका, गणेश आदि का गुण स्तवनात्मक शैली मे अभिवदन किया है, कही ईश्वर की महिमा और गति वैचित्र्य का वर्णन किया है, कही दास्य भाव से विनय प्रदर्शित किया है, कही सखा के समान उन्हे लाछित किया है और उलाहना दिया है और कही सपूर्ण रूप से उनकी महा मोहिनी शक्ति के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया है। ठाकुर की भगवद्भक्ति जब अपने चरम उन्मेष पर पहुँचती है तो वे यह कहते हुए पाए जाते है 'या जग मैं जनमे को जिये को यहै फल है हरि सो हित कीजै।' यही उनका अखंड

मत है। जिसने ससार मे मनुष्य जन्म धारण किया उसने यदि भगवत्प्रीति मे अपने आपको लीन नही किया तो उसका जन्म ही व्यर्थ गया —

> आनन प्रेम की साँस नही नहि कानन बाँसुरी को सुर छायो।
> बैनन सों न जप्यो नंदनंदन नैनन ना ब्रजचंद लखायो।
> ठाकुर हाथ न माल लई नहीं पाइन सों हरि मंदिर आयो।
> नेक कियो न सनेह गोपाल सों देह धरे को कहा फल पायो॥

जहाँ तक 'हाथ मे माला लेने' और 'हरि मंदिर जाने' का प्रश्न है यह हमे इस युग मे आडबर अवश्य लगता है, स्वय ठाकुर के ही समय मे या उनसे भी पूर्व बिहारी, तुलसी, कबीर आदि के समय मे भी लोगो को ऐसा लगा था किन्तु सर्वसाधारण के लिए स्वामी रामानंद एव महाप्रभु वल्लभाचार्य सरीखे महात्माओ ने भी भक्ति के इन बाह्य उपकरणों को शास्त्रोक्त और वैध ठहराया था। आसक्ति और तन्मयता लाने के लिये एव वृत्तियों को भगवदोन्मुख करने के लिए जन समाज के बीच उन्होने मूर्तिपूजा, नवधा भक्ति (वैधी भक्ति), षोड़षोपचार, नाम-जप, माल-धारण, एक निश्चित प्रकार के वेश-विन्यास आदि का विधान किया था और सर्वसाधारण को इस बाह्योपकरण-सापेक्ष धर्म ने इतना अधिक आकृष्ट किया कि वह हमारे बीच और पुरुषो मे अधिक स्त्रियो के बीच इतना बद्धमूल हो गया है कि उसके आज तो क्या ५०० वर्ष बाद भी हटने की कोई संभावना नजर नही आती। मूर्तिपूजा और माल-जप की उपयोगिता यहाँ हमारा प्रतिपाद्य नही, लक्ष्य यह दिखलाना भर है कि ठाकुर ने सर्वसाधारणी धर्म के रूप मे इसे भी अंगीकार किया था।

ठाकुर ने एक स्थान पर भगवान से बड़ी ही मनोहारिणी विनय की है जो इस प्रकार है—हे भगवन्! यदि हमे भारी संपदा देना तो इतना वरदान और देने की कृपा करना कि मेरा जन्म न बिगडने पावे तथा कुसंगति में पडकर मेरा आचरण भ्रष्ट न होने पावे (जैसा कि संसार मे बहुधा होते देखा जाता है)। मुझे प्रवीणो की सगति मिले, दीनो के प्रति दया-भाव दिखला सकूँ तथा आपके प्रेम मे डूबा हुआ जन्म व्यतीत करूँ तथा सबसे बडी बात जो हो वह यह कि 'ऐ हो ब्रजराज तेरे पाईं कर जोरे गहौं, प्रान हू नजर पै न नियत बिगारियौ।' ठाकुर कवि इस प्रकार के शुद्ध और सात्विक हृदय वाले व्यक्ति थे; वे जानते थे कि दुनियाँ के प्रायः सभी धनवान नीयत के बुरे होते है और इससे संसार मे अपरिमित भ्रष्टाचार का प्रसार होता है। वे संपदा को तो शायद उतना बुरा नही समझते थे परन्तु उसके अवश्यभावी दुष्परिणामों से अवश्य पूर्णरूपेण अवगत थे। ऐसी याचना करने से स्पष्ट है कि वे ऊँची नैतिकता मे चालित प्राणी थे। फिर भी ठाकुर भक्ति की दृष्टि मे सूर, तुलसी और मीरा की कोटि के कवि नही कहे जा सकते क्योंकि इनमें सासारिक लालसाएँ थी, पूर्ण निष्कामिता न थी। वे आस्थावान प्राणी थे ईश्वर की शक्ति में विश्वास रखने

वाले। आर्त्त भक्त की भाँति रुग्ण होने पर और रोग के कष्ट के भीषण सताप से व्यथित हो उठने पर उनके भगवद् नामोच्चारण वाले छद 'राम मेरे पंडित अखडित सुदिन साधै' का उल्लेख हम कर आए है। इसी आस्था-बुद्धि के कारण वे मनुष्य की अशक्तता के कायल हो गए हैं और ईश्वर की इच्छा या कर्तृत्व शक्ति को ही सब कुछ मानने के पक्षपाती—

> जो सुख देइ तो देइ दई दुख देइ न देख हिये डरने हैं।
> होत न काहू की नेकी करी अब यों निरधार हिये धरने हैं।
> ठाकुर भाँतिन भांति अधार ह्वै दीन ह्वै आइ पर्‌यो सरने हैं।
> को करि सोच वृथा ही मरै हरि होने वही जो तुम्हें करने हैं॥

वे ईश्वर के गुणों का ध्यान करके पूर्ववर्ती भक्तो की भाँति प्राणिमात्र के प्रति हरिकृत अनत उपकारो का नामोल्लेख सहित स्मरण करते है—गज और ग्राह, प्रहलाद और हिरण्यकशिपु, अजामिल और नारायण—और उन्हे आशा है कि इसी प्रकार भगवान उनके प्रति भी कृपादृष्टि रक्खेगे। कभी-कभी ठाकुर कवि मित्रता या बराबरी के भाव से ईश्वर की आलोचना और भर्त्सना भी करते हुए पाए जाते है—

(क) मेवा बई घनी काबुल मे बिंदरावन आनि करील जमाए।
                    राधिका सी सुभ बाम बिहाय के कूबरी सग सनेह बढाए।
    मेवा तजी दुरजोधन की बिदुराइन के घर छोकल खाए।
                    ठाकुर ठाकुर की का कहौ सदा ठाकुर बावरे होत ई आए।

(ख) नीच परसगी जानि पाति के न अंगी ऐसे
                    ठाकुर दो रंगी तो सदा ते होत आए है।

(ग) ऐसे अन्ध अधम अभागे अभिमान भरे
                    तिन्हें रचि रचि दिन नाहक गँवाए तैं।
    भकुआ भरगी अरु हिरसी हरामजादे,
                    लाबर दगैल स्यार आँखिन दिखाए तैं।
    ठाकुर कहत ये अदानियाँ अबूझ भोंदू
                    भाजन अजस के वृथा ही उपजाए तैं।
    निपट निकाम काम काहू के न आवै ऐसे
                    सूरत हराम राम काहे को बनाए तैं॥

ठाकुर की भक्ति विषयिणी रचनाओ के आधार पर यदि हम उनके भक्तिभाव को निर्धारित करना चाहें तो कह सकते हैं कि उनकी भक्ति भावना दास्य और सख्यभाव मिश्रित थी। वे ईश्वर की अपार शक्ति और अपनी नगण्यता से अभिज्ञ हो दास्यभाव की विनम्रता प्रकट करते है और किन्ही क्षणो मे अपने को भगवान के अत्यत निकट

अनुभव कर उनमे बराबरी का व्यवहार करते हुए अपने काव्य मे सख्य भक्ति की झलक देते हैं।

नीति कथन

ठाकुर कवि की प्राप्य रचनाओ का एक अंश ऐसा भी है जिसमे उन्होंने जगत की गति का वर्णन किया है। संसार की दशा दिखलाने के अनतर उन्होंने मनुष्य के रहने की विधि भी निर्दिष्ट की है। ऐसी रचनाओ मे कवि ने जमाने के दोषो को देखने और दिखाने की चेष्टा की है तथा इन्ही रचनाओ से उनकी सामाजिक जागरूकता का पता चलता है। ठाकुर ने भक्त कवियो की ही तरह कहा है कि देखो कलियुग मे समाज और जाति की यह दशा है, यह है कुकर्म का प्रसार और यह है अनीति की पिटती हुई डौडी। ससार मे अब कुछ रह नही गया। खाने के लिए लोगों के पास कसम बच रही है, करने के लिए पाप, लेने के लिए अपजस और देने के लिए दोष—'खैबे को जु सौंह राखी कैब को सु पाप राख्यौ लैबे को अजस अरु दैबे को सु लाबरी।' कवि का क्षोभ कभी-कभी स्वयं ईश्वर के प्रति कटु उलाहने के रूप मे फूट पडा है— 'निपट निकाम काम काहू के न आवैं ऐस सूरत हराम राम काहे को बनए तैं।' ऐस संसार के प्रति ठाकुर के हृदय का कोई लगाव नही। वे इस भौतिक जगत और उससे भी अधिक इस पंचभौतिक काया की नश्वरता से भली भाँति अवगत थे इसी से उन्होने कुछ-कुछ कबीर के ही ढग से (यद्यपि उनकी सी अनुभूति को तीव्रता के साथ नही) कहा है कि जिस शरीर के सुख के लिए हम अनेक प्रकार के व्यजनो हय, गजरथादि, धनधाम और भेषजादि का आयोजन करते है उसी को प्राण विसर्जित हो जाने पर हम जलाकर राख कर डालते है। इस प्रकार का तत्वज्ञान रखने वाल ठाकुर ने फिर भी हमे अकर्मण्यता अथवा जगत की अवहेलना का कोई पाठ नही पढाया। और न ही हमे जीवन के प्रति कोई अव्यावहारिक पाठ ही पढाया। वे ससार और उससे भी अधिक ससार प्रकृति से वाकिफ थे। उनकी मानवा प्रकृति की जानकारी भी देखने योग्य है। वे जानते थे कि मनुष्य बडी सामर्थ्य वाला प्राणी है, उसके लिए कुछ भी असभव नही, अपराजेय शक्तियो को भी वह अपनी अनुगामिनी बना सकता है किन्तु कुपथ पर चल कर वह असाधारण रूप से नीचे भी जा सकता है। जरा-जरा सी बात का उसे डर रहता है और यो उसे यम की भी परवाह नही रहती। कभी वह परम धर्मात्मा हो जाता है और कभी चरम अधर्माचरण भी करता है। जब उसकी नीयत खराब हो जाती है तो स्वार्थ साधन और पदार्थ विनाश मे उससे चतुर दूसरा नही हो सकता। लोभ मोह माया मे लिप्त हो वह शरीर को ही अजर-अमर कहने लगता है तथा उसे लोक-परलोक का भी भय नही रहता। उसका अभिमान जब उद्बुद्ध होता है तो वह

विधाता को भी कुछ नही गिनता किन्तु उसके स्वरूप के इसी पक्ष को ही सत्य मान लेना भारी भूल होगी क्योंकि—

कबहूँ यौ सँयोग के भोग करै जिनकी सुरराज को चाह सी है।
कबहूँ यौ बियोग बिथा को सहै जोऊ जोगिन हूँ कौं अकाह सी है।
कवि ठाकुर देखो बिचारि हिये कछु ऐसी अलाहदा राह सो है।
यह मानस को तन मे भैट्ट ममयो परै को बड़ो साहसो है।।

वह सचमुच ब्रह्मा की सबसे विलक्षण सृष्टि है। मनुष्य के मन के हठीलेपन का लक्ष्य करके भी ठाकुर ने कुछ छन्द लिखे है। उसे उन्होने 'मोह के कीच मे फँसा हुआ मतवाला हाथी' कहा है जो माया के समुद्र मे आ धँसा है। वह ज्ञान के महावत, लज्जा के अकुश और भय अथवा शका की शृखलाओ मे भी जकडा नही जा सकता। वह मौत के कीच मे ऐसा फँस गया है कि उससे निकलता नही, उसे सिर पर सवार मौत भी नही दिखाई देती। उसे नियत्रित होने की विधि बताते हुए देव कवि की तरह ठाकुर ने चेतावनी भी दी है—

मेरी कही मान मन सपनौ सो जान जग,
छोड़ि अभिमान फेर ऐसो नहीं दाँव रे।
दीन है दया की सीख संपति बिपति भीख,
एक सम दीख नही बनै है बनाव रे।
ठाकुर कहत ब्रजचंद चंदमुखी राधा,
बृन्दावन बीथिन मैं हरि गुन गाव रे।
बीति जात ऊमर भंडार नन रीति जात,
बीति जात काल के हवाले होत बावरे।।

मन को मोह से मुक्त करने तथा मन को प्रबोधित करने का कारण है उसकी भटक-भटक जाने की आदत। इस आदत को छुड़ाने की सख्त आवश्यकता भी रहती है। इसी आदत के पडने या सुधरने पर कितना अनिष्ट और इष्ट निर्भर करता है लेकिन मन को लेकर जो सबसे ऊँची बात ठाकुर ने कही है वह यह है कि इस मन को भगवान के प्रेमरस की रगभूमि मे डुबोये रहकर ससार मे निर्द्वंद्व रहो—

ठाकुर कहत मन आपनो मगन राखौ,
प्रेम निरसंक रस रंग बिहरन देव।
बिधि के बनाये जीव जेते है जहाँ के तहाँ,
खेलत फिरत तिन्है खेलन फिरन देव।।

संसार की गति और दशा को देखते हुए तथा मनुष्य की आचरण विधि से अभिज्ञ हो अपने जीवन के अनुभवो से उत्पन्न ज्ञान को उन्होने उपदेश अथवा नीतिमूलक

उक्तियों के रूप मे हमारे सामने रक्खा है वे । बार-बार मनुष्यता को सर्वोपरि धर्म बतलाते हैं, इसी मनुष्यता को वे पौरुष या मरदानगी भी कहते है । ठाकुर की राय मे हमारी मनुष्यता इस बात मे है कि हम जिसकी बाँह पकडे उसका अत तक निर्वाह करे, अपने वचनो को व्यर्थ मे न जाने दे, साहस पूर्वक सिर पर जो आ पडे उसके बावजूद भी समस्त जीवन धर्मों का निश्चल भाव से निर्वाह करे। इतनी वे हमसे मनुष्यता के नाम पर उम्मीद करते है और उनकी यह उम्मीद बिल्कुल जा है। उनके कुछ उपदेश इस प्रकार है— प्रवीणों की सगति करो, मन को आतरिक तोष देने वाले कार्य करो, नीचो की सगति से बचो तथा रूप और यौवन ऐसा दुर्लभ रत्न और धन पाकर उसका दुरुपयोग न करो । यथाशक्ति दूसरो की–विशेषकर उनकी जो तुमसे कुछ आशा रखते है–भलाई करो, दीनो का सदा दुख दूर करो, यदि गाँठ से खर्च करने मे कष्ट होता हो तो अन्य ऐसे उपकार करने से बाज न आओ जिनमे तुम्हारी गाँठ से कुछ न लगता हो । इस प्रकार के ऐसे अनेक उपयोगी एव व्यावहारिक सकेत ठाकुर हमारे लिए कर गए है जो उनकी जीवन विषयक परिपूर्ण जागृति के सूचक है। ऐसे अवतरण ठाकुर कवि की रचना से अनेक प्रस्तुत किये जा सकते है जिनमे वे सहज मस्ती मे आकर लाख रूपये की बात कह गए है—

दान दया बिन दीबो कहा अरु लीबो कहा जब आपु ते माँगो ।
प्राण गए रस पीबो कहा पग छीबो कहा उर प्रेम न जागो ।
नारि कहा जेहि लाज तजी गुरु कीबो कहा भ्रम दूर न भागो ।
या जग में फिर जीबो कहा जब आँगुरी लोग उठावन लागो ॥

ठाकुर कवि की ये जगत विषयक रचनाएँ जिनमे ससार की दशा, उसकी गति, संसारियो की प्रकृति, मनुष्य के मन तथा उसके उज्ज्वल और अनुज्ज्वल पक्षो का दार्शनिक अथवा बौद्धिक नही बल्कि आनुभाविक आधार पर विश्लेषण किया गया है, अपने आप मे बडी सबल है। इन उक्तियो की सत्यता और प्रबलता के पीछे अनुभव की शिला जो रक्खी हुई है इसीलिये ये कथन आदि किसी को नीरस नैतिक उक्तियो सी लगे तो भी इनमे निहित सत्य की आलोकदायिनी किरणे हमे आज तथा आगे भी बहुत काल तक पथ दिखलाती रहेगी । क्या यह पक्ति हमारे अतस् के स्तर-स्तर को बेधती हुई हमारे अतर्तम मे पहुँच कर वेग से गूँज नही उठती— 'या जग में फिर जीबो कहा जब आँगुरी लोग उठावन लागो ।'

द्विजदेव

परिचय

रीतियुग मे शृङ्गार धारा के अंतिम महत्त्वपूर्ण कवि 'द्विजदेव' माने जाते हैं। ये अपनी स्वच्छंद काव्य प्रवृत्ति के कारण अत्यंत प्रसिद्ध है। महाराज मानसिंह जी 'द्विजदेव' का जन्म मार्गशीर्ष शुक्ल ५ सं १८७७ विक्रमी (१० दिसम्बर १८२०) को हुआ। ये 'सरकोबे सुरकशाने सल्तनत बहादुर' अयोध्यानरेश महाराज दर्शनसिंह के भ्रातृपुत्र होने के साथ-साथ उनके दत्तक पुत्र भी थे। ये शाकद्वीपी ब्राह्मण थे और संस्कृत, हिन्दी, फारसी तथा अंग्रेजी के ज्ञाता थे। राजा दर्शनसिंह की मृत्यु (सं १९१२) के बाद इन्होंने वीरता और साहस के अनेक कार्य किये जैसे विद्रोहियों का शमन, महत्वाकांक्षियों का दमन और डाकुओं का दलन आदि जिसके कारण इन्हे 'राजा बहादुर' 'कायमजंग' आदि की पदवी तथा यथेष्ट सम्मान एवं उपहार आदि मिले।[1] भिनगा के महाराज पर चढाई, हनुमान राजगढी के प्रसिद्ध हिन्दू-मुस्लिम झगडे के कारण की खोज मे प्रकट बुद्धिमत्ता (जिसपर इन्हे 'राजएराजगान' की उपाधि मिली) तथा सं० १९१४ के आस-पास अवध-लखनऊ मे होने वाले विद्रोही बलवों आदि मे इनके साहस एवं धैर्यपूर्ण कार्यों के कारण सं० १९१६ मे लखनऊ के बडे दरबार में इन्हे 'महाराजा' की पदवी तथा और भी अनेक उपहार मिले[2]। ये अवध के प्रधान ताल्लुकेदारों में थे और सं० १९२६ मे इन्हे के० सी० एस० आई० की उपाधि मिली। ये अवध के ताल्लुकेदारो के एसोसिएशन के सभापति थे तथा 'ब्रिटिश-इन्डियन-एसोसिएशन' की स्थापना मे इनका प्रधान हाथ था। कार्तिक कृष्ण २ सं० १९२७ (१० अक्तूबर सन् १८७०) को ५० वर्ष की आयु मे ये दिवंगत हुए।

महाराज मानसिंह एक रणकुशल योद्धा, राजनीतिज्ञ, विद्वान एवं गुणीजन के आश्रयदाता थे। पण्डित प्रवीण और उदयचन्द भंडारी इनकी सभा के कवि थे। ये स्वयं एक साहित्यिक वातावरण का अनुमान करने की दृष्टि से इनके समसामयिक कवियो का नामोल्लेख अनुचित न होगा—ललित किसोरी, ललित माधुरी, उमादास, जीवनलाल नागर, निहालदेव, काष्ठजिह्वा, नवीन, कृष्णानन्द व्यास, गणेश प्रसाद (फर्रुखाबाद), माधव, कासिमशाह, गिरधरदास, पजनेश, सेवक, महाराज रघुराजसिंह (रीवा), शम्भूनाथ मिश्र, सरदार, बलदेवसिंह, अनीस, राजा शिव प्रसाद, गुलाबसिंह, बाबा रघुनाथदास, रामसनेही, लेखराज आदि।[3]

---

१. शृङ्गार—लतिका-सौरभ: ब्रजरत्नदास की भूमिका पृ० १६-१७

२ वही : पृ० १७ १८

३. मिश्रबन्धु विनोद पृ० १०६५

अश्वारोहण और मृगया मे इन्हे विशेष रुचि थी। सैन्य सचालन, विद्रोह-दमन, राजकार्य आदि मे सलग्न होते हुए भी 'द्विजदेव जी' काव्य-रचना के लिए अवकाश निकाल लेते थे, यह बात और भी महत्वपूर्ण और सराहनीय हो जाती है। लक्ष्मी और सरस्वती दोनो इनके दाये-बाये घूमती रहती थी। कवि के लिए ऐसा सौभाग्य विरल हुआ करता है। सरलता और प्रजा का दुःख-निवारण इनके हार्दिक गुण थे। अवध के क्षत्रिय बलदेवसिंह को शिवसिंह सेगर और मिश्रबन्धुओ ने 'द्विजदेव' का काव्य गुरु बतलाया है।[1] द्विजदेव जी कवियो और विद्वानो का बडा आदर करते थे। इनके व्यक्तित्व के सबध मे अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' लिखते है कि ये 'नीतिरता, गुणज्ञता, सहृदयता, उदारता, भावुकता अथच बहुदर्शिता के लिये प्रसिद्ध थे। आपके दरबार मे कवियो का बडा सम्मान था क्योकि उनमे कविकर्म की यथार्थ परख थी। वे स्वयं भी बडी सुन्दर कविता करते थे।[2]

कृतियाँ

द्विजदेव जी के उत्तराधिकारी महाराज सर प्रताप नारायण सिंह उपनाम 'ददुआ साहब' ने 'रस कुसुमाकर' नामक अलकार और रस सबधी हिन्दी कविता का एक बड़ा संग्रह प्रकाशित किया है जिसमे द्विजदेव कवि के भी छद संग्रहीत हैं। 'द्विजदेव' के लिखे दो ग्रथ बताये जाते है 'शृङ्गार बत्तीसी' और 'शृङ्गार लतिका'।[3] इनके ये दोनो ग्रंथ नवल किशोर प्रेस से प्रकाशित हो चुके है जिनका सम्पादन लाल त्रिलोकीनाथ सिंह ने किया है। उन्होने शृङ्गार बत्तीसी की रचना का कारण इस प्रकार दिया है - "कम्पनी ने जब १२६३ फसली मे लखनऊ अपने अधीन किया तब महाराज मानसिंह कौ हू कैद करि राज्य नष्ट करन चाह्यौ, इस कारण महाराज ने पहिले ही अभिप्राय जान बनबास मे मन दियौ। श्रावण-भादो मास बन मे व्यतीत भयौ, तहाँ चित्त के विनोदार्थ पावस ऋतु वर्णन पूर्वक राधा-माधव की लीला स्मरण कियौ ताही कौ 'शृङ्गार बत्तीसी' सग्या दीनी ।" द्विजदेव की कीर्ति श्री के प्रधान आधार शृङ्गार लतिका की दो टीकाएं उपलब्ध हैं—एक तो सुमेरपुर, जिला उन्नाव के जगन्नाथ अवस्थी की ब्रजभाषा टीका और दूसरी महाराज मानसिंह जी 'द्विजदेव' के दौहित्र तथा उत्तराधिकारी महाराज प्रताप नारायण सिंह की जिसमे सदर्भ, शब्दार्थ, पदार्थ, विस्तृत भावार्थ देकर काव्यगत गुण, अलकार, रीति, वृत्ति, ध्वनि नायिका आदि का निर्देश कर काव्य को विद्वतापूर्ण रीति से सुगम बनाया गया है। यथा स्थान संस्कृत काव्य से अवतरण दे देकर ग्रथ को और भी साहित्यिक रुचिरता प्रदान की गई है। निश्चय ही यह टीका प्रथम की अपेक्षा अधिक उपादेय है। 'द्विज-

---

१. मिश्रबंधु विनोद, पृ० १०५२
२. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास—हरिऔध, पृ० ४६८
३. कविता कौमुदी (पहला भाग) रामनरेश त्रिपाठी, पृ० ५२१-२२

देव' की मुक्तक रचनाओं के एक अन्य सग्रह 'शृगार चालीसी' का भी पता चलता है जो अमर यत्रालय काशी से प्रकाशित हुआ था। 'द्विजदेव' जी की समस्त रचनाएँ आगे चलकर 'शृगार लतिका-सौरभ' नाम से प्रकाशित हुई।

शृङ्गार लतिका-सौरभ—शृगार लतिका का जो सस्करण अयोध्या की श्रीमती महारानी जगदम्बा देवी ने प्रकाशित किया है वह दीर्घकाल के अध्यवसाय, कठिन परिश्रम, सुरुचि और अत्यधिक व्ययपूर्वक सम्भव हुआ है। सजधज बाह्यावरण, मुद्रण आदि की दृष्टि से हिन्दी का कोई भी काव्य ग्रथ आज तक इस प्रकार प्रकाशित नही किया गया है। बडी योजना, तैयारी और उत्साह के साथ उक्त ग्रथ का सम्पादन हुआ है। पहले तो इसके प्रकाशन के लिए ही राजसदन मे 'राजराजेश्वर' नामक एक प्रेस तक स्थापित किया गया जिसमे १२ फार्म इस ग्रंथ के यशस्वी टीकाकार अयोध्या-नरेश महाराज प्रताप नारायण सिंह ने स्वतः अपनी देख रेख मे प्रकाशित कराये थे किन्तु उनके आकस्मिक निधन से यह कार्य रुक गया तथा बाद मे एक न एक बाधा आती ही रही। उक्त महाराज की धर्मपत्नी महारानी जगदम्बा देवी ने यह कार्य अपने प्राइवेट सेक्रेटरी बा० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' को सौप दिया और उन्होने इस कृति के सम्पादन और प्रकाशन का कार्य प्रारभ भी कर दिया किन्तु इसी समय अयोध्या राज्य का प्रबध 'कोर्ट आफ वार्ड्स' के अधीन चले जाने तथा राज-कार्य सबधी अनेक जटिल समस्याओं के उपस्थित हो जाने के कारण यह कार्य भी रुक गया। फिर 'रत्नाकर' जी का भी देहावसान हो गया और ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि और आचार्य डा० रामशकर शुक्ल 'रसाल' को इसके संपादन का कार्य सौपा गया। सपादित होकर यह ग्रथ इण्डियन प्रेस प्रयाग द्वारा मुद्रित भी हुआ किन्तु इसमे भी महारानी जगदम्बा देवी की इच्छानुरूप अपेक्षित चारुता (संपादन और मुद्रण दोनो की) न आ सकी। फलस्वरूप यह कार्य प्रसिद्ध ब्रजभाषा विद्वान मथुरा निवासी प० जवाहरलाल चतुर्वेदी को दिया गया जिन्होने दो वर्ष के अथक परिश्रम के अनंतर इस ग्रन्थ का सर्वाङ्गपूर्ण सुन्दर सपादन किया और इडियन प्रेस प्रयाग ने इसे अपेक्षित चारुता और सजधज के साथ मुद्रित किया। इस प्रकार महारानी जगदबा देवी ने अपने पति की चिर सचित इच्छा की पूर्ति का अपना दायित्व निर्वाह किया और काव्य रसिकों के लिए यह अनुपम ग्रन्थ सामने आया।[1] इसका प्रकाशन सं० १९९३ (सन् १९३६) मे हुआ। यह ग्रन्थ 'शृंगार-लतिका-सौरभ' नाम से प्रकाशित हुआ है। जैसा विदित ही है 'शृङ्गार लतिका' के यशस्वी रचयिता "सरकोब सरकशान राजैराजगान महाराज सर मानसिह बहादुर, 'द्विजदेव' कायमजग, के० सी० एस०

---

१. देखिये शृगार-लतिका-सौरभ का महारानी जगदम्बा देवी द्वारा लिखित 'वक्तव्य' प्रकाशिका—श्रीमती महारानी जगदम्बा देवी, राजसदन, अयोध्या (स० १९९३) मुद्रक—के० मित्र, इण्डियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग।

आई० 'अयोध्या नरेश' है और इसके 'सौरभी टीकाकार' "द्विजराज सूर्य्योद्भव, ब्रिटिश इंडियन एसोसियेशन के यावज्जीवन सभापति महाममोपाध्याय महाराज सर प्रताप नारायण सिंह बहादुर, के० सी० एस० आई० अयोध्यानरेश। 'श्रृंगार-लतिका-सौरभ' मे एक नही दो दो टीकाएँ दी हुई है। पहली टीका उक्त महाराज की है और दूसरी टीका व्रजभाषा मे है जो सुमेरपुर जिला उन्नाव के पं० जगन्नाथ अवस्थी की लिखी है। प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका द्विवेदी युग के प्रसिद्ध लेखक और समालोचक बा० व्रजरत्नदास द्वारा लिखी गई है जिसमे उन्होने ग्रन्थ के कर्त्ता और कृति दोनो का अच्छा परिचय दिया है।

'श्रृंगार-लतिका-सौरभ' तीन सुमनो मे विभाजित हुआ है। प्रथम सुमन मे ६५ छंद है द्वितीय मे १७४ और तृतीय मे ८६। परिशिष्ट मे १० छंद और दिए गए (४ कवित्त और ६ सवैये) जो विविध संग्रहो मे यत्र-तत्र प्राप्त तो हुए है किन्तु संपादक की दृष्टि मे संदिग्ध है।

वैसे तो इसके पूर्व महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' की रचनाओ के कुछ संग्रह श्रृंगार बत्तीसी, श्रृंगार चालीसी तथा श्रृंगार लतिका पहले भी प्रकाशित हो चुके थे किन्तु उनकी कविताओ का पूर्ण विवेचनात्मक संग्रह अब तक नही प्रकाशित हो सका था। प्रस्तुत संपादन एवं प्रकाशन द्वारा 'द्विजदेव' कवि की समस्त रचनाओ का प्रामाणिक संस्करण सामने लाया जा सका है। चूंकि इस ग्रन्थ के रचयिता अयोध्या राज्य के एक प्रतापी महाराज थे और उनके ग्रन्थ की मूल पाण्डुलिपि तथा उसकी अन्यान्य हस्तलिखित प्रतियाँ और प्रकाशित सामग्री उपलब्ध थी तथा उसके प्रकाशन मे रचयिता के ही वंशधर रुचि ले रहे थे फलतः उनकी रचना का पूर्ण प्रामाणिक रूप ही प्रस्तुत संस्करण के प्रकाशन द्वारा हिन्दी जगत के समक्ष आ सका है। यो भी हिन्दी मे प्राचीन काव्य के प्रामाणिक संपादन के कार्य का श्रीगणेश अपेक्षाकृत बाद मे हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन और संपादन हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थो के प्रामाणिक संपादन और प्रकाशन के इतिहास मे प्रारंभिक प्रकाशनो मे ही परिगणित किया जायगा। वैसे अब यह ग्रन्थ भी सुलभ नही। प्रयाग ऐसे साहित्यिक तीर्थ मे बहुत प्रयत्न के बाद और नाना ग्रन्थागारो की छानबीन के बाद भी यह ग्रन्थ मुझे अप्राप्य ही रहा। इसके प्रकाशन की सूचना सर्वप्रथम मुझे आचार्य प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र से मिली तथा अध्ययन की सुविधा नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के व्यवस्थापको के सौजन्य से और दूसरी बार लखनऊ मे डॉ० भवानी शंकर याज्ञिक की कृपा से प्राप्त हुई।

द्विजदेव कवि के 'श्रृंगार-लतिका-सौरभ' के संपादन मे ग्रन्थ के जिन भूतपूर्व प्रकाशित संस्करणो और पाण्डुलिपियो का आधार बनाया गया है उनकी नामावली इस प्रकार है[1] :—

---

१. श्रृङ्गार लतिका सौरभ (स० १९९३) पृ० ७९३

१. शृङ्गार चालीसी—द्विजदेव कृत, प० मन्नालाल संपादित, अमर यंत्रालय, काशी।
२. शृङ्गार बत्तीसी—लाल त्रिलोकीनाथ सिंह संगासित, नवल किशोर प्रेस, तृतीय संस्करण।
३. शृङ्गार लतिका—पं० जगन्नाथ अवस्थी कृत, ब्रजभाषा टीका सहित, नवल किशोर प्रेस, लीथो की छपी।
४ शृङ्गार लतिका—पं० जगन्नाथ अवस्थी कृत ब्रजभाषा टीका सहित, नवलकिशोर प्रेस मे टाइप से छपी और काशी निवासी प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र से प्राप्त।
५ शृङ्गार लतिका—मूलमात्र, पं० नकछेदी तिवारी उपनाम 'अजान' कवि संपादित और चंद्र प्रभा प्रेस, काशी की छपी, नागरी प्रचारणी सभा काशी से बा० ब्रजरत्नदास द्वारा प्राप्त।
६. शृङ्गार लतिका—मूल, प० मन्नालाल द्वारा संपादित, प्रथम पृष्ठ नदारत, भारती भवन पुस्तकालय, प्रयाग।
७. शृङ्गार लतिका—हस्तलिखित प्रति, महाराज प्रतापनारायण सिंह (ददुआसाहब) कृत सौरभी टीका सहित और महारानी साहिबा अयोध्या से प्राप्त।
८. शृङ्गार लतिका—मूलमात्र, हस्तलिखित बनारस के लाला रामचरन द्वारा प्राप्त।
९. शृंगार लतिका—मूल हस्तलिखित, ठाकुर दुर्जन सिंह मिर्जापुर से प्राप्त।

'शृंगार लतिका सौरभ' मे महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' की समस्त रचनाओं का संपादन हुआ है।

'द्विजदेव' जी के काव्य को देखने से उनकी काव्य-प्रवृत्ति के विषय में निम्नलिखित बाते स्पष्ट रूप से अवगत होती हैं—

(१) कि प्रकृति की विभूति के प्रति उनके हृदय में पर्याप्त अनुराग था।

(२) द्विजदेव भी मूलतः शृङ्गारी प्रवृत्ति के कवि थे।

(३) काव्य की बँधी रूढ़ियों से कुछ हटकर चलने का प्रयास किया है।

प्रकृति चित्रण

प्राकृतिक-विभव के प्रति उनका स्वभावगत प्रेम वसत और वर्षा के सजीव वर्णनों मे देखा जा सकता है। वसत ऋतु मे वृक्षराजियो की समग्र शोभा जहाँ हमारा मनहरण करती है वही उनमे से प्रत्येक की पृथक् छटा भी कम मनोहारिणी नही होती —

डोलि रहे बिकसे तरु एकै सु एकै रहे हैं नवाइ कै सीसहि ।
त्यौं द्विजदेव मरंद के व्याज सों एकै अनंद के आँसू बरीसहिं ।।
कौन कहै उपमा तिनकी जे लहैं सबै बिधि सपति दीसहिं ।
तैसैंई है अनुराग भरे, कर-पल्लव जोरि कै एकै असीसहि ।।

वसतागम से प्रफुल्लित कोई वृक्ष मुसकरा रहा है तो कोई शोभावनत हो रहा है, कोई मरंद दान के मिस आँसू बहा रहा है, कोई अभिनव संपदा से समृद्ध प्रतीत हो रहा है तो कोई प्रेम से परिपूर्ण हो अपने पल्लव-करो से आशिष दे रहा है। वृक्षों की पृथक-पृथक छटा कैसी चित्रात्मक है। उनका जो मानवीकरण किया गया है वह और भी व्यामोहक है। वसत की मादक ऋतु प्रकृति मे किस प्रकार के अनिर्वचनीय परिवर्तन लाती है इसे दिखाने के लिए कवि ने भेदकातिशयोक्ति अलकार के प्रयोग द्वारा वासती शोभा का कैसा आकर्षक चित्रण किया है—

औरै भाँति कोकिल चकोर ठौर ठौर बोलैं
औरै भाँति सबद पपीहन के बै गए ।
औरै भाँति पल्लव लिए है बृन्द बृन्द तरु
औरै छबि पुंज कुंज कुंजन उनै गए ।।
औरै भाँति सीतल सुगंध मंद डोलै पौन
द्विजदेव देखत न ऐसें पल द्वै गए ।
औरै रति औरै रंग औरै साज औरै संग
औरै बन औरैं छन औरै मन ह्वै गए ।।

वसत ऋतु समूची प्रकृति को किस प्रकार बदल देती है, प्रकृति के उपकरणो मे कैसी अभिनव सुषमा सन्निविष्ट हो जाती है, मधुभार से पुष्पावलियाँ किस प्रकार झुक-झुक कर झूम-झूम उठती हैं, भौरो की भीड़ किस प्रकार गुञ्जार करने लगती है, कोयल किस प्रकार कूकने लगती है, गुलाबो मे कैसी चटकाहट दिखाई देती है —

खोलि इन नैननि निहारौं तौ निहारौं कहा
सुखमा अभूत छाइ रही प्रति भौन भौन ।
चाँदनी के भार न दिखात उनयौ सौ चंद
गंध ही के भारन बहत मंद मंद पौन ।।

उपर्युक्त वर्णनो मे कवि प्राकृतिक सुषमा पर मुग्ध होकर उसका वर्णन करता जान पडता है। नीचे के वर्णन मे देखिए वह किस प्रकार आत्मज्ञान शून्य होकर जड-चेतन का भेद भूलकर प्रकृति से एकमेक हो रहा है। वैभवपूर्ण वसत को आता हुआ देखकर वह स्वतः कैसा उल्लसित हो उठा है! वह प्राकृतिक पदार्थों को भी उल्लसित होने का आवाहन करता है—

गावौ किन कोकिल बजावौ किन बैनु बैनु
नचौ किन झूमरि लतागन बने ठने।
फैंकि फैंकि मारो किन निजकर पल्लव सौं
ललित लवंग फूल पातन घने घने॥
फूलमाल धारौ किन, सौरभ सँवारौ किन
यहो परिचारक समीर सुख सौं सने।
मौर धरि बैठो किन चतुर रसाल! आज
आवत बसंत ऋतुराज तुम्हैं देखने॥

ये तथा सदृश वर्णन द्विजदेव के प्रकृति-प्रेम के द्योतक हैं। वर्षा या पावस वर्णन के छन्दो मे भी ऐसी ही मनोहारिता है—

होते हवे नव अंकुर को छवि छार कछारन में अनियारी
त्यों द्विजदेव कदंबन गुच्छ नए-ई-नए उनये सुखकारी॥
कीजिए बेगि सनाथ उन्हें चलिग बन कुंजन कुंज बिहारी।
पावस काल के मेघ नए, नव नेह नई वृषभानु कुमारी॥

यह छंद तो कुञ्जबिहारी की सभोगवासना को जागृत करने के लिए लिखा गया है, इसमे प्रकृति का शुद्ध और निर्व्याज चित्रण नही है प्रकृति को आलबन रूप में ग्रहण कर उसके सश्लिष्ट रूप चित्रण की चेष्टा नही है। इसी प्रकार अगले छन्द में काली घटाएँ, पपीहा के शब्द और सावन की बूंदे चावो में चुभी हुई मन·भावन के अंक में बैठी हुई नायिकाओं को आनद के पीयूष मे पागने के लिए ही वर्णित हुई हैं—

चूनरी सुरंग सजि सोहो अंग अंगनि
उमंगनि अनंग अंगना लौ उमहति हैं।
झुकि झुकि झाँकति झरोखन तें कारी घटा
चौहरे अटा पै बिज्जु छटा सी जगति हैं॥
द्विजदेव सुनि सुनि सबद पपीहरा के
पुनि पुनि आनंद पियूष में पगति हैं।
चावन चुभी सी मन भावन के अंक तिन्हें
सावन की बूँदें ए सुहावनी लगति हैं॥

यह प्रवृत्ति किसी स्वच्छन्दता की सूचक नही कही जा सकती। इसी प्रकार के वर्णन रीतिबद्ध अथवा रीतिकाल के परपरापोषक सभी कवियो मे मिलते है।

शृङ्गारी काव्य—अब द्विजदेव की शृगारी प्रवृत्ति की तरफ आइये। रीतिकाल के अधिकाश कवियो की भाँति द्विजदेव की कविता भी शृगारिक है, उसमें वयःसधि से लेकर संभोग तक के चित्र हैं। मेरे कहने का यह प्रयाजन नही है कि नायिका भेद के ग्रन्थों में वर्णित पद्धति पर द्विजदेव ने नायिका के अग-प्रत्यगो और भेद-प्रभेदो का निरूपण किया है। अभीष्ट इतना ही है कि इन वर्णनो मे रीतिबद्ध काव्यकारों की छाया स्पष्ट है अथवा यो कहना अधिक सगत होगा कि द्विजदेव के वर्णन किसी सीमा तक उसी पद्धति के हैं। वय सधि का चित्र देखिए—

कौन कौ प्रान हरैं हम यौं दृग काननि लागि मतौ चहैं बूझन।
त्यौं कछु आपुस ही मैं उरोज कसा कसी कै कै चहै बढ़ि जूझन॥
ऐसे दुराज दुहूँ बय के सब ही कौं लग्यौ अब चौचंद सूझन।
लूटन लागी प्रभा कढ़ि कै बढ़ि केस छबान सौं लागे अरूझन॥

सौकुमार्य और अंगद्युति का वर्णन पर्याप्त चित्रात्मक है—

जावक के भार पग परत धरा पै मद
गधभार कुचन परी हैं छुटि अलकैं।
द्विजदेव तैसिए विचित्र बरुनी के भार
आधे आधे दृगनि परी हैं अध पलकैं॥
ऐसी छबि देखि अंग अंग की अपार
बार बार लोल लोचन सु कौन के न ललकैं।
पानिप के भारन सँभारत न गात लंक
लचि लचि जात कचभारन के हलकै॥

नायिका के किन्ही नियत अंगों की ओर सकेत करते हुए कवि ने उसके समस्त अंग सौन्दर्य को साक्षात्कृत कराने की चेष्टा की है। वर्णन पद्धति का वैशिष्ट्य भी कुछ कम उल्लेखनोय नही है। वह मद-मद चरण-निक्षेप क्यो करती है? क्योकि उसके चरण जावक (महावर) के भार से बोझिल हैं। उन्मद नेत्रो मे अर्ध निमीलन क्यो हैं? क्योंकि बड़ी-बड़ी बरौनियो के भार से पलके दबी जा रही हैं। केश शिथिल होकर नायिका के वक्ष देश पर क्यों बिखर गए हैं? क्योकि उनमे सुगंधि का भार है। लंक क्यों लचक-लचक जाती है? क्योकि उनपर देहगत सौन्दर्य की आभा और केशों का भार पड़ रहा है। कैसी सुकुमार और अनूठी कल्पना है, फिर भला इस प्रकार की अंग-अंग की अपार छबि को देखकर बार-बार देखने के लिए किसके नेत्र न ललकेगे? कवि नायिका के सौन्दर्य पर रीझा हुआ कभी उसकी गति का वर्णन करता

है कभी उझककर झाँकते समय उसकी आभा का। उसकी गति को देखकर कोई कहता है कि उसने गयदों की सी चाल पाई है, कोई कहता है उसने मरालों की चाल सीख ली है। कवि कहता है इस प्रकार के कुतर्कों मे कितनों की मति बौरा गई है सच तो यह है कि उसे धीमे चलना चाहिए क्योंकि उसकी चाल पर लाखो की आँखें अटकी हुई हैं। कही उसे नजर न लग जाय ! कही उसकी चाल को कुछ हो न जाय --

वह मंद चलै किन भोरी भटू पग लाखन की अँखिआँ अटकी ।।

एक जगह कवि ने प्रतीप-पद्धति पर मुख के प्रसिद्ध उपमानों को निरादृत किया है—

मंद भए दीपक बिलोकि क्यों अनंद होते
भोरै चारु चंद के चकोर चित चोखे तें।
होती समताई दिखवारन के भाखें कब
चितामनि आरसी को आनन अनोखे तें ।।
'द्विजदेव' की सौं एतो होतो उपहास कब
मानसर हूँ के अरबिन्द अति ओखे तें।
आलिन के संग दीपमाली के बिलोकिबे को
औझकि उझकि जो न झाँकती झरोखे तें ।।

पूर्वोल्लिखित छन्द मे गति का वर्णन है, इसमे गत्यात्मक सौन्दर्य का यह छन्द बिहारी की इन पक्तियों का स्मरण दिलाता है—

नावक सर सी लाय कै, तिलक तरुनि इत ताकि ।
पावक झर सी झमकि कै, गई झरोखा झाँकि ।। (बिहारी)

नायिका के सौन्दर्य के साथ-साथ नायक के सौन्दर्य का भी सकेत है, सौन्दर्य का वर्णन नही। यह सौन्दर्य-सकेत अभिनय प्रसगोद्भावना के साथ-साथ है। एक दिन की बात है, प्रेमिका उद्यान मे जाती है। वहाँ उसने जो कुछ देखा और उस पर जैसी बीती उसका उसी की जबानी हाल सुनिये—

आज सुभाइन हाँ गई बाग बिलोकि प्रसून की पाँति रही पगि।
ताहि समै तहाँ आए गुवाल तिन्हैं लखि औ गयौ हियरो ठगि ।।
पै द्विजदेव न जानि पर्यो धौं कहा तिहि काल परे अँसुवा जगि।
तू जो कहै सखि ! लोनै सरूप सो मो अँखियान मैं लोनी गई लगि ।।

अंतिम पंक्ति मे नायिका के मनोगत प्रभाव का कैसा मर्मस्पर्शी वर्णन है। नायक का रूप चित्रित नही किया गया उसका प्रभाव मात्र दिखलाया है। सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण नहीं किया गया है उसकी व्यजना हुई है। उसका अनुमान आप करते रहिये। रीतिकाल के कवियों मे यह पद्धति विशेष प्रचलित रही है। वस्तुगत सौन्दर्य का प्रत्यक्ष चित्रण न करते हुए उसके एक दो या बहुत व्यक्तियो पर पड़े प्रभाव का चित्रण करना

तथा इस पद्धति से काव्य पाठक पर सौन्दर्यातिशय्य की छाप डालना इस शैली पर रीतिबद्धो ने ही वर्णन किया हो ऐसी बात नही। रीतिमुक्त काव्यकारों ने भी इसे अपनाया है। आलम आदि के प्रसग मे यह बात विस्तार के साथ दिखाई जा चुकी है। उपर्युक्त छन्द से एक बात का सकेत और मिलता है कि द्विजदेव के काव्य में नायक कदाचित् 'गोपाल' (कृष्ण) है। नायिका यदि राधा मान ली जाय तो कोई आपत्ति न होनी चाहिए। कवित्त का यह चरण इसका स्पष्ट सकेत दे रहा है—

आधी लै उसास मुख आँसुन सो धोवै कहूँ
जोवै कहूँ आधे आधे पलन पसारि कैं।
नींद भूख प्यास ताहि आधी हू रही न तन
आधे हू न आखर सकत अनसारि कैं॥
द्विजदेव की सौं ऐसी आधि अधिकानी जासों
नैकऊ न तन मन राखति सँभारि कै।
जा दिन तें जोरि मनमोहन लला तें दीठि
राधे आधे नैननि तें आई तू निहारि कै॥

इतना ही नही द्विजदेव के अन्यान्य छन्दो से भी यह बात स्पष्ट है कि उनके काव्य मे वर्णित प्रणय के आलबन कृष्ण और राधा अथवा अन्य कोई गोपिका ही है। कृष्ण का उल्लेख तो बारबार उनके पर्यायवाची नामो से हुआ है जैसे कुञ्जबिहारी, मनभावन, स्याम, मनमोहन, गिरधारी, माखन चोर, गुपाल, मधुसूदन, घनस्याम, ब्रजराज आदि—

क—कीजिए बेगि सनाथ उन्हें चलिए बन कुंजन, कुञ्जबिहारी।

ख—चावन चुभी सी मनभावन के अंक तिन्हें
सावन की बूँदैं ए सुहावनी लगति हैं।

ग—सावन के दिवस सुहावने सलौने स्याम
जीति रति समर बिराजे स्याम-स्यामा संग।

घ—बेगि लिखि पाती वा सँघाती मनमोहन कौं

ङ—ए हो गिरधारी राखौ सरन तिहारी अब
फेरि इहि बारी ब्रज बूड़न चहत है।

च—इक माखन चोर के जोर लई छबि छीनि सिखी पखयारन की।

छ—मधुसूदन जु होते तौन औतं कहौ काहे कौं।

ज—होते घनश्याम तौ बरौते कहौ काहे कौ।

झ—ए हो ब्रजराज मेरो प्रेमधन लूटिबे कौं।

इसी प्रकार स्यामा, वृषभानुकुमारी, राधे आदि शब्द द्विजदेव के काव्य मे राधा की भावना की पुष्टि करते है। सिद्धान्त रूप से यदि मान लिया जाय कि द्विजदेव कवि के काव्य के वर्ण्य कृष्ण और राधा और गोपियाँ है तो कोई अनौचित्य न होगा। अब इस बात पर भी थोडी दृष्टि डालने की आवश्यकता है कि द्विजदेव द्वारा वर्णित प्रेम का स्वरूप क्या है। इतना तो बिल्कुल स्पष्ट है कि द्विजदेव के काव्य का उपजीव्य मूलतः परपरागत 'भाषा-साहित्य' है। उसमे वर्णित प्रेम और वातावरण ही द्विजदेव की निजता (वैशिष्यट्) के निदर्शक कारण और उपकरण अधिक नही है। वह वैशिष्ट्य जो प्रेम विषमता के कारण घनानद को प्राप्त है प्रेम की तीव्रता के कारण बोधा को सुलभ है, प्रेम की भक्तिवत अनन्यता के कारण रसखान को मिली है और प्रेम की स्वच्छन्दता के कारण ठाकुर के भाग्य मे आई है, द्विजदेव को भी मिली है ऐसा कहने मे हिचक होती है। और कवियो मे रीति परंपरा की छाप कम है प्रेम भावना और वर्णन शैली की विशेषता अधिक। द्विजदेव मे परंपरा की छाप अधिक है प्रेमवृत्ति गति निजत्व और वर्णन विधिगत विशिष्टता कम। उनके प्रत्येक छन्द मे 'द्विजदेव' नाम की छाप अवश्य है यही 'उनकेपन' का द्योतक है। प्रकृति वर्णन के क्षेत्र मे उनके जो छन्द है उनमे भी सेनापति की सी व्यापक दृष्टि नही और आलबनगत चित्रण का अभाव है। उनमे अन्य स्वच्छन्द कवियो के समान तीव्र प्रेमानुभूति की कमी भी लक्षित होती है। अन्य रीतिमुक्त कवियो मे हृदय का प्रेम ही काव्य का रूप ले बैठा है। द्विजदेव मे यह बात नही दिखाई देती उनका प्रेम वर्णन बहुत कुछ 'सेकेंड हैन्ड' सा लगता है। वे बिहारी, पद्माकर आदि के अधिक समीप लगते है। स्फुट रूप मे उनका जो काव्य उपलब्ध है उसमे प्रासगिक रूप से तो प्रेम-भावना का प्रसार सर्वत्र है तथा उसमे ब्रजभूमि का प्रणयस्वरूप दिखाई देता है। जिन छन्दो मे शृगार का वर्णन विशेष रूप से हुआ है उनमे उसका रूप कुछ विशेष नही है, वह रूढ़िगत ही है। संभोग शृंगार का यह चित्रण लीजिये—

> सावन के दिवस सुहावने सलौने स्याम,
> जीति रति समर बिराजे स्याम स्यामा संग।
> द्विजदेव की सौं तन उघटि चहूँधा रह्यौ
> चुंबन कौ चहल चुचात् चूनरी कौ रग॥
> पीतपट ताते हरखाने लपटाने, लखे
> उमहि उमहि घनस्याम दामिनी कौ ढंग।
> रति रन भीजे पै न मैन मद छीजे अति
> रस बस भीजे तन पुलकि पसीजे अंग॥

इसमे रति-रस छके प्रणयी युग्म का चित्र है! एक कृष्णाभिसारिका का चित्र देखिये जो वर्षा ऋतु की अधकारपूर्ण रात्रि मे भी प्रियतम से सभोग सुख प्राप्त करने जाती

है । उसे किसका डर—मनोरथ उसकी सवारी है, मिलन की उमग उसकी सहचरी है, कामोन्माद रक्षक भट है और मुखचद्र 'मशाल' है । क्या कल्पना है और सभोग का कैसा प्रबल उन्माद है—

कारौ नभ कारी निसा कारिऐ उरारी घटा
झूकन बहत पौन आनँद कौ कद री ।
द्विजदेव साँवरी सलौनी सजी स्याम जू पैं
कीन्हौं अभिसार लखि पावस अनद री ॥
नागरी गुनागरी सु कैसैं डरै रैनि डर
जाके सँग सोहैं ए सहाइक अमंद री ।
बाहन मनोरथ उमाहि संगवारी सखी
मैनमद सुभट मस्याल मुखचंद री ॥

ऐसे छन्द जब राधाकृष्ण के नाम पर मढे जाते है तभी कृष्ण का व्यकलकित होता है । रीतिमुक्त कवियो ने उत्तान श्रृंगार का वर्णन किया है । इस कार्य मे बोधा को हिन्दी के दूसरे कवि नही पा सकते । पर बोधा ने यह करतूत कृष्ण-राधा के आड मे नही की है । वह बहुत कुछ उनकी अपनी वासना की ही अभिव्यक्ति है । उपर्युक्त रीति के वर्णन रीति-बद्ध काव्य मे भरे पडे है । इसी प्रकार सहेट स्थल पर प्रिय की प्रतीक्षा करने वाली नायिका को भी देखिए जिसके उत्कठित श्रवण अपने ही आहट से सतर्क हो जाते हैं और पत्ते की खड़क भी जिसे प्रस्वेदमय कर देती है—

दाबि दाबि दंतन अधर छतवंत करै,
आपने ही पाइन कौ आहट सुनति औन ।
द्विजदेव लेति भरि गातन प्रसेध अलि
पातहू की खरक जु होती कहूँ काहू भौन ॥
कंटकित होत अति उसास उसासिन ते
सहज सुबासन सरीर मंजु लागै पौन ।
पंथ ही मैं कंत के जु होत यह हाल तो पै
लाल की मिलनि ह्वै है बाल को दसा भौं कौन ॥

द्विजदेव के ऐसे छन्दो में जहाँ लुक, छिपकर प्रेम व्यापार दिखाया गया है काव्य के वर्ण्य राधा कृष्ण न होकर 'नायिका भेद के ग्रंथों के नायक-नायिका हो गये हैं । कृष्ण का प्रणय व्यापार खुले आम होता था, वह सब की जानी हुई चीज थी, वहाँ न तो लोक का डर था न किसी परलोक की आकाँक्षा । उस प्रणय लीला मे सब कुछ कृष्णार्पित था क्योंकि कृष्ण स्वयं भगवान थे जैसा कि श्रीमद्भागवत मे स्वीकृत हुए हैं—कृष्णस्तु भगवान स्वयं । द्विजदेव के इन छन्दों के कृष्ण अत्यत साधारण धरातल के कामुक जीव हो गए हैं । एक खण्डिता की उक्ति में देखिए तो ब्रजराज का चित्र—

बाँके, संक हीने, राते-कंज-छबि-छीने, माते,
झुकि-झुकि झूमि-झूमि काहू कौं कछू गनै न।
द्विजदेव की सौं ऐसी बनक बनाइ
बहु भाँतिन बगारै चित चाहन चहूँधा चैन ।।
पेखि परे प्रात जौ पै गातन उछाह भरे
बार बार तातैं तुम्हैं पूछती कछूक बैन।
एहो ब्रजराज ! मेरे प्रेम धन लूटिबे कौ
बीरा खाइ आए किते आपके अनोखे नैन ।।

वियोग वर्णन—ब्रजभाषा के कवियो ने वियोग का वर्णन भी बडे समारोह के साथ किया है। द्विजदेव ने कृष्ण की विरहिणी के वियोग चित्रण मे ऋतुओ का विशेष रूप से सहारा लिया है। एक तो ऋतुकृत विरहोद्दीपन परंपरा विहित शैली भी है, दूसरे मनोगत वेग के उत्कर्षापकर्ष मे ऋतु एवं प्रकृति का स्थान सचमुच महत्वपूर्ण विरहिणी और ऋतुएँ तो किसी प्रकार पार कर ले जाती है किन्तु बसंतागम की है। सोचकर एकदम उन्मादिनी हो जाती है, वह सोचने लगती है कि यदि श्याम न आए तब तो वसत का क्लेश कदापि सहन नही किया जा सकता। विरह की बला को किसी-न किसी प्रकार निर्मूल करना होगा—

भूले भूले भौर बन भाँवरै भरैंगे चहूँ,
फूलि फूलि किंसुक जके से रह्वि जायँ है।
द्विजदेव की सौं वह कूजन बिसारि कूर
कोकिल कलंकी ठौर ठौर पछिताय है ।।
आवत बसंत के न ऐहैं जौ पै स्याम तौ पै
बावरी बलाय सों, हमारेऊ उपाय हैं।
पीहै पहिलेई तें हलाहल मँगाय या
कलानिधि की एकौ कला चलन न पायहैं ।।

वियोगिनी वसंत की विरह वेदना सहने को प्रस्तुत नही विषपान भले ही कर लेगी। एक विरहिणी की अजीब दशा है, कोई निश्चय नही कर पाता कि इसे रोग क्या है। कोई कहता है इसे कोई रोग हो गया है, कोई कहता है भूत लगा है, कोई कहता है किसी ने टोना कर दिया है। हर कोई अपने-अपने कारण-ज्ञान के अनुसार अपना-अपना निदान बतलाता है पर एक सखी का कथन है कि उपर्युक्त समस्त कारण और सभी निदान व्यर्थ है असली बात तो यह है—

सखि बीस बिसे निसि याही कहूँ
बन बौरे बसंत की बाय लगी।

वियोग यदि अल्प कालिक हो तो भी वह व्यथाकर ही है।

हाय इन कुञ्जन तें पलटि पधारे श्याम,
देखन न पाई वह मूरति सुधामई।
आवन समै में दुखदाइनि भई री लाज,
चलन समै मे चल पलन दगा दई ।।

और यदि वह दीर्घकालिक हुआ तब तो उसकी पीडा का कहना ही क्या। उसकी तीव्रता और आकुलता से तो साहित्य ही भरा हुआ है। बदलती हुई ऋतुएँ वियोग की वेदना मे और रग लाती है। वर्षा के पहले बादलो को घुमड़ते देख हा प्रवीण सखियाँ विरहग्रस्त कामिनियो को नसीहत देने लगती है—

घूँघुरित धूरि धुरवाँन की सुछाई नभ
जलधर धारा धरा परसन लागी री।
'द्विजदेव' हरी भरी ललित कछारै त्यौं
कदबन की डारे रस बरसन लागी री ।।
कालि ही तैं देखि बन-बेलिन की बनक
नवेलिन की मति अति अरसन लागी री।
बेगि लिखि पाती वा सँघाती मनमोहन कौं
पावस अवाती ब्रज दरसन लागी री ।।

वे कहती हैं शीघ्र अपने प्रियतम को पत्र लिखो अभी तो बरसात के प्रथम लक्षण है। आगे तो दिन-दिन भर मेघ घिरे रहेंगे, रात-रात भर वर्षा होगी। उस समय तो दिन और रात कल्पवत प्रतीत होगे फिर अभी तो वर्षा का जोर नही है, नदी नालो मे बाढ़ नही आई है यह सब कही होने पाया तब तो प्रियतम के बिना पावस मे प्राण नही बचेगे। आगे चलकर सचमुच यही होता भी है—

उमड़ि घुमांड़ घन छडत अखंड धार
अति ही प्रचण्ड पौन झूँकन बहतु है।
'द्विजदेव' सपा कौ कुलाहल चहूँधा नभ
सैल तैं जलाहल कौ जोग उमहतु है ।।

गोपियों को लगता है कि आज ब्रज का गोपिकाएँ कृष्ण के बिना अनाथ है इसीलिए मेघ इतने जोरो मे घिर आए हैं और जल की लहा छेह वर्षा कर रहे हैं और अपना बदला चुकाना चाहते हैं। जब वर्षा ऋतु विरहिणी को प्राणान्तक कष्ट देकर उसकी सब प्रकार दुर्दशा कर डालती है तब वह जीवन से सब प्रकार निराश होकर वर्षा के उपकरणों को और भी ललकारती है—

घहरि घहरि घन सघन चहूँधा घेरि,
छहरि छहरि विष बूँद बरसावै ना ।
'द्विजदेव' की सौं अब चूकि मत दाँव अरे
पातकी पपीहा तू पिया की धुनि गावै ना ॥
फेरि ऐसो औसर न ऐहै तेरे हाथ अरे
मटकि मटकि मोर ! सोर तू मचावै ना ॥
हौं तौ बिन प्रान, प्रान चाहत तज्यौई अब
कत नभचंद तू अकास चढ़ि धावै ना ॥

ऐसा दुख भरा जीवन लेकर उसे क्या करना है। ऋतुजनित तीव्र विरहावेग में भर कर घनानद की विरहिणी ने भी बहुत कुछ इसी प्रकार की बात कही थी—

कारी क्रूर कोकिला ! कहाँ को बैर काढ़ति री,
कूकि कूकि अबही करेजो किन कोरि लै ।
पैंड़े परे पापी ये कलापी निसि द्यौस ज्यौं
चातक ! घातक त्यौं ही तू हू कान फोरि लै ॥
आनद के घन प्रान-जीवन सुजान बिना
जानि कै अकेली सब घेरौ दल जोरि लै ।
जौ लौं करैं आवन विनोद-बरसावन वे
तौ लौं रे डारे बजमारे घनघोरि लै ॥ (घनआनंद)

ऋतुओं की दुःखदायिनी प्रवृत्ति को देख कर ही विरहिणी कृष्ण के अनेक नामों को निरर्थक सिद्ध करती है —

देखि मधुमास की इतीक अनरीति
मधुसूदन जु होते तौ न औते कहो काहे कौं ।
जानि ब्रजबूड़त जु होते गिरधारी तौ पै
ऊधो इत तुमहि पठौते कहौ काहे कौं ॥
'द्विजदेव' प्यारे पिय पीतम जु होते तौ पै
ब्रज में बढ़ौते दुख सौते कहौ काहे कौं ।
बसि कै विदेस बीजुरी सी ब्रजबालनि कौं
होते घनस्याम, तौ बरौते कहौ काहे कौं ॥

द्विजदेव जी की कल्पना शक्ति अच्छी जान पड़ती है, उसका नवोन्मेष सराहनीय है। अनेक अभिनव भावों और चित्रों तक पाठक उनकी कल्पना की डोर के सहारे जाता है। ऊपर का छंद ही इसका बहुत अच्छा उदाहरण है। अन्यान्य उद्धरणों में भी कल्पना शक्ति का यथेष्ट विकास देखा जा सकता है। उनकी कल्पना संभावना की सीमा कम लाँघती है—

द्विजदेव त्यौं ही मधुभारन अपारन सो,
नैकु झुकि झूमि रहे मोगरे मरुश्र दौन।
चाँदनी के भरन निखात उनयौ सोचंद;
गंध ही के भारन बहत मंद मंद पौन ॥

संक्षेप मे कहा जा सकता है कि द्विजदेव का विरह वर्णन प्रभावपूर्ण है और ऋतु-प्रकृति द्वारा उद्दीप्त होने पर विरह की व्यंजना अत्यन्त रमणीय है।

अब समग्र रूप से द्विजदेव के भाव पक्ष के सबन्ध मे इतना सहज ही कहा जा सकना है कि उनके काव्य मे ऋतु-वर्णन पर्याप्त सहृदयता से किया गया मिलता है और प्रणय के भी संयोग-वियोग परक रम्य चित्र उनके काव्य मे उपलब्ध है। ऋतुओं विशेष कर वर्षा और वसन्त का वर्णन कवि ने जिस समारोह और अभिनिवेश से किया है वह देखते ही बनता है तत्सम्बन्धी एक एक छन्द वर्णित ऋतु का वातावरण प्रस्तुत करने अथवा चित्र उपस्थित करने मे समर्थ है। कवि ने इन वर्णनो को सहज कल्पना शक्ति द्वारा अतिरिक्त सौन्दर्य प्रदान करने की सफल चेष्टा की है। उन्होने दूरारूढ़ कल्पना का आश्रय लिया है। फिर ऋतु छटा के बीच प्रणय के नाना मधुर भावों का स्वाभाविक विकास भी सराहनीय सफलता से किया गया है। द्विजदेव मे किसी प्रकार की कृत्रिमता नही है और रीति मे ही बधे रहने का कोई आग्रह नही है। उन्हे स्वच्छन्द धारा का कवि मानने का कदाचित यही कारण है। द्विजदेव ने कोई रीति-ग्रन्थ नही लिखा पर इस दृष्टि से वे मुझे बिहारी और सेनापति के अधिक निकट प्रतीत होते है; घनानंद, आलम, बोधा और ठाकुर के निकट उतना नही। द्विजदेव का प्रेम वैयक्तिक न होने के कारण उसमे उक्त कवियो की सी स्वच्छन्दता और अनुभूति-तीव्रता का अभाव है किन्तु इससे उनकी रचना की श्रेष्ठता मे कोई बाधा नही पडती। मेरे विवेचन का आधार यह नही है कि रीतिबद्ध होने मे ही कोई कवि हीन कोटि का है और रीतिमुक्त होने से ही कोई उच्चत्तर कोटि मे पदार्पण करता है। प्रेम चित्रण करते हुए द्विजदेव ने जैसी मधुर और हृदयग्राहिणी उद्भावनाएँ की हैं वे अपनी उपमा आप हैं —

'तू जो कहै सीख लौनौ रूप सां मों अँखियान कौ लोनी गइ लगि।'

कला पक्ष

अब कवि के काव्य की शैली अथवा कला पक्ष पर सक्षिप्त विचारण के अनंतर यह प्रसंग समाप्त किया जाएगा। द्विजदेव की भाषा परिमार्जित ब्रज भाषा है। उसमें जहाँ ब्रज बोली के ठेठ रूप का त्याग है वहीं संस्कृत शब्द-बाहुल्य का भी अभाव है। संक्षेप में कथ्य यह है कि संस्कृत-प्रधान शब्दावली द्वारा ब्रजभाषा का माधुर्य उनकी भाषा में आहत नहीं होने पाया है। दूसरी विशेषता यह है कि उनकी भाषा में प्रवाह

और मिठास मे किसी प्रकार की कमी नही आने पाई है और भाषा के स्वरूप में साहित्यिकता विद्यमान है। साहित्यकता से अभिप्राय यह है कि उनकी भाषा ब्रजभाषा के धुरीण साहित्यिकारो —बिहारी, देव, दास, पद्माकर, मतिराम, घनानन्द, रसखान, सेनापति आदि—की भाषा के मेल मे है। तीसरी बात यह है कि उनकी भाषा मे किसी प्रकार की कृत्रिमता नही, वह सर्वथा स्वाभाविक है। चौथी बात यह कही जा सकती है कि उनकी भाषा में भाषा के दक्ष प्रयोक्ता की भाँति लोच और लाघव मिलता है, मुहावरेदानी मिलती है और अधिकारपूर्ण भाषा लिखने वाले की सी उक्तिभँगिमा मिलती है। सक्षेप मे यह कि द्विजदेव भाषा मात्र के आधार पर ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवियो मे गिने जाने के अधिकारी है। उनकी भाषा में शैथिल्य तो दूर सुघड़पन, सुसंगठन और प्रभाव है। उसमे चित्र प्रस्तुत करने और नाना प्रकार की व्यंजनाएँ देने की पूर्ण क्षमता है। वैसे तो द्विजदेव की कविता के अनेक उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं किन्तु इस समय उनकी भाषा की जिन विशेषताओ का आकलन किया गया है उसे चरितार्थ करने वाली कुछ पक्तियाँ मात्र उद्धृत की जा रही हैं—

क. होते हरे नव अंकुर की छवि छार कछारन में अनियारी।
त्यों 'द्विजदेव' कदंबन गुच्छ नए-ई-नए उनए सुखकारी॥

ख. घूँघुरित धूरि धुरवाँन की सुछाई नभ
जलधर धाग धरा परसन लागी री।
'द्विजदेव' हरी भरी ललित कछारैं त्यों
कदंबन की डारैं रस बरसन लागी री॥

(प्रवाह और सहज सानुप्रासिकता)

ग. बोलि रहे बिकसे तरु एकै, सु एकै रहे हैं नवाइ कै सीसहिं।
त्यौं 'द्विजदेव' मरंद के व्याज सों एकै अनंद के आँसू बरीसहिं॥

घ. औरै भाँति कोकिल चकोर ठौर ठौर बोलै
औरै भाँति सबद पपीहन के बै गए।
औरै भाँति पल्लव लिए हैं बृन्द बृन्द तरु
औरै छविपुञ्ज कुज कुजन उनै गए॥

(चित्रात्मकता)

ङ. फेरि वैसे सुरभि समीर सरसान लागे
फेरि वैसैं बेलि मधु भारन उनै गई।

च. 'द्विजदेव' जू नैक न मानी तबै बिनती करी बार हजारन की।
इक माखन चोर के जोर लई छवि छीनि सिखी पखवारन की॥

(व्यंजना प्रवणता और भावतारल्य)